ध्यान और आध्यात्मिक जीवन

स्वामी यतीश्वरानन्द

मुखपृष्ठ के ऊपर चित्रित
ामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन की
ुहर में - जो स्वामी विवेकानन्दजी ने
स्वयं बनायी थी -
तरंगायित जलराशी कर्म का प्रतीक
है, कमल भक्ति का तथा उगता हुआ
ूर्य ज्ञान का। चित्र में दर्शायी हुई सर्प
की आकृति योग एवं जागृत
कुण्डलिनी शक्ति की परिचायक है;
ौर चित्र के बिच में जो हंस की छबि
है, उसका अर्थ है परमात्मा।
अतएव कर्म, भक्ति और ज्ञान इन
ीनों का योग के साथ सम्मिलन होने
र ही परमात्मा की प्राप्ति होती है -
यही चित्र का अर्थ है।
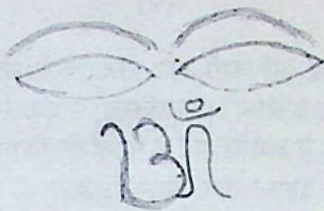
प्रस्तावना

'ध्यान और आध्यात्मिक जीवन' हमारा बहुप्रतीक्षित तथा महत्त्वपूर्ण प्रकाशन सुधी पाठकों एवं साधकों के सम्मुख रखते हमें अपार हर्ष हो रहा है। रामकृष्ण मठ, बंगलोर से प्रकाशित 'Meditation and Spiritual Life' पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद है।

आध्यात्मिक जीवन की निष्ठापूर्वक साधना करनेवाले साधक-साधिकाओं के लिए यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण और पथ-प्रदर्शक है। परमात्मप्राप्ति या ईश्वरसाक्षात्कार के लिए 'ध्यान' का अनन्यसाधारण स्थान है। साधारण तौर पर मनुष्य जिस देह और मन को 'मैं' कहकर जगत् में व्यवहार करता है वह उसका सत्य स्वरूप नहीं है। मनुष्य स्वरूपत: चैतन्य है। अज्ञान के कारण चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा का देह, मन और इन्द्रियों के साथ तादात्म्य हो जाता है और उसमें अहंकार का मिथ्या भ्रम निर्माण हो जाता है। यही अविद्या या माया है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में चैतन्य का तादात्म्य होने से हम स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में बँध गये हैं। पर हमारा वास्तविक स्वरूप तुरीय नामक अतीन्द्रिय चेतनावस्था है जो अनन्त, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। एकमात्र ध्यानयोग के साधन द्वारा ही यह अलौकिक आत्मानुभूति हमारे लिए यथार्थ हो सकती है।

मनुष्यजन्म दुर्लभ है, फिर भी असंख्य मानव संसार के विषय-भोगों में ही अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ गवाँ देते हैं। हमारे सच्चे स्वरूप-ज्ञान के अभाव में मनुष्य अस्वाभाविक तनाव और अनावश्यक मानसिक संघर्ष से अस्वस्थ, असन्तुष्ट और रोगाक्रान्त हो जाता है। विज्ञान और तकनिकी विकास के साथ मनुष्य अधिक बहिर्मुख हो गया है और वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा है। इस सम्भ्रमित अवस्था में वह अपने अन्तर्निहित देवत्व को, अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप को भूल गया है। धर्म के नाम पर भी कई लोग चमत्कार और विचित्र कल्पना के वशीभूत होकर अपनी स्थूल, सूक्ष्म कामनाओं की पूर्ति की और विभिन्न प्रकार के सुख प्राप्ति की अपेक्षा करते हैं। लेकिन वे उन्हें परम सन्तोष या परमशान्ति प्रदान नहीं कर सकते। जिन महापुरुषों ने यथार्थ आध्यात्मिक साधना द्वारा अपने जीवन में परम सत्य की प्राप्ति की है, वे ही आध्यात्मिक जीवन में उचित मार्ग दिखा सकते हैं। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक जीवन यापन करने वाले निष्ठावान साधकों के लिए साधना की प्रारम्भावस्था से लेकर जीवन्मुक्ति के सर्वोच्च अनुभव प्राप्त होने तक सभी विशेष साधकावस्थाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

इस ग्रन्थ के लेखक श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज आध्यात्मिक जीवन के

श्रेष्ठ आचार्य, अनुभवसिद्ध अधिकारी और साक्षात्कारी महापुरुष थे, जिन्होंने मानवी समस्याओं को सुलझाकर असंख्य आध्यात्मिक साधक-साधिकाओं को आध्यात्मिक अतीन्द्रिय अनुभव के राज्य में अग्रसर होने में मार्गदर्शन किया है। अनेक धर्मग्रन्थ, विभिन्न आचार्य एवं महात्माओं के दृष्टान्त तथा जीवन-सिद्धान्त के द्वारा अतीन्द्रिय आध्यात्मिक जीवन के गम्भीर तत्त्वों का विवेचन, मन की समस्याओं का निराकरण कर साधना कैसी करनी चाहिए इसका सटीक वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में है। इसमें केवल हिन्दू धर्म प्रणित कर्म, भक्ति, ज्ञान और ध्यान योगों की साधनाओं का ही उद्घाटन नहीं है, बल्कि पाश्चात्य मनोविज्ञान की भी चर्चा की गयी है। पाश्चात्य विद्या विभूषित पाठक भी यहाँ योग के गहन विषयों की योजनाबद्ध विश्लेषणात्मक पद्धति से की गयी शैली से विशेष लाभान्वित होंगे।

आध्यात्मिक जीवन एक अन्तर्विज्ञान है। सामान्यत: स्थूल-सूक्ष्म वैषयिक वृत्तियों से मनुष्य का चित्त आवृत्त रहता है। इन विभिन्न प्रकारकी वृत्तियों के प्रभाव से ही हम अनेक शुभ-अशुभ कर्म करते हैं, अपनी प्राप्त शक्तियों का अपव्यय करते हैं, मोहग्रस्त हो जाते हैं, और अपने सच्चे स्वरूप को भूल जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन में शारीरिक तथा मानसिक पवित्रता अपरिहार्य है। इसलिए जिन साधक-साधिकाओं को आध्यात्मिक विकास की व्याकुलता है उन्होंने गुरूपदेश के अनुसार जप-ध्यान, स्तव, प्रार्थना तथा निष्काम भाव से, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म कर अपने मन को शुद्ध करना चाहिए। इस प्रकार भगवद्वृत्ति के द्वारा अन्य सभी वृत्तियों का निरास होने से ही हम भगवान का या अपनी शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं।

आत्मसाक्षात्कार या परमात्म प्राप्ति के पूर्व सभी साधकों को मानसिक संघर्ष कर बाह्य तथा आन्तरिक बाधाओं को पार करना पड़ता है। साधना में प्रगति करने के लिए साधक को ईश्वर की कृपा तथा सद्गुरु का कृपापूर्वक मार्गदर्शन प्राप्त होना चाहिए और उसके साथ स्वयं अध्यवसायपूर्वक साधना में लगे रहकर सतत सावधानी रखनी चाहिए। साधना की प्रारम्भिक अवस्थाओं में मनुष्य ईश्वर के मानवी रूप और गुणों को – अवतार स्वरूप को – अपनी शुद्ध भावनाओं से संयुक्त करके ईश्वर से अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। जब ईश्वर से यह भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तब साधक अनुभूति के उच्च से उच्चतर स्तर पर अग्रसर हो जाता है और उसे अमानवी, अपुरुषविध, निर्गुण-निराकार ब्रह्म की धारणा होती है। तात्पर्य यह कि इसी साधना-क्रम में वह उपनिषदोक्त ब्रह्म-आत्मा ऐक्य का अनुभव करने में समर्थ होता है। अनुभवसिद्ध लेखक ने साधकों को अनेक स्थानों पर योग्य सूचनाओं के साथ बहुत बार चेतावनी दी है ताकि उनकी साधना बाधित न हो। प्रत्येक मनुष्य दृढ़ निश्चय कर गुरु के मार्गदर्शन के अनुसार इहलौकिक अथवा पारलौकिक सुख भोगों का त्याग कर साधना द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति का अधिकारी हो सकता है, यह सत्य ग्रन्थ पढ़कर पाठक के मन पर अंकित होता है।

श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज का संक्षिप्त जीवन और उनके गुरु श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज के, जो भगवान श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य थे, संस्मरण इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही सम्मिलित किये गये हैं। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्त्व के प्रभाव से भारत तथा विदेश के अनेक स्त्री-पुरुषों के जीवन बदल गये और अनेक नर-नारियोंने अपने जीवन में आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव किया। वे श्रीरामकृष्णदेव के आदर्श एवं वेदान्त तत्त्वों के सन्देशवाहक बनें यही पूजनीय महाराज की इच्छा थी। उन्होंने यह पुस्तक अपनी विद्वत्ता के प्रदर्शन के लिए या किसी दर्शन विचार की दृष्टि से नहीं लिखी है, अपितु साधक-साधिकाओं का आध्यात्मिक विकास कैसे हो इसी दृष्टि से इस ग्रन्थ के विषयों को उजागर किया है।

जर्मनी में वेदान्त के विद्याभ्यासी श्री वुलफ्राम एच. कॉक और कुछ अन्य जर्मन सज्जनों के अनुरोध पर श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी को सन १९३३ में विसबेडन, (जर्मनी) भेजा गया था, जहाँ तीन वर्ष रह कर उन्होंने जर्मनी के बाहर स्वित्झरलैण्ड में जिनेवा, लाऊसन्ने, झुरिच, कॅम्पफर तथा सेन्ट मॉरिट्स् शहरों में अपनी गतिविधियों का फैलाव किया। वे फ्रान्स और हॉलैण्ड भी जाते थे। उन्होंने केवल प्रचारक के रूप में ही कार्य नहीं किया बल्कि अपने शिष्यों की साधना पर बल देकर उनका जीवन आध्यात्मिक अनुभवों से सम्पन्न करने का भरसक प्रयत्न किया था।

द्वितीय महायुद्ध के शुरू होने पर श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी का यूरोप में कार्य यद्यपि बन्द हो गया, फिर भी उन्होंने शिष्यों-साधकों-साधिकाओं के आध्यात्मिक जीवन के लिए १९३३-४० दरम्यान जो व्याख्यान-प्रवचन दिये थे वे ही इस ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध हैं।

इस ग्रन्थ के तीन भाग किये हैं। प्रथम भाग में 'आध्यात्मिक आदर्श', द्वितीय भाग में 'आध्यात्मिक साधना' तथा तृतीय भाग में 'आध्यात्मिक अनुभूतियाँ' सम्मिलित हैं। इसमें फिलाडेल्फिया में उन्होंने चुने हुए शिष्यों के लिए जो वर्ग लिए थे उसकी भी सामग्री अन्तर्भूक्त की गई है। इससे ग्रन्थ में कुछ पुनरावृत्ति हुई है, जो अपरिहार्य है। तृतीय भाग में सन्तों के चरितों पर बंगलोर में सन् १९५६-५८ में दिये गये उनके व्याख्यानों पर आधारित भारत के सन्तों के संक्षिप्त चरित्र 'महाजनो येन गत: स पन्था:' नामक अध्याय में सम्मिलित किये गये हैं। उनके मूल विचार जैसे के तैसे रखने का प्रयास किया गया है। इसमें सम्पादक या अनुवादक के द्वारा कुछ भी प्रयुक्त या सम्मिलित नहीं किया गया है। मूल अंग्रेजी ग्रन्थ Meditation and Spiritual Life का सम्पादन श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज के ही एक शिष्य ने कुशलतापूर्वक किया है।

इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद हमारे रामकृष्ण संघ के संन्यासी स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी ने किया है, जो अभी श्रीरामकृष्ण मठ, चेन्नई में अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के सम्पादक

हैं। अनुवादक स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी ने बहुत परिश्रम पूर्वक आध्यात्मिक जीवन के सूक्ष्म एवं गहन तत्त्वों को सरल हिन्दी में सुगम किया है। अनुवादित लेखों का सुस्पष्ट लेखन कोटा (राजस्थान) के श्री रघुनन्दनजी सेठी ने किया है। इसमें वाराणसी के श्री रतनलालजी गुप्ता ने भी योगदान दिया है, तथा श्रीरामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी के श्री विश्वनाथ राय चौधरीजी ने अनुवाद में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इन सब महानुभावों के हम हृदय से कृतज्ञ हैं।

इस ग्रन्थ का मूल्य कम करने के लिए कलकत्ता निवासी श्री नन्दलाल टांटियाजी, पूजनीय लेखक के सहृदय शिष्यों तथा अन्य उदार महानुभावों के द्वारा दानस्वरूप धन राशी दी गयी है। रामकृष्ण मिशन, रायपुर के स्वामी सत्यरूपानन्दजी ने भी कल्याण कोष के माध्यम से राशी प्रदान की है। इसके फलस्वरूप हम यह बृहद्ग्रन्थ अल्प मूल्य में पाठकों को अर्पण कर सके हैं। इस उदारता एवं सहृदयता के लिए हम उन्हें हृदय से धन्यवाद देते हैं।

आध्यात्मिक जीवन के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त साहायक होगा इसमें कोई सन्देह नहीं, अपितु जीवन की जटिल समस्याएँ सुलझाने में भी यह उपयोगी सिद्ध होगा। हमें विश्वास है कि पाठकों की आध्यात्मिक दृष्टि विकसित करने में यह ग्रन्थ प्रेरक होगा। सभी आध्यात्मिक जीवन के जिज्ञासु भगवद्कृपा लाभ करें और परमात्मा सभी का जीवन मंगलमय करें यही आन्तरिक प्रार्थना है।

नागपुर
श्रीरामनवमी
दि.२५.३.१९९९

— **प्रकाशक**

स्वामी यतीश्वरानन्दजी का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त

स्वामी यतीश्वरानन्दजी का जन्म तत्कालीन अविभाजित बंगाल और वर्तमान बँगला देश के पाबना जिले के नन्दनपुर गाँव में अपने मामा के घर बुधवार, १६ जनवरी १८८९ को हुआ था। उनका बचपन का नाम था सुरेशचन्द्र। उनकी जन्मदात्री माँ विधुमुखी देवी परम भक्तिमती और ईश्वरपरायणा महिला थीं। उनके पिता श्री ईशानचन्द्र भट्टाचार्य सरल मनोवृत्तिवाले एक सदाचारी ब्राह्मण थे। वे शासकीय पाठशाला में अध्यापक थे। बचपन से ही सुरेशचन्द्र की धार्मिक कथाओं में विशेष रुचि थी।

उनकी प्राथमिक शिक्षा जलपाईगुड़ी और बोगरा में हुई। एन्ट्रेन्स की परीक्षा उन्होंने रंगपुर के विद्यालय से उत्तीर्ण की। महाविद्यालयीन पढ़ाई के दौरान कुछ समय उन्होंने राजशाही और कूचबिहार के कालेजों में अध्ययन किया, और बाद में स्नातक (बी.ए.) की पढ़ाई प्रेसिडेंसी कालेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय में की। उन्होंने अच्छी श्रेणी में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा संस्कृत विषय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने के कारण उन्हें स्वर्णपदक प्राप्त हुआ। उन्होंने रसायनशास्त्र में स्नातकोत्तर पढ़ाई आरम्भ अवश्य की, किन्तु पढ़ाई में मन न लगने के कारण वे अनुत्तीर्ण रहे। इसी समय वे बेलुड़ मठ में भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्यों के घनिष्ठ सम्पर्क में आये, जिसके फलस्वरूप उनमें वैराग्य और संसारत्याग की भावना का उदय हुआ। जैसा कि स्वाभाविक होता है, माता-पिता उन्हें गृहस्थ जीवन में लाना चाहते थे। सन् १९११ के अन्त में किसी समय उन्होंने अपने माता के निकट ईश्वरलाभ के लिए रामकृष्ण संघ में प्रवेश करने के अपने दृढ़ निश्चय को स्पष्ट कर दिया, और कहा कि यदि वे जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहेंगे, तो घर वापस लौटकर उनकी आज्ञा का पालन अवश्य करेंगे।

राह-खर्च के लिए माता-पिता से कुछ धन ले वे सीधे बेलुड़ मठ पहुँचे और २२ वर्ष की उम्र में सन् १९११ में उन्होंने रामकृष्ण संघ में प्रवेश किया। उनकी मन्त्रदीक्षा भगवान् श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग पार्षद श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी से हुई और वे ही बाद में उनके संन्यास-गुरु भी हुए। संन्यास आश्रम में उनकी दीक्षा मद्रास में सन् १९१७ में सम्पन्न हुई। सन् १९२१ में वे अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक नियुक्त हुए। दो वर्ष तक उन्होंने 'प्रबुद्ध भारत' का सम्पादन-कार्य किया। तदुपरान्त एक वर्ष के लिए वे रामकृष्ण मिशन, बम्बई के अध्यक्ष रहे। सन् १९२६ से १९३३ तक उन्होंने मद्रास मठ के अध्यक्ष-पद का भार वहन किया। सन् १९२६ में ही उन्हें बेलुड़ मठ का ट्रस्टी और रामकृष्ण मिशन की प्रशासी परिषद् का सदस्य चुना गया। आत्मजिज्ञासु भक्तों के आह्वान पर उन्हें नवम्बर

१९३३ में जर्मनी के राइनलैण्ड और विसबेडन स्थानों पर भेजा गया। सन् १९३५ के शीतकाल से लेकर १९३८ तक उन्होंने इस क्षेत्र में कई आध्यात्मिक गतिविधियों का विस्तार एवं संचालन किया। स्विट्ज़रलैण्ड के सेन्ट मॉरिज में उन्होंने अध्ययन-केन्द्र स्थापित किया। जिनेवा आदि स्थानों में भी उन्होंने अपनी गतिविधियों का विस्तार किया। ऐसी ही आध्यात्मिक गतिविधियों के आधार पर उन्होंने हेग, पेरिस और लन्दन में भी कार्य किये। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में वे सन् १९४० में जर्मनी छोड़कर संयुक्त राष्ट्र अमरिका चले गये। वहाँ दिसम्बर १९४२ में उन्होंने फिलेडेल्फिया में 'वेदान्त केन्द्र' की स्थापना की। वे १९४९ तक उस केन्द्र के प्रमुख रहे। अमरिका से यूरोप भ्रमण करते हुए सन् १९५० में वे भारत वापस लौटे। सन् १९५१ में वे बंगलोर स्थित मठ के अध्यक्ष बने। उनकी विशेष आध्यात्मिक उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए बेलुड़ मठ के ट्रस्टीगणों ने उन्हें भक्तों और जिज्ञासुओं को मन्त्रदीक्षा देने का अधिकार प्रदान किया। सन् १९६२ में उन्हें रामकृष्ण मठ एवं मिशन के उपाध्यक्ष पद पर निर्वाचित किया गया।

स्वामीजी का पाश्चात्य एवं भारतीय, दोनों ही दर्शनों का गहन अध्ययन था। वे एक प्रभावशाली वक्ता एवं कुशल लेखक भी थे। उनकी कुछ पुस्तकें, जैसे 'Adventures in Religious Life', 'Universal Prayers' आदि काफी प्रसिद्ध हैं। उनके आकर्षक और प्रभावशाली व्यक्तित्व, उनकी परदु:खकातरता, उदार विचार, मधुर व्यवहार और आध्यात्मिक उपलब्धियों के कारण बड़ी संख्या में लोग उनके प्रशंसक और भक्त बन गये थे। अत्यधिक व्यस्तता और सतत कार्य करते रहने के कारण सन् १९६५ के मध्य से ही वे अस्वस्थ रहने लगे थे। दिसम्बर १९६५ में उन्हें चिकित्सा एवं हवा बदलने के लिए बंगलोर से बेलुड़ मठ लागा गया। दुर्भाग्यवश उनका स्वास्थ गिरता ही गया। मधुमेह के साथ अन्य बीमारियों के एकाएक उभर जाने के कारण २४ जनवरी १९६६ को उन्हें कलकत्ता स्थित रामकृष्ण मिशन सेवाप्रतिष्ठान में भरती करना पड़ा। अच्छी से अच्छी चिकित्सा के बावजूद डायबिटिक काम्प्लिकेशन्स के कारण उनकी हालत बिगड़ती ही गयी। २७ जनवरी के प्रात: १.१५ पर महाराज महासमाधि में लीन हो गये।

जीवन के अन्तिम दिनों में उनको अनुभव होने लगा था कि अवसान समीप है। कई बार उनको यह कहते हुए सुना गया – ''श्रीमहाराज (उनके गुरु स्वामी ब्रह्मानन्दजी) ने सारी शक्ति मुझसे वापस ले ली है। अब शरीर-धारण का कोई प्रयोजन नहीं है। उसे छोड़ना ही श्रेयस्कर है।'' इस प्रकार त्याग, वैराग्य एवं सेवा में समर्पित जीवन का श्रीगुरुचरणों में विलय हो गया।

ॐ शान्ति:! शान्ति:! शान्ति:!

स्वामी ब्रह्मानन्दजी के संस्मरण

स्वामी यतीश्वरानन्द

श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द के जीवन एवं उनके विचारों से मेरा प्रथम परिचय सन् १९०६ में हुआ। 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत'* और स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) द्वारा लिखी गयी 'राजयोग' नामक पुस्तक मुझे एक ही साथ प्राप्त हुई। इन पुस्तकों तथा ऐसी ही अन्य पुस्तकों को पढ़ने के बाद मुझमें एक नयी विचारधारा का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप मैंने स्वामी ब्रह्मानन्दजी से दीक्षा लेने का और धार्मिक जीवन यापन करने का शुभ संकल्प लिया। पर उसे साकार रूप देने में कुछ समय लगा। सन् १९०७ में मैं राजशाही गया। वहाँ दो वर्ष रहने के बाद मैं पुन: १९०९ के ग्रीष्म के अन्त में कलकत्ता चला आया। स्वामी ब्रह्मानन्दजी उन दिनों मद्रास से लौटकर उड़ीसा में रह रहे थे। सन् १९१० में श्रीरामकृष्ण-जयन्ती समारोह के अवसर पर मुझे उनके प्रथम दर्शन प्राप्त हुए। उत्सव समाप्त होने के बाद महाराज पुरी चले गये और मैं अपने एक मित्र (जो आगे चलकर स्वामी राघवानन्द हुए) के साथ बेलुड़ मठ गया और वहाँ साधु-संन्यासियों से मिला। इसके बाद मैं प्रति शनिवार एवं रविवार को बेलुड़ मठ में ही रहने लगा। पूज्यपाद बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द), महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) तथा अन्य संन्यासियों ने अपने स्नेह-प्रेम से मुझे अपना प्रियपात्र बना लिया। सन् १९१० के अन्त में जब स्वामी ब्रह्मानन्दजी विवेकानन्द-जयन्ती के पूर्व कलकत्ता आये थे, तब पूज्य महापुरुष महाराज ने उनसे मेरा परिचय कराया। महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) से मिलकर मुझे लगा मानो उनसे मेरा सम्बन्ध बहुत पूर्व से था और मेरा मन उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम से परिपूर्ण हो गया। मैं उनसे मिलने के लिए अनेकों बार कलकत्ता एवं बेलुड़ मठ गया, और वहाँ मुझे उनकी थोड़ी-बहुत सेवा करने का सुअवसर भी मिल जाया करता था। एक दिन विनोदबाबू के घर उत्सव था, जिसमें कई भक्तगण और संन्यासी आये हुए थे। वहाँ पर जब मैं महाराज को एक बड़े हाथ-पंखे से हवा झल रहा था, तब वे अनायास ही कहने लगे, "देख यदि शरीर और मन को संसार में लुभाया जाए, तो संसार उन दोनों को नष्ट कर देता है, पर यदि वे भगवान् में लगा दिये जाएँ, तो वे उन दोनों को स्वस्थ रखते हैं।"

मेरी साधु बनने की प्रबल इच्छा थी और महाराज ने मेरी इस महत्त्वाकांक्षा को

* हिन्दी में रामकृष्ण वचनामृत।

प्रोत्साहन दिया। एक दिन मैं अपने एक मित्र के साथ महाराज से मिलने बेलुड़ मठ गया। वहाँ पहुँचने पर हमें पता चला कि वे बाबूराम महाराज के साथ बलराम-मन्दिर गये हुए हैं। बलराम-मन्दिर श्रीयुत बलराम बोस के कलकत्तास्थित मकान को कहते हैं। अत: हम भी बलराम-मन्दिर गये। वहाँ महाराज ने बातचीत के दौरान मेरे मित्र को अपना हाथ दिखलाने के लिए कहा। हाथ देखने के बाद वे बोले, "तुम्हें थोड़ी काम-सम्बन्धी बाधा रहेगी, पर यदि श्रीगुरु महाराज (श्रीरामकृष्ण) चाहेंगे, तो वह भी दूर हो जाएगी।" बाबूराम महाराज का मुझ पर स्नेह था। उन्होंने महाराज से मेरा भी हाथ देखने की प्रार्थना की, लेकिन उन्होंने नहीं देखा। इस पर मुझे खेद हुआ और मैं सोचने लगा कि मेरे मित्र की तो साधु बनने की थोड़ी सम्भावना है भी, पर शायद मेरी नहीं है।

इस घटना के कुछ दिनों बाद मैंने एक दिन बेलुड़ मठ में प्रवेश किया ही था कि महाराज के एक सेवक ने मुझे देखकर कहा, "अच्छा सुनो, महाराज कह रहे थे कि तुम साधु बनोगे।" उनकी बात से मेरा उत्साह बढ़ा और यथासमय मैं संन्यासी बना। पर मेरे मित्र ने गृहस्थ जीवन अपनाया। वह यद्यपि एक उच्च पदाधिकारी है, पर अभी भी वह श्रीरामकृष्ण का बड़ा भक्त और माँ सारदा का शिष्य है।

महाराज एक दिन बहुत से लोगों के साथ नाव द्वारा दक्षिणेश्वर गये। मैं भी उनके साथ था। वे उस दिन अत्यन्त आनन्द में थे। उन्होंने कहा, "दक्षिणेश्वर में रहना, भले कुत्ता बनकर ही सही, एक महान् सौभाग्य की बात है।" हम लोग जब महाराज के निकट बैठते थे, तब हम लोगों को ऐसा अनुभव होता कि हमारे चारों और एक दिव्य वायुमण्डल का घेरा है और हम सब उसके अन्दर आ गये हैं। एक दिन मेरे समक्ष उन्होंने स्वयं को एक नये ही रूप में प्रकट किया। वे जब मठ के प्रांगण में टहल रहे थे, तब मुझे एकाएक लगा मानो वे एक अलौकिक देवपुरुष हैं। वह दृश्य मेरे लिए अविस्मरणीय है। सन् १९११ में महाराज ने मुझे दीक्षा देकर कृतार्थ किया और कुछ दिनों बाद वे पुरी चले गये। मैंने उन्हें पत्र लिखा और अपनी साधु बनने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने उसके उत्तर में स्वामी शंकरानन्दजी से मुझे लिखवाया कि यदि मैं अपने को साधु-जीवन के योग्य समझता हूँ तो उनके पास क्यों नहीं चला जाता? अत: मैं उसी वर्ष अक्तूबर महीने में महाराज के पास पहुँच गया और रामकृष्ण संघ में सम्मिलित हो गया। उस समय उन्होंने मुझे अतुलबाबू के घर 'जगद्धात्री-पूजा' सम्पन्न करने को कहा था। उक्त पूजा में हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) तन्त्रधारक और नीरद महाराज (स्वामी अम्बिकानन्द) सहायक पुजारी थे। 'कुमारी-पूजा' (देवीभाव से कुआँरी कन्या की पूजा) भी की गयी। इस प्रकार मेरे साधु बनने के ठीक बाद ही उन्होंने मुझे पूजा-अनुष्ठानादि करने का अवसर दे मेरे आध्यात्मिक जीवन को प्रखर बनाने में सहायता दी।

कुछ दिनों के पश्चात् महाराज ने मुझे स्वामी शर्वानन्दजी के साथ मद्रास जाने की आज्ञा दी, पर वहाँ जाने से पहले मैंने उनको कुछ आध्यात्मिक उपदेश देने की प्रार्थना की। अति गम्भीर एवं कृपा-परिपूर्ण स्वर में महाराज ने कहा, "संघर्ष! संघर्ष!" यह संघर्ष ही मेरे

जीवन का मूल सिद्धान्त रहा है। उनके ये शब्द अभी भी मेरे कानों में गूँजते रहते हैं।

मुझे उन घटनाओं का स्मरण हो आता है, जो हमारे पुरी में महाराज के पास रहते समय घटी थीं। एक दिन अतुलबाबू ने स्वामी शर्वानन्दजी से कहा, "आप लोग किस प्रकार के संन्यासी हैं? आप लोगों को कोई सिद्धियाँ प्राप्त नहीं हैं।"

यह सुनकर महाराज ने कहा, "सिद्धियाँ पाना तो सरल है, पर मन की पवित्रता प्राप्त करना कठिन है। यह चित्तशुद्धि ही मुख्य है।"

एक अन्य दिन महाराज अस्वस्थ थे। उनके पेट में दर्द था। उसी दिन पुरी के मन्दिर में कोई विशेष पर्व मनाया जा रहा था। हममें से कई लोग यह सोचकर कि महाराज के सेवक उनकी देखभाल कर लेंगे, मन्दिर के लिए निकल पड़े। वहाँ कुछ समय बिताकर हम सन्ध्या तक लौटे। महाराज ने कुछ रुखाई से हम लोगों को हमारी स्वार्थ-बुद्धि के लिए झिड़का, पर अन्त में कहा, "मैं तुम लोगों से कुछ नहीं चाहता, केवल तुम लोगों की कल्याण-कामना करता हूँ, और जो कुछ मैं तुमसे कहता हूँ, वह केवल तुम्हारे कल्याण के लिए।"

उसके बाद मैंने रात्रि में महाराज की सेवा का कार्य अपने ऊपर ले लिया। एक दिन रात में महाराज को बहुत गर्मी लगने लगी। हवा आने के लिए उन्होंने मुझसे सब खिड़कियाँ खोल देने को कहा। मेरा व्यक्तिगत सेवा करने का यह प्रथम अवसर था तथा समझ भी कुछ कम थी, अत: मुझे किवाड़ की चटकनियाँ बन्द करने का ध्यान नहीं रहा। दूसरे दिन महाराज को हरारत मालूम हुई। इससे मुझे बहुत क्षोभ हुआ। महाराज ने बिलकुल नहीं डाँटा। केवल दूसरों से सामान्य ढंग से कहा कि मैं अभी निरा बच्चा ही हूँ और चीजों का ज्ञान ठीक से नहीं है। इस प्रकार भले ही स्नेह के कारण किसी ने मुझे मेरी इस त्रुटि का स्मरण नहीं दिलाया, पर मैंने तो इससे अपना सबक ले लिया।

सन् १९११ के अन्त में मैं मद्रास गया, जहाँ मैं पाँच वर्षों तक रहा। १९१६ में मैंने वहाँ पुन: महाराज के दर्शन प्राप्त किये। मुझे उन दिनों मद्रास मठ के मैनेजर के रूप में कठोर श्रम करना पड़ता था। मुझे कुर्सी पर लगातार घण्टों बैठे देख उन्होंने मुझसे एक दिन कहा था, "क्या मैंने तुम्हें यहाँ मुंशीगिरी के लिए भेजा है?" उन्होंने मुझे अच्छी डाँट लगायी और स्वामी शर्वानन्दजी को भी डाँटा और उनसे कहा, "उस लड़के को अध्ययन का मौका न दे तुम उससे मुंशीगिरी करवा रहे हो!"

विश्वरंजन महाराज (स्वामी हरिहरानन्द) महाराज के निजी सेवक थे। वे मुझे अक्सर बाजार से महाराज के लिए तिल तेल लाने के लिए कहा करते थे। मैं पूछताछ कर उत्तम प्रकार का तेल लाने का प्रयत्न करता। इस तेल की बात को लेकर एक दिन महाराज ने कहा, "क्या मैंने तुम्हें यहाँ केवल तिल तेल की पूछताछ करने के लिए भेजा है?" इस डाँट-फटकार को उनके प्रेम और कृपा का सूचक समझकर और हृदय के अन्तराल में यह अनुभव कर कि वे मेरे और मैं उनका हूँ, उनके इस भूल-सुधार पर मैं प्रसन्न होता था।

उन्हीं दिनों महाराज ने मुझे पठन-पठन और जप-ध्यानादि पर विशेष जोर देने को

कहा और प्रतिदिन 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करने को कहा। उनकी कृपा से मेरा मन बहुत अच्छी स्थिति में रहता था। मेरा हृदय उनसे जुड़ा और सदैव आनन्द से परिपूर्ण रहता था।

महाराज ने अन्य लोगों के साथ मुझे भी कन्याकुमारी ले जाने की कृपा की थी। मैंने कभी 'चण्डी' (दुर्गासप्तशती) का विधिपूर्वक पाठ नहीं किया था। मुझे उसमें वर्णित युद्ध और संहारलीला कभी पसन्द नहीं आयी, इसीलिए मैं उसमें से केवल स्तुति-प्रार्थना आदि का ही पाठ किया करता। महाराज को जब इसका पता चला, तो उन्होंने मुझे बहुत डाँटा और पूरी 'चण्डी' का पाठ कम से कम पन्द्रह दिन में एक बार करने की आज्ञा दी। उन्होंने मुझे 'विष्णुसहस्रनाम' और 'चण्डी' इन दोनों को तीन वर्षों तक नियमपूर्वक पढ़ने का आदेश दिया। मैंने इससे भी अधिक दिनों तक दोनों का पाठ किया।

मेरे मन में अभिमान न आ जाए इसलिए मैं न तो लेख लिखता और न ही प्रवचन देता, फिर धार्मिक चर्चाओं से भी अलग ही रहता था। महाराज ने एक दिन त्रावणकोर के हरिपद आश्रम में मुझे आदेश दिया, "तुम हम लोगों से जो सुनते और सीखते हो, उसे दूसरों को बताओ।" पुनः एक दिन मद्रास में उन्होंने कहा था, "सद्ग्रन्थ को पढ़ने की ऐसी आदत बनानी चाहिए कि अगर एक दिन भी छूट जाए तो बुरा लगने लगे। यदि मन उच्च आध्यात्मिक स्तर पर सहज रूप से न रह पाये, तो उसे कम से कम अध्ययन में व्यस्त रखा जा सकता है, जिससे वह नीचे की ओर नहीं जा पाएगा।"

एक अन्य समय महाराज मुझसे बोले, "तुम प्रति सप्ताह एक लेख क्यों नहीं लिखते?" इसके उत्तर में मैंने कहा, "मुझे क्या लिखना चाहिए? मुझे विचार ही नहीं आते।" तब वे बोले, "गहराई से सोचना सीखो और तब तुम शीघ्र ही अपने मन को विचारों से परिपूर्ण पाओगे।" इसके बाद भविष्य में मैंने अपने गुरु की महती कृपा से कभी विचारों का अभाव नहीं पाया।

जब हम लोग बंगलोर आश्रम में थे, उस समय एक दिन सुबह महाराज ने मुझे कुछ शारीरिक कसरतें दिखायीं और उनको प्रतिदिन करने को कहा। मैं पहले से ही कुछ घर के अन्दर किये जानेवाले व्यायाम किया करता था और अब महाराज द्वारा बताये गये व्यायाम भी करने लगा। महाराज मुझसे बहुधा कहा करते थे, "शारीरिक, बौद्धिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक सभी कार्य साथ साथ होना चाहिए।"

महाराज जब मद्रास आये, तब उन्होंने मुझसे कई बार कहा कि वे मुझे संन्यास देंगे। दूसरे संन्यासियों ने मुझे सलाह दी कि मैं समय से पहले महाराज के पास जाकर संन्यास के लिए अनुरोध करूँ। मैं महाराज के पास गया और मूर्ख की तरह बोला, "महाराज यदि आप मुझे योग्य समझते हैं, तो संन्यास-दीक्षा देने की कृपा करें।"

मेरे ऐसा कहने पर वे प्यार से बोले, "कोई भी व्यक्ति संन्यास के योग्य माना नहीं जा सकता, पर मैं तुम्हें संन्यास-दीक्षा दूँगा।"

मेरे संन्यास लेने के दिन मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ कि महाराज एक अलौकिक

आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से मानो स्पन्दित हो रहे हैं। हवन समाप्त होने के बाद जब मैंने उन्हें प्रणाम किया, तब उन्होंने मेरे सिर पर अपना हाथ रखा। मैंने उसी क्षण एक व्यापक ईश्वरीय शक्ति का अनुभव किया और मुझे ऐसा लगा मानो महाराज, संसार और मैं तीनों एक अनन्त सत्ता में मिल गये हैं। इस प्रकार महाराज ने कृपापूर्वक मुझे स्पष्ट रूप से अवगत करा दिया कि वास्तव में गुरु क्या है। तब मुझे इस श्लोक की सत्यता का अनुभव हुआ –

"अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।"

– 'इस चराचर जगत् में व्याप्त जो अखण्डमण्डलाकार परमात्मा है, उस परमात्म-पद के दर्शन करानेवाले गुरु को मैं नमन करता हूँ।'

उसी दिन रात्रि के समय हममें से कई लोग महाराज को घेरकर बैठे थे। स्वामी शर्वानन्दजी भी तब वहीं थे। महाराज का मन उच्च आध्यात्मिक अवस्था में आरूढ़ था। मैंने सोचा कि वे जप, ध्यान और साधना के विषय में बोलेंगे, पर इसके बदले उन्होंने मुझे लक्ष्य करते हुए कहा, "तुम और क्या साधना करोगे? घर घर जाकर लोगों को भगवान् का पवित्र नाम सुनाओ। यही अपने आपमें एक बड़ी साधना है।" फिर स्वामी शर्वानन्द की ओर मुड़कर उन्होंने कहा, "शर्वानन्द, आजकल मुझे रामानुजाचार्य का भाव बहुत अच्छा लगता है – उनका सब प्राणियों को भगवन्नाम सुनाने में सहायक होना।" उस दिन महाराज ने मुझे एक नयी प्रेरणा प्रदान की और मेरे विचारों को भी नयी दिशा मिली। आज भी वह मेरे लिए जीवनोपयोगी है। मद्रास में मुझे महाराज से जो भी आध्यात्मिक प्रेरणा मिली, उसके फलस्वरूप मैंने स्वाध्याय और ध्यान पर ज्यादा जोर देना शुरू कर दिया और मैंने धर्मसम्बन्धी कक्षाएँ लेना तथा सभाओं में व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया। बाद में मैंने प्रयत्नपूर्वक लेखन-कार्य भी बहुत किया।

मद्रास मठ के लिए नया भवन तैयार करने की एक बड़ी समस्या थी। इस समस्या के माध्यम से महाराज की दैवी शक्ति हमारे समक्ष प्रकट हुई। मठ का पुराना मकान नष्ट हो चुका था और इस कारण मठ को किराये के मकान में स्थानान्तरित किया गया था। स्वामी शर्वानन्द और हम सब लोग कभी कल्पना भी नहीं कर पाते थे कि मठ के लिए नया भवन किस प्रकार बन सकेगा। जमीन आदि तो पहले से ही खरीदी जा चुकी थी। महाराज जब मद्रास आये, तो उन्होंने कहा कि वे नये भवन की नींव रखेंगे। और उसके निर्माण के लिए स्वामी शर्वानन्दजी को उन्होंने धन-संग्रह करने के लिए कहा तथा प्रयोजन होने पर कर्ज लेने की अनुमति भी दे दी। इसके बाद ही से आशातीत रूप में सहायता मिलने लगी और आठ महिनों के भीतर ही सामने के हॉल को छोड़कर पूरा भवन रहने के लायक तैयार हो गया। अपनी बंगलोर यात्रा से लौटने के बाद और हमारी संन्यासदीक्षा के कुछ समय पश्चात् ही महाराज ने इस नये भवन का उद्घाटन किया।

एक दिन मैं मन्दिर में श्रीरामकृष्णदेव की सन्ध्या आरती कर रहा था। महाराज मेरे

समीप ठीक पीछे खड़े थे। आरती करते समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो सभी कुछ एक सत्ता से परिपूर्ण है। प्रत्येक चित्र में, महाराज में, मैं और वहाँ उपस्थित हर व्यक्ति में, मैंने उस सत्ता का स्पष्ट अनुभव किया। अभी भी मैं जब भी आरती करता हूँ, मुझे ठीक वैसी ही अनुभूति होती है। यह महाराज की विशेष कृपा का परिणाम है।

उस दिन शाम को हम लोग किराये के मकान की छत पर महाराज के पास बैठे थे। महाराज बोले, "मैंने श्रीरामकृष्ण से कातर होकर प्रार्थना की थी – 'वे सब अभी बालक ही हैं। अत: वे किस प्रकार नये मकान का निर्माण कर सकेंगे? तुम्हें ही दया करके इसे सम्भव बना देना होगा।' और अब तुम देख रहे हो कि उनकी कृपा से यहाँ नूतन भवन बन गया है।"

★ ★ ★

मैं मद्रास में अनेक कार्यों में व्यस्त रहता था। शास्त्र-अध्ययन और जप-ध्यान के लिए मुझे बहुत कम समय मिल पाता। महाराज ने मद्रास पहुँचते ही यह जान लिया कि मुझे परिवर्तन की आवश्यकता है। अत: उन्होंने मुझे मद्रास छोड़कर बंगलोर जाने की आज्ञा दी। मेरी बंगलोर जाने की बिलकुल इच्छा नहीं थी, पर महाराज को तो पता था कि मेरे लिए क्या अच्छा होगा। इसीलिए उन्होंने एक दिन कहा, "अरे मूर्ख! तुम अपना भला स्वयं नहीं जानते, तुम्हें अब मद्रास में अधिक रहने की आवश्यकता नहीं है, बंगलोर चले जाओ।" इससे पहले ही तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) से भी मुझे यह मालूम पड़ गया था कि महाराज मुझे बंगलोर भेजना चाहते हैं। अत: उनकी आज्ञा का पालन कर लिए मैं १९१७ की ग्रीष्म में वहाँ चला गया और एक वर्ष तक रहा।

महाराज गर्मी के आरम्भ में पुरी चले गये। इसके कुछ दिनों बाद मैं बंगलोर गया। वहाँ मुझे साधना और अध्ययन आदि के लिए पर्याप्त समय मिलता था और प्रति रविवार को आश्रम में कक्षाएँ भी लेता था। उस साल गर्मी के अन्तिम दिनों में मुझे टाइफाइड हो गया। इससे मेरे पूरी शरीर में तीव्र जलन हुआ करती थी। मुझे उपचार के लिए अस्पताल में भर्ती किया गया। मुझे यद्यपि जोर से पीड़ा हो रही थी, पर मेरा मन जरा भी विचलित नहीं हुआ। मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं था, पर मुझे लगता था कि रोग बढ़ जाने पर उसे सहन कर सकना कठिन होगा, इसलिए मुझे मृत्यु सुखद जान पड़ी। जब ऐसा विचार मेरे मन में उठा, उसी समय मुझे महाराज के दर्शन हुए। दर्शन देकर महाराज ने कहा, "तुम भला कैसे मर सकते हो? तुम्हें अभी श्रीरामकृष्ण का कार्य करना है।" इतना कहकर वे अदृश्य हो गये। मेरा मन नये उत्साह से भर गया और मेरे गालों पर आनन्दाश्रु ढुलक पड़े। अब मृत्यु के भय का कोई कारण ही नहीं रहा। मुझे असीम शान्ति मिली और मेरा रोग भी ठीक होने लगा। बंगलोर में एक वर्ष से अधिक तथा दूसरा वर्ष मद्रास के अनेक स्थानों पर साधना में बिताकर १९१९ के दिसम्बर के अन्त में मैं महाराज से मिलने भुवनेश्वर गया। वहाँ मुझे महाराज के पुनीत संग में कुछ दिन रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब भुवनेश्वर मठ का निर्माण-कार्य

लगभग पूर्ण हो चुका था। एक दिन शाम के समय पुरी के वयोवृद्ध भक्त श्री अतुल मैत्र अपनी पत्नी के साथ वहाँ पहुँचे। वे बहुत खिन्न और उदास थे। महाराज ने उनके आने पर वरदानन्दजी से भजन गाने को कहा। स्वामीजी ने भजन गाना शुरू किया, जिसका आशय इस प्रकार था – 'हे मन, जगन्माता के श्रीचरणों को अपना आश्रयस्थल बना लो, जो सब प्रकार के भय से तुम्हें मुक्त कर देगा...।' इस गाने को सुनकर और उससे भी अधिक महाराज के दर्शन और उनकी अमृतवाणी श्रवण कर वृद्ध पुरुष का मुख प्रफुल्लित हो उठा और उनका हृदय आनन्द से भर उठा। हम लोग भी इस परिवर्तन को देख बहुत प्रसन्न हुए। भुवनेश्वर में कुछ दिनों तक रहने के बाद महाराज की आज्ञा से मैं स्वामी गोकुलानन्दजी के साथ कलकत्ते और बेलुड़ मठ गया और वहाँ कुछ दिन रहा। सन् १९२० में विवेकानन्द-जयन्ती के पहले महाराज मठ पहुँच गये। हम लोग उनके कमरे में बैठकर ध्यान और शास्त्र-स्तोत्र-पाठादि किया करते थे।

सन् १९२१ में मैंने महाराज के अन्तिम दर्शन किये। मैं उस समय पूज्य हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) के साथ वाराणसी में था। महाराज के आगमन से वाराणसी सेवाश्रम और अद्वैत आश्रम में एक नवीन आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण हुआ और उन्होंने मुझे भी बहुत से सदुपदेश दिये। एक दिन उन्होंने मुझसे मेरी साधना के विषय में पूछा। मैंने उत्तर दिया, "मुझे ऐसा अनुभव होता है मानो मुझमें आध्यात्मिक जागरण नहीं हुआ है। मुझे मानसिक शान्ति भी नहीं मिल पा रही है। हम लोग जिन बुरे संस्कारों को लेकर जन्मे हैं, वे हमारी आध्यात्मिक प्रगति में बाधक बन रहे हैं।"

महाराज ने इसके उत्तर में कहा, "इस तरह से मत सोचो। मध्य रात्रि में उठकर जप किया करो। पुरश्चरण (शास्त्रोक्त पद्धति से निश्चित संख्या में जप करना) करो। ऐसा करने से आध्यात्मिक जागरण स्वयमेव हो जाएगा।"

दूसरे दिन मन में एक प्रकार की व्यग्रता अनुभव होने पर मैं महाराज के पास गया। मुझे आते देख वे उठ बैठे और स्वयं मेरे पास आये तथा थोड़े समय में ही उन्होंने मुझे बहुत उपयोगी उपदेश प्रदान किया। उन्होंने कहा, "तुम्हारा मन केवल इसलिए अशान्त रहता है कि मैं तुमसे जो करने के लिए कहता हूँ, उसे तुम करना नहीं चाहते।" फिर उन्होंने अपना हाथ मेरे सिर पर रखते हुए मुझे बहुत आशीर्वाद दिया और मेरे मना को शान्ति से परिपूर्ण कर दिया।

महाराज की इच्छा थी कि मैं मायावती जाकर 'प्रबुद्ध भारत' नामक अंग्रेजी मासिक पत्रिका का संपादन करूँ। पर स्वयं होकर उन्होंने इस विषय में मुझसे कुछ नहीं कहा। किन्तु पूज्य सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द) और निर्मल महाराज (स्वामी माधवानन्द) ने मुझसे अनेक बार मायावती जाने के लिए कहा, पर मैं वहाँ जाने के लिए तैयार नहीं हुआ।

एक दिन प्रातःकाल जब मैं पूज्य हरि महाराज के पास उनकी सेवा में लगा हुआ था, मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मानो मेरा हठ टूटता जा रहा है और मेरे मन के अन्दर से एक

आनन्द का प्रवाह बाहर फूट रहा है। मेरी आँखों से आँसू बह चले। मैं उन आँसुओं को जितना पोंछता जाता, उतना ही वे उमड़ते जाते थे। इसके साथ मैंने यह भी अनुभव किया कि मेरे भीतर शरणागति का भाव उदित हो रहा है। मुझे यह सब महाराज का खेल मात्र ही लगा। वे ही कृपापूर्वक मेरे अन्दर से हठ तथा अन्य बाधाओं को दूर करते जा रहे थे। शाम होने तक मेरा मन पूरी तरह स्थिर हो गया। इसके पश्चात् एक दिन सुबह जब मैं महाराज को प्रणाम करने गया, तो उन्होंने कहा, "देखो, वे सब चाहते हैं कि तुम मायावती जाओ और 'प्रबुद्ध भारत' का कार्यभार सँभालो।" मेरा हठ टूट गया था। अत: मैंने बिना किसी हिचकिचाहट के कहा, "महाराज, यदि आप आज्ञा दें, तो मैं अवश्य जाऊँगा।" मेरे इस उत्तर से वे बहुत प्रसन्न हुए और मुझे बहुत आशीर्वाद दिया।

इसके बाद यह निश्चित हुआ कि मुझे मायावती जाना होगा। एक दिन सुबह महाराज को प्रणाम करने के बाद सुधीर महाराज, निर्मल महाराज एवं अन्य संन्यासियों के साथ मैं भी महाराज के पास बैठा था। महाराज ने बातचीत के आरम्भ में ही मुझसे कहा, "तुम्हारी साधना कैसी चल रही है?" मैंने उत्तर दिया, "कार्य अधिक रहता है। इसलिए मुझे पर्याप्त समय नहीं मिल पाता।" मेरे ऐसा कहने पर उन्होंने कहा, "यह सोचना गलत है कि कार्य के कारण समय नहीं मिलता। यह सब मन की चंचलता है, जिसके कारण व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है।" फिर भावपूर्ण वाणी में वे कहने लगे, "व्यक्ति को पूजा और कर्म दोनों साथ साथ करते हुए अपने मन को तैयार करना चाहिए।" उस दिन दिये गये वे उपदेश 'इटरनल कम्पेनियन'* नामक पुस्तक में कार्य और पूजा वाले अध्याय में लिपिबद्ध हैं। ये विशेष रूप से मुझे दिये गये थे। उस दिन महाराज के द्वारा मेरे, निर्मल महाराज तथा अन्य संन्यासीजनों के बीच एक विशेष स्नेह का सम्बन्ध स्थापित किया गया। उन्होंने कहा, "जिस प्रकार निर्मल (माधवानन्द) मुझे प्रिय है, तुम एवं अन्य सब भी मुझे उसी प्रकार प्रिय हो।"

जब मैं विचार करके देखता हूँ कि महाराज को सभी व्यक्ति प्रिय हैं, तब मुझे लगता है कि मुझे भी सभी प्रिय हैं। महाराज को अपने शिष्य तथा माँ सारदा के शिष्य समान रूप से प्रिय थे। वे कहा करते थे कि सभी लोग श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द का कार्य करने यहाँ आये हुए हैं। एक दिन उन्होंने मुझे लक्ष्य करके कहा, "उनका (प्रभू का) कार्य है, इस भाव से करने पर बन्धन नहीं हो सकता। बल्कि इससे सभी प्रकार का विकास – आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक – साधित होगा। बस, केवल अपने को उनके चरणों में समर्पित कर दो, शरीर और मन उन्हें सौंप दो और उनके गुलाम बनकर रहो।" महाराज का यह उपदेश उनके अन्य उपदेशों के साथ मेरे जीवन का अवलम्बन बन गया है।

मेरी महाराज से किसी दिन खूब खुलकर बातचीत करने की इच्छा थी। मेरा मन कुछ चिन्ताओं से, जिन्हें मैं व्यक्त नहीं कर पाया था, बोझिल था। महाराज जिस समय मद्रास गये,

---

* हिन्दी में 'ध्यान, धर्म तथा साधना'

मुझसे कहा था कि वे वापस लौटते समय मुझे अपने साथ बंगाल ले चलेंगे, पर इसके बदले उन्होंने मुझे बंगलोर भेज दिया। सन् १९१९ के अन्त में जब मैं भुवनेश्वर गया, तब भी उन्होंने मुझे अपने साथ अधिक समय तक ठहरने न देकर बंगाल भेज दिया। इन सब कारणों से मेरे मन में क्षोभ था और अन्दर ही अन्दर मैं अशान्ति का अनुभव कर रहा था। मैं उनसे अपने मन की बात कहने का सुअवसर ढूँढ़ रहा था और एक दिन वह मिल भी गया।

सन् १९२१ में महाराज के जन्मदिन पर मठ में 'कालीपूजा' मनायी गयी। मैंने मन ही मन अगली शाम को महाराज से मिलने की योजना बनायी। जिस समय अन्य लोग मूर्ति-विसर्जन के लिए गंगातट पर चले जानेवाले थे, उस शाम को मैं उनके कमरे में गया। मैंने उन्हें पहले से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताया था। स्वामी विशुद्धानन्दजी उनके समीप बैठे हुए थे। पेता पुरी भी वहीं थे। महाराज ने जैसे ही मुझे देखा, वे पेता पुरी से बालक की तरह जोर जोर से पुकारकर कहने लगे, "देखो, मैं कैसा योगी हूँ!" मुझे बाद में मालूम हुआ कि कुछ समय पहले उन्होंने पेता पुरी से यह देखने के लिए कहा था कि क्या मैं आया हूँ। वे जानते थे कि मैं आऊँगा।

उस दिन महाराज से मेरी बहुत देर तक बातचीत हुई। महाराज कहने लगे कि उन्हें मालूम था कि जब मैं भुवनेश्वर गया था, उस समय मेरी भ्रमण की इच्छा थी और इसीलिए उन्होंने मुझे बंगाल भेजा था। उन्हें यह भी ज्ञात था कि मेरी यह प्रवृत्ति शीघ्र ही दूर हो जाएगी। इसे शीघ्र ही दूर करने के लिए उन्होंने मुझे जल्दी पुन: भ्रमण के लिए बाहर भेज दिया था। मुझे कुछ लज्जा-सी लगी। तब मैंने देखा कि महाराज को मेरी कितनी चिन्ता है। उन्होंने मेरे मन से समस्त निराशा दूर कर उसे निर्मल बना दिया, जिसके फलस्वरूप हम दोनों एक-दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने लगे। इसके कुछ समय पश्चात् महाराज बेलुड़ मठ चले गये और अपनी दिव्य छबि मेरे मन में चिरस्थायी रूप से छोड़ गये। जिस आध्यात्मिक शक्ति का संचार उन्होंने धीरे धीरे मुझमें किया था और भक्ति तथा सेवा का जो रूप उनमें मैंने मद्रास एवं वाराणसी में रहते समय देखा था, वह सब अभी तक मेरे लिए प्रेरणादीप बना हुआ है और आज भी मुझे कृपाप्रसाद के रूप में अव्यक्त रीति से नया प्रकाश और नयी प्रेरणा प्रदान किया करता है। जैसे जैसे दिन बीतते जा रहे हैं, मैं श्रीरामकृष्णदेव के इन अमूल्य शब्दों का महत्त्व समझ पा रहा हूँ कि भगवान् ही स्वयं गुरु-रूप में आते हैं।

अनुक्रमणिका

'प्रथम भाग'

आध्यात्मिक आदर्श

'द्वितीय भाग'

आध्यात्मिक साधना – (१) तैयारियाँ

आध्यात्मिक साधना –(२) पद्धति

'तृतीय भाग'

अनुभूतियाँ

'चतुर्थ भाग'

अध्यात्म के बिखरें मोती

प्रथम भाग

आध्यात्मिक आदर्श

अध्याय १

अध्यात्म की खोज

आध्यात्मिक परिवर्तन :

युवा राजकुमार सिद्धार्थ अपने महल के बाग में एक वृक्ष के नीचे अपने विचारों में खोये बैठे थे। मध्यरात्रि के अन्धकार में सारे जगत् पर निस्तब्धता और शान्ति छाई हुई थी। नर्तकियों के हँसी मजाक और कोलाहल से ऊबकर वे भोजनकक्ष को त्याग कर कुछ ही क्षण पूर्व यहाँ आए थे। एक तीव्र असन्तोष, एक गहरी रिक्तता उनके भीतर बढ़ती जा रही थी। अचानक उन्हें कुछ विचित्र वाणियाँ सुनाई दीं। उन्होंने सुना आकाश में कुछ देवता समगान कर रहे थे :

जुड़ाना चाहता हूँ, कहाँ जुड़ाऊँ? न जाने कहाँ से आकर कहाँ बहा जा रहा हूँ। बार-बार आता हूँ, न जाने कितना हँसता और कितना रोता हूँ। सदा मुझे यही विचार लगा रहता है, कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। ... ऐ सोनेवाले, नींद से उठो और फिर कभी मत सो जाना।[१]

सिद्धार्थ उठ खड़े हुए। अपनी पत्नी और सन्तान की ओर अन्तिम बार देखा और अपनी ऐतिहासिक यात्रा पर निकल पड़े, जिसने अन्ततोगत्वा उन्हें बुद्ध और तथागत बना दिया।

आध्यात्मिक पथ का अंगीकार करनेवाले एकमात्र बुद्ध ही नहीं थे। कठोपनिषद में कहा गया है : उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत – अर्थात् उठो, जागो और महान् आचार्यों के उपदेशों का अनुसरण कर सत्य का साक्षात्कार करो।[२] वस्तुत: अति प्राचीन काल से भगवान् महान् शास्त्रों के माध्यम से मानव को अपना बोझा स्वयं उठाकर उनके पीछे आने का आह्वान करते रहे हैं। और इस आह्वान को सुनकर प्राच्य और पाश्चात्य देशों में हजारों लोगों ने अपना सर्वस्व त्याग कर अतिचेतन राज्य की इस यात्रा का अंगीकार किया है। सामान्य लोगों के लिए यह संसार और इसके सुख बहुत महत्त्व रखते हैं, लेकिन ऐसे भी लोग हैं, जो नित्य और अनन्त (परमात्मा) के लिए तरसते हैं। स्वामी विवेकानन्द के सत्य के लिए अथक प्रयास और संघर्ष का विचार करो। वे असाधारण रूप से पवित्र, शक्तिसम्पन्न, सुन्दर, बुद्धिमान् और प्रतिभासम्पन्न थे तथा यदि चाहते तो सांसारिक जीवन में किसी भी

---

१. रामकृष्ण वचनामृत –३, नवम संस्करण, पृ. ३५३ २. कठोपनिषद् १.३.१४

ऊँचाई तक पहुँच सकते थे। अपने परिवार की दरिद्रता और असहायता भी उन्हें सांसारिक जीवन की ओर खींचने के प्रबल कारण हो सकते थे। लेकिन इन सभी प्रलोभनों के बावजूद उन्होंने त्याग और सेवा के पथ को चुना।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, कभी न कभी ऐसा समय अवश्य आता है, जब वह आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति आकृष्ट होता है। इस आमन्त्रण के प्राप्त होने पर वह उसे सुने बिना नहीं रह सकता। तब संसार की कोई भी वस्तु उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाती। उस उच्चतर आह्वान का अनुसरण किए विना वह कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यह आन्तरिक जागरण तथा उच्चतर-आदर्श का अनुसरण करने की अपरिहार्य प्रेरणा, आध्यात्मिक जीवन के शुभारम्भ की द्योतक हैं। उसके बाद आध्यात्मिक लक्ष्य साधक को सारा जीवन आकर्षित करता तथा उसकी स्मृति में बार-बार उदित होता रहता है। सांसारिक लक्ष्यों के स्थान पर आध्यात्मिक-लक्ष्य को स्वीकार करने का परिवर्तन 'ईश्वरोन्मुखता' कहलाता है। इससे आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ होता है। कुछ लोगों में यह 'परिवर्तन' अचानक होता है, कुछ में उसका क्रमिक-विकास होता है।

किसी भी देश में, किसी भी काल में ऐसी सच्ची ईश्वरोन्मुखता कुछ ही लोगों में उपस्थित होती है। तुम चाहो या न चाहो, सच्चा आध्यात्मिक-जीवन चुने हुए कुछ अल्प लोगों के लिए ही होता है। सामूहिक आध्यात्मिकता का आदर्श भले ही बड़ा सुन्दर क्यों न प्रतीत हो, यह कभी सम्भव नहीं है। भगवद्गीता में कहा गया है कि हजारों लोगों में केवल कुछ ही आध्यात्मिक जीवन अंगीकार करते हैं, और इनमें से भी मात्र कुछ व्यक्ति अतिचेतन-अनुभूति प्राप्त करने में सफल होते हैं।[३] लेकिन हममें से प्रत्येक को यह सोचना चाहिए, कि हम वे चुने हुए अल्पसंख्यक लोग हैं, तथा उच्चतम आध्यात्मिक-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें संघर्ष करना चाहिए।

आध्यात्मिक स्पृहा दुर्लभ सौभाग्य है :

धर्म-जीवन में भी एक प्रकार का अभिजात-तन्त्र या रईस-शाही है। महान् सन्त और ऋषि तथा सभी धर्मों के सिद्ध महापुरुषों का एक विशिष्ट-वर्ग होता है। लेकिन सांसारिक रईसों के विपरीत ये आध्यात्मिक-रईस अपनी सम्पदा का वितरण दूसरों में करने हेतु सदैव तत्पर रहते हैं। वे जिसका स्वयं उपभोग करते हैं, उसे दूसरों को देने में केवल प्रसन्न ही होते हैं। लेकिन खेद की बात तो यह है, कि बहुत कम लोग आध्यात्मिक जीवन की महान् सम्पदा के इच्छुक होते हैं। अधिकांश लोग अध्यात्म-प्रासाद की सुखकर उष्णता का आनन्द लेने के बदले संसार-रूपी सुअरखाने में लोटना अधिक पसन्द करते हैं। घोड़े को पानी के निकट ले जाया जा सकता है, लेकिन यदि वह पानी पीना न चाहे, तो उसे पिला नहीं सकते। अत:

---

३. भगवद्गीता ७.३

चारों ओर यह देखने की आवश्यकता नहीं है, कि कितने लोग आध्यात्मिक-पथ पर चल रहे हैं। यदि तुम्हें उच्च आदर्श आकृष्ट करें, यदि उसके आह्वान का अनुभव हो, तो उसे अंगीकार करो और उसकी शर्तें पूरी करो। यदि दूसरे उस आह्वान को अनसुना कर दें, तो उसके सम्बन्ध में तुम अधिक कुछ नहीं कर सकते। आध्यात्मिक-जीवन में दूसरों से अलग मार्ग को स्वीकार करना अनिवार्य है।

शंकराचार्य कहते हैं :

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।। (विवेकचूडामणि – ३)

अर्थात् मनुष्यजन्म, मुक्त होने की इच्छा और महापुरुष का संश्रय, ये तीन दुर्लभ हैं, तथा भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होते हैं। लेकिन इन तीन दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति भी पर्याप्त नहीं है। हमें इनके द्वारा लाभान्वित होने के लिए तत्पर होना चाहिए तथा आध्यात्मिक जीवन के लिए सर्वस्व त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए। जीवन के चरम-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी मूल्य को चुकाने की तथा किसी भी कठिनाई का सामना करने की तत्परता होनी चाहिए।

यदि किसी कारण हमारा मन उच्चतर तथा चिरन्तन तत्त्वों की ओर आकृष्ट हो, तो हमें इसे बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए तथा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम लक्ष्य प्राप्ति तक बिना थके उच्चतर पथ पर धीर-स्थिर भाव से प्रगति करते रहें। आध्यात्मिक-उत्साह बनाए रखना चाहिए, लेकिन हमारे शिथिल हो जाने का खतरा सदा बना रहता है। अतः आध्यात्मिक-जीवन को अंगीकार करने के कुछ समय बाद अधिकांश लोग आध्यात्मिक-प्रयास बन्द कर देते हैं। मन की अत्यधिक चञ्चलता और बहिर्मुखता के कारण वे अधिक समय तक आध्यात्मिक-उत्साह और तीव्रता बनाए नहीं रख पाते और निष्ठापूर्वक लगन के साथ साधना और स्वाध्याय नहीं करते। अतः हमें सावधान रहना चाहिए। आध्यात्मिक-जीवन के लिए दृढ़-निष्ठा एकमात्र आवश्यक वस्तु है। निरुत्साहित हुए अथवा प्रयास में ढील दिए बिना, महान् लगन और अटूट दृढ़ता द्वारा ही प्रगति सम्भव है। वर्ड्स्वर्थ अपनी एक प्रसिद्ध कविता में कहते हैं : "हमारा जन्म निद्रा और विस्मृति मात्र है।"[४] एक अन्य गीत में वे कहते हैं : "संसार हमसे बहुत अधिक जुड़ा हुआ है; पहले और बाद में, पाते और खोते, हम अपनी शक्ति क्षय करते हैं।"[५] हमें इस तरह अपना सारा जीवन नहीं गँवाना चाहिए।

संसार में चिरशान्ति सम्भव नहीं :

कई बार जब कोई वस्तु प्राप्त होती है, तो हम पाते हैं, कि हम उसे कभी नहीं चाहते

४. विलियम वर्ड्स्वर्थ – ओड ऑन द इन्टिमेशन्स ऑफ इम्मोर्टेलिटी

५. विलियम वर्डस्वर्थ, द वर्ल्ड इस् टू मच विद् अस

थे। हमें उसकी लालसा रही हो, लेकिन उसके प्राप्त होने के समय हम वस्तुतः यह अनुभव करते हैं कि उसकी इच्छा समाप्त हो गई है और उसका स्थान किसी और इच्छा ने ले लिया है। बहुत से लोग अपनी अभिलाषाओं के स्वरूप को ठीक से न समझकर उसे सांसारिक दिशा में लगा देते हैं, जब कि वास्तविकता यह है, कि मानव की कोई भी अभिलाषा या लालसा किसी भी अनित्य और परिवर्तनशील वस्तु द्वारा पूर्ण नहीं हो सकती, चाहे लोग इस विषय में स्वयं को कितना भी धोखा देने का प्रयत्न क्यों न करें। पुरानी रिक्तता पुनः पुनः और प्रायः पहले से अधिक भयानक और निष्ठुर रूप में उनके साथ बनी रहती है, उनका पीछा करती रहती है। लोग बाह्य पदार्थों में, स्त्री और पुरुष के भौतिक रूपों में, सुख खोजते हैं। लेकिन सच्चा सुख हमारे भीतर विद्यमान है। वह हमारी ऐसी धरोहर है, जिसे हमसे पृथक् नहीं किया जा सकता। बाह्य-पदार्थ कभी वास्तविक सुख प्रदान नहीं कर सकते, और जो थोड़ा सुख हमें मिलता है, वह अल्प समय में नष्ट हो जाता है। हम अपने समग्र जीवन-काल पर दृष्टि रखने के बदले, काल के एक अंश-विशेष पर ही दृष्टि निबद्ध रखने की गलती करते हैं। इसमें कोई शक नहीं, कि सांसारिक सम्बन्धों में, मानवीय-प्रेम और मानवीय-स्नेह में अस्थाई सुख है। लेकिन अस्थाई सुख सच्चा-सुख कभी नहीं हो सकता। यही नहीं, वह उसका उल्टा है। सच्चा सुख अन्तरात्मा का नैसर्गिक स्वरूप है। हमें अपने स्वरूप को जानने, अपनी वास्तविक आत्मा को जानने की इच्छा होनी चाहिए। आत्म-साक्षात्कार में ही सच्चा आनन्द निहित है।

आत्मा परमात्मा का अंश तथा उससे अभिन्न है, फिर भी भक्त अपनी आत्मा की अपेक्षा परमात्मा को अधिक महत्त्व देता है। वह एकमात्र परमात्मा को ही समस्त शान्ति और आनन्द का निधान मानता है। हमें अपने भीतर देखने तथा उन्हें अपने हृदय में विराजित करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारी देह भगवान् का जीवन्त मन्दिर है। सभी शास्त्रों में इस मान्यता पर बार-बार बल दिया गया है। लेकिन महान् अवतार तथा ऋषि-गण भगवान् के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर हैं। इसीलिए उनका प्रभाव सर्वाधिक होता है। जिन लोगों ने अपनी आत्मा में सत्य का साक्षात्कार किया है, वे ही दूसरों को साक्षात्कार का मार्ग सिखा सकते हैं। परमात्मा सदा हमारे अन्तःकरण के, हमारे व्यक्तित्व के पार्श्व में विद्यमान हैं और आन्तरिकता से प्रार्थना करने पर ही प्रार्थना सुनी जा सकती है, अन्यथा नहीं। प्रार्थना करते समय कभी सांसारिक सुख की बात नहीं सोचनी चाहिए। सामान्यतः जिसे सुख समझा जाता है, वह आध्यात्मिक जीवन का मापदण्ड, आध्यात्मिक प्रगति का और अनुमति का प्रमाण कभी नहीं माना जा सकता। आध्यात्मिक आनन्द भिन्न प्रकार का होता है। वह परमात्मा की 'शान्ति है, जो बुद्धि के परे है'।[६]

भगवान् से सांसारिक वस्तुओं की याचना नहीं करनी चाहिए। मान लो, वे उन्हें प्रदान

---

६. बाइबिल, फिलीपियन्स ४.७

कर दें। भौतिक-वस्तुओं के साथ समस्याएँ भी आ सकती हैं। इस महान् वरदाता के निकट जाकर व्यक्तिगत इच्छाओं और कामनाओं से सम्बन्धित सांसारिक वस्तुएँ कभी नहीं माँगनी चाहिए। हम भगवान् के निकट केवल भौतिक-पदार्थों के मोह से बचने तथा संसार-सागर में डूबने से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। सामान्यत: जब हम दु:खी होते हैं, तो अपनी जीवन पद्धति को परिवर्तित कर सत्य और आनन्दस्वरूप परमात्मा की ओर जाने के बदले अपनी वासनाओं और मनोराज्य से चिपके रहते हुए अपने दु:ख के साथ समझौता कर लेते हैं। हम इतने देहासक्त हैं, कि हम देह-सुख को अन्य सभी बातों से अधिक महत्त्व देते हैं, और उसको त्यागने के लिए तैयार नहीं हैं। यही नहीं, पुन: पुन: घात-प्रतिघात के बावजूद हम उसके विभिन्न-रूपों को हठ-पूर्वक पकड़े रहते हैं। अविद्या या माया की ऐसी महान् शक्ति है।

जगन्माता या जगत्पिता (हम) बच्चों का खेल देख रहे हैं। खिलौनों और बचकाने धन्धों से बच्चा जब ऊब जाता है, तभी भगवान् वस्तुत: उसके पास आकर माया के लीला-क्षेत्र से उसे दूर ले जाते हैं। बच्चे मिठाईयों, गुड़ियों, खिलौने के सिपाही, घर, मोटरों आदि से खेलते रहते हैं और जब तक वे इनसे ऊब कर पूर्ण वितृष्णापूर्वक इनसे मुँह नहीं मोड़ लेते, तब तक भगवान् कुछ नहीं कर सकते। भगवान् को यह बहुत रोचक प्रतीत होता है। और फिर एक दिन बच्चा थोड़ा बड़ा होकर चिल्ला उठता है : "मैंने सारे जीवन क्या किया?" और भगवान् भी कहते हैं : "हाँ पुत्र, तुमने सारे जीवन क्या किया है? तुम्हें ऐसा करने को किसने कहा था? इस तरह मूर्खतापूर्वक अनिश्चित काल के लिए खेलते रहने को तुम्हें किसने कहा था? अपने खिलौनों में फँसने और चोट खाने के लिए किसने कहा था? यह सब किसने किया?" और तब अधिकांश लोगों को बहुत देर हो गई होती है एवं बालक अपने ध्वंस-जीवन के खण्डहरों में बैठकर विलाप करता रहता है।

सर्वोच्च लक्ष्य के लिए संघर्ष करो :

हम सभी को स्वस्थ और श्रेष्ठतर पथ के अंगीकरण का अवसर प्राप्त है। लेकिन हम अपने विशिष्ट खिलौनों से चिपके रहते हैं और उनको छोड़ते नहीं। अत: हमें दु:ख भोगना पड़ता है और हम तब तक कष्ट भोगते रहते हैं, जब तक जीवन द्वारा बार-बार असंख्य उपायों से सिखाए जा रहे पाठ को सीख कर बुद्धिमानी से आचरण करने नहीं लग जाते। जिस तरह अधिकांश लोग अपनी सांसारिक कामनाओं और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, उसी तरह हमें आध्यात्मिक-जीवन और साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन अधिकांश लोग ऐसा नहीं करते। और यह पूरी तरह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है कि हम आध्यात्मिक-जीवन को स्वीकार करें या सांसारिक-जीवन को, भय और पराधीनता का जीवन-यापन करें या निर्भयता और स्वाधीनता का।

हमें ऐसी किसी उच्च-वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए, जो

अपरिवर्तनशील तथा अक्षर हो। लेकिन प्राय: हम जानबूझकर तथा स्वेच्छापूर्वक अविद्या का पथ चुनते हैं, क्योंकि हम अपने भौतिक तथा भावनात्मक भोगों के कल्पना-राज्य से चिपके रहते हैं, जिन्हें आगे या पीछे हमें बाध्य होकर त्यागना होगा। हम सभी को एक दिन अपनी पकड़ ढीली करनी होगी। और यदि यह हम स्वेच्छा से न करें, तो खिलौने हमसे छीन लिए जाएगें, जो अति कष्टकर और कुछ लोगों के लिए हृदय-विदारक होगा। अधिकांश लोगों के लिए सबक सीखने का यही एकमात्र उपाय है, लेकिन यह बहुत कष्ट-प्रद है और इसमें कई जन्म लग जाते हैं। हमें सचेतन, जानबूझकर तथा सोद्देश्य समर्पित-बुद्धि से एकनिष्ठ आध्यात्मिक-जीवन यापन करना चाहिए। हमारी इस इच्छा-शक्ति को जीवन की उच्च अथवा निम्न-दिशाओं में, जैसा हम चाहे, प्रवाहित किया जा सकता है।

लक्ष्य प्राप्ति के लिए अपने में महान् उत्साह जगाने पर ही हम उस प्रयास के लिए आवश्यक शक्ति प्राप्त कर पूरा परिश्रम कर सकते हैं। अध्यात्म-जगत् में प्राय: अव्यवस्थित मस्तिष्क वाले लोग देखे जाते हैं। वे किसी निश्चित पद्धति का अनुसरण करने की परवाह नहीं करते और अपनी भावनाओं तथा मनोवेगों के असीम सागर में बहते रहना चाहते हैं। अत: सचमुच देखा जाए, तो वे कुछ भी हासिल नहीं करते और पूरे सांसारिक-मनोवृत्ति वाले लोगों जैसा थोड़ा-बहुत ही पाते हैं। अव्यवस्थित मस्तिष्क वाला कोई भी व्यक्ति संसार में सफल नहीं हो सकता। आध्यात्मिक-जगत् में तो और भी कम। तुम क्या चाहते हो, यह सदा के लिए निर्धारित कर लो। प्राय: हम चाहते तो शान्ति हैं, लेकिन ऐसे पथ का अनुसरण करते हैं, जिसका परिणाम अन्त में अशान्ति और कष्ट होता है। बंगाल में एक कहावत है : "कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो पूर्व की ओर जाना चाहते हैं, लेकिन पश्चिम की ओर बढ़ने लगते हैं, और यदि कोई उनसे इसका कारण पूछे, तो कहते हैं, कि मैं उत्तर की ओर जाना चाहता हूँ।"

सत्य की कसौटी :

प्रेमी अपने प्रेमास्पद की कल्पना में ऐसी बातों की कल्पना करता है, जिनका अस्तित्व नहीं है। पागल आदमी भी ऐसी बातों की कल्पना करता है, जो सत्य नहीं हैं। आध्यात्मिक-जगत् में मनो-विभ्रमों, कल्पनाओं का स्थान नहीं है। हमें साधना की एक सुनियोजित विधि का अवलम्बन लेकर सत्य की एक झलक प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि ऐसी झलक अचानक प्राप्त हो जाए और हम दीर्घ, नियमित साधना द्वारा उसके लिए तैयार न हों, तो उसकी तीव्र-प्रतिक्रिया हो सकती है और वह हमें सारे जीवन के लिए अस्थिर भी बना सकती है। अत: सर्वप्रथम तो हमें इन झलकों का अधिकारी बनना सीखना चाहिए, ताकि हम उन्हें सदा के लिए अपना बना सकें। प्रारम्भ में आध्यात्मिक-विकास साधक के लिए सुखप्रद नहीं अपितु अत्यधिक कष्टप्रद होता है। मध्य-अवस्थाओं में उसका जीवन बहुत कठिन हो जाता है। तब संसार के प्रति उसकी वास्तविक रुचि नहीं रहती और उसे आत्म-साक्षात्कार भी नहीं होता, जो उसकी पहुँच से बाहर रहता है। यह मानो बीच आकाश में

लटके रहने के समान है, न वह ऊपर जा पाता है और न नीचे ही।

सत्य की कसौटी यह है : जहाँ सांसारिक वस्तुओं और सांसारिक सम्बन्धों में तुम कभी भी शाश्वत सुख व सन्तोष नहीं पा सकते, वहीं अध्यात्म तथा आध्यात्मिक जीवन में समस्त बाह्य-वस्तुओं से निरपेक्ष पूर्ण सन्तोष पाया जा सकता है। अत: महान् ऋषि नारद कहते हैं : "यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति"[७] अर्थात् उस (भगवद्भक्ति) का लाभ कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है।

जिस व्यक्ति को सचमुच प्यास लगती है, वह पानी अवश्य चाहता है। लेकिन जो प्यासे नहीं हैं, वे पानी के बिना लम्बे समय तक रह सकते हैं। एक सच्चा निष्ठावान् साधक सभी प्राप्त निर्देशों का पालन करेगा, लेकिन लोग इतने ढीले तथा इतने कम निष्ठावान् होते हैं, कि उन्हें दिए गए निर्देशों के पालन की उन्हें कोई व्यग्रता नहीं होती।

और फिर हम शुद्धतम जल चाहते हैं, मिलावट वाला या बुरी तरह से मैला जल नहीं। हममें सच्ची पिपासा होनी चाहिए, लेकिन हमें ऐसी किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करना चाहिए जो शुद्ध और शुभ न हो।

संघर्ष के बिना सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। निश्चय ही सारा जीवन एक संघर्ष है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ प्राप्त करने के लिए संघर्षरत है। लेकिन आध्यात्मिक-संघर्ष एक उच्चतर कोटि का संघर्ष है। वह चेतना के लिए संघर्ष है। संघर्ष, संघर्ष, संघर्ष। दूसरा और कोई मार्ग नहीं है। हमें संघर्ष से भयभीत नहीं होना चाहिए।

सत्य की शक्ति :

सामान्यत: प्रारम्भ में भगवान् के लिए व्याकुलता होना बहुत कठिन है, क्योंकि भगवान् हमें सत्य प्रतीत नहीं होते। हममें से अधिकांश के लिए यह देह ही हमारी आत्मा है और इस देह के भौतिक-स्तर पर सुख-भोग हेतु हम अत्यधिक चिन्तित रहते हैं, भले ही वह अत्यन्त स्थूल प्रकार का भोग ही क्यों न हो। हममें से अधिकांश के लिए धर्म अत्यधिक शौकिया चीज होता है और वह अन्यान्य नाना फैशनों की तरह एक फैशन होता है। लेकिन यदि हमारे आध्यात्मिक प्रयासों से किसी दिन भगवान् हमें सत्य प्रतीत होने लगें, तो हमें अनुभव होगा, कि हमारा समग्र व्यक्तित्व उस सत्ता के प्रति आकृष्ट हो रहा है, तथा एकमात्र उसके लिए ही लालायित है। यदि जगत् हमारे लिए सत्य है, तो वह हमारा पूरा ध्यान अपनी ओर खींच लेगा। अगर और कुछ सत्य प्रतीत होगा, तो वह भी यही करेगा। जिसे हम सत्य समझते हैं, वह उस समय तक के लिए हमें प्रभावित करता है, हमारी भावनाओं को उद्वेलित करता है, हमारी इच्छा-शक्ति को आकर्षित करता है, हमारी समग्र बुद्धि पर छा जाता है। वस्तुत: हमारी समग्र सत्ता उस सत्य के अनुरूप क्रिया करती है।

---

७. नारद-भक्ति-सूत्र १.४

यदि हम अपने तथा सन्तों के जीवन का सावधानी से अध्ययन करें, तो हमें एक महान् अन्तर दिखाई देगा। दोनों ही के मन सत्य द्वारा प्रभावित होते हैं, लेकिन सन्त के लिए जो सत्य है वह हम सामान्य लोगों के सत्य से भिन्न है। हमारे लिए यह जगत् सत्य है, उनके लिए अध्यात्म-जगत् ही सत्य है। परमात्मा का साक्षात्कार कैसे करना, भगवान् की बौद्धिक अथवा अस्पष्ट-धारणा के बदले भगवान् की सत्य-प्रतीति कैसे प्राप्त करना; उनका समग्र जीवन इस एक भाव द्वारा परिपूर्ण रहता है। यदि हम सन्तों द्वारा जिसे सत्य कहा जाता है, उसको हृदयंगम कर सकें, तो हम यह भी हृदयंगम कर सकेंगे कि वे ईश्वर साक्षात्कार के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने के लिए सदा तत्पर क्यों रहते हैं।

लेकिन हमें सन्तों का अंधानुकरण नहीं करना चाहिए। उनका आचरण कुछ रूढ़ि-विरुद्ध और अजीब हो सकता है। लेकिन जैसा हमने कहा है, उनकी सारी भगवत् पिपासा सत्य की स्पष्ट धारणा के आधार पर होती है। हममें से जिन लोगों के लिए यह इन्द्रियगम्य जगत् ही एकमात्र सत्य है, उन्हें अपने आध्यात्मिक संघर्ष में सावधान होना चाहिए। हमारी सफलता अधिकांशतः हमारी दैनन्दिन साधना की नियमितता और तीव्रता पर निर्भर करती है। प्रायः हम इस विषय में बहुत असावधान होते हैं। सतत् अभ्यास बिना आध्यात्मिक-जीवन में कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक-जीवन परमात्मा के प्रति समर्पण का, आत्मोत्सर्ग का, त्याग और एकाग्र-निष्ठा का जीवन होता है। अतः हमें अपने कल्याण के लिए तथा उन दूसरों के कल्याण के लिए अपने विचारों के सम्बन्ध में अधिक सतर्क और सजग होना चाहिए, जिनके लिए हमारे काम, लोभ, क्रोधादि के विचार विषाक्त गैस से भी अधिक हानिकारक हो सकते हैं। वस्तुतः हम अपने अपवित्र विचारों द्वारा जो विनाश करते हैं, वह विषाक्त गैस द्वारा किए गए विनाश से अधिक बुरा है। अपने अपवित्र विचारों द्वारा हम ऐसे लोगों को प्रभावित करते हैं, जो अपवित्रता जानते ही नहीं। लेकिन अपने पवित्र विचारों से हम दूसरों की पवित्रता के लिए उनके प्रयासों में मदद करते हैं।

दिव्य असन्तोष :

हमें स्वयं में तीव्र दिव्य असन्तोष पैदा करना चाहिए, जिसके बारे में सभी काल के योगी, साधक चर्चा करते आए हैं। जब तक हम अपनी आत्मा में समस्त सांसारिक आसक्तियों और वासनाओं के नाशक इस दिव्य-असन्तोष का उदय नहीं करते, तब तक आध्यात्मिक-साक्षात्कार के लिए हममें सच्ची व्याकुलता उत्पन्न नहीं हो सकती। संसार में वास्तविक शान्ति कभी भी नहीं हो सकती, पर हमें अपनी भूमिका यथासम्भव अच्छी तरह निभानी चाहिए। हमारे प्रयासों में किसी प्रकार की ढील तथा हमारी बद्ध-अवस्था के प्रति किसी प्रकार के सन्तोष का भाव कभी नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का सन्तोष सभी साधकों के लिए बहुत हानिकारक है। हमें सचेतन-रूप से उच्च-जीवन के प्रति लालसा और व्याकुलता की अग्नि प्रज्ज्वलित किए रखना चाहिए। हमें शक्तियों को किसी निम्न उद्देश्य

के लिए कभी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। आध्यात्मिक उपलब्धि हेतु छटपटाहट की तुलना में अकर्मण्यता की शान्ति को कभी पसन्द नहीं करना चाहिए।

चरम लक्ष्य की ओर काफी दूर तक अग्रसर हुए बिना कोई सुरक्षा नहीं हो सकती। आत्म-साक्षात्कार के पूर्व तक किसी भी भक्त को कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है, अथवा किसी भी क्षण उसका गर्हित पतन हो सकता है। अत: हमें पर्याप्त प्रगति कर लेने तक अपनी शक्ति पर बहुत अधिक भरोसा करके बहुत अधिक खतरा मोल नहीं लेना चाहिए।

साधना और प्रार्थना में तीव्रता लानी चाहिए। रात-दिन सतत प्रार्थना, सतत ध्यान, निरन्तर उच्चतर विचारों के चिन्तन से हमें बहुत लाभ होगा। प्रारम्भिक साधक के मन को भगवद्-विचारों में निरन्तर लगाए रखना चाहिए, जिससे इसकी आदत बन जाए। उपयुक्त शुभ आदत पड़ जाने के बाद पथ आसान हो जाता है, और साधक के जीवन में अधिक तनाव पैदा नहीं होता।

हमें मन का एक अंश ही नहीं, बल्कि समग्र मन भगवान् में लगाना चाहिए। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, ''यदि मुझे एक रुपये के मूल्य का कपड़ा खरीदना है, तो मुझे पूरा एक रुपया देना पड़ेगा, एक पैसा भी कम नहीं। कम देने से कपड़ा नहीं मिलेगा।'' आध्यात्मिक जीवन में भी यही बात है। अगर तुम पूरा मनोयोग न करो तो तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा। यदि लापरवाही पूर्वक कुछ महीनों या कुछ वर्षों तक ध्यान का अभ्यास करने के बाद तुम्हें कोई आध्यात्मिक-लाभ न हो, तो (तुम्हारे सिवा) और कोई इसके लिए दोषी नहीं है।

हमें अध्यवसाय की आवश्यकता है। दृढ़तापूर्वक निरन्तर साधना करनी चाहिए। देह और मन को पवित्र बनाए रखने के लिए संघर्ष में हार मानने की अपेक्षा मर जाना श्रेयस्कर है। यदि हम मर भी जाएँ तो क्या? महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि हम सत्य का साक्षात्कार करें, अपने वास्तविक स्वरूप का पूर्ण विकास करें। यदि हम अपना पूरा प्रयास कर सकें, पूरा संघर्ष कर सकें, तो समझो हमने अपना कर्तव्य कर लिया है। इसके बाद बाकी काम परमात्मा पर छोड़ देना चाहिए। यहाँ सच्ची भगवद्-शरणागति और आत्म-समर्पण की उपयोगिता स्पष्ट है। कठोपनिषद् में कहा गया है :

विज्ञानसारथिर्यस्तु मन:प्रग्रहवान् नर:।
सोऽध्वन: पारमाप्नोति तद्विष्णो: परमं पदम्।। (कठोपनिषद् १.३.९)

अर्थात् बुद्धि जिसका सारथी है, जिसके पास संयत मन रूपी लगाम है, वह मार्ग के अन्त को, विष्णु के परमपद को प्राप्त करता है। हमें यह सोचकर कभी भी सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए अथवा निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए, कि हमने अपना पूरा प्रयास किया है। यह इस समय के लिए हमारा सर्वोत्तम प्रयास हो सकता है, लेकिन हमें परमात्मा से अधिकाधिक शक्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जिससे हम और अधिक प्रयास कर सकें। आज मैं केवल दस किलो उठा सकता हूँ, लेकिन मैं सौ किलो उठाने की शक्ति के लिए प्रार्थना कर सकता हूँ। यह मानते हुए भी, कि मैं अपना सर्वोत्तम प्रयास कर चुका हूँ, और कर रहा हूँ, मेरी क्षमता

बढ़ाई जा सकती है क्योंकि इस सर्वोत्तम की कोई निश्चित मात्रा नहीं है।

सन्तों का दृष्टान्त :

हमें भगवान् के लिए तीव्र व्याकुलता – सन्तों और ऋषियों के जीवन में पाई जाने वाली अनवरत और अटल भगवत्-पिपासा जैसी व्याकुलता – की वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए। श्रीचैतन्य यौवन में महान् पण्डित थे। लेकिन युवावस्था में उनमें अचानक एक परिवर्तन उपस्थित हुआ, और वे भगवान् के अनन्य भक्त बन गए। उनका भगवत्प्रेम इतना तीव्र था कि वे एक क्षण के लिए भी उन्हें भूल नहीं सकते थे। उनका समग्र जीवन आध्यात्मिक-उन्माद में व्यतीत हुआ। उनका प्रेमोन्माद उनकी रचित एक छोटी सी कविता में व्यक्त हुआ है, जिसमें वे कहते हैं :

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति।।
युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे।।
आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु माम् अदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः।

– (श्रीचैतन्यकृत शिक्षाष्टकम् ६,७,८)

अर्थात् "वह दिन कब होगा जब तुम्हारा नाम लेते ही मेरे नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगेगी, कण्ठ गद्गद् हो जाएगा और शरीर में रोमांच होने लगेगा?

वह दिन कब होगा जब गोविन्द का क्षण भर का विरह मुझे युग सम प्रतीत होगा, प्रभु के विरह में मेरे नेत्रों से अश्रु-वृष्टि होने लगेगी, तथा जगत् शून्य प्रतीत होगा?

भगवान् के चरणों में रत मेरा वे आलिंगन करें या चरणों से आघात करे; अथवा अदर्शन द्वारा मुझे मर्माहत करे; भक्त चित्त-चोर वे मुझसे कैसा भी व्यवहार क्यों न करे, मेरे प्राणनाथ तो एकमात्र वे ही हैं।"

प्रह्लाद पुराण-प्रसिद्ध सन्तों के उदाहरण हैं। बाल्यकाल से ही उनमें भगवान् विष्णु के प्रति तीव्र भक्ति थी। उसके असुर पिता ने पुत्र को सांसारिक-पथ पर लाने के सभी प्रयास किये। लेकिन उस छोटे बालक ने उन सभी निष्ठुर अत्याचारों का वीरतापूर्वक सामना किया और वह भगवान् की भावपूर्ण-स्तुतियाँ करता रहा। जब भगवान् ने उसके सामने आविर्भूत होकर उससे वर माँगने को कहा, तो उसने कहा :

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।। – (प्रपन्न गीता ४२)

अर्थात् विषयों में अविवेकी लोगों की जैसी दृढ़ प्रीति होती है, मैं वैसी ही प्रीति-सहित तुम्हारा स्मरण करूँ और वह प्रेम मेरे हृदय से कभी दूर न हो।

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेषुरचलाभक्तिः अच्युताऽस्तु सदा त्वयि।। – (प्रपन्न गीता ४१)

अर्थात् हे प्रभु, मुझे सहस्रों बार जन्म लेना पड़े, तो भी मेरी तुममें अटूट भक्ति सदा बनी रहे।''

आधुनिक काल में भगवान् के प्रति तीव्र-व्याकुलता में श्रीरामकृष्ण का दृष्टान्त अद्वितीय है। भगवान् के सभी रूपों के दर्शनों की उनकी व्याकुलता इतनी तीव्र थी कि वे छह वर्षों तक नहीं सोए। वे दिन-रात विभिन्न आध्यात्मिक-भावों में विभोर रहा करते थे, जो इतने तीव्र थे, कि लोग उन्हें पागल समझते थे। सचमुच उन्हें दिव्योन्माद हो गया था। ''श्रीरामकृष्णवचनामृत'' नामक उनके वार्तालापों और उपदेशों के संकलन में भगवान् के लिए व्याकुलता पर बहुत बल दिया गया है। वस्तुतः हम यह कह सकते हैं, कि सभी साधकों के लिए श्रीरामकृष्ण ने इसी एक मुख्य साधन का उपदेश दिया है। निम्नांश उसी का एक उदाहरण है :

श्रीरामकृष्ण – (बंकिम आदि से) – परन्तु बालक जिस प्रकार माँ को न देखने से बेचैन हो जाता है, लड्डू-मिठाई हाथपर लेकर चाहे भुलाने की चेष्टा करो, परन्तु वह कुछ भी नहीं चाहता, किसीसे नहीं भूलता और कहता है, 'नहीं मैं माँ के ही पास जाऊँगा।' इसी तरह ईश्वर के लिए व्याकुलता चाहिए। अहा! कैसी स्थिति। बालक जिस प्रकार 'माँ-माँ' कहकर पागल हो जाता है, किसी भी तरह नहीं भूलता। जिसे संसार के ये सब सुख-भोग फीके लगते हैं, जिसे अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वही हृदय से 'माँ-माँ' कहकर कातर होता है। उसी के लिए माँ को फिर सभी काम-काज छोड़कर दौड़ आना पड़ता है।

यही व्याकुलता है। किसी भी पथ से क्यों न जाओ, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, शाक्त, ब्राह्म, किसी पथ से जाओ, यह व्याकुलता ही असली बात है। वे तो अन्तर्यामी हैं, यदि भूल पथ से भी चले गए, तो भी दोष नहीं है – पर व्याकुलता रहे। वे ही ठीक पथ पर उठा देते हैं।

फिर सभी पथों में भूल है सभी समझते हैं, मेरी घड़ी ठीक जा रही है, पर किसी की घड़ी ठीक नहीं चलती। तिसपर भी किसी का काम बन्द नहीं रहता। व्याकुलता हो तो साधु-संग मिल जाता है, साधु-संग से अपनी घड़ी कुछ मिला ली जा सकती है।

बंकिम – (श्रीरामकृष्ण के प्रति) – महाराज, भक्ति का क्या उपाय है?

श्रीरामकृष्ण – व्याकुलता। लड़का जिस प्रकार माँ के लिए माँ को न देखकर बेचैन होकर रोता है, उसी प्रकार व्याकुल होकर ईश्वर के लिए रोने से ईश्वर को प्राप्त किया जाता है।

अरुणोदय होने पर पूर्व दिशा लाल हो जाती है, उसी समय समझा जाता है, कि सूर्योदय में अब अधिक विलम्ब नहीं है। उसी प्रकार यदि किसी का प्राण ईश्वर के लिए व्याकुल देखा जाए, तो भलीभाँति समझा जा सकता है, कि इस व्यक्ति का ईश्वर-प्राप्ति में अधिक विलम्ब नहीं है। [८]

---

८. श्रीरामकृष्ण वचनामृत –२, नवम् संस्करण, पृ. ५९५-५९६

श्रीरामकृष्ण के सभी अंतरंग शिष्यों में भगवान् के प्रति यह ज्वलन्त अनुराग था। बलराम उनमें से एक थे। उनकी श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट से हमें बहुत जानने को मिलता है।

कलकत्ता पहुँचने के दूसरे दिन वे दक्षिणेश्वर के लिए रवाना हुए। केशवचन्द्र सेन और उनके "ब्राह्म" अनुयायियों की उपस्थिति के कारण मन्दिर-प्रांगण में बहुत भीड़ थी। बलराम एक कोने में बैठे रहे और जब लोग भोजन के लिए चले गए, तो श्रीरामकृष्ण ने बलराम को अपने पास बुलाया और पूछा कि क्या वे कुछ पूछना चाहते हैं? बलराम ने पूछा : "महाशय क्या ईश्वर सचमुच हैं?" "अवश्य" – श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया। "क्या उनका दर्शन हो सकता है?" "हाँ" – श्रीरामकृष्ण ने कहा, "जो भक्त उन्हें अपना निकटतम और प्रियतम समझता है, उसे वे दर्शन देते हैं। एक बार पुकारने से तुम्हें कोई उत्तर नहीं मिलता, इससे यह मत समझो कि वे हैं ही नहीं।" बलराम ने पुनः पूछा, "लेकिन इतना पुकारने पर भी मैं उनके दर्शन क्यों नहीं पाता हूँ?" श्रीरामकृष्ण ने मुस्कुराते हुए पूछा, "अपनी सन्तानों को जैसे तुम अपना समझते हो, क्या तुम सचमुच भगवान् को भी वैसे ही अपना समझते हो?" "नहीं महाशय", बलराम ने कुछ क्षण रुककर उत्तर दिया, "मैंने कभी उन्हें अपना इतना निकट आत्मीय नहीं समझा।" श्रीरामकृष्ण ने जोर देकर कहा, "भगवान को अपनी आत्मा से भी अधिक प्रिय समझकर उनसे प्रार्थना करो। मैं निश्चित रूप से कहता हूँ, कि उनका अपने भक्तों से बहुत लगाव है। वे अपने को प्रकट किए बिना नहीं रह सकते। वे मनुष्य के पास खोजने से पहले ही आ जाते हैं। भगवान् से अधिक आत्मीय और स्नेह करने वाला और कोई नहीं है।" बलराम को इन शब्दों से नया आलोक प्राप्त हुआ। उन्होंने मन ही मन सोचा, इनका प्रत्येक शब्द सत्य है। आज तक किसीने भी भगवान् के बारे में इतनी दृढ़तापूर्वक नहीं कहा।[९]

साधना का प्रारम्भ जल्दी करो :

ऐसे बहुत से लोग हैं, जो सोचते हैं कि वे संसार के सभी फल भोग करने के बाद वृद्धावस्था में धर्म का आचरण करेंगे। लेकिन धर्माचरण के लिए उन्हें कभी भी समय नहीं मिलता, क्योंकि अपनी शक्ति का अधिकांश भौतिक सुखों में क्षय करने के बाद कठोर साधना के लिए अधिक शक्ति नहीं बचती। बहुत से लोग आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ इतनी देर से करते हैं, कि उससे उन्हें अधिक लाभ नहीं होता। बहुत से लोगों को बहुत देर से अनुभव होता है, कि उनका जीवन व्यर्थ गया। लेकिन वे उस बूढ़े मूर्ख से बेहतर हैं, जो स्वयं को रंगीला युवक समझकर वृद्धावस्था में भी सांसारिक भोगों की ओर दौड़ता रहता है। पाश्चात्य-देशों में ऐसे अनेक हतभागे लोग मिलते हैं।

आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ, जितना जल्दी हो सके, करना चाहिए। आध्यात्मिकता के बीज को जीवन के प्रारम्भ में बोए बिना बाद में आध्यात्मिक-मनोभाव

---

९. लाइफ ऑफ श्रीरामकृष्ण, पृ. ३७१

बनाना सम्भव नहीं है। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन अपने प्रिय युवा शिष्य नरेन्द्र को बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार-अभिनेता गिरीशचन्द्र घोष का संग करने से सावधान करते हुए कहा :

श्रीरामकृष्ण – क्या तू गिरीश के यहाँ बहुत जाया करता है? परन्तु लहसुन के कटोरे को चाहे जितना धोओ, कुछ न कुछ बू तो रहेगी ही। लड़के शुद्ध आधार हैं, कामिनी और कांचन का स्पर्श अभी उन्होंने नहीं किया; बहुत दिनों तक कामिनी और कांचन का उपभोग करने पर लहसुन की तरह बू आने लगती है। जैसे कौए का काटा हुआ आम। देवता पर तो चढ़ ही नहीं सकता, अपने खाने में भी संदेह है। जैसे नई हण्डी और दही जमाई हण्डी। दही जमाई हण्डी में दूध रखते हुए डर लगता है। अक्सर दूध खराब हो जाता है।[१०]

बाद में गिरीश ने यह बात सुनी और श्रीरामकृष्ण से पूछा : क्या लहसुन की गन्ध दूर होगी? श्रीरामकृष्ण ने कहा, कि कटोरे को धधकती आग में गरम करने पर गन्ध चली जाएगी। अपनी सहजात प्रवृत्तियों का गुलाम होने के बाद उनके चंगुल से अपने को मुक्त करना व्यक्ति के लिए बहुत कठिन होता है। इन सहजात प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने के लिए वृद्धावस्था का समय बहुत कम होता है। यदि अतिचेतन अनुभूति प्राप्त कर बन्धन और दुःख से मुक्त होना तुम्हारा लक्ष्य है, तो अभी प्रारम्भ करना ही श्रेयस्कर है।

और यदि कोई लक्ष्य प्राप्त किये बिना ही मर जाए? गीता के इस अंश को याद करो : "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"[११] अर्थात् इस धर्म का थोड़ासा आचरण भी महान् भय से रक्षा करता है। जिन लोगों ने ईमानदारी से आध्यात्मिक जीवन में संघर्ष किया है, जिन्होंने अपना सर्वस्व परमात्मा को समर्पित किया है, उन्हें कोई भय नहीं है। जीवित रहते हुए यदि उन्होंने तीव्र आध्यात्मिक-जीवन यापन किया है, तो वे अपने आध्यात्मिक प्रयास को जीवन के अन्य स्तर पर, अन्य लोकों में भी बनाए रख सकते हैं। तब व्यक्ति उसी स्थान से अपनी साधना प्रारम्भ करता है, जहाँ उसने उसे छोड़ा था। मृत्यु से केवल परिवेश का परिवर्तन होता है, लेकिन चेतना का हमारा केन्द्र अर्थात् परमात्मा सदा हमारे भीतर ही है। हम जहाँ भी हों, अनन्त परमात्मा सदा हमारे साथ हैं। इस भाव को अंगीकार करने पर मृत्यु का भय नहीं रहता। हमें न तो जीवन की अभिलाषा करनी चाहिए, और न ही मृत्यु की। नियति अपनी चाल चलती रहे, लेकिन हमारा मन सदा परमात्मा में लगा रहे। हम निर्भय और दृढ़तापूर्वक लक्ष्य की ओर बढ़ते रहें।

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया।

– अर्थात् "निद्रापर्यन्त, मृत्युपर्यन्त वेदान्त-चिन्तन में काल व्यतीत करो।"[१२]

---

१०. श्रीरामकृष्ण वचनामृत –३, नवम् संस्करण, पृ. ३४ ११. भगवद्गीता २:४०
१२. सिद्धान्त लेश संग्रह

अध्याय २

अतिचेतन अनुभूति का लक्ष्य

आध्यात्मिक अनुभूति आवश्यक क्यों है?

जब हम अपने भीतर गहराई से अवलोकन करते हैं, तो हमें यह जानकर आश्चर्य होता है, कि हम अपने-आप से, हम जिसमें निवास कर रहे हैं, उस जगत् से, तथा हमारे सम्पर्क में आने वाले लोगों से अत्यन्त असन्तुष्ट हैं। यह असन्तोष तनाव और द्वन्द्व पैदा करता है, जो आज के जगत् में बढ़ता प्रतीत हो रहा है। अस्वाभाविक तनाव और द्वन्द्व देह और मन को रोगग्रस्त करते हैं। अपने बाह्य-जीवन की स्थिति से किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ असन्तोष अन्तर्द्वन्द्व पैदा करता है और उसके फलस्वरूप देह और मन अस्वस्थ हो जाते हैं। तब हमारा जीवन निरर्थक और लक्ष्यहीन प्रतीत होता है। यही नहीं, जब हम अपने से असन्तुष्ट होते हैं, तो हम दूसरों में शान्ति के बदले अशान्ति पैदा करते हैं शारीरिक रोग की तरह मानसिक रोग भी संक्रामक हो सकते हैं।

सम्भवत: हमें उचित कार्य प्राप्त हो, लेकिन हमारा भाव उसके प्रति ठीक न हो। ऐसी स्थिति में हमें अपने कर्म के प्रति नये दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए। अथवा सम्भवत: हम ऐसा कार्य कर रहे हों, जिसमें हमारी विशेष क्षमताओं का सदुपयोग नहीं हो रहा हो। तब हम हताश हो जाते हैं और यह नैराश्य विचित्र और प्राय: हानिकारक आचरण को जन्म देता है। शायद हम दूसरों पर बहुत आश्रित हैं। या फिर हम अपने चारों ओर शत्रुओं की कल्पना करते हैं और उन काल्पनिक शत्रुओं से लड़ने में अपनी शक्ति क्षय करते हैं; स्वयं की एक आदर्श धारणा बना लेते हैं, और कल्पना-जगत् में रहने लगते हैं। मानसिक-रोग का सबसे बुरा लक्षण है – स्वयं से घृणा करना, और जब यह दिखाई देता है, तब जीवन अत्यन्त दु:खदायी हो जाता है।

इसका इलाज क्या है? इन समस्त समस्याओं के बारे में क्या किया जाए? सुधी मनोवैज्ञानिक कहते हैं, कि सुचारू जीवन-यापन के लिए किसी लक्ष्य का निर्धारण करने के पूर्व हमें अपने स्वभाव के सम्बन्ध में गहरी समझ होनी चाहिए। अपने प्रति मान्यता बदलने से हम अपने को भी परिवर्तित कर सकते हैं। और यह नया दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप से हमारी ऊर्जाओं को नई-दिशा प्रदान करने से पूर्व ही हो सकता है। अपने सम्बन्ध में दृष्टिकोण का परिवर्तन कैसे करें? मनोवैज्ञानिक का कथन है, कि यह मनोविश्लेषण द्वारा किया जा

सकता है। हमें मनोवैज्ञानिक द्वारा अपना परीक्षण करवाना चाहिए। वह चतुराईपूर्ण प्रश्नों द्वारा हमारे व्यक्तित्व की गहराई को टटोलने का, हमारी छिपी मनोग्रन्थियों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है, तथा हम में गड़बड़ कहाँ है, यह बताता है। सिद्धान्ततः यह पद्धति ठीक प्रतीत होती है, और बहुत से लोगों को मनो-विश्लेषण से सचमुच कुछ लाभ भी होता है। लेकिन इसकी परिमितता इस बात में है कि मनोवैज्ञानिक का दूसरों के सम्बन्ध में ज्ञान उसकी अपने स्वयं के बारे में जानकारी पर निर्भर करता है, जो प्रायः बहुत कम होती है।

अपने समस्त अनुसन्धानों के बावजूद पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मानव के स्वरूप की गहराईयों को समझने में असफल रहे हैं। उन्होंने निस्सन्देह यह पता लगाया है, कि मानव का चेतन मन एक अधिक विशाल अचेतन मन द्वारा नियन्त्रित होता है और यह कि चेतन और अचेतन मन की गतिविधियाँ कई-बार मेल नहीं खातीं। चेतन मन में उच्च-प्रेरणाएँ हों, लेकिन अचेतन मन निम्नतर-वासनाओं से पूर्ण हो सकता है। अचेतन-प्रेरणाएँ चेतन-चिन्तन और क्रियाओं की विरोधी हो सकती हैं। लेकिन पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक चेतन और अचेतन मन के बीच समरसता स्थापित करने के उपायों को खोज निकालने में असफल रहे हैं। अधिकांश मनोवैज्ञानिक अपने रोगियों को अचेतन मन की आवश्यकताओं को पूरा करने की सलाह देते हैं। कुछ लोगों में इससे मानसिक-तनाव दूर हो सकता है। लेकिन यह स्थायी नहीं होता, उल्टे अधिक हानिकारक भी हो सकता है।

यहाँ हिन्दू योग-पद्धति की उपयोगिता है। योग का प्रारम्भ सर्वप्रथम अचेतन मन को शुद्ध करके उसे चेतन मन के समरस बनाने से होता है। यह कोई कृत्रिम या बनावटी शुद्धिकरण नहीं है। पवित्रता हमारा वास्तविक स्वरूप है। यह मानव की आत्मा का सच्चा-स्वरूप है। हिन्दू धर्म ने बहुत काल पहले मानव के व्यक्तित्व के उच्चतर आयाम अर्थात् अतिचेतन-अवस्था का पता लगाया था। अतिचेतनावस्था हमें अपनी वास्तविक महान् आत्मा का ज्ञान प्रदान करती है। वह परमात्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करती है। उस प्रकाश द्वारा हमारे अचेतन मन के अन्धकार-मय कक्षों को प्रकाशित करना चाहिए। तब अचेतन मन शुद्ध होता है। तब वह चेतन मन और उसकी आकांक्षाओं के साथ सहयोग करता है। तब अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष और मानसिक-तनाव दूर हो जाते हैं। इसीलिए अतिचेतन की खोज आन्तरिक शान्ति और सामंजस्य, प्राप्त करने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतिचेतनावस्था की खोज प्रथम आध्यात्मिक अनुभूति है। वही चेतन और अचेतन के बीच समरसता पैदा करती है। हमें पूर्ण व्यक्तित्व की, पूर्ण-स्वरूप की पुनः उपलब्धि होती है।

आध्यात्मिक अनुभूति हमें अतिचेतनावस्था का ज्ञान ही प्रदान नहीं करती, बल्कि हमारे अचेतन मन की समस्याओं को भी सुलझाती है। हमारी कुछ समस्याएँ अचेतन मन में छुपी ग्रन्थियों के कारण होती हैं। कई लोगों में, विशेषकर उनके यौवन के प्रारम्भ में, काम द्वन्द्वों का कारण हो सकता है। लेकिन मानव के जीवन में उसकी भूमिका को बहुत अधिक महत्त्व देना निश्चित रूप से गलत है, जैसा कि फ्रॉयड ने किया था। दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित

करने की मानव की प्रबल प्रकृति कुछ लोगों में द्वन्द्वों का कारण हो सकती है। लेकिन उसकी भूमिका को अत्यधिक महत्त्व देकर उस मानव की सभी समस्याओं के लिए दोषी ठहराना, जैसा डॉक्टर एडलर ने अपने मनोविज्ञान-दर्शन में किया है, अवश्य गलत है। तथाकथित भौतिकवादी पाश्चात्य-देशों में अपने दीर्घ निवास के समय मेरी ऐसे अनेक लोगों से मुलाकात हुई, जो आध्यात्मिक-दृष्टि से भूखे थे। उनकी समस्याएँ अधिकांशत: आध्यात्मिक थीं। उनमें से अनेक सामान्य-जीवन के सुखों और संघ-बद्ध धर्म की रूढ़िवादी बातों से असन्तुष्ट थे। वे उच्चतर अनुभूति, उच्चतर जीवन-पद्धति को खोज रहे थे।

मनोवैज्ञानिक डाक्टर कार्ल युंग मानव की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को समझाने वाले सबसे पहले व्यक्तियों में से एक थे। उन्होंने बताया है, कि आधुनिक मानव अपनी आत्मा की खोज में लगा हुआ है। लेकिन उनकी रचनाओं से स्पष्ट पता चलता है, कि स्वयं डा. युंग ने अपनी आत्मा को नहीं पाया था। मैं उनसे स्विट्जरलैण्ड में मिला और मैंने अपनी कुछ पुस्तकें उन्हें भेंट कीं। उन्होंने मुझसे अचेतन मन के बारे में बात की। उन्होंने कहा – कि हिन्दू जिसे अतिचेतनावस्था कहते हैं, वह अचेतन के अन्तर्गत है। यह एक अजीब सिद्धान्त है। वस्तुत: बात बिल्कुल विपरीत है। सामान्यत: हम यह सोचते हैं, कि देह सबसे बाहरी है, मन उसके भीतर है, और आत्मा अन्तरतम है। हमें इस क्रम को उलट देना चाहिए। आत्मा अनन्त सर्वव्यापी चैतन्य है। मन उसके भीतर है। इसके भी भीतर स्थूल देह है, जो सीमित तथा सबसे कम व्यापक है।

अतिचेतन अभी हमारे लिए अज्ञात है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह मनोवैज्ञानिकों का अचेतन मन है। साधना द्वारा उसकी उपलब्धि की जा सकती है। वह परम शान्ति और आनन्द का उत्स है। सबसे बड़ी बात यह है, कि वह मानव को पूर्णता और परमोपलब्धि प्रदान करता है।

डॉक्टर युंग मानवों को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी इन दो श्रेणियों में विभक्त करने के लिए विख्यात हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति आत्म-निन्दा करता है, और बैठे-बैठे सोचा करता है, और अधिकांशत: अपने मन के ही वैयक्तिक-जगत् में जीता है। बहिर्मुखी व्यक्ति बाह्य व्यावहारिक-जगत् में व्यस्त रहता है, उसके लिए बाह्य-जगत् का कर्मक्षेत्र सत्य होता है। ये दो प्रकार एक-दूसरे से नितान्त-भिन्न नहीं हैं। हम अपने भीतर इन दोनों को पा सकते हैं। वेदान्त में कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी की बात कही गई है। लेकिन ये विभाजन जल-अभेद्य या पूर्ण नहीं हैं। हम सभी में इन सभी के अंश विद्यमान हैं। हमें अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों में सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रशिक्षण द्वारा हम अपने स्वभाव में विद्यमान इन विभिन्न प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण और सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, और अन्त में उन सबसे परे जा सकते हैं। इस तरह हम उत्साह के साथ कर्म कर सकते हैं, उच्च आदर्शों के प्रति गहरी भक्ति रख सकते हैं तथा अपने चिन्तन और कर्म में विचारशील और युक्तिपूर्ण हो सकते हैं। लेकिन इसके लिए संयोजक-शक्ति के रूप में तीव्र आध्यात्मिक-पिपासा होनी चाहिए।

"मानसिक तनाव से छुटकारा" (Release from Nervous-Tension)[१] नामक एक पुस्तक में, उसके लेखक डा. फिंक तनाव दूर करने का एक सकारात्मक तरीका बताते हैं। वे कहते हैं, कि पहले सिर और गरदन, उसके बाद घुटने और पैर, सीना, बाहें, नेत्र-पलक इत्यादि शरीर के सारे अंगों को ढीला करते जाओ टुकड़ों में किये गये इस तनाव-दूरीकरण का कुछ लाभ अवश्य होता है। लेकिन हमारे आचार्य हमें बताते हैं, कि आत्म-विश्लेषण और ध्यान द्वारा हम अपने समग्र व्यक्तित्व पर नियन्त्रण करना सीख सकते हैं। अपने अंगों को एक-एक करके ढीला करने की तुलना में तनाव दूर करने का यह कहीं अधिक प्रभावशाली और दीर्घ-स्थायी उपाय है।

एक एक अंग से अपने को कष्ट-पूर्वक मुक्त करने की क्या आवश्यकता, जब हम उचित प्रशिक्षण द्वारा मन को काबू में करके आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं, जो हमें एक ही बार में मुक्त कर देगी? मुझे एक कंजूस की कहानी याद आ गई। वह मृत्यु-शैया पर था, और एक धर्म-पुरोहित (पादरी) उसका 'त्राण' करने के लिए आया। लोभी होने के कारण पादरी ने निश्चय किया, कि वह एक-एक अंग का 'त्राण' करेगा और प्रत्येक रक्षित अंग के लिए शुल्क वसूल कर लेगा। अन्त में जब वह दाहिने पैर तक पहुँचा, तो पादरी ने सोचा, "अब मैं इससे एक बड़ी रकम वसूल करूँगा, क्योंकि इसके बाद तो यह हमारे हाथों से छूट जाएगा।" अत: उसने कंजूस से ऊँची आवाज में कहा : "अब मैं तुम्हारे दाहिने पैर के लिए एक बड़ी रकम माँगने वाला हूँ।" हिसाबी बुद्धि वाले मरणासन्न व्यक्ति ने अपनी सारी शक्ति जुटाकर कहा, "लेकिन पुरोहितजी, वह तो लकड़ी का पैर है।" धर्माचार्यगण मानव के एक एक अंग की रक्षा के बारे में कुछ भी क्यों न कहें, सच्चे आध्यात्मिक आचार्यों के पास मुक्ति का एक अधिक प्रभावशाली उपाय है। परमात्मा की अपरोक्षानुभूति कर, आत्मा की मुक्ति का यह आदर्श ही वह उपाय है। आध्यात्मिक-अनुभूति समग्र व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर देती है। गहरी शान्ति और आनन्द से आत्मा पूर्ण हो जाती है, और इससे शरीर और मन पूरी तरह तनाव-रहित हो जाते हैं।

दर्शन - प्रत्यक्ष और परोक्ष :

(Religion) 'रिलीजन' के लिए संस्कृत शब्द 'दर्शन' उपयुक्त है। इस 'दर्शन' शब्द के दो अर्थ हैं। इसका अर्थ है 'देखना' या 'साक्षात्कार'। साक्षात्कार को प्राप्त कराने वाला मार्ग अथवा साधना-पद्धति भी दर्शन कहलाती है। रिलीजन (धर्म) के दोनों ही अर्थ हैं। दर्शन शब्द का अर्थ 'फिलासाफी' (Philosophy) भी होता है। हिन्दू धर्म में षड्-दर्शन हैं और ये सभी 'दर्शन' कहलाते हैं।

हिन्दू धर्म में धर्म और दर्शन एक दूसरे से अविभाज्य और पर्यायवाची रहे हैं। सत्य

---

१. डेविड हारोल्ड फिंक कृत रिलीज फ्रॉम नर्वस-टेन्शन, (न्यूयार्क, सिमन एंड शूस्टर १९४३) पृ. ६७-७२

का प्रज्ञा-जन्य ज्ञान प्राप्त करना, उनका एक सामान्य लक्ष्य होने के कारण वे एक-दूसरे के परिपूरक हैं। जैसा प्रोफेसर मेक्समूलर ने सत्य ही कहा है, कि एकमात्र भारत में ही इन दोनों का सामञ्जस्य रहा है, जहाँ धर्म दर्शन से दृष्टिकोण की उदारता और दर्शन धर्म से अपनी आध्यात्मिकता प्राप्त करता है। धर्म दर्शन का व्यावहारिक रूप है तथा दर्शन धर्म का बौद्धिक पक्ष है। भारतीय दार्शनिक मूलत: आध्यात्मिक अनुभूति सम्पन्न व्यक्ति थे। अत: अतीन्द्रिय अनुभूति पर आधारित होने के कारण उनकी दर्शन-पद्धतियों का निष्ठा और भक्ति के साथ अनुसरण करने पर उसी एक लक्ष्य की प्राप्ति होती थी।

व्यक्तित्व और वातावरण का सतत आदान-प्रदान और संघर्ष ही जीवन है। व्यक्तित्व के अनेक स्तर हैं, उसी तरह वातावरण के भी हैं। स्थूल शरीर स्थूल जगत् के संस्पर्श में है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म जगत् के संस्पर्श में है। आध्यात्मिक-शरीर अथवा आत्मा, विराट् आत्मा या भगवान् के संस्पर्श में है। व्यक्ति इन सभी विभिन्न स्तरों पर अनुभव प्राप्त कर सकता है। हम जिस स्तर पर रहते हैं, उसी स्तर-विशेष के अनुभवों को सत्य समझते हैं। जाग्रतावस्था में हम अनेक बातों को देखते हैं, जो हमारे ध्यान को पूरी तरह आकृष्ट कर लेती हैं। स्वप्नावस्था में भी हमें बहुत सी चीजें दिखाई देती हैं, जो स्वप्न रहते तक सत्य प्रतीत होती हैं। यह सब देखना 'दर्शन' है, लेकिन यह आवश्यक नहीं, कि यह सत्य हो। अत: सत्य-दर्शन को मिथ्या-दर्शन से पृथक् करना हमारा प्रस्तुत कार्य है। भारतीय दर्शन-शास्त्र में यथार्थ ज्ञान के मापदण्डों के बारे में बहुत विचार किया गया है। वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों के स्वरूप के सम्बन्ध में जानना चाहता है। वह भी अपने द्वारा प्रत्यक्षीकृत तथ्यों की सत्यता को प्रयोग द्वारा सिद्ध करता है। मनोवैज्ञानिक के पास भी अपना 'दर्शन' है। वह अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा वैचारिक-जगत् के नियमों का अन्वेषण करता है। साधक ईश्वर अथवा चरम सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। यही अपरोक्षानुभूति कहलाती हैं।

हम अपने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। हम सोचते हैं, कि हम बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। कभी नहीं! बाह्य-पदार्थों से संवेदन नेत्रों तक पहुँचता है। वहाँ से संदेश मन तक पहुँचाया जाता है और उसके बाद ज्ञाता आत्मा तक। यह कितनी टेढ़ी प्रक्रिया है। और इसे ही हम प्रत्यक्ष कहने के आदी हैं। वास्तविक प्रत्यक्ष या अपरोक्षानुभूति में सत्य आत्म-ज्योति के द्वारा प्रकाशित होता है। यह अन्तर्ज्योति मन और इन्द्रियों के माध्यम से प्रकाशित होती है। वह अपने-आप भी प्रकाशित हो सकती है। यही अतिचेतन अवस्था है। उसे तुरीय भी कहा जाता है। सामान्यत: हमारे अनुभव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति – चेतना की इन तीन अवस्थाओं में होते हैं। तुरीयावस्था इन तीन अवस्थाओं से भिन्न, चतुर्थ अवस्था है। वस्तुत: वह इन तीन अवस्थाओं की तरह की एक अवस्था नहीं है। वह एक प्रकार की सर्वातीत-चेतना है, जिसकी, अन्य तीन अवस्थाएँ आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं। उस अवस्था में आत्मा को यह अनुभूति होती है, कि वह परमात्मा का अंश है।

पुस्तकी ज्ञान की अपर्याप्तता

पुस्तकें पढ़कर किसी भी साधना का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। हम जानकारी प्राप्त करने के लिए पुस्तकें भले ही पढ़ें, लेकिन हमें यह ज्ञान होना चाहिए, कि किन विचारों को ग्रहण करें और किनको त्यागें। हम विभिन्न साधनाओं के बारे में भले ही पढ़ें, लेकिन यह जाने बिना कि कौनसी हमारे लिए उपयोगी है, उनको अपनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। विभिन्न मार्गों की जानकारी हमारे दृष्टिकोण को उदार बना सकती है। लेकिन हमारे लिए उपयुक्त मार्ग की जानकारी हमें होनी चाहिए। आध्यात्मिक-जीवन की प्रारम्भिक-अवस्था में, जो प्राय: प्रयोग का काल होता है, हममें हो रहे मानसिक और शारीरिक परिवर्तनों का अवलोकन करते हुए तथा उनके अनुरूप सामञ्जस्य स्थापित करते हुए, हमें धीरे-धीरे अग्रसर होना चाहिए।

सही उपाय का, गलत व्यक्ति द्वारा अनुसरण करने से बुरा परिणाम होता है। इसलिए यह अपेक्षा की जाती है, कि साधक में आवश्यक योग्यताएँ हों। लेकिन आजकल कोई भी व्यक्ति किसी भी पुस्तक को पा सकता है, कुछ साधनाओं के बारे में पढ़कर उनको कर सकता है, और कष्ट भी उठा सकता है। निर्देश सदा प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होते हैं। एक व्यक्ति का पुष्टिकारक आहार दूसरे के लिए विषतुल्य हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुरूप नियम का पालन करना चाहिए और अपने शारीरिक और मानसिक वातावरण के साथ अच्छी तरह सामञ्जस्य स्थापित करना चाहिए। यदि सुदृढ़ नींव पर भवन खड़ा हो, तो वह बना रहता है, अन्यथा उसका ध्वंस हो जाता है।

सामान्यत: हम सत्य को प्रेम नहीं करते, लेकिन किसी वस्तु-विशेष में अपने को ही प्रेम करते हैं। हम किसी विचार को प्रेम करते हैं, क्यों कि वह हमारा विचार है, इसलिए नहीं कि वह सत्य का प्रतिनिधित्व करता है। और अल्प-ज्ञान सदा हानिकारक होता है।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स:।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।। – (केनोपनिषद् २:३)

अर्थात् "भगवान् उसके द्वारा जाना जाता है, जो उसे अज्ञात समझता है और जो यह सोचता है, कि उसने भगवान् को जान लिया है, उसके लिए वह अज्ञात होता है।"

श्रद्धावान् और निष्ठावान् भक्त के समक्ष भगवान् अपना ऐश्वर्य प्रकट करते हैं। और भक्त का प्रस्तुत कार्य परमात्मा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना है। और तब परमात्मा अपनी महिमा उसके सामने प्रकट करते हैं। जिस तरह मानव भगवान् के निकट जाने का प्रयत्न करता है, उसी तरह परमात्मा भी सदा मनुष्य के निकट आने को तत्पर रहता है।

वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों द्वारा किए गए प्रकृति के रहस्यों के बौद्धिक अनुसन्धानों द्वारा सत्य को जाना नहीं जा सकता। यदि तुम अपनी बुद्धि द्वारा वस्तुओं के मूल कारण को जानने का प्रयत्न करो, तो तुम्हें पता चलेगा, कि यह असम्भव है। दृश्य-जगत् को भेदकर

सत्य का साक्षात्कार करने के लिए एक सूक्ष्मतर और तीक्ष्णतर यन्त्र की आवश्यकता है। हमारी देह और मन आदि सहित यह समग्र दृश्य-जगत् सचमुच बड़ा आश्चर्यजनक है। इसमें कोई तुक नहीं है, कम से कम ऐसा ही हमें दिखाई देता है। निराकार के साकार रूप धारण करने का क्या कारण है? ये सारी बातें युक्ति और विचार-रहित प्रतीत होती हैं, क्योंकि ये युक्ति से परे हैं। माया की इस वैचित्र्यपूर्ण, बहुविध-लीला की कोई व्याख्या सम्भव नहीं है, और सापेक्ष भाषा में कोई भी अबतक उसे समझा नहीं सका है। इसे तुम ईसाई की भाषा में ईश्वर की इच्छा कहो या हिन्दू की भाषा में भगवान् की लीला या क्रीड़ा कहो, सापेक्ष स्तर पर कोई भी व्याख्या या कारण बताया नहीं जा सकता। इसे समझाया नहीं जा सकता, लेकिन इसका अतिक्रमण किया जा सकता है।

प्रत्येक तथ्य का एकमात्र अन्तिम प्रमाण अपरोक्ष-अनुभूति है। यदि सचमुच भगवान् हैं, तो उसे देखना चाहिए, उसकी अनुभूति होनी चाहिए। केवल सिद्धान्त प्रस्तुत करने से काम नहीं चल सकता। हमें उन लोगो के शब्दों में विश्वास करना चाहिए, जिन्होंने उसे देखा है, हमें उनके कदमों पर चलना चाहिए और स्वयं अपने जीवन में उन अनुभवों को प्रमाणित करना चाहिए। केवल विश्वास से काम नहीं चलेगा, भले ही वह प्रारम्भ में आवश्यक हो। और जैसा स्वामी विवेकानन्दजी ने "राजयोग" की प्रस्तावना में कहा है :

यदि संसार में किसी प्रकार के विज्ञान के किसी विषय की किसी ने प्रत्यक्ष उपलब्धि की है, तो इससे इस सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है, कि पहले भी कोटि-कोटि बार उसकी उपलब्धि की सम्भावना थी, और भविष्य में भी अनन्तकाल तक उसकी उपलब्धि की सम्भावना बनी रहेगी।

इसीलिए योग-विद्या के आचार्यगण कहते हैं कि धर्म पूर्वकालीन अनुभवों पर केवल स्थापित ही नहीं. वरन् इन अनुभवों से स्वयं सम्पन्न हुए बिना कोई भी धार्मिक नहीं हो सकता।

भगवत्साक्षात्कार के इस आदर्श को हमें सदा बनाए रखना चाहिए।

अतिचेतन अनुभूति के स्तर :

इन्द्रिय-विषयभोगों से प्राप्त सुख अनन्त दुःख का जनक है। प्रारम्भ में वह अमृत-तुल्य है, लेकिन बाद में वह निराशाजनक और दुःखदायक होता है।[३] बौद्धिक आनन्द इससे उच्चकोटि के हैं अवश्य, लेकिन वे हमें परम संतोष या पूर्णता प्रदान नहीं कर सकते। ध्यान करते समय अथवा भगवत्-गुणगान करते समय एक आन्तरिक सुख प्राप्त होता है। यह बहुत अच्छा आनन्द है, लेकिन यह दीर्घस्थायी नहीं रहता। किन्तु अतिचेतनावस्था में प्राप्त आनन्द साधक के साथ सदा बना रहता है। यही सच्चा आनन्द है। अन्य आनन्द इसकी छाया मात्र हैं। वह उच्चतर अनुभूति भले अपनी पूर्णता में प्राप्त न भी हुई हो, लेकिन यदि साधक अतिचेतनावस्था के निकट ही पहुँचा हो तो भी एक बार अनुभव किए गये इस आनन्द की

२. विवेकानन्द साहित्य – १, प्रथम संस्करण पृ. ३७३. ३. भगवद्गीता १८.८

स्मृति बनी रहती है, और साधक को उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने तथा अनन्त-आनन्द का उपभोग करने के लिए प्रेरित करती है।

सभी-धर्मों की उत्पत्ति अतिचेतनावस्था से हुई है। अतिचेतन अनुभूति ने बढ़ई के पुत्र जीसस को लाखों लोगों का आराध्य ईसा-मसीह बना दिया। उसने एक गरीब ऊँटपालक मुहम्मद को इस्लाम का पैगम्बर बना दिया। उसमें बौद्धिक-तार्किक, द्वन्द्व-प्रिय निमाई-पण्डित को भगवद्-भक्ति के अवतार, श्रीकृष्ण-चैतन्य बना दिया। वर्तमान काल में हम गदाधर चट्टोपाध्याय नामक कलकत्ता के एक मन्दिर के गरीब पुजारी को अतिचेतन अनुभूति द्वारा सभी धर्मों के समन्वयावतार श्रीरामकृष्ण के रूप में रूपान्तरित होते देखते हैं। हाँ, यह अवश्य है, कि ये लोग सामान्य मानव नहीं थे।

हममें से बहुतों ने भगवान् का नाम सुना है, लेकिन वस्तुत: हम यह नहीं जानते, कि उस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है। साधना के द्वारा कुछ लोगों को भगवान् की झलक मिल सकती है। और कुछ ऐसे लोग होते हैं, जो इन क्षणिक झलकों से संतुष्ट नहीं होते। वे अपने भीतर गहरे पैठते हैं और परमात्मा का, अपनी आत्मा की भी परम् आत्मा के रूप में आविष्कार करते हैं। जिस प्रकार आत्मा देह में रहती है, उसी प्रकार भगवान् सभी जीवों में उन्हें नियन्त्रित करते हुए, किन्तु उनसे निर्लिप्त होकर रहते है। भगवान् सर्वान्तर्यामी भी हैं और सर्वातीत भी। भक्त भगवान् के साथ विभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके उनके संस्पर्श के आनन्द का उपभोग करता है। जब यह कहा जाता है, कि भक्त भगवान् को स्वामी, सखा, माता या प्रियतम समझता है, तो इसे स्थूल अर्थ में नहीं समझना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने धर्म को शाश्वत आत्मा का शाश्वत ब्रह्म से शाश्वत सम्बन्ध कहा है।[४] यही भाव मानव सम्बन्धों के माध्यम से प्रकट किया गया है।

लेकिन कुछ लोग इस अवस्था का भी अतिक्रमण कर जाते हैं। वे ब्रह्म में समस्त जीव-जगत् के एकत्व की अनुभूति करते हैं। आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है, तथा एकमेवाद्वितीय ही बचा रहता है। श्रीरामकृष्ण एक कथा के माध्यम से इसे बहुत सुन्दर ढंग से समझाते हैं : एक बार एक नमक का पुतला सागर की गहराई नापने गया। नापते समय वह स्वयं गल कर उसी के साथ एकाकार हो गया जिससे वह उत्पन्न हुआ था।[५]

अतिचेतन अवस्था की प्रत्यक्ष अनुभूति करने वाला ऋषि या द्रष्टा कहलाता है। प्रत्येक व्यक्ति एक प्रकार से द्रष्टा है। इन्द्रिय विषयों को देखने वाला भी द्रष्टा है। सुदूर ग्रह-नक्षत्रों को देखने वाला भी द्रष्टा है। दूसरों के विचारों को जानने वाला भी द्रष्टा है। मानव की गतिविधियों और चिन्तन के नियमों को जानने वाला भी द्रष्टा है। लेकिन इन सभी से भिन्न ऋषि शब्द का उपयोग उस व्यक्ति के लिए किया जाता है, जिसने सर्वातीत अतिचेतन सत्य का प्रज्ञा द्वारा अनुभव किया है। यह प्रज्ञा-शक्ति, जिसे भगवत्-गीता में 'दिव्य-चक्षु'[६] कहा गया है, सभी

---

४. विवेकानन्द साहित्य – ४, पृ. १८६. ५. श्रीरामकृष्ण वचनामृत

में प्रसुप्त-रूप से विद्यमान रहती है।

अज्ञान और उस पर विजय :

इस दिव्य-चक्षु की प्राप्ति में हमारी बाधा क्या है? वेदान्त के आचार्यों के अनुसार वह अज्ञान है। पतञ्जलि भी कहते हैं, कि अज्ञान पुरुष की दृष्टि को आवृत कर देता है। योगसूत्रों में हम पाते हैं : "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।"[७] अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःखदायक और अनात्मा को नित्य, शुचि, सुखदायक और आत्मा समझना अविद्या है। अज्ञान या अविद्या के मद में सत्य कल्पना से भी अधिक असत्य प्रतीत होता है।

एक शराबी चिल्लाते हुए एक बिजली के खम्भे पर बड़ी जल्दबाजी में चढ़ रहा था। स्वाभाविक ही पुलिस उसे पकड़कर न्यायाधीश के सामने ले गई, जिसने उससे पूछा : "यह सब क्या हो रहा था?" उसने उत्तर दिया, "हुजूर मैं क्या करता? तीन मगरमच्छ मेरा पीछा कर रहे थे। मुझे जान बचाने के लिए खम्भे पर चढ़ना पड़ा।" नगर की सड़क पर मगर! शराब के नशे में उसने यही देखा। अविद्या के कारण हम भी ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ देखते हैं, जिनकी वास्तविक सत्ता नहीं होती।

अविद्या पर विजय पाकर अतिचेतनावस्था को कैसे प्राप्त करें, यह अगला प्रश्न है। अविद्या यों ही नहीं जानी जा सकती। वह अनेक प्रकार से व्यक्त होती है। सर्वप्रथम है, अहंकार या अस्मिता। यह वास्तविक आत्मा को आवृत कर देता है। इसके बाद राग अथवा आसक्ति उत्पन्न होती है। जब उन्हें दबाया जाता है, या इनकी पूर्ति नहीं होती, तो क्रोध और भय उत्पन्न होते हैं। मानव अविद्या, अहंकार और सहजात प्रवृत्तियों द्वारा संसार से आबद्ध रहता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों की बात करते हैं। एक वर्गीकरण के अनुसार तीन प्रकार की मनोग्रन्थियाँ होती हैं : यौन-मनोग्रन्थि, अहंकार-मनोग्रन्थि और समूह-मनोग्रन्थि। इन ग्रन्थियों की पकड़ से निकलने का उपाय जाने बिना आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। आध्यात्मिक संघर्ष का यह अर्थ है। सहजात प्रवृत्तियों के बन्धन से मुक्ति पाना एक दिन में सम्भव नहीं है। हमही अपनी बाधाएँ हैं; अपने द्वारा पैदा की गई आन्तरिक बाधाओं की तुलना में बाह्य बाधाएँ कुछ भी नहीं हैं। हमारे समग्र व्यक्तित्व का परिवर्तन करना होगा। यह कैसे किया जाए? विश्व के विभिन्न धर्मों के साधकों ने इसके बहुत से मार्ग हमारे लिए खोज निकाले हैं।

ऋषियों का मार्ग :

ईश्वर अथवा आत्मा नामक चरम सत्य की अपरोक्ष अनुभूति करने वाला ऋषि कहलाता है। अंग्रेजी में इसे 'मिस्टिक' कहते हैं। संसार के प्रत्येक धर्म में अनेक ऋषि हुए

---

६. श्रीमद्भगवद्गीता ११.८ ७. पातंजल योगसूत्र २.५

हैं। लेकिन सभी धर्मों ने उनकी महानता को नहीं पहचाना है। इसका कारण यह है, कि ईसाई धर्म, इस्लाम और यहूदी आदि कुछ धर्मों में विश्वास और नैतिकता को मुक्ति के प्रमुख उपायों के रूप में अधिक महत्त्व दिया गया है। इन धर्मों के अनुयायियों के लिए यह अपेक्षित होता है, कि वे उन धर्मों के संस्थापकों-पैगम्बरों पर पूर्ण विश्वास रखें। प्रत्येक धर्म अपने संस्थापक-पैगम्बर को श्रेष्ठतम कहता है, तथा इसे न मानने वाले लोगों की मुक्ति नहीं होगी अर्थात् वे नर्क में जाएँगें, ऐसी मान्यताओं के बावजूद इन धर्मों ने उत्कृष्ट, अति उत्कृष्ट सन्तों को पैदा किया है, जिन्हें ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी। 'मिस्टिसिज्म' अर्थात् 'अपरोक्ष-अनुभूति' और उसके साधन-पथ को ईसाई धर्म तथा इस्लाम में धर्म का आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण अंग कभी नहीं माना गया है। अनेक ईसाई-ऋषियों को ईसाई धर्म-संघ के द्वारा दिए गए दण्ड को सहना पड़ा है। सत्रहवीं शताब्दी में 'क्वायटिस्ट' नामक शान्तिवादी आन्दोलन का कठोरतापूर्वक दमन किया गया था। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में ईसाई धर्म-संघ के बाहर तथा भीतर अपरोक्षानुभूति-वाद-विरोधी आन्दोलन इतने प्रबल थे, कि वर्तमान सदी के प्रारम्भ तक ईसाई धर्म ने अपनी महान् अपरोक्षानुभूति-परम्परा को लगभग भुला ही दिया था। इस्लाम में अपरोक्षानुभूतिवाद 'सूफीधर्म' कहलाता है। इस्लामी कट्टरवादियों के विरोध तथा धर्मान्धों की क्रूरता के कारण ईश्वराभिलाषी अनेक साधकों की मृत्यु हुई थी अथवा उन्हें दण्ड सहन करना पड़ा था। फिर भी इस्लाम ने बहुत बड़ी संख्या में अनुभूति-सम्पन्न ऋषियों को पैदा किया है, जो आश्चर्य का विषय है। इनमें से कुछ ने उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं।

भारत में, विशेषकर हिन्दू धर्म में, हम आध्यात्मिक-स्वतन्त्रता तथा अनुभूतियों का बाहुल्य पाते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार परमात्मा की अपरोक्षानुभूति मुक्ति के लिए अपरिहार्य है। हिन्दू धर्म में मुक्ति का अर्थ है, दुःख और अज्ञान से सम्पूर्ण छुटकारा। जब तक मानव मुक्ति नामक इस उच्चतम स्वतन्त्रता को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करना तथा जीवन के मीठे-कड़वे फलों को चखना होगा। हिन्दू धर्म में आध्यात्मिक-पूर्णता के विभिन्न मार्गों का गहराई से अध्ययन किया गया था, तथा उनके एक विज्ञान का विकास हुआ था। अपरोक्षानुभूति के चार मार्ग हिन्दू धर्म में बताए गए हैं। ये योग कहलाते हैं। अब हम एक के बाद एक उनका संक्षेप में वर्णन करेगें।

कर्मयोग :

सर्व प्रथम है कर्मयोग। इसमें इच्छा को कर्मफल से पृथक् करने पर अधिक महत्त्व दिया गया है। इसे निष्काम-कर्म कहा जाता है। यह इतना आसान नहीं, जितना कुछ लोग समझते हैं। इसके लिए 'महान्' इच्छाशक्ति की आवश्यकता होती है। लेकिन अपने कर्मों के फलों से स्वयं को अलग करने का एक और आसान उपाय है। वह है, फलों को भगवान् के चरणों में समर्पित करना। ईशावास्योपनिषद् की सर्वप्रथम अत्यन्त सुन्दर पंक्ति तुम्हें याद

होगी : "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।" अर्थात् इस परिवर्तनशील समग्र जगत् को ईश्वर द्वारा ढक देना चाहिए। सारा संसार भगवान् का है, यह जान कर सभी वासनाओं को त्याग देना चाहिए। कठिन विपदाओं और परीक्षाओं को सहन करते हुए बाइबिल के 'पुरातन-व्यवस्थापन' के जॉब नामक सन्त ने कहा था, "प्रभु ने दिया और प्रभु ने ही वापस ले लिया है – प्रभु के नाम की जय हो।"[८] स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं, "अनासक्ति और शरणागति के द्वारा जब मन शुद्ध होता है, तब अन्तरात्मा धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगती है।"

राजयोग :

इसके बाद है ध्यान का मार्ग, जो राजयोग कहलाता है। इसमें इन्द्रिय-विषय सम्बन्धी विचारों को मन में उठने न देकर, मन को उच्चतर दिशा में प्रवाहित करने के लिए मुख्य रूप से प्रयत्न किया जाता है। अधिकांश लोगों के लिए यह बिलकुल असम्भव कार्य है। बिना पूर्व तैयारी के इसका प्रयास करने पर तीव्र प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। अतः इसके मुख्य प्रणेता पतञ्जलि ने इसे एक क्रमबद्ध साधना का रूप दिया है। सर्वप्रथम है यम और नियम, अर्थात् सामान्य और विशेष नैतिक आचरण। व्यक्ति को सर्वदा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अस्तेय यानी दूसरों पर निर्भर न होने का, आचरण करना चाहिए। अपने पैरों पर खड़ा होना सीखो। स्वच्छता और सन्तोष का अभ्यास करो। अध्ययन करो और गहन चिन्तन कर आदर्शों को आत्मसात् करो। गुरुओं के भी गुरु परमात्मा को सब कुछ समर्पित कर दो। इन सभी में सफलता प्राप्त करने पर आसन-विशेष में बैठने का तथा श्वास-प्रश्वास के नियन्त्रण का अभ्यास किया जा सकता है। इसका अर्थ है, देह और मन की प्राणशक्ति के प्रवाह को नियन्त्रित करना। यह प्राणायाम कहलाता है। कुछ लोग इसे अत्यधिक महत्त्व देते हैं, लेकिन वे प्रायः अपने भीतर क्रीड़ा कर रही शक्तियों को नियन्त्रित करने में असमर्थ होते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप मस्तिष्क स्थायी अथवा अस्थायी रूप से विक्षिप्त – अस्थिर हो सकता है। पतञ्जलि ने अपनी साधना-पद्धति में प्राणायाम को बहुत कम महत्त्व दिया है। राजयोग की अगली दो सीढ़ियाँ प्रत्याहार और धारणा है, अर्थात् इन्द्रियों को बाह्य-विषयों से हटाना तथा मन को किसी आध्यात्मिक-विषय में लगाना। इस आन्तरिक एकाग्रता के गहरे होने पर व्यक्ति स्वयं का पुरुष अथवा आत्मा के रूप में साक्षात्कार करता है।

भक्तियोग :

तीसरा मार्ग भक्तियोग है। इसमें भी अनुशासन की आवश्यकता है, लेकिन अपने मनोवेगों को भगवान् की ओर मोड़ने को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। संसार के प्रति आसक्ति को भगवत्-प्रेम में परिणत करना चाहिए। घृणा के बदले वैराग्य होना चाहिए। भय

---

८. बाईबिल, जॉब १:२१

के स्थान पर भगवत्-शरणागति होनी चाहिए। इसके साथ ही निरन्तर भगवत्-स्मरण करते रहना चाहिए। इसके लिए भक्त शब्द-प्रतीकों या मन्त्रों की सहायता लेता है। मन्त्र रहस्यमय छोटे शब्दसमूह हैं। फिर इनसे लम्बी स्तुतियाँ और भजन भी हैं। इनकी सहायता से भक्त को सदा भगवत्-स्मरण बनाए रखना चाहिए। तब भगवान् की कृपा से वह आध्यात्मिक-जीवन की सारी बाधाओं को पार कर भगवान् का दर्शन करता है।[१]

ज्ञानयोग :

जब हम ज्ञानयोग पर आते हैं, तो हम पाते हैं, कि इसमें साधक के लिए आत्म-साक्षात्कार या आत्मानुभूति नामक आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने के लिए उच्चतर योग्यता, उच्चतर नैतिक स्तर की आवश्यकता होती है। उसे संयत, असीम धैर्यवान्, श्रद्धावान् तथा ध्यानपरायण होना चाहिए। उसे नित्यानित्य-विवेक में समर्थ होना चाहिए, तथा इस जन्म तथा परजन्म में भोग की सभी इच्छाओं का त्याग कर देना चाहिए। और उसमें मुमुक्षुत्व अर्थात सभी वन्धनों से मुक्त होने की तीव्र-इच्छा होनी चाहिए। इन सभी सद्‌गुणों का होना सरल नहीं है।

ज्ञान का अर्थ पुस्तकीय ज्ञान नहीं है। उपनिषदों में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है। प्रथम है अपरा अथवा निम्न और दूसरी परा या उच्च। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा प्राप्त विद्या अपरा-विद्या है। अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। चरम-सत्य की अपरोक्षानुभूति परा विद्या है। ज्ञानयोग का समग्र उद्देश्य इस अतिचेतनावस्था का साक्षात्कार करना है, न कि दार्शनिक विषयों पर सूक्ष्म तर्क-वितर्क में लगे रहना, जैसा कि प्राय: होता है।

ज्ञानयोग का प्रारम्भ 'श्रवण' से होता है, जिसका अर्थ है, आध्यात्मिक सत्यों को पढ़ना अथवा गुरु से सुनना। इन सत्यों को उपनिषद के चार महावाक्यों के द्वारा सूत्र-रूप में व्यक्त किया गया है। लेकिन केवल सुनकर ही नहीं रह जाना चाहिए। जो सुना है, उसपर तब तक गहराई से चिन्तन करना चाहिए, जब तक सत्य के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति की सम्भावना के बारे में दृढ़-निश्चय न हो जाए। यह मनन कहलाता है। प्राय: लोग सामान्य विषयों पर भी इस तरह का मनन नहीं करते। मुझे एक कहानी याद आ गई। एक किशोर बालिका को भोज में जाने का निमन्त्रण मिला। वह एक प्रसिद्ध खगोलशास्त्री के पास बैठी थी। उसके रोबदार चेहरे से लड़की कुछ आकृष्ट हुई, और उसने उनसे पूछा, "आप क्या करते हैं?" उन्होंने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "मैं खगोलशास्त्र का अध्ययन करता हूँ।" लड़की को बड़ी निराशा हुई। उसने सोचा था, कि सम्माननीय दीख रहे ये सज्जन इससे बेहतर उत्तर देगें। उसने कहा, "क्या! इस उम्र में आप अभी भी खगोलशास्त्र पढ़ रहे हैं। मैंने पिछले वर्ष खगोलशास्त्र का अध्ययन पूरा कर लिया है।" खगोलशास्त्र के उसके ज्ञान का,

१. देखें – विवेकानन्द साहित्य

कुछ पुस्तकों को पढ़ने के साथ अन्त हो गया था। मनन के बाद है, निदिध्यासन। निदिध्यासन एक उच्च श्रेणी का ध्यान है, जिसमें आत्मा के स्वरूप का सीधा अनुसन्धान किया जाता है। वस्तुतः यह सत्य का 'नेति-नेति' – 'यह नहीं-यह नहीं' के मार्ग से एक गहन अनुसन्धान है।

योग का लक्ष्य :

प्रत्येक मानव-आत्मा परमात्मा का एक शाश्वत अंश है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं :

मुझ परमात्मा का ही सनातन अंश इस लोक में जीव बनकर मन तथा पाँच इन्द्रियों को आकर्षित करता है। जब जीव शरीर धारण करता है अथवा त्यागता है, तब जिस प्रकार वायु पुष्प से गन्ध लेकर जाता है, उसी तरह वह इनको लेकर जाता है।

जब तक अज्ञान है, तब तक वासना है, तब तक पुरुष को बारम्बार जन्म और मृत्यु से गुजरना होगा। जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिलन होते ही इस संसार-चक्र का अन्त हो जाता है।[१०]

सभी योगों का लक्ष्य इस मिलन का सचेतन अनुभव, बौद्धिक-रूप से ही नहीं बल्कि, एकत्व के साक्षात्कार के द्वारा करना है। ऐसा होने पर ही चरम सत्य की उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति हमारे लिए यथार्थ हो सकेगी। मानव-जीवन में सदा विद्यमान अज्ञान के कारण आत्मा अहंकार, मन और इन्द्रियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है। यदि व्यक्ति यह अनुभव कर भी ले कि उसका वास्तविक-स्वरूप मन और इन्द्रियों से भिन्न है, तो भी उसके लिए अहंकार से छुटकारा पाना कठिन होता है। श्रीरामकृष्ण उसकी तुलना अश्वत्थ-वृक्ष से किया करते थे। उस वृक्ष को काट देने पर भी अंकुर पुनः निकल आता है।[११]

मिथ्या अहं को शुद्ध करना है तथा उसका आध्यात्मीकरण करना है। सभी योगों का यह मुख्य उद्देश्य है। कर्मयोग कर्म के फलों को परमात्मा को समर्पण तथा सेवा द्वारा व्यक्तिगत इच्छा को भगवदिच्छा में विलीन करना सिखाता है। इसी तरह राजयोग में सभी साधनाओं को समर्पण और अतिचेतना के भाव से पूरित करने का प्रयास बना रहता है, और जप और ध्यान द्वारा आन्तरिक भगवद्-सान्निध्य के भाव को बनाए रखने पर बल दिया जाता है। भक्तियोग भगवान् के यन्त्र के रूप में सेवा और प्रेमपूर्ण भक्ति का भाव सञ्चारित करता है। इस तरह किसी न किसी प्रकार से 'अहं' का आध्यात्मीकरण किया जाता है। प्रारम्भ में भगवान् को पिता या माता मानने में कोई हानि नहीं है। लेकिन अपने पृथक् व्यक्तित्व-बोध के अनन्त-बोध में विलीन होने पर ही अखण्ड परमात्मा के आनन्द का अनुभव हो सकता है। ज्ञानयोग का लक्ष्य आत्म-अनात्म विवेक तथा तत्त्वमस्यादि औपनिषदिक महावाक्यों के अर्थ के चिन्तन से आत्मा और परमात्मा के एकत्व की अनुभूति करना है।

इन सभी योगों के मूल में तप समान रूप से विद्यमान है। भगवद् गीता में श्रीकृष्ण

---

१०. श्रीमद् भगवद्गीता १५. ७-८ ११. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, पूर्वोद्धृत

शरीर और वाणी के तप का उल्लेख करते हैं : शुचिता, ब्रह्मचर्य और आर्जव या ऋजुता शारीरिक तप कहे गए हैं। दूसरों को कष्ट न देने वाले लेकिन सत्य और हितकर वचन बोलना, तथा शास्त्रों का पाठ वाणी का तप कहलाता है।[१२] इस नियम का पालन करने के लिए हमें अपने बोलने के स्वभाव का निरीक्षण करना होगा तथा व्यर्थ तथा हानिकारक शब्दों को त्यागना होगा। सौम्यता, प्रशान्तता, मौन, इन्द्रिय-संयम, चित्त की शुद्धि – ये मन के तप हैं। इन सभी साधनाओं का दृढ़ निष्ठा और तीव्रता से अभ्यास किया जाना चाहिए। इसके साथ दृष्टिकोण की उदारता भी होनी चाहिए। आध्यात्मिक-जीवन में हमें श्रीकृष्णोपदिष्ट कर्मफल-त्याग की, शंकराचार्य द्वारा निर्दिष्ट आत्म-विश्लेषण के मार्ग की, चैतन्य प्रदत्त उन्मत्त भगवद्-प्रेम की प्रणाली की आवश्यकता है। हम बुद्ध के अष्टांग मार्ग से, ईसा मसीह के पर्वतीय-उपदेश से तथा मुहम्मद के विश्वजनीन भ्रातृत्व के सिद्धान्त से भी लाभ उठा सकते हैं। ये सभी आत्मा को उसके वास्तविक दिव्य-स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए प्रस्तुत करते हैं तथा इन्हें सभी धर्मों के साधकों, ऋषियों ने महत्त्व दिया है।

व्यष्टि-जीव समष्टि से पृथक नहीं है। चित्त शुद्धि से प्राप्त उच्चतर प्रज्ञा द्वारा यह सत्य प्रकट होता है। सभी योगों में साधना का जन्म प्रेम से होता है और परमात्मा के साथ एकत्व का बोध स्वाभाविक रूप से समस्त मानवता के साथ एकत्व की अनुभूति कराता है। भगवन्नाम के जप से तथा सर्वान्तर्यामी-परमात्मा के निरन्तर स्मरण से भक्त अपने जीवन को मधुमय बनाता है, अपने अहंकार को परमात्म-चैतन्य में लीन करना सीखता है। उसकी व्यष्टि-चेतना विराट-चैतन्य में उसी तरह विलीन हो जाती है, जिस तरह लहर सागर में लीन होती है। वह यह अनुभव करता है, "स्वरूपतः मैं ब्रह्म हूँ, मैं परमात्मा से भिन्न नहीं हूँ।" यह अनुभूति ही प्रत्येक यथार्थ ज्ञानी में पाये जाने वाले आनन्द का कारण है। अनन्त सत्ता के साथ अपने एकत्व की अनुभूति होने पर, जीव के आनन्दमय परमात्मा के साथ मिलित होने पर, मानव समस्त मानवता के साथ इस एकत्व की अनुभूति करता है। समस्त प्राणियों के हृदय में प्रतिबिम्बित हो रहे भगवत-प्रेम और भगवत्कृपा की सभी कम से कम एक झलक तो पा ही सकते हैं। तब जीवन के प्रति असन्तोष का स्थान एक शान्त भाव ले लेता है, जो जीवन को पृथ्वी पर स्वर्ग बना देता है। आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ दुःख से हो सकता है, लेकिन आत्मा के एकत्व की वास्तविक सत्यता का अनुभव होने पर हम अन्धकार में पड़े लोगों को प्रकाश प्रदान कर सकेंगे। अतः आध्यात्मिक अनुभूति अपने व्यक्तिगत सुख और शान्ति के लिए ही नहीं, अपितु दूसरों के सुख और शान्ति के लिए भी आवश्यक है।

□□□

---

१२. भगवद्गीता १७; १४-१६

अध्याय ३

जीवन और उसकी नियति

सर्वोपरि समस्या :

आत्मा के चिरन्तन अस्तित्व में आस्था हिन्दू धर्म में सामान्य रूप से विद्यमान है, जब कि जीव के पश्चात्-भाव या अमरत्व को विश्व के सभी महान् धर्मों ने स्वीकार किया है। 'पुनर्जन्म' नामक अपने भाषण में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

सभी देशों और युगों में मनुष्य की बुद्धि को चक्कर में डालने वाली अनेक पहेलियों में से सबसे पेचीदा स्वयं मनुष्य ही है। इतिहास के उषाकाल से जिन लाखों रहस्यों का उद्घाटन करने में मनुष्य ने अपनी बहुतेरी शक्तियों का व्यय किया है, उनमें सबसे अधिक रहस्यमय है स्वयं उसकी प्रकृति। वह केवल असाध्य पहेली मात्र ही नहीं, बल्कि साथ ही साथ अन्य सभी समस्याओं की मूल समस्या भी है। हम जो कुछ जानते, अनुभव करते और कार्य करते हैं, मानव प्रकृति ही उन सबका प्रस्थान बिन्दु और भण्डार होने के कारण कभी भी ऐसा समय नहीं रहा है और न भविष्य में ही होगा, जब मानव प्रकृति मनुष्य के सर्वोत्तम और सर्वोपरि चिन्तन का विषय न रही हो या नहीं होगी। [१]

प्रत्येक पीढ़ी अपनी अगली पीढ़ी को जीव के स्वरूप और उसकी नियति की इस समस्या को, जीवन और मरण की इस महान् पहेली को सौंप जाती है। लेकिन सौभाग्य से सर्वदा कुछ ऐसे साहसी और निष्ठावान् लोग रहते हैं, जो आत्म-साक्षात्कार द्वारा इस गुत्थी को सुलझाने का, इस रहस्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न करते हैं। अत: हमें भी चाहिए कि हम इन महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलने का प्रयत्न करें। यदि हम पर्याप्त प्रयास करें, तो हम भी इस पहेली को स्वयं हल कर सकेगें।

हेरियट बीचर स्टोव की असाधारण पुस्तक, "टाम चाचा की कुटिया" में टोप्सी नामक छोटी बालिका से प्रश्न किया गया है, 'क्या तुम जानती हो, तुम्हें किसने बनाया है?" बालिका ने थोड़ा हँसकर उत्तर दिया, "मैं जैसा जानती हूँ, किसी ने नहीं।" और वह आगे कहती है, "मैं सोचती हूँ, मैं केवल बढ़ने लगी। मैं नहीं सोचती कि मुझे किसी ने नहीं बनाया।" क्या हम कभी इस तरह विचार करते हैं? हमारे इस विचित्र जगत् में बहुत से वय-

---

१. विवेकानन्द साहित्य – ९, पृ. २३२

प्राप्त लोग हैं, जिनकी इस समस्या में जरा भी रुचि नहीं होती। लेकिन ऐसे भी कुछ लोग होते हैं, जो यह प्रश्न पूछे बिना नहीं रह सकते : हम कहाँ से आते हैं? क्या हम हमारे आस-पास की वस्तुओं की तरह निर्मित हुए हैं? क्या हम इस संसार में जन्म के पूर्व विद्यमान थे और क्या हम मृत्यु के बाद बने रहेंगे? इस प्रकार के प्रश्न सदियों से पुनः पुनः उठाए गए हैं। वाल्ट-व्हिटमेन के शब्दों में :

दो पुरातन सदा संयुक्त समस्याएँ,
निकट, वर्तमान, सुदूर, पेचीदी,
समाधान का प्रयास किया जिनके,
प्रत्येक पीढ़ी ने,
पर रही समस्या ही,
मिली हमें धरोहर में,
और हम भी अगली पीढ़ी को,
देगें धरोहर में।[2]

जैविक समाधान :

पाश्चात्य जीवन विज्ञान शास्त्री, प्रत्येक बहुकोशीय प्राणी के, चाहे वह मक्खी, पशु, पक्षी अथवा मानव ही क्यों न हो, जीवन को पाँच अवस्थाओं में विभक्त करते हैं : संसेचन या गर्भाधान द्वारा प्राणी का निर्माण, विकास का काल, प्रौढ़-स्थिरता का काल, वृद्धावस्था तथा इस क्रम की अन्तिम घटना, मृत्यु। अधिकांश जैवशास्त्रियों के अनुसार जीव अपनी सभी विशेषताओं के साथ, आनुवांशिक संचरण के कारण जन्म ग्रहण करता है। उनके मत में वंश परम्परा अथवा प्रजा के द्वारा अमरत्व प्राप्त करने के अतिरिक्त व्यक्तिगत अमरत्व की कोई सम्भावना नहीं है। जो प्राणी सन्तति उत्पन्न नहीं करते, वे अन्त में अस्तित्वहीन हो जाते हैं।

अमरत्व की हिन्दू धारणा :

पुरातन हिन्दू आध्यात्मिक आचार्यों ने इस मान्यता से बिलकुल भिन्न एक दूसरा सिद्धान्त हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रत्येक प्राणी का भौतिक जीवन छह परिवर्तनों के क्रम से गुजरता है; जन्म, अवस्थिति, वृद्धि, परिवर्तन, अपक्षय, और विनाश।[3] विनाश का अर्थ देह के आकार का नाश है। मृत्यु का अर्थ यह है कि प्राणी स्थूल देह के स्तर पर नहीं रहता लेकिन वह अस्तित्व-विहीन नहीं हो जाता, उसका जीवन आदिकारण के निकटतर सूक्ष्मतर स्तर पर बना रहता है। कुछ काल बाद जीव एक नये शरीर

---

२. वाल्ट व्हिटमेन की कविता 'लीव्स ऑफ ग्रास' का अनुवाद,(एवण्टीन प्रेस न्यूयार्क १९३१), पृ.५३०

३. भगवद्गीता २.२०, शांकर-भाष्य

में पुनः जन्म ग्रहण करता है। जीव कभी नष्ट नहीं होता, लेकिन उसका भौतिक आधार क्रमिक परिवर्तनों से गुजरता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

"मनुष्य ने अपने सम्बन्ध में, जितने सिद्धान्त निकाले हैं, उन सब में सर्वाधिक प्रचलित, शरीर से भिन्न अस्तित्व वाले और अमर आत्मा का ही है। और ऐसे आत्मा को मानने वालों में से अधिकांश विचारवान् लोग सदा उसके पूर्वास्तित्व में भी विश्वास करते आए हैं।"[४]

वेदान्त के आचार्य अपने व्यक्तिगत साक्षात् अनुभवों के आधार पर हमें कहते हैं, कि आध्यात्मिक इकाई आत्मा, जो अनेक बार देह धारण करती है, स्वयं अमर है। वह 'जन्म' के पूर्व भी विद्यमान् थी तथा जन्म और मृत्यु के अनेक चक्रों से गुजरने पर भी वह अनन्त काल तक विद्यमान् रहेगी। यदि आधुनिक दृष्टान्त दें, तो आलोक की वर्ण-छटा में केवल दृश्यमान् आलोक वर्ण ही नहीं रहते, बल्कि ऐसे वर्ण भी रहते हैं, जो बैंगनी तथा लाल किरणों के परे हैं। उसी तरह आत्मा का भी एक अनन्त भूत और अनन्त भविष्य है। मानव की आत्मा एक ऐसे अनन्त अस्तित्व का अंश है जो भूत, भविष्य और वर्तमान को जोड़ता है, तथा जो देश और काल दोनों के परे भी है। आत्मा के भूत और भविष्य जीवन के बारे में हमें जानकारी नहीं हैं, लेकिन वास्तविकता यह है, कि एक निरवच्छिन्न अस्तित्व बना रहता है। कोई भी अपने आप के अस्तित्व को नकार नहीं सकता, लेकिन उसके वास्तविक स्वरूप को उच्चतर प्रज्ञा की शक्ति के द्वारा ही समझा जा सकता है। कठोपनिषद् में कहा गया है –

इस आत्मा को भौतिक नेत्रों द्वारा नहीं देखा जा सकता क्यों कि वह स्थूल रूप-रहित है। लेकिन वह शुद्ध हृदय की गहराई में जाना जा सकता है। जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।[५]

कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्मवाद उन बद्ध जीवों पर ही लागू होते हैं, जिनका देह, इन्द्रियों, मन तथा अहंकार के साथ तादात्म्य होता है। ये जीव पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। लेकिन जिन में एक नयी उच्चतर चेतना का उदय हो गया है, वे मिथ्या तादात्म्य से मुक्त हो जाते हैं, तथा अपने वास्तविक अनन्त स्वरूप का साक्षात्कार कर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। वे अमर हो जाते हैं।

सूक्ष्म शरीर नए स्थूल शरीरों में पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करता है तथा नए अनुभव प्राप्त करता है। प्रत्येक स्थूल मृत्यु के बाद सूक्ष्म शरीर कुछ सूक्ष्मतर लोकों में उस समय तक रह सकता है, जब तक कि उसके पुनर्जन्म का समय निकट न आ जाय।[६] ये सारी बातें आध्यात्मिक जीवन के अज्ञात नियमों के अनुसार होती हैं।

प्रत्येक जीव को उस समय तक इन जन्म-मरण के चक्रों से गुजरना पड़ता है, जब

---

४. विवेकानन्द साहित्य – ९, (१९६३), पृ. २३४　　५. कठोपनिषद् २ : ३ : ९
६. भगवद्गीता, २.२२; ८.१६

तक वह अपने वास्तविक, परम, अव्यय स्वप्रकाश, चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर लेता। वास्तविक आत्मा न तो जन्म लेती है और न ही मरती है। जैसा कि श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं; वह, "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो ..." है।[७] वेदान्त के अनुसार अज्ञान या मूल अविद्या स्वरूपतः नित्यमुक्त आत्मा में बन्धन की भ्रान्ति पैदा कर देती है। आत्मा और अनात्मा का यह परस्पर अध्यास अनादिकाल से चला आ रहा है। और जब तक वह बना रहेगा तब तक आत्मा ससीम, व्यष्टि-जीव अथवा अहंकार बनी रहेगी और पुनः पुनः जन्म ग्रहण करेगी। अज्ञान के प्रभाव से मनुष्य अपने दिव्य स्वरूप को भूल जाता है। लेकिन प्रत्येक मानव के जीवन में एक समय आता है, जब वह प्रारम्भ में अस्पष्ट रूप से अपने आध्यात्मिक स्वरूप के बारे में कुछ अनुभव करने लगता है। मनुष्य की आत्मा चिरनिद्रा से मानो जाग उठती है और अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने हेतु संघर्ष करने लगती है। अन्त में उच्चतर चेतना के उदय होने पर, वास्तविक आध्यात्मिकता के जागरण पर, अपने आध्यात्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और परमात्मा के साथ अपने अभिन्नत्व की अनुभूति होने पर सभी कर्मों से निवृत्ति हो जाती है। जन्म-मरण का चक्र रुक जाता है। जैसा स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, तब हम भी यह कह सकते हैं, "मेरा खेल समाप्त हो गया है"।[८]

भारतीय दर्शन में कर्म-सिद्धान्त :

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त का ही विस्तार है। कर्म शब्द का अर्थ केवल शारीरिक और मानसिक क्रिया ही नहीं, बल्कि प्रतिक्रिया – बाह्य संवेदनाओं की मानसिक प्रतिक्रिया भी है। कर्म द्वारा उत्पन्न शुभाशुभ शक्तियों के शुभाशुभ परिणाम होते हैं, जो कर्ता को अर्थात् अहंकार पूर्वक फलाकांक्षा सहित कर्म करने वाले को प्रभावित करते हैं। अतः कर्म-सिद्धान्त वस्तुतः कार्य-कारण-वाद है। यह वह महान् नैतिक विधान है जो अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक पक्षों में व्यक्तियों और समाजों की नियति को निर्धारित करता है।

प्रत्येक कर्म के दो प्रकार के परिणाम होते हैं। प्रथम विश्वजनीन परिणाम होता है, जो हमारे भावी सुख अथवा दुःख के अनुभवों को निर्धारित करता है। कर्म का दूसरा परिणाम वैयक्तिक होता है। प्रत्येक कर्म मन पर एक प्रभाव छोड़ जाता है जो संस्कार कहलाता है। ऐसे हजारों संस्कार हमारे मन में सञ्चित हैं, जो बाद में वासनाओं या प्रवृत्तियों के रूप में पुनः जाग्रत होते हैं। और ये सूक्ष्म संस्कार हमारे भावी जन्मों की दिशा निर्धारित करते हैं। यह उतना रहस्यमय नहीं है, जितना हम सोचते हैं। यदि हम अपने मन का विश्लेषण करें, तो हम पायेंगे, कि हमारे अनेक वर्तमान विचारों का प्रारम्भ हमारे बाल्यकाल में हुआ था। बाल्यकाल में आहरित अनेक विचार और अनुभव हमारे मन पर गहरा प्रभाव छोड़ जाते हैं। ज्यों ज्यों हम बढ़ते जाते हैं, ज्यों-ज्यों हमारे मन की फिल्म के चित्र उभरने लगते हैं, त्यों

---

७. भगवद्गीता २.२० और कठोपनिषद् १.२ .१८ ८. विवेकानन्द साहित्य

त्यों हमें यह जानकर आश्चर्य होता है, कि कितनी अधिक मात्रा में हमारे मन में विचार और चित्र भरे पड़े हैं। यह मानो एक टेप-रिकार्ड को पुन: बजाने जैसा है। प्राय: हम अपनी कुछ प्रवृत्तियों के मूल कारणों को भूल जाते हैं। लेकिन आत्म-निरीक्षण द्वारा हम उन्हें अपने बाल्यकाल में और यहाँ तक कि हमारे पूर्वजन्म तक खोज़ सकते हैं। हमारे कुछ स्वप्नों का विश्लेषण करने पर हमारे भूतकाल की बहुत सी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कई बार वे पूर्वजन्म के अनुभवों का संकेत भी देते हैं।

कर्म-सिद्धान्त के दो पक्ष हैं; एक बाँधने वाला और दूसरा मुक्त करने वाला। अहंकारपूर्वक और आसक्तियुक्त कर्म जीव को अधिकाधिक बन्धन में डालता है। इन्द्रिय-भोगों की पुनरावृत्ति पूर्व संस्कारों को दृढ़तर बनाती है, और व्यक्ति को जन्म-मृत्यु के चक्कर में डाल देती है। लेकिन जब कर्म अनासक्त होकर, भगवत्-सेवा के रूप में अथवा केवल दूसरों के कल्याण के उद्देश्य से किया जाता है, तो वह जीव को मुक्ति प्रदान करता है। अनासक्ति का अभ्यास सतत् आत्म-विश्लेषण और सजगता अथवा निरन्तर भगवत्-शरणागति द्वारा किया जा सकता है। ऐसा करने पर नए संस्कार नहीं पड़ते और पुराने संस्कार दृढ़ नहीं होते। क्रमश: मन के सारे पूर्व संस्कारों का हम पर प्रभुत्व समाप्त हो जाता है। उसे चित्त-शुद्धि कहते हैं। यह कर्म द्वारा होती है। अत: कर्म अपने आप में बुरा नहीं है। वह हमारे लिए बन्धन का कारण होगा या नहीं, यह हम जिस प्रकार उसे करते हैं, उस पर निर्भर करता है।

भारत की सभी दर्शन-प्रणालियाँ, चाहे वे ईश्वरवादी हों या निरीश्वरवादी, कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार करती हैं। लेकिन मुख्य प्रश्न यह है : क्या परमात्मा या ईश्वर का इस कर्म-विधान के क्रिया-कलाप के साथ कोई सम्बन्ध है? क्या उस सिद्धान्त के पीछे कोई ईश्वरीय इच्छा कार्यरत है? वृत्ताकार समस्वरता (Spherical-Harmonics) के सिद्धान्त की आधारशिला रखने वाले फ्रांसीसी खगोलशास्त्री और गणितज्ञ लाप्लेस (Laplace) के बारे में एक कथा प्रचलित है। जब उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "द सेलेस्टियल मेकेनिज़्म" नेपोलियन को भेंट की, तो सम्राट ने उससे उसकी योजना में भगवान् के स्थान के बारे में प्रश्न किया। खगोलशास्त्री ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, "जहाँपनाह। मैंने उस मान्यता के बिना अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।" वहाँ अधिकांश वैज्ञानिकों के लिए ईश्वर एक मान्यता मात्र है, जिसको त्यागा भी जा सकता है। विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र इत्यादि अनेक क्षेत्रों में आजकल छिछले विचारकों के एक वर्गविशेष के लिए अज्ञेयवाद या निरीश्वरवाद का, ईश्वर के अस्तित्व को उपेक्षित या अस्वीकार करने का प्रचलन-सा हो गया है। इस सिद्धान्त को कुछ घमण्ड के साथ आधुनिक कहा जाता है, और भारत में बहुत से नवयुवक इसे अधिकाधिक ग्रहण कर रहे हैं।

अब, जब हम ऐसे लोगों के मन का विश्लेषण करते हैं, तो पाते हैं, कि ये लोग परिपक्व नहीं हुए हैं अथवा उनमें गहराई नहीं है। उनमें आन्तरिकता का अथवा अपने मन

की गहराई में पैठने का अथवा किसी भी विषय में गहराई से सोचने की क्षमता का अभाव है। वस्तुतः गहन-चिन्तन करना आसान नहीं है। इसके लिए एक सुसंयत अनुशासित मन की आवश्यकता है। अधिकांश तथाकथित आधुनिक भौतिकवादी अन्य किसी के विचारों को दुहराना और उनका अन्धानुकरण करना चाहते हैं। मुझे एक कहानी याद आ गई। एक शिक्षिका छोटे बच्चों को गणित पढ़ा रही थी। उसने उन्हें एक प्रश्न पूछा : मेरे पास बारह भेड़ें हैं। छः भेड़ें कूद कर भाग गई, तो बाकी कितनी बचीं? अधिकांश बालकों ने कहा, "छः"। लेकिन एक किसान के लड़के ने कहा, "एक भी नहीं बचेगी।" जब शिक्षिका ने उससे इसका कारण पूछा, तो उसने कहा, "मैडम! आप गणित भले ही जानती हों, पर मैं भेड़ों का स्वभाव जानता हूँ।" इसमें हमारे लिए एक शिक्षा है। हमें भेड़ों की तरह दूसरों का अन्धानुसरण नहीं करना चाहिए। जैसा कि एक वैज्ञानिक ने कहा है, "अधिकांश लोगों के लिए सुषुम्ना नाड़ी ही पर्याप्त है; मस्तिष्क अनावश्यक है।" तात्पर्य यह है, कि अधिकांश लोग स्वचलित, आवेग-चलित जीवन यापन करते हैं। बहुत कम लोग सचमुच सोचते हैं और सचेतन रूप से अपने जीवन को दिशा प्रदान करते हैं।

भौतिकवाद में कोई आधुनिकता नहीं है। प्राचीन भारत में चार्वाक नामक कुछ दार्शनिकों का एक समुदाय था। वे ईश्वर, आत्मा और अमरत्व को अस्वीकार करते थे तथा स्थूल विषय भोग को जीवन का उद्देश्य मानते थे। लोगों पर उनका कभी भी अधिक प्रभाव नहीं पड़ा था। लेकिन क्या पुराने चार्वाक समाप्त हो गए हैं? वे हममें से अनेकों के भीतर छिपे हैं, जो धार्मिक होने का दावा करते हैं, लेकिन वास्तविक जीवन में भौतिकवादी जीवन-सिद्धान्तों का अनुसरण करते हैं।

इन छिछले भौतिकवादी दार्शनिकों से भिन्न प्राचीन भारत में गहन चिन्तन और गम्भीर दार्शनिक मस्तिष्क वाले लोग भी थे, जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया –कम से कम ऐसे ईश्वर को, जिसकी हम सामान्यतः बात किया करते हैं। लेकिन उन सभी ने कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार किया और बौद्धों को छोड़कर अन्य सभी ने आत्मा की सत्यता और अमरत्व को स्वीकार किया। आस्तिक और नास्तिक शब्द ईश्वर-विश्वासी और निरीश्वरवादियों के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं, बल्कि वेदों को उच्चतम प्रमाण के रूप में स्वीकार करने वाले आस्तिक हैं और जो ऐसा नहीं करते, वे नास्तिक हैं। आस्तिकों में भी सांख्य और कुछ मीमांसक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जीव कर्म के विधान द्वारा बद्ध है, जिसका प्रभाव अपरिहार्य है।

दूसरी ओर बौद्धों ने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए भी कर्म के विधान को स्वीकार किया है। इस कारण उनमें से बहुतों की एक विचित्र-स्थिति हो गई। वे मानव व्यक्तित्व की तुलना एक रथ से करते हैं। रथ, चक्र आदि विभिन्न हिस्सों से मिलकर बना है, और उनके अतिरिक्त 'रथ' का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। उसी तरह मानव देह भी अनेक तत्त्वों से मिलकर बनी है, जो कर्म-विधान के अनुसार जन्म ग्रहण करती रहती है। एक वृद्ध

लकड़हारे की कहानी है, जिसे अपनी चमकीली कुल्हाड़ी पर गर्व था। जब कोई उसकी कुल्हाड़ी की प्रशंसा करता, तो वह खुशी से फूल उठता और कहता, "हाँ बेटे। मैं इसका उपयोग बीस वर्ष की उम्र से करता आ रहा हूँ और अभी भी देखो यह कितनी अच्छी दिख रही है। केवल इसकी लोहे की धार छ: बार और हत्था आठ बार बदला जा चुका है।" वृद्ध की यह धारणा थी, कि वह अभी भी उसी कुल्हाड़ी का उपयोग कर रहा है। बौद्धों का कथन है, कि अनेक जन्मों की शृंखला के भीतर आत्मा की निरन्तरता भी इसी प्रकार की है। इसी प्रकार का भ्रम है।

पश्चिम के देशों में कई वर्षों तक रहने के कारण मैं धार्मिक-वातावरण को और अच्छी तरह से समझ सकता हूँ। भारत वेदान्त की भूमि है, जो सभी प्राणियों की नियति को नियन्त्रित करने वाली एक ईश्वरीय शक्ति के अस्तित्व में विश्वास करता है। वेदान्त इस में विश्वास नहीं करता कि कोई अचेतन-विधान चेतन प्राणियों के भविष्य का निर्धारण कर सकता है। विश्व-ब्रह्माण्ड की कोई परम नियन्त्री और दिशा निर्धारण करने वाली एक चेतन-सत्ता, एक चेतन-शक्ति होनी चाहिए। इसीलिए न्याय-सूत्रों में हम एक सूत्र पाते हैं : "ईश्वरः कारणं पुरुष-कर्माफल्य-दर्शनात्।"[९] अर्थात् ईश्वर परम कारण है क्योंकि पुरुष के कर्मों को अफलीभूत होते देखा जाता है। भारत में विद्यमान समस्त दर्शन-प्रणालियों में वेदान्त ने ही ईश्वर को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया है और वह विजयी और विकसित हुआ है। ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाली सभी दर्शन-प्रणालियाँ या तो भारत की भूमि से विलुप्त हो गईं हैं अथवा वेदान्त की मुख्य धारा में विलीन हो गई हैं।

हम विशालकाय मशीनों और अत्यन्त पेचीदे कम्प्यूटरों के बारे में सुनते हैं और उनके दक्षतापूर्ण कार्य से बहुत प्रभावित होते हैं। लेकिन हम यह भूल जाते हैं, कि इनका आविष्कार करने तथा इन्हें चलाने वाले प्राणी सजीव एवं बुद्धि सन्पन्न हैं। इसी तरह भले ही यह अनन्त और रहस्यमय ब्रह्माण्ड अपने से चलता सा प्रतीत होता हो, लेकिन यह एक विराट् पुरुष द्वारा परिचालित हो रहा है, जो परम ज्ञान-स्वरूप तथा समस्त प्राणियों के भीतर विद्यमान् है। हम जमीन में बीज बोते हैं और जल देते हैं। बीज अंकुरित होकर बढ़ने लगता है। तो क्या हमें यह विश्वास करना चाहिए कि 'कैलाश' या 'वैकुण्ठ' में बैठा शिव अथवा नारायण नामक कोई ईश्वर है, जो बीज की उत्पत्ति का परिचालन कर रहा है? प्रत्येक प्राणी में देवत्व छुपा हुआ है। यही अन्तर्निहित दिव्य-सत्ता समग्र प्राणियों की क्रियाओं का परिचालन करती है। कुछ पाश्चात्य दार्शनिक अन्तर्यामी विराट् इच्छा की बात करते हैं। कर्म का विधान इस दैवी इच्छा के द्वारा नियन्त्रित होता है। लेकिन ईश्वर स्वयं उस नियन्त्रण के बाहर है। वह नित्य-मुक्त और नित्य-शुद्ध है। तथा परम चैतन्य और आनन्दस्वरूप है।

वेदान्त यह भी मानता है कि यह आवश्यक नहीं है कि मानव सदा कर्म करता रहे।

---

९. गौतम, न्याय सूत्र, ४.१.१९

कर्म तभी तक करने होते हैं जब तक जीव अपनी अन्तर्निहित-सत्ता के विषय में सचेत नहीं हो जाता। जब जीव यह अनुभव कर लेता है कि स्वरूपत: वह दिव्य है तब वह भी कर्म-विधान के बाहर चला जाता है, वह मुक्त हो जाता है। वेदान्त के अनुसार जन्म-मरण के चक्र से यह मुक्ति, चरम मुक्ति ही जीवन का लक्ष्य है। इस बात को प्रदर्शित करने वाली एक सुन्दर उपमा मुण्डकोपनिषद् में पाई जाती है। एक वृक्ष पर सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी हैं। एक पक्षी वृक्ष के मीठे-कड़ुए फल खाता है, जब कि दूसरा वृक्ष के शिखर पर पूर्ण निर्लिप्त हो बैठा केवल देखता रहता है। कुछ समय बाद नीचे का पक्षी ऊपर की ओर देखता है, ऊपरी पक्षी के साथ अपने एकत्व का साक्षात्कार करता है और फल खाना छोड़कर वह भी परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। निम्न पक्षी जीव का प्रतीक है, जो कर्म से बँधा है तथा पुन:-पुन: सुखी अथवा दु:खी होता है। लेकिन ऊपरी-पक्षी रूपी परमात्मा के साथ अपने एकत्व का अनुभव करने पर वह सभी आसक्तियों एवं सीमाओं से मुक्त हो जाता है और अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता है।[१०]

कर्म-विधान से बँधे रहना तथा उसके पहिये से पिसना अनिवार्य नहीं है। उसके दु:खदाई दाँतों से मुक्त होने का उपाय है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मबन्धन से मुक्त होने का सीधा उपाय सिखाते हुए कहते हैं : सभी धर्म-अधर्मों को त्याग कर अपने आप को, बिना शर्त, मुझे समर्पित कर दो। मैं तुम्हें सभी बन्धनों से मुक्त कर दूँगा, शोक न करो।[११] मानव जाति के लिए भगवान् का यह आश्वासन है। सभी महान् अवतारों ने मानव जाति को ऐसे आश्वासन प्रदान किये हैं। लेकिन इसमें विश्वास रखकर पूरे मन से स्वयं को समर्पित करना कठिन है।

पाश्चात्य चिन्तन में प्राग्भाव और पुनर्जन्म

शताब्दियों पूर्व प्लेटो ने घोषित किया था : "जीव चिरन्तन हैं और कारागार-सदृश देह में आने के पूर्व भी वे विद्यमान थे। केवल आत्म-ज्ञान ही जीव को मुक्त कर सकता है। यह ज्ञान नया नहीं है। केवल विस्मृत की पुन: स्मृति मात्र है।"[१२]

जीव का प्राग्भाव और अमरत्व का सिद्धान्त प्लेटो का ही एक मूल सिद्धान्त नहीं था बल्कि ओर्फि और पाईथागोरियन जैसे अनेक महान् पुरातन चिन्तकों का भी मुख्य सिद्धान्त था।

प्लोटिनस (२०५-२७० ई.), जो निओ-प्लेटोनिज़म के प्रतिष्ठाता थे, की यह मान्यता थी, कि मानव आत्मा विश्व-आत्मा का एक अंश है। वह जड़ पदार्थ की ओर जाकर अपनी आध्यात्मिक-स्थिति से च्युत हो गया है। उसे जड़ पदार्थ के बंधन से मुक्त होने के

---

१०. मुण्डकोपनिषद् ३.१.१,२   ११. भगवद्गीता १८.६६

१२. एस. ई. फ्रोस्ट, द बेसिक टीचिंग्स ऑफ दि ग्रेट फिलासोफर्स (न्यूयार्क, द न्यू होम लाइब्रेरी, १९४२), पृ. १७४-७५

लिए संघर्ष करना चाहिए। इसमें असफल होने पर वह मृत्यु के बाद दूसरी देहों में प्रवेश करता है। वह जन्म-मृत्यु की शृंखला से तब तक गुजरता रहता है, जब तक वह जड़-मलिनताओं से मुक्त नहीं हो जाता। विभिन्न प्रकार की साधनाओं द्वारा शुद्ध होने पर आत्मा का विश्वात्मा के साथ और अन्त में ईश्वर के साथ मिलन हो जाता है।

कबाइलियों ने इस सिद्धान्त को यहूदी-धर्म में प्रविष्ट करने का प्रयत्न किया था। बाइबिल के 'नव-व्यवस्थान' में भी हमें पुनर्जन्म के सिद्धान्त के असन्दिग्ध प्रमाण प्राप्त होते हैं। पर्वत-शिखर पर 'रूपान्तरण' के दर्शन में ईसा के अन्तरंग शिष्यों ने ईसा के दोनों ओर मूसा और इलियास की आकृति देखी थीं। इलियास एक पुरातन यहूदी पैगम्बर थे। उनके सम्बन्ध में ईसा ने कहा : "वह इलियास पहले आ चुका है" और उनके शिष्यों ने समझा कि वे बतिस्मा देने वाले जॉन के बारे में कह रहे हैं। ईसा बतिस्मा देने वाले जॉन को इलियास का पुनरावतार मानते थे।[१३]

आदि-ईसाई धर्म-संघ के मेनिचियन और ग्नोस्टिक सम्प्रदाय आत्मा के प्राग्भाव में और मृत्यु-उपरान्त उसकी वर्तमानता में भी उतना ही विश्वास करते थे। आद्य ईसाई महानतम् विद्वानों में से एक ओरिगन (१८५-२५१ ई.) ने कहा था : "मानव मन कभी शुभ तो कभी अशुभ से प्रभावित होता है। मेरी मान्यता है, कि इसका कारण भौतिक देह के जन्म से अधिक पुरातन है।" लेकिन यह विचार निश्चित रूप से रूढ़िवादी ईसाई धर्म के सिद्धान्त के विरुद्ध था, अतः ईसाई धर्म-संघ द्वारा दृढ़तापूर्वक दबा दिया गया। सन् ५४३ में कुस्तुन्तुनिया की ईसाई धर्म-परिषद् ने घोषणा की : "यदि कोई जीवों के पुराणोक्त प्राग्भाव तथा उसके फलस्वरूप पुनः स्थापना की वीभत्स धारणा का पोषण करता है, तो उसे धिक्कार है।"[१४] लेकिन संघबद्ध ईसाई धर्म के प्रयासों के बावजूद इस सिद्धान्त को पूरी तरह दबाया नहीं जा सका। वह अन्य देशों में तथा ईसाई-प्रदेशों में भी कई अपरोक्षानुभूतिवादी सम्प्रदायों में पनपता रहा। पुनर्जागरण के काल में जियोर्डानो ब्रूनो (सन् १५४८-१६०० ई.) नामक इटली के एक ईसाई संन्यासी और दार्शनिक ने पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया। वह परमात्मा के सर्वव्यापित्व तथा मानव-आत्मा के अमरत्व में विश्वास करता था। उसे बन्दी बनाया गया, यातनाएँ दी गईं और जिन्दा जला दिया गया। उसकी मृत्यु हो गई, लेकिन उसने दर्शनशास्त्र को धर्मशास्त्र से मुक्त करने में सहायता की।

लेकिन पुनर्जन्म-वाद के सिद्धान्त में ऐसी शक्ति थी, कि उसे अधिक-से-अधिक दबाया ही जा सकता था। वह सदियों तक लोगों के विचारों को प्रभावित करता रहा, भले ही लोग उसके बारे में खुलकर बोलने में डरते रहे हों। और ईसाई-जाँच-न्यायालय की

---

१३. बाइबिल-सन्त मैथ्यूज की १७-१२

१४. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स जेम्स हेस्टिंग्स द्वारा सम्पादित, खण्ड ४-१९६७, पृष्ठ १९३

समाप्ति पर चिन्तक, कवि और दार्शनिक अपने विचारों को अधिक स्पष्टरूप से व्यक्त करने लगे।

डार्विन के महान् अनुयायी थॉमस हक्सले (सन् १८२५-१८९५ ई.) पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास करते थे और उन्होंने साहसपूर्वक कहा था : "प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों के अनुसार फल भोगता है। यदि इस जन्म में नहीं तो पूर्ववर्ती भावों की अनन्त शृंखला में से किसी एक में, जिस शृंखला का यह अन्तिम जन्म है।" वे स्वयं वैज्ञानिक थे, और उनकी मान्यता थी, कि बिना कारण कुछ भी नहीं हो सकता है। वे आगे कहते हैं : "क्रम-विकासवाद की तरह पुनर्जन्मवाद के मूल में भी महान् सत्य विद्यमान है।"

इमर्सन (सन् १८०३-१८८२ ई.) तथा उनके कुछ न्यू इंग्लैण्ड के समकालीन दार्शनिकों के भी इसी तरह के विचार थे। इमर्सन भगवद्गीता के द्वारा प्रभावित हुए थे, तथा उन्हें यह कहने का साहस था : "हमारे नीचे सीढ़ियाँ हैं, जिन पर हम चढ़ चुके हैं, ऊपर भी सीढ़ियाँ हैं, कुछ ऊपर जाती हुईं आँखों से ओझल हो गई हैं।"

कवि आत्मा के निकटतर वास करते हैं और अपनी अनुपम शैली में, जिसे वे सत्य समझते है उसे व्यक्त करते हैं। जैसा कि वर्डस्वर्थ ने कहा है –

'जन्म एक निद्रा और विस्मरण मात्र है,
हमारे साथ जो आत्मा पैदा होती,
जीवन का नक्षत्र बिन्दु,
उसका आधार कहीं और होता,
किसी सुदूर स्थान से वह आता।'

टेनिसन निम्न जन्मों की बात करते हैं, जहाँ से जीव आता है, लेकिन जिनका उसे स्मरण नहीं है –

यदि निम्न योनियों से मैं आया हूँ,
तो मैं अपने दुर्बल जन्मों को भूल गया हूँ,
क्या हम अपने प्रथम वर्ष को नहीं भूल जाते।

वाल्ट व्हिटमेन ने इन्हीं विचारों को साहसपूर्वक अभिव्यक्त किया है, लेकिन हम यह नहीं जानते, कि उन्होंने यह विचार कहाँ से पाये।

जीवन, तुम अनेक मृत्युओं का परिणाम हो।
निश्चय ही मैं पहले दस हज़ार बार मरा हूँ।

यह एक विचित्र विचार है, लेकिन बहुत से लोग इसकी पुष्टि करते हैं। अधिकाधिक लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को बहुत युक्तिसंगत मानने लगे हैं। जर्मनी के नाटककार तथा समालोचक 'लेसिंग' (सन् १७२९-१७८१ ई.) ने प्रश्न किया था : जब तक मैं नया ज्ञान तथा नये अनुभव प्राप्त कर सकता हूँ, तब तक मैं वापस क्यों न आऊँ? (पुनः जन्म क्यों न लूँ?) और उन्नीसवी शताब्दी के जर्मन दार्शनिक फिक्टे ने कहा था : "यह सर्वविदित तर्क

है, कि जिसका प्रारम्भ काल में हुआ है, उसका अन्त भी काल में होगा। अत: जीव के मरणोत्तर अस्तित्व के साथ उसका चिरन्तन अस्तित्व अनिवार्य रूप से जुड़ा है।'' पश्चिम के देशों में अपने सत्रह वर्षों के प्रवास के दौरान मेरी यह धारणा बनी है कि बहुत से लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। और बहुत से लोग स्पष्ट रूप से उसकी घोषणा ईसाई धर्म-संघ के भयवश नहीं करते। एक प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक और प्रचारक डॉक्टर प्रेट इस शताब्दी के प्रारम्भ में भारत आए थे। पुनर्जन्म-वाद के बारे में उन्होंने लिखा है : ''व्यक्तिगत रूप से मैं जीव के एक योनि से दूसरी में जाने के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता। लेकिन मैं इस विषय में दुराग्रही नहीं हूँ।'' और वे आगे लिखते हैं : ''मैं इस सिद्धान्त की उदात्तता और सौन्दर्य से काफी प्रभावित हूँ। मृत्यु को प्राप्त हो रही देहों तथा क्षरित हो रहे विश्वों के बीच से अनन्त सागर रूपी अपने गंतव्य तक दीर्घ यात्रा कर रहे जीव के हिन्दू-सिद्धान्त में निर्विवाद रूप से एक उदात्तता है।'' और ''हिन्दू यह विश्वास नहीं करता, कि वह अनन्त-जीवन में प्रवेश कर रहा है। वह यह विश्वास करता है, कि वह अभी अनन्त जीवन व्यतीत कर ही रहा है।''[१५]

महान् आचार्यों को पूर्वजन्मों का ज्ञान था :

एक प्रश्न पूछा जाता है, और मैंने पाश्चात्य-देशों में अपने लम्बे प्रवास के समय कई बार इसे सुना है : ''यदि हमारे पूर्व-जन्म थे, तो हमें उनकी स्मृति क्यों नहीं होती?'' अच्छा, क्या यह हमारा सौभाग्य नहीं है, कि हम अपने इतने सारे पूर्व-अनुभवों को भूल गए हैं? यदि एक ही जन्म की, मान लो, वर्तमान-जन्म की, सभी स्मृतियाँ अचानक या एक के बाद एक निरन्तर हम सभी के मन में उठने लगें, तो हमारी क्या दशा होगी? हममें से अधिकांश पागल हो जाएगें और हमें रोगी के रूप में रहने के लिए स्थान भी नहीं मिलेगा। असंख्य मानसिक-चिकित्सालयों को प्रारम्भ करना पड़ेगा। उनकी संख्या पहले से ही बढ़ती जा रही है तथा और अधिक की गुंजाईश नहीं है। ऐसा कहने में प्राग्-मान्यता दोष नहीं है। मैं केवल इसी सत्य को बताना चाह रहा हूँ कि प्रकृति-माता हमारे अधिकांश भूतकाल को विस्मृत करा देती हैं, ताकि हम नये विचारों, नयी आकांक्षाओं और नयी आशाओं के साथ अपने जीवन में एक नये अध्याय का प्रारम्भ कर सकें।

क्या पूर्वजन्मों की स्मृतियों को पुनर्जागृत करना सम्भव है? लोग अपने भूत और भविष्य के बारे में बहुत उत्सुक होते हैं। इसीलिए भारत में और विशेषकर पाश्चात्य-देशों में ज्योतिष, हस्तरेखा-विशेषज्ञ, स्फटिक दर्शक, मन को पढ़ने वाले परचित्त-ज्ञानियों की भरमार है। शायद लोगों को भगवान् के बदले इन बातों में अधिक विश्वास है। मुझे एक कहानी याद आ गयी। एक लड़की एक परचित्त-ज्ञानी के पास गयी। वह अपने समग्र पूर्व

---

१५. जेम्स बिसेट प्राट, इण्डिया ॲण्ड इट्स फेथ्स (न्यूयॉर्क हॉगटन मिफलिन कं., १९१५), पेज ११४-१५

संस्कारों को पढ़वाना चाहती थी। और परचित्त-पठन करने वाले व्यक्ति ने कहा : "महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मैं सौ डालर लेता हूँ। दूसरों से पचास या पच्चीस डालर। लेकिन तुम्हारे मन को पढ़ने के लिए पाँच डालर ही काफी हैं।" उसका मन किस प्रकार का था?

पूर्ण-विकसित और परिपक्व मस्तिष्क वालों को नीम-हकीमों की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वयं सत्य का अनुसन्धान करना चाहते हैं। योग-साधना के द्वारा अपने पूर्व-जन्मों की स्मृति को पुनः पाया जा सकता है। महान् योगाचार्य पतञ्जलि का कथन है : "अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।"[१६] अर्थात अपरिग्रह में स्थिरता या प्रतिष्ठा होने पर योगी के पूर्व जन्म क्यों और कैसे हुए, यह ज्ञान होता है, तथा "संस्कारसाक्षात्कारणात् पूर्वजाति-ज्ञानम्"[१७] अर्थात् स्वयं के मन के संस्कारों के साक्षात्कार से योगी को पूर्व-जन्मों का ज्ञान होता है। पूर्व-जन्मों की स्मृति को पुनर्जीवित किया जा सकता है, लेकिन इसके बारे में कुतूहली न होना ही अच्छा है।

शुद्ध मन के द्वारा अपनी प्रवृत्तियों पर ध्यान करने से हमें भूतकाल की कम से कम एक झलक प्राप्त हो सकती है; जो हमें हमारी वर्तमान स्थिति को समझाने तथा भविष्य के लिए अपने को प्रशिक्षित करने में सहायक हो सकती है। विश्व के कुछ महान्तम आचार्य अपने पूर्व जन्मों के बारे में जानते थे और उसके बारे में उन्होंने अपने शिष्यों को कहा था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था : मेरे बहुत-से जन्म हुए हैं और तुम्हारे भी। मैं उन्हें जानता हूँ लेकिन तुम नहीं जानते।[१८] ईसा मसीह ने कहा है : अब्राहम के पहले मैं था।[१९] भगवद् अवतार इस तरह कहते हैं। वे अनन्त-चैतन्य से युक्त हो जन्म-ग्रहण करते हैं, जिसके कारण वे भूतकाल को जान पाते हैं। इसीलिए वे इस जीवन-नाटक में अपनी भूमिका इतनी अच्छी तरह निभा पाते हैं।

बुद्ध ने कभी ईश्वरावतार होने का दावा नहीं किया, लेकिन बाद में उनके अनुयायी उन्हें अवतार मानने लगे। फिर भी उन्होंने जन्मों की एक शृंखला से, विभिन्न प्रकार की शुद्धिकरण की प्रक्रिया में से स्वयं के गुजरने की तथा अन्त में निर्वाण अथवा चरम-ज्ञान प्राप्ति की बात कही है।

वे एक राजपुत्र थे और उन्होंने सत्य के लिए संसार-त्याग किया था। ज्ञान लाभ के बाद वे अपने अनुभव को सबके साथ बाँटना चाहते थे। भिक्षा-पात्र हाथ में ले वे एक घर से दूसरे घर गए। यह देख कर उनके सम्राट-पिता मर्माहत हुए और पुत्र को उलाहना देते हुए बोले, "हमारे महान् कुल के सदस्य होकर तुम्हें दर-दर भिक्षा नहीं माँगना चाहिए।" लेकिन बुद्ध को उनके मार्ग से विचलित नहीं किया जा सका। उन्होंने उत्तर दिया, "राजन्! तुम राजाओं के वंशज होने का दावा करते हो, लेकिन मेरी वंश-परम्परा बहुत भिन्न है। मैं बुद्धों के वंश

---

१६. पातंजल योग सूत्र २.३९ १७. पातंजल योग सूत्र ३.१८
१८. भगवद्गीता - ४.५ १९. बाइबिल, संत जॉन, ८.५८

में जन्मा हूँ और उन्होंने जिस प्रकार उदार लोगों से भिक्षा द्वारा अन्न प्राप्त किया था, वही मैं भी कर रहा हूँ। और इससे भिन्न नहीं हो सकता।" उनका मनोभाव सामान्य लोगों से भिन्न था। हम न जाने कितनी-बार वंश-वृक्ष को इतना महत्त्व देते हैं, और यह भूल जाते हैं कि आत्मा किसी भी वंश-वृक्ष से पुरातन है।

अन्य सैमाइट-धर्मों की तरह इस्लाम भी पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता। लेकिन फारस में फैलाने पर उसका सम्पर्क अन्य विचारधाराओं के साथ हुआ और इसके फल स्वरूप सूफ़ी-धर्म नामक एक अपरोक्षानुभूति-वादी आन्दोलन का जन्म हुआ। जलालुद्दीन रूमी महान्तम सूफ़ी रहस्यवादियों में से एक थे, जिन्होंने अपनी एक कविता में लिखा है :

खनिज रूप से मरकर मैं वनस्पति बना,
वनस्पति रूप से मरकर पशु बना,
पशु रूप से मरने पर हुआ मानव।
मैं क्यों डरूँ? मृत्यु से मुझमें क्या कमी हुई?
पर एक बार और मानव के रूप में मरूँगा,
फरिश्तों के साथ उठने को।
लेकिन फरिश्तों के रूप के भी आगे जाना होगा,
ईश्वर के अतिरिक्त सब नश्वर है।
फरिश्ते का रूप त्यागने पर, मैं वह बनूँगा,
जिसे मन कभी जान नहीं सकता।
ओह! मैं जीना नहीं चाहता, क्योंकि अस्तित्वहीनता
का महान् उद्घोष है : "हम उसके पास लौट जाएँगे।"[२०]

रामकृष्ण और विवेकानन्द के जीवन से प्रमाण :

श्रीरामकृष्ण ने एक बार कहा था : "मैंने देखा – गिलाफ़ (देह को) छोड़कर सच्चिदानन्द बाहर हो आया; निकलकर उसने कहा, हर एक युग में मैं ही अवतार कहलाता हूँ।"[२१] उनकी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उनके महान्तम शिष्य विवेकानन्द उनके निकट थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को यह कहते हुए सुना था, कि परमात्मा उनके भीतर आविर्भूत हुए हैं। लेकिन विवेकानन्द किसी बात को बिना परखे मानने वाले नहीं थे। एक विचित्र विचार उनके मन में उठा : "यदि इस समय, जब शरीरपात् होने वाला है, मैं इनसे सुनूँ कि वे ईशावतार हैं, तभी मैं विश्वास करूँगा कि वे अवतार हैं।" इस विचार का मन में उठना था, कि श्रीरामकृष्ण उनकी ओर मुड़कर स्पष्ट शब्दों में बोले : "अभी भी अविश्वास? जो राम था,

---

२०. जलालुदीन-रूमी, द मिस्टिक्स आफ इस्लाम, (लंदन. रोलेज एण्ड केगन पाल. १९६३) में आर. ए. निकल्सन द्वारा उद्धृत. पृ. १६८

२१. श्रीरामकृष्ण वचनामृत –३, नवम संस्करण, पृ. ५५

जो कृष्ण था, उसीने अब इस देह में रामकृष्ण के रूप में जन्म ग्रहण किया है।" श्रीरामकृष्ण के शब्दों पर, इससे पहले अविश्वास करने के कारण विवेकानन्द बड़े शर्मिन्दा हुए।

जब विवेकानन्द सर्वप्रथम श्रीरामकृष्ण के पास आए थे, तब उनका नाम नरेन्द्रनाथ था। वे कॉलेज के एक प्रतिभावान् सुसंस्कृत विद्यार्थी थे। श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था : "मैं जानता हूँ कि तुम एक पुरातन ऋषि हो, जिसने मानव-जाति का दुःख दूर करने के लिए पृथ्वी पर जन्म ग्रहण किया है।" युवक नरेन्द्र ने सोचा, "मेरे पिता कलकत्ता में रहते हैं, मैं जानता हूँ, मैं अमुक हूँ, और फिर भी ये कहते हैं, कि मैं पुरातन ऋषि हूँ।" उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला, कि श्रीरामकृष्ण पागल हैं। लेकिन अगली बार जब नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण के पास आए, तो श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बाह्य-चेतना रहित एक आध्यात्मिक भावावस्था में पहुँचा दिया और अपने शिष्य के बारे में आवश्यक जानकारी प्राप्त की। इसके बारे में उन्होंने बाद में बताया : "मैंने उसकी पूर्वकथा और ठौर-ठिकाने के सम्बन्ध में, इस संसार में उसके जीवनोद्देश्य तथा लौकिक जीवनकाल के बारे में पूछा। उसने अपनी गहराई में पैठकर उचित उत्तर दिए। उन उत्तरों से मैंने उसके बारे में जो देखा और अनुभव किया था, उसकी पुष्टि हुई। ये बातें गोपनीय हैं। लेकिन मुझे यह पता चला है, कि वह एक ब्रह्मज्ञ तथा ध्यान-सिद्ध ऋषि है, तथा जिस दिन वह अपना स्वरूप पहचानेगा उसी दिन वह योगावस्था में अपने शरीर को त्याग देगा।"

विवेकानन्द ने जगत्-कल्याण के लिए तीव्र कर्मठ-जीवन व्यतीत किया। वह जीवन इतना तीव्र था कि उनकी देह उसे सहन नहीं कर सकी। वे चालीस वर्ष पूरे करने से पहले ही मर गए। मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व उनके कुछ गुरुभाईयों ने उनसे सहज भाव से पूछा था, "क्या तुम अब तक यह जान पाए हो, कि तुम कौन हो?" उन्होंने गम्भीर होकर उत्तर दिया, "हाँ मैं जानता हूँ।" एक गहरी निस्तब्धता छा गई, जिसे उनके गुरुभाई भंग करने का साहस नहीं कर सके।

कुछ दिनों बाद और मृत्यु के केवल तीन दिन पूर्व स्वामीजी ने गंगा के तट पर मठ के निकट एक स्थान को बता कर कहा : "जब मैं देह त्याग करूँ, तो उसे उस स्थान पर जलाना।" श्रीरामकृष्ण का गंगातट पर जिस स्थान पर दाह-संस्कार किया गया था, उसके सामने ठीक दूसरे तट पर वह स्थान था।

स्वामीजी ने अनेक गुरुभाईयों को संकेत दिया था, "मैं अपनी मृत्यु की तैयारी कर रहा हूँ।" मृत्यु के दिन उन्होंने तीन घण्टे तक एकान्त में देवालय में ध्यान किया। उसके बाद उन्होंने शिष्यों से बातचीत करते हुए तथा रोचक कहानियों के माध्यम से अपनी बातें समझाते हुए संस्कृत की एक क्लास ली। बाद में वे दूर तक टहलने गए और लौटने पर संन्यासियों के साथ कुछ देर तक बातचीत की। सन्ध्या के आगमन पर स्वामीजी का मन अधिकाधिक अन्तर्मुखी होने लगा। वे अपने कमरे में चले गए और गंगा की ओर मुँह करके

ध्यान करने लगे। उन्होंने कह रखा था कि उनके पास कोई न जाए। एक घण्टे बाद उन्होंने मठ के एक सदस्य को बुलाया और पंखा झलने को कहा। फिर वे अपने बिस्तर पर लेट गए। उनके हाथ में थोड़ा कम्पन हुआ और उनकी साँस गहरी हो गई। उनके नेत्र स्थिर हो गए और चेहरे पर दिव्य छटा छा गई। फिर सब कुछ समाप्त हो गया। आत्मा ने देह को त्याग दिया। क्या वह मृत्यु थी?

संस्कृत में इसे मृत्यु नहीं, बल्कि महासमाधि कहा जाता है। साधारण समाधि से जीव इन्द्रियगम्य जगत् में लौट आता है, लेकिन महासमाधि में अतिचेतन अवस्था की प्राप्ति होने के कारण जीव को देह की और अधिक आवश्यकता नहीं रहती और वह छूट जाती है। भौतिक दृष्टि से यह मृत्यु-सी दिखाई देती है, लेकिन वस्तुतः आत्मा अतिचेतन स्थिति में विचरण के लिए मुक्त हो जाती है।

स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि के समय उनके गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द, जिनका नाम, संन्यास के पहले शशि था, महान् आचार्य का कार्य मद्रास में कर रहे थे। स्वामीजी की मृत्यु के कुछ समय बाद जब स्वामी रामकृष्णानन्द ध्यान में बैठे थे, तो उन्होंने किसी को यह कहते सुना: "शशि, शशि। मैंने देह को त्याग दिया है।"[२२] वह एक परिचित आवाज थी और उन्होंने उसे विवेकानन्द की वाणी पहचान लिया।

श्रीरामकृष्ण राखाल को (जो आगे चलकर स्वामी ब्रह्मानन्द हुए) वृन्दावन का एक ग्वालबाल कहा करते थे। एक बार उन्हें एक अलौकिक दर्शन हुआ जिसमें उन्होंने एक शतदल पद्म को देखा, जिसकी प्रत्येक पंखुड़ी अद्भुत सौन्दर्य से जगमगा रही थी। उस पर दो बालक चरणों में नूपुर पहने नृत्य कर रहे थे। उनमें से एक श्रीकृष्ण स्वयं थे और दूसरे राखाल थे।[२३] स्वामी विवेकानन्द की तरह स्वामी ब्रह्मानन्द के विषय में भी श्रीरामकृष्ण के इस दर्शन की सत्यता बाद में प्रमाणित हुई थी। मृत्यु शैय्या पर स्वामी ब्रह्मानन्द को एक अलौकिक दर्शन हुआ, जिसमें उन्होंने अतुलनीय सौन्दर्ययुक्त बालकृष्ण को देखा, जो उन्हें उनके साथ नृत्य करने के लिए कह रहे हैं। दिव्य भावावस्था में स्वामी ब्रह्मानन्द चिल्ला उठे : "मैं ब्रज का ग्वाल बाल हूँ, मेरे पैरों में नुपूर पहना दो, मैं कृष्ण के साथ नृत्य करना चाहता हूँ ... क्या तुम उन्हें नहीं देख रहे हो? क्या देखने के लिए तुम्हारे पास नेत्र नहीं हैं? अब मेरा खेल समाप्त हुआ। देखो, बालकृष्ण मुझे सहला रहे हैं। वे मुझे अपने साथ आने के लिए बुला रहे हैं। मैं जा रहा हूँ"[२४]

हम सभी अमर हैं लेकिन जानते नहीं :

यह पूछा जा सकता है : "यह भले ही मान लें कि कुछ अत्यधिक सिद्ध महापुरुष इस

---

२२. द स्टोरी आफ डेडिकेटेड लाईफ, पृ. १३९
२३. देखिए स्वामी प्रभवानन्दकृत द इटरनल कम्पेनिऑन, पृ. २०
२४. देखिए स्वामी प्रभवानन्दकृत द इटरनल कम्पेनिऑन पृ. १३७

संसार में जन्म के पूर्व भी विद्यमान थे, तो भी हम सामान्य मानवों की क्या गति है?" वेदान्त का उत्तर यह है कि हममें से प्रत्येक की आत्मा (बिना किसी अपवाद के) जन्म-मृत्यु से परे है, लेकिन अज्ञान वश वासनाओं की पूर्ति के लिए वह देह के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है। अज्ञानी में जीवन के अन्त में देह नष्ट हो जाती है, किन्तु आत्मा पुनः-पुनः अन्य देहों में उस समय तक प्रविष्ट होती रहती है, जब तक जन्म-मरण के चक्कर से परे ले जाने वाले ज्ञान के अग्रदूत, वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती।

हमारे आचार्य-गण कहते हैं कि मानव जन्म एक दुर्लभ सौभाग्य है। इसमें हमें उच्चतम पूर्णता और सत्य का साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त है। क्योंकि ईश्वरावतार और महान् ब्रह्मज्ञानी आचार्यगण ही नहीं, बल्कि हम सामान्य मानव भी उसी एक परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अभिव्यक्तियों में अन्तर है, लेकिन परमात्म सत्ता (सबमें) एक ही है। सागर, लहरों और बुदबुदों के दृष्टान्त द्वारा इसे समझाया जाता है। तीनों में एक ही पदार्थ है, केवल अभिव्यक्ति में अन्तर है। स्वामी विवेकानन्द ने पुनः-पुनः घोषणा की है : प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।[२५]

अन्यत्र स्वामी विवेकानन्द इस अन्तर्निहित देवत्व के बारे में कहते हैं :

... हममें ऐसी कोई वस्तु है, जो मुक्त और नित्य है। परन्तु वह वस्तु देह नहीं है और न वह मन ही है। देह का नाश तो प्रतिक्षण होता रहता है और मन सदा बदलता रहता है। देह तो एक संघात है और मन भी। इसी कारण वे परिवर्तनशीलता के परे नहीं पहुँच सकते। परन्तु स्थूल जड़ तत्त्व के इस क्षणिक आवरण के परे और मन के भी सूक्ष्मतर आवरण के परे मनुष्य का सच्चा स्वरूप नित्य, मुक्त, सनातन आत्मा अवस्थित है। उसी आत्मा की मुक्ति जड़ और चेतन के स्तरों में व्याप्त है, और नाम रूप द्वारा रञ्जित होते हुए भी सदा अपने अबाधित अस्तित्व को प्रमाणित करती है। उसी का अमरत्व, उसी का आनन्द-स्वरूप, उसी की शान्ति और उसी का दिव्यत्व प्रकाशित हो रहा है। और अज्ञान के मोटे से मोटे स्तरों के रहते हुए भी वह अपने अस्तित्व का अनुभव कराती रहती है। वही यथार्थ पुरुष है, जो निर्भय है, अमर है और मुक्त है। ... यह पुरुष, यह आत्मा, मनुष्य का यथार्थ स्वरूप, मुक्त, अव्यय, अविनाशी, सभी बन्धनों से परे है और इसीलिए वह न तो जन्म लेता है, न मरता है। मनुष्य की यह आत्मा नित्य, सनातन और जन्म-मरण रहित है।[२६]

श्रद्धा, भक्ति और ध्यान द्वारा इस आत्मा का साक्षात्कार करना है। यह आत्मा हमारे जीव में तथा अन्य सभी के जीवों में प्रकाशित हो रही है। हम सभी उसीके प्रकाश को प्रतिबिम्बित करते हैं। वही एक अनन्त आत्मा सभी जीवों के माध्यम से व्यक्त हो रही है। व्यष्टि आत्मा का परमात्मा के अंश के रूप में साक्षात्कार करना आत्म-ज्ञान कहलाता है। इसका लाभ होने पर अज्ञान और समस्त वासनाओं का, यहाँ तक कि उनके सूक्ष्मतम-रूपों

---

२५. विवेकानन्द साहित्य –१ पृ. ३४ २६. विवेकानन्द साहित्य –९, पृ. २३१-३२

का भी नाश हो जाता है। अतः हमें ज्ञानियों के पदचिह्नों का अनुसरण करना, अपने अन्तर्निहित दिव्य-स्वरूप का साक्षात्कार करना तथा जन्म-मृत्यु के रहस्य का उद्घाटन करना चाहिए। यह भी सम्भव है, कि आत्म-साक्षात्कार के बाद, इस ईश्वरीय ज्ञान, इस आध्यात्मिक-चेतना, इस मानव में ईश्वरत्व के साक्षात्कार में दूसरे की सहायता करने के लिए हमें इस संसार में पुनः आने का अवसर मिले।

□□□

अध्याय ४

ईश्वर विषयक विभिन्न धारणाएँ

अनन्त की खोज

मानव सभ्यता के आदिकाल से मानव ब्रह्माण्ड के रहस्यों को समझने का प्रयत्न करता दिखाई देता है। एक ओर वह प्रकृति का, उसके पेचीदा क्षेत्रों और नाना प्रकार के प्राणियों सहित, अध्ययन करने का प्रयत्न करता रहा है। दूसरी ओर वह जगत् की उत्पत्ति का कारण जानने का प्रयत्न करता रहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रारम्भ मानव-मन में उठ रहे इन्हीं अनादि प्रश्नों से होता है :

ब्रह्मविद् (ब्रह्म के विषय में अनुसन्धान करने वाले) पूछते हैं : (जगत् का) कारण क्या है? (क्या वह) ब्रह्म है? हम कहाँ से पैदा हुए? हम जीवित क्यों हैं? हमारी प्रतिष्ठा किसमें है? हमारा परम-धाम क्या है? हमारा अधिष्ठाता कौन है? जिसके शासनानुसार हम ब्रह्मविद्-गण सुख अथवा दुःख का भोग करते हैं?[१]

दूसरे श्लोक में परस्पर प्रश्नकर्ता ये ऋषि, जगत् के सम्भावित कारण पर विचार करते हैं। वे काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, जड़-पदार्थ, शक्ति, मन, अहंकार पर विचार करते हैं, लेकिन वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि इनमें से कोई भी, अथवा इनका संयोग जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वे सभी अन्य किसी पर आश्रित हैं।[२] यह जानकर कि इन मूल प्रश्नों का उत्तर केवल तर्क द्वारा पाना सम्भव नहीं है, ये ऋषि तब ध्यान की साधना करते हैं। ध्यान की गहराई में वे "ब्रह्म" नामक उस अपरिवर्तनशील अक्षर सत्ता का साक्षात्कार करते हैं, जो समस्त प्राणियों में स्व-प्रकाश शक्ति के रूप में विद्यमान् है तथा जो काल से लेकर अहंकार तक सभी का अधिष्ठाता है।[३]

इस परम-सत्ता का स्वरूप क्या है? वैदिक-काल के भी प्रारम्भ में हम हिन्दू-ऋषियों को इस विषय पर विचार करते पाते हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है :

तब न सत् था, न असत्, न यह जगत् था,
न था अन्तरिक्ष और उसके परे कुछ।
किसने कहाँ किसे आवृत किया, किसने दिया आश्रय,

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद १.१ २. श्वेताश्वतर उपनिषद १.२ ३. श्वेताश्वतर उपनिषद १.३

क्या गहन गम्भीर जल था तब?
तब न मृत्यु थी और न अमरत्व, न दिवा-रात्रि-ज्ञान,
वायु बिना ही की थी क्रिया,
ब्रह्म ने स्व-माया के साथ, जो अभिन्न एक था।
तम, तम से आवृत था पहले, अव्यक्त था सब कुछ,
अज्ञात और अव्यक्त जो था, वही तपस्या द्वारा व्यक्त हुआ था।

– (ऋग्वेद १० : १२९-१-३)

ऊपर उद्धृत श्लोक सृष्टि के पूर्व ब्रह्म के अद्वैत-स्वरूप का वर्णन करते हैं। शुद्ध, असीम-सत्ता की धारणा भी अद्वैत को सीमित करती है। इसीलिए बाद में उपनिषदों में हम चरम-सत्ता का वर्णन "नेति-नेति" से पाते हैं।

सांख्य नामक दूसरी दर्शन-प्रणाली में सत्य की दूसरी मान्यता है। सांख्य हिन्दू-दर्शन की अति-प्राचीन, संभवत: सबसे प्राचीन प्रणाली है। उसका प्रभाव अन्य सभी दर्शनों पर पड़ा है। उसके मनोविज्ञान को हिन्दू धर्म की लगभग सभी शाखाओं ने स्वीकार किया है। पुरुष और प्रकृति सांख्य के दो मूल-तत्त्व हैं। पुरुष चैतन्य है और प्रकृति मन और इन्द्रियों सहित सभी जड़-पदार्थों की आदि-कारण है। जितने प्राणी हैं, उतने ही पुरुष हैं। वेदान्त का जीव और सांख्य का पुरुष समानार्थक हैं। दोनों ही दर्शन-प्रणालियों के अनुसार आत्मा स्वरूपत: शुद्ध, चैतन्य, अनन्त और नित्य है, लेकिन अज्ञानवश मन और देह के साथ तादात्म्य स्थापित कर बारम्बार प्राणी के रूप में जन्म ग्रहण करती है। 'अद्वैत' वेदान्त में सार्वभौमिक अज्ञान या माया की धारणा है, जो सांख्य की 'प्रकृति' से मिलती-जुलती है। दोनों ही दर्शनों में आत्म-अनात्म विवेक जन्य ज्ञान को जीव की बन्धनों से मुक्ति का एकमात्र उपाय माना गया है। ये बातें सांख्य और वेदान्त में समान हैं।

लेकिन वेदान्त में ब्रह्म नामक चरम-सत्ता की धारणा है, जो अनन्त सच्चिदानन्द-स्वरूप है तथा जीव तथा स्थूल पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होता है। सांख्य में ईश्वर अथवा परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं है, जैसा कि वेदान्त में है। सभी जीव एक प्रकार के हैं। योग और सांख्य में, जहाँ कहीं ईश्वर का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसे केवल नित्य-मुक्त, गुरुओं के भी गुरु, पुरुष-विशेष कहा गया है। लेकिन वह जगत्-स्रष्टा नहीं है। पतञ्जलि का कथन है कि ईश्वर के प्रति भक्ति और समर्पण से शीघ्र समाधि-लाभ हो सकता है। सृष्टि और प्रलय प्रकृति में निरन्तर होते रहते हैं। वेदान्त के अनुसार जगत्-स्रष्टा ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ परम-नियन्ता ईश्वर से निम्न-कोटि का है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार असीम-अनन्त के सम्बन्ध में मानव की उच्चतम धारणा ही ईश्वर है।

वेदान्त की एक और विशेषता विष्णु, शिव या देवी जैसे देवताओं को चरम-देवत्व अथवा परमेश्वरत्व प्रदान करना है। अवतारों को भी प्राय: ईश्वर का स्थान दिया गया है। श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण का ईश्वर के एक अवतार के रूप में वर्णन नहीं किया गया, अपितु

वे स्वयं भगवान् हैं, ऐसा कहा गया है। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'[४]। अतः देवताओं और ऋषियों द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति में कहा गया है :

यह पुरुष आपसे शक्ति प्राप्त करके अमोघ-वीर्य हो जाता है और फिर माया के साथ संयुक्त होकर विश्व के महत्तत्त्वरूप गर्भ का स्थापन करता है। इसके बाद वह महत्तत्त्व त्रिगुणमयी माया का अनुसरण करके इस बहुत सी पर्तों वाले सुवर्ण-वर्ण ब्रह्माण्ड की रचना करता है।[५]

भगवद्गीता में भी अवतार को परमेश्वर के समकक्ष बताया गया है :

इस संसार में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं। समस्त प्राणी क्षर हैं और कूटस्थ (शंकराचार्य के अनुसार माया या मूल अविद्या) अक्षर कहलाता है। लेकिन एक उत्तम पुरुष है, जो अव्यय परमात्मा कहलाता है, जो तीनों लोकों को व्याप्त कर धारण करता है। क्योंकि मैं क्षर के भी अतीत हूँ और अक्षर के भी ऊपर हूँ अतः मैं लोक तथा वेदों में पुरुषोतम के रूप से प्रख्यात हूँ।[६]

आध्यात्मिक जीवन में सगुण ईश्वर का स्थान :

ईश्वर के किसी साकार रूप-विशेष में भक्त असीम और ससीम के बीच की कड़ी पाता हैं। सर्वप्रथम वह उस सगुण-व्यक्तित्व के अलौकिक माधुर्य से आकृष्ट होता है, और बाद में उसके माध्यम से निराकार का साक्षात्कार करता है।

हमें अपनी भावनाओं को केन्द्रित करने के लिए कुछ चाहिए, और यदि हम किसी दैवी-रूप, किसी दिव्य-व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का अनुभव न करें, तो हम स्वाभाविक रूप से किसी मानवी पुतले में आसक्त हो जाते हैं। लेकिन इन दैवी-महापुरुषों के मानवी पक्ष से सर्वप्रथम हम भले ही मोहित हों, पर बाद में हम उनमें परमात्मा को पाते हैं। यही अवतार-उपासना की उपयोगिता है। भवन-निर्माण के लिए एक प्रतिकृति की आवश्यकता होती है। इन देव-मानवों के देह और मन शीशे की पेटी के समान हैं, जिसके भीतर से परमात्मा प्रकाशित होता है, जब कि हमारे देह और मन अधिक से अधिक लोहे की पेटी के समान हैं। हमारा कार्य लोहे की पेटी को शीशे की पेटी में परिवर्तित करना है। अपने अतिमानवीय आध्यात्मिक-प्रयास द्वारा देव मानवों ने हमें लोहे की पेटी को शीशे की पेटी में रूपान्तरित करने का उपाय बताया है। इन देव-मानवों को भी नियमित साधना और संस्कार द्वारा अपने देह और मन को निर्दोष बनाना पड़ा था। उन्हें भी अपने (साधना के) यन्त्रों को उत्कृष्ट और दक्ष बनाना पड़ा था। पुराणों में प्राप्त इन देव-मानवों के वर्णन में हमें व्यक्तित्व और परमात्म-सत्ता का, मानवी और दैवी-गुणों का अद्भुत सम्मिश्रण दिखाई देता है। उनमें चेतन के माध्यम से अतिचेतन अभिव्यक्त होता है। और यदि हम उनके मानवी पक्ष से आकृष्ट हुए हों, तो यथा समय हम उनके दैवी-पक्ष के सम्पर्क में भी आ जाएँगें।

पक्के अद्वैतवादी भी हमारे सम्मुख ऐसे विचारों को प्रस्तुत कर सकते हैं, जो हमारी

४. श्रीमद्भागवत् १.३.२८ ५. श्रीमद्भागवत ११.६.१६ ६. भगवद्गीता १५.१६-१८

वर्तमान मन:स्थिति में समझे और स्वीकारे जाने योग्य हों। वे हमारा हाथ पकड़ कर हमें उच्च से उच्चतर सत्य तक ले जाने के लिए तैयार हैं। मूर्तिपूजा एक अनिवार्य अवस्था है, लेकिन लोगों को इससे ऊपर उठना चाहिए। और यदि लोग अपनी भावनाओं और संवेगों को केन्द्रित करने के लिए किसी ईश्वरीय-विग्रह को न चुनें, तो वे किसी बीभत्स मानवी पुतले को, किसी स्त्री-पुतली अथवा पुरुष-पुतले को चुनेंगे और उसकी आराधना कर उसके दास बन जाएँगे।

कौन-सी प्रतिमा बेहतर है? रक्त मांस की साधारण प्रतिमा या उच्चतर आदर्श का प्रतिपादन करने वाली दैवी प्रतिमा? मानव-प्रतिमा में उच्च-आदर्श नहीं पाया जाता और यदि तुम निराकार का चिन्तन करने का प्रयत्न करो, तो वह मन से अगम्य तो बना ही रहता है। साथ ही मानव पुतले – पुरुष पुतले या स्त्री पुतलियाँ हमारा सारा ध्यान आकर्षित कर लेते हैं, हमारे लिए मुख्य रूप से सत्य हो उठते हैं और आगे की सारी बातें अनिवार्य रूप से होने लगती हैं।

जिस मात्रा में हम स्वयं में परमात्मा को हमारे (इस तथाकथित) व्यक्तित्व से भिन्न, हमारे इस पुरुष अथवा स्त्री-रूप से पृथक् सोचने में समर्थ होंगे, उसी मात्रा में हम दूसरों में परमात्मा को उनके व्यक्तित्व से उनकी आकृति से पृथक् सोचने में समर्थ होगें। और तब हम सुरक्षित होगें। तब हम किसी स्त्री अथवा पुरुष पुतले के गुलाम नहीं होंगे।

मानव जिस परमात्मा को खोज रहा है, उसके स्वरूप की धारणा, मानव की अपनी धारणा के विकास पर निर्भर करती है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं : "भक्त तीन श्रेणी के होते हैं। अधम, मध्यम और उत्तम। अधम भक्त कहता है, "वे हैं ईश्वर" और ऐसा कहकर आकाश की ओर उँगली उठा देता है। मध्यम भक्त कहता है, "वे हृदय में अन्तर्यामी के रूप में विराजमान हैं।" उत्तम भक्त कहता हैं, "वे ही यह सब हुए हैं। जो कुछ मैं देख रहा हूँ, सब उन्हीं के एक-एक रूप हैं।"[७]

आगे वे ईश्वर के सगुण और निर्गुण-निराकार रूपों का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए कहते हैं : "मानो वे सच्चिदानन्द समुद्र हैं, जिसका कोई ओर-छोर नहीं। भक्ति के हिम से जगह-जगह जल बर्फ हो जाता है – बर्फ की तरह जम जाता है। अर्थात् भक्तों के पास वे व्यक्त भाव से कभी-कभी साकार-रूप धारण करते हैं। ज्ञान-सूर्य का उदय होने पर वह बर्फ गल जाती है। तब ईश्वर के व्यक्तित्व का बोध नहीं रह जाता, उनका रूप भी नहीं दिखाई देता।"[८]

पुरातन भारत में ईश्वर की धारणाओं का विकास :

हिन्दू-शास्त्रों का अध्ययन करने पर हम ईश्वर की विभिन्न धारणाएँ प्राप्त करते हैं। कुछ भक्त उन्हें सगुण और साकार मानते हैं। वे उनके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना

७. श्रीरामकृष्ण वचनामृत –२, नवम् संस्करण पृ. ४६
८. श्रीरामकृष्ण वचनामृत –१, नवम् संस्करण, पृ. १५४

चाहते हैं। अन्य लोग उन्हें अनन्त-ज्ञान, शक्ति और गुण सम्पन्न कहते हैं तथा निराकार होते हुए भी विभिन्न रूप धारण करने वाला मानते हैं। वे ईश्वर के साकार रूप को स्वीकार करते हुए भी उसके निराकार पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं, साकार रूप जिसकी अभिव्यक्ति है।

साधना की प्रारम्भिक अवस्थाओं में अधिकांश भक्त भगवान के साथ मानवी-रूप और भावनाएँ संयोजित किए बिना तथा उन्हें स्वयं से बाहर सोचे बिना नहीं रह सकते। कभी-कभी यह पाया जाता है, कि सच्ची-भक्ति द्वारा चित्त शुद्धि होने के कारण भक्त उसी परमात्मा का दर्शन अपने भीतर करने लगता है, जिसकी वह अब तक बाह्य वस्तु के रूप में उपासना करता रहा था। तब वह ईश्वर का अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में, ''कर्ण के कर्ण, मन के मन, प्राणों के प्राण''[९] के रूप में साक्षात्कार करता है। इसके बाद वह परमात्मा की अनुभूति उस देव के रूप में प्राप्त करता है, जो अग्नि में है, जो जल में है, जो पौधों में है, जो वृक्षों में है, जो समस्त जगत् में व्याप्त है तथा जिसने स्त्री, पुरुष, युवक, युवती, लाठी टेककर चलते वृद्ध का रूप धारण किया है, तथा जो नाना रूपों में जन्म लेता है।[१०] अब उसके लिए परमात्मा समस्त प्राणियों और वस्तुओं में व्याप्त-सत्ता हो जाते हैं। वे देवाधिदेव ही नहीं हैं, बल्कि समस्त प्राणियों की सत्य-आत्मा और विश्व के प्राण भी हैं। और अधिक प्रगति करने पर वह ऋषि परमात्मा का जगदातीत सत्ता, अवाङ्मनसगोचर[११] तथा अदृष्ट, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य (वर्णनातीत) एकात्म-प्रत्यय-सार, एकात्म-चैतन्य स्वरूप, शान्त, परम-शिव और अद्वितीय[१२] के रूप में साक्षात्कार करता है।

वैदिक ऋषि वज्रपाणि, वृष्टिदाता इन्द्र की; सूर्य के अधिष्ठाता देवता मित्र की; अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले, उपासक के पाप-नाशक वरुण की, तथा पिता, बन्धु, मित्र तथा सुहृद् कहलाने वाले अग्नि की उपासना करते थे।[१३] सूर्य-देवता सवितृ का जो संसार में जीवन और प्राण का संचार करता है, भक्तों की बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करने के लिए आह्वान किया जाता था।[१४] यह उल्लेखनीय बात है, कि आध्यात्मिक-चेतना की उस प्रारम्भिक अवस्था में कुछ वैदिक ऋषि प्रत्येक प्रक्रिया के पीछे एक अन्तर्यामी ईश्वरीय-सत्ता को पहचान सके थे। और उनकी बहुदेववादी प्रतीत होने वाली धारणाओं के पार्श्व में एक गहरा एकेश्वरवाद विद्यमान् था, क्योंकि प्रत्येक देवता के आह्वान और आराधना, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और यहाँ तक कि सर्वव्यापी के रूप में किये गये हैं। यह बात उस प्रसिद्ध स्तुति में स्पष्ट रूप से कही गई है जो घोषणा करती है : एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं, यमं मातरिश्वानमाहुः।[१५] अर्थात् एक ही सत्य को विप्रगण अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नाना नामों से पुकारते हैं।

---

९. केनोपनिषद् १.२ १०. श्वेताश्वतर उपनिषद् २.१७; ४.३
११. तैतरीय उपनिषद २.४.१; २.९.१ १२. माण्डूक्योपनिषद् ७
१३. ऋग्वेद १.१.९ १४. ऋग्वेद ३.६२.१० १५. ऋग्वेद १.१६४.४६

ऋग्वेद के काल के बाद हिन्दू धर्म में विशेषकर उपासना एवं स्तुतियों सम्बन्धित नामों और प्रतीकों के विषय में एक महान् परिवर्तन हुआ। जो नाम कभी कम महत्त्व रखते थे, वे ही नाम परवर्ती काल में प्रमुख हो गए, और देव कुल में नए नाम भी जोड़े गए। शिव, विष्णु और देवी तथा राम और कृष्ण जैसे अवतारों की उपासना परवर्ती काल में लोकप्रिय हो गई। लेकिन इन आश्चर्यजनक परिवर्तनों के बीच हिन्दू भक्त की परमेश्वर विषयक धारणा, उसकी उच्चतम आध्यात्मिक आशाएँ और आकांक्षाएँ, भगवद्-सहायता और मार्गदर्शन पाने की उसकी इच्छा और उसकी भगवद्-मिलन की लालसा अपरिवर्तित बनी रही हैं। काल के प्रवाह के बीच इस बात को अधिकतर स्पष्टता के साथ समझा गया है, कि निराकार परमात्म-सत्ता ईश्वर के सभी साकार रूपों की पृष्ठभूमि का निर्माण करती है, तथा विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से पूजे जाने वाले सभी दैवी व्यक्तित्वों और साकार-रूपों की मूल कारण हैं। वस्तुत: अद्वैत-वेदान्त के अनुसार व्यक्ति भले ही किसी भी प्रतीक को स्वीकार करें, अथवा दैवी रूप की प्रारम्भ में उपासना करें, लेकिन आध्यात्मिक-जीवन का चरम-लक्ष्य निर्गुण-निराकार, एकमेव-अद्वितीय की चरम अनुभूति प्राप्त करना ही है, जिसमें लीन होकर भक्त अनन्त के साथ एकरूप हो जाता है। उस उच्चतम अनुभूति में मानव और ईश्वर के तथा ईश्वर और जगत् के भेद लुप्त हो जाते हैं, केवल "एकमेवाद्वितीय" ही बचा रहता है।

उपर्युक्त अनुभूति पर आधारित अनेक अद्वैतपरक ध्यान-श्लोक हिन्दू धर्म में प्रचलित हैं, जिनमें अनात्म का निषेध और आत्मा का समर्थन किया गया है। शंकराचार्य अपने निर्वाण-षट्कम् में कहते हैं :

> मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं,
> न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
> न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायु-
> श्चिदानन्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहम्।।१।।
> अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो
> विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्।
> न चासंगतं नैव मुक्तिर्न मेय-
> श्चिदानन्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहम्।।६।।

अर्थात् न मैं मन हूँ, न बुद्धि, न चित्त हूँ, न अहंकार, न मैं श्रोत्र हूँ, न जिह्वा, न घ्राण हूँ, न नेत्र। न मैं व्योम हूँ, न अग्नि हूँ, न वायु और न भूमि ही। मैं चिद् आनन्दस्वरूप हूँ, मैं सर्वव्यापी शिवस्वरूप आत्मा हूँ।

मैं निर्विकल्प, निराकार, अपरिवर्तनशील, सर्वव्यापी और सर्वत्र विद्यमान हूँ, मैं सभी इन्द्रियों से असंग हूँ, न मुझमें मुक्ति है न बन्धन। मैं समस्त सापेक्ष ज्ञान से परे हूँ। मैं सर्वव्यापी आत्मस्वरूप शिव हूँ।

इस तरह का ध्यान अव्यक्त ब्रह्म-विषयक ध्यान के लिए कुछ सर्वाधिक साहसी औपनिषदिक-ऋषियों की चिन्तन-प्रणाली के अनुरूप ही है।

"अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् ... अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनो ... अनन्तरबाह्यम् ..."[१६]

"अमृतोऽदृष्टोद्रष्टा अमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता"[१७]

अर्थात् "वह न तो स्थूल है और न अणु है, न ह्रस्व, न दीर्घ है, चक्षु रहित, श्रोत्र रहित, वाग् रहित, मन रहित, अन्दर-बाहर रहित है ...। वह अमृत आत्मा देखा नहीं जा सकता, पर स्वयं द्रष्टा है, उसका मनन नहीं किया जा सकता है, पर जो स्वयं मन्ता है, जिसको जाना नहीं जा सकता, पर जो स्वयं विज्ञाता है।"

निराकार, सर्वातीत, एकमेवाद्वितीय, सत्य की इन उदात्त धारणाओं के अतिरिक्त पुरातन भारत में सर्वान्तर्यामी निर्गुण-निराकार ईश्वरीय सत्ता के बारे में धारणाओं का विकास हुआ, जो अनन्त और निराकार रहते हुए भी सान्त रूप ग्रहण करता है। यही बाद में चलकर विशिष्टाद्वैतवाद कहलाया। कई साधक ऐसे परमात्मा की उपासना करना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें ईश्वर के साकार रूप में रुचि नहीं होती। उपनिषदों में भी सृष्टि में व्याप्त परमात्मा विषयक ध्यान मन्त्र हैं :

वह (परमात्मा) नीचे है, ऊपर भी है, वह पीछे है, आगे है, दक्षिण में है, उत्तर में है, वह सर्वत्र और सर्वव्यापी है।[१८]

वह अणु से भी अणु और महत् से भी महान् है, वह आत्मा सभी प्राणियों के हृदय में विद्यमान है।[१९]

वह पृथ्वी, वायु, सूर्य, चन्द्र और तारों के भीतर ओतप्रोत रूप से विद्यमान है, वह अन्तर्यामी के रूप में सभी प्राणियों तथा सभी वस्तुओं का नियमन करता है। वह उपासक की अमर आत्मा अन्तर्यामी-नियामक है।[२०]

भक्त अपने और भगवान् के बीच के अन्तर को बनाए रखता है। वह स्वयं को आत्मा, और परमात्मा को समस्त आत्माओं की आत्मा समझता है।

परमात्मा के व्यक्त और अव्यक्त पक्ष :

लेकिन जैसा श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है : अव्यक्त में आसक्त-चित्त लोगों को अधिक कष्ट होता है, क्योंकि अव्यक्त की चरम गति प्राप्त करना देहधारी प्राणियों के लिए बहुत कठिन है।[२१] इसीलिए हिन्दू धर्म की लगभग सभी साधना पद्धतियों में व्यक्त रूप तथा प्रतीकों के माध्यम से अव्यक्त का ध्यान और उपासना सर्वाधिक लोकप्रिय साधना रही है। साधक परमात्मा को अतिमानवी सद्गुणयुक्त एक दिव्य व्यक्ति मानता है, जो उसकी पूजा

---

१६. बृहदारण्यकोपनिषद् ३.८.८
१७. बृहदारण्यकोपनिषद् ३.७.२३
१८. छान्दोग्योपनिषद ७.२५.१
१९. कठोपनिषद् १.२.२०
२०. बृहदारण्यकोपनिषद् ३.७.७
२१. भगवद्गीता १२.५

और प्रार्थनाओं का उत्तर देता है, तथा जो उसे आनन्द और पूर्णता प्राप्त करने में सहायता करता है। सत्य विषयक इस अवधारणा का संकेत हमें कुछ उपनिषदों में प्राप्त होता है।

मैं मुमुक्षु, आत्मज्ञान को प्रकाशित करने वाले देव की शरण ग्रहण करता हूँ, जिसने सर्वप्रथम ब्रह्मा की सृष्टि की तथा वेदों का ज्ञान प्रदान किया, जो निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निरञ्जन है तथा जो अमृतत्व की प्राप्ति के लिए परम सेतु सदृश तथा ईंधन को दग्ध करने वाली अग्नि के समान है। [२२]

व्यक्त अथवा साकार ईश्वर में भी पुरुषविध और अपुरुषविध रूपों का अन्तर है। इस्लाम में ईश्वर व्यक्त सगुण है, लेकिन पुरुषविध या साकार नहीं, याने ईश्वर का कोई मानवी रूप नहीं है। एक प्रमुख लेखक ने इस्लाम और यहूदी-धर्म में वर्णित ईश्वर को एन्थ्रोपोसाइकिक (Anthropopsychic) अर्थात् मानवी भावनाओं और विचारों से युक्त किन्तु अपुरुषविध बताया है। हिन्दू धर्म में ईश्वर की पुरुषविध तथा अपुरुषविध दोनों धारणाएँ पाई जाती हैं। प्रचलित हिन्दू धर्म में अनेक देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दू धर्म बहु-ईश्वर-वादी है। ईश्वर विषयक सिद्धान्त की दृष्टि से हिन्दू धर्म अन्य किसी भी धर्म की तरह एकेश्वरवादी है। लेकिन एक अन्तर है : जहाँ अन्य धर्मों में केवल एक देवता को परमेश्वर का सर्वोच्च आसन प्रदान किया गया है (जैसे यहूदी धर्म में यहोवा को), वहाँ हिन्दू धर्म में विभिन्न देवताओं को उनके अनुयायियों द्वारा यही उच्चपद प्रदान किया गया है। विष्णु-उपासक मानता है, कि नारायण परमेश्वर हैं, तथा अन्य सभी देवता उनके नीचे हैं। शिव का उपासक शिव को परमेश्वर और अन्य सभी देवताओं को निम्न देवता मानता है। उस अवधारणा को मेक्समूलर ने Henotheism या एकसत्तावाद कहा है। इसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म विभिन्न विचारधाराओं तथा धार्मिक आदर्शों को आत्मसात् करने में समर्थ हुआ है।

अन्य सभी देवताओं से श्रेष्ठतम एक परमेश्वर की धारणा हिन्दुओं की आध्यात्मिक चेतना का चिरन्तन अंग रही है। लेकिन जहाँ तक नामों का प्रश्न है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अनेक परिवर्तन हुए हैं। विष्णु और शिव जैसे नाम जो वैदिक-काल में कम महत्त्व रखते थे, परवर्ती काल में बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए, जब कि इन्द्र, मित्र, वरुण, आदि लगभग पूरी तरह विस्मृत हो गए। इसके अतिरिक्त राम और कृष्ण जैसे अवतारों की उपासना सर्वत्र प्रचलित हो गई। और इस बात को अधिकाधिक स्वीकार किया गया कि निराकार या अव्यक्त ब्रह्म सभी दैवी व्यक्तियों की पृष्ठभूमि है तथा वे सभी निर्गुण-निराकार अव्यक्त परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। कट्टरवादी अपने देवता, अवतार और पैगम्बर विशेष की श्रेष्ठता की बात भले ही करें, लेकिन विश्वजनीन-दृष्टि सम्पन्न ऋषियों ने देवताओं, देव मानवों आदि सभी व्यक्तित्वों को अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ ही माना है।

---

२२. श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.१८.१९

जिस प्रकार सागर असंख्य लहरों को पैदा करता हुआ भी सदा अनन्त और अथाह बना रहता है, उसी तरह चरम-सत्ता भी विभिन्न देवताओं को उत्पन्न करते हुए भी अविक्रिय बनी रहती है। वस्तुत: सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति सम्पन्न व्यक्तियों ने यह साक्षात्कार किया है कि व्यक्ति जिस किसी दैवी व्यक्तित्व को लेकर अपनी साधना का प्रारम्भ क्यों न करें, आध्यात्मिक-जीवन का लक्ष्य निर्गुण-निराकार एकमेवाद्वितीय की अनुभूति प्राप्त करना ही है, जिसमें उपासक और उपास्य ही नहीं, बल्कि ईश्वर, जीव और जगत् लीन होकर अखण्ड-एकरस हो जाते हैं।

देवताओं से देवाधिदेव परमेश्वर तक :

अव्यक्त भक्त की पकड़ में नहीं आ सकता और साकार उसकी बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। अत: व्यक्त-अव्यक्त, निराकार-साकार की उपासना सभी उच्चतर साधनाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। और यह बात कृष्ण या राम, शिव अथवा विष्णु, दुर्गा अथवा काली, सभी के उपासकों के लिए सत्य है।

किसी दिव्य-व्यक्तित्व अथवा अवतार की उपासना का आध्यात्मिक-जीवन में असन्दिग्ध स्थान है; वह अधिकांश भक्तों के लिए अपरिहार्य है। जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, अव्यक्त या निराकार का पथ बहुत कठिन है। इसीलिए हम अधिकांश धार्मिक पन्थों में भक्त को भगवान् के दैवी-व्यक्तित्व की उपासना करते, अपने समस्त कर्मों को उन्हें समर्पित करते, भक्तिपूर्वक एकाग्र चित्त से उनका ध्यान करते तथा उन्हें जीवन का चरम आदर्श मानकर उपासना करते पाते हैं। लेकिन सच्चा भक्त भगवान् के नराकृति-रूप की उपासना पर ही रुक नहीं जाता। वह क्रमश: अपने आराध्य दैवी-रूप को परमात्मा के गुणों की अभिव्यक्ति के रूप में देखना सीखता है। पुन: वह दैवी रूप को परमात्मा के प्रतीक के रूप में अथवा ईश्वरीय-भाव के रूप में देखता है, तथा यह ईश्वरीय-भाव पुन: उस सत्ता का प्रतीक बन जाता है, जो सभी वस्तुओं का आधार है।

शिव हिन्दू धर्म के एक प्रचलित देवता हैं। स्थूल बुद्धि उपासक उन्हें संहार के देवता, श्मशानवासी अथवा एकान्त पर्वत शिखरों पर निवास करने वाला मानता है। लेकिन जिस साधक ने कुछ प्रगति कर ली है, उसके लिए शिव त्याग के मूर्त-विग्रह तथा समस्त दुर्गुणों के विनाशक हैं। इसके अतिरिक्त वे परमात्म-चेतना में लीन योगेश्वर भी हैं। उन्नत साधक उनकी स्तुति इस प्रकार करता है; "एकं ब्रह्मैवाद्वितीयं समस्तं सत्यं सत्यं नेतरच्चास्ति किञ्चित्।"[२३] अर्थात् हे प्रभु! आप ही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म हो, आप ही सब कुछ हो, आप ही एकमात्र सत्य हो और सचमुच आपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सांसारिक बुद्धि वाला विष्णु-उपासक उन्हें संरक्षण और पालन का देवता समझता है,

---

२३. स्कन्द पुराण ४ , प्रथम भाग, १०.१२६

जो अनन्त करुणावश भक्तों के कल्याणार्थ अवतार लेता है। लेकिन उत्तम भक्त उन्हें उस परमात्म सत्ता का विग्रह समझता है, जो समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, जिसमें सृजन, पालन और संहार की लीला हो रही है। और वह स्तुति करते हुए कहता है;

सर्वस्मिन् सर्वभूतस्त्वं सर्वः सर्वस्वरूपधृक्।
सर्वत्वत्तस्ततश्च त्वं नमः सर्वात्मनेऽस्तुते।। – (विष्णु पुराण १.१२.७२)

अर्थात् "हे प्रभु। तुम सभी में हो, समस्त भूत भी तुम हो, तुमने सभी रूप धारण कर रखे है। तुमसे सभी की उत्पत्ति हुई है, तुम सभी की आत्मा हो, तुमको प्रणाम।"

ईश्वर की माता के रूप में पूजा :

क्या ईश्वर की माता के रूप में आराधना की जा सकती है? भारत में यह प्रश्न नहीं पूछा जाता। हम यह मानकर चलते हैं, कि परमात्मा की अनेक प्रकार से आराधना की जा सकती है – इस्लाम और ईसाई धर्म में एकमात्र स्वीकृत केवल स्वामी की तरह ही नहीं, बल्कि माता की तरह, दैवी-पुत्र की तरह, अथवा ईश्वर रूपी प्रियतम की तरह भी। भगवान् की माता की तरह आराधना में कोई अस्वाभाविकता नहीं है। जिस तरह माँ बालक का भरण-पोषण करती है, उसी तरह भगवान् सभी प्राणियों की सृष्टि और भरण-पोषण करता है। भगवान् को माता मानना सबसे स्वाभाविक मार्ग है। यह बहुत उदात्त और दीर्घस्थायी भाव है। माता के रूप में भगवान के साथ भक्त के सम्बन्ध में अधिक स्वाधीनता और स्वाभाविकता होती है। जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने कहा है, जिस प्रकार बालक अपनी माँगें माँ से जबर्दस्ती पूरी करवा सकता है, उसी तरह भक्त भी अपनी माँगें भगवान् से जबर्दस्ती पूरी करवा सकता हैं। वे एक और दृष्टान्त देते हैं : "जब तक बालक खिलौनों से खेलता रहता है, तब तक माँ गृहस्थी के कार्य करती रहती है। लेकिन जब बालक खिलौने फेंक कर माँ के लिए रोने लगता है, तब माँ पतीली उतार कर बच्चे के लिए दौड़ पड़ती है।" यह सुन्दर उपमा भक्त और माता के रूप में अवधारित भगवान् के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रदर्शित करती है।

माँ के रूप में भगवान की अवधारणा हिन्दू धर्म की कृति नहीं है। यह धारणा पुरातन काल में अनेक देशों में विद्यमान थी। इन मातृ-सम्प्रदायों में से कुछ भ्रष्ट थे। लेकिन हम यहाँ मातृपूजा के सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हैं। मिस्र में वह 'आईसिस' कहलाती थी, बेबेलोन और एसेरिया में 'इश्तर', यूनान में 'डीमेटर' और फ्रीजिया में 'साइबेल'। महान् कार्थाजीनियन सेनापति हानिबाल के आक्रमण पर रोमवासियों ने युद्ध में सफलता के लिए 'साईबेल' की पूजा की थी, तथा उसे अधिकृत रूप से देवताओं की माता घोषित किया था। यहूदी धर्म और बाद में इस्लाम ने पश्चिम एशिया में मातृ पूजा का अन्त कर दिया। ईसाई धर्म ने भी उसे दबाया, लेकिन वह बाद में संशोधित रूप में पुनर्जिवित हुई।

केथोलिक ईसाई-धर्मावलम्बी पवित्र माता मेरी का थियोटोकोस या ईश्वर की माता के रूप में सम्मान करते हैं। धर्मशास्त्र की प्रतिकूल आलोचना के कारण पवित्र मेरी को ईसाई

धर्म-संघ में निम्न स्थान प्राप्त है। लेकिन सामान्य जनता को इससे अधिक अन्तर नहीं पड़ता। लाखों केथोलिक अनुयायी, विशेषकर गरीब लोग पवित्र मेरी की आराधना उसी तरह करते हैं, जिस तरह हिन्दू लोग जगदम्बा की करते हैं। वारसॉ नगर में मैंने माता मेरी का एक पुरातन मन्दिर देखा था। स्विट्जरलैण्ड में मैं एक हजार वर्ष से अधिक पुराने मठ में गया। वहाँ मैंने संन्यासियों को काली माता-मेरी की उपासना करते देखा। अपने रूप और रंग में वह मुझे हिन्दू-देवी काली से मिलती-जुलती दिखी। ग्रिगोरी स्तोत्र-पाठ तथा तीर्थ-यात्रियों की भीड़ के कारण भारत के देवी मंदिर का सा चिर-परिचित वातावरण निर्मित हो गया था। ईश्वर की माता के प्रति श्रद्धा यूरोप और लेतिन अमेरिकी देशों में धीरे-धीरे बढ़ रही है।

जब मैं यूरोप में था, तब सर्वप्रथम मैं पाश्चात्य देशवासियों की ईश्वर को माता मानने की असमर्थता का कारण नहीं समझ पाता था। एक महिला ने मुझसे कहा था, "स्वामीजी, मैं स्वयं एक माता हूँ, 'मेरी माता भी अभी जीवित है। हमारे गुण भी हैं, दोष भी। लेकिन हमें मातृत्व में कोई विशेष पवित्रता नहीं दिखाई देती। हमें कोई देवत्व नहीं दिखता।" सचमुच यह उसका दुर्भाग्य था। इस संदर्भ में मुझे एक कथा याद आ गई। एक दिन कुछ बच्चे बहुत हल्ला करते हुए बात कर रहे थे। वे झूठ बोलने का नया खेल खेल रहे थे। जो बच्चा सबसे बड़ा झूठ बोलेगा, वह प्रथम पुरस्कार प्राप्त करेगा। उसी समय एक पादरी वहाँ आए और बच्चों से पूछा वे क्या कर रहे हैं। जब बच्चा ने बताया, कि वे क्या कर रहे हैं, तो उन्होंने बच्चों को उपदेश दिया, "बच्चों, तुम्हें झूठ नहीं बोलना चाहिए। जब मैं तुम्हारी उम्र का था, तब मैं कभी झूठ नहीं बोलता था।" इस पर सारे बच्चे एक साथ चिल्ला उठे, "फादर, आपने प्रथम पुरस्कार जीत लिया।" बच्चे बच्चों की बातें समझते हैं, महिलाएँ महिलाओं की बातें। लेकिन वे केवल बाह्य आवरण, देह तथा उसका व्यवहार देखती हैं, और उसके परे किसी देवत्व को नहीं देख पातीं।

पश्चिमी देशों में नारी को प्रिया या पत्नी के रूप में देखा जाता है। वहाँ माता को इतना प्रेम और आदर प्राप्त नहीं होता, जितना एक हिन्दू-परिवार में होता है। चूँकि धर्माचार्यों की यह शिक्षा है, कि ईव की सृष्टि आदम की पसली से हुई थी, इसलिए नारी को सदा पुरुष से हीन समझा जाता है। इस दृष्टिकोण ने पाश्चात्य समाज में नारी की भूमिका को निर्धारित किया है। यदि पाश्चात्य पुरुष ईश्वर की आराधना माता के रूप में करते तो कम कठोर हृदय और कम कामुक होते और अधिक आध्यात्मिक होते। इससे पारिवारिक सम्बन्ध भी घनिष्ठ होते और अधिक पारिवारिक शान्ति रहती।

भारत में माता के रूप में भगवान की उपासना वैदिक काल से ही अबाध-रूप से चलती आ रही है। वेदों में बहुत सी देवी-स्तुतियाँ हैं। केनोपनिषद में माता ब्रह्मविद्या के प्रतीक के रूप में प्रकट होती हैं। परवर्ती शताब्दियों में जगन्माता की उपासना और दर्शन से सम्बन्धित एक विशाल साहित्य (तन्त्रों) का निर्माण हुआ है। उसके बाद बंगाल में मातृपूजा

बहुत सुसंस्कृत हुई, और अब वह लोगों के दैनन्दिन जीवन का अंग बन गई है।

श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव के साथ मातृपूजा में पुन: प्राण-संचार हुआ है। सभी बुराइयाँ दूर हो गई हैं और जगदम्बा लाखों लोगों के हृदयों और घरों में नए आलोक के साथ प्रकाशित हो विराजित हैं। श्रीरामकृष्ण के लिए माँ काली का क्या अर्थ था? वे उसे विश्व की सृजन-शक्ति मानते थे। उन्होंने यह भी कहा, कि वह ब्रह्म के साथ अभिन्न है। ब्रह्म अव्यक्त सत्स्वरूप है। जब वह ब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त होता है, तब वह काली कहलाता है। जिस प्रकार आकाश का नीला रंग व्यापकता का द्योतक है, उसी प्रकार काली का रंग अनन्त का द्योतक है। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने काली की मूर्ति की पूजा को अनन्त की आराधना में उन्नत किया है।

मातृशक्ति अथवा ईश्वरीय-शक्ति के बहुत से प्रतीक और रूप हैं। उसके ज्ञान की देवी, धन-ऐश्वर्य की देवी, और संहार का नृत्य करने वाली मृत्यु की देवी रूपी नाना प्रतीकात्मक रूप हैं। काली का रूप सृष्टि, स्थिति और प्रलय तथा संहार के बाद सब वस्तुएँ जहाँ अवस्थित रहती हैं, उस शक्ति का प्रतीक है। वह निष्क्रिय, सोए हुए शिव, जो निर्गुण ब्रह्म के प्रतीक हैं, पर खड़ी हैं। यह निराकार के आधार सहित समग्र ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का प्रतीक है। चरम-सत्य मृत्यु और जीवन दोनों के परे है। अत: भक्त को न तो जीवन से चिपके रहना चाहिए और न ही मृत्यु से भयभीत होना चाहिए। उसे विकराल और सुखप्रद दोनों के ऊपर सर्वातीत-स्तर पर आरोहण करना चाहिए, जहाँ पहुँच कर वह कह सकता है : "छाया मृतेस्तव दया त्वमृतं च मात:"[२४] अर्थात्, अयि माँ, मृत्यु की छाया और अमृत या जीवन ये दोनों ही तुम्हारी दया हैं। और जगदम्बा को सम्बोधित करते हुए भक्त कहता है : "तुम नाम रहित, गोत्र रहित, जन्म-मृत्यु रहित, बन्धन एवं मुक्ति रहित हो। तुम एकमेवाद्वितीया परम ब्रह्म हो!"[२५] हिन्दू धर्म में जगदम्बा की ऐसी उच्चतम धारणा है।

हिन्दू धर्म में अवतारवाद :

अन्य धर्मों से भिन्न हिन्दू धर्म अनेक अवतारों में विश्वास करता है। प्रत्येक अवतार सामान्य लोगों के लिए एक आदर्श है जिसके माध्यम से ईश्वर के रहस्य को समझा जा सके। एक हिन्दू इन अवतारों में से किसी को भी अपना आध्यात्मिक आदर्श मान सकता है, जिसके माध्यम से वह परमात्मा के साथ सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करता है। भक्त (अवतार की) उन मानवी अपूर्णताओं को नहीं देखता, जिनकी ओर पाश्चात्य आलोचक विद्वान दृष्टि आकर्षित करना चाहते हैं। वह अवतार में केवल ईश्वरत्व और ईश्वरीय-गुण देखता है। अवतारों के मानवी पक्ष का उपयोग उनके साथ घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किया जाता है। मानवी पक्ष देवत्व का प्रतीक मात्र होता है।

---

२४. स्वामी विवेकानन्द कृत अम्बास्तोत्र २५. महाकाल संहिता

राम विष्णु के एक अवतार हैं, और सत्य एवं कर्तव्यनिष्ठा के प्रतीक हैं। सामान्य उपासक उनके सुन्दर रूप तथा महान गुणों को महत्त्व देता है। लेकिन उन्नत भक्त उन्हें सर्वव्यापी देखता है और प्रार्थना करता है : आप लोकों के परम धर्म हो, अन्तर्यामी परम-पुरुष हो, तुम परम शरण्य हो, और लोकों के त्राणकर्ता हो।[२६] आप निर्मल, असंग, अचल, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य स्वरूप और अव्यय हो।[२७]

कृष्ण का आदर्श उनके अनेक रूपों में अत्यन्त व्यापक रूप से प्रचलित है, लेकिन उसे भी बहुत से लोगों ने बुरी तरह से गलत समझा है। स्थूल-बुद्धि आलोचक उनकी गोपियों के साथ की गयी लीला को अश्लील समझते हैं। लेकिन श्रीरामकृष्ण जैसे भक्त श्रीकृष्ण को भगवत्प्रेम का उच्चतम आदर्श मानते हैं, जिसे केवल वे ही पा सकते हैं, जिनमें कामुकता और भौतिकता का लेशमात्र भी न हो। श्रीकृष्ण के विश्वरूप का सर्वत्र दर्शन करके अर्जुन ने उनकी स्तुति करते हुए कहा था :

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व।
अनंतवीर्यमितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।। भगवद्गीता ११.४०

अर्थात् "तुम्हें सामने से, तथा पीछे से भी प्रणाम; तुम्हें सभी ओर से प्रणाम है। हे प्रभु! आप सब कुछ हैं, अनन्त वीर्य हैं, अमित विक्रमयुक्त हैं, आप सर्वव्यापी और सर्वत्र हैं।"

इस प्रकार साकार-निराकार की, अनेक में एक की अवधारणा समग्र हिन्दू धार्मिक चेतना में व्याप्त है। इस तथ्य को वे सभी लोग स्पष्ट-रूप से समझ सकते हैं, जो हिन्दू शास्त्रों की सच्ची भावना को हृदयंगम करने में सफल हुए हैं।

धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय का सन्देश :

लेकिन समन्वय और अन्य धर्मों की स्वीकृति के इस महान् आदर्श का क्रियान्वयन सबके लिए सम्भव नहीं है। कट्टर साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह-युक्त भक्त प्रायः यह मानते हैं कि उनके विशिष्ट देवता अथवा अवतार की उपासना द्वारा ही अथवा उनके आराध्य सगुण अथवा निराकार ईश्वर की भक्ति द्वारा ही मुक्ति हो सकती है, जो मानवता के प्रति अपना सन्देश कुछ विशिष्ट पैगम्बरों या आचार्यों के माध्यम से ही पहुँचाता है। लेकिन संकुचित दृष्टिकोण वाले लोगों के साथ ही साथ ऐसे उदार लोग भी होते हैं, जो अपने इष्ट के प्रति अपने प्रेम और श्रद्धा को किञ्चित-मात्र भी कम किए बिना सभी दैवी-व्यक्तियों को उसी एक सत्ता की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मानते हैं :

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे, जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न बुद्धिभेदः प्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिर्तरुणेन्दुशेखरे।।

(भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम् – ८४)

---

२६. वाल्मीकि-रामायण, ६.११७; १४.१७ २७. अध्यात्म रामायण १.५.५६

अर्थात् मैं जगत् के अधीश्वर महेश्वर शिव और सर्वान्तर्यामी जनार्दन विष्णु के स्वरूप में भेद नहीं मानता, फिर भी मेरी भक्ति तरुणेन्दुशेखर शिव के प्रति है।

एक अपेक्षाकृत आधुनिक श्लोक इससे एक कदम आगे जाकर इस आधारभूत समरसता को स्पष्टतम भाषा में व्यक्त करता है :

विष्णुर्वा त्रिपुरान्तको भवतु वा ब्रह्मा सुरेन्द्रोऽथवा
भानुर्वाशशलक्षणोऽथ भगवान् सिद्धोऽथ बुद्धोऽथवा।
रागद्वेषविषर्तिमोहरहितः सत्त्वानुकंपोद्यतो
यः सर्वे सह संस्कृतो गुणगणैः तस्मै नमः सर्वदा।।

अर्थात्, परमात्मा को विष्णु कहो या शिव, ब्रह्मा कहो या इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, बुद्ध या सिद्ध महावीर, हम सदा उन्हीं को प्रणाम् करते हैं, जो राग-द्वेष और लोभ-मोह से रहित हैं, जो प्राणियों पर अनुकम्पा करते हैं, तथा जो समस्त सद्गुणों से युक्त हैं।

इस तरह अनेकता में एकता भारतीय धार्मिक चेतना का सदा निरवच्छिन्न रूप से अंग बनी रही है। इसी बात को मनु ने बड़े प्रभावशाली ढंग से घोषित किया है :

प्रशासितारं सर्वेषामणीयां समणोरपि
रूक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्।
एकमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्
इन्द्रमेकेऽपरेप्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्।। – (मनुस्मृति १२.१२२-१२३)

अर्थात्, सभी का शासन करने वाले, अणुओं से भी अणु, सुवर्णसम कान्ति वाले, ध्यानगम्य पुरुष को जानो। इसे ही कुछ लोक अग्नि, कुछ मनु, कुछ प्रजापति, कुछ इन्द्र, अन्य प्राण और कुछ अन्य शाश्वत ब्रह्म कहते हैं।

जो लोग अनेकता और ससीमता की भावना से ऊपर नहीं उठ पाते, वे अग्नि आदि से केवल विभिन्न देवता समझते हैं। लेकिन जो उच्चतर दृष्टिकोण अपना सकते हैं, वे उन्हें परमात्मा के विभिन्न रूप अथवा गुणों के प्रतीक मानते हैं। सच पूछा जाए तो ऐसे अद्वैतवादी और एकत्ववादी व्याख्याकार हुए हैं, जिन्होंने विभिन्न नामों को सदा ही एक ईश्वर के विभिन्न गुण समूह या उपाधियाँ ही समझा है। और इस दृष्टि से विष्णु-सहस्रनाम के भाष्यकार और आधुनिक आर्य-समाज के एकेश्वरवादी व्याख्याकारों में अधिक अन्तर नहीं है।

यदि किसी भी नाम या रूप से किसी दैवी व्यक्तित्व को, किसी देवता या अवतार को, निराकार की अभिव्यक्ति माना जाए, तो इस निराकार-साकार अथवा साकार-निराकार सत्ता की सामान्य आराधना में सभी धर्मों और सभी पन्थो के अनुयायी निस्सन्देह रूप से हृदयपूर्वक हाथ बँटा सकते हैं। और आधुनिक-काल में परमात्मा के इस सार्वभौमिक रूप पर विशेष-बल दिया जाना चाहिए, जिससे वह सभी देशों और सभी प्रदेशों के सच्चे धार्मिक लोगों को जोड़ने वाले महाबन्धन का कार्य कर सके, तथा उन्हें जनकल्याण के उद्देश्य से भ्रातृत्व और मैत्री, सेवा और सहयोग के भाव से एक साथ मिलकर काम करने के लिए प्रेरित

कर सके।

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४:१)

अर्थात्, जो एक वर्णरहित होते हुए भी बिना किसी व्यक्तिगत प्रयोजन के विभिन्न रूपों को अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा प्रकट करता है, जिससे यह विश्व प्रारम्भ में उत्पन्न होता और अन्त में, जिसमें विलीन हो जाता है, वह देव हमें शुभ बुद्धि प्रदान करें।

□□□

अध्याय ५

सांसारिक कर्तव्य और आध्यात्मिक जीवन

कर्तव्य क्या है?

हम ऐसे अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हैं, जिन्हें हम प्राय: कर्तव्य की संज्ञा देते हैं, और सामान्यत: ये कार्य केवल दु:ख और अशान्ति ही पैदा करते हैं। यदि यह सत्य है, तो कर्तव्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा में कहीं कोई त्रुटि है। हम "कर्म" करते हैं लेकिन सामान्यत: हम उसे योग में, एक आध्यात्मिक साधना तथा आत्मसाक्षात्कार के उपाय के रूप में परिणत करना नहीं जानते। जरा देखें, स्वामीजी ने कर्मयोग के बारे में क्या कहा है:

कर्म योग कहता है कि पहले तुम स्वार्थपरता के अंकुर के बढ़ने की इस प्रवृत्ति को नष्ट कर दो। और जब तुममे इसे रोकने की क्षमता आ जाय तो उसे पकड़े रहो और मन को स्वार्थपरता की विथियों में मत जाने दो। फिर तुम संसार में जाकर यथाशक्ति कर्म कर सकते हो। फिर तुम सबसे मिल सकते हो। जहाँ चाहे जा सकते हो, तुम्हें कुछ भी पाप स्पर्श न कर सकेगा। पानी में रहते हुए भी जिस प्रकार पद्म-पत्र को पानी स्पर्श नहीं कर सकता, और न उसे भिगो सकता, उसी प्रकार तुम भी संसार में निर्लिप्त भाव से रह सकते हो। इसी को वैराग्य कहते हैं, इसी को कर्मयोग की नींव – अनासक्ति – कहते हैं। मैंने तुम्हें बताया ही है कि अनासक्ति के बिना किसी भी प्रकार की योग साधना नहीं हो सकती। अनासक्ति ही समस्त योग साधना की नींव है। हो सकता है कि जिस मनुष्य ने अपना घर छोड़ दिया है, अच्छे वस्त्र पहनना छोड़ दिया है, अच्छा खाना छोड़ दिया है, और मरुस्थल में जाकर रहने लगा है, वह भी एक घोर विषयासक्त व्यक्ति हो। उसकी एक मात्र सम्पत्ति – उसका शरीर ही उसका सर्वस्व हो जाय और वह उसी के सुख के लिए सतत प्रयत्न करें। बाह्य शरीर के प्रति हम जो भी करते हैं, उससे अनासक्ति का सम्बन्ध नहीं है, वह तो पूर्णतया मन में होती है। मैं और मेरे की बांधने वाली जञ्जीर मन में ही रहती है। यदि शरीर और इन्द्रिय गोचर विषयों के साथ इस जञ्जीर का सम्बन्ध न रहे, हम बिल्कुल अनासक्त रहेंगे। हो सकता है कि एक व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठा हो परन्तु फिर भी बिल्कुल अनासक्त हो, और दूसरी ओर यह भी संभव है कि एक व्यक्ति चिथड़ों में हो, पर फिर भी वह बुरी तरह आसक्त हो। पहले हमें इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त कर लेनी होगी और फिर सतत् कार्य करते रहना होगा. कर्म-योग समस्त आसक्ति से मुक्त होने में सहायक प्रक्रिया सिखा देता है। [१]

---

१. विवेकानन्द साहित्य – ३, पृष्ठ ७४-७५

तब फिर कर्तव्य का क्या अर्थ है? कर्तव्य और दायित्व इन दो शब्दों में से दायित्व शब्द से सन्दर्भ विशेष तथा तात्कालिक बाध्यता का संकेत प्राप्त होता है। जैसे, एक व्यक्ति पर अपनी वृद्धा विधवा माता के भरण पोषण का दायित्व है। इससे भिन्न कर्तव्य शब्द से तात्कालिक परिस्थितियों के कारण उपस्थित कर्मबाध्यता की अपेक्षा नैतिक अथवा आचार विषयक प्रभाव का अधिक अर्थ ध्वनित होता है। अंग्रेजी के कवि वड्र्सवर्थ कर्तव्य को "ईश्वरीय आदेश की कठोर कन्या" की संज्ञा देते हैं। हम सभी जानते हैं कि कभी कभी किस प्रकार हमें कर्तव्य व व्यक्तिगत स्वार्थ के परस्पर संघर्ष का सामना करना पड़ता है। हम चाहे कोई भी संज्ञा क्यों न दें, हम अज्ञानी जीवों के लिए कर्तव्य का अर्थ एक हद तक बाध्यता और बन्धन है।

ज्ञानी महापुरुषों की बात भिन्न है। ईश्वरावतार श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में हमें कहते हैं,

"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।" (भ. गीता ३:२२)

अर्थात् – मुझे इन तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है। न तो कोई प्राप्तव्य है और न ही ऐसी कोई वस्तु है जो मैंने प्राप्त न की हो, फिर भी मैं वर्तता हूँ। ईश्वरीय अवतार और मुक्त पुरुष मुक्ति में प्रतिष्ठित हो, दुःखी मानव जाति के प्रति प्रेम से प्रेरित हो कर्म करते रहते हैं। दैवी पुरुष में कामनाओं का संघर्ष नहीं होता, अतः कर्तव्यों का भी द्वन्द्व नहीं होता। उनके लिए कार्य को करने का एक ही मार्ग होता है, और वह है, ईश्वरीय मार्ग। अज्ञान के कारण हम कर्तव्य तथा उसकी पूर्ति के मार्ग के बारे में भ्रमित हो जाते हैं।

कर्तव्य और स्वार्थपरता :

स्वामी विवेकानन्द कितने मार्मिक ढंग से हमें यह बताते हैं कि हमारा तथाकथित कर्तव्य बोध प्रायः एक रोग बन जाता है !

कर्तव्य हमारे लिए एक प्रकार का रोग सा हो जाता है; और सदा हमें उसी दिशा में खींचता है। यह हमें जकड़ लेता है और हमारे पूरे जीवन को दुःखपूर्ण कर देता है। यह मनुष्य जीवन के लिए महाविभिषिकास्वरूप है। यह कर्तव्य बुद्धि ग्रीष्मकाल के मध्याह्न सूर्य के समान है जो मानव की अन्तरात्मा को दग्ध कर देती है। कर्तव्य के उन बेचारे गुलामों की ओर तो देखो। कर्तव्य उन्हें प्रार्थना या स्नान-ध्यान करने का भी अवकाश नहीं देता। कर्तव्य उन्हें प्रतिक्षण घेरे रहता है। वे बाहर जाते हैं और काम करते हैं, कर्तव्य सदा उनके सिर पर सवार रहता है। वे घर आते हैं और अगले दिन का कार्य सोचने लगते हैं। कर्तव्य उन पर सवार ही रहता है। यह तो एक गुलाम की जिन्दगी हुई। फिर एक दिन ऐसा आ जाता है, कि वे कसे कसाये घोड़े की तरह सड़क पर ही गिरकर मर जाते हैं। कर्तव्य साधारणतया यही समझा जाता है। परन्तु अनासक्त होकर एक स्वतन्त्र व्यक्ति की तरह कार्य करना तथा समस्त कर्म भगवान को समर्पित कर देना

ही असल में हमारा एकमात्र सच्चा कर्तव्य है।[२]

हम कर्तव्य के गुलाम बनकर अपने सारे जीवन को दु:खपूर्ण बना डालते हैं। हमारा कर्तव्य क्या है तथा उसे कैसे पूरा करना, इस विषय में हमें स्पष्टतर ज्ञान होना चाहिए। कितनी बार हम यह पाते हैं कि अपनी स्वयं की समस्याओं को सुलझाना सीखने के पहले ही प्रेम से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि आत्मतुष्टि के लिए हम दूसरों की सहायता करने लगते हैं। दूसरों की सेवा करने में तत्पर निस्वार्थ व्यक्ति अवश्य हैं, लेकिन इस विचित्र संसार में, जिसे हमारे एक वरिष्ठ स्वामीजी ने "भगवान् के विराट पागलखाने" की संज्ञा दी है, बहुत से ऐसे शरारती व्यक्ति हैं जो जीवन में असफलता और हताशा के शिकार हैं, अथवा जो निकट के सामान्य कार्यों को करना नहीं चाहते। ऐसे लोग अपने अहंकार की तृप्ति के लिए दूसरों पर अपने को जोर-जबरदस्ती थोपते हैं। अहं केन्द्रित व्यक्ति कहते हैं, "उन्हें मेरी प्रेम से प्रेरित सेवा की आवश्यकता है।" हम मानव इतने स्वार्थी हैं कि हम यह कल्पना नहीं कर पाते कि हम जितना दूसरों को नहीं चाहते, उतना ही दूसरे भी हमें नहीं चाहते होंगे। एक मनोविज्ञ ने जब यह बात कुछ लड़कियों को कही तो यह सुन कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि स्वयं के प्रति प्रेम के कारण इस विचार को स्वीकार करना कि कोई हमें हृदय से नहीं चाहता, बहुत कठिन है।

एक और प्रकार के अहं केन्द्रित व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों को सुखी करने के लिए आवश्यकता से अधिक चिन्तित होते हैं और जिन्हें ध्यान और प्रार्थना के लिए समय नहीं मिलता। वे क्लबों, संगठनों, ब्रिज-पार्टी, भोज-समारोह अथवा राजनैतिक समितियों में सम्मिलित होकर जगत् का उद्धार करने के लिए व्यग्र हैं। इससे उन्हें कुछ समय के लिए आत्म-सम्मान प्राप्त होता है, लेकिन जब नवीनत्व क्षीण हो जाता है, अथवा जब कार्य अथवा गपशप कुछ शान्त हो जाती है, तो वे तत्काल दु:खी और असन्तुष्ट हो जाते हैं। मृदु शब्दों का उपयोग किये बिना स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

दासत्व को कर्तव्य कह देना, अथवा माँस के प्रति माँस की घृणित आसक्ति को कर्तव्य कह देना कितना सरल है। मनुष्य संसार में धन अथवा अन्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए एड़ी चोटी का पसीना एक करता है। यदि उससे पूछो, "ऐसा क्यों कर रहे हो?" सो झट उत्तर देता है, "यह तो मेरा कर्तव्य है।" पर वह धन और लाभ के लिए निरर्थक लोभ मात्र है, लोग उसे कुछ फूलों से ढके रखने की चेष्टा करते हैं।[३]

स्वार्थपरता को फूलों से ढकने से हम अनासक्त भाव से सच्चा कर्तव्य पालन कर उसे आध्यात्मिक जीवन का अभिन्न अंग नहीं बना सकते। अहं केन्द्रित कर्तव्य हमारे लिए कई समस्यायें और नये बन्धनों का निर्माण कर सकता है।

---

२. विवेकानन्द साहित्य ३, पृष्ठ ७६ ३. विवेकानन्द साहित्य ३, पृ. ७७

अहंकार के विभिन्न रूप :

मानव विभिन्न भावों के विचित्र समूह हैं। विलियम जेम्स के अनुसार अधिकांश लोगों के उतने ही सामाजिक व्यक्तित्व होते हैं, जितने विभिन्न जन-समूहों की राय का वे समादर करते हैं। हमारे दो ही नहीं, अनेक व्यक्तित्व होते हैं। व्यवसाय में हमारा एक रूप होता है, दूसरा गिरजे में, और तीसरा घर में। अपने व्यक्तिगत जीवन में हम जो कार्य सहर्ष करते हैं, उसे हम समाज में करने से हिचकिचाते हैं। हमारे विभिन्न व्यक्तित्व कई बार एक दूसरे से मेल नहीं खाते, और इसलिए हमारे लिए अनन्त अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि करते हैं। एक दुकानदार की कथा है जो अपने परिवार के साथ धार्मिक पुनर्जागरण की सभा में सम्मिलित होने तथा धर्म परिवर्तन करने के पूर्व तक, सदा रविवार के दिन भी दुकान खुली रखता था। बाद के रविवार को जब पड़ोसी के बच्चे ने दूध के लिए दरवाजा खटखटाया तो दुकानदार की छोटी लड़की ने ऊपर की खिड़की से झाँका और कहा, "तुम जानते नहीं, हम सभी पिछले सप्ताह से ईसाई हो गये हैं? अब अगर तुम्हें रविवार के दिन दूध खरीदना हो तो तुम्हें पीछे के दरवाजे पर आना होगा।"

इस तरह अपने को धोखा केवल सामान्य लोग ही नहीं देते। उच्च पदस्थ लोग भी अधिकांशतया दोहरा जीवन जीते हैं। सम्राट के मतदान में विशेष अधिकार प्राप्त जर्मनी के कोलोंग नगर के एक राजकुमार, जो मुख्य ईसाई धर्माध्यक्ष भी था, के विषय में एक कथा कही जाती है। एक दिन उसने एक किसान के सामने अधार्मिक शब्दों का प्रयोग किया जिसे सुनकर किसान अपने आश्चर्य का संवरण नहीं कर सका। स्वयं को सही सिद्ध करने के प्रयत्न में उसने कहा: "भले आदमी, मैंने अपशब्द धर्मगुरू के रूप में नहीं बल्कि, एक राजकुमार के रूप में कहे थे।" इस पर बुद्धिमान किसान ने कहा, "लेकिन श्रीमान्, जब राजकुमार नर्क में जायेगा, तब धर्माध्यक्ष का क्या होगा?'

हम सभी को याद रखना चाहिए कि यदि हम निजी जीवन और सामाजिक जीवन को पृथक करें और उसके लिए विपरीत नीति-नियमों को अपनायें तो हमें अशान्ति और दुहरे बन्धन के रूप में बहुत बड़ा जुर्माना देने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। सचमुच हम अपने जीवन में एक नर्क का निर्माण करते हैं और अशुभ परिणामों की एक शृंखला प्रारम्भ करते हैं।

वास्तविक कर्तव्य की तरह झूठे कर्तव्य भी होते हैं; जीवन में यह निश्चित करना कि कौन से कार्य ठीक हैं और कौन से ठीक नहीं, हमेशा आसान नहीं होता। शान्ति-काल में किसी की हत्या करना कानून की दृष्टि से बुरा है, लेकिन युद्ध-काल में अधिक से अधिक शत्रुओं को मारना सभी का, विशेष कर सेना में भर्ती होने पर, कर्तव्य हो जाता है। हिन्दू धर्म के अनुसार गो हत्या पाप है; क्योंकि उसे माता का स्थान प्रदान किया गया है; लेकिन एक मुसलमान के लिए विशेष त्योहारों के अवसर पर गाय को काटना पुण्य कर्म है। और भी,

एक ओर जहाँ हिन्दुओं ने अहिंसा, अथवा किसी को कष्ट न पहुँचाने का एक कर्तव्य के रूप में सदा आचरण किया है, वहीं काफिरों की हत्या मुसलमानों में प्रशंसनीय मानी जाती थी, और मध्य युग में ईसाई न्यायाधिकारी ईसाई धर्मसंघ की रक्षा के लिए विधर्मियों को खूँटे से बांधकर जला देने को अपना कर्तव्य समझते थे। इस तरह कई प्रकार के परस्पर विरोधी कर्तव्य हैं। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

कर्तव्य की कोई वस्तुनिष्ठ परिभाषा कर सकना नितान्त असम्भव है। किन्तु कर्तव्य का एक आत्मनिष्ठ पक्ष भी होता है। यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर बढ़ते हैं तो वह शुभ कर्म है और वह हमारा कर्तव्य है, परन्तु जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं, "वह अशुभ है, और वह हमारा कर्तव्य नहीं है।"[४]

महान हिन्दू दार्शनिक रामानुज के अनुसार, जिससे आत्मा का विस्तार हो वह शुभ है, और जिससे आत्मा संकुचित हो वह अशुभ है।

हिन्दू धर्म में कर्तव्य की अवधारणा – वर्णाश्रमधर्म :

हिन्दू धर्म में समाज के चार विभाग किये गये हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जिनके प्रत्येक के कर्तव्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किये गये हैं। विकास की अवस्था के अनुसार इन सभी के विशेष दायित्व भी हैं; यथा ब्रह्मचारी अथवा विद्यार्थी, गृहस्थ, सक्रिय जीवन से निवृत्त वानप्रस्थी, तथा संन्यासी। प्राचीन भारतीय संस्कृति में ये सभी जीवन-पद्धतियाँ पृथक एवं स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट की हैं। लेकिन आधुनिक काल में पाश्चात्य सामाजिक और राजनैतिक विचारों एवं तकनीक ने इन सभी को बदल दिया है। अब अधिकारों और कर्तव्यों के विषय में विभ्रान्ति, अस्पष्टता है, और ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है, जो यह नहीं जानते कि वे किस वर्ग में हैं, अथवा उन्हें क्या करना चाहिए। हिन्दू धर्म की शिक्षा है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक धर्म अथवा आचार संहिता है जो उसे ईश्वर की ओर ले जायेगी। धर्म जीवन का वह व्यापक, सर्वतोमुखी विधान, नियम है जो मानव के समग्रजीवन का समाज और व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही गहरे सार्वभौमिक लय के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता है। अनन्त अभिव्यक्तियों के साथ आत्मा का एकत्व वर्तमान है।

भगवद्गीता तथा अन्य धर्म शास्त्रों का महान उपदेश यह है कि एक व्यक्ति समाज का अंग होने के साथ ही एक अखंड सार्वभौमिक सत्ता का भी अंग है। प्राचीन हिन्दुशास्त्रों में विराट् पुरुष का प्रतीकात्मक वर्णन है, जिसके मुँह से पवित्रता, ज्ञान, धर्म और संयम से युक्त ब्राह्मण की, बाहों से क्षत्रिय की, ऊरू से जीवन निर्वाह की सामग्री तथा अन्न पैदा करने वाले कृषक और वैश्य की, तथा पैरों से संसार में कठिन परिश्रम करने वाले मजदूर की उत्पत्ति हुई है।[५] मानव देह की तरह समाज के सभी वर्ग एक पूर्ण के अविभाज्य एवं अनिवार्य अंग

---

४. विवेकानन्द साहित्य ३, पृ. ३९ ५. पुरुष सूक्तम् ऋग्वेद १०.९०.१२

हैं। विद्यार्थी एवं गृहस्थ जीवन की परिसमाप्ति पर जीवन से निवृत्ति होने का समय आता है, और सम्भवतः उसके बाद समस्त बन्धनों से मुक्त होकर एकान्त में ध्यान कर रहे संन्यासी के जीवन का भी अवसर आता है।

यदि प्रत्येक व्यक्ति जीवन की सभी अवस्थाओं में अन्तर्निहित सार्वभौम विराट सत्ता के लय के साथ समायुक्त और समरस हो तो अपना ही नहीं पर अपने पास के सभी का कल्याण साधित करेगा। हम सभी का यह परम कर्तव्य है। विराट पुरुष का कई बार अनेक हाथ पैरों से युक्त पुरुष के रूप में चित्रण किया जाता है, जिससे हमें उस परम अद्वितीय की नाना अभिव्यक्तियों का स्मरण हो सके।

प्रत्येक व्यक्ति विश्व की इस नाटक शाला का एक अभिनेता है, और उसे अपनी भूमिका अच्छी तरह निभाना सीखना चाहिए। हममें से किन्ही दो की भूमिका एक सी नहीं है।

अमरीकी स्वाधीनता घोषणा पत्र में कहा गया है, "सभी मानव समान है।" अब हम यह जानते हैं कि बाह्य जीवन अथवा आन्तरिक बनावट में कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं है। अतः वे समान कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर वेदान्त देता है : "वही एक आत्मा सभी में विद्यमान है, लेकिन जहाँ तक मानसिक व शारीरिक क्षमताओं और स्वभाव का प्रश्न है, मानव समान नहीं हैं, और एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। आध्यात्मिक स्तर पर समानता है लेकिन अन्य सभी स्तरों पर अनन्त प्रभेद हैं।

महान समाज सेवी और पण्डित, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने एक बार श्रीरामकृष्ण से पूछा था, "क्या ईश्वर ने किसी को कम और किसी को अधिक शक्ति प्रदान की है?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया था :

वह विभू रूप से सब प्राणियों में है – चींटियों तक में है। पर शक्ति का तारतम्य होता है। नहीं तो कोई दस आदमियों को हरा देता है और कोई एक ही आदमी से भागता है। और ऐसा न हो तो भला तुम्हें ही सब कोई क्यों मानते हैं? क्या तुम्हारे दो सींग निकले हैं। औरों की अपेक्षा तुममें अधिक दया है – विद्या है, इसीलिए तुम्हें लोग मानते हैं और देखने आते हैं। [६]

हिन्दू दृष्टिकोण प्रत्येक मानव को वस्तुस्थिति को पहचानने, स्वयं की क्षमता को जानने, अपने निजी स्वरूप की सत्ता खोजने, और उसके बाद व्यक्तिगत विकास के विधान, या स्वधर्म का पालन करने की शिक्षा देता है। तब उसे स्वयं एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्य की स्पष्ट धारणा होगी। एक युवा गृहस्थ श्रीरामकृष्ण के पास आया और बोला कि उसने संसार त्याग कर संन्यासी होने का निश्चय किया है। श्रीरामकृष्ण ने उसे अपने परिवार में लौट जाने को कहा। संन्यासाभिलाषी ने कहा, "ओ, मेरे श्वसुर मेरे परिवार का भरण पोषण कर

---

६. श्रीरामकृष्णवचनामृतम् – १ (१६वाँ संस्करण), पृ. ६९

सकते हैं।'' ''क्या तुम्हें आत्म-सम्मान नहीं है?'' श्रीरामकृष्ण ने पूछा। युवक को डाँटने के बाद श्रीरामकृष्ण ने उसे कोई रोजगार खोजकर परिवार का भरण पोषण करने को कहा। प्रत्येक व्यक्ति के लिए, सामान्य जीवन के प्रत्येक स्तर के लिए, एक धर्म-विशेष है। और यहाँ तक कि दैनन्दिन जीवन के पीछे भी एक ईश्वरीय विधान है। जीवन के कर्तव्यों का सुचारु रूप से पालन करके प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है। कर्म अथवा जीवन की अवस्थाओं में ऊँच नीच का कोई प्रश्न नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता के लिए संघर्ष करना चाहिए। भगवद्गीता का मूल सन्देश यही है, जो निम्न श्लोक में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है :

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विदन्ति मानवा:।। – गीता १८.४६

अर्थात् – जिस परमेश्वर से प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, तथा जिससे समस्त जगत व्याप्त है, उस परमेश्वर की स्वकर्म से अर्चना करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

हमारे समक्ष दो मार्ग हैं : प्रथम, धर्म-सम्मत रीति से सांसारिक भोग और समृद्धि का मार्ग। उचित ढंग से नियन्त्रित होने पर यह मार्ग स्वाभाविक रूप से दूसरे मार्ग में पर्यवसित हो जाता है, जो ईश्वर साक्षात्कार और समस्त बन्धनों से मुक्ति का मार्ग है। व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार इनमें से किसी एक को चुन सकता है। अधर्म के मार्ग का हर कीमत में त्याग करना चाहिए जो वासना, असत्य और लोभ का मार्ग है। यदि सांसारिक गतिविधियों से भौतिक समृद्धि हो तो, उसे दूसरों में बाँटना चाहिए, और उसका उपयोग दूसरों के तथा स्वयं के आध्यात्मिक कल्याण के लिए करना चाहिए।

गृहस्थ के कर्तव्य :

हिन्दू समाज-व्यवस्था में गृहस्थ को समाज का मुख्य आधार माना गया है। बच्चों को समाज के सामान्य कल्याण और सुरक्षा में योगदान करना सिखाना आवश्यक है। मनुस्मृति में कहा गया है : ''जिस प्रकार समस्त प्राणि जीवन के लिए वायु पर आश्रित हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं।''

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तव:।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:।। – मनुस्मृति ३.७७

लेकिन गृहस्थ का जीवन भोग-विलास के लिए नहीं माना गया है। शिष्य उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण के उपदेशों में इस बात पर बार-बार जोर दिया गया है :

गृहस्थ को सदा याद रखना चाहिए कि परमश्रेय भोग में नहीं बल्कि ज्ञान लाभ में है, क्योंकि व्यष्टि-जीवन समष्टि का एक अंग है। गृहस्थ धर्म के द्वारा परमात्मा की आराधना करके भक्त ऐकान्तिक आध्यात्मिक साधना के लिए वन में जाकर चित्त शुद्धि के लिए प्रयत्न करें।[७]

---

७. भागवत ११.१७.५२,५५

हिन्दुशास्त्रों के अनुसार गृहस्थ के पाँच प्रकार के कर्तव्य हैं : (१) देव पूजा (२) शास्त्राध्ययन (पुरातन ऋषियों के प्रति कर्तव्य) (३) अतिथि, अभ्यागतों की सेवा, सहायता (४) पितृ-पुरुषों का तर्पण (५) पशुओं की रक्षा। ये कर्तव्य पंच महायज्ञ कहलाते हैं।[८] और इन सभी कर्तव्यों को अनिच्छा से बेगार की तरह नहीं, बल्कि सेवा की भावना, पूजा की भावना से पालन करना चाहिए। इस भावना से कर्तव्यों का पालन करने पर वे बन्धन का कारण नहीं होते। इसके बदले वे आध्यात्मिक जीवन में सहायक होते हैं। कर्तव्य सेवा व पूजा का समन्वय वेदान्त का लक्ष्य है। यदि कोई कर्म आध्यात्मिक जीवन के साथ जोड़ा न जा सके तो वह कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। यदि तुम पाओ कि कोई कर्म तुम्हें भगवान से विमुख कर रहा है, तो उसे न करो। सभी प्रकार के कर्मों को हमें परमात्मा के निकट से निकटतर ले जाना चाहिए। जैसा श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण उद्धव को कहते है:

जो निरन्तर निष्ठापूर्वक अपने स्वधर्म द्वारा मुझे परम पुरुषार्थ जानकर मेरी आराधना करता है, वह ज्ञान-विज्ञान का अधिकारी हो शीघ्र ही मुझे प्राप्त करता है। मेरी भक्ति से युक्त सभी कर्म मुक्ति प्रदान करते हैं। यही कल्याण का मार्ग है।[९]

मानव का अपने प्रति कर्तव्य :

उपर्युक्त पाँच प्रकार के कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रत्येक मानव का अपने प्रति – अपनी आत्मा के प्रति कर्तव्य है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा का एक अंश है, अतः अपनी आत्मसत्ता के प्रति कर्तव्य पालन से अन्य सभी दायित्वों का पालन हो जाता है। मानव की आत्मा अभिव्यक्ति और विकास की प्रतीक्षा कर रही है। लेकिन वह निरन्तर क्षुद्र आत्मा या अहंकार द्वारा आवृत हो जा रही है। दैनन्दिन चहल-पहल में, इन्द्रिय विषयभोगों के पीछे बेहताशा दौड़ के कारण, मानव अपने भीतर की हलकी क्षीण पुकार की, आत्मा की पुकार की उपेक्षा कर देता है। फलस्वरूप उसके सारे कार्य अन्त में उसके असन्तोष और हताशा के कारण बन जाते हैं। यहाँ तक कि तथाकथित मानव सेवा भी उसे श्रान्त और असंतुष्ट ही बनाती है। हमारे समस्त कर्तव्यों का, उच्चतर आत्मा की अभिव्यक्ति रूप, समन्वित लक्ष्य अवश्य होना चाहिए। तभी जीवन अर्थपूर्ण होगा।

मुख्य समस्या यह है कि लोग कठोर साधना के बिना, परमात्मा के हाथ के पवित्र यन्त्र बने बिना आचार्य बनना चाहते हैं। वे (परमात्मा) मानव देहरूपी मन्दिर में निवास करते हैं। पहले हमें स्वयं भगवान को जानना चाहिए और अपनी समस्यायें सुलझाने में समर्थ होना चाहिए, तब दूसरों की सहायता करनी चाहिए। हम अपने अस्तित्व मात्र से अनजाने ही, सत्य को प्रकाशित करते हुए दूसरों की मूक सहायता कर सकते हैं। लेकिन स्वयं कोई

---

८. बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१६, तथा शतपथ ब्राह्मण १.७.२.६

९. भागवत ११.१८.४४,४७

आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त किए बिना दूसरों की आध्यात्मिक सहायता करने की बात करना या सोचना बिल्कुल हास्यास्पद है। सच्ची पवित्रता और अनासक्ति लाभ करने पर तुम संसार में आसक्त नहीं होते और संसार तुम्हारे मन और स्नायुओं को प्रभावित नहीं करता; और तभी, यह जान कर कि तुम परमात्मा के हाथों के यन्त्र मात्र हो, तुम दूसरों की सहायता की बात कर सकते हो।

एक और बात है, जिसे कर्तव्य समझना चाहिए। विद्यार्थी जीवन के बाद भी थोड़ा बहुत विद्यार्थी जीवन बनाये रखना चाहिए। यदि पठन-पाठन और गहरे अध्ययन का अभ्यास छूट जाय तो यह हमारे मस्तिष्क एवं चिन्तन की क्षमता के विकास के लिए बहुत बुरा है। बहुत से लोग विद्यालयों से निकलने पर तथा उम्र बढ़ जाने पर चिन्तन की आदत खो देते हैं। और यह सचमुच बहुत बुरा है। अस्पष्ट, असम्बद्ध चिन्तन जैसा खतरनाक और कुछ नहीं। चिन्तन का अभ्यास न रहने से वे कर्मठ मात्र रह जाते हैं, चिन्तनशील नहीं रहते। दोनों का समन्वय व सन्तुलन रहना चाहिए अन्यथा परिणाम बहुत बुरा होगा। अधिकांश लोगों के लिए व्यवधान के बाद पुन: अध्ययन प्रारम्भ करना बहुत कठिन होता है, और जो थोड़े बहुत लोग उसमें सफल होते है, उन्हें भी काफी संघर्ष और तनाव से गुजरना पड़ता है, क्योंकि चिन्तन का अभ्यास छूट चुका था। उनका छिछला हल्का अध्ययन, उनकी ओछी बातचीत, उनकी विचारहीन बाह्य प्रवृत्ति ने उनकी चिन्तन मनन शक्ति को बहुत हद तक नष्ट कर दिया है। आँखें खोलकर इसको देखने पर इसका प्रभाव हमारे इस आधुनिक जगत में दिखाई देगा।

उच्च आदर्श-विहीन, ऋत और सत्य को समझे बिना की गई विचार रहित क्रियाशीलता; मात्र काम करना है इसलिए करना – जो आलस्य के लिए आलस्य से किसी भी प्रकार श्रेष्ठ नहीं है भले ही ऐसे कर्मठ जीवन में लोग गर्व का अनुभव क्यों न करें। यह पर्याप्त नहीं है कि मैं कुछ निर्माण करता रहूँ। मैं जो निर्माण करूँ वह शुभ, सृजनात्मक होना चाहिए न कि ध्वंसात्मक या मानवता को हानि पहुँचाने वाला।

अत: अध्ययन के लिए अधिक समय न भी मिले तो भी गहन चिन्तन का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए। इतना समय व्यर्थ चिन्तन में ही नहीं बल्कि अहितकर चिन्तन में गँवाया जाता है, जिसका उपयोग उच्चतर क्रियात्मक चिन्तन में किया जा सकता है। दिन भर में बहुत सी फालतू घड़ियाँ होती हैं, और इस खाली समय का बड़ी आसानी से उच्च चिन्तन में उपयोग किया जा सकता है। व्यर्थ चिन्तन के बदले इस समय का हमें उच्चतर उपयोग करना चाहिए। किसी कोने में खाली बैठे रहने के बदले कुछ उच्चतर और यथार्थ चिन्तन के द्वारा हम ऐसे क्षणों का सदुपयोग कर सकते हैं। सचमुच, ऐसा करने पर हम यह पायेंगे कि साधना, स्वाध्याय और बौद्धिक चिन्तन के लिए पर्याप्त समय है। अपने विचारों को कभी भी लक्ष्यहीन भटकने नहीं दिया जाना चाहिये।

प्राय: हम घन्टा, आधा घण्टा विचार रहित दशा में बैठे रहते हैं अथवा कुछ हल्का

साहित्य पढ़ते हैं, अथवा कोई छिछली और फालतू बात सुनते रहते हैं।

ये बातें हम मूर्खों की तरह करते हैं। हम इनमें सुख का भी अनुभव करते हैं। ये हमें अच्छी भी लगती हैं। लेकिन यदि इसी आधे घण्टे को भक्ति-शास्त्र पढ़ने या गहन अध्ययन के लिए और किसी उपयोगी और स्वस्थ साहित्य को पढ़ने के लिए लगाना चाहें तो हमारा सारा मस्तिष्क विद्रोह और विरोध करने लगता है।

बुद्ध की इस प्रसिद्ध उक्ति पर मनन करने से हमें लाभ हो सकता है : "अब, भिक्षुओ तुम्हें याद दिलाता हूँ। सभी निर्मित वस्तुएँ क्षर हैं, अत: सदा सजग रहो।" यह उपदेश दृश्य जगत की अनित्यता का हमें अनुभव कराकर व्यर्थ धन्धों और अनियन्त्रित चिन्तन को दूर करने में हमारी बहुत सहायता करता है। हमें अपने जीवन में नित्य परिवर्तनशील और सदा असंख्य रूप धारण करने वाले जगत् के बदले अपरिवर्तनशील सत्ता को अधिक महत्त्व देते रहना चाहिए। और मानव का चरम पुरुषार्थ यहीं, इसी जीवन में उस सत्ता का साक्षात्कार करना तथा तत्पश्चात् दूसरों को उसके साक्षात्कार में मदद करना है।

यदि हम व्यर्थ बकवास, अर्थहीन कार्यों और चिन्तन में नष्ट हो रहे समय का सोच समझ कर सदुपयोग करें तो हमें आवश्यकता से अधिक समय मिलेगा। अभ्यास द्वारा ऐसी गहन विचारशीलता का विकास किया जा सकता है कि दो घंटे का सामान्य चिन्तन आधे घंटे में किया जा सके। दो बातें हैं : मात्रा और गुणवत्ता। यदि तुम मात्रा न बढ़ा सको तो गुणवत्ता में – अपने ध्यान और स्वाध्याय की गुणवत्ता में सुधार करो।

ध्यान जप और प्रार्थना के लिए समय रखने के साथ ही साथ प्रत्येक के लिए नियमित स्वाध्याय के लिए भी समय देना आवश्यक है। साधना के बाद कम से कम दस मिनट तक उपनिषदों के कुछ चुने हुए अंशो का पाठ करना चाहिए। प्रमाद और आलस्य आध्यात्मिक जीवन के उसकी सभी अवस्थाओं में दो महान शत्रु हैं। और बहुत से लोग शारीरिक और मानसिक निष्क्रियता के शिकार हो जाते हैं, जो अत्यधिक घातक है। इस प्रमाद के भाव को अपने पर हावी होने देने पर हमें साधना अथवा स्वाध्याय या अध्ययन के लिए समय बिलकुल नहीं मिलता। ऐसी मन:स्थिति में समय होते हुए भी वह हमें दिखता नहीं; हम इतने मूढ़ हो जाते हैं कि उसका हमें ध्यान ही नहीं होता।

इन्द्रिय संयम हमें गहन चिन्तन तथा तीव्रता के साथ सोद्देश्य जीवन यापन में सहायक होता है। सदा इन्द्रिय विषयों के जगत में क्यों विचरण करें? इन्द्रिय संयम रहने पर चिन्तन के स्तर पर आसानी से रहा जा सकता है। बाह्य जगत् से घूँसे और लाते खाने क्यों जाते हो? विक्षेपों के दूर रहने पर हम तीव्रतर चेतना युक्त जीवन यापन कर सकेंगे, तथा सभी अवस्थाओं में यथासम्भव जाग्रत और सचेत रह सकेंगे। लेकिन प्राय: यह देखा जाता है कि लोग काष्ठ और पत्थर की तरह अधिकाधिक जड़ और निष्क्रिय होते जाते हैं। बाह्य आकर्षणों और सांसारिक लक्ष्यों की प्रेरणा ... के हटते ही वे अपनी साधना और स्वाध्याय के लिए धीरे धीरे अल्प समय पाने लगते हैं।

कर्तव्य और आसक्ति :

(१) व्यक्तियों अथवा वस्तुओं की आसक्ति के कारण (२) कर्तव्य बोध से (३) अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति भक्ति के कारण – हम अपने कर्म करते हैं। प्राय: प्रथम दो हेतु एक दूसरे से मिल जाते हैं। अधिकांश लोग सच्चे कर्तव्य बोध को आसक्ति से अलग नहीं कर पाते। तब कर्तव्य हमारी आसक्तियों की पूर्ति का बहाना बन जाता है। इसीलिए एक विचारक ने कहा है : "कर्तव्य वह दण्ड है जो हमें अपनी आसक्ति के लिए देना पड़ता है।" आपातत: यह परिभाषा काफी विचित्र और असन्तोषजनक प्रतीत होती है, लेकिन इसे एक उच्चतर दृष्टिकोण से समझना चाहिए। बुद्ध, ईसा, रामकृष्ण आदि के लिए कोई भी कर्तव्य नहीं होता। उनके लिए केवल प्रेमपूर्ण सेवा होती है, कर्तव्य नहीं। उनकी क्रियाओं में कोई बन्धन नहीं होता और न तो उन्हें कोई लाभेच्छा होती है, और न ही कर्मफलेच्छा। सिद्ध पुरुष का कोई कर्तव्य और आसक्ति नहीं होती। उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं होता – 'तस्य कार्यं न विद्यते।'[१०] वे बिना किसी बाध्यता, अहंता-ममता रहित पूर्ण स्वतंत्रता के साथ प्रेम-पूर्ण सेवा करते हैं।

अपने अहंकार के इस छोटे से संसार से, अपने देहात्म बोध से, अपने विचारों आदि से आसक्त अथवा चिपके रहना कर्तव्य नहीं कहलाता। और आसक्ति के द्वारा अथवा किसी वासना की पूर्ति के लिए किये गये किसी कार्य को – उसका स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, मैं उसे कर्तव्य की संज्ञा अथवा कर्तव्य का स्थान नहीं दे सकता। ऐसा कर्म आसक्ति तथा हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व से मोह का परिणाम है, स्वतंत्रता और कर्तव्य की उच्च भावना का फल हर्गिज नहीं।

इन्द्रिय संयम, नि:स्वार्थता, प्रेमपूर्ण सेवा, चित्तशुद्धि, चित्त की उपयुक्त एकाग्रता, और हमारी समस्त क्षमताओं को उच्चतर दिशा प्रदान कर परमात्मा के योग्य यन्त्र बनाना ही वास्तविक कर्तव्य है। हम जितने पवित्र होंगे, सर्वव्यापी परमात्मा की उतनी ही श्रेष्ठता और प्रेमपूर्ण सेवा के रूप में अपने कर्म कर सकेंगे, लेकिन हमें यह देखना चाहिए कि उसमें कहीं आसक्ति न हो। आसक्ति को कभी भी कर्तव्य की संज्ञा नहीं देनी चाहिए। चाहे वह और कुछ भले ही हो। अधिकांश लोग अपने तथाकथित कर्तव्य को, इन्द्रिय विषयों के प्रति सूक्ष्म अथवा स्थूल लगाव के कारण व्यक्तियों तथा वस्तुओं की आसक्ति के कारण करते हैं : लेकिन ये कर्तव्य नहीं है इस सन्दर्भ में हमें यथार्थ में जो किसी न किसी प्रकार का दृढ़मूल अहंकार है, तथा जो वास्तविक कर्तव्य है, इन दोनों के बीच अन्तर अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

जब तक हम क्षुद्र अहंकार और उसकी तुच्छ कामनाओं के प्रति अपने अस्वाभाविक लगाव को, सभी प्रकार के इन्द्रिय भोगों तथा वस्तुओं की अत्यधिक लालसा को त्यागने के

१०. भगवद्गीता ३.१७

लिए तैयार नहीं होगें, तब तक हम उच्च सतह पर नहीं उठ पायेंगे तथा इस परिभाषा : "कर्तव्य वह हरजाना है, जो हमें आसक्ति के लिए चुकाना पड़ता है" का अर्थ नहीं समझ पायेंगे। वस्तुत: जो हमारी आध्यात्मिक प्रगति में सहायक हो, वही कर्तव्य है। यह सभी के लिए सामान्य नियम है। अपनी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, दूसरों की सहायता करते हुए अथवा परमात्मा की सेवा (आराधना) आदि विभिन्न कर्तव्य पालन करते हुए हमें आध्यात्मिक प्रगति करनी चाहिए। यदि हम आध्यात्मिक प्रगति न कर सकें तो हमारे कर्तव्य बोध, अथवा जिस भाव से हम कार्य कर रहे हैं, उसमें कोई त्रुटि होनी चाहिए।

ऐसे लोग भी हैं जो उपेक्षा का भाव पोषण करने लगते हैं। सम्भवत: वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के अतिरिक्त अन्य सभी बातों के प्रति उदासीन रहते हैं। अधिकांशत: यह उदासीनता स्वार्थपरता और आलस्य के कारण होती है यह एक तामसिक अवस्था है जिसे आध्यात्मिक व्यक्ति की सच्ची अनासक्ति नहीं समझना चाहिए। ऐसे आलसी और मूढ़ व्यक्ति जीवित से अधिक मृत हैं। वास्तविक अनासक्ति, सच्चा साक्षी भाव सजग बनाता है, और सभी कार्यों को, जिन्हें तुम करने का निश्चय करो, चाहे वह ध्यान हो या कर्म, तीव्रता प्रदान करता है।

कर्तव्यों का द्वन्द्व :

प्राय: हमें लगता है कि हमारा अमुक कर्तव्य है, लेकिन वह हमारे सामर्थ्य के बाहर है, वह हमारे लिए बहुत महान है। ऐसे में क्या करना चाहिए? एक कार्यकारी आपात कर्तव्य की सहायता लो, जिसका लक्ष्य के लिए एक चरण के रूप में उपयोग करो। कर्तव्य के लिए कोई निश्चित मापदण्ड नहीं होता। हमारे विकास के क्रम में कर्तव्य निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। युवक का कर्तव्य बालक के लिए नहीं हैं। वृद्ध का कर्तव्य युवक के लिए नहीं है। गृहस्थ का कर्तव्य संन्यासी के कर्तव्य से भिन्न है। अत: प्रत्येक के कर्तव्य का निर्णय पृथक रूप से करना होगा।

अनेक समय हमारा कर्तव्य बोध हमारी रुचि से मेल नहीं खाता। लेकिन हमें अपने कर्तव्य का अपनी रुचियों के साथ सामञ्जस्य बिठाना सीखना चाहिए, तथा अपने विचारों एवं इच्छाओं का तालमेल कर लेना चाहिए। इस तरह बहुत सी अनावश्यक चिन्ता और संघर्ष से बचा जा सकता है, जो बहुत सी मानसिक शक्ति के क्षय का कारण हो सकता है।

कभी कभी हम शिकायत करते हैं कि जीवन के कर्तव्यों में व्यस्त होने के कारण हमें साधना के लिए समय नहीं मिलता। प्राय: ऐसी शिकायतें निराधार होती हैं। उच्चतर जीवन के लिए सच्ची, गहरी और आन्तरिक पिपासा होने पर साधना और स्वाध्याय के लिए समय सदा मिलेगा। और यदि आन्तरिक व्याकुलता के बावजूद तुम यह न करो तो अन्त में तुम पूर्ण रूप से असन्तुलित हो जाओगे। आत्मा के थोड़े स्फुरण होने पर, चेतना के जाग्रत होने पर उसे हर हालत में आहार प्रदान करना चाहिए अन्यथा व्यक्तित्व में एक गहरी दरार पड़ जाती है, जीवन में बहुत अशान्ति, और चाञ्चल्य, महान असन्तोष और अस्थिरता आ जाती

है। ऐसी स्थिति में अपनी आत्मा को जब तक अतृप्त रखते हो तब तक तुम्हें कभी शान्ति नहीं मिलती।

यह सम्भव हो सकता है कि किसी दिन हमें अपनी साधना (ध्यान, जप) थोडी जल्दी बाजी में करनी पड़े, किसी दूसरे दिन अधिक आराम से तथा अधिक एकाग्रता से, लेकिन यदि हम बिल्कुल ही न करें तो यह विचार हमें सारे दिन निरन्तर कोसता रहेगा और हमारे मन में एक भंवर का निर्माण करेगा। साधना को चाहे जल्द बाजी में हो, या आराम से, दिन-प्रतिदिन काफी लगन के साथ नियमित रूप से, एक निष्ठा के साथ करना चाहिए।

यह कहना कि साधना और स्वाध्याय के लिए समय है ही नहीं, असत्य है। उदाहरण के लिए अगर मैं छः घण्टे सोता हूँ, तो मैं दस मिनट कम सो सकता हूँ, पाँच मिनट आहार के समय से और पाँच मिनट किसी और कार्य से निकाल सकता हूँ, इत्यादि। इस प्रकार मुझे साधना और स्वाध्याय के लिए कम से कम आधा घण्टा मिल जाता है। और ऐसा सभी परिस्थितियों में किया जाना चाहिए : चाहे मन चञ्चल हो, चाहे एकाग्रता के साथ साधना करना सम्भव न हो, चाहे साधना यन्त्रवत् ही क्यों न करनी पड़े, चाहे समग्र मस्तिष्क साधना या गहन चिन्तन के विचार मात्र से विद्रोह ही क्यों न करे। और यह भी कर्तव्य है। क्योंकि दूसरों की सेवा के उद्देश्य से पहले स्वयं की सेवा करने पर मैं उनकी सेवा अधिक दक्षता के साथ, श्रेष्ठतर भावना के साथ कर सकूँगा। सही भावना के साथ, व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना दूसरों के लिए कर्म करने पर हम ध्यान भी अच्छा कर पायेंगे तथा वह पुनः हमें दूसरों के लिए समर्पण की श्रेष्ठतर भावना एवं भगवद् शरणागति के भाव के साथ दूसरों के लिए कर्म करने में सहायक होगा।

कुछ लोग कर्म करते हुए भी जप करते रहते हैं। मन में अद्भुत क्षमताएँ हैं, हमें बस उसे नियन्त्रित और पवित्र करना, तथा सही दिशा में विकसित करना आना चाहिये। परमात्मा के प्रति स्वयं को बिना शर्त, पूर्णरूप से समर्पित करके काफी अच्छी तरह कर्म किया जा सकता है। ...

तब एक समय आता है, जब सब कर्म आराधना बन जाते हैं। और उस शरणागति के प्रार्थनामय भाव के रहने पर भी कर्म आराधना बन जाते हैं। शरणागति और पुरुषार्थ का समन्वय सम्भव है, तथा पूर्ण आत्मविस्मृति में समग्र कर्म किये जा सकते हैं।

कर्म का उच्चतर लक्ष्य :

अधिकांश लोगों के जीवन में उनकी सभी लक्ष्यहीन क्रियायें आदर्श रहित, उच्चतर उद्देश्य रहित होती हैं, जिनके बारे में उन्हें कोई स्पष्ट धारणा नहीं होती। वे केवल अस्पष्ट और मेघवत् धुंधले विचारों और इच्छाओं के सागर में मानो दिशाहीन बहते रहते हैं। वे लोग जिसे सामान्यतः कर्तव्य कहते फिरते हैं, वह वस्तुतः आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। अधिकांश लोग आसक्ति और विषयसुख की लालसा के द्वारा अपने मन को व्यस्त

और क्रियाशील बनाये रखते हैं। आसक्ति की धारणा का अनुसरण करते हुए तथा गलत मूल्यों से चिपके रहकर क्रियाशील रहना सदा आसान होता है और प्राय: हम आसक्ति अथवा किसी न किसी प्रकार के लोभ के कारण उस क्रिया को अपना कर्तव्य कहते हैं। लेकिन वह कर्तव्य है ही नहीं। वह केवल आसक्ति और इन्द्रियसुखों की लालसा मात्र है, भले ही हम उसे कर्तव्य की उच्च संज्ञा देकर सन्तोष का अनुभव क्यों न करें। विशुद्ध कर्तव्य में व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आसक्ति अथवा अहंकार का अंश नहीं होना चाहिए। हमें परमात्मा के प्रति पूर्ण शरणागति के भाव से, व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं बल्कि ''करना है'' इसलिए करना चाहिए।

सामान्यत: लोग अपनी स्थूल और सूक्ष्म व्यक्तिगत वासनाओं और इन्द्रियों के दास होकर कर्म करते हैं। लेकिन महापुरुष अपने अनन्त स्वातन्त्र्य से प्रेरित हो कर्म करते हैं, आसक्ति अथवा सामान्यत: जिन्हें कर्तव्य समझा जाता है, उसके कारण नहीं। वे समस्त कर्म सर्वव्यापी परमात्मा की भक्तिपूर्ण सेवा के रूप में, यह भली भाँति जानकर करते हैं कि वे परमात्मा के हाथों के यन्त्र हैं।

हमारी गतिविधियों का हमारी क्षुद्र वासनाओं के परे एक ऐसा लक्ष्य होना चाहिए। और यह लक्ष्य प्राप्त करना ही चाहिए। हमारी क्रियायें कभी भी लक्ष्यहीन, कर्म के लिए कर्म मात्र नहीं होनी चाहिएं। ऐसे बहुत से लोग हैं, जो ''कर्मठ'' होने का गर्व करते हैं, लेकिन इसका अर्थ इतना ही होता है कि वे चुप नहीं बैठ सकते और उन्हें अपने और अपने विचारों के साथ अकेले रहने के भय से सदा कुछ न कुछ करते रहना पड़ता है। उनकी असम्बद्ध गतिविधि एक बन्दर की क्रियाशीलता के समान है, जो अत्यन्त कार्यरत है अवश्य, लेकिन न जाने किसलिए। यह गर्व की बात नहीं है। ऐसे लोग सदा ही भौतिक स्तर पर कुछ न कुछ करते, देखते अथवा सुनते रहते हैं और उन्हें यदि इनसे रोका जाय तो वे दु:खी हो जाते हैं। वे बौद्धिक स्तर पर और जीवन यापन नहीं कर सकते। अधिकांश लोग आसक्ति और देहात्म बोध से प्रेरित हो श्रीरामकृष्ण की भाषा में ''काम-कांचन'' के लिए कर्म करते हैं। लेकिन कभी यदि उनमें सच्चा कर्तव्य-बोध जाग्रत हो, तो वह भी अच्छा है, फिर भी वह एक प्रकार का बन्धन ही होगा। इससे भी उच्चतर और श्रेष्ठतर है : पूर्ण शरणागति के भाव से सभी प्राणियों में परमात्मा की भक्तिपूर्ण सेवा करना।

अवश्य, उच्चतर आदर्श की कुछ सीमाएँ हैं – उच्चतर आदर्श पर दृष्टि निबद्ध करते ही मैं सभी प्रकार के तथाकथित कर्तव्यों, सभी प्रकार के कर्मों को बिना विचारे, स्वेच्छा से, नहीं कर सकता। मैं असत्य भाषण नहीं कर सकता, चोरी नहीं कर सकता। मैं वैसा कोई भी कार्य नहीं कर सकता जो अनैतिक हो। मैं अपवित्र यौन-जीवन यापन नहीं कर सकता। मैं असन्मानजनक तथा अशिष्ट व्यवहार नहीं कर सकता। कम से कम सचमुच निष्ठावान और संवेदनशील व्यक्ति तो ऐसा नहीं कर सकता। निर्लज्ज व्यक्ति यह सब तथा और भी अधिक कर सकता है। अत: यहाँ भी संवेदनशील व्यक्ति की गतिविधियाँ अविवेकी व्यक्ति से अधिक

सीमित हैं, लेकिन यह सीमा उच्चतर स्तर की है। उच्चतर आदर्श को ईमानदारी से स्वीकार करने पर हम पायेंगे कि कुछ तथाकथित कर्तव्य उससे मेल नहीं खाते। और इन सभी का त्याग अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त और रास्ता नहीं है।

अगर हम कोई समझौता करें तो हमें यह जानना और स्वीकार करना चाहिए कि हम दुर्बल हैं, लेकिन उसे अपनी दुर्बलता के लिए बहाना नहीं बनाना चाहिए, अथवा उसे कर्तव्य तक की संज्ञा नहीं दे देनी चाहिए। और यदि कोई समझौता किया जाय, तो भविष्य में सभी समझौतों से ऊपर उठने के उद्देश्य से ही किया जाना चाहिए। उसे सही ठहराने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। आदर्श को कभी नीचा नहीं करना चाहिए।

कर्तव्य का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। अतः भगवद्गीता में कहा गया है कि बुद्धिमान व्यक्ति भी कर्म और अकर्म के बारे में मोहित हैं![११] जैसा पहले कहा जा चुका है, जो हमारी प्रगति में सहायक हो, वह कर्म है, और जो हमारी प्रगति को रोके या बाधक हो, वह अकर्म है। इसी तरह कहा जा सकता है कि जो हमारे विकास में सहायक हो वह पुण्य है, और जो बाधक हो वह पाप है। लेकिन ये बहुत लचीली और व्यापक परिभाषाएँ हैं। प्रत्येक स्थिति का गुणवत्ता के अनुसार निर्धारण किया जाना चाहिए और सदा न्यूनतर का महत्तर के लिए, तथा निम्नतर आत्मा का उच्चतर आत्मा, परमात्मा के लिए त्याग किया जाना चाहिये। इस तरह क्रमशः हम उच्च से उच्चतर कर्तव्य कर्मों के स्तर पर उठते हुए अन्त में उस लक्ष्य तक पहुचेंगे जहाँ सभी कर्म छूट जाते हैं, और केवल पूर्ण शरणागति और आत्मविस्मृति के भाव से की गई सर्वभूतों में व्याप्त परमात्मा की भक्तिपूर्ण सेवा ही बची रहती है। यही वह आदर्श है जिसका सभी महापुरुष प्रतिनिधित्व करते हैं।

दूसरों की आध्यात्मिक सहायता :

आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने पर दूसरों की आध्यात्मिक सहायता करनी चाहिए। लेकिन उतनी ही सहायता करो जितनी तुममें सामर्थ्य है। अथवा जिनकी सहायता करना चाहते हो, उनके लिए प्रार्थना करो। अगर निष्ठापूर्वक तीव्रता से प्रार्थना करोगे तो प्रभु उनके लिए जो उत्तम होगा, करेंगे। तुम उसी मात्रा में दूसरों की सहायता कर सकते हो जिस मात्रा में प्रभु से, तुम्हारे इष्ट देवता के साथ उनका तादात्म्य है।

अपनी स्वयं की सहायता किये बिना तुम दूसरों की सहायता करने में सफल नहीं हो सकते। अच्छे तैराक होने पर ही, तुम्हें ले जा रही नौका के डूबने पर तुम अपने किसी एक साथी को बचा सकोगे। लेकिन तुम सभी को बचा नहीं सकते और प्रयत्न करने पर तुम्हारे सहित सभी डूब जायेंगे। अतः विचार पूर्वक निष्पक्ष होकर पहले अपनी शक्ति का अंकन करो। उसके बाद अवसर आने पर दूसरों की सहायता करो।

---

११. भगवद्गीता ४.१६

शिव ने संसार की रक्षा के लिए भयंकर विष पान किया था। उनमें विष से अप्रभावित रहते हुए उसे हजम करने की क्षमता थी। पहले शिवसम महान पवित्रता अर्जित करो, तब तुम संसार का विष दूर कर सकोगे। कम मात्रा से प्रारम्भ ही श्रेयस्कर है। आध्यात्मिक शक्ति की वृद्धि, और अधिक पवित्र, होने पर तुम बिना हानि अधिक मात्रा को हजम कर सकोगे। जितना अधिक तुम दूसरों के दुःखों का अनुभव करोगे और उनकी सहायता करना चाहोगे उतना ही तुम्हें अनासक्त होना होगा और अपने इष्ट देवता की ओर बढ़ना होगा। अपने और दूसरों के लिए प्रार्थना करो। चाहे कुछ भी हो प्रभु की सच्ची सन्तान बनना सीखो और प्रभु से उनमें तथा स्वयं में अविचल श्रद्धा के लिए प्रार्थना करो। परमात्मा को अपना सर्वस्व बनाओ तब उन्हें कुछ भी प्रभावित नहीं कर सकेगा। अन्तर्यामी परमात्मा के साथ सम्पर्क बनाए रखने पर तुम जहाँ कहीं भी रहो सदा सुरक्षित रहोगे। पवित्र, एक निष्ठ और दृढ़ निश्चयवान होओ, तब तुम निश्चित रूप से लक्ष्य प्राप्त करोगे।

अध्याय ६

आध्यात्मिक जीवन की शर्तें

आदर्श में श्रद्धा :

उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के पूर्व भी हम परमात्मा के प्रति अत्यन्त स्पष्ट और दृढ़ विश्वास स्थापित कर सकते हैं, क्योंकि उसका भाव हमारे भीतर बद्धमूल है। आध्यात्मिक जीवन की पहली शर्त इस विश्वास का उदय है। हमारी आत्मा, परमात्मा का एक प्रतिबिम्ब है। और हम प्रकाश को स्पष्ट रूप से भले ही न देख पाएँ, लेकिन प्रतिबिम्ब प्रकाश के अस्तित्व को सिद्ध करता है। हम चिरन्तन बने रहना चाहते हैं, इसका कारण यह है कि हमारा वास्तविक स्वरूप नित्य है। देह, मन और इन्द्रियाँ नित्य नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे सदा परिवर्तनशील हैं। इन सब से भिन्न हमारा अहंबोध है, जो परिवर्तित नहीं होता। जब हम उस आत्मा या अध्यात्म-चेतना के बारे में सोचने का प्रयत्न करते हैं जो किसी कारण से हमारे विचारों और देह-बोध से संयुक्त हो गई है, तब हम वस्तुत: चरम सत्य के स्वरूप के विषय में ही अनुसन्धान करते हैं।

जब तक हमें पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक हमें चरम सत्य के बारे में किसी मान्यता या अवधारणा से काम चलाना होगा। लेकिन हर अवस्था में अपनी श्रद्धा और विश्वास की पुष्टि कर लेनी चाहिए। यदि श्रद्धा सत्य पर आधारित होगी, तो वह वर्धित होती जाएगी। यदि श्रद्धा या विश्वास सत्य पर आधारित नहीं होगे, तो वे कुछ समय तक बने रहेंगे, उसके बाद नष्ट हो जायेंगे।

जीवन का लक्ष्य मुक्ति – भय, दु:ख, बारम्बार जन्म-मृत्यु के कष्ट और श्रम से मुक्ति और परम शान्ति की प्राप्ति है। और इन्हें पाने का उपाय आत्म-ज्ञान है। भारत में हजारों सन्तों ने युगों से यह घोषणा की है। आध्यात्मिक-जीवन की प्रथम शर्त आध्यात्मिक लक्ष्य अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के लक्ष्य में श्रद्धा है। अपनी साधना का प्रारम्भ करने के पूर्व यह लक्ष्य स्पष्ट और सुनिश्चित होना चाहिए। हमें लक्ष्य अर्थात् जीवन के लक्ष्य तथा पथ की बहुत स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। जब तक हमारे सभी विचार और भावनाएँ अस्पष्ट, धूमिल और काल्पनिक बनी रहेंगी, तब तक हमारे जीवन में निरन्तर द्वन्द्व होते रहेंगे, जो हममें से अधिकांश को लक्ष्य की ओर एक कदम भी नहीं बढ़ने देते। हमारा चिन्तन बहुत छिछला होता है, हमारी भावनाएँ गहरी नहीं होती, हमारी इच्छाओं और क्रियाओं की दिशाएँ

अनिश्चित होती हैं। उनके पीछे कोई वास्तविक तीव्र प्रेरणा अथवा स्पष्ट प्रयोजन अथवा गहन चेतना नहीं होती।

झेन बौद्ध-साहित्य में एक शिक्षाप्रद कथा है :

एक साधु ने एक झेन आचार्य से पूछा : मैं समझता हूँ, कि जब एक सिंह अपने शिकार को, चाहे वह खरगोश हो या हाथी, पकड़ता है, तो अपनी सारी शक्ति को पूरी तरह से केन्द्रित करके एक ही बार में नियोजित करता है। इस शक्ति का क्या स्वरूप है? आचार्य ने उत्तर दिया, "पूरी ईमानदारी का भाव, अपने आप को न छलने की शक्ति।" (इस संक्षिप्त उत्तर की व्याख्या यों की गई है) न छलने का अर्थ है, अपनी पूरी शक्ति लगा देना। इसे अपनी समग्र सत्ता को कार्य में लगाना कहते हैं, जिसमें कुछ भी बचाकर नहीं रखा जाता अथवा बाह्य आचरण में कोई छल नहीं होता, कुछ भी शक्ति व्यर्थ नहीं जाती। जब मनुष्य इस तरह का जीवन यापन करता है, तब वह 'नर-केसरी' कहलाता है और वह पौरुष, ईमानदारी, पूर्ण निष्ठा का प्रतीक होता है।

दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक-जीवन में जिस बात की आवश्यकता है वह है आत्मा के वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि करने की अपनी क्षमता में श्रद्धा। यह श्रद्धा समस्त रुद्ध-शक्ति को सही दिशा में प्रवाहित कर देती है।

संशय एक बहुत बड़ी बाधा है, जो आध्यात्मिक जीवन में सारी प्रगति को अवरुद्ध कर सकती है। वह सभी प्रारम्भिक साधकों के समक्ष कभी न कभी उपस्थित होती है। संशय का अर्थ है, स्वयं तथा परमात्मा में श्रद्धा का अभाव। और परमात्मा का साक्षात्कार किए बिना वह पूरी तरह दूर नहीं होता। फिर भी हमें संशय द्वारा अभिभूत नहीं हो जाना चाहिए तथा आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के अपने संकल्प से विचलित नहीं होना चाहिए।

हमें अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि इहलौकिक अथवा पारलौकिक सुख भोग हमारे जीवन के लक्ष्य नहीं हैं। आध्यात्मिक अनुभूति ही हमारा एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। स्वर्ग सुख पार्थिव सुख से श्रेष्ठतर नहीं हैं, और जब तक हममें स्वर्ग-सुख भोग की लालसा है, तब तक हम आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते। आखिर स्वर्ग भी एक बड़ी तुच्छ वस्तु ही है।

स्वर्गारोहण के बारे में एक कथा है। एक गोल्फ-प्रेमी मर कर स्वर्ग गया। वहाँ पहुँचते ही उसने पूछा, "क्या यहाँ गोल्फ खेलने के मैदान हैं?" उसे उत्तर मिला, "गौल्फ के मैदान और स्वर्ग में? ऐसा कभी नहीं होता।" "तो फिर मुझे ऐसा स्वर्ग नहीं चाहिए। मैं दूसरे स्थान को जाता हूँ।" अत: उसे दूसरे स्थान ले जाया गया। वहाँ प्रवेश करते ही उसके पथ-प्रदर्शक ने गोल्फ के बढ़िया मैदान दिखाए। तब उसने पूछा, "लेकिन भले आदमी, गोल्फ खेलने के बल्ले कहाँ हैं?" उसके पथ प्रदर्शक ने कहा, "भाई, यहाँ केवल गोल्फ के मैदान हैं, गोल्फ के बल्ले नहीं और यही नारकीय दुर्भाग्य है।"

हम पूरा-पूरा सांसारिक जीवन और उच्चतर जीवन एक साथ नहीं जी सकते। हम

सांसारिक प्रेम की ओर भागते रहें और साथ ही उच्चतर भगवत् प्रेम भी प्राप्त कर लें – यह नहीं हो सकता। भगवान् और संसार का प्रेम, भगवान् और सांसारिक वासनाएँ और सुख एक साथ नहीं रह सकते। जैसा कि महान सन्त तुलसीदास ने कहा है : "जहाँ काम तहाँ राम नहीं, जहाँ राम नहीं काम।" ईसा मसीह ने कहा है, "तुम ईश्वर और शैतान (दौलत) की एक साथ सेवा नहीं कर सकते।"[१]

हम अपने मन को टटोलें और पूछें – क्या हम सचमुच ईश्वर को चाहते हैं? यदि हम संसार के लोगों का प्रेम चाहते हैं, अथवा दुनिया की चीजें चाहते हैं तो हमें ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। यदि हम संसार की चीजों में सन्तोष और तृप्ति का अनुभव करते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि हमें ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। ऐसी दशा में यदि ईश्वर हमें नहीं मिलते तो शिकायत की कोई बात नहीं है। अत: प्रत्येक साधक को अपने आप से बीच बीच में पूछना चाहिए कि क्या वह सचमुच ईश्वर को चाहता है अथवा किसी दूसरी चीज की इच्छा रखता है। यदि वह वास्तव में ईश्वर को चाहता है तो उसे ईश्वर अवश्य मिलेंगे, क्योंकि ईश्वर ऐसे ही भक्त के पास आते हैं, जो केवल उन्हीं को चाहता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "यदि साधक ईश्वर की ओर एक कदम बढ़ाता है, तो ईश्वर उसकी ओर दस कदम बढ़ आते हैं।"

हमारी सारी कठिनाई यह है, कि हम इस दृश्य जगत् को उसमें दिखाई दे रहे लोगों सहित सभी कुछ अत्यन्त सत्य समझते हैं। और दो सत्य एक साथ हम में नहीं रह सकते। अत: सर्वप्रथम प्रत्येक साधक के हृदय में एक शून्यता, एक अभाव की सृष्टि की जानी चाहिए। बाद में उस अभाव को परमात्मा से पूर्ण किया जा सकता है।

हम जिसे सत्य समझते हैं, जिस वस्तु को भी यथार्थ और नित्य मानते हैं, वह हमारी समग्र-सत्ता को खींचती है, हमारे पूरे मन पर छा जाती है, हमारी समस्त भावनाओं को आकर्षित करती है। यह आध्यात्मिक-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण नियम है। और वेदान्त के अनुसार कोई भी वस्तु, जो सभी अवस्थाओं में अपरिवर्तित न रह सके, वह चरम-सत्य नहीं हो सकती। जो भूतकाल में थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी बिना परिवर्तन के नित्य बनी रहेगी, वही सत्य है। वे सभी वस्तुएँ जो परिवर्तित होती हैं, क्षय, वृद्धि या ह्रास को प्राप्त होती हैं, वे सभी असत्य की श्रेणी में आती हैं। एक छोटे बच्चे को माँ ने पूछा, "स्वप्न क्या है?" बच्चे ने उत्तर दिया, "वह मानो आँखे बन्द करके सिनेमा देखना है।" यदि हम में बालक की सी सरलता और पवित्रता हो तो हम जाग्रतावस्था को भी इसी तरह अनुभव कर सकते हैं। अपना विश्लेषण करने पर हम पाते हैं, कि एकमात्र चेतना ही अपरिवर्तनीय बनी रहती है। शुद्ध-चैतन्य एक पर्दे के समान है, जिसपर यह जगत् रूपी चलचित्र प्रक्षेपित हो रहा है।

---

१. बाईबिल, संत मैथ्यू, ६.२४

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : "एकमात्र ईश्वर ही सत्य है, एकमात्र आत्मा ही सत्य है, एकमात्र धर्म ही सत्य हैं। इसी सत्य को पकड़े रखिए।"[२]

हमें कभी उच्च आदर्श को नीचा करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु सदा आदर्श के अनुरूप अपने को गढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि आदर्श बहुत ऊँचा हो, तो एक काम चलाऊ आदर्श को जीवन के चरम लक्ष्य, उस उच्च आदर्श तक पहुँचने की सीढ़ी के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। परमात्मा के साक्षात्कार-रूपी उच्चतम आदर्श की प्राप्ति न होने तक हमें वहीं समझौता नहीं करना चाहिए। यदि हम इस उच्च आदर्श की प्राप्ति में असफल रहें, तो हम यह जानें कि हम केवल असफल रहे हैं। हमें अधिकतर उत्साह के साथ और निश्चय पूर्वक आदर्श की प्राप्ति के लिए लगे रहना चाहिए। निम्न आदर्शों के पीछे नहीं भागना चाहिए।

धर्म की मुख्य बातों को गौण से अलग करना :

साधक की दूसरी अनिवार्य योग्यता धर्म की मुख्य बातों को गौण बातों से पृथक् करने की क्षमता है। जो धर्म की गौण बातों को वास्तविक आध्यात्मिक-जीवन समझने की गलती करते हैं तथा निरर्थक बातों में खो जाते हैं, वे कभी आध्यात्मिक-प्रगति नहीं कर पाते। तथा कथित रूढ़िवादी लोगों की यही दशा होती है जो धार्मिक आचारों का कड़ाई से पालन करने पर भी जहाँ के तहाँ बने रहते हैं। वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाते हैं।

धर्म किताबी ज्ञान से भिन्न और उससे कुछ अधिक है। आजकल पुस्तकें सभी जगह उपलब्ध हैं – सभी धर्मों पर पुस्तकें हैं, विभिन्न धर्मोंके सन्देश को विभिन्न रूपों में पहुँचाने वाली पुस्तकें हैं। किन्तु केवल पाण्डित्य से, केवल बौद्धिक अध्ययन से तुम सत्य को नहीं पहचान सकते। यदि केवल बौद्धिक जीवन को ही हम बहुत अधिक महत्त्व दें, तो हम धर्म के इस सारतत्त्व का अनुभव नहीं कर सकते कि 'सत्य एक है, विद्वान् लोग उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।'[३]

व्यक्ति विद्याध्ययन कर पारंगत हो जाए, लेकिन महान् पण्डित बनने के बाद, वासनाओं का त्यागकर ज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ती के आश्रय से जीवन यापन करें।[४]

सरल हुए बिना आध्यात्मिक जीवन बन नहीं सकता। हमें समस्त छल-प्रपञ्च और कपट-छद्म से दूर रहना होगा। यदि साधक प्रगति चाहता है तो उसे मन की समस्त विकृतियों और दुष्टताओं का त्याग करना होगा। उसे सीधा, सरल, पूर्णरूपेण ईमानदार, स्पष्टभाषी और ध्यानप्रिय व्यक्ति बनना होगा। उसमें पाण्डित्य का अहंकार और दम्भ नहीं होने चाहियें।

---

२. विवेकानन्द साहित्य ३. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद १.१६४.४६

४. तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेन् – बृहदारण्यक उपनिषद् ३.५.१, तथा उसपर शांकर भाष्य

आध्यात्मिक जीवन के मूलतत्त्वों को समझकर, तथा परमात्मा की स्पष्ट धारणा कर लेने के बाद नियम पालन का प्रयत्न करना चाहिए। सतही और असार बातें ज्यादा मत पढ़ो। ऐसा पठन केवल अशान्ति और परेशानी पैदा करता है।

शब्द जालं महारण्यं चित्त भ्रमण कारणम्।
अतः प्रयत्नात् ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैः तत्त्वमात्मनः।।
वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां यद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये।। (विवेक चूडामणि, ६०,५८)

अर्थात् "शब्दजाल एक वन के समान है, जिसमें चित्त भ्रमित हो जाता है। अतः तत्त्वज्ञ व्यक्ति को आत्मतत्त्व जानने का प्रयत्न करना चाहिए। विद्वत्ता, शब्दझरी, शास्त्र-व्याख्यान का कौशल, एक विद्वान को सुख प्रदान कर सकते हैं, लेकिन मुक्ति नहीं दे सकते।"

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें विद्याध्ययन नहीं करना चाहिए, बल्कि इसका आशय यह है कि हमें सत्य के साक्षात्कार की दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। तुम्हें श्रीरामकृष्ण की वह कथा ज्ञात होगी। एक व्यक्ति को घर से एक पत्र मिला जिसमें उसके रिश्तेदारों को कुछ भेंट भेजने के बारे में सूचना थी। पत्र की विषयवस्तु जानने के बाद व्यक्ति ने पत्र फेंक दिया और वह सामान खरीदने में लग गया।[५] वेदान्त में स्वाध्याय को सदा प्रोत्साहित किया गया है, लेकिन दैनिक अध्ययन के साथ कुछ ठोस आध्यात्मिक साधना भी होनी चाहिए। तुम्हें सदा नियमित स्वाध्याय और जीवन की समस्याओं और सत्य के विषय में गहन चिन्तन के द्वारा अपनी बुद्धि को संस्कारित करते रहना चाहिए। पुस्तक पठन, मनन-चिन्तन, और गहरे अध्ययन की ऐसी आदत बना लो कि जिस दिन तुम किसी पुस्तक का गम्भीरता से विचार करते हुए अध्ययन न कर पाओ, उस दिन तुम्हें दुःख हो। यह दैनिक अध्ययन तुम्हारी साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाना चाहिए।

बुद्ध का जीवनोद्देश्य लोगों को यह बताना था कि क्रिया-अनुष्ठानों को अधिक महत्त्व न देकर पवित्रता, ध्यान, साधना और संयम का जीवन यापन करें, जिससे धर्म उनके जीवन में उतर सके। नैतिक और पवित्र जीवन-यापन किए बिना आध्यात्मिक होना या प्रगति करना सम्भव नहीं है। उनके बिना ये सारी बातें शुभ-कल्पना मात्र बनी रहती हैं। तात्पर्य यह है, कि हमें धर्म की अनिवार्य बातों को गौण बातों से पृथक् करना सीख लेना चाहिए।

बुद्ध ने ईश्वर के सम्बन्ध में क्या कहा था? वे ईश्वर के बारे में कुछ नहीं बोले थे। परमेश्वर के बारे में बोलने की अपेक्षा ईश्वरीय पथ का अनुसरण करना और आध्यात्मिक जीवन यापन करना कहीं अधिक आवश्यक है। लोग प्रायः कहते हैं, "हे प्रभु, तुम कितने सुन्दर हो! तुम्हारा यह आकाश, ये तारे, यह सारी सृष्टि कितनी सुन्दर है?" पर वे भूल जाते

---

५. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग (१९९५), पृ. १९९

हैं कि स्रष्टा सदा ही अपनी सृष्टि से बड़ा होता है, और इतनी छोटी सी वस्तु (सृष्टि) के लिए गर्व नहीं करता। भले ही हमारे मानवी मापदण्ड से यह सृष्टि महान् दिखाई दे, किन्तु परमात्मा के लिए तो वह एक तुच्छ वस्तु ही है। अतः भगवत् पथ का अनुसरण करना भगवान् की उसके बाह्य ऐश्वर्यों के लिए स्तुति करने से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह स्तुति प्रायः मौखिक औपचारिकता मात्र रह जाती है।

एक बार बुद्ध से पुछा गया, "देव, क्या ईश्वर है?" "क्या मैंने कहा है कि ईश्वर है?" बुद्ध ने उत्तर दिया। इसपर प्रश्नकर्ता ने निष्कर्ष निकाला, "तो ईश्वर नहीं है।"

लेकिन बुद्ध ने उसका विरोध किया, "क्या मैंने कहा है कि ईश्वर नहीं है?"[६]

बुद्ध बाल की खाल निकालने वाली कोरी कल्पनाओं का अन्त करना चाहते थे, और लोगों से दुःख और कष्ट से स्वयं की मुक्ति के लिए कुछ कार्य करवाना चाहते थे। अतः उन्होंने कहा, "जब घर में आग लग जाय तो तुम आग बुझाने का प्रयत्न करोगे अथवा केवल आग के कारण की खोज करोगे?" लेकिन हम कई बार मूर्खतावश कारण की खोज पहले करते हैं और इस प्रयास में सफल होने के पूर्व ही सारा घर जल जाता है और केवल राख का ढेर बच रहता है। हमें सदा धर्म के मूल तत्त्वों को गौण तत्त्वों से पृथक करना सीख लेना चाहिए।

पुरुषार्थ :

पुरुषार्थ का अर्थ है, वर्षों से हमारे द्वारा निर्मित मनोजगत से परे जाने का प्रयत्न। अधिकांश लोग उसे त्यागना नहीं चाहते। वे इतने आलसी होते हैं कि अपने मन के विपरीत कुछ भी नहीं कर पाते। एक बार श्रीरामकृष्ण ने माँ जगदम्बा से शिकायत करते हुए कहा था कि उन्होंने खाना पकाकर लोगों के सामने परोस दिया है, लेकिन फिर भी वे खाने का कष्ट भी नहीं उठाना चाहते। हम सदा यही चाहते हैं कि कोई और हमारा सभी काम कर दे। साधक के लिए स्वप्रयत्न के सिवाय परातुष्टित मुक्ति नहीं हो सकती। तथाकथित धार्मिक लोगों में अधिकांश आध्यात्मिक जगत और धर्म-जीवन पर परावलम्बी भार स्वरूप हैं। उनके लिए यही अच्छा है कि वे कोई दूसरा कार्य करें।

आध्यात्मिक-जीवन का निष्ठापूर्वक प्रारम्भ करने के पूर्व हमें यह निर्णय कर लेना चाहिए कि हम उसकी पूरी कीमत चुकाने के लिए सचमुच तैयार हैं या नहीं। सामान्यतः हम में सांसारिक और आध्यात्मिक ये दो प्रवृत्तियाँ होती हैं। यदि प्रारम्भ में दोनों ही समान रूप से बलवती हों, तो आध्यात्मिक प्रवृत्ति को अधिक बलवान बनाना चाहिए अन्यथा प्रगति नहीं होगी और अन्तर्द्वन्द्वों का कभी अन्त नहीं होगा। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि

---

६. एफ. एल. वुडवर्थ कृत "सम सेईंग्स ऑफ बुद्ध", (लन्दन, ऑक्फोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९५१), पृ. २२३ से गृहीत

आदर्श सदा के लिए निश्चित कर लिया जाए और चाहे कुछ भी हो, उसे न त्यागा जाए। यदि हम अनेक कठिनाईयों और विपत्तियों से परिपूर्ण कठिन-पथ पर चलना चाहते हैं तो कठिनाईयों पर विजय पाने के लिए भी कृत-संकल्प होना चाहिए। यदि हम समस्त असत् दृश्य-प्रपञ्च के परे जाना चाहते हैं तो हममें निर्भयता, शूरवीरता और कुछ मात्रा में दु:स्साहस भी होना चाहिए। साधक का पथ अत्यन्त खतरनाक है, सर्वत्र खतरे और आपत्तियाँ विद्यमान हैं और एक बार उनमें फँसने पर अधिकांश लोगों के लिए कोई उपाय नहीं रहता। समस्त सांसारिक इच्छाओं और अहं-बोध को त्यागे बिना उच्च-आदर्श का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

हम एक लम्बी रस्सी से बँधी गायों के समान हैं। गायें घास खा सकती हैं और उन्हें चलने-फिरने की कुछ स्वाधीनता प्राप्त है। लेकिन मूर्ख गायें केवल घूमती जाती हैं और सारी रस्सी लिपट जाती है। तब वे अपने पैरों के पास की घास भी नहीं खा पाती। भगवान् मनुष्य को बहुत लम्बी रस्सी देता है लेकिन बिरले ही मानव उसका समुचित उपयोग कर पाते हैं। प्राय: वह उसी में असहाय रूप से फँस जाता है और हिल डुल नहीं पाता। पर यह भगवान् का दोष नहीं है। सारी जिम्मेदारी अपने कन्धों पर लेना सीखो। अपने पर जो बीतती है, उसके लिए भगवान् को दोष देना बहुत गलत है। क्षण-भर के सुख के लिए तुम सब कुछ भूल जाते हो और भगवान् युगों से मानव को जो कहता रहा है, उसे नहीं सुनते।

यदि आध्यात्मिक-जीवन का उद्देश्य हमारी भावनाओं को पवित्र और उदात्त करना है, तो इसका अर्थ यह भी है, कि साथ ही हमारी इच्छाशक्ति का विकास हो और मन उच्चतर दिशा में लगे। इसका उच्चतर जीवन के लिए पूरा सदुपयोग होना चाहिए। संसार में महान् इच्छाशक्ति और चित्त की एकाग्रता दिखाई देती है, लेकिन दोनों को गलत दिशा प्रदान की जाती है जिसके कारण मानव गहन से गहनतर अन्धकार और अज्ञान में पतित होता जा रहा है। संसार में दिखाई दे रही इच्छाशक्ति को यदि सही दिशा प्रदान की जाय, तो हमारा यह संसार तत्काल स्वर्ग बन जाए।

एक बालिका की उपचारिका ने बालिका की माता से शिकायत करते हुए कहा कि उसके लिए बालिका को नियन्त्रित करना कठिन है। माँ ने उपचारिका को अधिक इच्छाशक्ति का उपयोग करने को कहा। उसने उत्तर दिया, 'मैं कोशिश करती हूँ लेकिन बालिका की नकारात्मक-शक्ति, मेरी इच्छा शक्ति से अधिक है।' यही समस्या आध्यात्मिक बालक की भी है। वह बहुत सी बातें करना चाहता है, वह सदा ध्यान करना चाहता है, वह आध्यात्मिक विचारों में डूबा रहना चाहता है, लेकिन उसका मन विद्रोह करता है। ईसाई मान्यता के अनुसार मानव की इच्छा स्वभावत: विकृत है। हिन्दू मान्यता यह है कि मन की बुराईयाँ संस्कारों के कारण हैं। इनके कारण इच्छाशक्ति का सही दिशा में उपयोग कठिन हो जाता है। लेकिन संस्कारों को बदला अथवा नष्ट भी किया जा सकता है। शुभ कर्मों तथा सत्संग से अच्छे संस्कार पड़ते हैं। यही नहीं इच्छाशक्ति का निरन्तर प्रयोग करने से, चाहे वह कितना

ही कम क्यों न हो, बलवती होती है। उसके बाद आध्यात्मिक-जीवन आसान हो जाता है।

भगवत्कृपा पुरुषार्थ के रूप में आती है। इच्छाशक्ति का सही दिशा में सदुपयोग करने की तीव्र प्रेरणा और मार्ग की सभी बाधाओं को ध्वंस करने का प्रबल संकल्प, भगवत्कृपा के लक्षण हैं। श्रीरामकृष्ण का कथन है :

जब तक ईश्वर नहीं मिलते, तब तक जान पड़ता है, हम स्वाधीन हैं। यह भ्रम वे ही रख देते हैं, नहीं तो पाप की वृद्धि होती, पाप से कोई न डरता, न पाप की सजा मिलती। जिन्होंने ईश्वर को पा लिया है, उनका भाव क्या है, जानते हो? मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री हो; मैं रथ हूँ, तुम रथी हो।[७]

एक दिन एक भक्त ने श्रीसारदादेवी से पूछा, यदि भगवान् हमारे अपने हैं, तो वे दर्शन क्यों नहीं देते? माँ सारदा ने उत्तर दिया, कि बिरले लोगों में ही वैसी आन्तरिकता होती है; अधिकांश लोगों के लिए धर्म केवल औपचारिकता होती है। परमात्मा के साथ हमारे अभिन्नत्व के ज्ञान के लिए पुरुषार्थ आवश्यक है। चित्तशुद्धि के बाद अपनी इच्छा को भगवदिच्छा में लीन करने पर हमें पता चलता है, कि सभी कुछ भगवान् की इच्छा से हो रहा है। तब पुरुषार्थ और भगवत्कृपा का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है।

संसार के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन :

इससे यह स्पष्ट है कि हमें अपने तथा दूसरों के प्रति दृष्टिकोण को परिवर्तित करना होगा। दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना होगा। आध्यात्मिक-जीवन से संसार के प्रति हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होना चाहिए। पारिवारिक-बन्धन में आबद्ध लोगों को अपने वर्तमान सम्बन्धों का उदात्तीकरण करना चाहिए। यदि दूसरे लोग तुम्हारे दृष्टिकोण को न समझें या उसे पसन्द न करें, तो इसका यह अर्थ नहीं कि तुम उनके अनुसार चलो। यदि आध्यात्मिक जीवन के विषय में द्विपक्षीय समझौता नहीं हो सकता तो तुम्हें अकेले निर्णय लेना होगा। तुम्हें परमात्मा के माध्यम से दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना सीखना चाहिए। एक बार आध्यात्मिक आदर्श को स्वीकार करने पर उसे अपने सम्बन्धों और मनोभावों के माध्यम से प्रकट होने दो।

आध्यात्मिक-जीवन में दो खतरों से बचो। प्रथम, किसी मानवाकृति को मानवी-प्रेम करना, पर झूठमूठ उसे दैवी-प्रेम कहना। द्वितीय, उचित भावनाओं की भी अत्यधिक उपेक्षा करना और अत्यधिक स्वार्थी हो जाना। ये दोनों आध्यात्मिक-जीवन के लिए हानिकारक हैं। दूसरों से सही रीति से प्रेम करने और उनकी सेवा करने के लिए हमें अपने जीवन में परमात्मा के प्रकाश को अभिव्यक्त करना चाहिए। तब मौन, भावुक उद्गारों से अधिक मुखर होगा, और यदि बोलने की आवश्यकता होगी, तो वह अधिक उपयोगी और प्रभावशाली होगा। दूसरों

---

७. श्रीरामकृष्णवचनामृत – १, द्वादश संस्करण, पृ. २८४

के साथ सभी सम्बन्ध परमात्मा के माध्यम से स्थापित किए जाने चाहिएँ। आसक्त हुए बिना भी दूसरों के प्रति दयालु, प्रेमपूर्ण और सहानुभूति सम्पन्न हुआ जा सकता है। सब कुछ हमारे अपने प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन पर निर्भर करता है।

आध्यात्मिक-जीवन से ईश्वर तथा संसार के प्रति हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन आना चाहिए। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हम स्वयं अपने प्रति दृष्टिकोण बदलें। आध्यात्मिक-जीवन में यह बात हृदयंगम करना बहुत आवश्यक है। जब तक व्यक्ति अपने को देह और मन से पृथक् आत्मा नहीं समझता, तब तक उसके आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ ही नहीं होता। हमारी अपनी पुरानी छबियों के बदले एक नई 'आत्म-छवि' का निर्माण करना चाहिए। अपने विषय में यह परिवर्तित दृष्टिकोण साधक का अन्य साधारण तथाकथित धार्मिक लोगों की अपेक्षा विशेष है। जब सर्वप्रथम यह परिवर्तन होता है, तब यह सम्भव है कि साधक की आत्मा के सम्बन्ध में धारणा अस्पष्ट हो। कोई भी अवधारणा क्यों न हो, यदि वह आत्मा को देह और मन से भिन्न कोई वस्तु मानता हो और उससे अपना एकत्व अनुभव करता हो, तो यही पर्याप्त है।

एक चीनी व्यक्ति की एक सत्य-कथा है जिसे साठ साल तक जेल में बन्दी रखा गया था। नये सम्राट के राज्यभिषेक पर उसे मुक्त किया गया, लेकिन बाहर निकलते ही वह चिल्ला उठा, "मैं इतना प्रकाश, इतनी स्वाधीनता सहन नहीं कर सकता।" अत: उसी की विनती पर उसे पुन: काल-कोठरी में भेज दिया गया। हमारे साथ भी कुछ इसी तरह की बात होती है। हम अपने अज्ञान और दु:ख के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि नया-जीवन नहीं चाहते। हम अपने कलुषित अहंकार के इतने आदी हो जाते हैं कि अपनी वास्तविक आत्मा के उज्ज्वल प्रकाश को सहन नहीं कर पाते।

हममें से कुछ लोग मानसिक रोग से इतने रुग्ण भले ही न हों कि उन्हें पागलखाने भेजा जाए, फिर भी हमें मानसिक समस्याएँ हैं, और हम द्वन्द्वपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। हमें शीघ्र अपने-आपको सुधारना और अच्छा जीवन यापन करना सीखना चाहिए। कहीं ऐसा न हो, कि बहुत देर हो जाय। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा. युंग ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है; 'मेरे रोगियों में से एक तिहाई को कोई निश्चित मनोरोग नहीं है, लेकिन वे जीवन में रिक्तता और अर्थ हीनता से ग्रसित हैं'[८]

उच्चतर आदर्श को प्राप्त करने की यह लालसा आधुनिक मानव के जीवन में अर्थ खोजने के प्रयासों के पीछे कार्य कर रही है। आइन्स्टीन का सापेक्षतावाद का सिद्धान्त, मेक्स-प्लेंक का क्वाण्टम-सिद्धान्त, रेडियोधर्मिता का आविष्कार, असंख्य सौर मण्डलों का अस्तित्व, डार्विन का क्रमविकासवाद, मानव के अचेतन मन के बारे में फ्रायड के

८. कार्ल-युंग, मॉडर्न मेन इन सर्च ऑफ ए सोल, (लन्दन, रोलेज केगन पाल एण्ड को. १९५३) पृ. ७०

अनुसन्धान और आधुनिक-विज्ञान की अन्य उपलब्धियों ने मानव-मूल्यों को अस्थिर बना दिया है। जो पहले स्पष्ट और निश्चित समझा जाता था, वह अब अज्ञात और अस्थिर हो गया है। दो विश्वयुद्धों और अन्य सामाजिक परिवर्तनों के कारण नैतिकता की धारणा सापेक्ष हो गई है। मानव-मूल्यों की अस्थिरता और मानव-जीवन की अर्थ हीनता का भाव आधुनिक कला, साहित्य और दर्शन में परिलक्षित हो रहा है।

ईश्वर के प्रति सही दृष्टिकोण और भगवत्कृपा :

हमारा जन्म क्यों हुआ है? मानव अस्तित्व का क्या प्रयोजन है? पाश्चात्य में बहुत से लोग यह मानते हैं कि हम जड़ पदार्थ से निर्मित हैं तथा उसके कठोर नियमों द्वारा असहाय रूप से बद्ध हैं। कुछ लोग यह सोचते हैं कि मानव का जन्म भूल से हो गया है। कुछ प्रमुख वैज्ञानिकों ने मन को जड़ पदार्थ का एक सूक्ष्म परिणाम सिद्ध करने का तथा उसके लिए आध्यात्मिक लक्ष्य निर्धारित करने का प्रयास किया है। विचारों के इस विभ्रम के बीच संघबद्ध-ईसाई धर्म-समुदाय 'शून्य में से सृष्टि' तथा 'आदि-पाप' की अपनी धारणाओं को किसी तरह पकड़े हुए हैं।

बौद्ध, जिनमें से अधिकांश नित्य-आत्मा में विश्वास नहीं करते, यह मानते हैं कि मानव अज्ञानमूलक वासनाओं के कारण जन्म-मरण-चक्र में घूम रही परिवर्तनशील ईकाईयों का समूह है। वे व्यक्तित्व की तुलना बहती नदी या दीप-शिखा से करते हैं। वे परिवर्तन को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं, और मानव की अपरिवर्तनशील-सत्ता को भूल जाते हैं।

अधिकांश आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त को त्याग दिया है कि मन जड़-मस्तिष्क का एक उप-विकार अथवा गौण उत्पादन है जो उससे उसी तरह पैदा होता है, जिस तरह लिवर (यकृत) से पित्त पैदा होता है। उनमें से अधिकांश यह मानते हैं कि मन उतना ही सत्य है जितनी देह। उनका कथन है, कि एक व्यक्ति देह और मन अथवा मन और देह नहीं है, बल्कि समन्वित देह-मन है।[९] कुछ विचारक इसके भी आगे जाना चाहते हैं। वे कहते हैं, कि मन जड़ से भिन्न है, उसे देखा, छुआ, तोला या नापा नहीं जा सकता है। उनकी भाषा में वह कुछ 'आध्यात्मिक' सा है। पाश्चात्य देशों में जो व्यक्ति मन और उसकी आवश्यकताओं को देह से श्रेष्ठतर समझता है, वह व्यक्ति आध्यात्मिक कहलाता है। धार्मिक-पुरुष यह मानता है कि उसका मन या 'आत्मा' देह की मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है। मन ही क्रिया की प्रेरक-शक्ति है। मानव का व्यक्तित्व मानसिक घटकों के सन्दर्भ में उसके व्यवहार की समष्टि है, लेकिन मानसिक शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए उसे एक देह की आवश्यकता होती है। लेकिन मानव को विचार और भावनाओं का समूह तथा एक मनोवैज्ञानिक ईकाई

९. आर. ए. स्ट्रेकर और के. ए. एपल, डिस्कवरिंग अवरसेल्स, (न्यूयार्क, द मेक्मिलन कंपनी १९५४), पृ. १९

मात्र मानने से पाश्चात्य-मनोविज्ञान की मान्यताएँ और ज्ञान अधूरे ही रह गये हैं।

हिन्दुओं की मान्यता और गहरी है। मानव का व्यक्तित्व जटिल है। मानव स्वरूपत: एक स्व-चैतन्य आध्यात्मिक ईकाई है, जो सूक्ष्म-मनोमय और स्थूल-जड़ देह द्वारा आवृत है। आत्मा देह और मन से भिन्न है, सूक्ष्म-शरीर, स्थूल-शरीर की अपेक्षा दीर्घस्थायी है, लेकिन आत्मा की चरम मुक्ति पर उसका भी त्याग हो जाता है। सूक्ष्म-शरीर के साथ तादात्म्य प्राप्त व्यक्तिगत चैतन्य आत्मा जन्म के समय स्थूल देह के साथ संयुक्त होती है। मृत्यु के समय सूक्ष्म और स्थूल देह एक दूसरे से पृथक् होती हैं। मुक्ति के समय आत्मा सूक्ष्म-देह से भी पृथक् हो जाती है।

हिन्दू-मान्यता की प्रतिध्वनि ओर्फियस के गीत में पाई जाती है : "मानव पृथ्वी और नक्षत्रमण्डित अन्तरिक्ष की सन्तान है।"[१०] यहूदी-ईसाई-बाइबिल में कहा गया है कि मानव का निर्माण ईश्वर की शक्ल में हुआ है; और उसे कुछ समय के लिए देह मन्दिर में रखा गया है। भगवद्गीता में कहा गया है :

जिस प्रकार देह-स्थित आत्मा की इस देह में कौमार्य, यौवन, और जरा अवस्थाएँ होती हैं, उसी तरह उसकी देहान्तर प्राप्ति भी होती है।

"जिस प्रकार व्यक्ति पुराने कपड़ों को त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीर्ण शरीरों को त्यागकर देह स्थित आत्मा या जीव, अन्य नया शरीर धारण करता है।"[११]

श्रीरामकृष्ण ने अपने भतीजे का देह-त्याग देखा, और बाद में कहा : "मैंने देखा मानो म्यान (स्थूल-देह) के अन्दर तलवार (सूक्ष्म-देह) रखी हुई थी, वह म्यान से बाहर निकाल ली गई। तलवार का कुछ नहीं बिगड़ा। वह जैसी थी वैसी ही रही। म्यान पड़ी रह गयी।"[१२]

श्रीरामकृष्ण कभी कभी अपनी आत्मा को स्थूल शरीर से निकलते देखते थे। उनके पार्थिव जीवन काल में ही भक्तगणों ने उन्हें प्राय: दूसरे स्थान पर देखा, जब कि उनकी स्थूल देह अन्य स्थान पर थी। उनकी दिव्य-लीलासहचरी श्रीसारदादेवी को एक बार अनुभूति हुई कि उनकी आत्मा शरीर को छोड़कर उच्च आध्यात्मिक लोकों में चली गई है। जब वह पुन: नीचे आयीं, तो वह शरीर में पुन: प्रविष्ट होना नहीं चाहती थीं।[१३]

श्रीरामकृष्ण वचनामृत में हम पुलिस सार्जण्ट का दृष्टान्त पाते हैं, जो रात्रि के अन्धकार में अपनी लालटेन ले गश्त लगाता है। कोई उसका चेहरा नहीं देख सकता, लेकिन उस प्रकाश की सहायता से सार्जण्ट दूसरों का मुख देख सकता है। यदि तुम उसका मुख देखना चाहते हो, तो तुम्हें उससे लालटेन को उसके मुख की ओर करने की विनती करनी होगी। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि इसी तरह यदि तुम भगवान् को देखना चाहते हो, तो उनसे प्रार्थना करो, "भगवन्! एक बार कृपा करके अपना ज्ञानालोक अपने श्रीमुख पर धारण

---

१०. बाइबिल, जेनिसिस १.२६,२७ ११. भगवद्गीता २.१३,२२.
१२. श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग,(१९९२),२:२२ १३. स्वामी गंभीरानंदकृत श्रीसारदादेवी

कीजिए, मैं आपके दर्शन करूँगा।" श्रीरामकृष्ण आगे कहते हैं, "घर में यदि दीपक न जलें, तो वह दारिद्र्य का चिह्न है। हृदय में ज्ञान का दीपक जलाना चाहिए।"[१४]

हमारे अध्यात्म-आचार्य हमें बताते हैं कि भगवत्कृपा पुरुषार्थ, आध्यात्मिक-पिपासा और संघर्ष के रूप में आती है। इनकी सहायता से साधक उस साक्षात् भगवत्कृपा का अनुभव करने में समर्थ होता है, जो जीव और ईश्वर या ब्रह्म का मिलन कराती है। हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है :

मनुष्य को स्वयं को अपनी उच्चतर आत्मा द्वारा उठाना चाहिए। उसे अपने को अधोगामी नहीं करना चाहिए। समुचित प्रयास द्वारा आत्मा ही आत्मा का बन्धु होता है। उसके अभाव में वही उसका शत्रु होता है।[१५]

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो:। अर्थात् "मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है।"[१६]

इतना होते हुए भी बहुत से हिन्दू भाग्यवादी हो जाते हैं और अपने को नियति पर छोड़ देते हैं।

"अत: तुम भी उसी प्रकार पूर्ण होओ, जिस प्रकार तुम्हारे स्वर्गस्थ पिता पूर्ण हैं।"[१७] ईसा मसीह के इस उपदेश के बावजूद यही बात ईसाई-जगत् में भी हुई है। ईसा का उद्देश्य साधना पर बल देना था। "वे सभी जो मुझे 'प्रभु, प्रभु' कहते हैं, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं करेंगे, लेकिन वह प्रवेश पाएगा, जो मेरे स्वर्गस्थ पिता की इच्छा का पालन करेगा।"[१८] ईसा मसीह ने एक सक्रिय आध्यात्मिक जीवन का, एक तीव्र संघर्ष और प्रयासमय जीवन का उपदेश दिया था। महान् ईसाई साधकों/सन्तों में ऐसा ही जीवन यापन किया था। लेकिन ईसाई धर्म में प्रविष्ट पाप, परार्थकृत-प्रायश्चित्त और आसान-मुक्ति के सिद्धान्तों पर अत्यधिक बल देने के कारण भौतिक-जगत् में सफलता प्राप्त करने वाले कई कर्मठ लोगों ने स्वयं को यह सोचकर आत्म-विमोहित कर रखा है कि वे आध्यात्मिक स्तर पर कुछ नहीं कर सकते। इस आत्म-सम्मोहन ने उस आध्यात्मिक प्रेरणा को नष्ट कर दिया है, जिसे महान् साधकों ने महत्त्व दिया था। फलत: लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में महान् शक्ति लगाई गई है। आध्यात्मिक आदर्श की उपेक्षा कर आधुनिक सभ्यता तेजी से विनाश की ओर दौड़ी जा रही है। यदि बहुत देर होने से पूर्व ही आवश्यक कदम उठाए जाएँ, तो इसे रोका जा सकता है।

एक शराबी न्यायाधीश के सामने पेश किया गया, जिसने साथ वाले पुलिस से पूछा, "तुम्हें यह कैसे पता चला, कि शराब पीने से कैदी पर बुरा असर पड़ा है।" पुलिस ने उत्तर दिया, "वह एक टेक्सी-ड्राइवर से बहस कर रहा था।" "यह कुछ सिद्ध नहीं करता", न्यायाधीश ने कहा। पुलिस ने उत्तर दिया, "लेकिन महाशय, वहाँ कोइ टैक्सी-चालक नहीं

---

१४. श्रीरामकृष्णवचनामृत – १, पृ. २०१-२०२ १५. श्रीमद्भगवद्गीता, ६.५,६
१६. अमृत-बिन्दु उपनिषद्, २ १७. बाइबिल, सेन्ट मेथ्यू, ५.४८ १८. वही ७.२१

था।" हम में से अनेक यही कर रहे हैं। भावावेगों की मदिरा के नशे में हम सर्वत्र शत्रु देखते हैं, और पूरी ताकत से उनसे लड़ते हैं, जब कि हम यह भूल जाते हैं कि हमारे भीतर उनसे भी बदतर शत्रु हैं, जो हमारी नैतिक और आध्यात्मिक हत्या करने को तत्पर हैं। हमारी युद्ध करने की क्षमता का हमारे अहंकार और वासनाओं से लड़ने में अधिक सदुपयोग किया जा सकता है। अज्ञान और विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों की मदिरा के नशे में यही हमारे प्रबलतम शत्रु हैं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मानव ने स्वयं को आत्म-सम्मोहित कर अपने आप पर मिथ्या-अहंकार आरोपित कर लिया है।

अपने प्रति दृष्टिकोण परिवर्तन

यूनानी पुराणों में नरसीसस नामक एक सुन्दर युवक की कथा है, जो सरोवर के जल में अपने ही प्रतिबिम्ब से प्रेम करने लगा। वह शोकाकुल होकर मर गया, क्योंकि आत्मसम्मोह का अन्त निराशा में ही होता है। ऐसा आत्मसम्मोह एक रोग है, जिसका सही निदान करते हुए डा. कार्ल युंग ने कहा है : "... अहंकार इसीलिए रोगग्रस्त है कि वह पूर्ण से विलग हो गया है, और उसने मानव-जाति तथा आत्मा के साथ सम्पर्क खो दिया है।"[१९] ... जो वास्तविक आत्मा है। एक हिन्दू कहावत है: 'अज्ञान मदिरा का पान कर सारा संसार उन्मत्त हो जाता है।'

श्रीरामकृष्ण ने कहा है, "मैं मरा, कि बला टली", और "अहंकार रहते ज्ञान लाभ और मुक्ति नहीं होती।" वे यह भी कहते हैं, "पाशबद्धजीव, पाशमुक्त शिव"।

महान् योगाचार्य पतञ्जलि बताते हैं कि किस प्रकार अज्ञान द्वारा जीव दुर्गति को प्राप्त होता है। अज्ञान एक नकारात्मक तत्त्व नहीं है, क्यों कि वह अहंकार नामक भयंकर भ्रम पैदा कर देता है। अहंकार राग को जन्म देता है, और राग द्वेष को। इन क्रमिक परिणामों के फलस्वरूप जीवन के प्रति तीव्र आसक्ति (अभिनिवेश) और दु:ख होते हैं।[२०] अहं-केन्द्रित होने का अर्थ है, आध्यात्मिक दृष्टि से रुग्ण होना। सभी साधन-पद्धतियाँ अहंकार-रूपी बीमारी को दूर करने के उपाय हैं। हिन्दू शास्त्रों में इन्हें योग कहते हैं। सर्वप्रथम है कर्मयोग या निष्काम कर्म, जिसमें सभी कर्मों के फलों को आत्म-समर्पण के भाव से भगवान् को समर्पित किया जाता है। क्रमश: सभी प्रकार के कर्म समर्पण में परिणत हो जाते हैं और स्वार्थी अहंकार पर विजय हो जाती है।

राजयोग का मार्ग भी है, जिसमें मन को व्यक्तित्व के उच्च से उच्चतर पक्षों पर एकाग्र किया जाता है। इस अनुसन्धान के दौरान जीव को यह ज्ञान होता है कि वह अहंकार या मन नहीं है, बल्कि इन से भिन्न एक चैतन्य ईकाई है। साधक आत्मा के वास्तविक-स्वरूप के

---

१९. मॉडर्न मॅन इन सर्च ऑफ ए सोल, पूर्वोद्धृत, पृ. १४१
२०. पातञ्जल योगसूत्र २.३-९

चिन्तन द्वारा अहंकार को त्यागने का प्रयत्न करता है। इससे देह और मन के साथ तादात्म्य पैदा करने वाला महान्-भ्रम नष्ट हो जाता है।

ज्ञानयोग में साधक इससे भी आगे जाता है। वह व्यष्टि-चेतना से समष्टि-चेतना तक पहुँचता है। उसका अहंकार ब्रह्म में लीन हो जाता है। इस-ज्ञानयोग में अहंकार का सूक्ष्मतम रूप भी नष्ट हो जाता है।

लेकिन हम जिस आधुनिक कलियुग में जी रहे हैं, उसमें भक्तियोग सबसे सरल है। साधक पिता, माता, मित्र या प्रियतम के रूप में उत्कट प्रेम और समर्पण के भाव से भगवान् की आराधना करता है। जीवन भगवान् की एक अविच्छिन्न सेवा में परिणत हो जाता है। श्रीरामकृष्ण ने कहा है, : "यह सच है कि एक दो जनों को समाधि प्राप्त होकर उनका 'अहं' चला जाता है, परन्तु साधारणतया 'अहं' नहीं जाता। . . . ऐसी दशा में यदि मैं नहीं दूर होने का तो रहने दो साले को 'दास मैं' बना हुआ। इस प्रेमपूर्ण सेवा से अंहकार क्रमश: अपना अशुभ स्वरूप त्याग कर उच्चतर जीव में रूपान्तरित हो जाता है, जो प्रभु के हाथों का यन्त्र बन जाता है। श्रीरामकृष्ण की भाषा में कच्चा अहं पक्का हो जाता है, जो हानिकारक नहीं है।[२१]

हम सचमुच आत्मा को देह से ही नहीं, अपितु मन से भी पृथक् अनुभव कर सकते हैं। योग की नैतिक तथा आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा एक मानव देहविशेष में व्यष्टि जीव के रूप में निवास कर रही अखण्ड आत्मा की अति स्पष्ट अनुभूति होने लगती है। जो विभक्त होता है, वह व्यष्टि मन है, जीवात्मा नहीं। हम जिसे पृथकता समझते हैं, वह मन के विभक्त होने के कारण होती है। नैतिक आचरण और साधना द्वारा एक नवीन बोधशक्ति या प्रज्ञा का उदय होता है, जिसकी सहायता से हमें यह ज्ञान होता है कि हम न देह हैं और न मन। हम अपने विचारों और भावनाओं के साक्षी हो सकते हैं। जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है : "आत्मा इन्द्रियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, इन्द्रियाँ आत्मा की यन्त्र है।"[२२] आत्मा को देह से पृथक् किया जा सकता है और हम वस्तुत: मानव-जीवन की सीमाओं में बन्धे नहीं हैं – इस सत्य के साक्षात्कार में बहुत आनन्द है।

अपने स्वरूप-विषयक इस सत्य को भूलकर अहंकार के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर हम प्रकृति के हाथों के खिलौने बन जाते हैं। अहं-केन्द्रित व्यक्ति एक मनमौजी बालक के हाथों की गेंद के समान है। उसे कोई स्वाधीनता नहीं रहती। वह प्रकृति की शक्तियों का गुलाम होता है। अत्यधिक अहं-केन्द्रित लोगों को आध्यात्मिक-जीवन बहुत कठिन प्रतीत होता है। वे अपने निम्न मनोवेगों को बहुत अच्छा समझने की गलती करके उनका अनुगमन करते हैं। वे अन्तरात्मा की 'क्षीण-मूक-वाणी' सुनने के लिए क्षण-भर भी नहीं ठहरते। अहंकार को कुछ मात्रा में कम करना उन सभी लोगों के लिए अनिवार्य रूप से पूर्वापेक्षित

---

२१. श्रीरामकृष्ण वचनामृत –१, पृ. १९४ २२. केनोपनिषत् १.२

है, जो आध्यात्मिक-जीवन जीने का साहसिक कार्य करना चाहते हैं। झूठी बाह्य विनम्रता की नहीं बल्कि अपने अन्तर्निहित देवत्व में विश्वास पर आधारित गौरवयुक्त शालीनता की आवश्यकता है। ईश्वर के प्रति समर्पण, वैराग्य और नैतिक दोष दूर करने की तत्परता के अभाव में आध्यात्मिक जीवन बहुत कठिन हो जाता है। दूसरे शब्दों में हमें अपने संसार और ईश्वर के प्रति हमारे दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन लाने के लिए प्रयास करना चाहिए।

□□□

द्वितीय भाग

आध्यात्मिक साधना

(१) तैयारियाँ

अध्याय ७
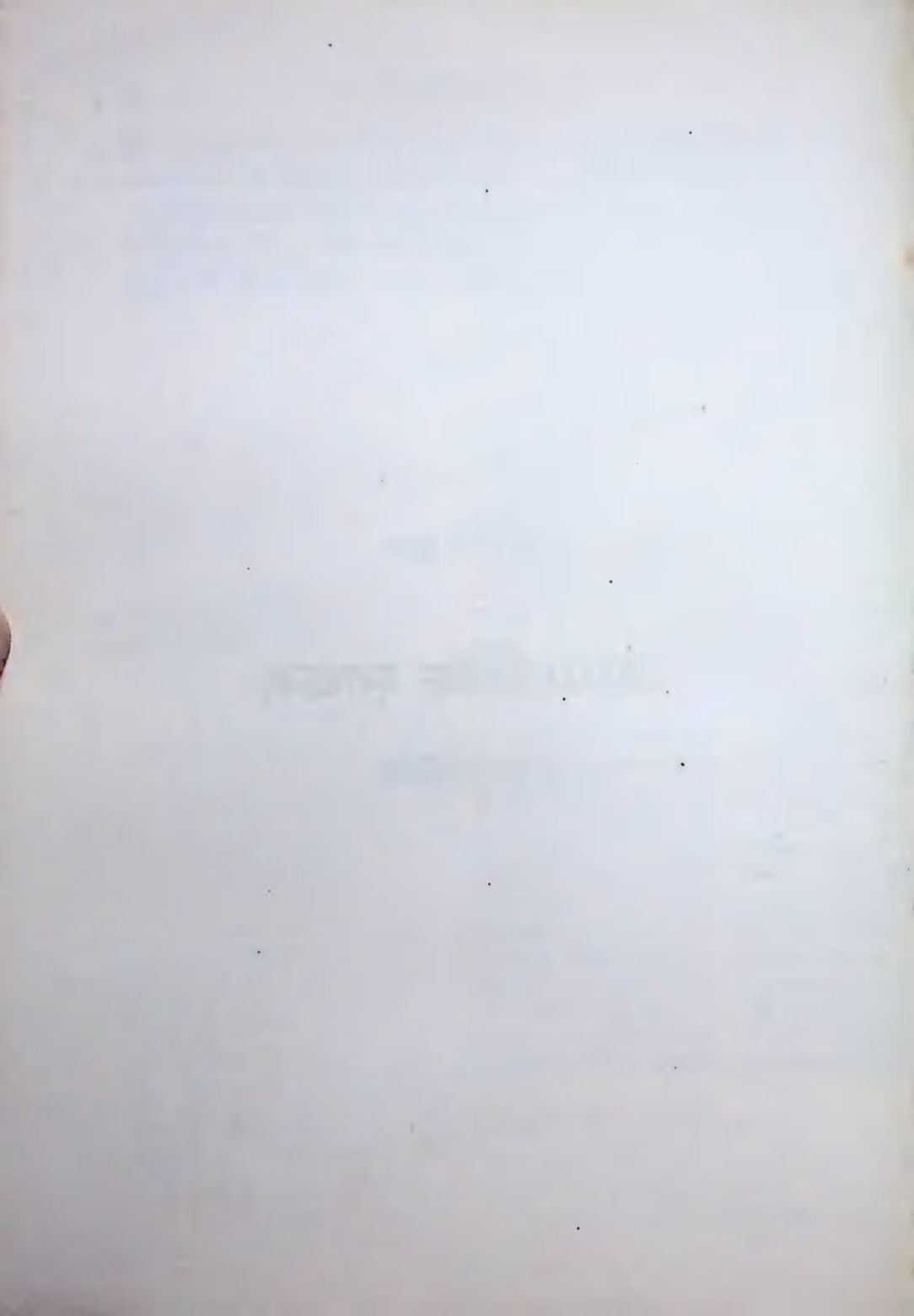
क्षुरस्य धारा

उपनिषद् का सन्देश :

एक औपनिषदिक ऋषि ने आध्यात्मिक पथ का अनुसरण कर परमात्मा का साक्षात्कार किया और कहा: "मनीषियों का कथन है, कि परमात्म-साक्षात्कार का पथ छुरे की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान दुष्कर है।"

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति।। – (कठोपनिषद् १.३.१४)

लेकिन उचित प्रशिक्षण के द्वारा अत्यन्त कठिन पथ पर भी चला जा सकता है और परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। पुरातन हिन्दु दार्शनिकों और आध्यात्मिक-आचार्यों ने इसी सत्य का आविष्कार किया था। परमात्मा के राज्य में इस कठिन, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण यात्रा का प्रारम्भ करने के पूर्व किस प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता है? पुन: उपनिषद् का उद्धरण दें :

आत्मा को रथी जानो और शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी जानो और मन को लगाम समझो। इन्द्रियों को घोड़े और इन्द्रिय-विषयों को मार्ग कहते हैं। मनीषीगण देह, मन और इन्द्रियों से संयुक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। जिसका मन सदा असंयत रहता है, जिसकी बुद्धि विवेकहीन हैं, उसकी इन्द्रियाँ सारथी के दुष्ट घोड़ों के समान अनियन्त्रित रहती हैं। लेकिन जिसका मन सदा संयत रहता है, जिसकी बुद्धि विवेकयुक्त है, उसकी इन्द्रियाँ सारथी के अच्छे घोड़ों के समान नियन्त्रित रहती हैं। जो विवेकहीन है, जो अमनस्क और सदा अशुचि है, वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं करता, बल्कि जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है। लेकिन जिसकी बुद्धि विवेकशील है, जो सदा शुचि और संयत मन वाला है, वह लक्ष्य प्राप्त करता है, और उसका पुनर्जन्म नहीं होता। जिसके पास विवेक-युक्त बुद्धि रूपी सारथी है तथा संयत मन रूपी लगाम है, वह मार्ग के अन्त तक पहुँचता है, जहाँ उसे सर्वव्यापी परमात्मा (विष्णु) का परम साक्षात्कार होता है।

इन्द्रियों से सूक्ष्म विषय (अर्थ) परम हैं। मन सूक्ष्म-विषयों से परम (श्रेष्ठ) है। बुद्धि मन से श्रेष्ठ है। महान् आत्मा बुद्धि से श्रेष्ठ है। अव्यक्त महान् आत्मा से श्रेष्ठ है। पुरुष अव्यक्त से श्रेष्ठ है। लेकिन अनन्त परम पुरुष से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। यह आत्मा सभी प्राणियों की हृदय-गुफा में छिपा हुआ है। वह सबके समक्ष प्रकट नहीं होता। लेकिन उसे सूक्ष्म-दृष्टि सम्पन्न

ऋषि तीक्ष्ण, एकाग्र, सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देखते हैं। प्राज्ञ (बुद्धिमान) व्यक्ति को अपनी वाणी को मन में, मन को बुद्धि में विलीन करना चाहिए। अपनी बुद्धि को वह महत् आत्मा में तथा महत् आत्मा को शान्त आत्मा अर्थात् परमात्मा में लीन करे। [१]

अब गुरु शिष्य को आदेश देते हैं:

ब्रह्मज्ञ आचार्यों के निकट जाकर उठो, जागो और आत्मा का साक्षात्कार करो। ... अशब्द, अवर्ण, अरस, अरूप, अगंध, अक्षर, अनादि, अनन्त, महत् मन के भी परे उस परमात्मा को जानने पर ही मृत्यु-मुख से मुक्ति सम्भव है। [२]

इन श्लोकों को पढ़ने पर हमें ज्ञात होता है, कि हमारे आध्यात्मिक आचार्यों ने हमारे समक्ष उच्चतम आदर्श क्यों प्रस्तुत किया था। वे उचित पात्रता प्राप्त करने की आवश्यकता पर भी बल देते हैं, जिसके बिना आध्यात्मिक पथ भी खतरनाक सिद्ध हो सकता है। लेकिन समुचित और आवश्यक प्रशिक्षण द्वारा अन्ततोगत्वा लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

छुरे की धार पर चलने के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता :

बहुत से लोग आध्यात्मिक-पथ पर अग्रसर होने से घबराते हैं। लेकिन समुचित प्रशिक्षण हो तो डरने की आवश्यकता नहीं है। क्या मोटर चलाना बच्चों का खेल है? क्या अप्रशिक्षित व्यक्ति हवाई जहाज उड़ा सकता है, या बर्फ पर फिसलने का खेल खेल सकता है? नहीं। ये सभी खतरनाक खेल और शौक हैं; लेकिन उचित प्रशिक्षण होने पर नियन्त्रित और शानदार ढंग से इन सभी को किया जा सकता है। संसार में सही तरीके से जीवन यापन करने और आध्यात्मिक-प्रगति के लिए साधना अत्यन्त आवश्यक है।

वर्तमान भारत के महान् अवतार श्रीरामकृष्ण, नवम्बर, सन् १८८२ ई. में राखाल (जो परवर्ती काल में स्वामी ब्रह्मानन्द हुए) तथा अन्य शिष्यों के साथ कलकत्ता में एक सर्कस देखने गए। सर्कस में बहुत से करतब प्रदर्शित किये गये थे। इनमें से एक ने श्रीरामकृष्ण को बहुत प्रभावित किया। एक घोड़ा गोलाकार मार्ग में तेजी से दौड़ता रहता है, जिस पर बीच-बीच में लोहे के विशाल चक्र लटकाये गये थे। करतब दिखाने वाली घुड़सवार अंग्रेज महिला एक पैर से घोड़े की पीठ पर खड़ी रहती है, और ज्योंही घोड़ा चक्र के नीचे से गुजरता है, वह उनके पार कूद कर पुन: एक पैर से घोड़े की पीठ पर उतर जाती है। घोड़ा गोलाकार रास्ते से अनेक बार दौड़ा, लेकिन महिला ने एक बार भी अपना सन्तुलन नहीं खोया और हर बार घोड़े की पीठ पर ही उतरी। सचमुच इस करतब में पारंगत होने में अनेक वर्षों तक अभ्यास करना पड़ा होगा। श्रीरामकृष्ण को इसे देखकर आनन्द हुआ। इससे उन्हें साधक-जीवन में क्या करना चाहिए, यह याद हो आया। श्रीरामकृष्ण ने उपस्थित एक भक्त से कहा :

---

१. कठोपनिषद् १.३.३-१३ २. कठोपनिषद् १.३.१४,१५

देखा, मेम कैसे एक पैर के सहारे घोड़े पर खड़ी है, और घोड़ा तेजी से दौड़ रहा है। कितना कठिन काम है। अनेक दिनों तक अभ्यास किया है, तब तो ऐसा सीखा। जरा असावधान होते ही हाथ-पैर टूट जायेंगे और मृत्यु भी हो सकती है। संसार करना इसी प्रकार कठिन है। बहुत साधन-भजन करने के बाद ईश्वर की कृपा से कोई-कोई इसमें सफल हुए हैं। अधिकांश लोग असफल हो जाते हैं। संसार करने जाकर और भी बद्ध हो जाते हैं, और भी डूब जाते हैं – मृत्यु-यन्त्रणा होती है! जनक आदि की तरह किसी-किसी ने उग्र तपस्या के बल पर संसार किया था। इसीलिए साधन-भजन की विशेष आवश्यकता है। नहीं तो संसार में ठीक नहीं रहा जा सकता।[३]

यही नहीं, साधना द्वारा उपलब्ध शान्ति और सन्तुलन के अभाव में व्यक्ति अनेक कष्ट पा सकता है। जीवन के हर क्षेत्र की तरह आध्यात्मिक-जीवन में भी खतरों से बचना और बाधाओं को लाँघना पड़ता है। और जानते हो आध्यात्मिक-जीवन की सबसे बड़ी बाधा क्या है? वह है शौकिया धार्मिक-जीवन व्यतीत करने की वृत्ति। यदि आध्यात्मिक-पिपासा न हो तो यह खतरा बना रहता है। लेकिन इस लालसा के उदित होने पर व्यक्ति भगवत्साक्षात्कार के लिए व्यग्र हो उठता है। तब व्यक्ति चुप नहीं बैठ सकता। व्यक्ति उस मार्ग को अंगीकार करता है जो उसे चरम लक्ष्य के निकट से निकटतर ले जाता है। हमारे आचार्यों का कथन है कि मानव-जन्म दुर्लभ सौभाग्य है। इस मानव-जीवन को प्राप्त कर यदि व्यक्ति पशु-तुल्य जीवन यापन करे, तो यह दुर्भाग्य है।

व्यक्ति अनंत पुस्तकें पढ़ ले। असंख्य प्रवचन सुन ले। लेकिन यदि उसके मन का झुकाव आध्यात्मिक आदर्श की ओर न हो, तो सब कुछ व्यर्थ है। अत: भारत में आध्यात्मिक आचार्यों का कथन है: "तुम्हें अपने मन की कृपा प्राप्त करनी चाहिए।" भगवत्कृपा तथा गुरु की कृपा पर्याप्त नहीं है। हमें बहुत से आध्यात्मिक निर्देशों की प्राप्ति का सौभाग्य हुआ हो, लेकिन मन की कृपा न होने पर सब व्यर्थ जाता है। हमारे मन को सत्य को ग्रहण करने के लिए उन्मुक्त (खुला) होना चाहिए। अब, मन उन्मुक्त हो, आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति सच्चा प्रेम भी हो, फिर भी प्रशिक्षण की आवश्यकता है। सांसारिक लक्ष्य-प्राप्ति के लिए भी अच्छे प्रशिक्षण की आवश्यकता है। आवश्यक शिक्षा और अभ्यास के बिना हम कोई भी कार्य नहीं कर सकते। यह बात आध्यात्मिक-जीवन के बारे में भी सत्य है।

इस बात के दृष्टान्त-स्वरूप एक कहानी है : एक युवक जिसे कोई विशेष प्रशिक्षण प्राप्त नहीं था, संचालक अधिकारी का पद पाने के लिए अत्यधिक-व्यग्र था। उसने एक बैंक के उपाध्यक्ष से भेंट की और कहा कि वह एक अच्छी नौकरी, एक अधिकारी का पद पाने का बहुत इच्छुक है। युवक का साक्षात्कार ले रहे अधिकारी ने कहा : "मुझे खेद है, हमारे पास कोई पद खाली नहीं है। हमारे यहाँ पहले से ही बारह उपाध्याक्ष हैं।" युवक ने

---

३. श्रीरामकृष्ण वचनामृत –१, (द्वादश संस्करण), पृ. १६७

हतोत्साहित हुए बिना कहा : मैं संख्या के विषय में अन्धविश्वासी नहीं हूँ, मुझे तेरहवाँ उपाध्यक्ष बनने में कोई आपत्ति नहीं है।''

तो, उपाध्यक्ष इस तरह नहीं बनते। उन्हें प्रशिक्षित किया जाता है। इसी तरह यदि तुम उच्चतम लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हो, यदि तुम 'क्षुरस्य-धारा' – 'छुरे की धार' पर चलना चाहते हो, तो तुम्हें प्रशिक्षण की आवश्यकता है। उसके बिना प्रयत्न करने पर तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। लेकिन उचित प्रशिक्षण पाने पर कोई भय नहीं है और तुम छुरे की धार पर चलने में आनन्द का भी अनुभव कर सकते हो।

हम सभी जानते है, कि दुर्बल तार से अधिक वोल्ट की बिजली का प्रवाह प्रवाहित करने का क्या परिणाम होता है। वह तार जल जाता है। इसी तरह यदि हम समुचित प्रशिक्षण के बिना परमात्मा के साथ संयुक्त होने का प्रयत्न करेंगे, तो उस का बोझ इतना अधिक होगा कि हमारी देह, स्नायु और मन उसे सहन नहीं कर सकेंगे। यह एक सत्य है। अत: आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करने के लिए एक बलिष्ट देह, बलिष्ट मन और बुद्धि तथा बलवती इन्द्रियाँ आवश्यक हैं। अन्यथा हमारा प्रयास असफल होगा।

हमारी द्वन्द्वात्मक अन्तःप्रकृति :

''अस्तित्व के लिए संघर्ष'' और ''योग्यतम की उत्तरजीविता'' के जैविक सिद्धान्त अध्यात्म-जगत् में भी लागू होते हैं। पशु जगत में पशु एक दूसरे से लड़ते हैं। मानव-जगत् के निम्न-स्तर पर मनुष्य, मनुष्य से लड़ते हैं, और सबसे बलवान् जीवित रहता हैं। अध्यात्म-जगत् में मनुष्य और मनुष्य के बीच संघर्ष नहीं होता, अपितु मानव के उच्चतर और निम्नतर स्वभाव के बीच संघर्ष होता है। और हम सभी इसे जानते हैं – किस तरह हमारे उच्च और निम्न स्वभाव एक दूसरे से निरन्तर लड़ते रहते हैं, और हमें अनन्त कष्ट प्रदान करते हैं। यूनानी पुराण कथाओं में स्फिक्स नामक एक दैत्य का वर्णन पाया जाता है, जिसकी देह सिंह की सी है, और सिर नारी का सा। ऐसा कहा जाता है, कि थीब्स देश की स्फिक्स थीब्स वासियों से एक पहेली पूछा करती थी। लेकिन एक कठिन शर्त रखती थी। जो सही उत्तर नहीं दे सकेगा, वह मर जाएगा, और जो सही उत्तर देगा, वह थीब्स के राज सिंहासन पर बैठेगा। वह जो प्रश्न पूछती थी, वह था, ''कौन प्रातःकाल चार पैरों से, मध्याह्न में दो पैरों से, और सायंकाल में तीन पैरों से चलता है।'' उसने ऐसे कई लोगों को मौत के घाट उतार दिया, जो ठीक उत्तर नहीं दे सके। कहा जाता है, कि ओडिपस ने पहेली को इस तरह सुलझाया : ''मनुष्य बच्चे के रूप में चारों हाथ-पैरों से चलता है, युवावस्था में सीधा चलता है और वृद्धावस्था में लाठी टेककर चलता है।'' कहा जाता है, कि सही उत्तर सुनने पर स्फिक्स समुद्र में कूद कर मर गई और ओडिपस थीब्स का राजा बन गया।

मिस्र की पुराण-कथाओं में स्फिक्स की देह सिंह की और सिर पुरुष का बताया गया है। परवर्ती काल के रोम के स्फिक्स का सिर कभी आदमी का तो कभी औरत का होता था।

वस्तुत: स्फिंक्स हम सभी स्त्री-पुरुषों का प्रतीक है। सच पूछो तो हम सभी स्त्री-पुरुष विचित्र-प्राणी हैं। हमारे चरित्र में पाशविक और मानवीय दोनों प्रकार के गुणों का समावेश है जो आत्मा को छुपा देते हैं। जब स्फिंक्स पूछती है : "तुम कौन हो" तो क्या हम उत्तर दे पाते हैं? यदि हम कह सकें, मैं आत्मा हूँ' – तो हमारे भीतर की स्फिंक्स मर जाएगी। तब आत्म-ज्ञान का – हमारे भीतर के चैतन्य जागृति का अनुभव हमें होगा, मानव के वास्तविक-स्वरूप, आत्मा का ज्ञान होगा और यह विरोधी स्वभावों का विचित्र व्यक्तित्व नष्ट हो जाएगा।

व्यापक दृष्टिकोण अपनाओ :

अब हम कठोपनिषद् की उपमा का अध्ययन करें :

आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं।[४]

लेकिन यदि हम अपने रथ तथा उसके विभिन्न अंगों के क्रिया-कलाप का अवलोकन करें तो हम भौचक्के रह जायेंगे। हम पायेंगे कि आत्मा (जीव) नशे में चूर है। सारथी बुद्धि बेहोश पड़ी है, मन रूपी लगाम ढीली है, इन्द्रियों-रूपी घोड़े अनियन्त्रित इधर-उधर दौड़ रहे हैं। और यदि सभी को सुनियोजित कर नई-दिशा देने का तत्काल प्रयास नहीं किया गया तो रथ, घोड़े और उनके स्वामी पर महान् विपदा आ पड़ेगी। हमारे आचार्य हमें बताते हैं कि अज्ञान के कारण रथ की स्वामी हमारी आत्मा ने बुद्धि, मन, इन्द्रियों और शरीर के साथ बहुत अधिक तादात्म्य स्थापित कर लिया है। वह अपने को भोक्ता समझने लगी है। वह अपना वास्तविक-स्वरूप भूल गयी है।

प्राचीन योगाचार्य पतञ्जलि का कथन है कि अज्ञानवश आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाती है।[५] और तब जीव झूठे स्वप्न देखने लगता है और अनन्त कल्पना करने लगता है। वह निद्रा में तथा पुरातन स्मृतियों में समय व्यतीत करता रहता है। प्रतिक्षण जीव अपने-आप से भागना चाहता है। अज्ञान का यह परिणाम होता है। अज्ञान अंहकार, राग और द्वेष को जन्म देता है, और मानव में जीवन के प्रति तीव्र आसक्ति (अभिनिवेश) पैदा करता है। जीवन के प्रति इस लगाव के कारण मानव अजीब व्यवहार करता है।

अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए हम दूसरों को हानि पहुँचाने से नहीं हिचकते। हम झूठ बोलते हैं। हम कभी-कभी दूसरों की सम्पत्ति चुराना चाहते हैं। हम एक उच्छृंखल इन्द्रिय लोलुप जीवन यापन करते हैं और प्रायः दूसरों पर अत्यधिक आश्रित, पराश्रयी की तरह जीते हैं। लेकिन आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ के साथ हममें एक परिवर्तन आना चाहिए। हमें अहिंसा, दूसरों को कष्ट न पहुँचाना, सहानुभूति, सत्यवादिता, निर्लोभिता, ब्रह्मचर्य और स्वाधीनता का अभ्यास करना सीखना चाहिए। हम इतने आलसी हैं कि देह और मन से स्वच्छ नहीं रहते। हम सदा असन्तुष्ट रहते हैं, हम सभी के विरुद्ध अभियोग और असन्तोष व्यक्त करते रहते हैं, और एक आराम तलब जीवन यापन करना चाहते हैं। आजकल हम

---

४. कठोपनिषद् १.३.३,४ ५. पा. यो. सू. २.५,२४

बहुत सी किताबें पढ़ते हैं, लेकिन हमारा अध्ययन अव्यवस्थित होता है। हम अपने मन को दूसरों के अनन्त-विचारों से भर लेते हैं, और ये विचार बाहरी वस्तुओं के रूप में पड़े रहते हैं तथा मानसिक बदहज़मी पैदा करते हैं। और ऊपर से हमारा सारा जीवन अहं-केन्द्रित होता है।

हमें क्या करना चाहिए?

हमारे आचार्य कहते हैं : "देह और मन से शुद्ध होने का प्रयत्न करो। प्रसन्न रहने का प्रयत्न करो। थोड़ी-बहुत तपस्या करो। अत्यधिक नरम मत होओ। अव्यवस्थित पढ़ाई और मन को भटकने देने के बदले कुछ गहरा-चिन्तन और अध्ययन करो। अहं-केन्द्रित होने के बदले सर्वान्तर्यामी और सबके चिरन्तन गुरु, ईश्वर को अपने कर्मों के फल समर्पित करो।" लेकिन हम यह सलाह नहीं सुनते। हम अत्यन्त असन्तुलित विचारों और भावनाओं को आश्रय देते हैं। हम प्राय: स्थूल कर्म करते हैं, और यदि आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ भी करते हैं, तो अशुभ भावनाओं के कारण नाना रोगों के शिकार हो जाते हैं। कई बार हम अपने को असहाय अनुभव करते हैं। हम में कोई शक्ति नहीं बचती। हम डावांडोल होते रहते हैं, निर्णय नहीं कर पाते। हमारे देह और मन तमोगुणी हैं। अब इस स्थिति को बदलना होगा। हमें एक नया अध्याय प्रारम्भ करना चाहिए। पतञ्जलि कहते हैं : "इन बाधाओं के उदित होनें पर परमात्मा का चिन्तन करो।"[६] एक उच्चतर मनोभाव का निर्माण करो, जिसकी सहायता से अपनी वर्तमान स्थिति के आलस्य और चञ्चलता के ऊपर उठ सको। लेकिन इस कार्य में भी हम अस्थिर और अविश्वसनीय हैं, और यही हमारी सबसे बड़ी समस्या है। हम अपने पर पूरा भरोसा नहीं कर सकते, और यही सबसे बड़ी कठिनाई है।

पतञ्जलि इन कठिनाईयों को एक के बाद एक दूर करने की सलाह देते हैं। अशुभ-विचारों को शुभ विचारों से जीतो। घृणा को प्रेम से दूर करो।[७] लेकिन हमें यहीं नहीं रूक जाना चाहिए। एक स्तर-विशेष की चित्तशुद्धि के बाद एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास करो। हृदयस्थ परमात्मा का अधिकाधिक-चिन्तन करने का प्रयास करो। भगवन्नाम का जप करो। परमात्मा का, गुरुओं के भी परम गुरु का ध्यान करो और तुम देखोगे कि तुम वर्तमान अस्थिर अवस्था से उठने में समर्थ हुए हो।[८] ब्रह्म का चिन्तन करने से अनन्त ब्रह्म का कुछ स्वभाव हमें भी प्राप्त हो जाता है। भगवन्नाम के जप में सिद्ध होने पर, तथा उनके ध्यान से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। तब व्यक्ति व्यष्टि-जीव और परमात्मा के एकत्व में सफल होता है।

न्यूनतम नैतिक योग्यता आवश्यक :

उपनिषदों के आचार्य भी हमें यही बात कहते हैं। इन ऋषियों ने अपने दोषों और अपवित्रताओं को दूर करके अन्तर्यामी ज्योतिर्मय परमात्मा का साक्षात्कार किया था।

---

६. पातंजल योग सूत्र १.३२ ७. वहीं २.२३ ८. वहीं १.२८,२९

योगाचार्यों की तरह वेदान्ताचार्य-गण भी बहुत विस्तार से निर्देश प्रदान करते हैं। वे चाहते हैं कि हमारी देह स्वस्थ हो, इन्द्रियाँ स्वस्थ और सबल हों तथा मन एकाग्र और शुद्ध हो। इनके बिना कोई भी साधन-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता और आत्म-जगत् में कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं कर सकता।

आचार्य गण प्राय: देह और इन्द्रियों के दोषों की चर्चा करते हैं। देह समरस नहीं है। देह के विभिन्न अंग ठीक से काम नहीं करते हैं। वे सामञ्जस्यपूर्ण काम नहीं करते। इन्द्रियों में भी दोष हैं – वे अपने विषयों की ओर भाग रही हैं तथा उनके संस्पर्श में आना चाहती हैं। यहीं नहीं, मन के भी रोग हैं : वासना, संशय, अनिश्चितता, प्रमाद, एकाग्रता का अभाव। इन से मन कलुषित हो जाता है। मन के और भी दोष हैं : विपरीत-भावना, अत्यधिक अहंकार, वस्तुओं के प्रति गलत दृष्टिकोण और मनोभाव। अब, इन सभी दोषों को दूर करना है। अत: योगाचार्यों की तरह वेदान्त के आचार्य भी इस विषय में कहते हैं : "न्यूनतम नैतिक और आध्यात्मिक योग्यता अर्जित करने का प्रयत्न करो। विवेक करना सीखो। स्पष्ट चिन्तन करो। नित्य क्या है, अनित्य क्या है, क्या सत्य है, क्या असत्य है, क्या क्षणस्थायी है, क्या स्थायी है, यह जानना सीखो। शम (मन का नियन्त्रण) और दम (इन्द्रिय संयम) का यथासम्भव प्रयास करो। जिन वस्तुओं के सम्पर्क में तुम नहीं आना चाहते, उनसे अपने को दूर रखना सीखो। महान् अध्यवसाय और गहरी श्रद्धा से युक्त होओ। अपनी वास्तविक आत्मा में, ईश्वर में, जिन निर्देशों का तुम पालन कर रहे हो, उनमें तथा सत्य का साक्षात्कार करने की अपनी क्षमता में श्रद्धा-सम्पन्न होओ। और इसके साथ सामान्य एकाग्रता का अभ्यास करो।" जैसा पहले ही कहा जा चुका है, सभी धर्मों, सभी कालों के अध्यात्म के आचार्य पवित्रता की आवश्यकता पर बल देते हैं। ईसाई साधक इसे 'परगेशन' कहते हैं। यह प्रथम सीढ़ी है। अध्यात्म-पथ पर सफलतापूर्वक अग्रसर होने के लिए कुछ न्यूनतम नैतिकता की आवश्यकता है।

शारीरिक नहीं, आन्तरिक सौन्दर्य की आवश्यकता :

हमारे आचार्यों का कथन है कि आध्यात्मिक जीवन में शारीरिक सौन्दर्य नहीं, बल्कि मन का सौन्दर्य, मन की समरसता सबसे अधिक आवश्यक है। हमें जीवन के गभीरतम रहस्यों को भेदने की मानसिक क्षमता अर्जित करनी चाहिए। हमें आन्तरिक सौन्दर्य, नैतिक सौन्दर्य चाहिए।

अमेरिका के प्रेसिडेण्ट लिंकन के बारे में एक कथा प्रसिद्ध है। वे सुन्दर नहीं थे। एक बार फिलाडेल्फिया (Philadelphia) का एक प्रतिनिधि मण्डल उनसे मिलने आया। उन्होंने एक सदस्य का परिचय देते हुए कहा : इन्होंने सौजन्यपूर्वक हमारे समिति-कक्ष के लिए आपका एक अत्यन्त सुन्दर चित्र बनाकर हमें भेट किया है। राष्ट्रपति लिकंन ने इस पर कुछ विचार किया और चित्रकार की ओर देखते हुए कहा, "महाशय, मुझे विश्वास है कि चित्र

बनाते समय आपने मेरी देह के रूप पर आधारित नहीं, बल्कि मेरे आदर्शों के आधार पर मेरा अंकन किया है।'' और इसी की आवश्यकता है। देह के माध्यम से मन और हृदय की पवित्रता प्रकट होती है। मैंने अति सामान्य दिखाई देने वाले लोगों में अलौकिक श्री-सम्पन्नता देखी है, जो अत्यन्त सुन्दर देह वालों में नहीं होती। यही नहीं, पवित्र और आध्यात्मिक अनुभूति सम्पन्न व्यक्ति पवित्र और समरसतापूर्ण स्पन्दनों को प्रसारित करते हैं, जिनका उनके सान्निध्य में आने वाले लोगों पर सुखद ही नहीं, बल्कि उदात्त करने वाला प्रभाव पड़ता है।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, हमारे अध्यात्म के आचार्य उच्चतर आध्यात्मिक-जीवन यापन के लिए उपयुक्त गुणसम्पन्न बनाने के लिए अत्यन्त चिन्तित रहते थे, क्यों कि उनके बिना हम ''छुरे की धार पर चल'' नहीं सकते।

हमारे दुर्गुण :

देह के दोष तथा देह की असामञ्जस्यपूर्ण क्रिया को दूर करना होगा। एक पुरातन औपनिषदिक आचार्य अपने शिष्य के साथ प्रार्थना करते हुए कहते हैं : ''मेरे सभी अंग, वाणी, श्वास-प्रश्वास, नेत्र, कर्ण, प्राण तथा सभी इन्द्रियाँ पूर्ण समर्थ होवें।'' आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि. ...।।[६] ऐसी समरसता होने पर हमें अनुभव होगा कि देह में रहना कितना आनन्दप्रद है। देह के विभिन्न अंगो की समरसता कैसे स्थापित करें? अस्वास्थ्यकर आहार का ग्रहण न करो, निष्काम कर्म करो, एवं सुनियोजित संयमित तथा नैतिक जीवनयापन करो। सन्तुलित, सुसंयत चिन्तन और कर्म देह को सुसन्तुलित करते हैं।

इन्द्रियों के दोषों को उन्हें अशुभ इन्द्रिय-विषयों से हटाकर सही दिशा प्रदान कर दूर करना चाहिए। यह दमन अथवा अस्वाभाविक नियन्त्रण नहीं है। शुभ, पवित्र और आध्यात्मिक विषयों को सुनो और देखो। अपनी इन्द्रियों का इस तरह उपयोग करो कि वे तुम्हें श्रीहीन करने के बदले मन को शुभ आहार प्रदान कर तुम्हें सम्पन्न बनावें।

मन के दोषों का निराकरण मनोवेगों के द्वारा नहीं, बल्कि उच्चतर विवेक और मनन के द्वारा परिचालित जीवन द्वारा किया जाना चाहिए। आध्यात्मिक-जीवन के लिए हानिकारक बातों से दूर रहना चाहिए और उसमें सहायक बातों को ग्रहण करना चाहिए। जो सहायक हैं, वह बहुत अप्रिय हो सकता है, लेकिन फिर भी हमें उसे स्वीकार करना चाहिए। और उसका अनुसरण कर हम मन के दोषों को बहुत हद तक दूर करने में सफल हो सकेंगे।

हमारा मन हमें बहुत प्रकार के कष्ट देता है, विशेषकर तब जब हम उसे नियन्त्रित करना चाहते हैं। कभी-कभी वह बहुत जड़ हो जाता है। वह आगे बढ़ना नहीं चाहता। कभी

---

६. छान्दोग्योपनिषद् का शान्तिपाठ

वह उन्मत्त होकर एक विषय से दूसरे विषय की ओर दौड़ता है। और यदि जड़ मन कुछ समय के लिए शान्त भी रहता है, तो वह पुन: अपना उन्मत्त कार्य प्रारम्भ कर देता है। लेकिन प्रशिक्षण द्वारा यह उन्मत्त मन एकाग्र किया जा सकता है। हमारे आचार्यों का कथन है कि हमारा आहार शुद्ध होना चाहिए। मुख से ग्रहण किया आहार शुद्ध होना चाहिए। उस से देह में समरसता आनी चाहिए। इसी तरह अन्य सभी इन्द्रियों द्वारा आहारित किया जा रहा आहार शुद्ध होना चाहिए। यह एक शुद्ध सूक्ष्म शरीर के निर्माण में सहायक होता है। मन के द्वारा हम जो आहार करते हैं, अर्थात् हमारे विचार और भावनाएँ भी शुद्ध होने चाहिएँ, जिस से वे एक समरस सूक्ष्म-शरीर के निर्माण में सहायक हो सकें। एक संस्कृत कहावत है, कि साँप को शुद्ध दूध ही क्यों न पिलाया जाए, वह दु:सह विष ही पैदा करेगा।[१०] यह उसका स्वभाव है। इसी तरह शुद्ध शाकाहारी भोजन करना पर्याप्त नहीं है। हमारा स्वभाव बदलना चाहिए। हमें पवित्र, प्रेमी और मृदु स्वभाव होना चाहिए।

हममें कई दोष हैं। अच्छा, क्या हम इन दोषों को एक के बाद एक दूर करें? कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं, कि पहले सिर को, उसके बाद कान को, फिर नाक, फिर हाथों, सीने, पैरों इत्यादि को ढीला छोड़ो। कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक वासनाओं को न दबाने और उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति की सलाह देते हैं। लेकिन वास्तविक जीवन में अपने को सुधारने के इन खण्डश: उपायों से बहुत कम लोगों को स्थायी लाभ हुआ है। वेदान्त विषय के मूल में जाता है। वह हमारी समूची आत्म-सत्ता का निदान प्रस्तुत करता है। हमारे सामान्य अहंकार के पीछे उच्च-आत्मा है, जो पवित्रता, शक्ति और आनन्द का उत्स है। तुम उसे जितना अधिक चाहोगे, तथा उसे अपने विचारों और क्रियाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होने दोगे, तुम उतने ही पूर्ण और शान्त होगे। श्रीरामकृष्ण के महानतम शिष्य स्वामी विवेकानन्द हमें निर्देश देते हुए कहते हैं : "तुम अपने को और प्रत्येक व्यक्ति को अपने सच्चे स्वरूप की शिक्षा दो और घोरतम मोहनिद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस नींद से जगा दो। ज़ब तुम्हारी जीवात्मा प्रबुद्ध होकर सक्रिय हो उठेगी, तब तुम आप ही शक्ति का अनुभव करोगे, महिमा और महत्ता पाओगे, साधुता आएगी, पवित्रता भी आप ही चली आएगी; मतलब यह कि जो कुछ अच्छे गुण हैं, वे सभी तुम्हारे पास आ जाएगें।"[११] एक के बाद एक अंग का शुद्धिकरण नहीं, अपितु अखण्ड आत्मा को प्राप्त करना-वेदान्त यह सिखाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान और नैतिकता :

आजकल नैतिक अनुशासनों को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में दमन और अस्वाभाविक-नियन्त्रण से बहुत अधिक जोड़ा जा रहा है। प्राचीन हिन्दू-ऋषि इन्द्रियों को उच्चतर दिशा प्रदान करने में विश्वास करते थे। हम कर्णों से शुभ श्रवण करें, नेत्रों से शुभ

---

१०. फणी पीत्वा क्षीरं वमति गरलं दु:सहतरम्।

११. विवेकानन्द साहित्य, पञ्चम खण्ड, (१९८९), पृ. ८९

दर्शन करें। हम परमात्मा की स्तुति और आराधना करें तथा स्थिर और बलवान देह तथा इन्द्रियों द्वारा निर्धारित जीवन का उपभोग करें। [१२]

व्यक्ति तब शान्ति और समरसता का सच्चा अनुभव करता है, जब वह अपनी इन्द्रियों और मन का स्वामी होता है, जब वह आध्यात्मिक-जीवन को द्वन्द्व रहित और स्वाभाविक रूप से यापन करता है। मानसिक शुद्धि की प्रक्रिया साधना की भाषा में 'परगेशन' और मनोवैज्ञानिक भाषा में उदात्तीकरण कहलाती है। यह वासनाओं या 'मौलिक सहजातवृत्तियों' को उच्चतर दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने एक प्रणाली खोज निकाली है जिसके बारे में भारत के पुरातन आध्यात्म-आचार्यगण और अधिक जानते थे। आधुनिक मनोविश्लेषण की प्रणालियों का मुख्य उद्देश्य रोगी की मानसिक समस्याओं के मूल और मन में गहरे पैठे कारण का चेतना के स्तर पर लाना या उसका बोध कराना है। कुछ निर्लज्ज मनोवैज्ञानिक रोगियों को अपनी स्थूल वासनाओं की उन्मुक्त रूप से पूर्ति करने की सलाह देते हैं।

लेकिन डा. हेडफील्ड नामक एक प्रमुख मनोविज्ञ कहते हैं : "उपचार एवं रोग निवृत्ति की दृष्टि से "अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करो" की सलाह ... मूर्खतापूर्ण है। अपने साक्षात अनुभव से मैंने किसी भी सच्चे मानसिक रोगी को ... उन्मुक्त कामोपभोग द्वारा स्वस्थ होते नहीं देखा है।"[१३]

आजकल मनोविश्लेषण की जिस पद्धति का व्यापक व्यवहार हो रहा है, उसमें रोगी से कहा जाता है कि वह : १. उसे चञ्चल कर रही इच्छा को नई दृष्टि से देखे तथा उसे पूर्णतया या आंशिक रूप से भय और घृणा मुक्त हो स्वीकार करे। २. समस्या का सीधा सामना करे एवं अत्यधिक ग्लानि के बिना उसे अस्वीकार कर दे। ३. उसे उच्चतर मार्ग में, उच्चतर लक्ष्य की ओर परिचालित करे।

व्यक्तिगत-मनोविज्ञान की शाखा के प्रतिष्ठाता डा. एडलर सदा समाज के लिए उपयोगी एक स्वास्थ्यकर जीवन-पद्धति का अनुसरण करने की सलाह देते हैं। हिन्दू अध्यात्म आचार्य भी हमारी वासनाओं को उच्चतर दिशा प्रदान करने की सलाह देते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते है : "छः रिपुओं को ईश्वर की ओर मोड़ दो। आत्मा के साथ रमण करने की कामना हो। जो ईश्वर की राह पर बाधा पहुँचाते हैं, उन पर क्रोध हो। उसे ही पाने के लिए लोभ। यदि ममता है, तो उसी के लिए हो। जैसे 'मेरे राम', 'मेरे कृष्ण'। यदि अहंकार करना है ... तो यह सोचकर अहंकार करो कि तुम भगवान् के दास, भगवान की सन्तान हो।[१४]

डा. एडलर का यह कथन कितना सत्य है। "अपने सम्बन्ध में अपनी मान्यता

---

१२. भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।। - ऋग्वेद १.८९.८

१३. जे. ए. हेडफिल्ड, साइकोलाजी एण्ड मोरल्स, (लन्दन, मेथुअम एण्ड को. १९२३), पृ. १००

१४. देखिए, रामकृष्ण वचनामृत –१, (द्वादश संस्करण), पृ. ३०१

परिवर्तित करके हम अपने को भी बदल सकते हैं।'' स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : ''अपने को, सभी को, उसके वास्तविक स्वरूप की शिक्षा दो। ... शक्ति प्राप्त होगी, अच्छाई आएगी, पवित्रता आएगी, जो कुछ महान है, सर्वश्रेष्ठ है, वह प्राप्त होगा ...।'' हिन्दू आचार्य इस आदर्श के तर्कसंगत अन्तिम निर्णय तक, सामान्य मनोविज्ञान के परे तक पहुँचता है।

मध्यम मार्ग :

हमारी वर्तमान मानसिकता की अवस्था में देह और मन परस्पर बहुत अधिक सम्बन्धित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। अतः हमें दोनों का ध्यान रखना चाहिए। बुद्ध की कथा याद करो। वे महल के सुखों से ऊब गये, घर त्यागकर कठोर तपस्या की। एक दिन जब वे खड़े होने लगे, तो अचेत होकर गिर पड़े। सचेत होने पर उन्होंने एक मधुर गीत सुना :

अधिक तना तार टूट जाता है, संगीत नहीं उभरता।
अत्यधिक ढीला तार मूक रहता है, संगीत मर जाता।
सितार को साधो, न अधिक ढीला, न कसा।[१५]

इसी समय सुजाता नामक एक ग्रामीण महिला उस ओर आई और बुद्ध ने साभार उसके द्वारा निवेदित क्षीर-पात्र स्वीकार किया। पुनः शक्ति प्राप्त कर बुद्ध गहरे ध्यान में डूब गये और निर्वाण (ज्ञान लाभ) किया। अत्यधिक भोगासक्ति और आत्म-निग्रह, दोनों त्याज्य हैं। बुद्ध ने अतिमात्र तपस्या और भोगासक्ति से रहित सम्यक् भावना, सम्यक् आजीविका और सम्यक् ध्यान के मध्यम मार्ग का आविष्कार किया। बुद्ध से सदियों पूर्व श्रीकृष्ण ने यही सन्देश दिया था। युक्त-आहार, युक्त-विहार, युक्त कर्म प्रचेष्टा, युक्त निद्रा और जागरण वाले योगी के लिए योग दुःख नाशक होता है।''[१६] इसके भी पूर्व वैदिक ऋषियों ने कहा था : अपने स्वभाव के अनुरूप आहार रक्षक होता है, हानि नहीं पहुँचाता। उससे अधिक मात्रा हानिकारक होती है और कम मात्रा रक्षा नहीं करती।[१७] मुख से खाया जाने वाला आहार सम और शुद्ध होना चाहिए, अन्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत आहार भी शुद्ध होना चाहिए। नैतिक-जीवन यापन भी किया जाना चाहिए। यही मध्यम मार्ग है।

पवित्रता रहित एकाग्रता हानिकारक हो सकती है :

वासनाएँ हमें एकाएक नहीं छोड़तीं। हम भले ही महान् संयम का अभ्यास करें, इच्छित वस्तुओं से स्वयं को अलग रखें, लेकिन इच्छा सूक्ष्म रूप में बनी रहती है। यह इच्छा

---

१५. लाइट आफ एशिया, एडविन अर्नोल्ड, (लन्दन, केगन पॉल, ट्रेन्च ट्रूबनर एण्ड को., १९४३), पृ. ९४   १६. श्रीमद्भगवद्गीता ६.१७
१७. शतपथ ब्राह्मण ९.२.१.१, शंकराचार्य द्वारा भगवद्गीता भाष्य ६.१६ में उद्धृत

अध्यात्म-चेतना के उदित होने पर ही नष्ट होगी।[१८] अत: हमें इस अध्यात्म, परमात्म-चेतना को कुछ मात्रा में जगाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

एक निर्देश हमें सदा याद रखना चाहिये : न्यूनतम आवश्यक चित्तशुद्धि की प्राप्ति के पूर्व ध्यान का अभ्यास खतरनाक है। एकाग्रता के अभ्यास अथवा हमारी शक्ति को सञ्चित करने के पूर्व इस शक्ति को उच्चतर दिशा में परिचालित करना हमें आना चाहिए। अन्यथा हम कष्ट पा सकते हैं।

भारत में एक लोककथा प्रचलित है : "एक व्यक्ति ने एक दैत्य का आह्वान करना सीख लिया। उसने (एक) मन्त्र का उच्चारण किया और दैत्य प्रकट हो गया और बोला, "अब मुझे काम दो" उस व्यक्ति ने दैत्य को कुछ काम बताए, जो उसने क्षण भर में कर डाले। दैत्य पुन: प्रकट हुआ और बोला, "मुझे काम दो अन्यथा मैं तुम्हारी गर्दन मरोड़ दूँगा।" उस व्यक्ति को कोई काम नहीं सूझ रहा था। उसने दैत्य का आह्वान किया था, लेकिन अब उसे कोई काम देना था। तभी उसे एक युक्ति सूझी। दैत्य को एक कुत्ता दिखा कर उसने कहा, कुत्ते की टेढ़ी पूँछ सीधी करो।"

हम अपनी शक्ति जागृत करते हैं, लेकिन उसका सदुपयोग करना नहीं जानते। यह शक्ति व्यर्थ कार्यों में नष्ट हो जाती है। आध्यात्मिक जीवन का यह महान् दुर्भाग्य है। हमें इस शक्ति को उच्चतर दिशा प्रदान करना आना चाहिए। अन्यथा यह सञ्चित शक्ति हमारी वासनाओं को, हमारी इन्द्रियों को उत्तेजित कर सकती है। और यदि हम इन वासनाओं को उच्चतर दिशा प्रदान करने में असफल रहे तो वह एक बारूद के गोले की तरह हो जायेंगीं, और हमारी देह तथा मन को ध्वंस कर देंगीं। एकाग्रता और ध्यान के साथ खिलवाड़ करना खतरनाक है। लेकिन यदि हमें उचित प्रशिक्षण प्राप्त हो, यदि हममें आवश्यक योग्यता हो, तो ध्यान और एकाग्रता का जीवन यापन करना बड़ा आनन्ददायक है।

शक्ति को यदि उचित-दिशा प्रदान न की जाए, तो वह यौगिक सिद्धियों के रूप में व्यक्त हो सकती है। सम्भवत: हमें दूसरों के मन की बात जानने की क्षमता प्राप्त हो जाय। हम भविष्य में होने वाली बातों को जान सकते हैं, लेकिन हम स्वयं अपने मन तथा अपने वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूप से अनभिज्ञ बने रहते हैं। आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य अपने बारे में, अपने स्वरूप के बारे में जानना है। यदि पूर्वोक्त उपायों द्वारा आवश्यक चित्तशुद्धि कर ली जाए, तो इस सञ्चित शक्ति का उपयोग निष्काम कर्म, जप, एकाग्रता और ध्यान करने में किया जा सकता है। और ये सभी सत्य की ओर अग्रसर होने में हमारी सहायता करते हैं।

भगवत्-समर्पण :

सफलता पूर्वक आध्यात्मिक-पथ पर अग्रसर होने के लिए बुद्धि और अहंकार के

---

१८. भगवद्गीता २.५९

दोषों को भी दूर करना चाहिए। सतत सही मार्ग का अनुसरण करने तथा मन को बलवान् बनाने से इच्छाशक्ति बलवती होती है और आध्यात्मिक-जीवन की सफलता के लिए एक सबल इच्छाशक्ति की निश्चय ही आवश्यकता है। प्रलोभनों के आक्रमण के समय, अचेतन मन में छिपी वासनाओं के उदित होकर हमें प्रलोभित करते समय सबल इच्छाशक्ति की आवश्यकता पड़ती है। हम में से प्रत्येक के जीवन में अनिवार्य रूप से उपस्थित होने वाले प्रलोभनों से ऊपर उठकर हमें आध्यात्मिक-पथ का अनुसरण करने में समर्थ होना चाहिए।

और आध्यात्मिक-जीवन में हमें एक बात सदा याद रखनी चाहिए : अहं-केन्द्रित नैतिक और आध्यात्मिक साधना मात्र पर्याप्त नहीं है। अतः योग और वेदान्त दोनों के आचार्यों का कथन है : साधना के साथ ही साथा अपने कर्मों के फल ईश्वर को समर्पित करने का प्रयत्न करो।[१९] योगी ईश्वर को गुरुओं का परमगुरु मानता है। यह परमगुरु हम से दूर नहीं है। वे हमारे हृदय में विराजते हैं। पाश्चात्य देशों में ईश्वर के परम-गुरु रूप को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है, लेकिन हम भारत में उन्हें महत्त्व देते हैं। माता-पिता हमें लौकिक-जीवन प्रदान करते हैं। लेकिन हमारे आध्यात्मिक-गुरु आत्म-जगत् में हमारे जन्म में सहायक होते हैं तथा जन्म और मृत्यु, दुःख और शोक के पार जाने में सहायता करते हैं। वेदान्त में ईश्वर, परमात्मा, गुरुओं के परम गुरु ही नहीं, बल्कि आत्माओं की परम-आत्मा भी हैं।

हम में से प्रत्येक अनन्त परमात्मा का अंश है। प्रारम्भ में हम एक विराट् आत्मा में विश्वास करें या न करें, ज्यों-ज्यों हमारा मन और इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं, त्यों-त्यों हम अपनी व्यष्टि व्यक्तिगत आत्मा का अनुभव करने लगते हैं। ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों यह अनुभव करते हैं कि हम सभी वस्तुतः एक बृहत्तर पूर्ण के अंश हैं। और इसी महानतम सत्य की हमें आवश्यकता है। हम परमात्मा के अभिन्न अंग, आत्माएँ हैं।

उपनिषद् की घोषणा है कि 'आत्मा' सभी के हृदयों में छुपी हुई है। उसे ऋषि अपनी पवित्र सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही देख सकते हैं।[२०] हम सभी में एक अद्भुत क्षमता छिपी हुई है। इस क्षमता के द्वारा आत्मा अपने आप को जानता है तथा परमात्मा का अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त करता है। नैतिकता के अभ्यास से, प्रार्थना तथा ध्यान की सहायता से इस प्रसुप्त क्षमता को जागृत करना है। तभी सच्चा आध्यात्मिक-जीवन प्रारम्भ होता है। तभी साधक कह सकता है कि वह छुरे की धार पर चल रहा है। उसमें नित्य और अनित्य का विवेक करने की महान् शक्ति का उदय होता है। और विवेक की इस तीक्ष्ण-धार से वह अपने में से सम्पूर्ण अनात्म को दूर कर देता है। वह स्वयं को देहात्म-बोध, चित्तात्म-बोध और धी-आत्मबोध से काटकर अलग कर देता है। वह अनुभव करता है कि वह आत्मा है और आत्मा के रूप में वह आत्माओं की आत्मा, परमात्मा का अभिन्न अंग है। इस अवस्था में उच्चतम पवित्रता

---

१९. पातंजल योग सूत्र १.२३; भगवद्गीता ९.२७; १२.१०,११

२०. कठोपनिषद १.३.१२

की उपलब्धि करके सभी भौतिक, मानसिक और भावनात्मक वस्तुओं से अपने को पृथक् करके जीव छुरे की धार पर चलकर परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मज्ञ-ऋषियों का यही अनुभव है।

अब हम यह प्रश्न अवश्य पूछ सकते हैं : हमारा क्या होगा? हम क्या करें? हम इच्छा करने मात्र से ऋषि नहीं हो सकते, बल्कि परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले उन लोगों के चरण-चिन्हों का अनुसरण करके जो छुरे की धार पर चले थे, तथा जिन्होंने समस्त अनात्म पदार्थों को अपने से दूर कर परमात्मा का साक्षात्कार किया था, हम अपने आध्यात्मिक जीवन का विनम्र शुभारम्भ कर सकते हैं।

हम स्वयं में यह चेतना जागृत करने का प्रयास करें कि हम आत्मा हैं। हम अनुभव करने का प्रयत्न करें कि हम एक परम-आत्मा के अंग हैं। हम अनुभव करें कि देह हमारा रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है और बुद्धि हमारा सारथी है। हम इस रथ पर पूर्ण नियन्त्रण रखना सीखें। ब्रह्मज्ञ पुरुषों के चरण-चिन्हों पर चलकर हम सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करें। हम मन को संयत करें, इन्द्रियों को नियन्त्रित करें, आध्यात्मिक अनुभूति के पथ पर धैर्य-पूर्वक अग्रसर हों। हम जाग्रत् हों, उत्तिष्ठ हों। आध्यात्मिक-पथ पर शनैः शनैः अनुगमन करें। हम सत्य-आत्मा का, सभी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करें। हम लक्ष्य-प्राप्ति तक न रुकें।

छुरे की धार पर चलते हुए, निष्ठापूर्वक साधन-पथ पर अग्रसर होते हुए, हम ज्ञान और आनन्द की उपलब्धि करें; और साथ ही दूसरों को भी छुरे की धार पर चलने में, आध्यात्मिक-पथ पर अग्रसर होने में और उसी ज्ञान एवं आनन्द की उपलब्धि में सहायक होवें।

अध्याय ८

अध्यात्म पथप्रदर्शक गुरु

आध्यात्मिक जीवन में प्रशिक्षण की आवश्यकता :

महान् चीनी दार्शनिक योगी लाओत्से के एक शिष्य ने निम्न कहानी कही है : एक युवक 'ची' नामक लुटेरों के सरदार के दल में सम्मिलित हुआ। एक दिन नवसिखिए ने दल के नेता से पूछा, "क्या ताओ (सही तरीका) चोरी में भी पाया जा सकता है?" और 'ची' ने उत्तर दिया, कृपया मुझे ऐसी चीज बताओ, जिसमें ताओ अर्थात् सही पथ अथवा नियम न हो। चोरी में लूट के स्थान का पता लगने की *बुद्धि*, सबसे आगे जाने का *साहस*, अंत में बाहर निकलने की *वीरता*, सफलता की संभावना के अंकन की *अंतर्दृष्टि* तथा डाकुओं में लूट के नीतिसंगत बँटवारे में *न्याय* की आवश्यकता होती है। इन पाँच गुणों के बिना कोई भी सफल चोर नहीं हो सकता।

जीवन के प्रत्येक कार्य में, यहाँ तक कि चोरी में भी कुछ सिद्धान्त हैं, जो सीखने पड़ते हैं। सभी पेशों में प्रशिक्षार्थी के लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। आध्यात्मिक-जीवन के लिए यह बात और अधिक सत्य है। लाओत्से के शिष्य आगे कहते है : विज्ञजनों के सिद्धान्त डाकू तथा सज्जन दोनों के लिए अपरिहार्य हैं। चूँकि सज्जन कम हैं और दुर्जन अधिक, इसलिये सन्तों द्वारा जगत् का कल्याण कम हो पाता है, जब कि अन्य लोग जगत् का अकल्याण अधिक करते हैं। पाश्चात्य देशों में यात्रा के दौरान संहारात्मक गतिविधियों में व्यय की जा रही शक्ति से मैं आश्चर्यचकित रह जाता था। कितने सैनिकों, विमान चालकों, यान्त्रिकों यहाँ तक कि वैज्ञानिकों को युद्ध के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा है। इस समय और शक्ति के एक अंश का भी व्यय आत्मा के प्रशिक्षण के लिये, परमात्मा के ज्ञान, आनन्द और शान्ति की प्राप्ति में हमें समर्थ बनाने में, क्यों नहीं किया जाता?

उपनिषद् के महान्-ऋषियों ने हमारे सम्मुख आत्म-साक्षात्कार को जीवन के लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन आध्यात्मिक जागरण के बिना यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन धर्म जगत् में क्रिया-अनुष्ठान और कर्मकाण्ड अधिक, और वास्तविक आध्यात्मिक जागरण बहुत कम, दिखाई देता है। इसीलिए आत्म-साक्षात्कार रूप वास्तविक धर्म में लोगों का विश्वास नहीं रहा है। और अब धार्मिक ढोंगियों की बहुतायत हो गई है, जो यौगिक सिद्धियों का दावा करते हैं तथा आसानी से स्वर्ग दिलाने का आश्वासन देते हैं। साथ

ही नैतिक शुद्धि के लिए प्रयत्न करने में अनिच्छुक पराश्रयी लोग आसानी से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं।

चरम लक्ष्य प्राप्त करने वाला अथवा कम से कम उसके निकट तक पहुँचने वाला ही उसकी प्राप्ति का मार्ग बता सकता है। आध्यात्मिक-जीवन में सम्यक् मार्ग-दर्शन के बारे में उपनिषदों में कहा गया है :

बहुत से लोग आत्म-तत्त्व के बारे में सुन नहीं पाते। बहुत से लोग सुनकर भी समझ नहीं पाते। आत्म-तत्त्व का वक्ता आश्चर्यजनक होता है, इसको जानने वाला आश्चर्यजनक होता है। कुशल आचार्य द्वारा अनुशिष्ट तत्त्वज्ञान प्राप्त करने वाला धन्य है।[१]

आत्म-तत्त्व का ज्ञान किसी अवर (निम्न कोटि के व्यक्ति) द्वारा कहे जाने पर पूरी तरह प्राप्त नहीं होता। क्योंकि उसके बारे में विभिन्न धारणाएँ होती हैं। आत्मा अणु से भी अणुतर है और अतर्क्य है। अनुभूति सम्पन्न आचार्य द्वारा कहे जाने पर व्यक्ति लक्ष्य प्राप्त करता है और पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता।[२]

मुमुक्षु कर्म द्वारा प्राप्य स्वर्गादि लोकों के सुखों की परीक्षा करे। उसके बाद उनसे विरक्त होकर चिरन्तन आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनम्रता पूर्वक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट जावे। ऐसे प्रशान्त चित्त शमयुक्त विनयावनत शिष्य को विद्वान् आचार्य तत्वतः वह ब्रह्मविद्या प्रदान करते हैं, जिससे अक्षर ब्रह्म (पुरुष) को सम्यक् रूप से जाना जा सकता है।[३]

गुरु का कार्य :

आत्म-साक्षात्कार का क्या अर्थ है? इसका अर्थ जीव और परमात्मा का मिलन है। जीवन के विभिन्न अनुभवों और दुःखों से गुजरते हुए जीव परमात्मा के निकट पहुँचता है और अन्त में उसके साथ एकत्व का अनुभव करता है। इस प्रक्रिया का उपनिषद् में मनोहर वर्णन किया गया है :

सुवर्ण पंखों वाले तथा नित्य-साथी दो पक्षी एक ही वृक्ष की शाखाओं पर रहते हैं। इनमें से एक वृक्ष के कटु और सुस्वादु फलों को खाता है, दूसरा बिना खाये शान्त भाव से देखता रहता है। आत्म स्वरूप से विस्मृत मोहग्रस्त जीव सांसारिक जीवन में लिप्त हो दुःख भोगता है। लेकिन जब वह उपास्य ईश्वर को अपनी आत्मा के रूप में जानता है, तथा उसकी महिमा देखता है, तब वह शोकरहित हो जाता है।[४]

हम अपने दिव्य स्वरूप को भूल गये हैं। इसलिए भगवान के निकट जाने के बदले

---

१. श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।। - कठ उपनिषद् १.२.७

२. न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यम् अणुप्रमाणात्।। - कठ उपनिषद् १.२.८

३. मुण्डक उपनिषद् १.२.१२,१३ ४. मुण्डक उपनिषद् ३.१.१,२

हम संसार में अधिकाधिक फँसते जाते हैं। किसी के द्वारा हमें अपने वास्तविक स्वरूप का भान कराया जाना चाहिए। गुरु यह कार्य करते हैं। गुरु का कार्य शिष्य को अनादि अज्ञान निद्रा से जगाकर परमात्मा का पथ प्रदर्शित करना है। गुरु ईसाई पादरी की तरह नहीं है, जो मानव और भगवान के बीच में स्थित रहता है। गुरु शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है, अज्ञान नाश करके ज्ञानालोक प्रदान करने वाला आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक।[५] वे हमारी अपने सम्बन्ध में पोषित विपरीत मान्यता को दूर कर मोहनिद्रा भंग करने में सहायक होते हैं।

श्रीरामकृष्ण अपने को भेड़ समझने वाले शेर की कहानी सुनाया करते थे। एक बार एक शेरनी ने भेड़ों के एक झुण्ड पर हमला किया, लेकिन जब गड़रिये ने प्रतिरोध किया, तो वह एक ओर गिर पड़ी और एक शेर शावक को जन्म देकर मर गई। गड़रिये को उस शावक पर दया आई, और वह उसे भेड़ों के साथ पालने लगा। शेर शावक भेड़ का दूध पीने लगा और भेड़ों की तरह मिमियाना और घास खाना सीख गया। कुछ वर्षों बाद एक दूसरे शेर ने इस झुण्ड पर हमला किया, और उसे एक शेर को भेड़ों का सा आचरण करते देख, बड़ा आश्चर्य हुआ। वह भेड़-शेर को पकड़कर एक तालाब के निकट घसीट कर ले गया और उसे पानी में अपना प्रतिबिम्ब दिखाया। फिर बड़े शेर ने जवान भेड़-शेर के मुँह में मांस का टुकड़ा दिया और उसे कहा कि वह भेड़ नहीं, अपितु वास्तव में एक शेर है। इस पर भेड़ शेर ने अपना भेड़-बोध त्याग दिया और अपना वास्तविक शेर-बोध पुनः प्राप्त कर लिया।[६]

स्वामी ब्रह्मानन्दजी गुरु की तुलना राजा के मन्त्री से किया करते थे। "एक गरीब आदमी ने मन्त्री से सात दरवाजों वाले महल में रहने वाले राजा से भेंट करवाने की विनती की। मन्त्री ने उसकी विनती स्वीकार की और उसे एक के बाद दूसरे दरवाजे से होकर ले जाने लगा। प्रत्येक दरवाजे पर एक सुसज्जित अधिकारी को खड़ा देखकर हर बार गरीब आदमी मन्त्री से पूछता कि क्या वह राजा है? सातवें दरवाजे को पार कर राजसी वैभव में प्रतिष्ठित राजा के पास पहुँचने के पूर्व तक मन्त्री हर बार 'नहीं' कहता। राजा को देखकर गरीब व्यक्ति और प्रश्न नहीं करता।" महल के दरवाजों और गलियारों से ले जाने के लिए उसे किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता थी। ब्रह्मानन्दजी कहते हैं, गुरु भी इसी तरह होता है। राजा के मन्त्री की तरह वह शिष्य को आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न अवस्थाओं से ले जाकर अन्त में परमात्मा के निकट पहुँचा देता है।[७]

मानव व्यक्तित्व एक के भीतर एक भवनों और दालानों से युक्त बड़े महल के समान है। परमात्मा गुरु के रूप में हमारे निकट आते हैं, और हमें यह अनुभूति करने में सहायता करते हैं कि हम स्थूल शरीर मन, भावनाएँ, विचार और मनोभाव नहीं, बल्कि नित्य-आत्मा

---

५. गुकारोऽन्धकारस्तु रुकारस्तन्निवर्तकः।
अन्धकारनिवर्त्या तु गुरुरित्यभिधीयते॥

६. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, द्वादश संस्करण १९८२ ... भाग पृष्ठ ...

७. इटरनल कम्पेनिअन (१९७१) पृष्ठ २५०

हैं। अज्ञात प्रदेश में भ्रमण करते समय मार्ग जानने वाले एक पथ प्रदर्शक का होना अच्छा है। गुरु वह पथ-प्रदर्शक है, जो हमें गन्तव्य तक ले जाकर हमें वहाँ छोड़ देते हैं।

गुरु की आवश्यकता :

भारत में हम आध्यात्मिक-जीवन के लिए गुरु की आवश्यकता को मानकर चलते हैं। मैं जब पहली बार यूरोप गया, तो कुछ धार्मिक समूहों को यह कहते सुनकर आश्चर्य चकित रह गया कि वे बिना किसी विशेष प्रशिक्षण के भगवान् के साथ वार्तालाप करते हैं, ईश्वरीय वाणी सुनते तथा आध्यात्मिक-निर्देश प्राप्त करते हैं। मैंने कुछ लोगों का ध्यान से अवलोकन किया और जैसी मैंने अपेक्षा की थी, पाया कि वे लोग अपनी ही आवाजें सुनते थे, जो कभी-कभी शुभ होती थीं। भगवान् और भगवद्-वाणी अपवित्र व्यक्ति से बहुत दूर होती है। एक सुप्रशिक्षित और शुद्ध-चित्त व्यक्ति अन्तर्यामी भगवान् से वार्तालाप अवश्य कर सकता है, लेकिन जब अपवित्र और अप्रशिक्षित व्यक्ति ऐसा दावा करते हैं, तब वे स्वयं को ही धोखा देते हैं। इस पर भी वे कहते हैं कि उन्हें किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है। मेरे गुरु स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहा करते थे, "चोरी करना सीखने के लिए भी गुरु की आवश्यकता होती है। और क्या इस महती ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता नहीं है?"[८]

इसमें कोई रहस्य नहीं है। लोग रेडियम के बारे में जानने के लिए मेडम क्यूरी के पास जाते हैं; वे अणु का स्वरूप समझने के लिए रदरफोर्ड के पास जाते हैं। जिस प्रकार प्रकृति-विज्ञानों में एक सक्षम गुरु की आवश्यकता है, उसी प्रकार अध्यात्म-विज्ञान में आत्म-साक्षात्कार की पद्धति सीखने के लिये गुरु का मार्ग-दर्शन नितान्त आवश्यक है। इस विषय में हम ऐसे क्षेत्र में यात्रा करते हैं, जिसके बारे में हम कुछ नहीं जानते। जो लोग किसी गुरु की आवश्यकता महसूस नहीं करते, जो स्वयं दूसरों के गुरु बनने के लिए अत्यन्त व्यग्र हैं, उन्हें याद रखना चाहिए कि अन्धे द्वारा अन्धे को मार्ग दिखाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

हिन्दू-शास्त्रों में गुरु की आवश्यकता पर बार-बार बल दिया गया है। उदाहरण के लिए भगवद्गीता को लो। वहाँ पहले श्रीकृष्ण अर्जुन को कोई आध्यात्मिक उपदेश दिए बिना युद्धक्षेत्र में ले जाते हैं। तब अर्जुन उन से विनती करता है, "कार्पण्य दोष के कारण मेरा मन विभ्रमित हो गया है, और मैं धर्म के विषय में निर्णय करने में असमर्थ हूँ। मैं शिष्य के रूप में आपसे निवेदन करता हूँ, मुझ शरणागत को उपदेश दीजिए।"[९] श्रीकृष्ण को गुरु स्वीकार करने पर ही दिव्य गुरु श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं। शंकराचार्य की पुस्तक 'विवेकचूड़ामणि' में शिष्य गुरु से प्रार्थना करते हुए कहता है, "स्वामी, मैं संसार सागर में पतित हूँ, कृपया इस दुःख से मेरा उद्धार कीजिए।"[१०]

---

८. स्पिरिच्युअल टॉक्स् (अद्वैत आश्रम १९४४) पृष्ठ ४२,४३ ९. भगवद्गीता २.७
१०. विवेकचूडामणि १३९

आध्यात्मिक दीक्षा का प्रभाव :

श्रीरामकृष्ण कहते हैं : "अपरिवर्तनशील अक्षर तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए अन्तरात्मा का जागरण आवश्यक है।" आध्यात्मिक तथ्यों का अध्ययन और उनकी चर्चा पर्याप्त नहीं है। अन्तर्ज्योति का प्रत्यक्ष दर्शन होना चाहिए।

अन्तरात्मा का यह प्रथम जागरण कैसे होगा? ब्रह्मज्ञ-गुरु आध्यात्मिक-दीक्षा द्वारा शिष्य में यह जागरण करते हैं। सभी धर्मों में स्नान, बापतिस्मा, पवित्र जल अथवा तेल से सिंचन, पवित्र शास्त्रांशों का पाठ, पूजा-अनुष्ठान आदि दीक्षा-रस्में विद्यमान हैं। इन अनुष्ठानों से दीक्षित व्यक्ति उन धार्मिक समुदायों के विशेष अधिकार प्राप्त कर लेता है, जिनके सदस्य के रूप में दीक्षा-रस्म द्वारा वे सम्मिलित किए जाते हैं। यह औपचारिक दीक्षा, जिस आध्यात्मिक-दीक्षा की हम बात कर रहे हैं, उससे बहुत भिन्न है।

जब ईसा मसीह ने कहा था : "जब तक व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता, तब तक वह ईश्वर के साम्राज्य का दर्शन नहीं कर सकता",[११] तब उनका तात्पर्य यही था। पुनर्जन्म का अर्थ है, आध्यात्मिक जागरण होना, स्वयं को देह समझना त्याग कर आत्मा समझना। "जिसका जन्म देह से होता है, वह देह है, जो परम आत्मा से पैदा होता है, वह आत्मा है।"[१२] बाद में ईसा के एक शिष्य, सन्त पीटर ने इस कथन को समझाते हुए कहा : "दूषणीय बीज द्वारा पुनर्जन्म नहीं बल्कि नित्य और स्थायी भगवान् के नाम रूपी अदूषणीय पवित्र बीज से पुनर्जन्म होना।"[१३] गुरु भगवन्नाम का संचार करते हैं भगवान् की शक्ति नाम द्वारा, मन्त्र द्वारा आती है, और मन्त्र द्वारा आत्मा का जागरण होता है।

भारत में द्विजत्व की अवधारणा है। द्विज शब्द का एक अर्थ पक्षी भी है। पहले अण्डा पैदा होता है, उसके बाद अण्डे से पक्षी शावक पैदा होता है, जो किसी दिन बड़ा होकर पक्षी बनेगा। सभी अण्डे पूरे नहीं पकते, सभी पक्षी-शावक बड़े नहीं होते। इसी तरह सभी लोग आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त नहीं करते। लोग आध्यात्मिक-विकास के विभिन्न-स्तरों पर होते हैं। एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक है :

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदपाठी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥ (अत्रि स्मृति, १४१-४२)

अर्थात् – मनुष्य का शूद्र या अज्ञानी के रूप में जन्म होता है। संस्कार द्वारा वह द्विज होता है। स्वाध्याय और शास्त्रपाठ से वह विप्र या विद्वान या कवि होता है। ब्रह्म को जानने पर वह ब्राह्मण होता है। आध्यात्मिक-दीक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सच्चा ब्राह्मण या ब्रह्मज्ञानी बनाना है। उपनिषद् में कहा गया हैं, "अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः"[१४] अर्थात् जो अक्षर ब्रह्म को जानने के बाद इस संसार से जाता है, वह ब्राह्मण

---

११. बाईबिल, सन्त जॉन, ३.३
१२. बाईबिल, सन्त जॉन ३.६
१३. बाईबिल, सन्त पीटर १.२३
१४. बृहदारण्यक उपनिषद ३.८.१०

है। श्रीरामकृष्ण के एक महान् शिष्य महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी) ने एकबार मुझसे कहा था, "जो कोई श्रीरामकृष्ण की शरण में आता है, वह वस्तुतः ब्राह्मण है।"

आध्यात्मिक दीक्षा से जीव का परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। एक चीनी सन्त ने इस प्रकार प्राकृतिक समरसता (ताओ) के सिद्धान्त को प्रदर्शित किया : उसने दो वीणाओं को ठीक एक तरह से साधा। उसने एक को पास वाले कमरे में रख दिया और अपने हाथ की वीणा पर 'कुंग' स्वर बजाया। तत्काल दूसरी वीणा पर कुंग स्वर बज उठा। 'चिओ' सुर बजाने पर दूसरी वीणा का वही तार झंकृत हो उठा, क्योंकि दोनों तार एक ही सुर में साधे थे। एक वीणा में सुरों की दूरी बदलने पर दूसरी वीणा के सुर बेसुरे और कर्कश हो गए। ध्वनि तो थी, लेकिन मुख्य स्वर का प्रभाव न था। इसी तरह हम पढ़ सकते हैं, विचार कर सकते हैं, बोल भी सकते हैं, लेकिन जब तक हम अपनी आत्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना नहीं सीख जाते, तब तक सब व्यर्थ है।

दीक्षा का प्रभाव उसी पवित्र व्यक्ति में प्रकट होता है, जो भगवान् को तीव्रता से चाहता है। पतञ्जलि शिष्यों के तीन भेद करते हैं : मृदु अर्थात् जो साधक आध्यात्मिक साधना की कठिनाईयों को अधिक सहन नहीं कर सकते; मध्यम अर्थात् जो प्रथम से अधिक प्रयत्न करते हैं; तीव्र अर्थात् जो साक्षात्कार के लिए तीव्रतापूर्वक प्रयत्न करते हैं, जिन्होंने बाह्य-व्यवधानों से मन को हटाने का रहस्य सीख लिया है, जिन्हें अन्तर्यामी परमात्म-सत्ता का बोध सदा बना रहता है तथा जिन्हें भगवान् की तीव्र लालसा है।[१५] भगवत् प्राप्ति की लालसा को सदा भगवत्कृपा का लक्षण समझना चाहिए।

मेरे अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में मुझे पथ अत्यन्त कठिन प्रतीत हुआ था। जब मैंने स्वामी ब्रह्मानन्दजी से पूछा कि मुझे क्या करना चाहिए, तो उनका उत्तर था, "संघर्ष, संघर्ष।" गुरु के निर्देश प्राप्त करना पर्याप्त नहीं है, सतत संघर्ष करना आवश्यक है। सर्वप्रथम शिष्य को पूर्ण आन्तरिकता से सत्य के साक्षात्कार के लिए आतुर होना चाहिए। जो लोग तैयार हैं, उनमें आध्यात्मिक जागरण तत्काल हो सकता है। जो संघर्षरत हैं, उनमें वह धीरे धीरे होता है।

जब हम आनन्दित होते हैं, तब हम उस आनन्द का दूसरों में सञ्चार कर सकते हैं। इसी तरह एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक गुरु अपने शिष्य में आध्यात्मिक स्पन्दनों का सञ्चार कर सकता है। हमने श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों को कई बार इस शक्ति का प्रयोग करते देखा है। वे आध्यात्मिक शक्ति के महान् भण्डार थे, लेकिन वे उसका बड़ी सावधानी से उपयोग करते थे। सामान्यतः गुरु अपनी शक्ति का संचार मन्त्र के माध्यम से करता है।

मन्त्र शक्ति :

एक बार एक संन्यासी शिष्य ने महापुरुष महाराज से पूछा, सभी लोगों को दीक्षा लेते

---

१५. देखिए पातञ्जल योगसूत्र १.२२

ही आध्यात्मिक जागरण नहीं होता। फिर भी क्या उन्हें कुछ न कुछ लाभ नहीं होता? महापुरुष जी ने उत्तर दिया : भले ही दीक्षा के समय उन्हें कुछ भी अनुभव न हो, फिर भी एक ब्रह्मज्ञ गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र की शक्ति अमोघ है। शिष्य में सञ्चरित आध्यात्मिक शक्ति कालान्तर में उसका रूपान्तरण कर देती है, और उसके बाद आध्यात्मिक-जागरण होता है।

यदि कोई महात्मा, जो पूर्ण ज्ञानी न हो, दीक्षा दें, तो उसका प्रभाव क्या होगा? एक सामान्य महात्मा की तुलना विद्यालय की ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थी से की जा सकती है, जो महाविद्यालय में प्रविष्ट न होते हुए भी अपने से कनिष्ठो को प्रारम्भिक निर्देश प्रदान कर सकता है। एक ओर वह स्वयं सत्य की ओर अग्रसर होता जाता है, और साथ ही दूसरों में अध्यात्म-बोध का जागरण करने का प्रयत्न करता है। यदि दीक्षार्थी निष्ठापूर्वक आध्यात्मिक जीवन-यापन करे, तो आध्यात्मिक जीवन में पर्याप्त प्रगति सम्पन्न सामान्य गुरु द्वारा दी गयी दीक्षा से भी समय पर आध्यात्मिक जागरण होता है। स्वयं मन्त्र में भी महान् शक्ति होती है। श्रीचैतन्य हमें इसकी शिक्षा देते हुए कहते हैं : ''आपने अपने बहुत से नाम प्रकट किए हैं, जिनमें आपने अपनी सर्व समर्थ शक्ति अर्पित कर दी है तथा उनके स्मरण में कोई समय अथवा नियम निर्धारित नहीं किया है।''

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमित: स्मरणे न काल:। – (शिक्षाष्टकम् २)

ओम् तथा अन्य भगवन्नामों के जप के प्रभाव के बारे में पतञ्जलि कहते हैं कि उससे साधन-पथ की विभिन्न बाधाएँ दूर होती हैं तथा प्रत्यक् चैतन्य का अधिगम होता है।[१६] ये बाधाएँ क्या हैं? व्याधि, संशय, मानसिक चाञ्चल्य आदि ये बाधाएँ हैं। मन्त्र का जप व्यक्तित्व में एक नयी समरसता और सामञ्जस्य पैदा करता है, जिससे स्नायु शीतल होते हैं और मन की शक्तियाँ केन्द्रित होती हैं। और कालान्तर में अन्तरात्मा का जागरण होता है। आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ कर रहा साधक मन्त्र की शक्ति को समझ न सके, लेकिन निष्ठापूर्वक जप करने पर वह क्रमश: उसकी शक्ति का अनुभव कर सकेगा। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहते हैं : ''जप, जप, जप, कर्म करते समय भी जप करो। अपने समस्त क्रिया-कलापों के बीच मन्त्र-जप का चक्र चलते रहने दो। यदि ऐसा कर सको, तो हृदय की समस्त ज्वाला शान्त हो जाएगी। बहुत से पापी भगवन्नाम की शरण लेकर शुद्ध, मुक्त और सिद्ध हो गए हैं। भगवान् और उनके नाम में अटूट विश्वास रखो, जानों कि वे दोनों भिन्न नहीं है।''[१७]

अतीत काल में सन्तों ने प्रदर्शित किया है तथा वर्तमान काल में भी यह बात बार-बार सिद्ध हुई है कि भगवान् की शक्ति भगवान् के नाम के माध्यम से अवश्य व्यक्त होती है। गुरु प्रदत्त मन्त्र को बहुमूल्य समझकर हृदय में संभाल कर रखने तथा निरन्तर उस पर

---

१६. तत: प्रत्यकचेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। - पातञ्जल योगसूत्र १.२९

१७. इटरनल कम्पेनिअन पृष्ठ २९७

ध्यान करने से साधक में इस शक्ति का अधिकाधिक विकास होता है। श्रीरामकृष्ण इसकी तुलना मोती बनने की प्रक्रिया से किया करते थे। प्रचलित मान्यता के अनुसार घोंघा स्वाति नक्षत्र के उदय होने तक प्रतीक्षा करता है। यदि उस समय वर्षा होती है, तो घोंघा अपनी सीप को खोलकर उसका जल ग्रहण कर लेता है। फिर वह समुद्र-तल में गोता लगाकर महीनों, तब तक वहाँ पड़ा रहता है, जब तक वह जल-बिन्दु सुन्दर मोती में परिणत नहीं हो जाता। इसी तरह भक्त का हृदय सत्य के प्रति उन्मुक्त होना चाहिए और गुरु से आध्यात्मिक उपदेश प्राप्त करने के वाद उसे एकनिष्ठ उत्साह के साथ उसकी तब तक साधना करनी चाहिए, जब तक आध्यात्मिक अनुभूतिरूप मोती का निर्माण न हो जावे।

शुद्ध मन ही गुरु है :

स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहा करते थे, "तुम्हारे मन से बड़ा और कोई गुरु नहीं है। मानव गुरु सदा पास में नहीं रहते। भले ही हमें सिद्ध गुरु की कृपा और उपदेश प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, लेकिन वे हमारी आवश्यकता के समय सदा हमारे निकट नहीं रहते। लेकिन एक आन्तरिक गुरु, हमारा विशुद्ध-मन सदा हमारे भीतर रहता है। ब्रह्मानन्दजी कहते हैं : "प्रार्थना और ध्यान द्वारा शुद्ध होने पर मन भीतर से तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा। तुम्हारी दैनन्दिन गतिविधियों में भी यह आन्तरिक गुरु तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा और लक्ष्य-प्राप्ति तक तुम्हारी सहायता करेगा।"[१८]

इसका क्या अर्थ है? मन आन्तरिक गुरु की तरह कैसे कार्य करता है? समस्त ज्ञान का स्रोत, गुरुओं का परमगुरु – परमात्मा सदा ही प्रत्येक हृदय में विद्यमान है। नैतिक-जीवन, प्रार्थना, ध्यान इत्यादि के द्वारा शुद्ध होने पर मन परमात्मा की अन्तर्ज्योति के संस्पर्श में आता है। शुद्ध मन ईश्वरीय ज्ञान के प्रवाह का एक मार्ग बन जाता है। वह गुरुओं के परम गुरु से सीधे ज्ञान प्राप्त करता है। जब मन आन्तरिक सत्य के प्रति उन्मुक्त होना सीख जाता है, तब वह अनेक स्रोतों से उपदेश प्राप्त करने में समर्थ होता है। श्रीमद्‌भागवत में एक परिव्राजक अवधूत का वर्णन है, जिसने अनेक प्राकृतिक वस्तुओं को उपगुरु के रूप में स्वीकार किया था। धरती माता से उसने सहनशीलता (धैर्य) का रहस्य सीखा, वायु से अनासक्ति सीखी, (क्यों कि वायु सुगन्ध या दुर्गन्ध से अप्रभावित रहती है), आकाश से उसने सभी बन्धनों से मुक्त रहना सीखा, इत्यादि।[१९]

तुम में से बहुत से लोग यह जानते हो, कि अपना जीवन एक मठ के रसोईघर में व्यतीत करने वाले सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी संत ब्रदर लोरेंस को किस तरह ज्ञान हुआ था। पतझड़ के समय पर्णहीन वृक्षों को देखकर उन्हें यह विचार हो आया, कि इन नंगी डालों पर पुनः पत्ते उग आएगें तथा फूल और फल लगेगें। इससे उनके सामने समस्त सृष्टि में छुपी

---

१८. इटरनल कम्पेनिअन पृष्ठ २५१ १९. श्रीमद्‌भागवतम् ११.७.९

ईश्वरीय सत्ता और शक्ति उद्घाटित हो गई। उस समय हुए इस आध्यात्मिक जागरण ने उन्हें सारे जीवन संबल प्रदान किया। हम सभी में ईश्वरीय शक्ति छुपी हुई है, जो जागरण की प्रतीक्षा कर रही है। हमें अपने भीतर विद्यमान परमात्म-चेतना के केन्द्र को खोजना है, तथा प्रसुप्त शक्ति को जाग्रत करना है। भगवान् बुद्ध ने अपनी मृत्यु के बाद इसी आन्तरिक गुरु का अनुसरण करने का उपदेश अपने शिष्यों को दिया था। उन्होंने उनसे कहा : "आत्मदीपो भव" अर्थात् – अपने आप के दीपक बनो।

लेकिन हमें सावधानी बरतनी चाहिए कि कहीं हम अपने आप को ही न छलने लगें। हम सोचने लगें कि हमारा मन अच्छा गुरु बन गया है, हम सभी ओर से उपदेश पा रहे हैं। लेकिन अपनी ही इच्छाओं और विचारों को ईश्वरीय-प्रेरणा, भगवद्वाणी इत्यादि समझने का खतरा बना रहता है। एक सिद्ध जीवन्त गुरु से निर्देश तथा मार्गदर्शन पाने में ऐसा कोई खतरा नहीं रहता। मानव-गुरु नैतिक आचरण और निष्काम कर्म द्वारा चित्त शुद्धि के लिए शिष्य को उपदेश देते हैं। शिष्य के गलती करने पर गुरु इसे देखते हैं, और पुनः सही मार्ग पर ले आते हैं। सच्चे मानव गुरु के मार्गदर्शन का सौभाग्य प्राप्त करने वाले भटकते नहीं। क्रमशः गुरु की कृपा से शिष्य की प्रसुप्त प्रज्ञाशक्ति जागृत होती है, और उसके बाद शुद्ध प्रज्ञा गुरु का काम करती है। इस तरह हमारा मन हमारा गुरु होता है।

अवतार श्रेष्ठतम गुरु :

हजारों लोगों को ज्ञान प्रदान करने वाले ईश्वरावतार निश्चय ही सबसे महान् गुरु हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि अवतार 'कपाल-मोचन' होते हैं, अर्थात् जो लोगों की नियति को बदल सकते हैं, उनके कपाल पर लिखे को अर्थात् कर्मों को नष्ट कर सकते हैं। किसी सामान्य गुरु में रूपान्तरण करने की ऐसी क्षमता नहीं होती। ईसा मसीह में उन सरल मछुओं को दिव्य-ज्ञान प्रदान करने की क्षमता थी जो उनके स्पर्श से ज्ञानी बन गये। उनमें उन पापी कहलाने वाले अपवित्र लोगों को परिवर्तित करने की क्षमता भी थी। जब उन्होंने उनसे कहा, "तुम्हारे पापों को क्षमा कर दिया गया है, तुम्हारे विश्वास के कारण तुम पूर्ण हो गए हो, तुम निश्चिन्त हो जाओ", तो उन्हें तत्काल लगा कि वे बुराईयों से मुक्त हो गये हैं।

लेकिन स्वयं ईसा मसीह ने दीक्षा ग्रहण की थी। वह दृश्य आखिर और क्या था, जब जॉर्डन में बपतिस्मा के समय, ऐसा कहा जाता है कि, स्वर्ग के द्वार खुल गए, और उन्होंने ईश्वर के प्रकाश को एक कबूतर की तरह अवरोहण करते तथा अपने सिर पर उतरते देखा और एक वाणी सुनी; "यह मेरा प्रिय पुत्र है, जिससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ।" आधुनिक काल में अधिकाधिक लोग श्रीरामकृष्ण को ईश्वरावतार मानने लगे हैं। उन्होंने भी एक मानव गुरु से दीक्षा ली थी। ऐसा कहा जाता है, कि काली मंदिर के पुजारी का पद स्वीकार करने के पूर्व उनकी केनाराम भट्टाचार्य नामक कलकत्ता के एक तान्त्रिक गुरु से दीक्षा हुई थी।[२०] जब गुरु

२०. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग

ने श्रीरामकृष्ण के कान में मन्त्रोच्चारण किया, तो श्रीरामकृष्ण जोर से चिल्लाए और समाधिस्थ हो गये। गुरु ने कहा, कि उन्होंने कई शिष्यों को दीक्षा दी थी, लेकिन उन्हें श्रीरामकृष्ण जैसा कोई नहीं मिला था।

समय आने पर श्रीरामकृष्ण ने अपने महान् शिष्य नरेन्द्रनाथ को राम मन्त्र में दीक्षित किया, जिससे युवक की आध्यात्मिक भावनाएँ अत्यधिक उद्वेलित हुई थी। वह घण्टों भाव-समाधि में डूबा रहा। बाद में यही शिष्य स्वामी विवेकानन्द के नाम से आध्यात्मिकता का एक शक्तिपुञ्ज हुआ। स्वामी विवेकानन्द अमेरिका जाने के एक वर्ष पूर्व सन् १८९२ में, मद्रास के कॉलेज के एक नास्तिक प्राध्यापक ने स्वामीजी से धर्म के सत्यों के विषय में तर्क-वितर्क किया। स्वामीजी ने उसे स्पर्श-मात्र किया और वह संशयी व्यक्ति तत्काल परिवर्तित हो गया। बाद में इस व्यक्ति ने संसार त्याग दिया और उसकी, संत की तरह जीवन यापन करने के बाद, मृत्यु हुई।

श्रीरामकृष्ण में दृष्टि या इच्छा मात्र से दूसरों में आध्यात्मिक शक्ति सञ्चार कर उन्हें चेतना की महान् ऊँचाईयों तक पहुँचाने की क्षमता थी। स्वामी शिवानन्दजी (महापुरुष महाराज) ने स्वयं अपने अनुभव का इस तरह वर्णन किया है : "एक बार मैं ध्यान कर रहा था कि श्रीरामकृष्ण मेरे निकट आये। ज्योंही उन्होंने मुझे देखा, मैं रो उठा। वे बिना बोले स्थिर खड़े रहे। एक प्रकार की सुरसुराहट मेरे शरीर पर होने लगी और मेरा सारा शरीर काँपने लगा। श्रीरामकृष्ण ने इस अवस्था की प्राप्ति पर मुझे बधाई दी।"

अपने अन्य गुरुभाइयों की तरह स्वयं स्वामी शिवानन्दजी भी बाद में एक महान् शक्ति सम्पन्न आध्यात्मिक गुरु बने, जैसे कि वे हमारी उनसे भेंट के समय भी थे। संघाध्यक्ष बनने पर यह शक्ति उनमें और अधिक अभिव्यक्त हुई। लगभग सन् १९२३ में सिन्ध से एक साधक स्वामी शिवानन्दजी के पास दीक्षा के लिए आया। उस भक्त ने स्वप्न में मन्त्र प्राप्त किया था, लेकिन उसका महत्त्व न समझ पाने के कारण उसका मन उद्विग्न था। महापुरुष महाराज उसे मन्दिर में ले गये, उसे दीक्षा दी और कुछ समय के लिए ध्यान करने के लिए कहा। फिर वे प्रसन्न-मुद्रा में, दिव्य-भाव में विभोर हो अपने कमरे में लौट आये, क्योंकि उन्हें पता था कि मन्दिर में कुछ महत्त्वपूर्ण बात हो रही है। नये शिष्य को एक अद्‌भुत अनुभूति हुई। मन्त्र प्राप्त करते ही उसमें एक नयी आध्यात्मिक-चेतना का उदय हुआ, उसकी आँखों से आँसू झरने लगे और वह गहरे ध्यान में निमग्न हो गया। गुरु के पास लौटने पर उसने बताया कि किस तरह उनकी कृपा से उसका हृदय दिव्य-शान्ति से पूर्ण हो गया है। उसने कहा कि दीक्षा के समय उसे जो मन्त्र दिया गया था, वह वही मन्त्र था, जो उसे स्वप्न में मिला था, लेकिन दीक्षा के समय ही उसे उसका अर्थ समझ में आया। तब महापुरुष महाराज ने उससे कहा : "वत्स! आज स्वयं भगवान् ने तुम पर कृपा की है। वे ही दूसरों पर दया कर सकते हैं। हम उनके हाथों के यन्त्र मात्र हैं। भगवान् गुरु के हृदय में प्रकट होकर शिष्य के हृदय में आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चार करते हैं। मैंने तुम्हें प्रभु को समर्पित कर दिया है, जिन्होंने तुम्हारे जीवन और तुम्हारे

भविष्य की जिम्मेदारी ले ली है"[२१]

चिरन्तन गुरु :

एक कहावत है कि मानव-गुरु शिष्य के कान में मन्त्र उच्चारण करता है, जब कि जगद्गुरु भक्त के हृदय में बोलता है। साधक में अध्यात्म चेतना का भगवान् द्वारा जागरण होने पर सच्ची दीक्षा होती है। सच्चा गुरु सर्वव्यापी भगवान्, अन्तर्यामी परमात्मा है, जो संसार की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, प्रभव और प्रलय, आधार, समस्त ज्ञान का निधान और अव्यय बीज है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। – (भगवद्गीता ९.१८)

साधारण गुरु और शिष्य परस्पर मिलने पर एक-दूसरे में भगवान् को देखने का प्रयत्न करते हैं। शिष्य गुरु को गुरुओं के गुरु परमात्मा का एक विग्रह समझता है, जिसके माध्यम से भगवत्कृपा प्रवाहित होती है। वह इसी रूप में उनकी सेवा तथा उपासना करता है, तथा उनकी आज्ञा का पालन करता है। भारत में हजारों लोगों द्वारा पाठ किये जाने वाले प्रसिद्ध श्लोकों में यह बात व्यक्त हुई है :

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
अनेकजन्मसम्प्राप्तकर्मबन्धविदाहिने।
आत्मज्ञानप्रदानेन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

अर्थात् – *"अज्ञानान्धकार से अन्ध व्यक्ति के नेत्रों को ज्ञानरूपी अञ्जन की शलाका से उन्मीलित करने वाले श्रीगुरु को मैं प्रणाम् करता हूँ।" "अनेक जन्मों के कर्म बन्धनों को आत्म-ज्ञान प्रदान करके भस्म करने वाले श्रीगुरु को मैं प्रणाम् करता हूँ।"*

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत् कल्पार्थकं भासते
साक्षात् तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्।
यत्साक्षात्करणाद् भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।

(श्रीशंकराचार्यकृत दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, ३)

अर्थात् – *'जिसके सत् तथा चैतन्य-प्रकाश से असत् कल्प-जगत् प्रकाशित होता है, जो 'तत्त्वमसि' आदि वेद वचनों से अपने आश्रित शिष्यों को बोध प्रदान करते हैं, जिसके साक्षात्कार से जीव संसार-सागर में पुनः पतित नहीं होता, उन कल्याणकारी गुरुमूर्ति ग्रहणकारी दक्षिणामूर्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।*

जीवात्मा परमात्मा द्वारा परिव्याप्त और चारों ओर से आवृत है। लेकिन अज्ञान के

---

२१. अधिक जानकारी के लिए *'आनन्द धाम की ओर'* पढ़िए

कारण जीव इस सत्य का अनुभव नहीं कर पाता। दीक्षा का उद्देश्य इस अज्ञान आवरण को दूर करना है। एक बार आवरण दूर हो जाने पर जीव और परमात्मा के बीच का सम्पर्क नियमित साधना द्वारा बनाए रखा जा सकता है।

आवश्यकता और उसकी पूर्ति का पुराना नियम आध्यात्मिक जीवन में भी कार्य करता है। यदि कोई साधक सत्यलोक के लिए तीव्रता से व्याकुल होवे, तो वह सत्यलोक किसी न किसी स्रोत से उसे अवश्य प्राप्त होगा। उसमें कुछ होता है, उसका हृदय भगवत्कृपा के लिए उन्मुक्त हो जाता है, ईश्वरीय ज्ञानालोक उसपर मानो फूट पड़ता है। और ज्यों-ज्यों वह परम सत्य के निकट पहुँचता हैं, वह परमात्मा-ज्योति को सभी प्राणियों में प्रकाशित होते देख पाता है। और जब वह गुरुओं के परमगुरु परमात्मा के साथ एक हो जाता है, तब वह भी दूसरों के लिए ईश्वरीय ज्ञान का स्रोत बन जाता है। वह सभी प्राणियों की इस दृढ़ ज्ञान के साथ सेवा करता है कि वह उस भगवान् की ही सेवा कर रहा है, जो चिरन्तन गुरु हैं, तथा जो सदियों से जीवों को शिक्षा दे उद्‍बुद्ध कर रहा हैं, उन्हें ज्ञानालोक प्रदान कर रहा है, उनका पथ-प्रदर्शन कर रहा है।

अध्याय ९

साधु-संग

सत्संग की आवश्यकता :

सभी धर्मों और सभी आध्यात्मिक साधनाओं में सन्तों एवं ज्ञानियों के संग को महत्त्व दिया गया है, और वस्तुत: यह साधक के आध्यात्मिक-विकास के लिए बहुत आवश्यक है भी। प्रारम्भिक साधक के जीवन का यह सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। भारत में आध्यात्मिक प्रगति के इच्छुक सभी लोग सन्तों के संग के लिए सर्वदा आग्रहपूर्वक प्रयत्नशील रहते आये है। सत्संग से क्या लाभ है? इस विषय में श्रीरामकृष्ण-वचनामृत में एक महत्त्वपूर्ण वार्तालाप है :

एक भक्त : महाराज, तो उपाय?

श्रीरामकृष्ण : उपाय – साधुसंग और प्रार्थना। वैद्य के पास गये बिना रोग ठीक नहीं होता। साधु-संग एक ही दिन करने से कुछ नहीं होता। सदा ही आवश्यक है। रोग लगा ही है। फिर वैद्य के पास बिना रहे हुए नाड़ी ज्ञान नहीं होता। साथ-साथ घूमना पड़ता है, तब समझ में आता है कि कौन कफ की नाड़ी है और कौन पित की नाड़ी।

भक्त : साधु-संग से क्या उपकार होता है?

श्रीरामकृष्ण : ईश्वर पर अनुराग होता है। उनसे प्रेम होता है। व्याकुलता न आने से कुछ नहीं होता। साधुसंग करते-करते ईश्वर के लिए प्राण व्याकुल होता है ... साधुसंग करने पर एक और उपकार होता है – सत् और असत् का विचार। सत् नित्य-पदार्थ अर्थात् ईश्वर; असत् अर्थात् अनित्य। [१]

दूसरे शब्दों में, सत्संग से हम में त्याग के भाव की वृद्धि होती है। सर्वत्यागी संतों के साथ रहने से दूसरे लोग त्याग का मूल्य समझते हैं तथा उसकी साधना के लिए बल प्राप्त करते हैं। एक मुसलमान सन्त की कथा है, जिसके पास एक दिन सुलतान आया। सुलतान ने तपस्वी के त्याग की प्रशंसा की, जिसके उत्तर में सन्त ने कहा : 'मेरा त्याग? क्यों? तुम्हारा तो उससे अधिक है। मैंने तो संसार और उसके भोगों का त्याग किया है, जब कि तुमने तो भगवान् तथा स्वर्ग-सुखों को त्याग दिया है।'

---

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रथम भाग, (१६वाँ संस्करण) पृष्ठ ४१-४२

सम्यक् संग का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो बुद्ध द्वारा कथित 'सम्यक्-स्मृति' से निकट सम्बन्ध रखता है तथा वेदान्त की साधना में जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह, गर्वित होकर दूसरों से दूर रहना, सहृदयता का अभाव और दूसरों के प्रति संवेदनशीलता का अभाव, नहीं है। इसके विपरीत बाह्यतः कुछ लोगों के साथ संग न करके दूर रहते हुए भी एक पूर्णतः दया का कार्य हो सकता है। त्याग और संन्यास को उच्च स्थान प्रदान करते हुए भी बौद्ध धर्म सभी प्राणियों के प्रति करुणा का धर्म है।

आध्यात्मिक पथ के सहयात्री एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं। इसीलिए सत्संग इतना महत्त्वपूर्ण है। परस्पर सहायता, एक दूसरे के प्रति सद्भावना होनी चाहिए, क्योंकि ये हमारी शक्ति और प्रयास को बनाए रखने में मदद करते हैं। हमें कभी भी गुरु बनने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। लेकिन सहपाठी की तरह आचरण करना चाहिए और यदि सम्भव हो तो दूसरों की सहायता करनी चाहिए। यदि हम उचित सीमाओं में रहना जानते हैं, तो ऐसा करना सदा निरापद है। तब हम दूसरों तथा अपने लिए खतरनाक नहीं होते। तब अहंकार और अहम्मन्यता हम में अंकुरित न होकर हमें और दूसरों को हानि नहीं पहुँचा सकते।

"हे, जगदम्बे! मैं यन्त्र हूँ, तुम चलाने वाली हो।" हमें यह मनोभाव अपनाना चाहिए, बड़प्पन का भाव कभी नहीं। दूसरों का नेतृत्व करने के पूर्व परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण के भाव से दूसरों की समर्पित सेवा करना सीखो। कई बार हम बिना पर्याप्त प्रशिक्षण के दूसरों का पथ-प्रदर्शन करना चाहते हैं। हम पूरी कीमत चुकाए बिना फल प्राप्त करना चाहते हैं।

भक्तों की छोटी मण्डली का लाभ यह है कि कम लोगों में स्वभाव की समानता होती है और ये सभी स्पष्ट निर्देश लागू होते हैं। छोटी मण्डली में चुगलखोरी के बिना सच्ची सहानुभूति का भाव होना आसान है, भले ही उसके सदस्य प्रारम्भिक साधक क्यों न हों। पहले गहन कर्म तथा बाद में कार्य क्षेत्र का विस्तार करना सदा श्रेयस्कर है। प्रत्येक देश में ऐसे कुछ निष्ठावान् लोग होने चाहिएं, जो पूर्ण पवित्रता, सेवा और भक्ति के उच्चतम आदर्श के लिए प्रयत्नशील हों, जो उस आदर्श के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तत्पर हों, जो उसकी प्राप्ति के लिए कोई भी कष्ट सहने के लिए तैयार हों। चाहते हुए भी हम बड़े जन समुदाय को आध्यात्मिक नहीं बना सकते। लेकिन हम उन कुछ निष्ठावान् लोगों का जीवन बदल सकते हैं, जिनके परिवर्तन का समय हो गया है।

मूर्खों का संग न करो :

संस्कृत में एक प्रसिद्ध कहावत है :

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजन सम्पर्कः सुरेन्द्रभुवनेष्वपि।। – भर्तृहरि नीतिशतकम्, १४

अर्थात् – "स्वर्ग में मूर्खों के सम्पर्क के बदले वन-पर्वतों में वनवासियों के साथ

भ्रमण करना श्रेयस्कर है।''

अपने साधनकाल में यदि हम अच्छे, पवित्र, गहरे आध्यात्मिक भावापन्न और बुद्धिमान लोगों का संग प्राप्त न कर सकें तब भी मूर्खों अर्थात् सांसारिक भावापन्न लोगों के पास जाना और उनका संग नहीं करना चाहिए। उनके अपवित्र, अनैतिक स्पन्दन हमारी वर्तमान स्थिति में हमें प्रभावित करते हैं, भले ही हमें इसका पता न चले और हम यह सोचते रहें कि कुछ नहीं हुआ है। वराहनगर मठ में जब श्रीरामकृष्ण के कुछ युवा शिष्यों ने स्वामी विवेकानन्द से शिकायत करते हुए कहा, कि चूँकि वे अभी तक भगवद्दर्शन करने में सफल नहीं हुए हैं, अत: उन्हें अपने परिवारों को लौटकर गृहस्थों की तरह रहना चाहिए, तो स्वामीजी ने उत्तर दिया : ''यदि मैं राम को न पा सकूँ तो क्या इसीलिए मुझे श्यामा (स्त्री) के पास जाना चाहिए? ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई है, इसका अर्थ क्या यह है, कि मैं संसार में लौट जाऊँ? नहीं, कभी नहीं।'' सभी को यह मनोभाव बनाए रखना चाहिए। लेकिन सामान्यत: लोग किसी का संग चाहते हैं, चाहे वह कुसंग ही क्यों न हो। वे अकेले रहना नहीं चाहते। यही सारी समस्या है।

आध्यात्मिक प्रगति का एक असंदिग्ध लक्षण यह है, कि भक्त केवल परमात्मा तथा आध्यात्मिक विषयों को ही सुनना तथा उनकी चर्चा करना चाहता है। यदि कोई भक्त सांसारिक लोगों तथा सांसारिक वार्ता में रुचि रखता है, तो उसकी भक्ति में कुछ गड़बड़ है, तथा उसकी निष्ठा सन्देहास्पद है। कोई बाह्य वस्तु मुझे तभी आकृष्ट कर सकती है, जब उसके लिए मेरा मन लालायित हो अथवा उसके लिए मेरी आन्तरिक स्वीकृति हो। एक ही विचार के मनुष्य साथ रहते हैं क्योंकि उनके स्वभाव में समानता होती है। सच्चे आध्यात्मिक-व्यक्ति सांसारिक व्यक्तियों की बातचीत और संग में रस नहीं ले सकते। सांसारिक मनोभाव वाले लोग बहुत चतुर तथा बौद्धिक दृष्टि से विकसित होते हुए भी अबोध होते है और साधक को यह ध्यान रखना चाहिए, कि वह ऐसे मूर्खों की संगत में अपना समय न बिताए। यह अत्यधिक आवश्यक है। मैं जानता हूँ, कि मैं तुम में से कुछ लोगों को यह बात बार-बार क्यों कह रहा हूँ।

आत्मानं सततं रक्षेत् :

क्या तुमने कुछ लोगों को दूसरों का ''उद्धार'' करने में व्यस्त देखा है? ऐसे लोग पाश्चात्य देशों में ही बहुतायत में हैं। कुछ लोग सदा दूसरों की आत्मा को नरकाग्नि से बचाने में व्यस्त रहते हैं। यह न सोचो कि तुम सन्त हो गए हो, और अपनी इच्छानुसार सभी की संगत कर सकते हो। बुद्ध, ईसा मसीह, रामकृष्ण जैसे लोग ही पापी के पास जा सकते हैं, पापी का संग कर सकते हैं, और उनका त्राण कर सकते हैं। तुम्हारी बात भिन्न है। तुमने अपने उद्धार के लिए भी पर्याप्त क्षमता अर्जित नहीं की है। यदि मेरी बात समझ में न आयी हो तो, जाओ और पापियों को परिवर्तित करने का प्रयत्न करो और देखो तुम्हारा क्या होता है। तुम्हें

अभी अपनी साधना में लगे रहना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तुम्हें अपनी आत्मा और परमात्मा के अतिरिक्त और किसी बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। एक निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए तीव्रता और लगन के साथ अपनी साधना करो। जप, ध्यान और स्वाध्याय में अधिकाधिक समय लगाओ। तब यदि तुम आध्यात्मिक जीवन में पर्याप्त प्रगति कर लोगे, तो तुम भी दूसरों की आध्यात्मिक सहायता कर सकोगे।

कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा विपरीत लिंग के आकर्षण से अधिक प्रभावित होते हैं। कुछ लोगों में दूसरों की अपेक्षा काम के प्रलोभनों की प्रतिक्रिया जल्दी होती है। ऐसे लोगों को दूसरों के संग के विषय में, प्रलोभनों के विषयों के बीच जाने में, अधिक सतर्क रहना चाहिए। श्रीरामकृष्ण के "लाटू" नामक एक शिष्य थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण से भेंट के पूर्व अपनी किशोरावस्था एक गरीब ग्वाल-बाल की तरह समाज के निम्नवर्ग में व्यतीत की थी। वे लोगों को शराब पीते देखने के अभ्यस्त थे। श्रीरामकृष्ण के संस्पर्श में आने के बाद युवक लाटू एक दिन एक मदिरालय के पास से गुजरे, जिससे उनकी किशोर स्मृतियाँ जाग्रत हो उठीं और मन चञ्चल हो गया। दूसरों के विचारों को पढ़ने में समर्थ श्रीरामकृष्ण ने तत्काल लाटू की अशान्ति का कारण जान लिया और उन्हें शराबखाने के निकट न जाने की चेतावनी दी। उसके बाद युवक लाटू ने शराब की दूकान वाली सड़क से ही नहीं, बल्कि पास की अनेक सड़कों से आना जाना बन्द कर दिया। इसके बदले वे घूमकर लम्बे रास्ते से आते-जाते थे, भले ही इसमें उन्हें अधिक चलना और कष्ट उठाना पड़ता था। इस में क्या आश्चर्य है, कि कालान्तर में वे ज्ञानियों में अग्रगण्य बने। सन्त सदा ही अपने जीवन के सभी पक्षों में ऐसे ही पक्के होते हैं।

सड़क पर चलते हुए कभी-कभी मैं कुछ लोगों को देखकर भौंचक्का रह जाता हूँ। उनके चेहरे पर इतनी कामुकता और लोलुपता रहती है, यहाँ तक कि उनके निकट गुजरने पर उनके स्पन्दन मुझे आघात देते हैं। ऐसे लोगों के साथ व्यवहार करने में हमें कितना सतर्क रहना चाहिए।

एक आवारागर्द की एक मजेदार कहानी है, जिसने उफ़नती नदी में कम्बल-सा कुछ तैरते देखा। वह तत्काल नदी में कूद पड़ा और उस वस्तु के निकट तैर कर उसे पकड़ लिया। पर अब वह सहायता के लिए चिल्लाने लगा। किनारे खड़े लोगों ने चिल्लाकर उसे कम्बल छोड़कर लौट आने को कहा। आवारागर्द ने उत्तर दिया, "मैंने तो छोड़ दिया है, पर यह नहीं छोड़ता।" जिसे उसने क़म्बल समझा था, वह एक भालू था। हमारे साथ भी यही होता है। हम कुछ वस्तुओं या व्यक्तियों के पीछे जाते हैं, बाद में हम पाते हैं कि हम उसे छुटकारा नहीं पा सकते।

दूसरों की निन्दा न करो :

साधक सभी से बिना विचारे मिल-जुल नहीं सकता, लेकिन निन्दावाद कभी भी नहीं

होना चाहिए। अपवित्र लोगों की निन्दा कर अहम्मन्यता के भाव को बढ़ाना नहीं चाहिए। "मैं तुमसे पवित्र हूँ" यह भाव सचमुच बुरा है, और हमें अति-साहसी और लापरवाह बना देता है। लेकिन आध्यात्मिक साधक को अपवित्र लोगों तथा अपवित्र स्पन्दनों से अपनी रक्षा करने के लिए सतर्क रहना चाहिए। जब तक हम काफी प्रगति नहीं कर लेते तथा दूसरों को परिवर्तित करने की पर्याप्त आध्यात्मिक शक्ति अर्जित नहीं कर लेते, तब तक बुरे लोगों से मिलना हमारे लिए बिल्कुल निरापद नहीं है। निश्चय ही, परमात्मा सभी प्राणियों में हैं, लेकिन उनके कुछ रूप हमारी वर्तमान परिस्थिति में हमारे लिए निरापद नहीं हैं। परमात्मा के उन रूपों को दूर से प्रणाम करना चाहिए।

अच्छा, यदि कभी बुरे लोगों की संगत से बचा न जा सके, तो क्या करना चाहिए? उनके प्रति उपेक्षा या घृणा नहीं दिखानी चाहिए। पूर्ण सजग रहो और अपने भीतर एक प्रबल मानसिक अवरोध पैदा करो। आन्तरिक ढाल से अपनी रक्षा करो। प्रबल आत्म-निरीक्षण करो और अशुभ प्रभावों को अपने भीतर स्थायी डेरा लगाने न देने का प्रयत्न करो। सच्चा आध्यात्मिक साधक सदा विवेक करता है। यह उसकी आदत बन जाती है। तुम्हें सदा परमात्मा की ओर दौड़ने की मनःस्थिति में रहना चाहिए। कंगारू-शिशु के दृष्टान्त का अनुसरण करो। भय की आशंका होते ही कंगारू-शिशु माँ की थैली में कूदकर निश्चिन्त हो जाता है। इसी तरह हमें भी खतरे के समय परमात्मा की बाहों में पड़ना सीख लेना चाहिए।

अहंकार की बाधा :

हम जितना ही लोगों को तथा उनकी नीचता, लोलुपता, कुटिलता और कामुकता को जानने लगते हैं, उतना ही सभी की साधुता का हमारा छिछला आशावाद कम होता जाता है। तब हमारे निराशावादी अथवा दोषान्वेषी होने का भय रहता है। यह एक बड़ा खतरा है। पर हमारा सौभाग्य है कि इस जगत् में बहुत सज्जन, साधु प्रवृत्ति और आध्यात्मिक लोग भी हैं। हमें उनकी संगत करनी चाहिए। आध्यात्मिक लोगों को एक दूसरे का संग करना चाहिए, विशेषकर प्रारम्भिक दिनों में। आध्यात्मिक पथ में सहयात्रियों के साथ विचार-विनिमय करना आवश्यक है। यही नहीं, हमें सन्तों द्वारा अपने को संशोधित भी करवाना चाहिए। दूसरों द्वारा भूल सुधारना हमें अच्छा नहीं लगता, लेकिन हम स्वयं अपनी सभी कमजोरियाँ खोज नहीं सकते। जब दूसरे लोग हमारी गलतियाँ बतायें, तो हमें उन्हें सही दृष्टिकोण से स्वीकार करना चाहिए।

अहंकार आध्यात्मिक जीवन की एक महान् बाधा है। सन्तों के संग में रहने पर ही हमें अनुभव होगा, कि हम कितने अहंकारी हैं। साधु-संग अहंकार की महान् औषधि है। इसीलिए भारत में सन्तों को महान् आदर प्रदान किया गया है। हिन्दू-पुराण साधु-संग की प्रशंसा से पूर्ण हैं। जिन्हें सिद्ध महात्मा की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे ही ऐसी सेवा का महत्त्व समझ सकते हैं।

कभी-कभी अपनी आध्यात्मिक प्रगति के दौरान हम में एक प्रकार की अहितकर अन्तर्मुखता आ सकती है। उसे साधु-संग के द्वारा दूर रखना चाहिए। जब हमें निराशा आये, जब परमात्मा के साथ सम्पर्क स्थापित करना कठिन प्रतीत हो, तब आध्यात्मिक भावापन्न लोगों का संग और उनसे वार्तालाप बहुत सहायक होते हैं। अस्वस्थ अंतर्मुखी लोग आध्यात्मिक लोगों से भी दूर रहना चाहते हैं। अस्वस्थ बहिर्मुखी-वृत्ति वाले लोग सन्तों का संग केवल गप्प लगाने और समय नष्ट करने के लिए करते हैं। सन्तुलित स्वभाव वाले, पवित्र आध्यात्मिक साधकों के संग में आनन्द प्राप्त करते हैं, उनसे आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा करते हैं और अपने विश्वास और आध्यात्मिक-स्पृहा की वृद्धि करते हैं। श्रीरामकृष्ण सदा अपने शिष्यों को एक-दूसरे से मिलने के लिए प्रोत्साहित किया करते थे।

सन्तों की संगत करते हुए भी हमें याद रखना चाहिए कि मानवी सम्पर्क के पीछे एक दैवी सम्पर्क है, दैवी सम्बन्ध है। हमें जानना चाहिए कि सभी में परमात्मा निवास करते हैं, जो हम सभी को जोड़ने वाली कड़ी हैं। हमें सदा परमात्मा के माध्यम से दूसरों से सम्पर्क करना चाहिए। श्रीरामकृष्ण का अपने शिष्यों के प्रति अगाध प्रेम था, लेकिन वह मानवता के परमात्मा में एकत्व पर आधारित था। एक दिन उन्होंने अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्र से कहा था, ''मैं तुझसे प्रेम करता हूँ, क्योंकि मैं तुझ में नारायण को देखता हूँ।'' उनका शारीरिक आसक्ति से रहित दैवी सम्बन्ध था।

अपने गुरु के प्रति दृष्टिकोण :

किसी सिद्ध महापुरुष से मार्गदर्शन प्राप्त करने वाले सचमुच भाग्यशाली हैं। लेकिन गुरु के सम्पर्क में आना और उनसे कुछ निर्देश प्राप्त करना पर्याप्त नहीं है। उनकी शिक्षा का खूब निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। लेकिन उनसे अत्यधिक भावनात्मक लगाव नहीं होना चाहिए और उनके बाहरी रूप में आसक्त नहीं होना चाहिए। एक सच्चे आचार्य चाहते हैं कि उनके शिष्य परमात्मा को उनसे अधिक प्रेम करें और उनको केवल परमात्मा के यन्त्र के रूप में देखे। सत्य का उद्घाटन करने वाले वास्तविक गुरु हमारे हृदय में हैं और वे स्वयं परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं। उनका सन्देश सामान्यत: किसी व्यक्ति के माध्यम से आता है और वह भी गुरु कहलाते हैं। अत: परमात्मा को कभी-कभी परमगुरु कहा जाता है। हमें बाह्य गुरु से अधिक अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए, बल्कि आन्तरिक गुरु, अन्तर्यामी परमात्मा, हमारी आत्मा की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर उनसे ज्ञान और प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। तुम अपने इष्ट देवता को (परमात्मा का जो रूप तुम्हें सबसे अधिक रुचिकर हो) सभी गुरुओं के परम गुरु के रूप में देख सकते हो।

गुरु और शिष्य दोनों को यथासम्भव अवैयक्तिक होने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तब सम्भव होता है, जब गुरु शिष्य में परमात्मा को देखने, और शिष्य गुरु में परमात्मा को अनुभव करने का प्रयत्न करता है। दूसरे को व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि परमात्म सत्ता की

एक अभिव्यक्ति के रूप में तथा स्वयं को भी उसी रूप में सोचने का प्रयत्न करना चाहिए। यह व्यावहारिक वेदान्त का प्रारम्भ है और कालान्तर में यह आदर्श सभी वस्तुओं तथा सभी प्राणियों को ग्रहण कर लेता है।

परमात्मा मेरे पास भक्तों के रूप में आते हैं और मुझे उनके व्यक्तित्व से अधिक परमात्मा को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। शिष्य को भी सन्देश-वाहक (गुरु) में तथा स्वयं में भी परमात्म-सत्ता को पहचानना चाहिए। तभी आध्यात्मिक उपदेश फलप्रद होता है और सभी में परमात्मा की सत्ता का अनुभव सम्भव होता है।

भारत में गुरु-परम्परा :

अनादि काल से भारत में, तथा अन्यत्र भी आध्यात्मिक गुरु को सर्वोच्च आदर प्रदान किया जाता रहा है। हिन्दू शास्त्र तो गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, यही नहीं, परब्रह्म परमेश्वर तक की संज्ञा प्रदान करते हैं।[2] किन्तु अधिकांश लोग यह भूल जाते हैं कि यह बात भौतिक दृष्टि से नहीं, बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से कही गयी है।

अधिकांश साधकों के साथ कठिनाई यह है कि वे अपने को देह तथा व्यक्तित्व (Personality) समझते हैं तथा किसी देवता अथवा देवी की उपासना में रत रहते हैं और उनकी प्रतिमा में अटक जाते हैं। और यदि उनके कोई गुरु हों, तो वे उनके रूप तथा व्यक्तित्व से आसक्त हो जाते हैं। यह भौतिकवाद के अलावा और कुछ नहीं, भले ही इसे आध्यात्मिक नाम क्यों न दिया गया हो। शुरू शुरू में यह आध्यात्मिक भौतिकवाद भले ही कितना भी उपयोगी क्यों न हो, इसका अतिक्रमण करना ही होगा। इसके ऊपर उठना ही होगा। किन्तु प्रश्न यह है कि यह कैसे किया जाए।

आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने पर साधक को यह अनुभव करना होगा कि वह एक आत्मा है। उसके आराध्य इष्टदेवता स्वयं परमात्मा ही हैं। वह स्वयं आत्मा (मानो) सर्वव्यापी परमात्मा का अंश है तथा गुरु भी अपने वास्तविक स्वरूप में परमात्मा की दिव्य अभिव्यक्ति ही हैं, जिनके माध्यम से परमेश्वर की कृपा तथा ज्ञान, प्रेम और आनन्द प्रवाहित होते हैं। भक्त, गुरु तथा इष्ट, तीनों वास्तव में एक ही अतीन्द्रिय परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस सत्य का साक्षात्कार करना ही हमारा प्रस्तुत कार्य है, लक्ष्य है।

ध्यान करने से पूर्व यह सोचो कि देह एक मन्दिर हैं। अब हृदयरूपी द्वार से मानो इस मन्दिर में प्रवेश करें तथा यह सोचें कि हृदय जीवात्मा की ज्योति और चैतन्य से परिपूर्ण है। यह जीवात्मा परमात्मा का अंश है, जो अनन्त-ज्योति-स्वरूप, अनन्त-चैतन्य-स्वरूप है। हम अपने शरीर, मन तथा सम्पूर्ण जगत् को इस अनन्त सत्ता में विलीन कर दें तथा यह

---

२. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ - स्कन्ध पुराण गुरुगीता १.४६

कल्पना करें कि हम चैतन्य-ज्योति के छोटेसे वृत्त (गोले) के समान हैं, जो अनन्त-चैतन्य-ज्योति के द्वारा भीतर और बाहर सभी ओर से ओत-प्रोत है। इस प्रकार का ध्यान साधारण लोगों के लिए सम्भव नहीं है। अत: यह सोचें कि हमारी आत्मा एक शुद्ध सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर धारण करती है तथा परमात्मा एक ओर गुरु तथा दूसरी ओर इष्ट का रूप ग्रहण करते हैं। गुरु को प्रणाम कर उनके रूप को इष्टदेवता में विलीन कर दें। अब इष्टमन्त्र का जप करते हुए इष्टदेवता का ध्यान करें।

पहला कदम है रूप-ध्यान – इष्टदेवता के सम्पूर्ण ज्योतिर्मय आनन्दमय रूप का ध्यान। इसके बाद है गुण-ध्यान – अर्थात् इष्टदेवता के अनन्त शुभ, अनन्त पवित्रता, ज्ञान, भक्ति, प्रेम और आनन्द आदि सद्‌गुणों का ध्यान करना। तीसरा और अन्तिम चरण है स्वरूप-ध्यान। अर्थात् सर्वव्यापी चैतन्य-सत्ता का ध्यान करना, जिसके इष्टदेवता, गुरु और साधक तीनों भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। अनन्त (सर्वव्यापी) चैतन्य की इस पृष्ठभूमि को ध्यान के पूर्व के स्तरों पर भी भूलना नहीं चाहिए।

साधक को सदा यह याद रखना चाहिए कि किसी मानव-देह को विग्रह का रूप देना अथवा किसी मानव-व्यक्तित्व की अन्ध-उपासना करना आध्यात्मिक प्रगति में एक रोड़ा है। यह गुरु तथा शिष्य दोनों के लिए हानिकारक है। सच्चा गुरु एक मुक्त जीवात्मा है और वह सदा यह चाहता है कि उसके शिष्य अपने पैरों पर खड़े हों और वे भी अपने दिव्य स्वरूप की अनुभूति करें तथा अपनी व्यक्तिगत समस्याएँ स्वयं एक व्यापक दृष्टिकोण के द्वारा सुलझाएँ। शिष्य का गुरु के व्यक्तित्व से चिपके रहना तथा हर कदम पर सहायता के लिए उनकी ओर देखना गुरु के लिए बोझ प्रतीत होता है। यदि शिष्य उन पर निर्भर रहेगा, तो गुरु जिस आध्यात्मिक शक्ति तथा स्वातन्त्र्य का स्वयं आस्वादन करते हैं, उसे अपने शिष्य को प्राप्त नहीं करवा सकेंगे। वे अपना अन्धानुकरण करनेवाले अनेकानेक शिष्यों की अपेक्षा एक मुक्त जीवात्मा को अपने शिष्य के रूप में पाना अधिक पसन्द करेंगे। यही कारण है कि प्रबुद्ध धर्मगुरु भारत में प्रचलित अन्ध गुरुसेवा को प्रोत्साहित नहीं करते। अधिकांश शिष्य यह भूल जाते हैं कि आदर्श का अनुसन्धान तथा उच्च आध्यात्मिक जीवन यापन करना गुरु की व्यक्तिगत सेवा-चर्या से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

हमें बाह्य गुरु की अपेक्षा अन्तर्यामी गुरु पर अधिकाधिक निर्भर रहने का अभ्यास करना चाहिए। भले गुरु इहलोक में हो, या शरीर त्यागकर परलोक में विराजते हो, हमें आध्यात्मिक चेतना के उच्चतर स्तर पर अपने मन को सदा बनाये रखने में समर्थ होना चाहिए। देहत्याग को श्रीरामकृष्ण आत्मा का एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना कहा करते थे; अर्थात्, स्थूल शरीर को त्यागकर सूक्ष्म शरीर में विचरण करना – चेतना के सूक्ष्मतर स्तर पर चले जाना।

अखण्ड सच्चिदानन्दघनस्वरूप निर्गुण-निराकार ब्रह्म के चिन्तन द्वारा ही हम गुरुपरम्परा की लीक में पड़ने से बच सकते हैं। निर्गुण-निराकार के ध्यान के बाद पुन:

व्यक्तित्व के स्तर पर उतरने पर हमें बाहरी रूप की अपेक्षा आत्मा को अधिक महत्त्व देना चाहिए। हम स्वयं को भ्रमित होने से बचाने के लिए अनन्त आत्मा का ध्यान करें तथा सभी रूपों को उसमें विलीन कर दें और अभ्यास के द्वारा परमात्मा में अवस्थित हो जाएँ। ऐसा करना शिष्य को ही नहीं बल्कि गुरु को भी पूर्ण शान्ति और स्वातन्त्र्य प्राप्त करने में सहायक होता है।

सिद्ध महापुरुषों की कृपा :

साधुसंग से हमारे सुप्त शुभ संस्कार जागते हैं तथा बुरे संस्कार दबते हैं। श्रीमद् भागवतम् में प्रसिद्ध उक्ति है :

साधु सन्त सबसे महान् पावन कर्ता है। पवित्र जल इत्यादि से जीव को पवित्र होने में लंबा समय लगता है, लेकिन साधुसंग तत्काल पवित्र कर देता है। और ये साधु-संत अपने हृदयस्थ परमात्मा के कारण तीर्थों को तीर्थ कर देते हैं।

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिल मयाः।
ते पुन्त्युरूकालेन दर्शनादेव साधवः।। – (भागवतम्, १०.४८.३१)
भगद्विधा भागवतास्तीर्थ भूताः स्वयं विभो।
तीर्थोंकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गढामृता।। – (भागवतम्, १.१३.१०)

भागवत में कहा गया है कि वृन्दावन की गोपियाँ पहले श्रीकृष्ण के दिव्य-स्वरूप के बारे में अनभिज्ञ थीं। वे उनके शारीरिक रूप से आकृष्ट होकर उनकी प्रियतम के रूप में कामना करती थीं। लेकिन उस दिव्य ग्वाले की संगत से उनमें महान् परिवर्तन उपस्थित हुआ। कामुकता त्याग कर वे श्रीकृष्ण को विशुद्ध प्रेम करने लगीं और उनकी कृपा से कालान्तर में उन्हें आध्यात्मिक साक्षात्कार प्राप्त हुआ। [३]

यदि किसी सिद्ध महापुरुष का संग प्राप्त हो तो समझो कि तुम पर प्रभु की कृपा है। यह कृपा किसी भी समय ले ली जा सकती है और सम्भवतः सदा के लिए। तुम में से किसी को सम्भवतः दूसरा अवसर ही न मिले। विवेक चूड़ामणि में कहा गया है कि मनुष्य जन्म, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का संग अत्यन्त दुर्लभ हैं और भगवत् कृपा के बिना नहीं प्राप्त होते। [४]

सिद्ध महापुरुषों का संग अमूल्य लेकिन दुष्प्राप्य है। इन महापुरुषों के असीम प्रेम को तुम नहीं जानते। हमने स्वयं श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों को निरन्तर हमारी समस्याओं के समाधान के लिए व्यग्र होते देखा है : कैसे हमारी सहायता करें, कैसे हमें सही मार्ग पर लायें। ऐसे प्रेम का कोई प्रतिदान नहीं है। यह अद्भुत है। कोई भी उसका ऋण चुका नहीं सकता। वह सदा अदत्त या बकाया रहता है। केवल यही प्रेम है – ऐसा प्रेम जिसमें सौदेबाजी नहीं

---

३. भागवतम्, १.१३.१०

४. विवेकचूडामणि ३; देखें अध्याय १ पादटीप ३

है, जो अपने लिए कुछ नहीं चाहता, जो केवल देता भर है, जो लेना नहीं जानता।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने एक धनी व्यक्ति को नरेन्द्र (विवेकानन्द) की सहायता करने को कहा, क्यों कि वे बड़ी कठिनाई में थे तथा उनके परिवार को खाने को कुछ नहीं था। इस पर नरेन्द्र असन्तुष्ट हुए और उन्होंने अपने गुरु से कहा, "मेरी व्यक्तिगत-बातों के बारे में आप दूसरों से क्यों बात करते हैं।" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया : "बेटा, क्या तुम यह नहीं जानते कि तुम्हारे लिए मैं घर-घर भिक्षा माँग सकता हूँ?" यही है सच्चा प्रेम और इसे हमने हमारे साधना-काल में स्वयं श्रीरामकृष्ण के सभी शिष्यों में देखा है। धन्य है ऐसा प्रेम। इस प्रेम में तथा प्रेम कहलाने वाले सांसारिक सम्बन्धों में, जो वस्तुत: किसी न किसी प्रकार का स्वार्थ ही है, के बीच महान् अन्तर है। सच्चा प्रेम बिल्कुल भिन्न वस्तु है। सिद्ध महापुरुषों के सम्पर्क में आए बिना इसे तुम कभी नहीं समझ सकते।

परमात्मा सभी की अन्तर्यामी आत्मा है, लेकिन हमें इसकी सबोध अनुभूति होनी चाहिए तथा उनके सीधे सम्पर्क में आना चाहिए। तब उनकी शक्ति हमारे माध्यम से काम करती है। सिद्ध पुरुषों में यही होता है। वे दूसरों पर महान् प्रभाव का विस्तार कर सकते हैं, जो सामान्य व्यक्ति कर ही नहीं सकते। श्रीरामकृष्ण ने जब नरेन्द्र को स्पर्श किया तो युवक नरेन्द्र को तत्काल अतीन्द्रिय अनुभूति हुई। बाद में नरेन्द्र ने भी स्वामी विवेकानन्द के रूप में, दूसरों में ऐसे रूपान्तरण किये। जब उन्होंने मद्रास के एक युवा गणित-प्राचार्य 'किडि' को स्पर्श किया तो वह तत्काल परिवर्तित हो गया। उसके नास्तिक विचार विलुप्त हो गये और वह स्वामीजी तथा वेदान्त का पक्का अनुयायी बन गया। ये सन्त पावर-हाऊस से संयुक्त जीवन्त बिजली के तार की तरह हैं। वे सदा परमात्मा के साथ सचेतन सम्पर्क में रहते हैं। उनका व्यष्टि व्यक्तित्व सदा परमात्मा के साथ संयुक्त रहता है। बिजली के तार, जिसमें बिजली सञ्चरित हो रही है, को छूने से हमें जोरदार झटका लगता है। इन पवित्र आत्माओं को स्पर्श करने पर हम उनमें सदा विद्यमान परमात्मा को स्पर्श करते हैं। ईसा मसीह के इस कथन का यही अर्थ है : "और जो मुझे देखता है, वह उसे देखता है, जिसने मुझे भेजा है।"[५]

अनन्त परमात्मा ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए सन्तों के देह-मन को मानो एक नहर बनाया है। जो व्यक्ति किसी सन्त के सम्पर्क में आकर उनसे प्रापणीय प्राप्त करता है, ग्रहण करता है, वह परमात्मा के संपर्क में भी आता है। लेकिन ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति में ग्रहण करने की, उस सम्पर्क का अनुभव करने की क्षमता होनी चाहिए, अन्यथा, जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे : "संन्यासी का कमण्डल (बड़े कद्दू से बनाया गया जलपात्र) उसके साथ तीर्थों को जाता है, लेकिन अपनी कड़ुवाहट नहीं त्यागता।"[६] सन्तों के निकट जाते समय, उनके आशीर्वाद को स्वीकार करने के लिए सही मनोभाव होना चाहिए। परमात्मा हमें साधुसंग प्रदान कर सकते हैं, लेकिन यदि हमारा मन ग्रहण करने के

५. बाईबिल सन्त जॉन १२.४५ और १४.९ ६. श्रीरामकृष्णवचनामृत

लिए उन्मुक्त न हो, तो हमें कुछ भी लाभ नहीं होगा। सन्तों की संगत का उपयोग करना तुम्हें सीखना चाहिये। ऐसे सम्पर्क से लाभ उठाना आना चाहिये। सन्तों में पूर्ण विश्वास स्थापित करके अपनी समस्यायें उनके समक्ष रखने पर वे तुम्हारे लिए जो उचित होगा, करेंगे। वे तुम्हें सही मार्ग से ले जायेंगे। लेकिन इसके लिए तुम्हारा विश्वास पूर्ण होना चाहिये। तुम्हें शंकालु नहीं होना चाहिए।

अपने इष्ट देवता का संग :

यदि परमात्मा के साथ सदा तादात्म्य बनाये रख सको, तो किसी साधु-संग की आवश्यकता नहीं होगी। अन्यथा आध्यात्मिक प्रगति के लिए साधु-संग अत्यधिक आवश्यक है।

लेकिन यदि साधु-संग का अवसर न मिले तो क्या किया जाये? जिस ईश्वरीय-विग्रह का तुम ध्यान करते हो, अपने उन इष्ट-देवता का संग करो। अपने इष्ट से वार्तालाप करना सीखो जब कभी सत्संग की आवश्यकता महसूस हो, परमात्मा का चिन्तन और उन के नाम का जप करो। वे हमारी शक्ति हैं तथा उनके बिना हम कुछ नहीं हैं। वे हमारी आत्मा की भी आत्मा हैं। इन अन्तर्यामी परमात्मा से सम्पर्क बनाये रखने का प्रयत्न करो। यात्रा करते समय इष्ट देवता को अपने हृदय में बिठाकर अपने साथ ले जाओ। अपनी यात्रा में उन्हें अपने साथ रखो, ताकि वे सभी विपदाओं से तुम्हारी रक्षा कर सकें और तुम जहाँ कहीं भी रहो, तुम्हारे हृदय को शान्ति से पूर्ण कर सकें। किसी भी परिस्थिति में उन्हें न भूलो।

बहुत से लोगों को अकेले रहने से स्वाभाविक भय रहता है। उन्हें सदा ही किसी न किसी प्रकार के संग की आवश्यकता महसूस होती है। लोग दूसरों से बातें करने-करवाने को व्यग्र रहते हैं। इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण अपने तुच्छ अहंकार से लगाव है। अहंकार विचारों, स्मृतियों और भावनाओं का एक जटिल समूह है, अत: वह किसी प्रकार का सम्बल चाहता है। सामान्यत: लोग अहंकार को दूसरों के सहारे बनाये रखते हैं। लेकिन जो लोग अन्तर से अपने व्यक्तित्व के एकीकरण में सफल हुए हैं, उन्हें ऐसे बाह्य संबलों की आवश्यकता नहीं होती। उनके व्यक्तित्व का भार-केन्द्र पूर्णत: भीतर रहता है। उच्चतर आत्मा परमात्मा मानव की जानकारी में श्रेष्ठतम् एकीकरण-कारी शक्ति है। अपने शान्तिपूर्ण अस्तित्व के लिए इस या उस आदमी के पास दौड़ना आवश्यक नहीं है।

अकेले शान्ति से रहो। एकान्त में ही तुम परमात्मा के संग का स्पष्टतर अनुभव करोगे। परमात्मा के साथ अकेले रहो। अन्तर्यामी परमात्मा हम सभी के संग के लिए पर्याप्त हैं। एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक में कहा गया है :

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

अर्थात् – तुम्ही हो माता, पिता तुम्ही हो, तुम्ही हो बन्धु, सखा तुम्ही हो। तुम्हीं हो विद्या,

धन भी तुम्ही हो, हे देव, मेरे सर्वस्व तुम्हीं हो।

बुद्ध के उपदेश का स्मरण करो : "गेंडे की तरह एकाकी और स्वच्छन्द विचरण करो।" श्रीमद्भागवत् की उद्धव गीता में यह बात एक युवती की सरल कहानी के माध्यम से कही गयी है, जिसे अपने घर कुछ पुरुष अतिथियों की अभ्यर्थना करनी पड़ी थी। पकाने के लिए चावल तैयार नहीं था, अत: वह धान कूटने लगी। लेकिन उसकी कलाईयों की चूड़ियाँ बहुत आवाज करने लगीं, जिससे उसने सोचा कि, परिवार की दरिद्रता प्रकट हो जायेगी। अत: उसने एक-एक करके चूड़ियाँ उतार दीं, जब तक कि दोनों हाथों पर केवल एक, एक रह गयी। एक परिव्राजक अवधूत ने यह सब देखकर निम्न शिक्षा प्राप्त की :

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कङ्कणः।। – (श्रीमद्भागवतम् ११.९.१०)

अर्थात् बहुत से लोगों के साथ रहने पर कलह होता है, दो लोगों में भी वार्ता की सम्भावना है। अत: कुमारी के कंकण की तरह अकेले रहना चाहिए।

जब कभी तुम अकेले होवो, तो निम्नोक्त (बंगाली) गीत को, जो श्रीरामकृष्ण को अत्यन्त प्रिय था, अपने आप गाओ :

नाथ तुम ही सर्वस्व हमार, प्राणाधार, जीवन-सार।
तुम बिन नाहिं अपना, तीनों लोक मँझार।।
सुख-शान्ति तुम्हीं सहाय-सम्बल,
सम्पद वैभव ज्ञान बुद्धि-बल।
तुम्हीं वास-गृह विश्रान्ति-स्थल,
स्वजन मित्र, परिवार।।१।।
तुम इहकाल, तुम्हीं परकाल,
स्वर्ग-मोक्ष तुम ही जग-पाल।
तुम्हीं शास्त्र, गुरु, भक्त-कल्प-तरु,
तुम चिर-सुख-आगार।।२।।
तुम ही साधन, तुम्ही साध्य हो,
सृजनहार परम-आराध्य हो।
दण्ड-दात पितु मात स्नेहमयी,
भवजलधि कर्णधार।।३।। [७]

□□□

७. "नाथ तुमि सर्वस्व आमार" का हिन्दी भावानुवाद – भजनाञ्जलि – पृ. १६५

अध्याय १०

त्याग और अनासक्ति

त्याग की आवश्यकता :

यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि इतना कष्ट भोगने पर भी लोगों की आँखें नहीं खुलतीं बल्कि वे नाना प्रकार के मिथ्या तादात्म्यों से चिपके रहते हैं। सारा संसार काम और कांचन की इच्छा से आबद्ध है। लोग इन्हें जीवन का लक्ष्य बनाते हैं और परिणाम में दुःख पाते हैं। अपनी तथा दूसरे की देह के साथ तादात्म्य स्थापित कर हम अनेक प्रकार के भावनात्मक बन्धनों में पड़ जाते हैं, तथा अन्तहीन कष्ट भोगते हैं। अवश्य ऐसे भी लोग हैं जो इन्हीं पर पलते हैं। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, ऊँट कँटीली झाड़ी खाता है, और मुँह से रक्त बहने पर भी खाता ही जाता है लेकिन आध्यात्मिक साधक इस तरह जीवन यापन नहीं कर सकता। उसने अपने लिए एक उच्चतम लक्ष्य निर्धारित कर लिया है और वह सांसारिक बन्धनों में अपना समय नष्ट नहीं कर सकता। अत: वह अनासक्ति और त्याग के विषय में गम्भीरता से विचार प्रारम्भ करता है।

सभी धर्मों में त्याग को आध्यात्मिक जीवन में प्रमुखस्थान प्रदान किया गया है। धन और लोभ, क़ाम और यौन प्रवृत्ति, तथा अहंकार सभी धर्म-शास्त्रों और सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तियों ने इन तीनों के त्याग पर बल दिया है। त्याग के बिना आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं है। और त्याग का अर्थ केवल बाहरी त्याग नहीं है बल्कि मानसिक त्याग भी है। हमें अपनी देह तथा मन के साथ तथा दूसरों के देह और मन के साथ अपना सारा लगाव त्याग कर वास्तविक रूप से सभी प्रकार से अनासक्त और विरक्त होना चाहिए। कुछ वस्तुओं तथा व्यक्तियों के सन्दर्भ में ऐसा करते हुए भी दूसरों से और अधिक चिपके रहने से काम नहीं चलेगा। जिन्हें हम नहीं चाहते ऐसे वस्तुओं और व्यक्ति से दूर रहना और इसे त्याग कहना, आसान है। सभी के प्रति दृष्टिकोण का परिवर्तन सच्चा त्याग है।

त्याग आवश्यक क्यों है? हमें इतने वैराग्य और अनासक्ति का अभ्यास क्यों करना चाहिए? वस्तुओं और व्यक्तियों के सहित पुराने सभी सम्बन्ध जो साधक के सहायक नहीं हैं, का त्याग किये बिना सफलता पूर्वक आध्यात्मिक साधना नहीं की जा सकती। जिस मात्रा

---

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत

में हम अपनी इच्छाओं और वासनाओं को तथा दूसरों के प्रति हमारी रागात्मक अथवा द्वेषात्मक आसक्ति को त्यागने के लिए तत्पर हैं; उसी मात्रा में हम सच्चे धर्म का सफलतापूर्वक पालन कर प्रगति कर सकते हैं। इस विषय में मन के धोखे में मत जाओ। मन सदा कुछ न कुछ युक्ति सुझाने का प्रयत्न करता है कि हम अमुक वस्तु को क्यों नहीं त्याग सकते अथवा हमें अमुक व्यक्ति का संग क्यों करना चाहिए अथवा अमुक स्त्री-पुरुष से बात करना हमारा कर्तव्य है, इत्यादि। इन अवसरों पर अपने मन का भरोसा कभी न करें। वह तुम्हें धोखा देने के लिए सदा तत्पर रहता है और तुम्हारी अवचेतन अथवा अचेतन इच्छाओं की पैरवी करना चाहता है। अत: हमें केवल जप, ध्यान, प्रार्थना तथा अन्य साधनाओं की ही आवश्यकता नहीं है, त्याग की भी आवश्यकता है। वस्तुत: जप और ध्यान उसी मात्रा में प्रभावशाली होते हैं, जिस मात्रा में हम अधिकाधिक त्याग और अनासक्ति अर्जित करते हैं। जब ये दो – आध्यात्मिक साधना और त्याग – एक साथ होते हैं, तभी हमारे लिए मन को नियन्त्रित करना तथा उसके दरारों और कोनों में जन्म जन्मान्तरों से अनेक प्रकार के जिस मैल को हमने जमने दिया है, उसकी सफाई प्रारम्भ करना सम्भव होता है।

अत्यधिक सांसारिकता अग्नि के समान है, वह हृदय को जला देती है। वह व्यक्ति को प्रमादी और – आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति संवेदन विहीन बना देती है। सांसारिक व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन के आनन्दों को नहीं समझ सकता। सांसारिक व्यक्ति में प्रज्ञा की क्षमता, अन्तर्दृष्टि इतनी क्षीण हो जाती है कि वह उच्चतर स्पन्दनों के प्रति और संवेदनशील नहीं रह पाता। उसे आध्यात्मिक सत्यों की कोई धारणा नहीं होती और वह अपनी इच्छाओं और वासनाओं के दलदल में डूबा रहता है।

प्रेम और आसक्ति :

जिन वस्तुओं और व्यक्तियों को हम चाहते हैं, वे हमारे मन को आकर्षित कर आसक्ति, राग और द्वेष की सृष्टि करते हैं। प्रेम और घृणा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इस विषय में कभी गलती नहीं करना। अत: वे एक ही श्रेणी में आते हैं। द्वेष तथा घृणा प्रेम अथवा आसक्ति के परिवर्ती रूप हैं। वह उससे मूलत: भिन्न नहीं हैं। सभी व्यक्तिगत रुचियों अरुचियों से मुक्त, एवं निर्वासना होकर हमें सभी प्रकार की आसक्तियों एवं सभी प्रकारों के भय को दूर कर देना चाहिए। हमें बिना कभी आसक्त हुए दयालु होना चाहिए। किसी पर अथवा किसी के प्रेम पर कभी भी व्यक्तिगत दावा नहीं करना चाहिए और न ही हमें किसी को हमपर अथवा हमारे स्नेह पर व्यक्तिगत अधिकार जताने देना चाहिए।

ईश्वर को प्रेम करो और दूसरों को भी ऐसा करने दो। ईसा मसीह ने कहा है : जो माता अथवा पिता को मुझसे अधिक प्रेम करता है वह मेरे उपयुक्त नहीं हो सकता, और जो पुत्र अथवा पुत्री को मुझसे अधिक प्रेम करता है वह मुझे पाने योग्य नहीं हो सकता[२] और इससे

२. बाईबिल सन्त मॅथ्यु १०.३७

सत्य और कुछ नहीं है। और यह भी सत्य है कि जो, किसी व्यक्ति को उसे परमात्मा से अधिक प्रेम करने देता है, वह परमात्मा के लायक नहीं है। और भले ही वह कितनी ही मेहनत करे, परमात्मा को प्राप्त कभी नहीं कर सकता। जैसी करनी वैसी भरनी होती है, और जब तक हम इन रुचियों-अरुचियों के पाशों द्वारा अपने को तथा दूसरों को, तथाकथित प्रेम की जञ्जीरों से बँधने देंगे, तब तक हम बद्ध दास बने रहेंगे तथा अपने तथा दूसरों के दुःख का कारण होंगे। दुःख हमारी आसक्तियों का जुर्माना है जो हमें चुकाना पड़ता है। कुछ लोगों में यह शीघ्र आता है कुछ में देर से, पर सभी को अपनी गलतियों का मूल्य चुकाना पड़ता है।

जब लोग हमें प्रेम करते हैं, तो हम फूले नहीं समाते। हम दूसरों के लिए आकर्षक बनना चाहते हैं। दूसरों के भोग के विषय के रूप में उनके प्रिय बनना पसन्द करते हैं। लेकिन प्रायः हम इतने व्यग्र और नासमझ होते हैं कि इस तरह हम अपने और दूसरों के लिए समस्याएँ पैदा कर अपनी आध्यात्मिक प्रगति को रुद्ध कर रहे हैं, यह नहीं जान पाते। हमें अपना आत्मसम्मान एवं सुरक्षा बनाए रखना चाहिए। हमें ऐसा रूख अपनाना चाहिए कि लोग हमारे निकट गलत उद्देश्य से आने का साहस ही न करें। मैं यह बात विशेषकर महिलाओं के लिए कह रहा हूँ। शौर्य की पाश्चात्य धारणा का आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है।

भक्त और साधक हमारे अपने हैं क्योंकि हम भगवत्भक्ति की चिरस्थायी सामान्य डोर से बँधे हैं। अपने आध्यात्मिक बन्धु के प्रति प्रेम सांसारिक प्रेम से कहीं अधिक गहरा और लाभकारी होता है। ईसा मसीह के शिष्यों, श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के परस्पर सम्बन्ध को देखो। कैसा मधुर प्रेम, तथा एक दूसरे के प्रति कैसा आदर और सद्भावना उनमें विद्यमान थी। श्रीरामकृष्ण के महान शिष्यों के संस्पर्श में आने पर युवावस्था में हमने भी उनके हमारे प्रति तीव्र किन्तु पवित्र और निःस्वार्थ प्रेम के गहरे आकर्षण का अनुभव किया था। एक आध्यात्मिक व्यक्ति में ही दूसरों के प्रति सच्चा प्रेम होता है। सांसारिक लोगों का तथाकथित प्रेम प्रायः सूक्ष्म स्वार्थपरता होती है।

ज्ञानी व्यक्ति सभी को समान रूप से प्रेम करते हैं क्योंकि उन्होंने उपनिषद् के निम्नोक्त प्रसिद्ध कथन की सत्यता की अनुभूति की है :

पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता बल्कि आत्मा के लिए पति प्रिय होता है।
पत्नी के प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती बल्कि आत्मा के लिए पत्नी प्रिय होती है।
पुत्रों के प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता बल्कि आत्मा के लिए पुत्र प्रिय होता है।
सभी वस्तुएँ उनके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होती बल्कि आत्मा के लिए प्रिय होती हैं।[३]

ज्ञानी पुरुषों का जीवन हमें शिक्षा देता है कि त्याग और अनासक्ति का अर्थ उपेक्षा

---

३. बृह. उप. २.४.५; ४.५.६

अथवा निष्ठुरता नहीं है। निष्ठुरता अनासक्ति नहीं है; वह स्वार्थ परता तथा स्वयं के अहंकार से चिपके रहना मात्र है। यथाशक्ति दूसरों की सहायता करने का प्रयत्न करो पर उनसे आसक्त होने से बचने के लिए सभी सावधानियाँ बरतो। यदि ऐसा न कर सको तो दूसरों के कल्याण के लिए प्रभु से प्रार्थना करो। निष्ठापूर्वक तीव्र प्रार्थना करने पर तुम पाओगे कि जिन्हें तुम सहायता करना चाहते हो, उन्हें सहायता प्राप्त हो रही है। लेकिन याद रखो, दूसरों के लिए प्रार्थना करने के लिए प्रभु के सान्निध्य का अनुभव होना चाहिए। यदि आसक्त हुए बिना रहा नहीं जा सकता, तो उनकी सहायता न करना ही अच्छा है। तुम्हारे लिए प्रार्थना करना ही श्रेयस्कर है। वस्तुतः सभी निष्ठावान साधकों को दूसरों के लिए की गई ऐसी प्रार्थना को अपने दैनन्दिन साधना का अंग बना लेना चाहिए।

सांसारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन के परिवर्तन के काल में कुछ समय के लिए हममें दूसरों के प्रति उपेक्षा का भाव आ सकता है। स्वयं की रक्षा के लिए हम उपेक्षा के भाव को मन में स्थान भी दे सकते हैं, लेकिन केवल कुछ समय के लिए। ईश्वर साक्षात्कार के आदर्श को स्वीकार करने तथा पवित्र जीवन यापन करने पर तुम पाओगे कि तुम्हारा दूसरों के प्रति पुरातन प्रेम पवित्र और उदात्त होकर पुनः आ गया है, जिसमें से आसक्ति दूर हो गई है, और उसका स्थान तीव्र भगवद्भक्ति ने ले लिया है। तब तुम दूसरों को बिना किसी स्वार्थ के परमात्मा के लिए प्रेम करने लगते हो। केवल यही सच्चा प्रेम है। हमें दोनों खतरों से बचकर चलना चाहिए। प्रथम, दूसरों के प्रति मानवीय प्रेम रखना और उसे झूठमूठ दिव्य कहना और दूसरा, अच्छी भावनाओं के प्रति भी अत्यधिक उपेक्षा और कर्तव्यों की भी अवहेलना करना। ये दोनों ही आध्यात्मिक प्रगति के लिए हानिकारक हैं।

सच्चे सम्बन्धी :

हमारे बन्धु बान्धव कौन है? शंकराचार्य अपने एक स्तोत्र में कहते हैं : ''बान्धवाः शिवभक्ताश्च'' – शिव भक्त मेरे बन्धु हैं।[४] अधिकांशतः जिन्हें हम अपने सगे सम्बन्धी समझते हैं, वे हमारे लिए पूर्ण अजनबी होते हैं। वे एक बौद्धिक स्तर पर रहते है, हम दूसरे पर। जो निष्ठावान आध्यात्मिक साधक, द्रुत आध्यात्मिक प्रगति करना चाहते हैं, उन्हें अपने ही घर में अजनबी की तरह रहना सीख लेना चाहिए। मित्र और सम्बन्धी अच्छे और धार्मिक हों तो उनका संग कर सकते हो। लेकिन यदि वे सांसारिक तथा अधार्मिक मनोवृत्ति के हो और अपने साथ तुम्हें भी नीचे खींचने का प्रयत्न करें, तो उनके संग का त्याग करना ही एकमात्र रास्ता है। तुम आगे बढ़ना चाहो और दूसरे सोये रहना चाहें तो तुम और क्या कर सकते हो?

जिन्हें सांसारिक और अधार्मिक सम्बन्धियों के साथ रहना पड़ता है, उन्हें अतिथि

४.अन्नपूर्णा स्तोत्र, १२

भवन में अतिथि की तरह रहना चाहिए उन्हें स्वामित्व का भाव त्यागकर न्यासधारक का भाव लाना चाहिए। कभी किसी पर भावनात्मक अधिकार मत जताओ। वे तुम्हारी सम्पत्ति नहीं है। यदि तुम्हें कुछ रखना हो, तो एक न्यासधारी की तरह उसे अपने पास रखो, स्वामी की तरह नहीं, तथा परमात्मा की ओर से उसका सञ्चालन करो।

अपने परिवार के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाना सीखो। विशुद्ध मानवी प्रेम अथवा द्वेष, आसक्ति अथवा विपरीत लिंग के आकर्षण पर आधारित सभी पुराने सम्बन्धों से अपने मन को मुक्त करो। तभी वास्तविक आध्यात्मिक साधना सम्भव होगी। इसके पूर्व तक सभी साधना के प्रयास, तैयारी मात्र हैं, और अधिक कुछ नहीं। किशोरावस्था में मैं बहुत भावुक था। एक दो बार मिलने पर ही मैं लोगो से अत्यधिक आसक्त हो जाया करता था। मैंने यह भी पाया कि मैं अपने माता पिता, मित्रों एवं सम्बन्धियों के प्रेम से अभिभूत हो जाया करता था, तथा उनके बारे में बहुत सोचा करता था। आखिरकार मेरे लिए ये भावनाएँ असह्य हो गयी और मैंने अपने आप से दृढ़तापूर्वक कहा : "इसे बदलना होगा।" तब मैं अधिकाधिक निर्विशेष परमात्मा की ओर मुड़ा। सर्वव्यापी परमात्मा का विचार ही व्यक्तियों के प्रति हमारी आसक्ति से मुक्ति दिला सकता है। तुम्हें इसका चिन्तन इतनी तीव्रता से करना चाहिए कि यह तुम्हारे लिए यथार्थ, स्थायी और स्पष्ट हो जावे अन्य व्यक्तियों के विचार कभी न कभी बुदबुदों की तरह नष्ट हो जायेंगे। उस समय भी यह विचार तुम्हें सम्बल प्रदान करने में सक्षम होना चाहिए।

राग, द्वेष के समान बुरा है :

द्वेष भी राग या आसक्ति जैसा ही बुरा है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। जैसा कि मैंने पहले कहा है राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू है। एक को दूसरे से श्रेष्ठ समझने के भ्रम में कभी न पड़ो। दोनों ही बन्धन हैं और मानव को पतित करके उसे अपने वास्तविक स्वरूप तक उठने नहीं देते। दोनों का त्याग करना चाहिए।

क्रोध का ही प्रश्न लो। हम क्रोध क्यों करते हैं? क्योंकि जिसे हम अपने भोग का विषय समझते हैं उसकी प्राप्ति के मार्ग में कोई व्यक्ति अथवा वस्तु बाधा है। यही हमारे सभी क्रोध का कारण है। यह हमेशा पाया जाता है कि क्रोध का प्रबल व्यक्तित्व बोध अथवा अत्यधिक महत्त्व दिये गये अहंकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्रबल अहंकार और शारीरिक अथवा मानसिक भोगों की अस्वाभाविक इच्छा के बिना क्रोध हमारे हृदय में उदित हो ही नहीं सकता। अतः यह अहंकार, यह भोगेच्छा ही हमारे क्रोध का एकमात्र कारण है। अगर हम भोग न चाहें, अगर हम किसी से कुछ भी अपेक्षा न रखें, बल्कि केवल देते जाएँ, और प्रतिदान की आशा के बिना कर्म करते जायें, तो क्रोध कभी पैदा ही नहीं होगा। अतः हमें अपने क्रोध पर क्रोधित होना चाहिए, दूसरों पर नहीं। हमें भोग की वासना पर खूब क्रोध करना चाहिए, विषयों पर नहीं। क्रोध का उदात्तीकरण करके अन्ततः उसे विनष्ट कर देना ही

एक मात्र व्यवहारिक उपाय है। और क्रोध तथा अन्य सम्बन्धित दुर्गुणों को बहुत हद तक दूर किये बिना आध्यात्मिक जीवन में कोई प्रगति नहीं हो सकती। काम और क्रोध आध्यात्मिक पथ के दो महान् शत्रु हैं। अतः सभी साधकों को इनको सावधानी से दूर रखना चाहिए।

अतः जहाँ कहीं क्रोध है, वहाँ कुछ न कुछ आसक्ति अथवा अत्यधिक राग अथवा इच्छाएँ हैं। सच पूछो तो किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से आसक्ति के बिना किसी भी प्रकार का क्रोध हो ही नहीं सकता। भोग की हमारी इच्छा के पूरी न होने के कारण ही क्रोध होता है। लेकिन इसे स्थूल अर्थ में नहीं बल्कि सूक्ष्म भाव से समझा जाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि कोई स्थूल भोगेच्छा क्रोध के मूल में विद्यमान हो।

कुछ लोग त्याग का अभ्यास करने में आक्रामक हो जाते हैं। यह इसलिए होता है कि आसक्ति के खिंचाव के कम होने पर द्वेष का खिंचाव अधिक हो जाता है। अनेक साधक साधना की प्रारम्भिक अवस्थाओं में चिड़चिड़े और गरम मिजाजी हो जाते हैं। यह उनके त्याग के अधूरे प्रयास की प्रतिक्रिया है। बाह्य त्याग के साथ सदा मानसिक अनासक्ति विद्यमान नहीं होती। मानसिक आसक्ति का बाह्य त्याग के साथ संघर्ष होता है, जो तनाव पैदा करता है। वास्तविक त्याग, राग और द्वेष का त्याग है।

सच्चे त्याग का अभ्यास करने पर हमें यह पता चलता है कि हम तब तक कैसा घृणित जीवन यापन कर रहे थे। हम यह भी अनुभव करते हैं कि अतीत का आकर्षण ही अब सबसे बड़ी बाधा है। इसके फलस्वरूप ग्लानि और पश्चात्ताप होता है। कुछ मात्रा में स्वस्थ और पुरुषोचित आत्म-विश्लेषण भले ही हो पर हानिकारक अथवा नकारात्मक भावुकता कभी नहीं होनी चाहिए। "ओह! मैं कैसा पापी हूँ, कैसा अधम प्राणी हूँ।" ऐसा न कहो। लेकिन ऐसा कहना सीखो : "मैंने पहले बुरा काम भले ही किया हो, पर अब वह समाप्त हो गया है। मैंने जाना है कि मैंने गलती की है, लेकिन अब उसका चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है। अब मुझे नया अध्याय प्रारम्भ करना है, तथा भविष्य में बेहतर जीवन यापन करना है। भविष्य में अधिक सजग रहकर पशु तुल्य होने के बदले मानव होना सीखना है।" यह सही तरीका है। चाहे हम वृद्ध हों या युवा, हम सभी को आत्मा के राज्य में नया जन्म लेकर सत्य की ओर अपनी प्रगति प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

प्रारम्भ में सावधानी बरतो :

प्रारम्भ में साधना के अच्छे और बुरे दोनों परिणाम होते हैं। बगीचे में जल सींचने पर सुन्दर सुगन्धित गुलाब उगते हैं, लेकिन साथ ही बहुत से झाड झंखाड़ भी उगेंगे। अतः बहुत सी काट-छाँट, उखाड़ना आदि करना होगा। त्याग, आन्तरिक जंगल की निरन्तर सफाई का कार्य है।

कभी हमारे हृदय में त्याग की थोड़ी सी आग प्रज्वलित होती है। पर हम उस पर सांसारिकता के गीले कचरे को पुनः डाल देते हैं। और वह आग बुझ जाती है। संसार के प्रति

लगाव परमात्मा के प्रति हमारे थोड़े बहुत प्रेम अथवा उत्साह को समाप्त कर देता है। इस त्याग और वैराग्य की अग्नि को सदा जलाये रखना चाहिए। क्योंकि बाह्य और मानसिक कुसंग तथा हमारे अपवित्र मन की सभी बहुर्मुखी प्रवृत्तियों से इसके बुझने की सम्भावना सदा बनी रहती है। प्रारम्भ में वैराग्य का पौधा बहुत कोमल होता है जिसके चारों ओर बाड़ा लगाकर तेज हवाओं और पाले से रक्षा करनी पड़ती है। अन्यथा वह तूफ़ानों में अडिग रहने वाला दृढ़ वृक्ष नहीं बन सकता। व्यक्तिगत सम्बन्धों, प्रतिक्रियाओं और आसक्तियों से मुक्त होने पर हम अपने भीतर वैराग्य की महान् अग्नि प्रज्जवलित करने में समर्थ होते हैं, और इस तरह संसार से मुक्त हो जाते हैं।

अपने मनों को शुद्ध और स्वच्छ रखने के बदले उन्हें सभी प्रकार के व्यर्थ व अपवित्र विचारों से भरते रहने के कारण हमने अनासक्त और सुसंगत रूप से चिन्तन की क्षमता खो दी है। हमारे मन अव्यवस्थित आकुल स्थिति में रहते हैं। अत: सदा हमें एक असन्तोष काटता रहता है। हमारे पास बहुत से विचार हैं, अच्छे विचार भी हैं लेकिन निष्पक्ष अनासक्त और क्रमबद्ध रूप से उन्हें सोचने की क्षमता नहीं है। प्राय: हम एक ही बात बार-बार सोचते रहते हैं लेकिन वह सब व्यर्थ ही है। मन को नियन्त्रित करने के लिए तुम्हें एक प्रशिक्षण के दौर से गुजरना होगा। प्रारम्भ में साधना के लिए निश्चित समय निर्धारित कर लो और यथा सम्भव निर्जन वास करो। बिना सोचे विचारे लोगों से मत मिलो। पहले विभिन्न प्रकार के बहुत से चिन्तन प्रवाहों को, जो तुम्हारे मन में एक दूसरे को निष्क्रिय बना रहे हैं, दूर करो। अन्यथा तुम सन्तुलित और निर्लिप्त मन:स्थिति नहीं रख सकोगे। वैराग्य, सच्चा वैराग्य, आध्यात्मिक प्रगति के लिए अत्यावश्यक है। हम जो चाहते हैं, वैसी नहीं, बल्कि वस्तुस्थिति जैसी है, हमें उसका उसी तरह सामना करना है।

सच्चा त्याग माने भगवत्प्रेम :

आध्यात्मिक जीवन में त्याग और वैराग्य भगवत्प्रेम के साथ होने चाहिएँ। वैराग्य को तीव्र किये बिना त्याग की तीव्रता के कारण ही बहुत से लोगों के लिए आध्यात्मिक जीवन कठिन हो जाता है। यदि त्याग के साथ परमात्मा के प्रति तीव्र अनुराग हो तो आध्यात्मिक जीवन एक अत्यन्त आनन्ददायक उपक्रम हो जाता है। भगवत्भक्ति पूर्णता प्रदान करती है। अत: जो परमात्मा को सचमुच प्रेम करता है, उसके लिए सच पूछो तो कोई त्याग नहीं, बल्कि सम्पन्नता ही है। वास्तविक भगवत्प्रेम किसी व्यक्ति विशेष के प्रति प्रेम के बदले सभी के प्रति व्यापक प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस नये दृष्टिकोण के विकसित होने पर हमारा जीवन पूरी तरह बदल जायेगा। क्योंकि यह नवीन दृष्टिकोण सभी अवरोधों को तोड़ देता है और सभी बन्धनों को काट देता है। जीव को सभी प्रकार से बाँधना और अवरुद्ध करना कर्म का स्वभाव है। लेकिन सभी कर्मफलों को परमात्मा को समर्पित करने पर यही कर्म सभी बाधाओं को दूर कर देगा और सभी बन्धनों को नष्ट कर देगा। तब हम उनके हाथों के

यन्त्र मात्र बन जायेंगे तथा यह जान जायेंगे कि हम अपने कर्मों के कर्ता नहीं हैं। हमें परमात्मा के लिए मठ में, संसार में, और सर्वोपरि अपने हृदय में स्थान बनाना चाहिए।

अतः सच्चे त्याग का अर्थ है, सदा परमात्मा द्वारा हृदय को पूर्ण रखना। सामान्यतः हमारा मन वासनाओं और इच्छाओं से सदा दबा रहता है और जिस मात्रा में हम इस बोझ को कम करने में समर्थ होंगे, उतनी ही मात्रा में हृदय में परमात्मा के प्रकाश का अनुभव होगा। हमें चेतना के केन्द्र को स्वयं से हटाकर परमात्मा में स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए, और तब हम पायेंगे कि परमात्मा में हमारे तथा सभी के लिए स्थान है।

झूठी आशाएँ – पिंगला की कथा :

श्रीमद्भागवत् में पिंगला नामक गणिका की एक कथा है, जो धन की बहुत लोभी थी। लेकिन एक दिन किसी के न आने पर उसे बड़ी निराशा हुई।

तस्याः वित्ताशया शुष्यदवक्त्राया दीन चेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ता हेतुः सुखावहः।।

अर्थात् वित्त की आशा से शुष्क मुख और दीनचित्ता उस (पिंगला) को चिन्तन के फलस्वरूप परम निर्वेद प्राप्त हुआ जिसने उसे सुखी किया।[५]

वह सचमुच भाग्यशाली नारी थी। बहुत कम लोग उसकी तरह होश में आते हैं। उन्हीं पूर्व संस्कारों से परिचालित हो वे उन्हीं गलतियों को बार बार दुहराते हैं और उन्हीं घृणित अनुभवों को बार-बार प्राप्त करते हैं। मेरे गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने एक बार कहा था :

तीन प्रकार के लोग हैं। पहले प्रकार के लोग दूसरों की गलतियों और अनुभवों को देखकर ही सीख लेते हैं और खतरों से बच जाते हैं। स्वयं गलती करके अथवा अनुभव करके सबक सीखने वाले मध्यम श्रेणी के हैं। अधम श्रेणी के लोग पुनः पुनः अनुभवों और गलतियों से भी नहीं सीखते।

किसी भी सांसारिक वस्तु की आशा न रखो, केवल परमात्मा की आशा करो। परमात्मा ही जीव को सुख दे सकते हैं। सभी वैषयिक वस्तुओं से हमें एक प्रकार की ग्लानि होनी चाहिए। संसार से वैराग्य का यह पहला लक्षण है। और इन्द्रिय विषयों, एवं उनके सूक्ष्म अथवा स्थूल भोगों से इस वैराग्य के बिना कोई आध्यात्मिक जीवन, कोई उच्चतर प्रयास सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में सफलता के लिए वैराग्य को हमारे चरित्र का प्रमुख अंग बन जाना चाहिए।

सच पूछो तो हम इच्छाओं और आशाओं पर, और वह भी झूठी आशाओं पर, जी रहे हैं। इसके परिणाम में दुःख, बन्धन और इन्द्रियों की दासता आती है। आशाओं को त्यागने पर हम सुखी होते हैं। हमें अपनी एक मात्र आशा को परमात्मा से संयुक्त करना चाहिए। भावनाओं और इच्छाओं से जुड़ी हुई अन्य सभी आशाओं को त्याग देना चाहिए।

---

५. भागवतम् ११.८.२७

प्राय: हमारी आशाएँ हमारी इच्छाओं तथा दूसरों पर टिकी रहती है। हम अपनी आशाओं को परमात्मा में केन्द्रित नहीं करते।

परमात्मा हमारी आत्मा की आत्मा के रूप में हमारे भीतर हैं। लेकिन हम उनकी फिक्र नहीं करते और दूसरों पर निर्भर होने का प्रयत्न करते हैं। परमात्मा सभी आनन्दों का स्रोत है। बाह्य विषयों में इस असीम दिव्य आनन्द का अंश मात्र प्रतिबिम्बित होता है। बाह्य पदार्थों के पीछे भागने का अर्थ है प्रतिबिम्बों और परछाइयों के पीछे दौड़ना।

महाभारत में राजा ययाति की कथा है। एक श्राप के कारण वह भरे यौवन में अचानक वृद्ध हो गया। लेकिन उसने अपने पुत्र का यौवन ऋण लेकर सैकड़ों वर्षों तक विषय सुख का उपभोग किया। इतने लम्बे समय के बाद भी उसने देखा कि विषय भोग की उसकी लालसा कम नहीं हुई थी तब वह निम्न निष्कर्ष पर पहुँचा :

न जातु काम: कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवभिवर्धते।।

अर्थात् काम के उपभोग से काम शान्त नहीं होता, बल्कि घी के द्वारा अग्नि जिस प्रकार बढ़ती है, उसी प्रकार अधिकाधिक वर्धित होता है।[६]

किसी न किसी दिन त्याग का भाव हममें उदित होना ही चाहिए। सभी में यह पिंगला की तरह उपस्थित हुए परिवर्तन की तरह आकस्मिक रूप से भले ही न आये, लेकिन हमें ययाति की तरह मूर्ख होकर अपनी सभी वासनाओं के सन्तुष्ट होने की प्रतीक्षा भी नहीं करनी चाहिए। यदि हम आध्यात्मिक जीवन से कुछ हासिल करना चाहते हैं तो अनासक्ति हमारे चरित्र का प्रमुख गुण हो जाना चाहिए। पूर्व अनुभवों के कारण बहुत सी प्रेरणाएँ हममें उदित होती हैं, लेकिन यह कोई कारण नहीं है कि हम असहाय होकर उनके शिकार हो जायें। हमें उन्हें दबाना चाहिए और यदि हम ऐसा कर सकते हैं, भले ही इससे कुछ समय तक जीवन आन्तरिक द्वन्द्वों और अत्यधिक तनाव का हो जाय। किसी न किसी दिन हमें उत्तेजनापूर्ण जीवन का अन्त करना होगा। तो फिर अभी क्यों नहीं?

हमें अपने कार्यों के बारे में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए तथा सदा सावधान रहना चाहिए जिससे हम हमें परिचालित कर रही सूक्ष्म इच्छाओं और भावनाओं का अनुसरण कर ऐसे कार्य न कर बैठे जिन्हें हम नहीं करना चाहते। यदि हम लोगों से मिलना चाहते हैं तो हमें यह जानकारी होनी चाहिए कि वे हमें आकृष्ट क्यों करते हैं। यदि किसी काम को करने की इच्छा हो तो यह जानना चाहिए कि हम वह क्यों करना चाहते हैं – उसके पीछे का वास्तविक हेतु क्या है। अपनी इच्छाओं के मूल कारण को खोजकर उसे तत्काल नष्ट कर देना चाहिए। सभी हानिप्रद विचारों और संग तथा उन सभी बातों को जो आध्यात्मिक विकास में सहायक न हों, दूर कर देना चाहिए। सच्चा वैराग्य, त्याग सभी साधना पद्धतियों में समान

---

६. श्रीमद्भागवत् ९.१९.४; मनुस्मृति २.९४

रूप से आवश्यक है। और उसके बिना हम अपने आध्यात्मिक प्रयास से अधिक लाभ नहीं उठा सकेंगे।

आध्यात्मिक जीवन को प्रारम्भ करने के पूर्व त्याग का मनोभाव होना चाहिए, भले ही इसमें समय लगे। पवित्रता की आन्तरिक इच्छा और अभिलाषा होनी चाहिए। आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ करने की यह न्यूनतम शर्त है। इसका अर्थ है महान तनाव। इन्द्रियों और उद्वेगों को नियन्त्रित करने के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ता है। लेकिन प्रत्येक साधक को लक्ष्य की दिशा में इस प्रारम्भिक अवस्था से होकर गुजरना ही पड़ता है। त्याग का मनोभाव सभी सच्चे आध्यात्मिक प्रयास का आधार है। इस वैराग्य के भाव के बिना आध्यात्मिक जीवन के विषय मे सोचना ही नहीं चाहिए। उसके बदले किसी और कार्य में मन बहलाना समझदारी होगी।

वितृष्णा का भाव :

अपने जीवन की गलती का आभास होने पर संसार के भोगों के प्रति वितृष्णा रूप पहली प्रतिक्रिया होती है। जिस घृणा का पिंगला ने अपनी देह के प्रति अनुभव किया था, वह सांसारिक जीवन के अन्त में होने वाली पहली प्रतिक्रिया है। यह केवल पाप बोध से होने वाले परिवर्तन से अधिक सम्यक् परिवर्तन की द्योतक है। अपने पापों का चिन्तन करने वाला उनसे चिपका भी रह सकता है। लेकिन ग्लानि का भाव सांसारिक जीवन से तत्काल आध्यात्मिक जीवन की ओर मोड़ देता है। आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने वाले व्यक्ति को पिंगला की तरह अपने से यह कहने में समर्थ होना चाहिए।

यदस्थिमिर्निर्मित वंश वश्यस्थूणं त्वचा रोगनावैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगार मे तद् विण्मूत्र पूर्णं मदुपैति कान्या।।

अर्थात् अस्थिओं रूपी बाँसों पर आच्छादित त्वचा, नख, रोम द्वारा निर्मित बहते नवद्वारों से युक्त और विष्ठा और मूत्र से पूर्ण इस देह रूपी घर को मेरे सिवा और कौन महत्त्व देगा।[७]

आध्यात्मिक जीवन के प्रति अपने झुकाव को हम अपनी देह के प्रति घृणा के भाव से जान सकते हैं। यदि हममें यह भाव हो तो दूसरी देहें – स्त्री या पुरुष देहें – हमें आकर्षित नहीं करेंगी। तब वे आध्यात्मिक पथ के अन्धकूप की तरह नहीं होंगी। पतञ्जलि अपने योगसूत्रों में कहते हैं :

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।[८]

बाह्यभ्यान्तर शौच (के अभ्यास से) अपने शरीर से जुगुप्सा या घृणा और पर के साथ असंसर्ग का भाव प्राप्त होता है।

---

७. श्रीमद्भागवत् ११.८.३३ ८. पातञ्जल योगसूत्र २.४०

अधिकाधिक अन्तर्मुखी होने पर हमारा मन मानसिक एक्स-रे सा हो जाता है और हम चारों ओर जीये जा रहे जीवन के विषय में गहरी अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेते हैं। पहले ग्लानि का भाव आता है। इसके बाद मानव देह रूप कूड़े करकट के पीछे विद्यमान आत्मा की महिमा का बोध होता है। आत्मा की वास्तविक अनुभूति बाद में होती है, लेकिन प्रारम्भिक अवस्थाओं में भी उसके सिद्धान्त को तो हृदयंगम किया जा सकता है।

बौद्धिक धारणाएँ पर्याप्त नहीं हैं। हमें भावनात्मक दृष्टि से भी प्रभावित होना चाहिए। हमें सचमुच सांसारिक भोगों के प्रति तीव्र वितृष्णा होनी चाहिए। भतृहरि की तरह हमें भी अनुभव करना चाहिए कि –

भोगा न भुक्ता: वयमेव भुक्तास्तपो न तप्त: वयमेव तप्ता:।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:।। [१]

अर्थात् भोगों को भोगा नहीं गया है, हम ही खाये गये हैं; तप नहीं किये गये है हम ही परितप्त हुए हैं। काल यापन नहीं हुआ है, हम ही जा रहे हैं। तृष्णा क्षीण नहीं हुई है हम ही जीर्ण हुए हैं।

सन्तों के दृष्टान्त :

वैराग्य की साधना हम सन्तों के जीवन से सीख सकते हैं। बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव सन्त लाल बाबा का ही दृष्टान्त लो। प्रौढ़ावस्था तक उन्होंने भोग परायण जीवन व्यतीत किया था। तब एक दिन घर लौटते समय उन्होंने धोबी की एक बालिका को अपने पिता से कहते सुना : ''पिताजी देर हो रही है ''वासना'' को आग कब लगाओगे।'' वासना शब्द के बंगाली में दो अर्थ हैं। एक अर्थ है केले के वृक्ष की छालें जिन्हें सुखा और जलाकर धोबी पहले साबुन के बदले काम में लाते थे। इसका अर्थ पूर्व प्रसुप्त मानसिक संस्कार भी है। लाल बाबा ने शब्द का दूसरा अर्थ ग्रहण किया। उन्होंने अचानक अनुभव किया कि वे वृद्ध हो रहे हैं, और अभी तक अपने पूर्व अपवित्र संस्कारों का नाश नहीं किया है। उन्होंने उसी समय संसार त्याग दिया।

उत्तर भारत के महान् सन्त कवि तुलसीदास आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने के पूर्व अपनी पत्नी पर अत्यधिक आसक्त थे। वे अपनी पत्नी पर इतने दिवाने थे कि एक बार उसके मायके जाने पर वे एक दिन के लिए भी उसका विरह सहन न कर सके। उसी रात को वे उसके पास दौड़ पड़े। इस पर उनकी पत्नी ने उन्हें झिड़कते हुए कहा, ''जिस तीव्र आसक्ति से तुम मेरी देह को चाहते हो यदि उतना प्रेम तुम्हें भगवान् के प्रति होता तो तुम सचमुच भगवान् को पा जाते।'' इन शब्दों ने तुलसीदास की आत्मा को आवृत कर रहे अज्ञान के आवरण को चीर डाला और वे तत्काल पत्नी सहित सबकुछ त्याग कर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हो गये।

---

१. वैराग्य शतकम् ७

त्याग के प्रकार :

हमें सन्तों के जीवन में पायी जाने वाली वैराग्य और करुणा की तीव्रता को कुछ मात्रा में अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। उपर्युक्त तात्कालिक सम्पूर्ण त्याग के दृष्टान्त विरले हैं। अधिकांश लोग जीवन में कठोर आघात खाने के बाद भी त्याग को केवल अस्थायी रूप में ही ग्रहण करते हैं। बहुत से लोग बाद में कामिनी कांचन में और अधिक आबद्ध हो जाते हैं। तब वे कहते हैं; "ओह! हम जानते हैं, आध्यात्मिक जीवन क्या है। हमने भी कुछ समय तक उसका अनुसरण किया था। लेकिन वह इतनी मेहनत के योग्य नहीं है। इन मानव सम्बन्धों से युक्त यह सांसारिक जीवन ही बेहतर है। हम एक दूसरे के लिए बने हैं।" ये सारी बातें दुर्बल और अव्यवस्थित मस्तिष्क की द्योतक हैं। त्याग तीन प्रकार के हैं :

१. झूठा त्याग, जिसमें व्यक्ति बाह्य कर्मों का त्याग कर देता है लेकिन सांसारिक वस्तुओं और भोगों की तीव्र लालसा रखता है।

२. सच्चे साधक का आन्तरिक त्याग जो पुरुषार्थ द्वारा अपने त्याग को बनाये रखता है, लेकिन जिसे सत्य के साक्षात्कार का सौभाग्य नहीं हुआ है।

३. सिद्ध पुरुष का सच्चा त्याग, जिसमें सभी द्वन्द्व और तनाव सदा के लिए समाप्त हो गये हैं। एक प्रसिद्ध श्लोक है :

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्। [१०]

भोग में रोग का भय है, उच्च कुल में सम्मान के च्युत होने का भय है, वित्त में चोरी का भय है। शास्त्र ज्ञान में प्रतिवादी का भय है, गुणों में दुष्टों से निन्दा का और काया में मृत्यु का भय है। सभी वस्तुएँ भयग्रस्त हैं, केवल वैराग्य ही भयरहित है।

मानसिक अनासक्ति :

संसार का भौतिक त्याग करने मात्र से हम मन वचन और कर्म से तत्काल पवित्र नहीं हो सकते। पहले कुकर्म का उसके बाद बुरे विचारों का त्याग करो, जो कुकर्म-त्याग से अधिक कठिन है। बुरे विचार के बदले बुरी आदत त्यागना आसान है। चित्त की पवित्रता सबसे कठिन है। यह कठिनाई सापेक्ष नैतिकता के स्तर पर है, जहाँ शुभ और अशुभ दोनों की सत्ता है और जबतक हम इस स्तर पर रहते हैं, तब तक हमें अशुभ का त्याग कर शुभ को ग्रहण करने का प्रयत्न करना पड़ता है। पूर्व संस्कारों और आदतों के कारण अशुभ घुस आना चाहता है और कभी कभी वह सफल भी हो जाता है। हमें इच्छाशक्ति का उपयोग कर

---

१०. वैराग्य शतकम् ३१

उसके बदले शुभ विचार लाने पड़ते हैं। यह खींचतान सभी के लिए अनिवार्य है। आगे बढ़ने पर यही संघर्ष सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है और स्थूल और प्राकृत स्तर के शुभाशुभ से उठने पर हमें उनके सूक्ष्म रूपों का सामना करना पड़ता है।

बुरे मित्रों का संग त्यागना बड़ा आसान है। हम आसानी से सांसारिक चर्चा और सांसारिक संग से दूर रह सकते हैं, लेकिन हमारे पूर्व सांसारिक मित्रों और उनसे जुड़े हुए अपवित्र विचारों का मानसिक संपर्क दूर करना कहीं अधिक कठिन और कष्टकर है। ऐसे में क्या किया जाय? अपने परित्यक्त मित्रों का आन्तरिक संग वास्तविक बाह्य संपर्क से कहीं अधिक खतरनाक है। सर्व प्रथम दृढ़ता पूर्वक सभी पूर्व संपर्कों को काट डालो और बाह्य जगत् के नये संवेदनों से दूर रहो। इसके बाद कुछ आत्मविश्लेषण करो। पता लगाओ कि पूर्व स्मृतियाँ मन में क्यों उठती हैं। निर्मम विवेक के द्वारा सभी पूर्व स्मृतियों और छवियों से अपने को अलग करो। मन को निरन्तर शक्तिशाली मन्त्रणाओं द्वारा आसक्ति और द्वेष के जीवन की हीनता की प्रतीति करवाओ। सभी पुरानी गर्द साफ करते रहो और सजग रहो कि नयी गर्द न जमने पाये। क्रमशः तुम देखोगे कि तुम्हारा मन स्वच्छतर और सबलतर हो रहा है।

स्थूल और सूक्ष्म स्तर के सभी संघर्षों के दौरान हमें अपने इष्ट के नाम और रूप के शुभ चिन्तन में यथा सम्भव रहकर अशुभ विचारों को दूर करना चाहिए, लेकिन कभी-कभी दूषित कल्पना के कारण अपवित्र चित्र हमारे प्रयत्नों के बावजूद बहुत स्पष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में पवित्र मन्त्र का जाप करते हुए हमें अपवित्र विचारों के प्रति एक साक्षी अथवा द्रष्टा का रुख अपनाकर उनके चंगुल से अपने को मुक्त करना चाहिए। विस्मृति के क्षणों में अशुभ विचारों के साथ तादात्म्य होने के कारण बिना कोई बुरा कर्म किए भी हम उनसे मानसिक और शारीरिक रूप से प्रभावित हो सकते हैं। लेकिन अधिकाधिक सतर्क होने पर तथा तादात्म्य से बचने के प्रयत्न से उनके उठने के पहले ही हम उन्हें दूर रख सकते हैं। उच्चतर स्तर की यह अनासक्ति, आत्मा की यह आन्तरिक निर्लिप्तता साधकों को बहुत लाभप्रद होती है। सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति की उपलब्धि होने पर यह निर्लिप्तता स्वाभाविक हो जाती है।

कुछ परिस्थितियों में अशुभ विचारों के उदय को रोका नहीं जा सकता, लेकिन अभ्यास द्वारा उनको मरीचिका के सदृश देखा जा सकता है, जिसके अनित्य स्वरूप के बारे में जानकारी हो चुकी है। प्रतीति को रोका नहीं जा सकता लेकिन उसे प्रतीति के रूप में, सत्य के सदृश दिखाई देने वाली किन्तु जो स्वरूपतः असत्य है, के रूप में, देखा जा सकता है।

और नामरूपात्मक दृश्य जगत् की अनित्यता को, तथा उसके साथ हमारे मिथ्या सम्बन्ध को पहचानने के लिए उसके पार्श्व में प्रतिष्ठित परमात्मा को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। सभी स्थूल रूपों के पीछे विद्यमान परमात्मा सत्ता को पहचानने पर हम सचमुच उनसे अप्रभावित रह सकेंगे। यदि संघर्ष के दौरान, न्यूनाधिक मात्रा में हम उनसे प्रभावित हुए बिना

नहीं रह सकते तो हमें इस च्युति का बार बार चिन्तन और अफसोस करने के बदले यथासम्भव परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए।

संसार वृक्ष :

हिन्दु शास्त्रों में संसार की तुलना एक वृक्ष से की गई है। यह एक प्राचीन रूपक है संसार-वृक्ष का। श्रीमद्‌भागवत में उसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है :

इस संसार वृक्ष के दो बीज, सौ जड़ें, तीन तने, पांच मुख्य शाखाएँ, ग्यारह प्रशाखाएँ हैं। उससे पाँच प्रकार का रस निकलता है। उस पर दो पक्षियों के नीड़ हैं, वह सूर्य तक विस्तीर्ण है, उसकी छालों की तीन परतें हैं, तथा वह दो प्रकार के फल देता है। [११]

(श्लोक में कथित दो बीज पाप और पुण्य हैं, जड़े असंख्य वासनाएँ हैं, तने सत्त्व रज और तमोगुण हैं। मुख्य शाखाएँ पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, वायु अग्नि और आकाश) हैं; ग्यारह प्रशाखाएँ इन्द्रियाँ और मन हैं। रस पाँच इन्द्रिय विषय हैं, दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं; छाल की परतें वात पित्त और कफ प्रकृतियाँ हैं, तथा दो फल सुख और दुःख हैं) यह वृक्ष सूक्ष्म ब्रह्माण्ड अथवा बृहत् ब्रह्माण्ड का प्रतीक हो सकता है। वृक्ष के विषय में सही ज्ञान होने पर उससे निकला जा सकता है। अपने तथा संसार के प्रति भी सही दृष्टिकोण होना चाहिए। यह वृक्ष महान् ईश्वरीय शक्ति के गर्भ से उत्पन्न होता है। व्यक्ति और विराट के सम्पर्क को खोज निकालने के लिए मन को उच्चतर केन्द्रों पर उठाना पड़ता है।

वृक्ष की जड़ें हमारी असंख्य इच्छाओं और वासनाओं की प्रतीक हैं। ये इच्छाएँ, अपने व्यक्तित्व के प्रति यह आसक्ति और इन्द्रिय विषय भोगों की तृष्णा हमारी समस्त समस्याओं के मूल कारण हैं। भक्ति और निष्काम कर्म इन जड़ों के पाश से हमें मुक्त करते हैं।

यदि सभीं जड़े कट जायें तो पूरा वृक्ष गिर जाये। लेकिन ऐसा विरले ही होता है। हम अधिक से अधिक अपनी कुछ वासनाओं को ही नष्ट कर पाते हैं। बची हुई जड़ों से वृक्ष जीवित रहता है। वासनाओं की सभी जड़ों को काटना इतना आसान नहीं है।

लेकिन हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। यदि हमारी साधना हमारी निम्न प्रकृति को, वासनाओं की जड़ों को अधिकाधिक प्रकाशित करती है तो हमें हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। बहुत सी बुरी स्मृतियाँ और सहज वृत्तियाँ अचेतन मन में गहरी दबी हुई हैं। हमारे अनजाने वे वहाँ बहुत समय से पड़ी हुई हैं। यदि वे कभी ऊपर आने लगे तो हमें प्रसन्न होना चाहिए कि उनका पता चल गया है। हमारे अन्तर की वास्तविक स्थिति को जानकर हमें शान्त और स्थिर बुद्धि से हमारी सभी समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। इसके विपरीत यदि हम उन विचारों को छिपाये और केवल ऐसा दिखाएँ कि वे विद्यमान नहीं है तो हम स्वयं को ही धोखा देंगे और अपनी आध्यात्मिक प्रगति को रुद्ध करेंगे। स्वयं के प्रति पूर्ण निष्कपट होना बहुत कठिन है। पर सत्य तो यह है कि निष्कपटता सर्वदा हमारे विकास

११. श्रीमद्‌भागवत ११.१२.२२

की द्योतक होती है। यदि हम अपने दोषों को स्वयं ही स्वीकार न करें, तो हम जीवन की समस्याओं का सामना करने का साहस कैसे कर पायेंगे। अचेतन मन में बातों को छुपा कर रखना समस्या का समाधान नहीं है, लेकिन हम ऐसा सोचकर स्वयं को धोखा देते हैं।

ईसाई धर्म की पाप स्वीकृति की प्रथा अचेतन मन की बातों को खाली करने की इस समस्या का आंशिक समाधान प्रस्तुत करती है। लेकिन यह सर्वदा सफल नहीं होता क्योंकि अधिकांश लोगों में साधना के अभाव में आत्म निरीक्षण की क्षमता बहुत कम विकसित होती है। यहीं नहीं, इस रस्म से जुड़ी धर्मशास्त्र सम्बन्धी आनुष्ठानिक बातों का प्रायः उल्टा असर होता है।

दूसरा उपाय है, अचेतन मन से बुदबुदों की तरह उठ रहे विचारों को परमात्मा के सामने रखना। भगवान् से अपने पूर्व संस्कारों से मुक्ति के लिए आन्तरिक प्रार्थना करो। प्रार्थना अचेतन मन को साफ करने का एक प्रभावशाली उपाय हो सकता है। अपने में उठ रहे निम्न विचारों से घबराओ मत। अन्य सभी वस्तुओं की तरह उन्हें भी परमात्मा को समर्पित कर दो। अवश्य यह उन्हीं के लिए सम्भव है, जिन्हें परमात्मा में अत्यधिक विश्वास है।

एक और तरीका है, सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ। और वह है उठ रहे सभी विचारों के, चाहे वे कितने ही बीभत्स क्यों न हों, साक्षी के रूप में स्थित रहना। किसी बुरे मनोवेग अथवा भावना को पहले पहचाने बिना उसके अस्तित्व को स्वीकार किये बिना, वस्तुतः उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। हमारे मन में सैकड़ों अपवित्र विचार गहरे पड़े हों, उससे क्या? उनसे स्वयं को निर्लिप्त रखना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जब हमारा चेतन मन उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है तभी वस्तुतः वे हमारे होते हैं और हमें कष्ट देते हैं। लेकिन यह जानकर कि आत्मा शुद्ध और निर्लिप्त है, हम साक्षी बने रहकर अपवित्र विचारों से अप्रभावित रह सकते हैं। साधक को इससे महान् सहायता मिलती है। अपने वास्तविक स्वरूप का चिन्तन अधिक करो और अपने अच्छे या बुरे विचारों से तादात्म्य होना बन्द करो। क्रमशः तुम अपने विचारों का अतिक्रमण करने में, तथा आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहने में समर्थ होओगे।

ज्ञान-कुठार :

श्रीमद्भागवत् में संसार वृक्ष का उल्लेख किया गया है। उसे काटें कैसे? श्रीकृष्ण उद्धव से इसे काटने का उपाय बताते हैं :

> एवं गुरुपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
> विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम॥[१२]

अर्थात् इस प्रकार एक निष्ठ भक्ति से की गयी गुरु की उपासना द्वारा ज्ञान की कुल्हाड़ी की धार पैनी कर लो और धैर्य और सावधानी पूर्वक जीवाशय में दृढ़मूल संसार वृक्ष को काट

श्रीमद्भागवत् ११.१२.२४

डालो फिर परमात्मा के साथ एक रूप होकर उन अस्त्रों को भी त्याग दो।

मन की विवेक शक्ति ही ज्ञान-कुठार है। भोथरे शस्त्र से, स्थूल बुद्धि से कुछ भी नहीं मिल सकता। मन्द आलसी मन से तुम कभी संसार वृक्ष को काट नहीं सकोगे। निरन्तर संघर्ष द्वारा मन को तीक्ष्ण और सजग बनाए रखने पर ही वृक्ष छेदन की प्रक्रिया प्रारम्भ की जा सकती है। इसमें लम्बा समय लगता है। आत्म स्वरूप की उपलब्धि न होने तक, मन के साथ तादात्म्य समाप्त न होने तक अस्त्र का त्याग नहीं किया जा सकता।

बहुत से लोग आध्यात्मिक जीवन यापन करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन बहुत कम लोग उसके कष्ट झेलने के लिए तैयार होते हैं। यही सारी कठिनाई है। विश्व के धर्मों के पुरातन ऋषियों के सन्देश को प्रतिध्वनित करती हुई स्वामी विवेकानन्द की वाणी सुनो :

स्वर्ग में जाकर एक वीणा पाऊँगा और उसे बजाकर यथासमय विश्रामसुख का अनुभव करूँगा इस बात की अपेक्षा मत करो। इस जगह एक वीणा लेकर क्यों न बजाना आरम्भ कर दो? स्वर्ग के लिए राह देखने की क्या आवश्यकता है? इस लोक को ही स्वर्ग बना डालो। स्वर्ग में विवाह नहीं होता पाणिग्रहण नहीं होता! यदि ऐसा है तो यहीं पर अभी से विवाह क्यों न बन्द कर दो? संन्यासियों का गैरिक वस्त्र मुक्त पुरुषों का चिह्न है। संसारी भिक्षुओं का वेष छोड़ दो; मुक्ति की पताका – गैरिक वस्त्र धारण करो ... पृथिवी में पवित्रतम और सर्वोत्कृष्ट जो कुछ है उसे ईश्वर की वेदी पर बलिरूप में अर्पण कर दो। जो त्याग की चेष्टा कभी भी नहीं करते, उनकी अपेक्षा जो चेष्टा करते हैं, वे बहुत अच्छे हैं। एक त्यागी मनुष्य को देखने से भी हृदय पवित्र होता है। ईश्वर को प्राप्त करुँगा केवल उन्हीं को चाहता हूँ – यह कहकर दृढ़ भाव से खड़े हो जाओ, संसार को उड़ जाने दो। ईश्वर और संसार इन दोनों के बीच किसी प्रकार का समझौता मत करो। संसार का त्याग करो, केवल ऐसा करने से ही तुम देह बन्धन से मुक्त हो सकोगे। और इस प्रकार देह से आसक्ति हट जाने के बाद देह त्याग होते ही तुम आजाद या मुक्त हो ज़ाओगे। मुक्त होओ, केवल देह की मृत्यु हमें मुक्ति नहीं दे सकती। जीवित रहते ही हमें अपनी चेष्टा के द्वारा मुक्ति लाभ करना होगा। तभी देहपात हो जाने पर उस मुक्त पुरुष का फिर पुनर्जन्म नहीं होगा। ... पवित्र हृदय धन्य हैं, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।' जगत् के सभी शास्त्र और सभी अवतार यदि लुप्त हो जायें, तो भी एक मात्र यह वाक्य समस्त मानव जाति को बचा सकेगा। हृदय की इस पवित्रता से ही ईश्वर का दर्शन होगा। विश्वरूपी समग्र संगीत में यह पवित्रता ध्वनित होती है। पवित्रता में कोई बन्धन नहीं। पवित्रता के द्वारा अज्ञान रूपी आवरण को दूर कर दो, ऐसा करने पर हमारा यथार्थ आत्मस्वरूप प्रकाशित होगा और हम जान जायेंगे कि हम किसी काल में बद्ध नहीं थे। नानात्व दर्शन ही जगत् में सबसे बड़ा पाप है। सबको आत्म रूप से देखो तथा सबसे प्रेम करो, भेदभाव को पूर्ण रूप से दूर कर दो।[१३]

□□□

१३. विवेकानन्द साहित्य – ७ पृ. १०८, ११८, १२१

अध्याय ११
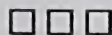
आध्यात्मिक जीवन की अनिवार्य शर्त – चित्तशुद्धि

सजग रहो :

सदा नैतिक पथ का, आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करो। ऐसे भी लोग हैं, जिन्हें अपवित्रता का कोई बोध नहीं; वे जितनी गलतियाँ करते हैं, उतने ही संवेदन-विहीन बनते जाते हैं। उनकी सारी नैतिक संवेदन-शीलता नष्ट हो गयी है। उनमें ग्लानि की भावना होती ही नहीं। लेकिन एक सच्चा साधक नैतिक दृष्टि से अत्यन्त संवेदनशील होता है। पातञ्जल योगसूत्र पर अपने भाष्य में व्यासदेव योगी के मन की तुलना नेत्र-गोलक से करते हैं। जिस प्रकार धूल के मात्र एक कण से उस पर गिरते ही चक्षुगोलक में तत्काल प्रतिक्रिया होती है, इसी तरह योगी के मन में दुःख प्रदान करने वाली जरा-सी बात से तीव्र प्रतिक्रिया होती है।[१] सजग मन के बिना आध्यात्मिक-जीवन के भयानक असफलता में परिसमाप्त होने की सम्भावना है। चित्तशुद्धि और आध्यात्मिक-जीवन अभिन्न हैं। यदि तुम लोगों को अपवित्र जीवन यापन करते और साथ ही आध्यात्मिक होने का भान करते देखो, तो उनसे दूर रहो। अपवित्र लोगों के आध्यात्मिक अनुभूति विषयक दावों में विश्वास मत करो।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः।।[२]

अर्थात् – आहार की शुद्धि से चित्त शुद्ध होता है; चित्तशुद्धि से सत्य-विषयक स्मृति ध्रुव अर्थात् मन में स्थिर होती है; स्मृति प्राप्त होने पर सभी हृदय-ग्रन्थियों से मुक्ति होती है।

केवल पवित्र मन ही ब्रह्म का निरवच्छिन्न धारावत् चिन्तन कर सकता है। उपर्युक्त श्लोक में 'आहार' शब्द का अर्थ इन्द्रियों के संस्पर्श में आनेवाली सभी वस्तुओं से है। हमें नेत्रों, कर्णों, त्वचा, नासिका आदि सभी के लिए पवित्र आहार चाहिए।[३] ज्ञानेन्द्रियों से लिए जा रहे सभी आहारों को शुद्ध किये बिना उदर के लिए शुद्ध भौतिक आहार ग्रहण करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे : "शूकर-मांस खाकर भी, अगर किसी

---

१. व्यासभाष्य पा. यो. सू. २.१६ २. छान्दोग्योपनिषद् ७.२६.२
३. छान्दोग्योपनिषद् ७.२६.२ पर शांकर-भाष्य देखिये

का ईश्वर की ओर झुकाव हो, तो वह धन्य है, और निरामिष भोजन करने पर भी अगर किसी का मन कामिनी और कांचन पर लगा रहे तो उसे धिक्कार है। ...''[४] अत्यधिक सावधान होने पर भी हम पायेंगे कि दिन भर में हम कुछ मैला आहरित कर लेते हैं। तुम्हें यह जान कर आश्चर्य होगा कि तुम्हारे मन के सभी कोनों और दरारों में कितना मैला जमा हुआ है, तथा आध्यात्मिक पथ पर सफलता-पूर्वक अग्रसर होने के लिए कितनी सफाई की आवश्यकता है। यह मैल अत्यन्त-सूक्ष्म रूप में, आध्यात्मिक जीवन के लिए अहितकर गहरे संस्कार के रूप में हो सकता है। अपनी संगति तथा वार्तालाप के प्रति लापरवाह मत होओ। सभी गपशप, सभी अनियन्त्रित व्यर्थ का चिन्तन और गतिविधियाँ बन्द कर दो। ये सब साधक के लिए बहुत हानिकारक हैं। अत: इन सभी विषयों में अत्यधिक विवेक बरतो। नये सांसारिक संपर्कों से नया मैल इकट्ठा मत करो। सारे दिन इस तरह व्यवहार करो कि तुम्हारी जो हानि हुई है, उसकी पूर्ति कर सको। पवित्र चिन्तन और कार्यों द्वारा पर्याप्त पुण्य-सञ्चय करो, जिससे सञ्चित पाप का प्रतिकार हो सके। तदनन्तर पुण्यापुण्य के सारे हिसाब को शून्य कर देना है। लेकिन उससे पहले खाते को बराबर करना होगा; पुण्य और अपुण्य को बराबर होना चाहिए, जिससे बकाया कुछ न बचे। अपने पुराने हिसाब को बन्द करो। अपने पुराने जीवन पर रोक लगा दो। नये सांसारिक संग, वार्तालाप तथा आमोद-प्रमोद की लालसा नहीं होनी चाहिए। इसी निडर सन्तुलन में सारा आध्यात्मिक जीवन निहित है। आज तुम सभी का हिसाब घाटे में है और अभी तुम्हें पर्याप्त पुण्य अर्जित करना चाहिए, जिससे हिसाब साफ़ हो सके। तभी नया खाता खोला जा सकता है। आध्यात्मिक-जीवन का अर्थ है, नया खाता खोलना।

पुन: हमारे मन की तुलना एक केमेरा-युक्त प्रोजेक्टर (चित्र-प्रक्षेपक) से की जा सकती है। यदि हम इसमें छिपे चित्रों को एक के बाद एक प्रक्षिप्त कर सकें तो वह कितना अच्छा सिनेमा बनेगा। सब कुछ निर्ममता-पूर्वक अंकित हो जाता है, और यदि हम मन की गहराई में जो कुछ छिपा है, जिन सभी संस्कारों को हमने अचेतन अथवा अवचेतन रूप में संग्रह किया हुआ है, तथा जिनके बारे में हम अनभिज्ञ हैं, उन को देख पाते, तो हम निश्चय ही भयभीत होते। साधना काल में ये कभी न कभी अवश्य ऊपर आयेंगे। ।अपवित्र और बुरी दिशा में किया गया अर्धचेतन-चिन्तन अत्यन्त खतरनाक है और बहुत अधिक कठिनाई पैदा कर सकता है, क्योंकि वह संस्कारों को अधिक गहरा और स्थायी बनाता है। हमें सदा पूर्ण सजग रहना चाहिए। एक दिन तुम्हें पता चलेगा कि यह बात कितनी सत्य है। तुम किन प्रभावों को अपने भीतर प्रविष्ट होने देते हो, तथा किन बातों को सुनते अथवा कौन सी बातें करते हो, इस विषय में तुम्हें अत्यधिक सावधान होना चाहिए। उनके संस्कार पड़ते दिखाई नहीं देते, मात्र इसलिए यह कभी मत सोचो कि उनसे कोई खतरा नहीं है। संस्कार बाद में

---

४. श्रीरामकृष्ण वचनामृत – २ (नवम् संस्करण) पृ. ३६८

उभरेगें और तब तुम्हें यह पता नहीं होगा कि इनसे कैसे निबटें। पूर्व-संस्कारों, पूर्व सम्बन्धों, पूर्व सांसारिक संग और विचारों का चिन्तन अचेतन अथवा अवचेतन रूप में भी, कभी मत करो। सर्वप्रथम हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होना चाहिए, उसके बाद नयी दिशा में नये शुभ सम्बन्धों, नये व पवित्र विचारों और भावों की दिशा में तीव्र चिन्तन करना चाहिए। सदा, सभी परिस्थितियों में यथा-सम्भव पूर्ण सजग और पूरी तरह सचेतन रहो, जिससे नेत्रों या कर्णों के माध्यम से कोई बुरा संस्कार न पड़े। और यदि संस्कार भीतर जायें भी तो उन्हें तत्काल उखाड़ फेंको। संग तथा सुने और पढ़े जा रहे विषय के सम्बन्ध में अत्यधिक विवेक बरतो।

सभी साधन-पथों में पवित्रता का महत्त्व :

कर्मयोग में भी नैतिकता के नियमों का कड़ाई से पालन अत्यन्त आवश्यक है, उतना ही आवश्यक जितना अन्य तीनों योगों में। ऐसी सामान्य मान्यता है कि नैतिक अनुशासनों का पालन ज्ञानयोग, भक्तियोग और राजयोग में ही करना पड़ता है, और कर्मयोग बहुत आसान है, क्योंकि यह तुम्हें जैसा चाहो वैसा जीवन यापन करने देता है। यह बकवास है। 'ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अद्रोह के बिना कर्मयोग में भी वस्तुत: कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। संसार में सभी ज्ञात आध्यात्मिक पथों में पवित्रता अपरिहार्य है। और पवित्रता का अर्थ बहुत व्यापक है। देह, इन्द्रियों, मन और हृदय की पवित्रता इसके अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मचर्य केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य ही नहीं, अहिंसा मात्र स्थूल अहिंसा ही नहीं, अस्तेय केवल स्थूल वस्तुओं की चोरी का त्याग ही नहीं है। इनका अर्थ पूर्ण आन्तरिक पवित्रता भी है। लक्ष्य के लिए बिना शर्त सर्वस्व का त्याग कर, किसी भी बात को तुम्हें अपने पथ से विचलित न करने देकर, यदि तुम इन प्रारम्भिक साधनाओं को महान् एकनिष्ठा के साथ पूर्ण न करो, तो तुम सचमुच कर्म भले ही करते रहो, पर यह योग नहीं हो सकेगा। यह बहुत बड़ा अन्तर है : सभी कर्म कर रहे हैं, परन्तु कुछ ही वास्तविक कर्मयोग करते हैं। किसी भी प्रकार के योग के लिए नैतिक नियमों का पालन आवश्यक है। इस विषय में अपने को कभी धोखा मत दो। और इन शर्तों के पालन का अर्थ केवल स्थूल, बाह्य रूप में ही पालन नहीं है, बल्कि उनका सूक्ष्मतम रूप में पालन भी है।

ज्ञानयोग कहता है: शुद्धिकरण की साधना के बाद अपने समग्र मन को ब्रह्म में लगा दो। चित्तशुद्धि के लिए सदा विवेक का अभ्यास करो।

कर्मयोग कहता है : नैतिक मूल्यों का अति कठोरता से पालन करो तथा सभी कर्मफलों को परमात्मा को समर्पित करते हुए निष्काम कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि करो।

भक्तियोग कहता है : अपनी सभी भावनाओं और संवेदनाओं को केवल परमात्मा की ओर मोड़ो। अन्य सभी प्रेम की भावनाओं को प्रज्वलित भगवत्-प्रेम द्वारा आत्मसात हो जाने दो। उस भक्ति की तीव्रता द्वारा उन्हें पूरी तरह नष्ट कर दो, जिससे केवल यह परमात्मा का

प्रेम ही शेष रहे।

अत: हम देखते हैं, कि चित्तशुद्धि और आसक्ति के बन्धनों को काटना सभी योगों का सामान्य आधार है।

कर्म में एक महान् खतरा यह है कि हम फल के बारे में बहुत अधिक सोचने लगें, जो हमें चञ्चल बना दे। किन्तु यदि हम यह जान लें कि पूर्ण अनासक्ति और पवित्रता ही लक्ष्य हैं, तो हम फलों की चिन्ता नहीं करेंगे और मन की चञ्चलता हमें अभिभूत नहीं करेगी। जब साधक यह जान लेगा कि कर्म का उद्देश्य उसकी स्वयं की आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक चित्तशुद्धि है, तो वह कर्म को और अधिक श्रद्धा और उत्साह के साथ करेगा। तभी कर्म कर्मयोग बनता है। तुम्हारे कर्मफलों की तुम्हें जरा भी चिन्ता नहीं होनी चाहिए। एक कर्मयोगी के रूप में तुम्हें अपनी चित्तशुद्धि के लिए कर्म करना चाहिए, और बात यहीं समाप्त हो जाती है। फल केवल प्रभु के हैं, उनके सम्बन्ध में तुम्हें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है।

पतञ्जलि के अनुसार पवित्रता :

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्रों में शुद्धिकरण की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार नैतिक सिद्धान्त दो प्रकार के हैं : यम (सामान्य सिद्धान्त) और नियम (विशेष सिद्धान्त)। यम के अन्तर्गत वे पाँच साधन आते हैं जिनका सभी लोगों को सर्वत्र सर्वदा पालन करना चाहिए।[५] प्रथम अहिंसा, अर्थात् दूसरों के प्रति चाहे वे अच्छे हों या बुरे, विद्वेष न होना। जैसे ही ये द्वेष भाव उत्पन्न हों, उन्हें दूर कर दो। विचलित मन से किसी प्रकार का ध्यान सम्भव नहीं है। हमारा मन एकाग्र हो और साथ ही हम किसी के विरुद्ध बुरे विचार सजोयें, यह सम्भव नहीं है। मैं उच्चतर-ध्यान की बात कर रहा हूँ।

दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है – ब्रह्मचर्य। बिना ब्रह्मचर्य के कोई वास्तविक आध्यात्मिक-जीवन सम्भव नहीं है। यदि तुम जीवन के सार-रस को काम और इन्द्रिय-वासनाओं के कारण शरीर के छिद्रों से बह जाने दोगे तो उच्चतर आध्यात्मिक साधना के लिए और ऊर्जा नहीं रहेगी। किनारे के निकट लंगर डाले खड़ी नौका को खेने से कोई लाभ नहीं हो सकता। हम परमात्मा के साथ संयुक्त होना चाहते हैं। यदि काम-वासना के रूप में कोई बाधा हो, तो परमात्मा के साथ सम्पर्क सम्भव नहीं है। यह मानो एक टूटे हुए दूर-सञ्चार के तार के समान है। विद्युत हो, यन्त्री भी हो, लेकिन जब तक टूटे हुए तार को जोड़ा न जाये अथवा बाधक असंवाहक को जब तक हटाया न जाये, तब तक तार से संवाद गन्तव्य तक कभी नहीं पहुँच सकता।

इसके बाद है – सत्य। सत्य का मन, वचन और कर्म से पालन करना चाहिए।

---

५. एते जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। – पातंजल योग-सूत्र २.३१

श्रीरामकृष्ण ने कहा है, कि वे सर्वस्व का त्याग कर सकते थे, पर सत्य का नहीं। छल-कपट और आत्म-प्रवञ्चना का आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है।

इसके बाद आता है – अस्तेय। इसे कभी भी केवल स्थूल अर्थ में नहीं समझना चाहिए। दूसरे की हानि करके किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा रखना तथा अनुचित उपाय से किसी वस्तु को प्राप्त करना चोरी है।

पाँचवा – अपरिग्रह। साधकों को बहुतसी वस्तुओं से अपने को भाराक्रान्त नहीं करना चाहिए। उन्हें संग्रह-वृत्ति का त्याग करना चाहिए। जिस वस्तु की तुम्हें आवश्यकता नहीं है, उसे दूसरों को दे दो। यदि दूसरों से भेंट लेना अपरिहार्य हो, तो उन्हें उसके बदले कुछ और दो। यदि तुम्हारे पास देने के लिए धन न हो, तो प्रेम, सेवा, ज्ञान प्रदान करो।

'नियम' के अन्तर्गत भी पाँच विधान हैं। प्रथम है-शौच-पवित्रता अर्थात् देह और मन दोनों की पवित्रता। देह भगवान् का मन्दिर है, अतः उसे साफ़ रखना चाहिए। दूसरा नियम है सन्तोष। भौतिक-परिस्थितियों में संतोष करना चाहिए। तुम अपनी साधना के प्रति असन्तुष्ट भले ही होओ पर अपनी समस्याओं के लिए वातावरण को दोष न दो। सर्वदा शिकायत करने वाले और असन्तोष प्रकट करने वाले अपनी शक्ति और समय ही नष्ट करते हैं। अनावश्यक असन्तोष पैदा न करो। इसके बाद है – तप – इन्द्रिय निग्रह। किसी भी प्रकार के इन्द्रियभोग में निरत रहने वाले व्यक्ति का मन शान्त नहीं रह सकता। व्यास कहते हैं कि असंयमी व्यक्ति के लिए योग असम्भव है।[६] इसके बाद है – स्वाध्याय। इसका अर्थ केवल पुस्तकों का अध्ययन ही नहीं है, बल्कि स्वयं के मन का अध्ययन भी है। अन्त में है, ईश्वर-प्राणिधान-परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण, जो सूक्ष्मतम अपवित्रता अर्थात् अहंकार को दूर करता है। महत्त्वपूर्ण स्मरणीय बात यह है – साधना के अगले चरण अर्थात् आसन का अभ्यास आरम्भ करने के पूर्व साधक को समग्र नैतिक अनुशासन का पालन कर लेना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन के आचार्य पवित्रता और अनासक्ति को इतना अधिक महत्त्व देते हैं।

पवित्रता के लिए प्रार्थना करो :

चित्त की वास्तविक शान्ति के लिए पवित्रता आवश्यक है; अच्छे और पूर्णरूपेण पवित्र विचारों से ही जो देह अथवा संसार से सम्बन्धित न हों मन शान्त हो सकता है। उपनिषद् कहते हैं : "हमें ब्रह्म की शांत मन से उपासना करनी चाहिए।"[७] यह मन को शान्त करना सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन में यह ध्यान की पूर्व भूमिका है।

---

६. नातपस्विनो योगः सिध्यति। – पातञ्जल योग सूत्र २.१ पर व्यास भाष्य

७. ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। – छान्दोग्योपनिषद् ३.१४.१ देखें कठोपनिषद् १.२.२४

चित्तशुद्धि के लिए संघर्ष करते समय हमें भगवान् से सहायता माँगनी चाहिए। हमें उनसे पूर्ण चित्तशुद्धि के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। अपने आध्यात्मिक कल्याण के लिए ही नहीं, बल्कि दूसरों के लिए भी प्रार्थना करना प्राय: लाभप्रद होता है। पवित्रता, एकाग्रता, शान्ति, एकनिष्ठा और अपने स्वयं के आध्यात्मिक कल्याण हेतु प्रार्थना करो, और अन्य सभी प्राणियों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए प्रार्थना करो, जिससे वे भी पवित्र, शान्त, एकाग्र और उच्चतर जीवन के लिए समर्पित होवें। दूसरों के लिए प्रार्थना का हमारे स्नायुओं पर शान्तिकर प्रभाव पड़ता है। इससे हमारा मन उदार होता है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने ध्यान के लिए बैठने के तत्काल बाद उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी दिशाओं में, सभी प्राणियों के प्रति प्रेम के विचारों को प्रेषित करने का उपदेश दिया है।[८] यह अत्यन्त लाभकारी होता है।

प्रतिदिन हमें दूसरों के कल्याण के लिए प्रार्थना करने का निश्चय कर लेना चाहिए। यदि कुछ एकाग्रता के साथ ऐसी प्रार्थना की जाये, तो वह दूसरों का भला करेगी। यही नहीं, यह उच्चतर जीवन के लिए संघर्ष कर रहे तथा महान् कठिनाई और पीड़ा से गुजर रहे हमारे साथियों के प्रति हम में प्रेम की भावना का सञ्चार भी करती है।

चित्त की शुद्धि और शान्ति के लिए तथा उसे परमात्मा पर एकाग्र करने के लिए हृदय की उदारता अत्यन्त आवश्यक है। अत: दूसरों के लिए प्रार्थना करने से हम स्वयं भगवान् के अधिकाधिक निकट पहुँचते हैं।

भूतकाल का चिन्तन मत करो :

भूतकाल चाहे कैसा भी रहा हो, उसका चिन्तन पूरी तरह त्याग देना चाहिए। जो किया जा चुका है, वह सदा के लिए किया जा चुका है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। अत: पवित्रता का चिन्तन करो, भविष्य में तुम क्या करोगे उसका चिन्तन करो, न कि भूत में जो किया था, उसका। जो स्वयं को पवित्र सोचता है, वह पवित्र हो जाता है। भूत को यथासम्भव विस्मृत करने का प्रयत्न करो। श्रेष्ठतर और पवित्रतर सम्बन्धों और संस्कारों को पुराने सम्बन्धों और संस्कारों के स्थान पर उठाकर उन्हें मिटाने का प्रयत्न करो। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे : 'क्या तुम मैल को मैल से धोने का प्रयत्न करोगे? क्या पाप का इलाज पाप है, क्या दुर्बलता का इलाज दुर्बलता है?'[९] अपवित्रता के विचार से तुम पवित्र नहीं हो सकते; स्वयं को पापी सोच कर तुम पाप से मुक्त नहीं हो सकते। यह गलत मानसिकता है और इसका परिणाम बिल्कुल उलटा होगा। यदि हम पाप और अपवित्रता पर बहुत अधिक विचार करते रहें, तो हम इस सत्य को भूल जायेंगे कि आध्यात्मिक प्रयास द्वारा हमें कुछ उपलब्धि हो सकती है। सदा सकारात्मक पद्धति अपनाओ। "मैं कैसा पापी हूँ, मैं कितना

---

८. विवेकानन्द साहित्य ९. विवेकानन्द साहित्य

अपवित्र हूँ" – ऐसा सोचने के बदले यह सोचो "पवित्रता मेरा वास्तविक स्वभाव और जन्मसिद्ध अधिकार है। मैं स्वरूपतः मुक्त हूँ। पवित्रता और दिव्यता मेरे स्वरूप हैं।"

समस्त अपवित्रताओं के मूल कारण को दूर करना चाहिए – केवल उनके बाह्य-रूपों को ही नहीं। ऐसा करने के लिए हमें अनेक आन्तरिक द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है। लेकिन डरो मत। निरोध और मनोग्रन्थियों का निर्माण अपने आप में बुरा नहीं है। ये कुछ समय के लिए पूर्ण उदात्तीकरण की सीढ़ियों के रूप में अनिवार्य हैं, जो काफी बाद में होता है। मनोग्रन्थियों को लेकर इतना हो-हल्ला क्यों? हम कुछ भी करें, ग्रन्थियाँ बनेंगी। भोगलिप्सा एक प्रकार की ग्रन्थियाँ पैदा करती है और निग्रह दूसरे प्रकार की। अतः हमें उस मार्ग का चयन करना है, जो हमें किसी उच्चतर और सकारात्मक अवस्था तक ले जाये, जो हमें अधिकाधिक मुक्त करे और जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक हो। हम चाहे कुछ भी करें, सापेक्ष-स्तर पर हम निरन्तर ग्रन्थियाँ बना रहे हैं। आध्यात्मिक जगत के भी नियम हैं; पालन करने के लिए केवल भौतिक नियम ही नहीं हैं। इन विषयों में व्यक्ति को अपना मार्ग स्वयं चुनना चाहिए।

प्रत्येक प्रारम्भिक साधक को किसी भी रूप में उसके सामने उपस्थित हो रहे हानिकारक संवेदनों से दूर रहने की सावधानी बरतनी चाहिए। एक कोमल पौधे की बाड़ के द्वारा सुरक्षा करनी पड़ती है। किसी भी कीमत पर आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहिए और इसके लिए इच्छा शक्ति और एकाग्रता का महान् विकास करना पड़ता है। यह दुर्बल और मन्दगति लोगों के लिए नहीं है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : "यदि तुम्हें तुम्हारे पुराणों के तैंतीस कोटि देवताओं में विश्वास हो, लेकिन अपने आप में विश्वास न हो, तो तुम मुक्त नहीं हो सकते।" [१०] पाप का बोध कुछ मनःस्थिति वालों के लिए अच्छा हो सकता है, लेकिन यह तभी जब वह उच्चतर प्रयास का प्रेरक बने। उसे हमें किसी आध्यात्मिक दिशा में परिचालित करना चाहिए। किंतु अपवित्रता की इन सभी पपड़ियों को दूर करने का कहीं अधिक अच्छा उपाय अपनी अन्तर्निहित सदा विद्यमान पवित्रता का चिन्तन करना है, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है। यदि हमारी आदतें हमारा 'द्वितीय' स्वभाव है तो विशुद्ध आत्मा हमारा 'प्रथम' स्वभाव है। आध्यात्मिक दृष्टि से हम सभी अपने स्वयं के पूर्वज हैं और हम वही सञ्जोते हैं, जो हमने ही बोया है। लेकिन पुनर्जन्म सबसे महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। हमें इसी जीवन में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतः आध्यात्मिक जीवन में पुनर्जन्म को बहुत अधिक महत्त्व कभी नहीं देना चाहिए। यदि हमारा वर्तमान जन्म हमारे पूर्व कर्मों का परिणाम है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने वर्तमान प्रयासों द्वारा भविष्य को बदल सकते हैं। कर्म और भाग्य का अर्थ कभी एक नहीं होता। कर्म-सिद्धान्त पुरुषार्थ का सिद्धान्त है; सोचे विचारे, सचेतन, स्वप्रयत्न का मार्ग है, आलस्य और

---

१०. विवेकानन्द साहित्य

चित्तशुद्धि के लिए संघर्ष करते समय हमें भगवान् से सहायता माँगनी चाहिए। हमें उनसे पूर्ण चित्तशुद्धि के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। अपने आध्यात्मिक कल्याण के लिए ही नहीं, बल्कि दूसरों के लिए भी प्रार्थना करना प्राय: लाभप्रद होता है। पवित्रता, एकाग्रता, शान्ति, एकनिष्ठा और अपने स्वयं के आध्यात्मिक कल्याण हेतु प्रार्थना करो, और अन्य सभी प्राणियों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए प्रार्थना करो, जिससे वे भी पवित्र, शान्त, एकाग्र और उच्चतर जीवन के लिए समर्पित होवें। दूसरों के लिए प्रार्थना का हमारे स्नायुओं पर शान्तिकर प्रभाव पड़ता है। इससे हमारा मन उदार होता है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने ध्यान के लिए बैठने के तत्काल बाद उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी दिशाओं में, सभी प्राणियों के प्रति प्रेम के विचारों को प्रेषित करने का उपदेश दिया है।[८] यह अत्यन्त लाभकारी होता है।

प्रतिदिन हमें दूसरों के कल्याण के लिए प्रार्थना करने का निश्चय कर लेना चाहिए। यदि कुछ एकाग्रता के साथ ऐसी प्रार्थना की जाये, तो वह दूसरों का भला करेगी। यही नहीं, यह उच्चतर जीवन के लिए संघर्ष कर रहे तथा महान् कठिनाई और पीड़ा से गुजर रहे हमारे साथियों के प्रति हम में प्रेम की भावना का सञ्चार भी करती है।

चित्त की शुद्धि और शान्ति के लिए तथा उसे परमात्मा पर एकाग्र करने के लिए हृदय की उदारता अत्यन्त आवश्यक है। अत: दूसरों के लिए प्रार्थना करने से हम स्वयं भगवान् के अधिकाधिक निकट पहुँचते हैं।

भूतकाल का चिन्तन मत करो :

भूतकाल चाहे कैसा भी रहा हो, उसका चिन्तन पूरी तरह त्याग देना चाहिए। जो किया जा चुका है, वह सदा के लिए किया जा चुका है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। अत: पवित्रता का चिन्तन करो, भविष्य में तुम क्या करोगे उसका चिन्तन करो, न कि भूत में जो किया था, उसका। जो स्वयं को पवित्र सोचता है, वह पवित्र हो जाता है। भूत को यथासम्भव विस्मृत करने का प्रयत्न करो। श्रेष्ठतर और पवित्रतर सम्बन्धों और संस्कारों को पुराने सम्बन्धों और संस्कारों के स्थान पर उठाकर उन्हें मिटाने का प्रयत्न करो। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे : 'क्या तुम मैल को मैल से धोने का प्रयत्न करोगे? क्या पाप का इलाज पाप है, क्या दुर्बलता का इलाज दुर्बलता है?'[९] अपवित्रता के विचार से तुम पवित्र नहीं हो सकते; स्वयं को पापी सोच कर तुम पाप से मुक्त नहीं हो सकते। यह गलत मानसिकता है और इसका परिणाम बिल्कुल उलटा होगा। यदि हम पाप और अपवित्रता पर बहुत अधिक विचार करते रहें, तो हम इस सत्य को भूल जायेंगे कि आध्यात्मिक प्रयास द्वारा हमें कुछ उपलब्धि हो सकती है। सदा सकारात्मक पद्धति अपनाओ। "मैं कैसा पापी हूँ, मैं कितना

---

८. विवेकानन्द साहित्य   ९. विवेकानन्द साहित्य

अपवित्र हूँ'' – ऐसा सोचने के बदले यह सोचो ''पवित्रता मेरा वास्तविक स्वभाव और जन्मसिद्ध अधिकार है। मैं स्वरूपतः मुक्त हूँ। पवित्रता और दिव्यता मेरे स्वरूप हैं।''

समस्त अपवित्रताओं के मूल कारण को दूर करना चाहिए – केवल उनके बाह्य-रूपों को ही नहीं। ऐसा करने के लिए हमें अनेक आन्तरिक द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है। लेकिन डरो मत। निरोध और मनोग्रन्थियों का निर्माण अपने आप में बुरा नहीं है। ये कुछ समय के लिए पूर्ण उदात्तीकरण की सीढ़ियों के रूप में अनिवार्य हैं, जो काफी बाद में होता है। मनोग्रन्थियों को लेकर इतना हो-हल्ला क्यों? हम कुछ भी करें, ग्रन्थियाँ बनेंगी। भोगलिप्सा एक प्रकार की ग्रन्थियाँ पैदा करती है और निग्रह दूसरे प्रकार की। अतः हमें उस मार्ग का चयन करना है, जो हमें किसी उच्चतर और सकारात्मक अवस्था तक ले जाये, जो हमें अधिकाधिक मुक्त करे और जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक हो। हम चाहे कुछ भी करें, सापेक्ष-स्तर पर हम निरन्तर ग्रन्थियाँ बना रहे हैं। आध्यात्मिक जगत के भी नियम हैं; पालन करने के लिए केवल भौतिक नियम ही नहीं हैं। इन विषयों में व्यक्ति को अपना मार्ग स्वयं चुनना चाहिए।

प्रत्येक प्रारम्भिक साधक को किसी भी रूप में उसके सामने उपस्थित हो रहे हानिकारक संवेदनों से दूर रहने की सावधानी बरतनी चाहिए। एक कोमल पौधे की बाड़ के द्वारा सुरक्षा करनी पड़ती है। किसी भी कीमत पर आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहिए और इसके लिए इच्छा शक्ति और एकाग्रता का महान् विकास करना पड़ता है। यह दुर्बल और मन्दगति लोगों के लिए नहीं है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : ''यदि तुम्हें तुम्हारे पुराणों के तैंतीस कोटि देवताओं में विश्वास हो, लेकिन अपने आप में विश्वास न हो, तो तुम मुक्त नहीं हो सकते।'' [१०] पाप का बोध कुछ मनःस्थिति वालों के लिए अच्छा हो सकता है, लेकिन यह तभी जब वह उच्चतर प्रयास का प्रेरक बने। उसे हमें किसी आध्यात्मिक दिशा में परिचालित करना चाहिए। किंतु अपवित्रता की इन सभी पपड़ियों को दूर करने का कहीं अधिक अच्छा उपाय अपनी अन्तर्निहित सदा विद्यमान पवित्रता का चिन्तन करना है, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है। यदि हमारी आदतें हमारा 'द्वितीय' स्वभाव है तो विशुद्ध आत्मा हमारा 'प्रथम' स्वभाव है। आध्यात्मिक दृष्टि से हम सभी अपने स्वयं के पूर्वज हैं और हम वही सञ्ञोते हैं, जो हमने ही बोया है। लेकिन पुनर्जन्म सबसे महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। हमें इसी जीवन में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतः आध्यात्मिक जीवन में पुनर्जन्म को बहुत अधिक महत्त्व कभी नहीं देना चाहिए। यदि हमारा वर्तमान जन्म हमारे पूर्व कर्मों का परिणाम है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने वर्तमान प्रयासों द्वारा भविष्य को बदल सकते हैं। कर्म और भाग्य का अर्थ कभी एक नहीं होता। कर्म-सिद्धान्त पुरुषार्थ का सिद्धान्त है; सोचे विचारे, सचेतन, स्वप्रयत्न का मार्ग है, आलस्य और

१०. विवेकानन्द साहित्य

नियतिवाद का कभी नहीं। अत: हमें अपने विचारों में नियतिवाद के बदले तीव्र साधना पर बल देना चाहिए।

पवित्र हृदय सत्य का परावर्तक (प्रतिबिम्बक) हो जाता है उसी तरह पवित्र, चिन्तनशील मन भी। पवित्र मन क्रमश: उच्चतर जीवन के भावों के प्रति सजग हो जाता है। मन जितना पवित्र होगा, उतना ही वह जागरूक होगा, और सत्य को स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित करेगा। उच्चतम अनुभूति में मन और हृदय दोनों चरम सत्य में विलीन हो जाते हैं। जब तक हम अपने मन में सञ्जोये रखे झूठे पुतलों और गुड़ियाओं से चिपके रहेगें, तब तक भगवान् के लिए गहरी एवं आन्तरिक व्याकुलता सम्भव नहीं है, चाहे हम उसका कितना ही दिखावा क्यों न करें। तब वह सब खोखला विश्वास मात्र बनकर रह जाता है। लेकिन सब के, प्रत्येक के जीवन में एक समय ऐसा आ सकता है, जब ये गुड़ियाएँ अपना आकर्षण खो देती हैं। केवल तभी आध्यात्मिक जीवन के लिए सच्ची और गहरी व्याकुलता जागृत होती है। तब समस्त सांसारिक वस्तुएँ स्वाद-रहित हो जाती हैं।

सख्त उपाय आवश्यक :

आध्यात्मिक क्षेत्र में वेदान्त 'एलोपैथी' के सदृश है, कभी भी 'होमियोपैथी' सदृश नहीं। चूँकि सांसारिकता की बीमारी अत्यन्त कठिन हो गयी है, इसलिए तेज दवाईयों की आवश्यकता है। वेदान्त बीमारी का कठोर उपचार सुझाता है। प्रभावशाली इञ्जेक्शन और अधिक मात्रा में एलोपैथी दवाईयाँ आवश्यक हैं। वेदान्त में होमियोपैथी जैसी कोई चीज नहीं है। वेदान्ती के लिए होमियोपैथी इलाज काम नहीं करेगा क्योंकि प्रभावशाली होने के लिए वेदान्त को पानी मिलाकर तरल नहीं किया जा सकता। क्या तुम देखते नहीं कि अन्तहीन अनुकरण के द्वारा ईसा के उपदेशों का क्या हाल हो गया है?

वासनायें और इन्द्रियाँ हमारी चिर-शत्रु हैं। अत: एक नियन्त्रित और अनुशासित जीवन-यापन करना अत्यन्त आवश्यक है। वासना की सर्वग्राही शक्ति की कोई सीमा नहीं है और जब तक हम अपने ऊपर उसके प्रभुत्व को बने रहने देंगे, तब तक महापुरुषों द्वारा हमें प्रदत्त किसी भी आध्यात्मिक उपदेश का पालन नहीं कर सकेंगे। इस तथ्य को जाने-अनजाने छुपाना नहीं चाहिए।

प्रत्येक इच्छा को एक एक करके दूर करना हमारे लिए सम्भव नहीं हैं। अत: उनका सामान्य निर्मम संहार आवश्यक है। परमात्मा की ओर मुड़ने पर, उनको हमारे भीतर दैवी-प्रकाश करने देने पर, सारा अन्धकार तत्काल नष्ट हो जायेगा। तब वे स्वयं युद्धभूमि में आकर हमारे लिए युद्ध करेंगे। प्रभु अपना कार्य करते हैं, लेकिन जब तक हमें व्यक्तित्व-बोध है, जब तक हम अपने को अपने कर्मों का कर्ता समझते हैं, तब तक हमें भी अपनी भूमिका अदा करनी चाहिए। हमें इस दृश्य जगत् से अपनी आसक्ति को त्यागना है। हमें समस्त दैहिक और सांसारिक वासनायें त्यागनी चाहिएँ। हमें समस्त आसक्तियों तथा इनसे सम्बन्धित

'कर्तव्यों' को त्यागना है। संसार की समस्याओं और कष्टों से बचने का तथा प्रकाश को ढक रहे अन्धकार को दूर करने का यही एकमात्र रास्ता है। हम परमात्मा को हमारा रूपान्तरण करने, तथा उच्चतर जीवन यापन करने की क्षमता प्रदान करने देवें। संसार को 'नितान्त आवश्यकता' से अधिक महत्त्व जरा भी न दें। चाहे मठ में रहें या बाहर, हम सदा संसार में ही हैं। हम संसार से पलायन नहीं कर सकते। लेकिन हमें संसार को हमारा ध्यान पूरी तरह सोखने नहीं देना चाहिए। जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "नौका पानी में रहे लेकिन पानी को नौका में नहीं रहना चाहिए।" [११]

आत्म-चिन्तन करो

वास्तविक पवित्रता प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह सोचना है कि हम स्वरूपतः पवित्र हैं। पाप, अपवित्रता, दुर्बलता और अपूर्णता का चिन्तन कभी नहीं करना चाहिए। हम सभी स्वरूपतः पूर्ण हैं, किन्तु हम अपनी चिरन्तन पूर्णता को भूल गये हैं और इसीलिए अनन्त भूलें करते जाते हैं। लेकिन ज्योंही हम अपने वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि पुनः प्राप्त कर लेते हैं, त्योंही अपवित्रता, पाप, अपूर्णता केवल कुछ स्वप्न-मात्र बन कर रह जाते हैं।

यह पवित्रता भीतर से उमड़ती रहती है, क्योंकि वह हमारी अपनी है और अनादि-काल से हमारी थी। यह बाहर से नहीं आती। यह ऊपर से जोड़ी गयी नहीं है। और न ही उसे नये सिरे से बनाना है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ यह भीतर से विकास है। पर यह वस्तुतः विकास नहीं बल्कि अनावरण मात्र है, क्योंकि यदि पूर्णता और पवित्रता हमारे अपने स्वभाव में नहीं होते, तो हम कभी पवित्र और पूर्ण नहीं हो पाते; कभी भी हमारा त्राण नहीं हो पाता।

अन्तर में रूपान्तरण लाओ, फिर यह रूपान्तरण अनायास बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होगा। हमारे सम्पूर्ण स्वभाव को पवित्र करना है। यह ध्यान रखो कि तुम केवल ऊपरी लिपाई-पुताई ही न करो। सर्वप्रथम पुरानी पपड़ियों को घिस-घिस कर निकालना चाहिए। उसके बाद सुचारु रूप से भूमि को पुनः तैयार करना चाहिए। तीव्र साधना करो। यह तुम्हें तुम्हारे झूठे व्यक्तित्व से, जो अपवित्र है, ऊपर उठने में सहायक होगी। तुम्हारे झूठे व्यक्तित्व (अहंकार) से तुम्हारे विचार कलुषित और अपवित्र हो जाते हैं। यदि तुम्हारा वास्तविक व्यक्तित्व अपवित्र होता तो तुम कभी भी पवित्र नहीं हो पाते और तुममें से किसी के भी उद्धार की आशा नहीं होती। लेकिन हमारा वास्तविक स्वरूप नितान्त पवित्र, स्वप्रकाश है और हमें उसे पुनः प्राप्त करना है। शुभ विचार, कर्म और वचन बहुत सहायक होते हैं, लेकिन निरन्तर साधना के बिना ये पर्याप्त नहीं होते और वे तुम्हें ऐसे किसी रूप में परिवर्तित कभी नहीं कर सकते, जो तुम अभी नहीं हो।

अपने प्रति, जगत् के प्रति हमारे मन में उठ रहे सभी मानसिक चित्रों और स्मृतियों

११. श्रीरामकृष्णवचनामृत

के प्रति एक पूर्णतः नया दृष्टिकोण होना चाहिए। मलिन विचार के मन में उठने पर हमें खेद होना चाहिए, लेकिन इस के द्वारा हमें आगे बढ़ने की और अधिक प्रेरणा मिलनी चाहिए तथा हमें और अधिक दृढ़-निश्चयी होना चाहिए। हमें आभारी होना चाहिए कि हमारे मन में पड़ी हुई ऐसी अपवित्र बातों की हमें जानकारी प्राप्त हुई है। यदि हमें उनका ज्ञान न हो तो हम उनसे कभी सफलता-पूर्वक लड़ नहीं सकते। जितनी अधिक कठिनाई हो, उतना ही अधिक पुरुषोचित् युद्ध होना चाहिए, उतना ही अधिक उन्हें दूर करने का हमारा संकल्प और अन्तहीन-दृढ़ता होनी चाहिए।

यदि सचमुच हमारे मन में मैल और कचरा है, तो हमें इस तथ्य को जानना चाहिए और यह भी जानना चाहिए, कि वह कितना बुरा है किसी बुराई को जानना आधा युद्ध जीतने के बराबर है। हमें हमारे मन द्वारा महान् शरारत करने की सम्भावना की जानकारी होना अच्छा है, जिससे हम सावधान रहें और छलने की उसकी नापाक कोशिशों के प्रति पूर्ण सजग रहें। काम, क्रोध, लोभ, हिंसा आदि भावनाओं द्वारा स्वयं को परिचालित होने देकर मानव स्वयं तथा दूसरों के लिए कितने महान् दुःख की सृष्टि करता है। और ये समस्त वासनायें हमारे मन के भीतर ही गहरी छुपी पड़ी रहेगीं यदि हम उन्हें जानकर उन्मूलित न कर दें। अपने मन को सचेतन रूप से उच्चतर जीवन की ओर न मोड़ने तक वह इनसे सदा ही भरा रहेगा।

साधक के लिए सचेतन रूप से अपने चेतना के केन्द्र को स्थानान्तरित करना आध्यात्मिक जीवन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कदम है। सामान्यतः हमारा व्यक्तित्व किसी एक केन्द्र – शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक केन्द्र – के चारों ओर कार्य करता है। कुछ लोगों, जैसे पेटू और शराबियों में 'पेट' चेतना का केन्द्र रहता है। दूसरों में वह हृदय के नीचे, सांसारिक भावनाओं का स्थान रहता है। साधक को अपने चेतना के केन्द्र को निम्न से उच्चतर केन्द्रों में स्थानान्तरित करना सीख लेना चाहिए। सर्वप्रथम उसे अपने वास्तविक आध्यात्मिक केन्द्र को खोज निकालना चाहिए, और उसके बाद अभ्यास द्वारा अपनी चेतना को निरन्तर इस केन्द्र पर बनाये रखना चाहिए। उसे सदा यह देखते रहना चाहिए कि कहीं उसकी चेतना उच्चतर आध्यात्मिक केन्द्र से नीचे तो नहीं चली गयी है। अपने उच्चतर आध्यात्मिक-चेतना के केन्द्र में स्थिर रहना एक महत्त्वपूर्ण साधना है।

सूक्ष्म वासनाएँ :

कभी यदि हम अपने मन की गहराईयों का सूक्ष्म निरीक्षण करें, तो हम कुछ सूक्ष्म वासनाओं को बीज रूप में, मन के अन्धकारमय कोने में पड़ी पायेंगे; और यदि हम अपने आचरण में अत्यधिक सावधान न हों, तो वे किसी दिन उठेंगी और अच्छी तरह अंकुरित होकर बहुत समस्या पैदा करेंगी। भगवत्-साक्षात्कार के पूर्व तक, अत्यधिक संयम भले ही रखा गया हो, पर वासनाएँ और प्रवृत्तियाँ पूरी तरह नष्ट नहीं होतीं। वे केवल निरुद्ध रहती हैं। अतः साक्षात्कार से पूर्व तक हम कभी भी सुरक्षित नहीं होते, और यदि हम अपने समग्र

आचरण तथा लोगों के साथ सम्बन्ध एवं व्यवहार में अत्यधिक सावधानी न बरतें तो हम एक दिन अवश्य फिसल जायेंगे। महान् संयमी होते हुए भी भक्त को कभी भी अति-साहसी नहीं होना चाहिए। और ऐसे व्यक्ति के लिए भी आचरण का एक निश्चित-विधान, पालन करने के निश्चित नियम होने चाहिएँ, जिससे वह असावधानियों अथवा बुरे संग के कारण किसी बुराई से पतित न हो जाये।

भगवद्गीता में कहा गया है, "रस आसानी से नहीं छूटता"[१२] और सचमुच, महान्-तम संयमी पुरुष में भी इन्द्रिय विषयों का रस बीज रूप में, प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय अनुभूति की ज्वाला में पूरी तरह भस्म होने तक बना रहता है। उसके बाद वासना की प्रतीति-सी होती है, पर जली हुई रस्सी के समान वह और बन्धन का कारण नहीं होती। ऐसे पुरुष की चेतना में विद्यमान भाव और विचार सम्पूर्णत: परिवर्तित हो गये होते हैं और वह वासनाओं से और प्रभावित नहीं होता।

यह जानते हुए भी कि बीज पुन: अंकुरित हो सकता है, हमें हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। इससे हमें अपने कार्य की विशालता का बोध होना चाहिए। हमें अपने आप से कहना चाहिए : "कार्य इतना कठिन है, अत: मुझमें अधिकाधिक निश्चय, एकनिष्ठा और सजगता होनी चाहिए।" हमें खतरे को न तो बढ़ाना और न ही कम करना चाहिए। यथार्थवादी होओ और स्वयं के प्रति कठोर होओ।

कभी स्वप्न में अचानक हमें एक भयानक चित्र दिखायी देता है, जो मन की किसी दरार में इतने समय तक छिपा पड़ा था। कभी ध्यान के समय वीभत्स रूप आते हैं एवं मन में उठकर हमें भयभीत कर देते हैं। हमारे मन की गहराईयों में इतनी गन्दगी और कचरा है तथा यह किसी दिन उभरेगा, सतह पर आयेगा और हमें नीचे खींचने का प्रयत्न करेगा। हमें इससे हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, बल्कि इसे सहजतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए, और अपनी साधना करते रहना चाहिए। महान् संयमी व्यक्ति, लेकिन जिसे अभी उच्चतम अनुभूति नहीं हुई है, उसे भी सदा सावधान रहना चाहिए, क्योंकि किसी असावधानीपूर्वक किये गये संग द्वारा, किसी शब्द अथवा दृश्य के द्वारा सूक्ष्मतम रूप में समस्या किसी भी क्षण पैदा हो सकती है। सदा सावधान और सजग रहो। हम अधिकांशत: सर्वप्रथम अत्यन्त सूक्ष्मरूप में प्रभावित होते हैं, फिर यह बढ़ता ही जाता है। बड़ा होता हुआ विशाल आकार धारण कर लेता है और अन्त में हम बह जाते हैं। यह किसी भी क्षण, जब हम समुचित सावधान और सजग न हों, हो सकता है।

सचमुच सावधान और पूर्ण सजग व्यक्ति सूक्ष्मतम वासनाओं के उठते हुए अल्पतम अंश पर भी नजर रखता है और मानसिक स्तर पर उन्हें पूर्णरूप से उठने न देकर, उनकी कारणावस्था में ही नष्ट कर देता है। हम सभी को वासनाओं को उनकी कारणावस्था में ही

---

१२. भ. गीता २.५९

नियन्त्रित करने का प्रयत्न करना चाहिए और यह हम सचमुच सजग और विवेकी हुए बिना नहीं कर सकते। वास्तव में सजग होने पर खतरे को उसकी कारणावस्था में पहचान कर उसे वहीं नष्ट कर सकेगें। तीव्र भगवद्भक्ति होने पर तथा भगवान् का निरन्तर-स्मरण करने पर ही यह सम्भव है। ऐसा करने पर हमारे मन पूर्ण-रूपेण सजग हो जाते हैं। श्रीरामकृष्ण की दिव्य सहधर्मिणी पवित्रता-स्वरूपिणी श्री माँ सारदा देवी कहा करती थीं, "जो व्यक्ति निरन्तर इष्ट का चिन्तन करता हो, उसके पास अनिष्ट कैसे आ सकता है?"

आध्यात्मिक व्यक्ति का गुरुतर दायित्व :

एक अविकसित व्यक्ति यदि कोई बुरा कार्य करे तो वह इतना बुरा नहीं है, जितना कि उच्चतर विकास प्राप्त व्यक्ति द्वारा किया गया बुरा कार्य। यदि एक असंस्कृत व्यक्ति दुर्व्यवहार करे तो वह सुसंस्कृत व्यक्ति द्वारा किये गये दुर्व्यवहार जितना बुरा नहीं है। व्यक्ति जितना अधिक विकसित होगा उसकी जिम्मेदारी उतनी ही अधिक होगी। व्यक्ति का जितना अधिक नैतिक विकास होगा, नैतिक-विकासहीन व्यक्ति की तुलना में उससे उतने ही श्रेष्ठतर आचरण की अपेक्षा की जायेगी। इन दोनों के दायित्व समान नहीं है।

हम ज्यों-ज्यों विकसित हों, त्यों त्यों हमें नैतिक दृष्टि से भी सुसंस्कृत होना चाहिए। साधारण लोग साफ झूठ बोलने में नहीं हिचकिचाते। अधिकांश लोग अर्ध-सत्य कहने में संकोच नहीं करते। लेकिन साधक के जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब वह इतना संवेदनशील हो जाता है, कि मजाक में भी अर्धसत्य कहने में उसे पीड़ा होती है। जो भी हो, यदि तुम्हें समझौता करना पड़े तो उसे कभी उचित न ठहराओ, बल्कि समझौते को समझौता ही समझो, आदर्श नहीं; गलती को गलती ही जानो, उसे उचित ठहराने का प्रयत्न मत करो।

जब तक व्यक्ति का मन स्थूल है, तब तक वह केवल बाह्य आचरण से बचता है। जब वह सूक्ष्म हो जाता है, तो वह बुरे विचारों से भी बचता है, और इन दोनों में विचार सदा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में चिन्तन को आचरण से अधिक महत्त्व देना चाहिए। लेकिन एक स्थूल मन यह समझ नहीं पाता। एक अविकसित मन वाला व्यक्ति वस्तुत: (अशुभ से) प्रभावित होते हुए भी यह समझता है, कि वह प्रभावित नहीं हुआ है। यही मजा है। बुरा विचार बुरे कार्य के समान ही बुरा है। उच्चतम नैतिकता के स्तर पर इस शर्त का पालन होना चाहिए; विचार पवित्र होना चाहिए; वाणी शुद्ध होनी चाहिए; क्रिया भी शुद्ध होनी चाहिए। और मन की पवित्रता के बिना वाणी शुद्ध नहीं हो सकती और कर्म भी कम शुद्ध होंगे। हम पाते हैं कि उच्चतम नैतिक स्तर पर व्यक्ति न तो कोई अशुभ कार्य करता है, न करवाता है और न ही अनुमोदन करता है। उसका त्रिविध दायित्व होता है : उसे कोई बुरा कार्य नहीं करना चाहिए; कोई बुरा कार्य नहीं करवाना चाहिए, और किसी बुरे कार्य का अनुमोदन करना अथवा उससे लाभ नहीं उठाना चाहिए।[१३]

---

१३. पातञ्जल योग सूत्र २.३४

प्रलोभनों से बचो :

आध्यात्मिक प्रशिक्षण की अवधि में हमें सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के प्रलोभनों से यथासम्भव दूर रहना चाहिए। हमें ऐसी सभी वस्तुओं को, जो हमें प्रलोभित कर सकें, दूर से ही नमस्कार करना चाहिए, उनके पास नहीं जाना चाहिए। हमें आने वाले बहुत समय तक अपनी शक्ति पर बहुत अधिक भरोसा नहीं रखना चाहिए। गन्दें संस्कारों से पूर्ण हमारा मन इतना दूषित है कि एकबार यदि उसे सचमुच झकझोर दिया जाये तो वह अन्तहीन समस्याएँ पैदा कर सकता है। काम, ईर्ष्या, लोभ, अश्लीलता – ये सारी बातें हमारे भीतर छिपी पड़ी है, और हमें अपना शिकार बनाने की फिराक में हैं। अत: हमें सावधान रहना चाहिए।

मन में क्षुद्र और आपातत: महत्त्वहीन तरंग के रूप में विद्यमान खतरे के प्रति हमारे बहुत कम सजग रहने के कारण समस्या सदा पैदा होती है। बाह्य संवेदन चाहे वह अत्यन्त सूक्ष्म और कठिनाई से गोचर होता हो, क्रमश: मन को प्रभावित करता है। कभी किसी पुराने अपवित्र संस्कार की स्मृति हमें विचलित करने में पर्याप्त होती है, क्योंकि बीज अथवा कारण सदा भीतर ही रहता है, बाहर कभी नहीं। यदि बीज भीतर न हो, तो वह कभी अंकुरित नहीं हो सकता।

किसी भी प्रकार की आसक्ति मस्तिष्क को धूमिल करने तथा साधक के मन का आध्यात्मिक नाश करने के लिए पर्याप्त है, पर जब आसक्ति और क्रोध मिल जाते हैं, तब सम्पूर्ण मन विक्षिप्त हो जाता है, और सारी प्रगति रुक जाती है। व्यक्ति पर वासना का प्रभुत्व स्थापित होने पर उच्चतर जीवन के लिए संघर्ष का अन्त हो जाता है। इसीलिए हमें हानिकारक संवेदन से, चाहे वह अति सूक्ष्म ही क्यों न हो, सावधानी पूर्वक दूर रहना चाहिए, और अपने मन को उच्च विचारों में लगाये रखना चाहिए। हमें निम्न प्रवृत्तियों और भावनाओं को उठने का कोई अवसर नहीं देना चाहिए। हमें, कम से कम अपनी साधना के प्रशिक्षण-काल में विपरीत लिंग के व्यक्तियों के, तथा समान लिंग के ऐसे व्यक्तियों के संग से यथासम्भव दूर रहना चाहिए, जो पूर्णत: नैतिक जीवन यापन नहीं करते।

हमें वासनाओं को हम पर हावी होने का अवसर नहीं देना चाहिए। चिन्तन करना मन का स्वभाव है, और यदि हम समस्त पुराने अपवित्र संस्कारों को हटाकर शुभ और पवित्र विचार नहीं करेंगे, तो वह अशुभ और अपवित्र चिन्तन अवश्य करेगा। अत: उठो और कार्य में लग जाओ। सदा सावधान रहो, और बुद्धिमानी और लगन के साथ सत्पथ का अनुसरण करो। सुषुप्ति-पर्यन्त, मृत्यु-पर्यन्त वेदान्त-विचार से मन को पूर्ण रखो। [१४]

नैतिक-जीवन की परिणति आध्यात्मिक-जीवन में :

हिन्दू-धर्म के अनुसार प्रत्येक मानव का देह-मन युक्त व्यक्तित्व तथा जीवन तीन गुणों

---

१४. आसुप्तेरामृते कालं नयेद्वेदान्त चिन्तया। – सिद्धान्त लेश संग्रह

द्वारा परिचालित होता है, जो सदा मिश्रित रहते हैं। इनमें तमस् निष्क्रियता का, रजस् क्रियाशीलता का, तथा सत्त्व ज्ञान का तत्त्व है। मानव का स्वभाव इन गुणों में से किसी एक के या अन्य के आधिक्य पर निर्भर करता है। इन गुणों का संतुलन जीवन की मुख्य समस्या है। ये गुण छत पर जाने की सीढ़ी के समान हैं, आलसी व्यक्ति को ऊपर चढकर कर्मठ होना है, कर्मठ को पवित्र होना है। सत्त्व की वृद्धि होने पर मन शुद्ध और स्पष्ट हो जाता है। सत्त्व, सत्य तक जाने वाली सीढ़ी का सबसे ऊपरी सोपान है, लेकिन वह सत्य नहीं है।

हमारी पवित्रता से हमें भगवत्-साक्षात्कार होना चाहिए। भगवत्प्राप्ति का अर्थ है, सभी गुणों का अतिक्रमण करना। श्रीरामकृष्ण की एक कथा में गुणों की तुलना तीन डाकुओं से की गयी है।

एक धनी व्यक्ति जंगल के बीच से जा रहा था। ऐसे समय तीन डाकुओं ने आकर उसे घेर लिया। सब कुछ छीन लिया। सबकुछ छीनकर एक डाकू ने कहा, 'अब इसे रखकर क्या करोगे, इसे मार डालो।' ऐसा कह कर वह उसे काटने के लिए उद्यत हुआ। तब दूसरा डाकू बोला, 'इसे जान से मत मारो; हाथ पैर बाँधकर इसे यहीं पर छोड़ दिया जाये। फिर वह पुलिस को खबर नहीं दे सकेगा।' इस प्रकार उसे बाँधकर, डाकू लोग उसे वहीं छोड़कर चले गये।

थोड़ी देर बाद तीसरा डाकू लौट आया। आकर बोला, 'खेद है, तुमको बहुत कष्ट हुआ! मैं तुम्हारा बन्धन खोले देता हूँ।' बन्धन खोलने के बाद उस व्यक्ति को साथ लेकर डाकू रास्ता दिखाता हुआ चलने लगा। सरकारी रास्ते के पास आकर उसने कहा, 'इस रास्ते से चले जाओ, अब तुम सहज ही अपने घर जा सकोगे।' उस व्यक्ति ने कहा, 'यह क्या महाशय! आप भी चलिए; आपने मेरा कितना उपकार किया। हमारे घर चलने से हम कितने आनन्दित होंगे।' डाकू ने कहा, 'नहीं, मेरे वहाँ जाने पर छुटकारे का उपाय नहीं, पुलिस पकड़ लेगी।' यह कह कर, रास्ता बताकर वह लौट गया।

पहला डाकू तमोगुण है, जिसने कहा था, 'इसे रखकर क्या करोगे, मार डालो।' तमोगुण से विनाश होता है। दूसरा डाकू रजोगुण है; रजोगुण से मनुष्य संसार में आबद्ध होता है; अनेकानेक कार्यों में जकड़ जाता है। रजोगुण ईश्वर को भुला देता है। सत्त्वगुण ही केवल ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता बताता है। दया, धर्म, भक्ति, ये सब सत्त्वगुण से उत्पन्न होते हैं। सत्त्वगुण मानो अन्तिम सीढ़ी है। उसके बाद ही है छत। मनुष्य का धाम है परब्रह्म। त्रिगुणातीत न होने पर ब्रह्मज्ञान नहीं होता।[१५]

परमात्मा तथा भगवत्-साक्षात्कार हमारा लक्ष्य होना चाहिए, अर्थात् अपने भीतर अनुभव करना और उसके बाद अन्य सभी में उनका साक्षात्कार करना। हमारा आदर्श वह व्यक्ति है, जो किसी गुण से बँधता नहीं, जिसने भगवान् को जान लिया है, तथा जो गुणों के सभी कार्यों से सदा निर्लिप्त रहता है। शुभ विचारों की सहायता से अशुभ प्रवृत्तियों से छुटकारा पाकर उसने सत्त्व का भी अतिक्रमण कर लिया है और अनुभवातीत स्थिति को

---

१५. श्रीरामकृष्ण वचनामृत –१, द्वादश संस्करण पृ. २९७-२९८

प्राप्त कर लिया है। उसका मन अधिक से अधिक सत्त्व की सीढ़ी तक उतर सकता है, लेकिन उसके नीचे वह कभी जा नहीं सकता।

केवल नैतिकता व्यक्ति को आध्यात्मिक नहीं बना सकती। मात्र नैतिकता व्यक्ति की आध्यात्मिकता का मापदण्ड कभी नहीं हो सकती। नैतिकता को जीवन का सार-सर्वस्व मानना – सामान्यतः 'प्रोटेस्टेण्टिज्म' कहलाने वाले मत की यह बड़ी त्रुटि है। नैतिकता आवश्यक है, और पहले पूर्ण नैतिक जीवन-यापन किये बिना आध्यात्मिकता नहीं हो सकती। लेकिन मात्र नैतिकता आध्यात्मिकता होने का दावा नहीं कर सकती, जो नैतिक आदर्शों के स्तर से बहुत ऊपर है।

वेदान्ती कहता है, निःस्वार्थ कर्म करना तथा नैतिक जीवन-यापन करना पर्याप्त नहीं है; अपने कर्तव्यों का कड़ाई से पालन करना ही पर्याप्त नहीं है; कुछ और भी आवश्यक है। तुम्हें उच्चतम दिव्य-ज्ञान प्राप्त कर जीवन के चरम उद्देश्य को उपलब्ध करना चाहिए।

ज्ञान के लिए चित्तशुद्धि और प्रज्ञा आवश्यक हैं और उनके बिना कोई भी उच्चतम ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और निःस्वार्थ कर्म तथा नैतिक साधनाएँ इनके उपाय और सोपान मात्र हैं। लेकिन लक्ष्य तो परम-चैतन्य और आनन्द की उपलब्धि है। आनन्द और चैतन्य सदा हमारे भीतर विद्यमान हैं, वे हमारे वास्तविक स्वरूप हैं। वे चित्त की अपवित्रता से आवृत मात्र हैं। अपवित्रता दूर होने पर आत्मस्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

अपवित्रता का अर्थ केवल अशुभ वासनाएँ और बुरे विचार ही नहीं हैं। तथाकथित शुभ वासनाएँ और विचार भी ध्यान और आत्म-साक्षात्कार में बाधक हैं, और इसीलिए अपवित्रता माने जाते हैं। नैतिक-जीवन अशुभ-विचारों और संस्कारों के नाश या उदात्तीकरण पर बल देता है। लेकिन आध्यात्मिक जीवन का आग्रह, शुभ विचारों और वासनाओं के भी नाश अथवा अतिक्रमण पर है। भावनाएँ व्यक्ति को मानसिक और भौतिक-स्तर पर आबद्ध करती हैं। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ इन दोनों के पार जाना है। इसीलिए साधक को तथाकथित परम्परागत शुभ आचरण के भी ऊपर उठने का निर्देश दिया जाता है।

भावनात्मक-स्तर पर कोई सुरक्षा नहीं हो सकती। व्यक्ति को अपनी भावनाओं को नियन्त्रण में रखना चाहिए और उनका तीव्र आध्यात्मिक-पिपासा के रूप में उदात्तीकरण करना चाहिए। यह सदा याद रखना चाहिए कि शुभ भावना को अशुभ भावना में परिवर्तित होने में देर नहीं लगती।

वास्तविक लक्ष्य :

मन को आत्मग्लानि अथवा व्यर्थ अनुशोचना जैसी किसी बात से कभी दुर्बल न बनाओ। यदि हम सन्तुलन बनाये रखकर अपनी निकृष्टतम-भावनाओं और विचारों का सामना कर सकें तो हम नये सिरे से कुछ सकारात्मक कार्य आरम्भ कर सकेंगे और उत्साह-पूर्वक आगे बढ़ सकेगें। भूतकाल का चिन्तन एक रोग है, जिसका प्रत्येक साधक को लक्षण

प्रकट होते ही उपचार करना चाहिए। ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करने के भी पूर्व हमें मिथ्या और अपवित्र विचारों और भावनाओं से स्वयं को मुक्त कर लेना चाहिए।

इसके बाद हम प्रार्थना और जप करें, जो ध्यान की ओर ले जाता है। जप तोते की तरह भगवन्नाम का आवर्तन नहीं है, बल्कि मन में उठ रहे भगवन्नाम के अर्थ का बोध सदा बना रहना चाहिए। जप और प्रार्थना के निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार अभ्यास करने से एक नयी समरसता पैदा होती है, जो हमारे चिन्तन, संवेदन, और संकल्पों को शुद्ध करती है – जो ध्यान की दिशा में एक महान् कदम है।

हमारे गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी के उपदेश सुनो :

मन को शान्त और शुद्ध करने का सबसे आसान उपाय एकान्तवास, संयम और ध्यान-धारणा है। जितना ही शुभ चिन्तन में मन लगाओगे उतना ही तुम्हारा आध्यात्मिक विकास होगा। जिस प्रकार अच्छा आहार पाने पर गाय अधिक दूध देती हैं, इसी तरह जब मन को आध्यात्मिक आहार दिया जाता है, तो वह अधिक शान्ति प्रदान करता है। ध्यान, धारणा, प्रार्थना, जप आध्यात्मिक आहार हैं।

मन को स्थिर करने का दूसरा उपाय है, उसे विचरने देना, लेकिन उसकी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखना। थोड़ी देर बाद मन स्वयं थककर लौट आता है, और भगवान् में शान्ति प्राप्त करता है। यदि तुम मन पर नजर रखोगे, तो मन इसके बदले तुम पर नजर रखेगा।[१६]

लेकिन ऐसा अहं-केन्द्रित ध्यान पर्याप्त नहीं है। परमात्मा का ध्यान करने के साथ हमें पूरी आन्तरिकता के साथ अपने को परमात्मा के प्रति समर्पित भी करना चाहिए। ध्यान के निरन्तर अभ्यास से एक आन्तरिक ज्योति, एक प्रज्ञाशक्ति प्रकट होती है, जिसकी सहायता से जीव परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को पहचानता है और उसमें लीन रहता है। परिणामस्वरूप होने वाली दिव्य-समाधि जीव को पूरी तरह रूपान्तरित कर देती है।

देवमानव दिव्य अनुभूति के उत्कर्ष से जब नीचे आता है, तब वह अपने साथ एक नयी दृष्टि लेकर आता है और स्वयं तथा सभी प्राणियों एवं वस्तुओं में परमात्मा का दर्शन करता है। उसका मन सुख-दुःख से अविचलित और शान्त हो जाता है। वीतराग भय-क्रोध, उसका हृदय सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा से पूर्ण हो जाता है। वह दिव्य चेतना के सुदृढ़ आहार पर आधारित शान्ति की अनुभूति कर लेता है और संसार में किसी भी वस्तु से प्रभावित नहीं होता, बल्कि अपनी शान्ति और आनन्द को दूसरों को बाँटने के लिए लालायित रहता है।

□□□

---

१६. दि इटरनल कम्पेनिअन – स्वामी प्रभवानन्द, (१९७१) पृ. २५१,२५२

अध्याय १२

आध्यात्मिक जीवन में काम की समस्या

काम का जीवन पर प्रभाव :

काम आध्यात्मिक जीवन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। प्रत्येक साधक को जीवन में कभी न कभी उसका सामना करना पड़ता है। जैसा कि आधुनिक मनोविज्ञों ने बताया है, काम सामान्य मानव के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, तथा उसके चिन्तन, भावनाओं और इच्छा के बहुत से अंश काम से सम्बन्धित रहते हैं। जो लोग तीव्र आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम अपने जीवन में काम के इस प्रभुत्व को कम करना चाहिए। जिन लोगों ने अल्प वय से ही पवित्र जीवन-यापन किया है, उनके लिए यह समस्या आसान होती है। लेकिन आधुनिक युवक बहुत से अपवित्र विचारों का सञ्चय करने के बाद आध्यात्मिक-जीवन की ओर मुड़ता है। सामान्यत: सफलता-पूर्वक आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए उसे अपवित्र-विचारों के घने जंगल को साफ करना पड़ता है।

काम की मुख्य समस्या यह है, कि वह व्यक्तित्व के अनेक स्तरों पर विद्यमान है। काम केवल भौतिक काम मात्र नहीं है। शारीरिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त मानसिक-स्तर पर काम सूक्ष्म आकर्षणों अथवा मोह के रूप में विद्यमान रहता है। वह एक प्लावी हिमशैल के समान है, जिसका केवल शिखर ही पानी की सतह के ऊपर दिखाई देता है। साधक जितना ही अन्तर्मुखी होता है, उतना ही वह अपने भीतर काम की सूक्ष्म शाखा-प्रशाखाओं को समझने में समर्थ होता है। यह बात प्राय: लोगों को भयभीत कर देती है। बहुत कम लोग काम-विजय की कठिन चुनौती का सामना कर पाते हैं। लेकिन उसका पूरी तरह सामना किए बिना वास्तविक आध्यात्मिक जीवन यापन नहीं किया जा सकता। इसके लिए महान् दृढ़ता और फौलादी इच्छा शक्ति की आवश्यकता है। यदि कोई सामान्य-व्यक्ति सच्चे साधक के मन में झाँक कर देखे, तो वह भयभीत होकर भाग खड़ा होगा। वह (साधक का मन) एक वात-भट्टी के भीतरी अंग के समान होता है, जिसमें विशुद्ध-धातु को निरन्तर कच्ची-धातु से अलग किया जाता है।

ब्रह्मचर्य और विवाह :

साधक को सर्वप्रथम यह निर्णय करना पड़ता है, कि उसे विवाह करना चाहिए या ब्रह्मचारी रहना है। हिन्दू-धर्म में विवाहित-जीवन को बुरा नहीं माना जाता, लेकिन वह उस जीवन की कुछ निश्चित सीमाएँ निर्धारित कर देता है। लेकिन ब्रह्मचारी के लिए कठोर नियम होते हैं। ऐकान्तिक आध्यात्मिक-जीवन यापन करने वालों के लिए आजन्म ब्रह्मचर्य-पालन नितान्त आवश्यक है। ईसा मसीह ने कहा है :

कुछ नपुंसक माता के गर्भ से पैदा होते हैं, कुछ नपुंसक पुरुषों से बनाए जाते हैं, और कुछ नपुंसकों ने स्वयं को स्वर्ग के राज्य के लिए नपुंसक बनाया है। जो इस उपदेश को ग्रहण कर सकता है, वह ग्रहण करें। [१]

श्रीरामकृष्ण ने शरत् और शशि (जो आगे चलकर स्वामी सारदानन्द और स्वामी रामकृष्णानन्द हुए) नामक दो युवकों को उनकी पहली मुलाकात के समय, यह अंश पढ़ने को कहा था। उन्होंने कहा कि विवाह समस्त बन्धनों का (मूल) कारण है। सभी महान् अवतार इस सत्य के बारे में एकमत रहे हैं, लेकिन सांसारिक लोग ईश्वर की सृष्टि के बारे में कुछ करने के लिए सदा बहुत चिन्तित रहते हैं, मानो ईश्वर को उनकी सहायता की आवश्यकता है। यह सब कपट और बकवास है। भगवान् को अपनी सृष्टि के लिए किसी की आवश्यकता नहीं है। और ये लोग भी वस्तुत: उसकी परवाह नहीं करते। वे अपना सुख चाहते हैं, ईश्वर की सृष्टि नहीं। अपने एक प्रसिद्ध पत्र मे संत पॉल ने लिखा है :

अत: अविवाहितों और विधवाओं को मेरी सलाह यह है कि मेरी तरह अविवाहित रहना ही अच्छा है। लेकिन यदि वे संयम न रख सकें, तो काम की ज्वाला में जलने की अपेक्षा विवाह करना श्रेयस्कर हैं। [२]

यह बहुत कल्याणप्रद सलाह है। हम यह नहीं कहते कि सभी को संन्यासी हो जाना चाहिए। यह व्यक्ति के विकास की अवस्था पर निर्भर करता है। अपना महान् व्रत तोड़ने वाला संन्यासी बनने की अपेक्षा गृहस्थ बनना श्रेयस्कर है। बाह्य-त्याग के पीछे सदा आन्तरिक-त्याग होना चाहिए। अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं है। संन्यासी में दोनों होने चाहिएँ। केवल बाहरी त्याग से काम नहीं चलेगा। जो अपनी कमजोरियों के कारण आन्तरिक-त्याग नहीं कर सकते, और जो सांसारिक विचारों, आशाओं और आकांक्षाओं में व्यस्त रहते हैं, उनके लिए मिथ्याचारी बनने के बदले गृहस्थ-जीवन-यापन करना श्रेयस्कर है। सच्चा आन्तरिक त्याग करने वाला व्यक्ति, किसी अन्य मानव के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध के बन्धन में बंधे बिना संसार में भी रह सकता है, तथा साथ ही अहिंसा का, यौन की दृष्टि से पवित्र, रागरहित, द्वेषरहित, जीवन यापन कर सकता है, और पूर्ण ब्रह्मचर्य की शर्तों को पूरा कर सकता है।

लेकिन प्रारम्भिक आध्यात्मिक अनुशासन तथा वर्षों लम्बी साधना के बिना यह बहुत कठिन है, और अधिकांश लोगों के लिए बिल्कुल असम्भव है। लेकिन कम से कम वे यह

---

१. बाईबिल, संत मैथ्यूस, १९.१२ २. बाईबिल कोरिन्थियंस ७.८,९

तो जानें कि दुर्लभ होने के बावजूद तथा अधिकांश लोगों के लिए बहुत कठिन होते हुए भी ऐसा जीवन सम्भव है।

जो लोग संन्यासी होना चाहते हैं, अथवा ब्रह्मचारी बने रहना चाहते हैं, उन्हें विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। क्या तुम उस संन्यासी की कहानी जानते हो, जिसे एक चूहे ने बरबाद किया था? एक संन्यासी था, जिसे एक चूहा ध्यान के समय सदा तंग किया करता था। अतः कुछ दयालु लोगों ने चूहा पकड़ने के लिए एक बिल्ली दे दी। स्वाभाविक ही बिचारे संन्यासी को बिल्ली को दूध पिलाना पड़ता था, और हमेशा दूध मिलना कठिन था। इसलिए उसने एक गाय रखने का निर्णय किया। गाय के लिए चारा चाहिए। लोगों ने सुझाव दिया, "एक खेत क्यों नहीं खरीद लेते?" संन्यासी को सुझाव युक्तिसंगत लगा, और उसने एक खेत खरीद लिया। लेकिन कुछ समय बाद पता चला, कि खेत जोतना होगा। इसमें बहुत मेहनत होगी, जो वह स्वयं अकेला नहीं कर सकता था। अतः उसने विवाह कर लिया और उसका संन्यास समाप्त हो गया। यह कहानी, रूपक की सहयता से मानव-जीवन में हो रही बातों को प्रदर्शित करती है। एक इच्छा दूसरी को जन्म देती है, जो अन्त में अनन्त हो जाती हैं, तथा नियन्त्रण के बाहर चली जाती हैं।

गृहस्थ का कर्तव्य :

सभी उच्च आध्यात्मिक साधन-पद्धतियों में ब्रह्मचर्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। हिन्दूधर्म-शास्त्र के अनुसार एक विद्यार्थी को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, और जान बूझकर उसके विपरीत आचरण कभी नहीं करना चाहिए। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर वह अपने संयम को तिलाञ्जलि नहीं दे देता। वह एक अद्‌भुत संयमी-जीवन का आदर्श अपने समक्ष रखता है। श्रीकृष्ण श्रीमद्‌भागवत् में अपने अन्तिम सन्देश में कहते हैं :

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं संतोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम्।। [३]

अर्थात् सन्तोनोत्पत्ति के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य पालन, तप, शौच, संतोष, तथा प्राणियों के प्रति दया, ये गृहस्थ के धर्म हैं तथा मेरी उपासना हैं।

आदर्श गृहस्थ एक महावीर है, क्यों कि उसे प्रलोभनों से पूर्ण संसार में आध्यात्मिक-आदर्शों को जीना पड़ता है।

सन्तानों का भरण-पोषण करनेवाले तथा इस रीति से समाज की सेवा में रत गृहस्थों के लिए अपवाद होते हुए भी अन्य सभी साधकों को काम की शक्ति तथा काम-सम्बन्धी विचारों की आध्यात्मिक-शक्ति में परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे प्रसुप्त आध्यात्मिक-चेतना के जागरण में, तथा उच्च-चेतना-केन्द्रों की ओर उसके प्रवाह में बहुत सहायता मिलती है, तथा साधक को नया आलोक और आनन्द प्राप्त होता है। गृहस्थों के

---

३. श्रीमद्‌भागवत् ११.१८.४३

लिए अपवाद इसलिए किया गया है, क्यों कि विवाहित-जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन यापन करना व्यावहारिक-दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके साथ ही गृहस्थ को क्रमशः आत्म संयम सीखने का निर्देश दिया जाता है।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, कि एक दो बच्चों के होने के बाद पति-पत्नी को भाई-बहन की तरह रहना चाहिए।[४] लेकिन ऐसे संयम को धारण करने के लिए पति और पत्नी दोनों को प्रारम्भ से ही प्रयत्न करना चाहिए। अनैतिकता का अर्थ विवाहेतर सम्बन्ध की अपवित्रता ही नहीं है, किसी अन्य स्त्री की ही तरह अपनी पत्नी के साथ भी सम्बन्ध अनैतिक हो सकते हैं। यदि कोई अपनी पत्नी के साथ अनियन्त्रित काम-जीवन व्यतीत करे, तो सच्चे आध्यात्मिक-प्रयास के लिए अति-आवश्यक शक्ति एवं तीव्रता वह कहाँ से पाएगा। इस सत्य को स्पष्टतया तथा गम्भीरता से समझ लेना चाहिए। उच्चतर जीवन-यापन करने के लिए महान् शक्ति की आवश्यकता है, और हम यदि प्रगति करना तथा पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमारी इस शक्ति को, जो वस्तुतः एक ही है, काम के रास्ते से व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। आध्यात्मिक-जीवन नैतिक विधि-विधान और सामान्यतः अच्छा कहलाने वाला जीवन मात्र नहीं है। उसके लिए महान् संयम और पवित्रता आवश्यक है। जो कोई उच्चतर जीवन-यापन करना चाहता है, उसे उसकी पूरी कीमत चुकानी चाहिए। इस विषय में सौदेबाजी नहीं हो सकती। यदि आध्यात्मिक जीवन को गम्भीरता से स्वीकार करना हो, तो विवाहित लोगों को भी महान् संयम बरतना चाहिए।

बाईबिल के 'नए व्याख्यान' में ईसा-मसीह मृत्योपरान्त जीवन के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं : "मृत्यु के बाद पुनर्जीवित होकर वे न विवाह करते हैं, और न ही विवाह में दिए जाते हैं, लेकिन स्वर्ग में ईश्वर के देवदूतों की तरह रहते हैं।"[५] हम बिरले ही कभी मृत्यु के बाद के जीवन के बारे में सोचते हैं। क्या मृत्योपरान्त जीवन में लोग विवाह और सन्तानोत्पत्ति करते हैं? मृत्यु के बाद जीव की क्या गति होती है? भविष्य उतना ही सत्य है, जितना वर्तमान, लेकिन बहुत कम लोग उसकी फिक्र करते हैं। अपने वर्तमान जीवन के आकर्षणों से मोहित हो, हम बिरले ही कभी भविष्य की सोचते हैं।

ब्रह्मचर्य का जीवन, संन्यासी अथवा संन्यासिनी का जीवन यापन करने की आन्तरिक इच्छा रखने वाले युवक और युवतियों को प्रोत्साहित और सहायता करना गृहस्थों का एक और कर्तव्य है। माँ सारदा कहा करती थीं, कि "एक अविवाहित व्यक्ति आधा-मुक्त है।" कई बार माता-पिता अपनी सभी सन्तानों को उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाहित-जीवन में घसीटने के लिए बहुत व्यग्र हो उठते हैं। श्रीरामकृष्ण के एक सुविख्यात शिष्य स्वामी योगानन्द के साथ क्या घटा था, तुम जानते हो? यौवनावस्था में वे विवाह कतई नहीं करना चाहते थे। लेकिन माता के आग्रह और आँसुओं को सहन न कर सकने के कारण, उन्होंने अन्ततः विवाह कर लिया। लेकिन विवाह के बाद भी वे एक शुद्ध जीवन व्यतीत करते रहे, तथा

---

४. श्रीरामकृष्णवचनामृत

५. बाईबिल, सन्त मैथ्यूस २२.३०

अपना सारा समय साधना में व्यतीत करते रहे। यह देखकर उनकी माँ ने पूछा, "यदि तुम गृहस्थ का जीवन व्यतीत नहीं करना चाहते थे, तो विवाह क्यों किया?" सरल युवक ने उत्तर दिया कि उसने उनके कारण विवाह किया है। इस पर माँ ने कहा, "बेटा! क्या कोई दूसरे के कहने से विवाह करता है? सभी अपनी इच्छा से विवाह करते हैं।" यह सुनकर योगीन भौचक्के रह गए। यह बहुत से परिवारों में होता है। माता-पिता अपने बच्चों को उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह में घसीट लेते हैं, और उसके बाद उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ देते हैं। कई बार माता-पिता विवाह के बाद भी बच्चों के जीवन में हस्तक्षेप करते रहते हैं, और इससे पारिवारिक-कलह होते हैं। यह भी सत्य है, कि सभी युवक-युवतियाँ अविवाहित नहीं रहना चाहते। यह भी सच है कि उनमें से बहुत से अपने मन के बारे में कुछ भी जाने बिना ब्रह्मचर्य और संन्यास की बातें करते हैं। लेकिन सदैव कुछ ऐसे अल्पसंख्यक पवित्र हृदय युवक और युवतियाँ होते हैं, जो एकान्तिक रूप से अपने मन-प्राण को एकमात्र परमात्मा को ही अर्पित करना चाहते हैं। इन में से कुछ को किसी मठ या ऐसे ही किसी स्थान में पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन यापन करने क्यों नहीं देते? इनमें से कुछ को पवित्रता और शुचिता के सौरभ का आस्वादन क्यों नहीं लेने देते?

इस सम्बन्ध में माँ सारदा ने एक बार अपनी एक भतीजी को जो कहा, वह उद्धृत करने योग्य है। एक दिन मनसा नामक एक युवक माँ सारदा के पास उनसे दीक्षा और गैरिक-वस्त्र प्राप्त करने की इच्छा से आया। माँ सारदा ने सहर्ष उसकी इच्छा पूर्ण की। इससे वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। सन्ध्या के समय वह काली मामा के घर बैठकर माँ जगदम्बा के भजन गा रहा था। माँ सारदा को वे भजन बहुत अच्छे लगे। उनके साथ उनकी भतीजियाँ राधू, माकू, नलिनी, एक दो भ्रातृ-वधुएँ तथा अन्य कुछ भक्त महिलाएँ बैठी थीं। एक भ्रातृ-वधू ने कहा, "माँ ने इस युवक को साधु बना दिया है।" इस पर माकू ने मन्तव्य देते हुए कहा, "हाँ! देखो, हमारी बुआ ने क्या किया है। वे इन अच्छे युवकों को संन्यासी बना रही हैं। इनके माता-पिता ने इन्हें बड़े कष्ट से बड़ा किया हैं। उनकी सभी आशाएँ इनमें केन्द्रित हैं। उन्होंने उनके बारे में कितनी आशाएँ की होगीं। वे सब अब भग्न हो गई हैं। और यह युवक अब क्या करेगा? या तो ऋषिकेश जाकर भिक्षा माँगेगा या फिर किसी अस्पताल में रोगी की टट्टी-पेशाब साफ करेगा। क्यों? विवाह करके संसार चलाना भी तो धर्म है। सुनो बुआ, यदि तुम इस तरह उन्हें साधु बनाओगी, तो महामाया तुमसे नाराज हो जाएँगी। यदि वे साधु होना चाहे, तो अपने से होवें, तुम उनके साधु होने में कारण क्यों होती हो?" माँ सारदा ने उत्तर दिया; "सुन माकू! ये सब दिव्य-शिशु हैं। ये संसार में अघ्राण-पुष्प की तरह पवित्र रहेंगे। इससे अच्छा और क्या हो सकता है? तूने स्वयं देख लिया है, कि सांसारिक-जीवन क्या सुख देता है। तूने इतने दिनों में मुझसे क्या सीखा? सांसारिक-जीवन के प्रति इतना आकर्षण क्यों? इतनी पाशविक-प्रवृत्ति क्यों? इस से तुझे क्या सुख मिलता है? क्या तुम स्वप्न में भी पवित्र-जीवन के आदर्श के बारे में नहीं सोच सकती? क्या तू अपने पति के साथ अब भी भाई-बहिन की तरह नहीं रह सकती? सूअर की तरह जीने की यह कैसी

इच्छा? संसार की इस ज्वाला ने मेरे हाड़ जला डाले हैं।''

अपनी काम प्रवृत्ति को कई वर्षों तक पूरी तरह नियन्त्रित रखने में समर्थ एवं मन-वचन कर्म से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले लोग उच्चतर स्तर पर अप्रत्याशित क्रियात्मक शक्ति अर्जित कर लेते हैं। वे ही वस्तुत: जीवन का आनन्द, यहाँ तक कि शारीरिक आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि वे ही अपनी देह और मन के स्वामी होते हैं, उन्हें अपनी इच्छानुसार परिचालित कर सकते हैं। एक अच्छे घुड़स्वार को अपने घोड़े पर सवारी करने, तथा उसे अपने निर्देशों का पालन करवाने में बहुत आनन्द आता है। संसारी लोग पूर्ण ब्रह्मचारी को उसकी देह में जो आनन्द मिलता है, उसको ही नहीं जानते, उसके मन के आनन्द की तो बात ही क्या।

अविवाहित साधकों को चेतावनी :

श्रीरामकृष्ण सदा अपने शिष्यों को, विशेषकर युवकों को कामिनी-काँचन के प्रलोभनों से सावधान किया करते थे। लेकिन अपने पास उपदेश के लिए आने वाली महिलाओं को वे कहा करते थे, ''पुरुष के मायाजाल से सावधान रहना, चाहे वह निकट सम्बन्धी ही क्यों न हो।'' मन, वचन, और कर्म से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना आध्यात्मिक जीवन में कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। साधक द्वारा उपलब्ध वास्तविक ब्रह्मचर्य की मात्रा के द्वारा ही उसकी समग्र प्रगति का अंकन होता है। प्रत्येक को विपरीत लिंग के प्रत्येक व्यक्ति के विषय में सतर्क होना चाहिए। वास्तविक ब्रह्मचर्य का अर्थ सम्भोग-वर्जन से अनन्त गुना कहीं अधिक है।

सभी अविवाहित व्यक्तियों को, चाहे वे कोई भी होवें, विपरीत लिंग के स्त्री और पुरुष के संग से दूर रहना चाहिए और प्रयत्न पूर्वक यौन-भाव का विपरीत चिन्तन करना चाहिए। विशेषकर आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में बहुत से लोगों में काम-प्रवृत्ति बलवती हो जाती है। भूमि में अच्छी तरह खाद और पानी देने से वाञ्छनीय पौधों के साथ साथ झाड़-झंखाड़ भी खूब बढ़ने लगते हैं। इन झाड़ झंखाड़ों के सिर उठाने पर उन्हें उखाड़ फेंकना पड़ता है। अन्यथा वे अच्छे पौधों पर पूरी तरह से छा जायेंगे और उन्हें नष्ट कर देंगे। इसका अर्थ यह है कि साधना के प्रारम्भिक कुछ वर्षों में हमें हमारे संग के बारे में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। यह कभी न सोचो कि तुम इतने बलवान हो कि इस निर्देश की तुम्हें आवश्यकता नहीं है। विपरीत लिंग के लोगों के साथ समय व्यतीत न करो, चाहे वे कितने ही पवित्र क्यों न हों। वास्तविक उदात्तीकरण की परिणति स्वरूप अपने व्यक्तित्व के सम्पूर्ण रूपान्तरण के पूर्व तक एकाग्रता का प्रभाव काम-कल्पना पर भी पड़ता है, जिससे अहितकर प्रतीत होने वाले कल्पना-चित्र अधिक स्पष्ट और जीवन्त हो उठते हैं, और आपातत: अहानिकर भावनाएँ प्रबल वासनाएँ बन जाती हैं। काम-जागरण केवल स्थूल रूप में ही नहीं होता। सूक्ष्म आकर्षण, सूक्ष्म प्रकार की उत्तेजनाएँ स्थूल से बुरी होती हैं, क्योंकि प्रारम्भिक साधक उन्हें स्थूल की तरह आसानी से पहचान नहीं पाता। कई बार मैंने साधकों को इस विषय में बहुत लापरवाही बरतते पाया है, और इसलिए बहुत से साधकों को कष्ट उठाना पड़ा है।

संगति के विषय में लापरवाही बरतने के दुष्परिणामों को बड़े अच्छे ढंग से प्रदर्शित करने वाली एक रोचक कथा है। एक बार एक ऊँट ने एक अरब के तम्बू के भीतर अपनी नाक को घुसेड़ा। अरबी व्यक्ति ने आपत्ति की तो ऊँट ने कहा, "ओह, मैं तो आपके कक्ष में अपनी नाक सिर्फ कुछ देर के लिए रखना चाहता हूँ। अधिक कुछ नहीं।" किन्तु वस्तुत: धीरे धीरे उसने अपने कुरूप मुँह को और उसके बाद पूरे शरीर को दरवाजे के भीतर घुसेड़ दिया, और जब मालिक ने उसकी उपस्थिती पर आपत्ति की तो उसने कहा, "अगर आप अपने मकान में मेरी उपस्थिति पसन्द नहीं करते, तो आप बाहर चले जाइये, मैं नहीं जाता।" काम कभी 'सेवा', कभी 'दया', कभी 'कर्तव्य', आदि के रूप में आता है। हमारा मन सदा हमें उसके वास्तविक हेतु के बारे में छलने के लिए तैयार रहता है। मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना आध्यात्मिक जीवन में कोई उपलब्धि सम्भव नहीं है। अचेतन और अवचेतन मन सदा हमें क्षति पहुँचाना चाहते हैं, और वे धैर्यपूर्वक इसके अवसर की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अत: तुम्हें बीच-बीच में अपने मन को अच्छी तरह फटकारते रहना चाहिए। उसे प्रबल सुझाव दो और नियन्त्रण में रखो। आखिर स्वामी तुम हो, मन नहीं। ऊँट को भीतर मत घुसने दो। अन्यथा उसे पुन: बाहर करने में तुम्हें बहुत कठिनाई होगी।

पुरुष-नारी तत्त्व के अतीत :

यदि तुम्हारे मन में किसी स्त्री का विचार आये तो उसे तत्काल श्रीमाँ सारदादेवी के रूप से या तुम्हारी अपनी माँ के रूप से जोड़ दो। लैंगिक विचार को तुरन्त नष्ट कर दो। मन से भी अपना नारी-संग मत होने दो। तन्त्रों के एक निर्देश के अनुसार सभी स्त्री-रूपों को उमा तथा सभी पुरुषरूपों को शिव से सम्बद्ध करना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन में यह दृष्टिकोण बड़े महत्त्व का है। एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक, जो शंकराचार्य द्वारा लिखा समझा जाता है, इस प्रकार है :

माता मे पार्वती देवी पिता देवो महेश्वर:।
बान्धवा: शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्।।[६]

अर्थात्, पार्वती मेरी माँ हैं, शिव मेरे पिता हैं! शिवभक्त मेरे मित्र हैं और त्रिलोक स्वदेश है।

परमात्मा को माता-पिता का रूप मानने वाला साधक विश्व में कहीं भी हो, सुरक्षित रहता है। परन्तु नया साधक सार्थकतापूर्वक ऐसा नहीं कर सकता। अत: उसे विपरीत लिंग के व्यक्तियों के साथ चलते-फिरते तथा बातचीत करते समय सतर्क रहना चाहिए।

कामुक विचारों के प्रभाव को निष्क्रिय करने का एक और कारगर उपाय है। जरा ऐसे स्त्री-पुरुषों का विचार करो जिन्हें यह पता ही नहीं कि यौन जीवन क्या है। वैसी कल्पना लाभकारी है। यदि तुम ऐसे पवित्र लोगों को नहीं जानते तो श्रीरामकृष्ण या श्री माँ सारदा का

---

६. शंकराचार्यकृत अन्नपूर्णा स्तोत्र -१२

चिन्तन करो जो यौन शुचिता के हर पहलू से जन्मजात मूर्तिमान आदर्श थे। इस प्रकार के विचार का हर रोज अभ्यास करो, और इसे अपनी आध्यात्मिक साधना का अंग बना लो। तुम्हारा स्व या अहं धीरे-धीरे ऐसे पवित्र चरित्रों के उदात्त गुण आत्मसात् करेगा और यथाक्रम पूर्णतः परिवर्तन अनुभव करेगा।

जीवन का यह उद्देश्य हो कि हम पुलिंग की तरह स्त्रीलिंग के तत्त्व का भी अतिक्रमण करके ऐसे स्तर पर पहुँचें जहाँ लिंगभेद बिल्कुल न हो। जीवन के निम्न स्तरों पर ही पुलिंग-स्त्रीलिंग की धारणा है, उच्च स्तरों पर लिंगभेद मिट जाते हैं। एक अन्य श्लोक में शंकराचार्य कहते हैं :

> आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
> पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
> संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
> यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।।[७]

अर्थात, हे शिव! आप मेरी आत्मा हैं। जगज्जननी गिरिजा मेरी बुद्धि हैं। मेरे प्राण आपके अनुचर और मेरा शरीर आपका निवासस्थान है। सभी इन्द्रिय-संस्पर्श आपकी पूजा के अंग हैं। मेरी निद्रा आपके ध्यान में समाधिमग्न रहने के समान है। जहाँ भी जाता हूँ, समझता हूँ आपकी परिक्रमा कर रहा हूँ। मेरे द्वारा उच्चारित सभी शब्द मानो आपकी स्तुति में स्तोत्र हैं और हे भगवन्! जिन क्रिया-कलापों में स्वयं को नियोजित करता हूँ वे सभी आपकी पूजा हैं।

साहसी ही सत्य का सामना करने में समर्थ :

साधक के जीवन में काम-बोध की इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है कि उसे कभी भी, यहाँ तक कि किसी चित्र को देख कर भी जाग्रत नहीं करना चाहिए। सर्व प्रथम 'मैं पुरुष हूँ' 'स्त्री हूँ' इत्यादि चिन्तन को त्याग कर अपने देहात्म-बोध को, अपने लिंग-बोध को कम करो। जिस मात्रा में तुम 'मैं एक पुरुष हूँ, एक स्त्री हूँ' इत्यादि चिन्तन त्यागने में सफल होगे, उसी मात्रा में तुम्हें एक नया दृष्टिकोण प्राप्त होगा तथा तुम्हारी नए प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होगीं। इस परिवर्तन से कुछ लोगों में, जिनकी चेतना देहात्म-बोध में केन्द्रित रहती है, तथा जो अपने को स्त्री अथवा पुरुष समझते हैं, अत्यन्त अस्थिरता पैदा हो जाती है। ऐसे लोगों को यह सत्य कहना भी कठिन है। हमें उस सत्य को इतना हल्का करना पड़ता है, कि उसका बहुत कम बचता है, और जो रहता है, उसे काम-चलाऊ आदर्श के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। केवल निष्ठावान् साधकों को इन विषयों का सम्पूर्ण सत्य कहा जा सकता है। अपने 'संन्यासी का गीत' में स्वामी विवेकानन्द की ओजस्वी वाणी है :

सत्य न आता पास, जहाँ यश-लोभ-काम का वास,
पूर्ण नहीं वह, स्त्री में जिसको होता पत्नी भास;

---

७. शंकराचार्य, शिवमानसपूजा - ४

अथवा वह जो किञ्चित भी सञ्चित करता निज पास।
वह भी पार नहीं कर पाता है माया का द्वार,
क्रोध-ग्रस्त जो, अत: छोड़कर निखिल वासना-भार;
गाओ धीर-वीर संन्यासी, गूँजे मन्त्रोच्चार,
ओम् तत् सत् ओम्।

ये सत्य अधिकांश लोगों की ग्रहण शक्ति से बाहर होते हैं। वे इन्हें सहन नहीं कर पाते, और अस्थिर हो जाते हैं। अत: कम मात्रा में सत्य कहना पड़ता है, कुछ समय तक सत्य के कम ताकत के इन्जेक्शन देने पड़ते हैं। लेकिन एक दिन सभी को उनका सामना करना होगा, तथा उनके अनुरूप आचरण करना होगा, भले ही उससे उनके हृदय विदीर्ण ही क्यों न हो जाएँ। केवल वीर पुरुष ही सत्य का सामना कर सकते हैं। वास्तविक आध्यात्मिक-जीवन में दुर्बलों के लिए कोई स्थान नहीं है। सच्चा धर्म, सच्चा वेदान्त मज़ाक नहीं है।

मन के छल से बचो :

सभी प्रलोभन मानसिक होते हैं। सामान्यत: तुम जो करते हो, वह नहीं, बल्कि जो तुम सोचते हो, वह अधिक कठिनाई पैदा करता है। अत: अपनी कल्पनाओं के बारे में सावधान रहो। दूसरे लोगों के स्पन्दन किस तरह तुम्हें प्रभावित करते हैं, इस विषय में सावधान रहो। उच्च संवेदनशीलता का अधिकाधिक विकास करो। मैंने कोई अपवित्र कार्य नहीं किया है" – यह कहना पर्याप्त नहीं है। दूसरों के संग में तुम्हें क्या अनुभव होता है, तुम्हारे मन में क्या विचार उठते हैं, वे लोग तुम्हें आकर्षित करते हैं या नहीं, इसका विश्लेषण करो। जिस क्षण तुम्हें आकर्षण या विकर्षण का अनुभव हो, सावधान हो जाओ। जो लोग तुम्हें प्रलोभित करें, उन्हें दूर से प्रणाम करो। सूक्ष्म दृष्टि से कोई भी आकर्षण अहानिकर नहीं है। इस विषय में स्वयं को कभी धोखा न दो। तुम्हें ऐसे लोगों से मिल जुल कर अपने अपवित्र संस्कारों को अपने मन में पुन: उठने नहीं देना चाहिए; जो उनको उठाने में सहायक हों। इस सलाह के अनुसार आचरण करके तथा प्रबल विरोधी चिन्तन प्रवाह के अभ्यास से तुम क्रमश: उन सभी अपवित्र संस्कारों को मिटाने में समर्थ होओगे, जिन्हें अपनी लापरवाही से तुमने मन में गहरे पैठने दिया है। तभी तुम्हारा आध्यात्मिक-जीवन कुछ मात्रा में सुरक्षित हो सकेगा। बार-बार विपरीत विचारों को मन में उठाने से प्रलोभन दुर्बल होते हैं और अंत में नए आध्यात्मिक विचार पुरानी स्मृतियों और संसर्गी का स्थान ले लेते हैं। लेकिन यह तभी संभव है, जब तुम निर्देशों का कड़ाई से पालन करो। मन को (एकाएक) अचानक विचारशून्य नहीं किया जा सकता। प्रारंभिक साधक के लिए ऐसा करने का प्रयास खतरनाक भी है। अत: उसे प्रारंभ में शुभ-विचारों का पोषण करना चाहिए। वैचारिक स्तर के अतिक्रमण का प्रश्न बहुत बाद में आता है।

मन पर नियन्त्रण अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे सम्भव होता है। लेकिन यदि तुम अपनी साधना में लापरवाही बरतो, तो उसकी कोई सम्भावना नहीं है। यदि तुम अपने ऊपर किसी

व्यक्ति के आकर्षण को प्रभुत्व जमाने दो, तो तुम चाहे कुछ भी क्यों न करो, अपने मन को संयत नहीं कर सकोगे। तब कुछ समय बाद तुम्हारा बुरा पतन अवश्य होगा। अगर तुम किसी स्त्री को तुम से पुरुष के रूप में मिलने दो, किसी स्त्री को तुम्हें आकृष्ट करने दो, तो मन के नियन्त्रण का प्रश्न ही नहीं उठता। तुम्हें सदा इस तरह आचरण करना चाहिए, कि प्रत्येक स्त्री यह अनुभव करे कि वह लिंग के स्तर पर तुम से भेंट नहीं कर सकती, कि तुम उसमें नारी नहीं देखते, तुम उसके अन्दर की नारी में कोई रुचि नहीं रखते। लेकिन प्रारम्भिक साधक के लिए विपरीत लिंग के व्यक्तियों के संग का यथासम्भव वर्जन तथा उनमें से किसी से भी आत्मीयतापूर्ण वार्तालाप न करना, एकमात्र उपाय है। यदि दूसरे हमारे मार्ग में रोड़ा होना चाहें, तो हमें उन्हें दूर हटाना होगा, भले ही इस से उन का दिल टूट जाए। हमारा सम्बन्ध पहले कितना ही घनिष्ठ क्यों न रहा हो, पर अब अलग होगा ही पड़ेगा। हानिकारक प्रेम से हर कीमत पर दूर रहना चाहिए। इस विषय में भावुक मत बनो। अन्यथा तुम्हें अपनी गलती और घमण्ड की कीमत चुकानी होगी।

अविवाहित युवक और युवतियों को अपनी मित्रता के विषय में बहुत सावधान रहना चाहिए। वे प्रायः अल्प-वयस् तथा बहुत भावुक होते हैं और अपने सच्चे इरादों को समझ नहीं पाते। कई बार काम कर्तव्य के आवरण में छिपा रहता है। ''उस युवक या युवती के प्रति दयालु होना मेरा कर्तव्य है।'' – जब ऐसा विचार तुम्हारे मन में उठे, तो उसका विश्लेषण करो। अधिकांश समय तुम पाओगे कि वह किसी व्यक्ति-विशेष से जुड़े रहने के लिए अच्छा लिबास पहने एवं कोई अच्छा बहाना बना रहा काम ही है। आरम्भ में ऊँट की केवल नाक ही दिखती है। अपने मन के फन्दे में मत फँसो। सम्भवतः तुम्हें सुनना पड़े, ''ओह! यदि तुम मुझे छोड़ दोगे, तो मेरा दिल टूट जाएगा।'' कुछ अवसरों पर तुम्हें दिल टूटने देना होगा। यदि दूसरा व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन की ओर न मुड़ना चाहे, और तुम्हें ऐसा करने से रोकना चाहे तो ऐसा दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। तुम्हें ऐसे व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति-सम्पन्न होना चाहिए, तथा उनके लिए प्रार्थना करनी चाहिए, लेकिन एक दूसरे से अलग होना अनिवार्य है। अन्यथा तुम दोनों सांसारिक जीवन में निमग्न हो जाओगे। महान् मानसिक-शक्ति आवश्यक है। सफलता लम्बे समय बाद मिलती है, लेकिन निरन्तर अथक संघर्ष करते रहना चाहिए। औषधि बहुत कटु है, लेकिन आरोग्य के लिए उसका सेवन आवश्यक है।

अविवाहितों के लिए निर्देश :

इन सारे कामुक लोगों के कारण, जिन से तुम्हारी प्रतिदिन भेंट होती है, तुम्हारे आध्यात्मिक-जीवन को तीव्रतर बनाना बहुत कठिन हो जाता है। सभी खतरनाक क्षेत्रों से, तथा ऐसे 'स्वतंत्र' लोगों से दूर रहो,जो अपनी स्वतंत्रता का गर्व करते हैं, लेकिन जो निरी गुलामी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि तुम्हें अपने ही लिंग के शुद्ध व्यक्ति न मिलें, तो सभी के संग से दूर रहो और एकमात्र भगवान के संग में रहो। अविवाहित लोगों के लिए

मुक्ति का यही एकमात्र मार्ग है। काम तथा कामुक-विषयों की चर्चा कभी न करो। किसी भी कामुक चित्र को न देखो। इन विषयों के उपन्यास अथवा कहानियाँ मत पढ़ो। काम से सम्बन्धित नाटक मत देखो। जब तक तुम्हारे भीतर द्वन्द्व चल रहा है, तब तक बाह्य कामुक उत्तेजना से दूर रहो। साधना-काल में कोई भी कामोत्तेजक पुस्तक नहीं पढ़नी चाहिए। या ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे कामोत्तेजना हो। ऐसा न करने पर हम उच्च साधना के लिए आवश्यक पवित्रता अर्जित कभी नहीं कर सकेंगे, तथा आगे या पीछे अवश्य कष्ट पाएँगे। तब फिर हमारी स्वतन्त्रता अथवा निर्भयता नहीं रहेगी। तब हम पूर्ण मानव के स्तर तक उठ नहीं सकेंगे और सदा न्यूनाधिक विकसित मस्तिष्क-युक्त पशु ही बने रहेगें।

आजन्म-ब्रह्मचर्य पालन के इच्छुक अविवाहित स्त्री-पुरुषों के लिए एक ईसाई संन्यासी के जीवन की निम्नोक्त घटना को याद रखना श्रेयस्कर होगा। यह बहुत शिक्षाप्रद है। एक दिन उसने एक संन्यासी साथी पर यह आरोप लगाया कि उसने एक महिला के साथ हाथ मिलाया है। उसे संन्यासी सभा के समक्ष पेश किया गया। उस साधु ने यह दलील दी कि उस महिला की अच्छी ख्याति है, तथा वह बहुत पवित्र और भक्तिमती है। लेकिन संन्यासी सभा के अध्यक्ष महान् संन्यासी ने उसे स्पष्ट रूप से कहा, "वर्षा निश्चय ही शुभ है, पृथ्वी भी शुभ है, लेकिन उनके मिलने से जो कीचड़ बनता है, वह अच्छा नहीं है। इसी तरह स्त्री और पुरुष के हाथ अच्छे हैं, लेकिन उन्हें असावधानी-पूर्वक मिलाने से बुरे विचार और भावनाएँ पैदा हो सकती हैं।" ब्रह्मचारी इस कहानी से बहुत शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। सदा विषय के मूल में जाना सीखो, और किसी कार्य अथवा विचार की प्रथम ऊपरी धारणा पर ही मत रुको। इस विषय में कोई प्राच्य या पाश्चात्य नहीं है। तुम प्राच्य वासी होओ या पाश्चात्य-वासी तुम्हें विपरीत लिंग के लोगों से मिलने-जुलने में सावधान रहना चाहिए। विवाहित लोगों को भी इस विषय में सावधान होना चाहिए। हिन्दू-शास्त्रों ने गृहस्थों के लिए यह विधान बनाया है, कि वे अपनी पत्नी के अतिरिक्त सभी स्त्रियों को माता के समान देखें। तुलसीदास की एक प्रसिद्ध उक्ति है :

सत्य वचन अधीनता पर-स्त्री मात समान,
इनसे यदि हरि ना मिलें तुलसी झूठ जबान।

सत्य से कभी भयभीत मत होओ, भले ही सत्य का अर्थ मृत्यु ही क्यों न हो। यदि सत्य तुम्हारा हृदय-विदीर्ण कर दे, तो कोई बात नहीं, यदि सत्य दूसरों का हृदय विदीर्ण कर दे, तो भी कोई बात नहीं। सत्य मिथ्या प्रतीतियों से अधिक शक्तिशाली और श्रेयस्कर है। सत्य के लिए अपने हृदय को टूटने दो। प्रारम्भ में सत्य उन सभी वस्तुओं को ध्वंस करता है, जो हमें प्रिय थीं। आध्यात्मिक-जीवन के लिए एक नई नींव की आवश्यकता है, और इस आधार पर धैर्य और सावधानी-पूर्वक भवन का निर्माण करना हैं। नई नींव डालने का अर्थ स्वाभाविक रूप से यह है कि पुरानी नींव नष्ट कर दी जाए। लेकिन परिणाम में यह हमें तथा दूसरों को शान्ति, मुक्ति और सुख प्रदान करता है। अपने विचारहीन कर्मों तथा वासनाओं के द्वारा बोए गए विष-वृक्ष को हमें निर्ममतापूर्वक काट डालना पड़ेगा। विष-वृक्ष

का पोषण करके, अब उसे काटना हमें बहुत कठिन भले ही लगता हो, पर उसे काटना ही होगा।

श्रीरामकृष्ण का सन्देश है :

"आध्यात्मिक बनो और अपने जीवन में सत्य का साक्षात्कार कर लो।" आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने से हम प्रभु को अपने जीवन में मूर्तरूप दे सकते हैं। मनुष्य में तरह तरह की वासनाएँ भरी हुई हैं। उनमें काम और लोभ की प्रवृत्तियाँ सर्वाधिक प्रबल हैं। श्रीरामकृष्ण ने हमें आध्यात्मिक जीवन के इन दो सब से प्रमुख शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का उपाय बताया है। उनका कथन है कि हम अपने और दूसरों के प्रति, स्त्री-पुरुषों के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपनाएँ। स्त्री और पुरुष दोनों के प्रति भगवत्-दृष्टि होनी चाहिए। हमें देह की दृष्टि से नर और नारी पर विचार नहीं करना चाहिए।

अपने और दुसरों के सम्बन्ध के लिए ध्यान में रखने का यह सब से महत्त्वपूर्ण निर्देश है और यही आधुनिक युग के लिए सब से आवश्यक सन्देश भी है। जो भी उपदेश श्रीरामकृष्ण ने दिये, वे पहले उनके तथा माँ सारदा के जीवन में उतरे। बिना पवित्रता के जीवन आध्यात्मिक नहीं हो सकता। स्वयं अपने भीतर तथा अन्य सभी नर-नारियों में परमात्मा को देखना ही विश्व की यौन-समस्या का तथा स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों का एकमात्र समाधान है। सब में परमात्मा को देखना ही एकमात्र व्यावहारिक हल है। वर्तमान काल में इस हल की जितनी आवश्यकता है, उतनी किसी भी काल में नहीं थी। 'काम' और 'काञ्चन' इस युग के प्रतीक हैं, क्योंकि यह प्रमुखतः काम और धन-देवता की पूजा का युग है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण को पराकाष्ठा तक जाना पड़ा था, काम को अस्वीकार करना पड़ा था और साथ ही काञ्चन को भी। आज ज्यों ज्यों हम पश्चिमी जीवन का अवलोकन करते हैं, त्यों त्यों सभी के लिए इस सन्देश का अधिकाधिक महत्त्व समझ में आता है।

आध्यात्मिक समाधान :

स्त्री अथवा पुरुष से घृणा करके अथवा संसार से पलायन कर के काम-भाव से ऊपर उठा नहीं जा सकता, जैसा कि कुछ पुरातन ईसाई सन्तों ने करने का प्रयत्न किया था। कुछ और आवश्यक है। घृणा भी एक प्रकार का नकारात्मक-आकर्षण है। काम-भाव का अतिक्रमण करने का एकमात्र उपाय सभी स्त्री-पुरुषों में भगवान् का दर्शन करना है। उपनिषद् का एक प्रसिद्ध श्लोक है :

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥[८]

अर्थात् – तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार और कुमारी भी हो, तुम दण्ड के सहारे

---

८. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.३

चल रहे वृद्ध हो, तुम्हीं ने ये सारे रूप धारण किए हैं।

लेकिन इस दृष्टिकोण के निर्माण के लिए स्वयं से आरम्भ करना होगा। बाहर की स्त्री खतरनाक नहीं है, बल्कि अन्दर का पुरुष खतरनाक है। तुम पुरुष हो, यह विचार त्याग दो, तो स्त्री भी विलुप्त हो जाएगी। सोचो कि तुम आत्मा अर्थात् परमात्म-चैतन्य की ज्योति हो, जो सभी देहों में प्रकाशित हो रही है। नित्य-शुद्ध आत्मा की इस धारणा को मन की गहराई में प्रविष्ट कराओ। प्रातःकाल आत्मा का चिन्तन करो, रात में सोने से पूर्व आत्मा का गहराई से चिन्तन करो, मन को उसके विचार से भर लो। साधक को आत्मा के बारे में निरन्तर सोचना चाहिए, कम से कम चित्त शुद्धि के लिए तो अवश्य सोचना चाहिए।

जैसा मैंने कई बार कहा है, हमारी सत्य की धारणा, हमारी अपने बारे में धारणा पर निर्भर करती है। यदि तुम स्वयं को पुरुष समझोगे, तो तुम एक स्त्री को स्त्री समझे बिना नहीं रह सकते। लेकिन यदि तुम स्वयं को प्रकाश-पुञ्ज या तारा समझो, तो अन्य सभी लोग भगवान् के इस अद्भुत गगन में तारा सदृश हो जाएँगे। स्वयं को आत्मा समझने की यह धारणा हिन्दू धर्म का एक मुख्य सिद्धान्त है। लेकिन बहुत कम लोग इसका पूरा लाभ उठाते हैं। वास्तविक ज्ञान लाभ के बहुत पहले ही, यह सिद्धान्त अपने आप में ही बहुत सहायक होता है। यदि तुम अपने मन को इस विचार से पूर्ण कर लो, तो तुम्हारा समग्र व्यक्तित्व उससे अतिरञ्जित हो जाएगा तथा तुम्हारा दृष्टिकोण तथा व्यवहार भी बदल जाएगा। यह परिवर्तन आध्यात्मिक-जीवन की मूलभूत आवश्यकता है।

हमारी चेतना में एक निश्चित परिवर्तन होना चाहिए। हमें अपनी चेतना को प्रयत्न पूर्वक निम्न केन्द्रों से उच्च केन्द्रों में लाना चाहिए। कुण्डलिनी शक्ति निम्न-केन्द्रों में कुण्डलाकार पड़ी है। जब तक काम-केन्द्र (मूलाधार-चक्र) सक्रिय रहता हैं, तब तक कुण्डलिनी निष्क्रिय रहती है। उसे जाग्रत करने के लिए मूलाधार को निष्क्रिय करना होगा। उस चक्र की क्रियाशीलता को बन्द किए बिना यदि किसी उपाय से (यथा प्राणायाम) कुण्डलिनी को जाग्रत किया जाए तो मूलाधार-चक्र अचानक अत्यधिक सक्रिय होकर साधक को महान् अनर्थ में गिरा सकता है। अतः कुण्डलिनी-जागरण के पूर्व मूलाधार चक्र को पूरी तरह बन्द कर देना चाहिए। यही नहीं, स्वाध्याय, प्रार्थना, ध्यान इत्यादि की सहायता से उच्च केन्द्रों को सक्रिय करना चाहिए। जाग्रत होने पर कुण्डलिनी को इन उच्च-केन्द्रों की ओर प्रवाहित करना चाहिए।

उच्च-केन्द्रों को सक्रिय बनाओ। अचेतन मन को धीरे-धीरे परिवर्तित करो। वह एक उर्वर भूमि है। तुम उसमें जो भी विचार बोओगे वे वहाँ बद्ध-मूल हो तत्काल बढ़ने लगेंगे। यदि तुम उसमें शुभ-विचारों का रोपण करोगे, तो वे वहाँ विकसित होंगे, और तुम पाओगे कि धीरे-धीरे आध्यात्मिक-जीवन के प्रति तुम्हारा आन्तरिक विरोध क्रमशः कम हो रहा है। वही मन, जो तुम्हारा विरोधी था, अब सहायक हो गया है। बंगाल के महान् सन्त रामप्रसाद का एक प्रसिद्ध भजन है :

मन, तुझे खेती करना नहीं आता। इतनी अच्छी मानव-जमीन खाली पड़ी हुई है। उसे जोतने पर तू सोना उगा सकता था, सोना।

काम की समस्या का सफल समाधान आत्मा के स्तर पर ही सम्भव है। आत्मा लिंग रहित है। आत्म-ज्योति का काम से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस आन्तरिक ज्योति का साक्षात्कार किए बिना कोई भी पूरी तरह काम-भाव को नहीं जीत सकता। उसका साक्षात्कार होने पर जिस शान्ति, आनन्द और मुक्ति का अनुभव होता है, उसे पाने के समस्त संघर्षों, कष्टों और दुःखों की तुलना में बहुत वह अधिक है।

अध्याय १३

ब्रह्मचर्य

(ब्रह्मचारियों के लिए विशेष निर्देश)

ब्रह्मचर्य की आवश्यकता :

स्वामी विवेकानन्दने ब्रह्मचर्य को बहुत महत्त्व दिया है। वे अपने शिष्यों से कहा करते थे : "ब्रह्मचर्य को अग्नि के समान तुम्हारी धमनियों में स्पन्दित होना चाहिए।" अपने 'राजयोग' में वे कहते हैं कि ब्रह्मचर्य से काम की शक्ति ओजस् नामक एक उच्चतर मानसिक शक्ति में परिवर्तित हो जाती है।

योगीगण कहते हैं कि मनुष्य में जो शक्ति काम क्रिया, काम-चिन्तन आदि रूपों में प्रकाशित हो रही है, उसका दमन करने पर वह सहज ही ओज में परिणत हो जाती है। और हमारे शरीर का सबसे नीचे वाला केन्द्र ही इस शक्ति का नियामक होने के कारण योगी इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देते हैं। वे सारी काम-शक्ति को ओज में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं। काम-जयी स्त्री-पुरुष ही इस ओज को मस्तिष्क में सञ्चित कर सकते हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य ही सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। मनुष्य यह अनुभव करता है, कि अगर वह कामुक हो, तो उसका सारा धर्म-भाव चला जाता है, चरित्र बल और मानसिक तेज नष्ट हो जाता है। इसी कारण, देखोगे, संसार में जिन-जिन सम्प्रदायों में बड़े-बड़े धर्मवीर पैदा हुए हैं, उन सभी सम्प्रदायों ने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है। इसीलिए विवाह-त्यागी संन्यासी-दल की उत्पत्ति हुई है। इस ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से तन, मन, वचन से पालन करना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के बिना राजयोग की साधना बड़े खतरे की है, क्योंकि उससे अन्त में मस्तिष्क का विषय विकार पैदा हो सकता है। यदि कोई राजयोग का अभ्यास करे और साथ ही अपवित्र जीवन यापन करे, तो वह भला किस प्रकार योगी होने की आशा कर सकता है? [१]

स्वामी ब्रह्मानन्दजी के आध्यात्मिक उपदेशों में हम पाते हैं :

देह, मस्तिष्क और मन के पूर्ण विकास और तेजस्विता के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। अखण्ड-ब्रह्मचर्य पालन करने से बहुत तीक्ष्ण स्मरण-शक्ति और मेधा-शक्ति का विकास होता है। ब्रह्मचर्य से एक विशेष नाड़ी विकसित होती है, जिससे ऐसी अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती

---

१. विवेकानंद साहित्य – १. (१९६३) पृ. ८२

हैं। क्या तुम जानते हो, हमारे महान् आचार्यों ने ब्रह्मचर्य को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया है? वह इसलिए, कि इसमें असफल होने पर मानव का सब-कुछ नष्ट हो जाता है। अखण्ड-ब्रह्मचारी वीर्य का क्षय नहीं करता। वह पहलवान जैसा भले ही न दिखे, लेकिन उसके मस्तिष्क का विकास अत्यन्त सूक्ष्म होता है, और उसमें अतीन्द्रिय-रहस्यों को समझने और ग्रहण करने की अद्‌भुत क्षमता होती है। [२]

स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने एक बार मुझसे कहा था : "वत्स! देह और मन को यदि सांसारिक भोगों में लगाओगे, तो संसार उन दोनों को नष्ट कर देगा। उन्हें भगवान् और भगवान् की सेवा में लगाओगे तो तुम्हे स्वस्थ देह, मन की शान्ति और आध्यात्मिक-सुख प्राप्त होगा।"[३]

अपना सर्वस्व, अपना स्वास्थ्य, धन, यौवन, क्षमताएँ सब कुछ परमात्मा को अर्पण करो। यदि इन्हें तुम संसार को दोगे, तो संसार उन्हें दूषित कर देगा, और अन्त में तुम्हें सारहीन, सर्वस्व-विहीन बनाकर छोड़ेगा। अविद्या और ध्वंसात्मक शक्तियाँ सर्वत्र हैं। यह भूलकर यदि हम बिना विचारे सांसारिक जीवन की ओर अग्रसर होंगे तो अन्त में हमें उसके परिणाम भुगतने होंगे।

ब्रह्मचर्य-पालन की एक समस्या यह है कि हम लोगों को उसके बिना भी जीते और सफल होते देखते हैं। सांसारिक जीवन के विषय में यह सत्य हो सकता है। ब्रह्मचर्य तुम्हें बौद्धिक-प्रतिभा सम्पन्न या पहलवान शायद न बनाए, पर वह देह और मन को अवश्य श्रेष्ठतर बनाता है। लेकिन ब्रह्मचर्य का मुख्य उद्देश्य 'मेधा-नाड़ी' नामक आध्यात्मिक क्षमता का विकास करना है, जिसका उल्लेख स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने किया है। दस या बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करने पर व्यक्ति इस 'नाड़ी' या क्षमता के उदय का अनुभव करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति में प्रसुप्त प्रज्ञा-शक्ति है। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने इसके बारे में कहा है। यह एक सिद्धान्त मात्र नहीं है।

यही नहीं, ब्रह्मचर्य मस्तिष्क की पुष्टि और तेजस्विता के लिए आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले लोगों का मस्तिष्क ध्यान का प्रयत्न करने पर बहुत जल्दी गरम हो जाता है। सबल और ठण्डे मस्तिष्क बिना दीर्घकालीन ध्यान असम्भव है। ब्रह्मचर्य के अभाव में मस्तिष्क लम्बे समय तक ध्यान के महान् तनाव को सहन नहीं कर सकता।

सत्य तो यह है कि उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के लिए ब्रह्मचर्य नितान्त आवश्यक है। लेकिन लोग साधना के प्रारम्भ में ही हतोत्साहित न हो जाएँ, इसलिए यह बात बिल्कुल स्पष्ट रूप में उन्हें नहीं बतायी जाती। वास्तविकता यह है कि मन, वचन और कर्म में अखण्ड ब्रह्मचर्य के बिना सच्चा ध्यान और किसी भी प्रकार का उच्चतर आध्यात्मिक-जीवन सम्भव नहीं है। पूर्ण ब्रह्मचर्य और पवित्रता के बिना उच्चतर आध्यात्मिक जीवन स्वाभाविक नहीं हो

---

२. स्वामी प्रभवानन्द कृत द इटरनल कम्पेनिअन, (१९७८), पृ. २३८ ३. वही १९७१, पृ. ८४

पाता। लेकिन हम सामान्यत: लोगों को निराश न करने के लिए कम आग्रहपूर्वक घुमा-फिरा कर इस विषय में बात करते हैं।

आध्यात्मिक-जीवन का प्रथम लक्ष्य चेतना के उच्चतर केन्द्रों को जाग्रत करना है। ध्यान उच्चतर केन्द्रों में से किसी एक में किया जाता है, और इसके लिए सर्वप्रथम तो उसे जाग्रत या विकसित करना आवश्यक है। यदि निम्न-केन्द्र अत्यधिक सक्रिय हों, तो यह कैसे संभव होगा? उच्चतर आध्यात्मिक-स्तरों पर क्रियान्वयन के लिए खाली बची मानसिक शक्ति की मूल राशि अधिक नहीं है। यदि सारी राशि को निम्न केन्द्रों में प्रवाहित किया जाए, तो उच्च केन्द्र विकसित नहीं होगें।

निम्न-चक्रों की गतिविधि को यदि बन्द न किया जाए, तो साधक अपने को कभी भी उच्च स्तर पर बनाए नहीं रख सकेगा, चाहे इस विषय में लोग कुछ भी क्यों न सोचें या कहें। सच पूछा जाए तो, यदि इन चक्रों को कार्य करते रहने दिया जाए, तो आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं है। उनकी गतिविधि बन्द करो। जब तक तुम यह नहीं करोगे, तब तक उच्चतर चक्र ठीक से काम नहीं कर सकते। भवन की पहली मञ्जिल के सभी नलों को खोल देने पर ऊपर की मञ्जिलों में पानी बहुत कम या बिल्कुल नहीं पहुँचता है।

कुछ लोगों को अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किए बिना भी कुछ आध्यात्मिक अनुभूतियों की झलक मिल गयी हो, लेकिन वे उच्च स्तर पर बने रहने में कभी सफल नहीं हो सकते और उनके द्वारा उच्चस्तर की अनुभूतियाँ कभी प्राप्त नहीं की ज़ा सकतीं। यदि साधक उच्चस्तर का जीवन यापन करना चाहता है, और उच्चतर अनुभूतियाँ प्राप्त करना चाहता है, तो उसे हर हालत में ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। और कोई रास्ता नहीं है। आध्यात्मिक जीवन का यह साफ साफ सत्य है।

पाश्चात्य देशों में ब्रह्मचर्य की गलत धारणाएँ :

पाश्चात्य देशों में समस्या यह है कि वहाँ आध्यात्मिक आदर्श को बहुत नीचा कर दिया गया है तथा उसे नैतिकता मात्र के स्तर तक ले आया गया है। कोई भी प्रत्यक्ष अतिचेतन-अनुभूति की चिन्ता नहीं करता। लोग इतने दरिद्र-बुद्धि हैं कि वे थोड़े से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। थोड़ा-सा अच्छा मनोभाव ही उनके लिए पर्याप्त होता है। और उसके बाद वे उसको बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। नैतिक-जीवन आध्यात्मिक-जीवन नहीं है, क्योंकि एक सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति सदा नैतिक आचरण करता है, क्योंकि वह उसके लिए स्वाभाविक और उसकी आदत बन गया होता है। उच्च आध्यात्मिक अनुभूति के लिए परम्परागत नैतिकता ही पर्याप्त नहीं है। व्यक्तित्व का एक सम्पूर्ण रूपान्तरण आवश्यक है। ईसा मसीह के पर्वतीय उपदेश का सार यह है : "अत: तुम भी पूर्ण होओ, जिस तरह से तुम्हारे स्वर्गस्थ पिता पूर्ण हैं।"[४] ईसा मसीह द्वारा उपदिष्ट धर्म मुख्यतः संन्यासियों के लिए था। प्रत्येक साधक के

---

४. बाईबिल, सन्त मैथ्यूज ५.४८

लिए, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, संन्यास-जीवन का अनुशासन तथा आत्म-त्याग कुछ मात्रा में आवश्यक है, यदि वह सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति चाहता है। ब्रह्मचर्य और संन्यास का परित्याग करने के कारण प्रोटेस्टेन्टिज्म ने पाश्चात्य आध्यात्मिक परम्परा की बहुत हानि की है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने अचेतन मन के स्वरूप, स्वप्नों, मनोग्रन्थियों, प्रेरणाओं, दमन आदि के बारे में अपने अनुसन्धानों द्वारा मानवता की महान् सेवा की है। लेकिन उनमें से अनेकों में वासनाओं की उन्मुक्त अभिव्यक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उतनी ही हानि भी की है। अनेक प्रमुख मनोविश्लेषकों ने भले ही ऐसे श्रेष्ठ विज्ञान के इस प्रकार के दुरुपयोग का विरोध किया है, फिर भी यह सिद्धान्त कि काम का दमन हानिकारक है, पाश्चात्य देशों में तेजी से लोकप्रिय हो रहा है। इसके विपरीत योग-मनोविज्ञान की मान्यता है कि आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए काम का सचेतन दमन हानिकारक तो है ही नहीं, बल्कि वह नितान्त आवश्यक भी है। अस्वाभाविक दमन हानिकारक हो सकता है, लेकिन योग पद्धति द्वारा किया गया दमन, जिसमें भगवत्प्रेम और ध्यान द्वारा यौन-प्रवृत्ति का उदात्तीकरण किया जाता है, हानिकारक नहीं है। प्रारम्भ में इससे तनाव और द्वन्द्व पैदा हो सकते हैं। लेकिन क्या कोई ऐसा उच्च उद्यम या साहसिक कार्य है, जिसमें तनाव और संघर्ष न हों? सच्चा और निष्ठावान् साधक शीघ्र सभी आन्तरिक कठिनाईयों को जीत लेता है, और भगवत्कृपा से निम्न-स्तर के द्वन्द्वों से मुक्त हो उच्च-स्तर पर पहुँच जाता है।

आजकल पाश्चात्य देशों में चित्तशुद्धि को महत्त्व दिए बिना वेदान्त को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। पाश्चात्य में अनेक व्यक्ति अद्वैत-वेदान्त की ओर, उसकी उदात्तता तथा यौक्तिक सौन्दर्य के कारण आकृष्ट होते हैं। लेकिन बौद्धिक स्वीकृति मात्र पर्याप्त नहीं है। बहुत से लोग सोचते हैं कि अद्वैत के लिए ब्रह्मचर्य और अन्य सद्गुण आवश्यक नहीं हैं। यह सत्य नहीं है। इसके विपरीत अद्वैत के लिए मन और इन्द्रियों का कठोरतम नियंत्रण आवश्यक है। एक जीवन्मुक्त पुरुष सामाजिक मान्यताओं को अधिक महत्त्व भले ही न दे, लेकिन वह ब्रह्मचर्य जैसे मौलिक सद्गुणों का न तो खण्डन करता है, न कर सकता है। ये उसके स्वभाव के अंग बन जाते हैं। वेदान्त-सारमें एक श्लोक है, जिसमें कहा गया है : "यदि अद्वैत-तत्त्व का ज्ञाता यथेच्छाचरण करे, तो अशुचि-भक्षण की दृष्टि से कुत्ते और तत्त्वज्ञ में क्या भेद होगा?" [५]

महान् सन्तों के प्रमाण :

ईसाई, बौद्ध और हिन्दू-धर्म के उच्चतर दर्जों में मन, वचन और कर्म द्वारा अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन को बहुत महत्त्व दिया गया है। यह बात 'पर्वतीय उपदेश' में, बौद्धों के 'विनय पिटक' में, 'गीता', 'उपनिषद्' और 'श्रीमद्भागवत' में पायी जाती है। साधक के

---

५. सदानन्द योगीन्द्र कृत वेदान्तसार, २२३, सुरेश्वराचार्य कृत नैष्कर्म्यसिद्धि से उद्धृत ४.६२

लिए सामाजिक मान्यता प्राप्त नैतिक जीवन मात्र पर्याप्त नहीं है। उसे नैतिक गुणों में, विशेषकर ब्रह्मचर्य में, पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए। उसे अपनी काम-प्रवृत्ति को पूरी तरह नियन्त्रित करना चाहिए।

विश्व के सभी महान् साधक-सन्तों ने सदा ब्रह्मचर्य को अत्यधिक महत्त्व दिया है। ब्रदर गाइल्स प्रारम्भ में एक निरक्षर किसान थे, लेकिन बाद में असीसी के सन्त फ्रांसिस के प्रमुख शिष्यों में से एक हुए। सभी निष्ठावान साधकों को इन ब्रदर गाइल्स के शब्दों को याद रखना चाहिए :

अन्य सभी सद्गुणों में मैं ब्रह्मचर्य को प्रथम स्थान दूँगा, क्यों कि सुखप्रद ब्रह्मचर्य अपने आप में सम्पूर्ण है। लेकिन ब्रह्मचर्य के बिना और कोई सद्गुण कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता।

यथार्थतः ब्रह्मचर्य का अर्थ हमारी शारीरिक और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का सयत्न और निरन्तर संयम है, ताकि उन्हें एकमात्र परमात्मा के लिए विशुद्ध और निष्पाप रखा जा सके।

प्रत्येक दुर्गुण पवित्र ब्रह्मचर्य की विशुद्ध-ज्योति को कलुषित और धूमिल करता है, क्योंकि वह एक स्पष्ट दर्पण के समान है, जो अपवित्र एवं कलुषित करने वाली वस्तुओं के संस्पर्श से ही नहीं, अपितु मानव की श्वास मात्र से भी धूमिल और काला हो जाता है। जब तक मानव में कामवासना की ओर झुकाव है, तब तक उसके लिए कोई भी आध्यात्मिक वरदान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः तुम चाहे किसी भी मार्ग पर क्यों न चलो, जब तक तुम शारीरिक भोग के दोष पर विजय प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक तुम कोई आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कर सकते। अतः तुम्हारे विरुद्ध दिन-रात युद्ध कर रहे तुम्हारे सबसे खतरनाक शत्रु कामुक और कोमल देह के विरुद्ध वीरतापूर्वक युद्ध करो। और यह जानो कि जो हमारे इस भयानक शत्रु पर विजय प्राप्त करेगा, वह निश्चित रूप से अपने अन्य सभी शत्रुओं को पराजित और पराभूत कर देगा। वह आध्यात्मिक वरदान तथा सभी सद्गुणों और सिद्धियों का अधिकारी होगा। [६]

ब्रह्मचर्य निश्चित रूप से आध्यात्मिक-जीवन की पहली आवश्यकता है। और जो लोग तन, मन, वचन और कर्म से अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन को तत्पर नहीं हैं, वे उच्चतर सत्यों की कुछ झलक भले ही पा लें, पर वे उच्च आध्यात्मिक स्तर पर कभी भी (स्थायित्वपूर्वक) बने नहीं रह सकेगें। वे पुनः पुनः पतित होगें तथा उच्चतम अनुभूति और उच्चतर प्रकार का आध्यात्मिक जीवन कभी लाभ नहीं कर सकेगें।

ब्रह्मचर्य की साधना – भौतिक उपाय :

अब प्रश्न यह है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कैसे किया जाय? कौन से नियमों का पालन करना चाहिए? सर्वप्रथम यह याद रखो कि शत्रु का सामने से मुकाबला कभी न करो। इन्द्रियों से लड़ने की एक कला है जिसे सीख लेना चाहिए। कभी भी बहुत कठोरता मत

---

६. टीचिंग्स ऑफ ब्रदर गाइल्स, (लन्दन, बर्न्स, ओट्स वाशर बोर्न एण्ड को., १९३५)

बरतो। कभी-कभी पहले उचित मन:स्थिति का निर्माण किए बिना हम अत्यधिक कठोरता द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। यह बहुत खतरनाक है, और ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। कभी-कभी निम्न मन:स्थिति में रहते हुए, उच्चतर मन:स्थिति का निर्माण किए बगैर हम बहुत कठोरतापूर्वक अपने आप को संयत करने का प्रयत्न करते हैं। इसके परिणामस्वरूप स्वाभाविक ही अत्यन्त भयानक शारीरिक और मानसिक प्रतिक्रिया होती है, और हमारी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, या पूरी तरह रुक जाती है। अत: हमें इच्छाशक्ति की सहायता से सर्वप्रथम मन को उठाना और उच्चतर मनोभाव का निर्माण करना चाहिए और उसके बाद थोड़े से प्रयास द्वारा कार्य-सिद्धि की जा सकती है। हमें तीव्र प्रतिक्रियाओं का खतरा कभी मोल नहीं लेना चाहिए। इस विषय में ब्रदर गाइल्स एक सुन्दर सलाह देते हैं :

जो व्यक्ति एक बड़े पत्थर या और किसी भारी वजन को उठा कर उसे किसी दूसरे स्थान पर ले जाना चाहता है, उसे बल के बदले युक्ति द्वारा उसे हिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। अत: यदि हम अपवित्रता के दुर्गुण पर विजय प्राप्त करना और ब्रह्मचर्य के सद्‌गुण को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें दु:साहस तथा हठपूर्वक यातनादायक तपस्याओं के बदले आध्यात्मिक अनुशासन का तथा अच्छी समझदारी और विनय का मार्ग अपनाना चाहिए।

कितनी बढ़िया सलाह है यह! लीवर या सब्बल के प्रयोग के बारे में विचार करो। इस सामान्य से उपाय से तुम ऐसी भारी वस्तुओं को उठा सकते हो, जिन्हें तुम अपने यन्त्र-विहीन हाथों से कभी नहीं उठा सकते। मजे की बात तो यह है, कि सांसारिक बातों में तो हम इतने चतुर और सतर्क, इतने व्यवहार-पटु और निपुण हैं, लेकिन आध्यात्मिक-जीवन और साधना के विषय में उतने ही प्रमादी और मूर्ख हैं। लेकिन महान् साधक-योगियों की बात बिल्कुल विपरीत होती है। वे आध्यात्मिक क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक हुआ करते थे। वे सांसारिक-समृद्धि के विषय में उदासीन रहते थे, लेकिन आध्यात्मिक विषयों में अत्यन्त सजग और दक्ष हुआ करते थे।

लोग काम के वेग पर विजय पाने के लिए अनेक भौतिक उपायों का प्रयोग करते हैं। इनमें से कुछ की आंशिक उपयोगिता है, लेकिन उनपर बहुत अधिक भरोसा नहीं करना चाहिए। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहते हैं :

ब्रह्मचारी को कुछ नियम पालन करने चाहिए। उसे उत्तेजक-आहार, अति-निद्रा, अतिश्रम, आलस्य, असत् संग, और अशुभ वार्तालाप से दूर रहना चाहिए।[७]

कुछ लोग कठोर शारीरिक व्यायाम करते हैं। इस से आवश्यकता से अधिक सञ्चित ऊर्जा क्षय भले ही होती हो, पर यह सही तरीका नहीं है। ब्रह्मचर्य की साधना करने वालों को यह ध्यान रखना चाहिए कि वे अपने शरीर में उतनी ऊर्जा से अधिक ऊर्जा सञ्चित न करें, जितनी का वे उपयोग कर सकें। यदि वे अधिक प्राण-शक्ति को अपने भीतर उठती

७. इटरनल कम्पेनिअन (१९७८), पृ. २३८

पाएँ, तो उन्हें कुछ दिनों के लिए अपने आहार की मात्रा कम कर देनी चाहिए।

हम सभी में एक मौलिक सृजनात्मक प्रेरणा विद्यमान रहती है। यदि इसे उदात्त बनाकर उच्चतर दिशा में प्रेरित न किया जाए, तो वह निम्न-चक्रों/केन्द्रों के माध्यम से व्यक्त होने का प्रयत्न करती है। जिन प्रारम्भिक साधकों के लिए सदा ईश्वर का चिन्तन करना असम्भव है, जो अपनी समग्र ऊर्जा को ध्यान, प्रार्थना और भगवद्-आराधना में नियोजित नहीं कर सकते, उन्हें किसी रचनात्मक कार्य में अपने को लगाना चाहिए। इसके साथ स्वाध्याय और गहन चिन्तन भी सहायक होते हैं। उच्च-केन्द्रों को सदा क्रियाशील बनाए रखो।

मन को शान्त बनाए रखने में सन्तुलित श्वास-प्रश्वास बहुत सहायक होता है। मन के चञ्चल होने पर अनेक प्रकार की भावनाएँ तथा मनोवेग उत्पन्न होते हैं। सदा सन्तुलित श्वास-प्रश्वास का अभ्यास करो। इससे तुम्हें अपनी समस्त देह पर नियन्त्रण का भाव प्राप्त होगा, और तुम्हारा मन सजग होगा। लेकिन इसे प्राणायाम नहीं समझना चाहिए, जिसका अभ्यास अधिकांश साधकों के लिए खतरनाक है। इसके बदले केवल सन्तुलित श्वास-प्रश्वास का अभ्यास करो।

देह को स्वच्छ रखने की आदत डालना सभी के लिए बहुत आवश्यक है। अपनी देह और कपड़ों को साफ एवं पवित्र रखो। स्नान और धुलाई को केवल एक अनुष्ठान या रस्म के रूप में ही नहीं लेना चाहिए, जैसा भारत में प्राय: होता है। शारीरिक स्वच्छता के साथ मानसिक स्वच्छता भी होनी चाहिए। चित्तशुद्धि सबसे महत्त्वपूर्ण है। पतञ्जलि कहते हैं :

"शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।"[८]

अर्थात् – शौच के अभ्यास से स्वयं की देह के प्रति वितृष्णा और दूसरों की देह के सम्पर्क में आने की अनिच्छा होती है।

लेकिन इसे मनोविज्ञों द्वारा कथित 'शुचि-सनक' में अपभ्रष्ट नहीं हो जाना चाहिए, जो एक प्रकार का मानसिक रोग है। पतञ्जलि के उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

जब यथार्थ बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के शौच सिद्ध हो जाते हैं, तब शरीर के प्रति उदासीनता आ जाती है उसे कैसे अच्छा रखें, कैसे सुंदर दिखेगा, ये सब भाव बिल्कुल चले जाते हैं। सांसारिक लोग जिसे अत्यन्त सुन्दर मुख कहेंगे, उसमें यदि ज्ञान का कोई चिह्न न हो, तो वही योगी के निकट पशु के मुख के समान प्रतीत होगा। संसार के मनुष्य जिस मुख में कोई विशेषता नहीं देखते, उसके पीछे यदि चैतन्य का प्रकाश हो, तो योगी उसे स्वर्गीय मुखश्री कहेंगे। यह देह-तृष्णा मानव-जीवन के लिए अभिशाप स्वरूप है। अत: शौच प्रतिष्ठा का पहला लक्षण यह दिखेगा कि तुम शरीर के प्रति उदासीन हो जाओगे, तुम्हारे मन में यह विचार तक न उठेगा, कि तुम्हारे शरीर है भी। जब यह पवित्रता हम में आती है तभी हम देह

---

८. पा. यो. सू. २.४०

भाव के ऊपर उठ सकते हैं।[९]

सत्संग ब्रह्मचर्य पालन में बहुत सहायक होता है। ऐसे शुद्ध हृदय लोगों का संग, जिन्होंने स्वयं पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया है, संघर्षरत साधकों पर गहरा प्रभाव डालता है। लेकिन इस संग से लाभ उठाने के लिए साधक को अपवित्र लोगों के संग से दूर रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य की रक्षा में असत् संग से अधिक हानिकारक संभवत: और कुछ नहीं है।

मानसिक स्तर पर कामजय :

फिर भी भौतिक उपायों मात्र से काम, जिसकी जड़ें व्यक्तित्व की गहराई में होती हैं, पर विजय कभी नहीं पायी जा सकती। मानसिक स्तर पर समस्या का समाधान करना सबसे महत्त्वपूर्ण है। हम देखते हैं कि, कल्पना की हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। काम-कल्पनाओं के अतिरिक्त काम सूक्ष्म-रूप में हमारे सामान्य चिन्तन के साथ संयुक्त हो जाता है। फ्रायड ने सामान्य मानव के जीवन में काम की भूमिका को निश्चित रूप से अतिरञ्जित किया है, फिर भी मानव की कल्पना की क्षमता और काम के बीच कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। यह सम्बन्ध असत् संग के कारण प्राय: बलवान् हो उठता है, जिसके फलस्वरूप बहुत से लोग अवाञ्छनीय कल्पनाएँ करने लगते हैं। यदि प्रलोभन के सभी विषयों से अपने को दूर रखा जाए, तो इन सारी बातों से विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी गलत प्रकार की कल्पनाएँ और ग्लानि के भाव के कारण बहुत से साधकों को बहुत कष्ट होता है। लेकिन इस पर बैठे-बैठे सोचना समस्या को बदतर बना देता है। कल्पना की समस्या को सुनियोजित रूप से हल करना चाहिए।

यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि मन अशुभ कल्पना-चित्रों का निर्माण न करे और उनका चिन्तन न करता रहे। यह विपरीत प्रकार के चिन्तन से ही सम्भव हो सकता है। पतञ्जलि अपने योग सूत्रों में यही सुझाव देते हैं : "वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्"[१०]– अर्थात् योग के विरोधी विचारों को दूर करने के लिए प्रतिपक्ष-भावना करनी चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण उपाय साधकों के लिए बहुत सहायक सिद्ध होता है। निरन्तर शुभ चिन्तन द्वारा समग्र पुराने असत्-चिन्तन समूह को परिवर्तित किया जा सकता है। हम शारीरिक दृष्टि से किसी बुरी अथवा अपवित्र वस्तु के निकट होते हुए भी उससे मानसिक अथवा भावनात्मक दृष्टि से बहुत दूर हो सकते हैं। अप्रभावित रहने के लिए हमें एक दृढ़ मानसिक-बाधा पैदा करनी चाहिए, जो वैचारिक स्तर पर हमारी रक्षा कर सके। किन्तु यही पर्याप्त नहीं है। यह एक नकारात्मक प्रणाली है। हमें एक सकारात्मक पक्ष का भी समावेश करना चाहिए; अर्थात् हमें अत्यन्त तीव्रता के साथ, हमारे समग्र मन को परिपूर्ण करते हुए भगवान् का या किसी दिव्य महापुरुष का चिन्तन करना चाहिए। अपने को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से

---

९. विवेकानन्द साहित्य – १, (१९६३), पृ. १८०-१८१ १०. पा. यो. सू. २.३३

प्रलोभन से दूर रखो, फिर अपने मन-बुद्धि को एकमात्र परमात्मा में लगाए रखो। और उसे प्रलोभन के विषय की ओर भटकने न दो। प्रलोभन के निकट शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से न जाओ। इस तरह हम बड़ी आसानी से तथा स्वाभाविक रूप से प्रलोभित करने वाली वस्तुओं एवं व्यक्तियों से अपने को दूर रखना, उनके और अपने बीच एक दृढ़ बाधा निर्मित करना और उनसे अप्रभावित रहना सीखते हैं।

भौतिक सान्निध्य ही एकमात्र खतरा नहीं है। हमें प्रलोभित करनेवाला व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से बहुत दूर हो, फिर भी हम उसके प्रति तीव्र मानसिक, आकर्षण का अनुभव कर सकते हैं। अत: हमें आकर्षित करने वाला व्यक्ति या प्रलोभित करने वाली वस्तु शारीरिक दृष्टि से निकट न होते हुए भी, केवल मानसिक स्तर पर हो, तो भी हमें वही बात पूरी तरह और सावधानी पूर्वक करनी चाहिए, जिसका हमें शारीरिक स्तर पर करने का निर्देश दिया गया है। अर्थात् हमें उस व्यक्ति से किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिए, बल्कि उस स्त्री अथवा पुरुष से मन ही मन सम्पर्क विच्छेद करना चाहिए, प्रलोभित करने वाली वस्तु से सम्बन्धित सभी विचारों को दूर कर देना चाहिए। तथा एक दृढ़ बाधा अथवा उस व्यक्ति के प्रति वितृष्णा या घृणा तक की भावना पैदा करनी चाहिए। और इतना सब करने के बाद हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने विचार और भावनाएँ पूरी तरह एकमात्र परमात्मा में लगा दें। प्रलोभन के विषय के प्रति वितृष्णा अथवा घृणा की भावना पैदा करना अन्तिम समाधान नहीं है। लेकिन बहुत से लोगों के लिए वह भावनाओं और वासनाओं के उदात्तीकरण की एक सीढ़ी के रूप में बहुत सहायक सिद्ध होता है। अत: उसका उपयोग किया जा सकता है।

यह कार्य सचेतन रूप से सोद्देश्य व सुचारू रूप से करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही साथ मन में अन्तर्द्वन्द्व हो रहे हों अथवा वह चञ्चल हो, मन में भयानक खींच-तान चल रही हो, फिर भी अधिक जप, ध्यान और प्रार्थना की जा सकती है अथवा मन को उदात्त बनाने वाले किसी शास्त्रांश का पाठ किया जा सकता है। किसी न किसी प्रकार से सभी साधकों को आध्यात्मिक चिन्तन के एक प्रबल विपरीत विचार-प्रवाह को उठाना चाहिए।

सचमुच देखा जाए तो हमारी सारी समस्याएँ शारीरिक के बदले मानसिक अधिक होती हैं, और जब तक मानसिक समस्या नहीं होगी तब तक कोई भी शारीरिक समस्या कभी नहीं सो सकती। बाहरी उत्तेजना कुछ भी हो, जब तक हमारे भीतर कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी, तब तक प्रलोभन का कोई कारण नहीं हो सकता। अत: दूसरों की अपेक्षा हमारा दोष अधिक है।

यदि समस्या के उदित होते ही हम उच्चतर मनोभाव का निर्माण न कर सकें, तो सर्वप्रथम हमें प्रलोभित कर रही वस्तु या व्यक्ति से अलग हो जाना चाहिए, और उसके बाद उच्चतर मनोभाव बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इन सभी परिस्थितियों में सचेतन रूप से और जानबूझ कर प्रलोभन के विषय से सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिए। जो लोग सदा

उच्चतर मन:स्थिति में रहते हैं, वे कम प्रलोभित होते हैं। भगवत्-विस्मरण अथवा अपने विशुद्ध आत्म-स्वरूप के विस्मरण और मन के सांसारिक स्तर पर विचरण करने से ही व्यक्ति पर बार-बार प्रलोभनों का आक्रमण होता है। सदा शुभ विचारों और कल्पनाओं का एक भण्डार अपने पास रखो, जिससे अवाञ्छनीय विचार अथवा मनोभाव के उदित होकर मानसिक अथवा शारीरिक स्तर पर अभिव्यक्त होने का प्रयास करते ही उनका शस्त्र के रूप में उपयोग किया जा सके। मान लो, कोई व्यक्ति तुम्हें आकर्षित करता है। तत्काल एक अत्यन्त प्रबल विरोधी-चित्र मन में उठाओ। कल्पना करो कि वह व्यक्ति तुम्हें नीचे घसीट रहा है और साथ ही उस व्यक्ति के प्रतिपक्ष में अपने इष्ट का चित्र अंकित करते हुए तीव्रता पूर्वक उनका चिन्तन करो। इस तरह प्रलोभन की वस्तु के सूक्ष्म आकर्षण से बच निकलना तथा उसके प्रति विचार और भाव का परिवर्तन करना आसान हो जाता है। लेकिन अपने इष्ट देवता को तीव्रतापूर्वक प्रेम करना चाहिए। इष्ट देवता को अतिशय प्रेम करने वाले लोग शारीरिक सौन्दर्य और यौन आकर्षण से आसानी से प्रभावित नहीं होते।

मन में उठ रहे सभी रूपों को तुम्हारे वास्तविक स्वरूप नित्य-प्रकाशित आत्म-ज्योति में विलीन करना, एक अन्य प्रभावशाली उपाय है। प्रलोभन अचेतन मन के अन्धकारमय प्रदेशों में ही उदित होते हैं। आत्मा के अन्वेषण-आलोक को इन समस्त अन्धकारमय स्थानों की ओर मोड़ दो। आत्मा के प्रकाश में वे समस्त छुपी हुई वीभत्स आकृतियाँ विनष्ट हो जाएंगी। चेतन धरातल के नीचे विद्यमान सभी रूपों को आत्म-चेतना के समक्ष लाओ और तुम देखोगे कि वे तत्काल गायब हो जायेगें। आत्म-चैतन्य का ऐसा महान् प्रभाव है। लेकिन बहुत कम लोग ऐसा करना चाहते हैं।

देखो, सारी समस्या यह है कि हमारे कल्पना-चित्र हमारे लिए यथार्थ हो गए हैं। हम भूल गए हैं कि कल्पनाएँ केवल कल्पनाएँ हैं। प्रत्येक कल्पना-चित्र मानो एक यथार्थ व्यक्ति बनकर हमारा पीछा करता रहता है। हमें इन कल्पनाओं को प्राणहीन करना सीखना चाहिए। प्रारम्भ में यह कठिन हो सकता है। ऐसी स्थिति में बुरे चित्रों को निष्फल करने के लिए अन्य शुभ-चित्रों का निर्माण करना चाहिए। लेकिन चित्रों को प्रभावहीन करने की कला सभी को कभी न कभी सीखनी होगी। किसी स्त्री या पुरुष की ओर आकृष्ट होने पर, यदि तुम उसे केवल एक छाया या सारहीन वस्तु समझ सको, तो उस स्त्री या पुरुष के प्रति तुम्हारा आकर्षण दूर हो जाएगा और संघर्ष बहुत आसान हो जाएगा। लेकिन सामान्यत: आकर्षण इतना प्रबल होता है और हमारा मन इतना विभ्रमित और गलत मान्यताओं से पूर्ण रहता है, कि हम अधिकांश अवसरों पर यह करना ही नहीं चाहते।

काम-जय के लिए और व्यावहारिक सुझाव :

अपने उच्च-चक्रों के प्रति सजग होओ। चेतना के उच्चतर केन्द्रों (हृदय अथवा मस्तिष्क) को पकड़े रहो। तब तुम पाओगे कि तुम प्रलोभित करने वाले व्यक्ति या वस्तु से

उच्चतर स्तर पर हो। नीचे उतरने पर ही तुम पकड़े जाते हो। सदा उच्च-स्तर पर बने रहो। किसी भी तीव्र प्रलोभन के पूर्व चेतना के स्तर का पतन होता है। सर्वप्रथम तुम स्वयं उच्च मन:स्थिति से गिर जाते हो और उसके बाद तुम दूसरों के हाथों पड़ते हो। अत: सदा उच्चतर केन्द्र को पकड़े रहो।

यदि तुम्हारा मन निम्नगामी होने लगे, तो उसे कहो, "ऊपर उठो, निम्न केन्द्रों में क्यों पड़े हो?" उसे पुकारने का प्रयत्न करो, "मन, तुम कैसे मूर्ख हो, जो काम और भोग के पीछे भाग रहे हो। क्या तुम्हें शर्म नहीं आती? तुम्हें तो अधिक ज्ञान होना चाहिए।" मन के साथ मित्र का सा व्यवहार करो। एक आन्तरिक शत्रु मत बनाओ। मन को आध्यात्मिक जीवन में अपना साथी और सहभागी बनाओ।

कभी-कभी, विशेषकर उच्चतर प्रकार की कल्पना में असमर्थ लोगों के लिए मानव शरीर रचना की कल्पना करना एक अच्छा उपाय है। क्या तुमने किसी अजायबघर या प्रयोग शाला में मानव का कंकाल नहीं देखा है? तुम्हें आकृष्ट कर रहे सुन्दर रूप के बदले तुम्हें कंकाल को, भोंडी मुस्कान युक्त हड्डी के ढाँचे को देखना चाहिए। यदि चाहो तो उसके साथ रक्त, आँतें, नसें और अन्य अप्रिय वस्तुएँ जोड़ सकते हो। यह आखिर असत्य कल्पना तो नहीं है। मानव-शरीर का यही सत्य है। केवल हम इस सत्य को भूल गये हैं। हम केवल चमड़ी देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। चिकित्सक लोग भी, जो शरीर रचना के बारे में सब कुछ जानते हैं, इस सत्य को भूल जाते हैं।

काम के आक्रमण और यौन-आकर्षण पर विजय पाने का सबसे प्रभावशाली उपाय स्वयं को आत्मा समझना है। हमें स्वयं तथा दूसरों के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करना चाहिए। हमें स्वयं को भिन्न दृष्टि से, सत्यतर दृष्टिसे देखना सीखना चाहिए। स्वयं को बार-बार कहो : "मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं देह नहीं हूँ। मै आत्मा हूँ, मै गुणातीत, उपाधिरहित चैतन्य और आनन्दस्वरूप हूँ। मैं यह भौतिक देह नहीं हूँ, जिसके साथ मेरा कुछ समय के लिए संयोग हुआ है। मैं लिंगरहित हूँ इत्यादि।" यदि हम अपने दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन कर सकें तथा सचमुच उसका अनुभव कर सकें, तो हम सुरक्षित हो जाएँगे। इस विचार को प्रात:काल ध्यान के समय तथा रात्रि को सोने से पहले अपने मन की गहराई में प्रविष्ट कराओ। प्रारम्भ में ये केवल सुझाव मात्र प्रतीत होते हैं, लेकिन पुन: पुन: अभ्यास से ये तुम्हारे दृष्टिकोण के अंग बन जाएंगे तथा तुम्हारे चिन्तन एवं कार्य को प्रभावित करने लगेंगे।

निरन्तर एक तरह से सोचने की एक आदत बन जाती है, और एक बार ऐसा होने पर अन्य सारी बातें आसान हो जाती हैं। और यदि उच्चतर मनोभूमि पर आरोहण किया जा सके, तो ऐसा चिन्तन बड़ी आसानी से, बिना अधिक तनाव के किया जा सकता है। कंगारू शिशु का दृष्टान्त लो। खतरे का आभास पाते ही वह माँ की थैली में कूद पड़ता है। शिशु-कंगारू के लिए माँ की थैली का जो महत्त्व है, वही तुम्हारे लिए तुम्हारी चेतना का केन्द्र होना

चाहिए। समस्या पैदा होते ही चेतना के उच्च केन्द्र में अपने इष्ट के सान्निध्य में जाने का प्रयत्न करो। तब तुम सुरक्षित रहोगे। कठोरतापूर्वक आचरण के द्वारा अनावश्यक प्रतिक्रिया पैदा न करो। ज्योंही तुम अपने इष्ट को त्याग देते हो, त्यों ही मन निम्नगामी हो सांसारिक आकर्षण अनुभव करने लगता है, और तब तुम कहीं के नहीं रहते।

अपने सभी विचारों को इष्ट देवता के साथ संयुक्त करना सीखो। जो लोग अपने इष्ट देवता को अत्यधिक प्रेम करते हैं, उन्हें काम नहीं सताता। इतने अस्पष्ट, सूक्ष्म प्रतीत होने वाले आदर्श (परमात्मा) को प्रेम करने की असमर्थता लोगों की पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन में कठिनाई का एक मुख्य कारण है।

अपनी इन्द्रियों, बाह्य आकर्षणों अथवा मानसिक चित्रों से संघर्ष करते समय हमारे पास प्रयोग के लिए अनेक शस्त्र होने चाहिएँ। केवल एक अस्त्र पर भरोसा मत करो। जप, किसी पवित्र शास्त्रांश की आवृत्ति अथवा प्रार्थना, एकाग्रता-पूर्वक किसी दिव्य महापुरुष की तीव्र कल्पना, सन्तुलित श्वास-प्रश्वास, सत्संग, प्रतिपक्ष भावना इनमें से किसी का भी उपयोग परिस्थिती के अनुसार किया जा सकता है।

चरम समाधान – चेतना का परिवर्तन :

ब्रह्मचर्य-विषयक जिन बातों की चर्चा ऊपर की गई है, वे आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ करने वाले साधक के लिए कही गयी हैं। ये प्रारम्भिक साधनाएँ तब तक आवश्यक हैं, जब तक साधक समस्या की गहराई में जाने के लिए समर्थ नहीं हो जाता। लेकिन समस्या का चरम समाधान आत्म-बोध या चेतना के परिवर्तन में निहित है। लिंग-बोध देहात्म-बोध का ही एक अंग है और देहात्म-बोध का अतिक्रमण किये बिना विचार और आचार से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है। जब तक साधक में आध्यात्मिकता का जागरण नहीं होता, तथा उसका स्थूल देह-बोध अतीन्द्रिय चेतना में बदल नहीं जाता, तब तक लिंग-बोध किसी न किसी रूप में बना रहेगा।

अनाहत चक्र या हृदय केन्द्र को जाग्रत करना होगा। साधक को अतीन्द्रिय ज्योति के आनन्द का अनुभव होना चाहिए। साधक जब आध्यात्मिक अनुभूति के आनन्द का आस्वादन पाता है, तब काम की समस्या के मूल में विद्यमान सुख की लालसा नष्ट हो जाती है। ब्रह्मचारी की अन्य सभी इच्छाएँ कुछ हद तक पूर्ण होती हैं, लेकिन कामेच्छा की तृप्ती नहीं होती। इस समस्या का समाधान हृदय-चक्र के आनन्द के अनुभव पर ही हो सकता है। हृदय-स्थित चक्र के जाग्रत होने पर आत्म-ज्योति के दर्शन होते हैं। इस ज्योति की शोभा और महिमा में शारीरिक-सौन्दर्य और इन्द्रिय-सुख की लालसा समाप्त हो जाती है। बहुत से पुरुष स्त्रियों के प्रति जिस आकर्षण का अनुभव करते हैं, उस पर विजय पाने का यही एकमात्र उपाय है।

उच्च अनुभूति के बाद निम्न-स्तर पर आने पर साधक के मन में उस उच्च अवस्था

की स्मृति बनी रहती है, और सांसारिक-प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती है, जो उसे अब क्षुद्र और हीन प्रतीत होते हैं। तब वह इन्द्रिय-सुख के बदले केवल आध्यात्मिक आनन्द की कामना करता है।

तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य की समस्या का आध्यात्मिक-अनुभूति की बृहत्तर समस्या के साथ सीधा सम्बन्ध है। आध्यात्मिक-अनुभूति कैसे प्राप्त करना, देहात्म-बोध को कैसे रूपान्तरित करना, उच्चतर केन्द्रों को कैसे जाग्रत करना, मन को उच्च-स्तर पर कैसे बनाए रखना, इत्यादि साधक के मुख्य उद्देश्य होने चाहिएँ। जब यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अनुसंधान उसके मन पर छा जाएगा, उसकी कल्पना को अभिभूत करेगा, तब काम की समस्या धीरे-धीरे क्षीण होती हुई विलुप्त हो जायेगी।

अध्याय १४
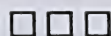
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः

साधक का एक महत्त्वपूर्ण गुण है, बल – शारीरिक और मानसिक बल। आध्यात्मिक जीवन में दुर्बलों के लिए कोई स्थान नहीं है। उपनिषद में कहा गया है : यह आत्मा बलहीन के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:'।[१]

शारीरिक बल :

सर्वप्रथम देह सबल होनी चाहिए। पहलवान होने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन देह को स्वस्थ और पर्याप्त मात्रा में बलवान होना चाहिए, ताकि वह साधना के महान् मानसिक तनाव को सहन कर सके। देह के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण मत अपनाओ। तुम्हारी यह देह एक श्रेष्ठ वस्तु है, वह परमात्मा का मन्दिर है। उसके साथ तादाम्य स्थापित करना या उसमें आसक्त होना आवश्यक नहीं है। उसे निवास स्थान या अपने द्वारा परिचालित यन्त्र माना जा सकता है। उसे शुद्ध और सुगठित रखो। नियमित व्यायाम करो। योगासन अवश्य बहुत अच्छे हैं, लेकिन यदि तुम उन सभी को न कर सको, तो खुले स्थान में कुछ सरल व्यायाम कर सकते हो। मैं ये बातें इसलिए कह रहा हूँ, कि साधकों में अपने शारीरिक स्वास्थ्य की उपेक्षा करने की आदत होती है। आध्यात्मिक संघर्ष के प्रारम्भिक दिनों में जब बहुत से अन्तर्द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है, तुम सबल शरीर के महत्त्व को सम्भवत: न समझ सको। लेकिन बाद में, जब तुम्हारा आध्यात्मिक-जीवन उतार-चढ़ाव रहित हो जाएगा और तुम लम्बे समय तक ध्यान करने में समर्थ होओगे, तब तुम्हें पता चलेगा कि एक स्वस्थ शरीर कितना बड़ा वरदान है।

हमारी यह देह संसार-सागर को पार करने की नौका के समान है। यह ध्यान रखो कि इसमें कहीं छेद न हो जाये। अत्यधिक भोजन कभी न करो। पुष्टिकारक हल्का भोजन करो। सभी प्रकार के व्यसनों से दूर रहो। मस्तिष्क को ठण्डा और सबल रखने के लिए पूर्ण-ब्रह्मचर्य आवश्यक है। जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, उनका मस्तिष्क बड़ी आसानी से गर्म हो जाता है। ब्रह्मचर्य के बिना मस्तिष्क में दीर्घ-काल तक ध्यान को सहन करने की शक्ति नहीं रहती।

---

१. मुण्डकोपनिषद् ३.२.४

जिस प्रकार एक सधे हुए घोड़े की सवारी करने में आनन्द आता हैं, उसी तरह एक स्वस्थ और संयत देह में रहना बहुत आनन्दप्रद है। कामोपभोग-लोलुप व्यक्ति एक शुद्ध और पवित्र देह कितना आनन्द प्रदान करती है, इसका अनुमान नहीं लगा सकता। संयम और पवित्रता प्रारम्भ में तनाव और दुःख के कारण हो सकते हैं, लेकिन बाद में वे महान् सुख शान्ति और सन्तोष प्रदान करते हैं।

एक स्वस्थ एवं बलवान् मन निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। दुर्बल मन वाले लोग उच्च आदर्श को ग्रहण नहीं कर सकते और उसकी उच्च कीमत नहीं चुका सकते। वे आध्यात्मिक-जीवन के लिए आवश्यक संघर्षों और त्याग से भयभीत हो जाते हैं। अपने मन को, अपनी इच्छाशक्ति को बलिष्ठ बनाओ।

मानसिक शक्ति के मापदण्ड श्रद्धा और अध्यवसाय :

श्रद्धा और अध्यवसाय मानसिक शक्ति के मापदण्ड हैं। केवल एक बलवान् मन में ही दृढ़-विश्वास हो सकता है। तुम्हें ऐसा दृढ़-विश्वास होना चाहिए : "मैं आध्यात्म-जगत् में कुछ उपलब्धि कर सकता हूँ।" आध्यात्मिक-जीवन में सफलता आध्यात्मिक-लक्ष्य को दृढ़ता और लगन के साथ पकड़े रहने से प्राप्त होती है। लौकिक-स्तर के समस्त विभ्रम और अन्धकार के बीच हमें चिन्तन, भावना, इच्छा और क्रिया की एक निश्चित प्रणाली को पकड़े रहना चाहिए, अन्यथा आध्यात्मिक जीवन व्यर्थ जाता है। ऐसा प्रायः होता है कि बहुत से साधक बड़े उत्साह के साथ साधना प्रारम्भ करते हैं, लेकिन जब उन्हें बहुत सी बाधाओं का, जिनमें से अधिकांश उन्हीं की निर्मित होती हैं, सामना करना पड़ता है, तो उनका उत्साह गायब हो जाता है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द अपने अनुयाइयों में चाहते थे, लक्ष्य को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहना अत्यावश्यक है।

महान् सन्तों और अवतारों के जीवन का अवलोकन करो। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन को देखो। उनमें कैसी महान् मानसिक शक्ति थी, कैसी शक्तिशाली इच्छाशक्ति थी। आध्यात्मिक-जीवन में सफल होने के लिए उनके समान दृढ़ता और अध्यवसाय की आवश्यकता है। हम यदि असफल भी हो जाएँ, तो भी हमें हार नहीं माननी चाहिए, और प्रयास बन्द नहीं करना चाहिए। हम भले ही गिर जाएँ, पर पुनः उठ खड़े होना चाहिए। आध्यात्मिक-जीवन कभी सरल नहीं होता। वह बिरले ही कभी सीधी लकीर की तरह होता है। लेकिन इसे बार-बार गिरने का बहाना नहीं बनाना चाहिए। यदि तुम संघर्ष में लगे रहो, और गिरने के बाद हर बार उठ खड़े होना सीख लो, तो तुम्हें महान् मानसिक-बल और विवेक की शक्ति प्राप्त होगी।

निर्णय लेने की क्षमता :

दृढ़-निर्णय लेने की क्षमता मानसिक बल का दूसरा लक्षण है। अनिर्णय की

मन:स्थिति सदा मानसिक-दुर्बलता की द्योतक है। उसका अर्थ यह है कि तुम्हारे मन में कोई बिना सुलझा अन्तर्द्वन्द्व है, और अन्तर्द्वन्द्व व्यक्तित्व के सौष्ठव को हानि पहुँचाता है। यदि हम बहुत समय तक अनिर्णय की स्थिति में बने रहें, तो बलवान् होने के बदले हम दुर्बल होते हैं। अनिर्णय की स्थिति में बहुत समय तक बने रहना और उसके बाद मन को बलवान बनाने का प्रयत्न करना मूर्खतापूर्ण है। हमें छोटी-बातों में भी बहुत स्पष्ट निर्णय लेना चाहिए। तब बड़ी बातों में निर्णय लेना आसान हो जाता है। जीवन की छोटी से छोटी बात को विचारपूर्वक, सचेतन रूप से, निर्णयात्मक रूप में, मन, भावना और इच्छा इन सभी पहलुओं में सन्तुलन बनाकर, करना चाहिए। जीवन में प्रारम्भ से ही शुभ आदतों का निर्माण करो। एक सुनियोजित जीवन बहुत सहायक होता है। यदि हम प्रतिदिन एक नियमित दिनचर्या का कड़ाई से पालन करें, तो जीवन की बहुत सी छोटी-मोटी समस्याएँ चिन्ता और अनिश्चितता पैदा नहीं करेगी। तब अधिक महत्त्वपूर्ण बातों के लिए हमारे पास अधिक शक्ति और समय रहेगा। जो लोग क्या खाना, क्या पहनना, कैसे चलना, कैसे बैठना इत्यादि का निर्णय करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं, वे लोग भगवान् का निरन्तर स्मरण कैसे कर सकते हैं। हमें बिस्तर पर आधे घण्टे तक पड़े-पड़े यह सोचते नहीं रहना चाहिए कि मुझे उठना चाहिए या नहीं। या तो तत्काल उठ जाओ या और आधे घण्टे तक सो लो, लेकिन अनिर्णय की स्थिति में मत रहो। मैं ध्यान करूँ या नहीं? – तत्काल निर्णय लो। अनिर्णय बहुत हानिकारक है।

तुम्हारी इच्छा हो या न हो, अपना स्वाध्याय, ध्यान, कर्म इत्यादि निश्चित समय पर करो। जीवन की छोटी-छोटी बातों को तुम्हें निरन्तर तंग करने देकर, तुम्हारी शक्ति का क्षय मत करने दो।

शुभ-विचारों को नियन्त्रित रखने की क्षमता :

अशुभ विचारों और मनोवेगों पर काबू रखने के लिए ही नहीं बल्कि शुभ-विचारों और संवेगों को नियन्त्रित करने के लिए भी शक्ति आवश्यक है। क्यों कि प्राय: देखा जाता है, कि जो लोग अपनी शुभ भावनाओं और मनोवेगों को नियन्त्रित नहीं कर पाते, वे अशुभ भावनाओं और मनोवेगों को भी नहीं रोक पाते। भावनाएँ, वे चाहे अच्छी हों या बुरी, नियन्त्रित होनी चाहिएं। उन्हें संयत रखने की हमारी शक्ति को बढ़ाना चाहिए, और यह बहुत आवश्यक है। हमें अपनी भावनाओं पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करना चाहिए, तथा पूरी तरह सजग और निश्चित होना चाहिए।

यदि हम किसी शुभ भावना को मन की गहराई में पहुँचा सकें, तो वह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को, हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अतिरञ्जित कर देगी। अच्छी भावनाओं और अच्छे अनुभवों को अन्तर में संजो कर रखना चाहिए। यदि हम उन्हें बार-बार अभिव्यक्त करें; तो उनकी प्रेरक शक्ति नष्ट हो जाती है। वाष्प इंजिन की परिचालिका-शक्ति वाष्प के महान् चाप

के कारण होती है। यदि वाष्प को समय से पूर्व ही निकलने दिया जाय, तो परिचालिका शक्ति नहीं बचेगी और इंजिन आगे नहीं बढ़ पायेगा। पुस्तकों तथा सन्तों के संग से एवं अपनी स्वयं की साधना से भी प्राप्त शुभ भावनाओं और विचारों को अन्तर्मन में उस समय तक संजो कर रखना चाहिए, जब तक वे हमारे चरित्र का आवश्यक रूपान्तरण न कर दें। इसीलिए अपने स्वप्न के अनुभवों अथवा आध्यात्मिक अनुभूतियों को दूसरों से कहने का निषेध किया गया है। लेकिन प्राय: लोग अपनी तथाकथित अनुभूतियों का ढिंढोरा पीटते रहते हैं। यह एक प्रकार का भोग है जिसका आध्यात्मिक जीवन से कोई लेना-देना नहीं है। सच्चे साधक अपनी आध्यात्मिक-भावनाओं के विषय में भी संयत और दृढ़ रहते हैं। वे भले बाहर से संयत दिखाई देते हों, लेकिन अन्तर में बहुत संवेदनशील होते हैं।

यदि तुम अचानक अपने मन में उठ रहे शुभ भाव को नियन्त्रित नहीं कर सकते, तो तुम बुरे मनोभाव के मन में उठते ही उस के द्वारा पराभूत हो जाओगे। पहले महान् अध्यवसायपूर्वक मूल का सञ्चय करो। उसके बाद ब्याज का व्यय करो। सर्वप्रथम तुम्हारे पास एक विशाल सञ्चित मूल-राशि होना चाहिए, अन्यथा यदि तुम मूल का ही व्यय करो, तो अन्त में तुम दिवालिए हो जाओगे। तीव्रतम भावनाएँ रखो, लेकिन अपनी भावनाओं के स्वामी बनो।

निर्भयता :

निर्भयता, मानसिक शक्ति का एक और लक्षण है। कई बार भय के कारण हमारी बहुत-सी शक्ति नष्ट हो जाती है। हमें अति साहसी नहीं होना चाहिए, और यह नहीं सोचना चाहिए कि हम बहुत सुरक्षित हैं। लेकिन जिस व्यक्ति को सदा गिरने का भय लगा रहता है, वह अवश्य गिरता है। उसी तरह अत्यधिक आत्म-विश्वासी व्यक्ति भी अवश्य फिसलता है। ज्यों-ज्यों हम उच्च से उच्चतर स्तर पर आरोहण करते हैं, त्यों-त्यों गिरने और फिसलने का भय बढ़ता जाता है। लेकिन यह कोई कारण नहीं, कि हम निरन्तर गिरने के भय से अभिभूत रहें।

दृश्य-जगत् में, सापेक्ष स्तर पर कोई सुरक्षा नहीं है। भगवद्दर्शन से ही पूर्ण-निर्भयता प्राप्त हो सकती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक उक्ति है, "जनक, अब तुमने निर्भयता प्राप्त की है।"[२] यह पूर्ण निर्भयता की स्थिती है, जो आत्म-साक्षात्कार के बाद प्राप्त होती है। उपनिषद् में ब्रह्म को अभय के समानार्थक कहा गया है। "अभय निश्चय ही ब्रह्म है"[३] एक अन्य उपनिषद् में कहा गया है "जब व्यक्ति द्वैत-दर्शन करता है, तब उसे भय होता है"[४] हम जितना अधिक अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करेंगे, जितना अधिक परमात्मा का

२. अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। - बृह. उप. ४.२.४ तथा ४.४.२२

३. अभयं वै ब्रह्म – बृह. उप. ३.४.२५

४. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।। – तै. उप. २.७.१

सर्वत्र दर्शन करेंगे, उतने ही निर्भय होंगे।

एक दूसरे प्रकार का भय है, दूसरे लोगों का भय। "दूसरे लोग मेरे बारे में क्या सोचेगें?" दूसरों को जो चाहे सोचने दो। यदि तुम्हें पूर्ण विश्वास है, कि तुमने जिस पथ को चुना है, वह सत्य है, तो लोग तुम्हारे बारे में कुछ कहें या सोचें, उससे क्या फर्क पड़ता है? तुम्हारे समग्र जीवन को प्रभावित करनेवाले सिद्धान्त के विषय में दूसरों से समझौता न करो। हीनबुद्धि लोगों के भय से आध्यात्मिक जीवन के ऐश्वर्य को मत खोओ। श्रीरामकृष्ण वचनामृत में हम श्रीरामकृष्ण को नरेन्द्र से यह कहते पाते हैं, कि दूसरों की आलोचना की उसी तरह उपेक्षा करनी चाहिए, जिस तरह हाथी कुत्तों के भोंकने की करता है।[५]

श्रीरामकृष्ण यह भी कहते हैं, कि जब तक साधक में लज्जा, घृणा और भय – हैं, तब तक वह आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता।[६]

सबको सन्तुष्ट करना असम्भव है। यदि कोई हमसे असहमत है, तो बहुतों की हमसे सहमति भी होगी। जो हो, हमें सभी पहलुओं पर विचार कर जो हमें ठीक लगे, वह करना चाहिए। कभी-कभी मैं यहाँ तक कहता हूँ कि यदि कोई व्यक्ति सभी को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है, तो निश्चय ही उसमें त्रुटि है। यदि हम अपने भीतर परमात्म-ज्योति का चिन्तन करें, तो हम देखेगें कि लोगों का हमारे प्रति मनोभाव अनायास परिवर्तित हो रहा है।

दूसरों के साथ व्यवहार करते समय हमें अपना आन्तरिक सन्तुलन बनाए रखना चाहिए और साथ ही दूसरों का भला या उनकी सहायता करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमें निःस्वार्थ होना चाहिए, लेकिन इतना बलवान् होना चाहिए कि दूसरों को हमारी शक्ति का विश्वास हो जावे। हमारी शक्ति और मनोभाव ऐसे होने चाहिएँ, कि दूसरे हमारा नाजायज फायदा न उठा सकें।

यदि दूसरों द्वारा हमारे प्रति अन्याय करते या हमारा अकल्याण करते समय हम शान्त रहना चाहें, तो हमें बलवान् होना चाहिए। यदि हमें प्रतिकार करना है, तो भी हमें बलवान् होना चाहिए। दोनों ही स्थितियों में बल आवश्यक है। और हमें इतना बलवान् होना चाहिए कि यदि हम प्रतिकार न भी करें, तो भी दूसरे हमारे बल का अनुभव करें। चुप रहने का भी एक तरीका होता है, जिसमें दूसरा व्यक्ति तुम्हारी शक्ति का अनुभव कर सके, और अपनी गलती पहचान सके। वह अगली बार तुम्हारा नाजायज फायदा नहीं उठा सकेगा। हमें दूसरों को अपनी शक्ति का आभास विचारहीनता अथवा कष्ट दायक आचरण द्वारा नहीं, बल्कि दृढ़ता और शालीनता से दिलाना चाहिए। हम जिस संसार में रह रहे हैं, वह इतना अपवित्र और बुरा है, कि यदि हम दुर्बल होंगे तो वह सदा हमारा फायदा उठाना चाहेगा। अतः साधक को जिस गुण का सर्वप्रथम विकास करना चाहिए, वह है बल, सच्चा मनोबल, ऐसा बल जो कभी पराजय स्वीकार न करे। लेकिन याद रखो, तुम में दैत्य की सी शक्ति भले ही हो,

---

५. श्रीरामकृष्णवचनामृत – १, द्वादश संस्करण, पृ. १७ ६. श्रीरामकृष्णवचनामृत

लेकिन दैत्य की तरह बिना सोचे-समझे उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

अहिंसा :

अब हम बल के दूसरे लक्षण अहिंसा पर आते हैं। यदि तुम भयवश अहिंसक आचरण करो, तो इसमें कोई श्रेष्ठता नहीं है। वास्तविक अहिंसा वह महान्तम बल और सहिष्णुता की शक्ति है, जिसे मानव अर्जित कर सकता है। वह महान्तम साहस के साथ महान्तम प्रेम को प्रदर्शित करती है। उसमें घृणा का पूर्ण अभाव होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही बताने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उसे दूसरों को घृणा किए बिना युद्ध करने का अपना कर्तव्य करने को कहा।

घृणा उतनी ही बुरी है, जितनी आसक्ति। क्रोध उतना ही बुरा है, जितना काम। इस सम्बन्ध में कभी गलती न करो। आध्यात्मिक जीवन यापन करते समय किसी के मार्ग में रोड़ा न बनो, किसी के विरुद्ध घृणा अथवा ईर्ष्या-द्वेष का प्रचार न करो, चाहे वह कोई भी क्यों न हो। दूसरों को पीछे धकेलने का प्रयत्न न करो। अपने अथवा अपने प्रियजनों के स्वार्थ के लिए दूसरों का बलिदान न करो। पशु-जगत् में जीवन के लिए संघर्ष की आवश्यकता हो सकती है, क्यों कि वहाँ 'श्रेष्ठतम की उत्तरजीविता' का नियम लागू होता है। लेकिन मानव पशु नहीं हैं, और उसे पशु की तरह आचरण नहीं करना चाहिए। उसे पशु-जगत् के नियमों का अतिक्रमण करना और ईश्वर के राज्य में प्रवेश के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ईश्वर के राज्य में प्रेम और त्याग के नियम लागू होते हैं।

आध्यात्मिक-व्यक्ति का आदर्श राग और द्वेष से निर्लिप्त बने रहना है। उसमें दूसरों के प्रति प्रेम और दया होने चाहिए। आध्यात्मिक व्यक्ति दूसरों के कष्टों का उनसे अधिक अनुभव करता है। उसमें दाम्भिकों और क्रूर व्यक्तियों के प्रति भी करुणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। वह महान् व्यक्तिगत त्याग करके भी सदा दूसरों की सहायता करने का प्रयत्न करता है। लेकिन वह दया के नाम पर सांसारिकता में नहीं फँसता। वह दूसरों द्वारा उनके व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपना दुरूपयोग नहीं होने देता।

इस संसार में विद्या शक्ति और अविद्या शक्ति दोनों ही कार्य कर रही हैं। साधक को विद्याशक्ति के प्रति उन्मुक्त होना चाहिए, किन्तु अविद्या-शक्ति के प्रति नहीं। इसके लिए उसे थोड़ा फुफकारना चाहिए, लेकिन उसे काटना नहीं चाहिए।[७] उसे घृणा अथवा बदले की भावना का पोषण भी नहीं करना चाहिए। उसे अपने चारों ओर क्रीड़ा कर रही शक्तियों के प्रति बहुत सजग होगा चाहिए।

वास्तविक अहिंसा एक उच्च आदर्श हैं। हमें धीरे धीरे उस लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहिए। (सर्वप्रथम) मन को सभी अपवित्र विचारों और मल से शुद्ध रहना चाहिए। कुछ

---

७. देखिए, श्रीरामकृष्ण की कहानी 'काटो मत, फुफकारो' – रामकृष्ण वचनामृत

वास्तविक आध्यात्मिक-उपलब्धि होने पर ही सच्ची अहिंसा आ सकती है। सैद्धान्तिक अहिंसा और अपने जीवन में उसका आचरण दोनों में बहुत अन्तर है। ईशावास्य-उपनिषद् में हम पाते हैं : जब व्यक्ति अपनी आत्मा को सब में और सब को अपनी आत्मा में देखता है, तब वह किसी से द्वेष नहीं करता।[८]

आत्म साक्षात्कार सच्ची अहिंसा का आधार है – यह बात उपनिषदों में बार-बार कही गयी है। आत्म-साक्षात्कार होने पर व्यक्ति किसी से घृणा नहीं कर सकता।

लेकिन साधना की प्रारंभिक अवस्था में साधक को दूसरों के साथ व्यवहार में अत्यन्त सावधान होना चाहिए। अहिंसा के नाम पर उसे बहुत अधिक कोमल या पराभवी नहीं होना चाहिए। दृढ़तारहित बहुत कोमल लोगों के लिए आध्यात्मिक-जीवन बहुत कष्टप्रद हो जाता है। संसार की बुराईयों का सामना करने के लिए महान् शक्ति आवश्यक है। जहाँ तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति का प्रश्न हो, वहाँ अत्यधिक कोमल अथवा भावप्रवण मत बनो।

लेकिन हमें अपने प्रति भी कठोर होना चाहिए। हमें हिंसा, क्रोध, घृणा के मनोभावों को अपने मन से पूरी तरह से निकाल देना चाहिए। कभी-कभी हम ऊपर से दूसरों के साथ मिल जुल कर रहते हों, पर मन ही मन क्रोध से जलभुन रहे हों। यह बहुत हानिकारक है। पहले आन्तरिक अहिंसा का अभ्यास करो। इससे मानसिक शक्ति बढ़ती है। केवल बलवान् ही अहिंसक हो सकता है।

सत्य का विध्वंसात्मक पक्ष :

हमारे हृदय को सचेतन रूप से श्मशान – अपनी आसक्तियों, दुर्गुणों, अहंकार का श्मशान बनाना होगा। हमारे दुर्गुणों का यह अन्तहीन दाह-संस्कार परमात्मा की उपासना, एकमात्र वास्तविक उपासना है, और उस से हमें कभी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। हमारी कठिनाई यह है कि हम केवल ऐसे ईश्वर की पूजा करते हैं, जो हमें सुख प्रदान करता है तथा हमारी इन्द्रियों को तुष्ट करता है। लेकिन क्या दुःख भी उन्हीं द्वारा प्रदत्त नहीं है? सर्वत्र हम वरदाता भगवान् की आराधना करते हैं। लेकिन उनका संहारक रूप में चिन्तन करते ही हम भयभीत हो जाते हैं। वरदायक शिव अच्छे हैं, लेकिन प्रलय का उन्मत्त नृत्य करते हुए शिव भयानक प्रतीत होते हैं। क्यों? हमारा यह दृष्टिकोण युक्तिसंगत नहीं है। ईश्वर सृष्टि और स्थिति तक ही ईश्वर हैं, लेकिन जब संहार होता है, तब ईश्वर का हाथ नहीं होता है। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। ईश्वर तभी ईश्वर हो सकता है, जब वह सभी अवस्थाओं में ईश्वर हो। सृष्टि, स्थिति और प्रलय का ईश्वर हो, और सर्वोपरि जब वह इन सबसे भिन्न हो। अतः 'शुभ ईश्वर' की मान्यता पर आधारित धर्म की विरोधी वर्तमान प्रतिक्रिया की प्रशंसा की जानी

---

८. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। – ईशावास्योपनिषद् - ६

चाहिए। यदि तुम आधुनिक मन के समक्ष एक दयालु और शुभ ईश्वर को प्रस्तुत करो, तो वह उसे अस्वीकार करेगा, लेकिन यदि तुम आधुनिक मन को सच्चा ईश्वर प्रदान करो, तो अधिकांश क्षेत्रों में वह उसे स्वीकार कर लेगा।

सृष्टि, स्थिति और प्रलय-कर्ता ईश्वर ही जगदम्बा हैं। पुनः माँ जगदम्बा ही इन सभी से परे अपने निराकार-निर्गुण रूप में शिव हैं। अतः ईश्वर का सान्त सापेक्ष रूप मानो जगदम्बा है और निरपेक्ष-अनन्त रूप में, अर्थात् वही जगदम्बा सृष्टि-स्थिति और प्रलय से परे, शिव हैं। जगदम्बा अपने पैरों के नीचे निष्क्रिय, निर्लिप्त शव समान प्रतीत होने वाले शिव पर सृष्टि, स्थिति और प्रलय का अपना उन्मत्त नृत्य कर रही है। ये सब सत्य के कैसे अद्‌भुत, असीम, गम्भीर प्रतीक हैं।

मृत्यु से भय क्यों? मृत्यु भी गौरवपूर्ण हो सकती है। जगदम्बा की लीला सबसे अधिक कहाँ दिखायी देती है? श्मशान में ही। और श्मशान उतना ही सत्य है जितना नवजात शिशु का पालना। जीवन और मृत्यु दोनों के प्रति आसक्ति अथवा भय त्याग कर साधक को जीवन में भी और मरण में भी जगदम्बा और एकमात्र जगदम्बा से ही चिपके रहना चाहिए।

ऐसा सदा होता है कि जिसे प्रिय वस्तुओं के प्रति विशेष आकर्षण होता है, उसे दुःख प्राप्त होता है। हम सभी को जीवन में जिन मानसिक पीड़ाओं और कष्टों से गुजरना पड़ता है, उनकी तुलना में शारीरिक कष्ट कुछ नहीं हैं। अतः हमें सदा यह याद रखना चाहिए कि सत्य सुख और दुःख दोनों से परे है, तथा उन दोनों का अतिक्रमण करने पर ही प्राप्त हो सकता है।

रामप्रसाद कहते हैं : "ओ मेरे चञ्चल मन, सदा सर्वदा सभी परिस्थितियों में माँ जगदम्बा का नाम लेना मत छोड़ना, चाहे कुछ भी हो जाय। तुम्हें दुःखों से गुजरना हो, तुम्हें और अधिक दुःख मिलें उससे क्या अन्तर पड़ता है।"

मानव मन में उठ रहे भयंकर बवण्डरों की तुलना में शारीरिक कष्ट नगण्य हैं। और जब तक हम जीवन के प्रिय-पक्ष से चिपके रहेगें, और उसके भयानक पक्ष को अस्वीकार करेंगे या अस्वीकार करने का प्रयत्न करेंगे, तब तक हम इन बवण्डरों के परे नहीं जा सकेंगे। यदि हम परमात्मा तक पहुँचना, तथा शान्ति और आनन्द पाना चाहते हैं, तो हमें ईश्वर के शुभ और भयानक, दोनों पक्षों का अतिक्रमण करने के लिए पूरी तरह तैयार रहना चाहिए।

सत्य के ध्वंसात्मक पक्ष का सामना करने की क्षमता होना अत्यन्त आवश्यक है। वह सर्वप्रथम तो हमारी झूठी आशाओं, मिथ्या तादात्म्यों, प्रिय मान्यताओं, हमारी समस्त झूठी सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं, हमारे क्षुद्र, हीन, लौलुप प्रेमों को भस्म कर देगा। तभी सत्य स्वयं को उद्‌घाटित करेगा, उससे पहले नहीं। लेकिन कौन उन्हें भस्म होने देना चाहता है? कौन कीमत चुका कर लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है? हमारे पास उपाय हैं, महान् सन्तों द्वारा प्रदर्शित साधन हैं, किन्तु हम इतने विकृत मनस्क हैं कि हम अपने प्रयासों को स्थगित करते

जाते हैं, और इन विचारों में अन्तर्निहित सत्य का स्वयं साक्षात्कार करने के बदले इनसे बौद्धिक सुख प्राप्त करते रहते हैं। इसीलिए हम लक्ष्य से बहुत दूर रह जाते हैं।

सामान्यत: हम अपने प्रेम, आत्मश्लाघा और सत्ता के हीन, घिनौने, क्षुद्र और दयनीय स्वप्न देखना चाहते हैं। हम उन्हें जी-भर कर सीने से लगाए रखना चाहते हैं, और यथासाध्य उस समय तक उनसे चिपके रहना चाहते हैं, जब तक वे हम से छीन नहीं लिए जाते।

जैसा मैंने कहा है, यदि तुम सचमुच आध्यात्मिक-जीवन यापन करना चाहते हो, तो तुम्हें सभी स्थूल और सूक्ष्म स्वप्नों को त्यागना होगा, भले ही वे आपातत: शुभ क्यों न प्रतीत हों। हमारे अन्तर की निर्मम धुलाई और सफाई होनी चाहिए और भीतर की एक नयी व्यवस्था की जानी चाहिए। पुरानी धारणाओं, प्रिय मान्यताओं और पूर्वाग्रहों इत्यादि का त्याग कर एक नये दृष्टिकोण का निर्माण किया जाना चाहिए। उस महान् साहस की आवश्यकता है, जो कोई समझौता न करे। साहसी, बलवान्, उद्देश्यवान् और भरोसेमन्द लोग ही सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं, दूसरे नहीं। यह एक अद्भुत् और साहसिक कार्य है। वेदान्त में दुर्बलों के लिए, मिट्टी में रेंग रहे कीड़ों के लिए, ऐसे पापियों के लिए कोई स्थान नहीं है, जो, "मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ, मैं क्या कर सकता हूँ, मैं पापी हूँ", कहते रहते हैं, तथा यह कहने के बाद लापरवाही और खुशी से पाप करते जाते हैं, कीचड़ में रेंगते रहते हैं और रोते, बिलखते रहते हैं।

दुर्बलों द्वारा सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। यदि पवित्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, तो हम पवित्रता को अभिव्यक्त क्यों न करें? यदि प्रेम हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, तो हम प्रेम को अभिव्यक्त क्यों न करें? यदि आनन्द हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, तो उसे अभिव्यक्त क्यों न करें? यदि मुक्ति हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, तो अपनी इन्द्रियों, देह, मन और अहंकार के दास क्यों बने रहें? इस स्वप्न को निर्ममतापूर्वक तोड़ दो। अपने पुरुषोचित पैरों पर पौरुषपूर्वक खड़े होना सीखो। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी एक कविता में कहा हैं :

साहसी बनो और सत्य के दर्शन करो।
छायाभासों को शान्त होने दो;
यदि सपने ही देखना चाहते हो, तो
शाश्वत प्रेम और निष्काम सेवाओं के ही सपने देखो।[९]

आत्मा का चिन्तन करो :

देह और मन के पीछे अवस्थित आत्मा का चिन्तन करो। वह हमारा वास्तविक स्वरूप है। जिस मात्रा में हम अपने को मिथ्या व्यक्तित्व से पृथक् करके आत्मा के साथ तादात्म्य

---

९. विवेकानन्द साहित्य – १०, तृतीय संस्करण पृ. १९१-१९२

स्थापित करेंगे, उसी मात्रा में हमें निर्भयता और शक्ति, पवित्रता और शान्ति प्राप्त होगी। जिस मात्रा में हम अन्तर्यामी परमात्मा के साथ एकत्व-बोध करते हैं, उसी मात्रा में हम सज्जन बनते हैं। बहिर्मुखी होने पर – व्यक्ति दुरात्मा हो जाता है। जब वह आत्मा की ओर प्रत्यक्-प्रवण होता है, तब वह महात्मा बन जाता है।

नैतिक और आध्यात्मिक-जीवन में सफलता का रहस्य, अपने को स्वरूपतः शुद्ध, स्वप्रकाश, आध्यात्मिक-इकाई समझना है। ध्यान के समय हमें इस विचार को हमारी चेतना की गहराई में प्रविष्ट कराना चाहिए, और तब आत्मा का यह पवित्र, स्वप्रकाश स्वरूप, देह और मन में भी अभिव्यक्त होगा।

जो लोग अपने पापों के लिए विलाप करना चाहते हैं, वे भले ही करें। लेकिन उसके बदले हमें नित्य, शुद्ध, चिरन्तन, अन्तर्यामी का चिन्तन करना और उसके ऐश्वर्य तथा महात्म्य को प्रकाशित करना चाहिए। चिन्तन के धूमिल होते हुए भी, मन का झुकाव बुराई की ओर होने पर भी, हमें स्वामी विवेकानन्द के इन अद्भुत शब्दों को सदा याद रखने का प्रयत्न करना चाहिए :

उठो, जागो! निर्बलता के इस व्यामोह से जाग जाओ। वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं हैं। आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिसम्पन्न और सर्वज्ञ है। इसलिए उठो, अपने वास्तविक रूप को प्रकट करो। तुम्हारे अन्दर जो भगवान् है, उसकी सत्ता को ऊँचे स्वर में घोषित करो ... तुम अपने को और प्रत्येक व्यक्ति को, अपने सच्चे स्वरूप की शिक्षा दो और घोरतम मोह निद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस नींद से जगाओ। जब तुम्हारी जीवात्मा प्रबुद्ध होकर सक्रिय हो उठेगी, तब तुम आप ही शक्ति का अनुभव करोगे, महिमा और महत्ता पाओगे, साधुता आएगी, पवित्रता भी आप ही चली आएगी – मतलब यह, कि जो कुछ अच्छे गुण हैं, वे सभी तुम्हारे पास आ पहुँचेगें।[१०]

□□□

---

१०. विवेकानन्द साहित्य – ५, प्रथम संस्करण पृ. ८९

अध्याय १५

व्यक्तित्व का गठन और आन्तरिक साम्य

हमारे व्यक्तित्व का केन्द्र बिन्दु :

बचपन में हमें एक छोटी धातुनिर्मित स्याही की दवात बहुत अच्छी लगती थी जो जिप्सी लोग बेचा करते थे। उसके पैंदे में भारी वजन रहता था, जिस से वह कभी लुढ़कती नहीं थी और स्याही उसमें से ढुल नहीं सकती थी। हमारे लिए वह एक आश्चर्यजनक वस्तु थी जिसका रहस्य हम उस समय नहीं समझ पाते थे। यह तो बाद में हमें समझ में आया कि उस स्याही की दवात के गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र सदा ही उसके अन्दर सुरक्षित था। जिससे वह कभी भी लुढ़कती नहीं थी और स्याही ढुलती नहीं थी। गुरुत्वाकर्षण जैसी बाह्य शक्तियों के सन्दर्भ में यह पूर्ण सन्तुलन का एक दृष्टान्त है।

भावनाओं के सन्दर्भ में यह मानो जीवन की विक्षेप पैदा करने वाली घटनाओं के बीच आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के समतुल्य है। यह समत्व है। मानव ऐसा समत्व और सन्तुलन कैसे प्राप्त कर सकता है?

यौवन में हम अपने परिवार के बड़े-बूढ़ों तथा हमारे विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों में इस सन्तुलन को देखने का व्यर्थ प्रयत्न करते रहे थे। अन्ततोगत्वा वह हमें श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में प्राप्त हुआ था। इनमें से महानतम स्वामी ब्रह्मानन्दजी थे जिनके चरणों में बैठने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ था तथा जिनमें इतनी प्रशान्ति थी कि वे उसे दूसरों में सञ्चारित भी कर सकते थे।

एक बार हमारे मठ के दो युवा साधुओं में झगड़ा हो गया जिससे दूसरों को भी विक्षेप हुआ। कार्यवाहक प्रमुख स्वामी प्रेमानन्दजी संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी के पास गये और कहा, "हम गुरुभाई वर्षों से शान्ति और सौहार्दपूर्वक एक साथ रहे हैं। इन लड़कों के लिए क्या करें? क्या इन्हें निकाल दें?" स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने धीरे उत्तर दिया, "भाई, यह सत्य है कि वे लोग झगड़ा कर रहे थे लेकिन यह भी याद रखो कि वे श्रीरामकृष्ण के पावन चरणों में शरण लेने के लिए यहाँ आये हैं।" वे आपसे मार्गदर्शन और सलाह की अपेक्षा करते हैं। हम लोग अवश्य उनके लिए कुछ कर सकते हैं जिससे उनका जीवन परिवर्तित हो जावे और उनके हृदय में प्रेम का सञ्चार हो।" स्वामी प्रेमानन्दजी ने उत्तर दिया कि "महाराज, आपको उनपर कृपा करनी होगी और उनमें परिवर्तन लाना होगा।"

तदनन्तर स्वामी प्रेमानन्दजी ने सभी नवागत ब्रह्मचारी और वरिष्ठ साधुओं को एकत्रित किया और एक कतार में वे उन्हें उन महान् स्वामीजी के सान्निध्य में ले आये। अब स्वामी ब्रह्मानन्दजी एक उच्च आध्यात्मिक भाव भूमि में आरूढ़ हो गये और उनके निकट आकर उनके चरण-स्पर्श करने वाले नतमस्तक प्रत्येक संन्यासी के सिर पर स्पर्श करते हुए आशीर्वाद देने लगे। ऐसी कृपा प्राप्त करने वाले एक व्यक्ति ने कहा, "वह स्पर्श एक ज्वरग्रस्त देह के लिए शीतल निर्झर के समान था।" मठ तथा संन्यासियों के हृदय में पुनः शान्ति स्थापित हो गयी। [१]

भावनात्मक-स्थिरता एक अद्‌भुत सम्पद् है लेकिन हमारे इस युग में हमें यह बहुत कम देखने को मिलती है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि बाह्य-जगत् में जो संघर्ष दिखायी देते हैं, वे हमारे मन में हो रहे अन्तर्द्वन्दों की ही बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। ये बाह्य समस्याएँ तभी कम हो सकती हैं जब हम अपने मन की अधिक देखभाल करें और उसका उचित सदुपयोग करें। यह एक सत्य है कि जिस प्रकार हमारी देह पर रोग के कीटाणुओं तथा विष का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार मन भी अहितकर भावनाओं से क्षतिग्रस्त होता है। हम सर्वदा हमारे वातावरण के साथ संघर्षरत हैं लेकिन हमारे भीतर उससे भी अधिक संघर्ष होता रहता है। हम ही अपनी सबसे बड़ी समस्या हैं।

अन्तर्द्वन्द्वों का कारण - मनोग्रन्थियाँ :

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारे अन्तर्द्वन्द्व "आदिम अहं-केन्द्रित-प्रेरणाएँ" और "निषेधात्मक-चेतना" आदि के कारण होते हैं। ऐसे लोगों के बारे में कहा गया है कि यदि उनकी वह निषेधात्मक-चेतना दूर कर दी जाये तो वे आसानी से द्वन्द्व मुक्त हो जाएंगे। लेकिन सौभाग्य या दुर्भाग्य से हम में से अधिकांश की स्थिती ऐसी नहीं है। हमारे भीतर अनन्त द्वन्द्व चलते रहते हैं। आत्म-अभिव्यक्ति, यौन-मिलन, संचय और भय आदि के अवसर हम में अहंकार, गर्व, काम, ईर्ष्या, क्रोध, भय आदि की भावनाएँ जगाते हैं।

आजकल हम द्वन्द्वों, सहजात प्रवृत्तियों और भावनाओं के बारे में बहुत बातें सुनते हैं। ये क्या हैं? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि भावनाओं और सहजात प्रवृत्तियों के परस्पर संघर्ष से द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। अन्य दूसरे लोग इस शब्द का उपयोग अधिक व्यापक रूप में करते हैं। उनका मत है कि द्वन्द्व एक सामान्य भावना से जुड़े हुए विचार समूह हैं। कुछ अन्य लोगों के अनुसार हमारी भावनाओं और सहजात प्रवृत्तियों को तीन मुख्य मनोग्रन्थियों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है : अहं ग्रन्थि या अहंमन्यता, यौनग्रन्थि और सहवास-प्रवृत्ति या समूह ग्रन्थि। आत्म-संरक्षण, संचय, युद्धशीलता, कुतूहल, विकर्षण और पलायन की सहजात प्रवृत्तियाँ अहं ग्रन्थि के अन्तर्गत

---

१. स्वामी प्रभवानन्दकृत इटरनल कॅम्पेनियन, (रामकृष्ण मठ, मद्रास, १९७१), पृ. ७६-७७

आती हैं। उसके अनुरूप भावनाएँ हैं : बड़प्पन का भाव, गर्व, परिग्रह, क्रोध, वितृष्णा और भय। यौन प्रवृत्ति और पितृसुलभ सहजात प्रवृत्ति यौन-ग्रन्थि के अन्तर्गत आती हैं। प्रेम, काम, ईर्ष्या, लज्जाशीलता और कोमलता इससे सम्बन्धित भावनाएँ हैं। समूह-ग्रन्थि के अन्तर्गत यूथचारी प्रवृत्ति, आकर्षण और अन्तर्विश्वास की सहजात प्रवृत्तियाँ आती है। अकेलापन, सहानुभूति, वेदना, आसक्ति, सहायता का भाव और विश्वास की भावनाएँ इस से सम्बन्धित भावनाएँ हैं।[२] यह स्पष्ट है कि हमारा समग्र भावनात्मक जीवन द्वन्द्वों के अन्तर्गत आ जाता है।

अन्तर्द्वन्द्व सभी मानवों में समान रूप से विद्यमान हैं। उनके अच्छे या बुरे उपयोग के अनुसार अथवा अन्ततोगत्वा वे व्यक्तित्व को विकसित और व्यापक बनाते हैं या उसे नष्ट और संकीर्ण करते है, इसके अनुसार वे अच्छे अथवा बुरे हो सकते हैं। उदाहरण के लिए आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्तियों को उच्चतर दिशा प्रदान की जा सकती है। उनका उपयोग अपनी वासनाओं को संयत करने के लिए किया जा सकता है और इस प्रकार बचाई गयी ऊर्जा का उपयोग उच्चतर क्रम विकास और अपने सहजीवियों के कल्याण के लिए किया जा सकता है। अत: अन्तर्द्वन्द्वों के बारे में इतना हो-हल्ला मचाने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि कुछ भ्रान्त लोग करते हैं। अन्तर्द्वन्दों की बुराई यह है कि उनमें से कुछ का स्वरूप बुरा है और उनका गलत ढंग से सामना किया जाता है। द्वन्द्वों को नकारने, भूलने का प्रयत्न करने अथवा दबाने से कोई लाभ नहीं होता। न ही भावनाओं की निरंकुश अभिव्यक्ति से, चाहे वे अच्छी हों या बुरी, कोई लाभ होता है। जिस बात की आवश्यकता है, वह है सन्तुलन, समत्व। स्वामी विवेकानन्द जैसे आध्यात्मिक पुरुषों में हम बालक की सी सहजता और स्वतन्त्रता के साथ एक योगी की पवित्रता और संयम को पाते हैं। इस सम्मिश्रण के फलस्वरूप एक बहुमुखी, लचीला एवं सृजनात्मक व्यक्तित्व विकसित होता है जो शक्ति और शान्ति का उत्स होता है।

मनोवैज्ञानिक सतत् हमारे सामने यह उद्घाटित कर रहे हैं कि भावनाएँ किस प्रकार हमारे साथ छल करके विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग पैदा करती हैं। दूसरी ओर भावनाओं का उचित नियन्त्रण और निदर्शन स्वास्थ्य और स्थैर्य प्रदान करता है। "माइण्ड एण्ड बॉडी" नामक अपनी पुस्तक में डाक्टर फ्लेन्डर्स डुनबर ने एक मनोवैज्ञानिक के बारे में लिखा हैं जिसकी एक महिला रोगी को ऐपेण्डिसाइटिस जैसा दर्द होता था। रोग के मानसिक होने के भी कुछ लक्षण विद्यमान थे। मनोविश्लेषण की सहायता से रोग का कारण खोजते समय चिकित्सक को अपने एक सहचिकित्सक के उसी प्रकार के एक रोगी की बात याद आ गयी जिसकी एपेण्डिक्स के फटने के कारण मृत्यु हो गयी थी।

---

२. स्ट्रेकर एण्ड एपन, डिस्कवरिंग अवर सेल्व्स, (न्यूयार्क, दि मेकमिलन कं., १९५४) पृ. ८७, ९७, १०८

अत: वह तत्काल अपने रोगी को चिकित्सालय ले गया और उसका शल्योपचार करवाया और यह पाया गया कि वह अन्तिम क्षण ही था।

अब स्वयं चिकित्सक व्यग्र हो उठा। यह घटना क्रिसमस के आसपास की थी और उसके दिमाग में ताजी थी। इसी समय उसे एक पारिवारिक भोज के लिए निमन्त्रण मिला, जिसमें सम्मिलित होने की उसकी इच्छा नहीं थी। उसे पेट में भीषण दर्द होने लगा। उसके चिकित्सक मित्र ने उसका परीक्षण किया और तत्काल शल्योपचार का सुझाव दिया। लेकिन अब मनोवैज्ञानिक को संशय हुआ। एक मनोरोग चिकित्सक के रूप में वह अपने दर्द का कारण खोजने लगा और शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अपने रोगी के बाल-बाल बचाव से पैदा हुई चिन्ता से एपेण्डिसाइटिस का विचार उसके मन में हुआ है। साथ ही उसकी माँ के साथ हाल की चर्चा में माँ ने बताया था कि उसके पिता की मृत्यु एपेण्डिसायटिस से हुई थी। इन सभी बातों से उसकी यह मान्यता कि दर्द मनोगत है, को बल मिला। और सम्भवत: भोज में सम्मिलित होने की अनिच्छा ने क्रिसमस के दिन को अस्पताल में व्यतीत करने की अचेतन इच्छा पैदा की हो। रोग के कारण का आविष्कार करते ही पीड़ा दूर हो गयी। वह भोज में सम्मिलित हुआ और उसने उसका आनन्द उपभोग किया।[३]

जब ऐसी बात एक प्रशिक्षण प्राप्त मनोवैज्ञानिक के साथ हो सकती है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हम में से कई लोग किसी आरामदेह रोग का कष्ट भोगने अथवा उसका सुख भोगने के लिए चयन कर लेते हैं। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ जो यदि उन्हें कोई चिन्ता न हो तो मोल ले लेते हैं और उसे बढ़ा लेते हैं; जो समय समय पर दूसरों की समस्याओं के साथ भावनात्मक रूप से जुड़ जाते हैं और अपने तथा अपने से सम्बन्धित लोगों के लिए समस्याएँ पैदा करते हैं। ऐसा लगता है मानो वे तनाव में पनपते हैं। यदि हम अपने मन के भटकाव पर सतत नजर रखें तो हम कई अवसरों पर अपनी भावनात्मक समस्याओं का पता लगाकर अपनी स्वनिर्मित बीमारी का अन्त कर स्वास्थ्य और स्थिरता प्राप्त कर सकते हैं।

व्यक्तित्व का अर्थ :

व्यक्तित्व क्या है? हमारा चेतन अंश और अचेतन अंश दोनों मिलकर व्यक्तित्व का गठन करते हैं जो बाह्य परिवेश में अभिव्यक्त होता है और उस के द्वारा प्रभावित भी होता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मानव का व्यक्तित्व उसकी क्षमताओं, स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा मान्यताओं का समूह है जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न जाना जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों के इस कथन पर यह प्रश्न स्वाभाविक ही किया जा सकता है : 'कौन सोचता, अनुभव करता, इच्छा करता और क्रिया करता है? शरीर, मन, अहंकार और वातावरण के

---

३. फ्लेण्डर्स डुनबर, माइण्ड एण्ड बॉडी, साइकोसोमेटिक मेडिसिन (न्यूयार्क, रेण्डम हाउस, १९४७), पृ. ४१

परिवर्तनों के बीच कौन ऐसा तत्त्व है जो स्थायी बना रहता है तथा इन विभिन्न परिवर्तनों के मध्य व्यक्ति को यह जानने में समर्थ करता है कि वह अपरिवर्तित एक ही व्यक्ति है?' उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक उत्तर से धर्म और दर्शन सन्तुष्ट नहीं होते। वे इस प्रश्न की और अधिक गहराई में जाना चाहते हैं।

हम मनुष्य में – हम में – जानते हैं कि अहंकार, मन, इन्द्रियाँ तथा शरीर, ये सब मिलकर एक सामूहिक इकाई का निर्माण होता हैं। अब यह देखना है कि मानव में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व क्या है? यह है उसकी चेतना। सर्वप्रथम मैं हूँ और उसके बाद मैं सोचता हूँ, अनुभव करता हूँ, इच्छा करता हूँ, देखता हूँ, कार्य करता हूँ, इत्यादि। हम स्वयं की चेतना का अनुभव अपरोक्ष रूप से तथा दूसरों की चेतना का अनुभव परोक्ष रूप से करते हैं। जो भी हो, हमारी व्यक्तिगत चेतनाएँ एक ही तत्त्व से निर्मित हुई प्रतीत होती हैं, हाँ यह अवश्य है कि यह तत्त्व स्वाभाविक ही उन विभिन्न पदार्थों के साथ घुल-मिल कर एक हो जाता है जो अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग होते हैं।

यहीं नहीं, बाह्य-जगत् के साथ सतत संघर्ष के अतिरिक्त आन्तरिक जगत् में भी एक अनन्त संघर्ष होता रहता है। इस तरह जीवन स्वयं के भीतर तथा बाह्य-जगत् के साथ सतत सन्तुलन स्थापित करने का रूप ले लेता है। इस सन्तुलन में असफल होने पर अस्थिरता होती है। प्रसिद्ध मनोचिकित्सक मेनिन्गर अपनी एक पुस्तक में कहते हैं : "हमारी असफलताएँ पलायन या आक्रमण इन दो प्रतिक्रियाओं के रूप में प्रकट होती हैं। ये दोनों प्रतिक्रियाएँ अस्थिरता की द्योतक हैं। कभी-कभी हम उन सभी वस्तुओं से भाग जाना चाहते हैं जो हमें कष्ट देती हैं : आत्मप्रेरित रुग्णता और मदिरापान इस पलायन के रूप हैं। यदि इनका उपचार न किया जाये तो व्यक्तित्व का विघटन हो जाता हैं। आक्रमण की प्रतिक्रिया को यदि सही दिशा प्रदान की जाये तो वह पुनः सन्तुलन प्रदान कर न्यूनाधिक मात्रा में पूर्ण स्थिरता ला सकती है। उचित प्रकार की संघर्षशीलता के द्वारा, अपने आन्तरिक शत्रुओं से लड़ने के द्वारा हम कुछ मात्रा में स्थिरता और शान्ति हासिल कर सकते हैं।"[४]

लेकिन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मानसिक स्थिरता पर्याप्त नहीं है। मानसिक-स्तर का अहं-केन्द्रित स्थैर्य कठिन परीक्षा में नष्ट भी हो सकता है। अधिकांश मनोवैज्ञानिक हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हमारे मौलिक अन्तर्द्वन्द्वों के पूर्ण समाधान की कोई सम्भावना नहीं है। जीवन में जिन नैतिक और आध्यात्मिक अंतर्द्वन्द्वों से हमें गुजरना पड़ता है, उनके विषय में यह सत्य भी लगता है। परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति सम्पन्न अद्वितीय महापुरुषों ने अंतर्द्वन्द्वों पर जो विजय तथा जो समत्व प्राप्त किया है, वह मनोविज्ञान द्वारा धारणा किये जाने वाले किसी भी स्थैर्य से अधिक पूर्ण होता है।

---

४. विलियम सी मेनिन्गर और मुन्रो लीफ, यू एण्ड साइकिएट्री, (न्यूयार्क : चार्ल्स स्क्रिब्नर्स संस १९४८)

व्यष्टि और समष्टि :

क्या आपने कभी यह सोचा है कि चिन्तन के नियमों के अनुसार हम व्यक्तिगत चेतना की धारणा समष्टि – अनन्त चैतन्य की कम से कम अस्पष्ट धारणा किये बिना नहीं कर सकते। तार्किक दृष्टि से जो यह बात हमें अनिवार्य लगती है, वह श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों में पूर्णरूप से अभिव्यक्त थी। उनमें व्यष्टि-चैतन्य, समष्टि-चैतन्य का अंग या अभिव्यक्ति था। फलस्वरूप उनका जीवन अहं-केन्द्रित न हो अनन्त परमात्म-केन्द्रित था। उनके सान्निध्य में हमें यह अनुभव होता था कि अनन्त चेतना के अन्तर्गत सभी प्रकार की व्यक्तिगत चेतनाओं का समावेश हो जाता है और अनेकता में वस्तुत: एकता का ही खेल चल रहा है। चेतना व्यक्तित्व का मूल तत्त्व है, यह मानने का अर्थ मन, इन्द्रियाँ और देह जो ज्ञान और क्रिया के कारण या यन्त्र हैं, इनको नकारना नहीं है। हमारा मन इसी तरह के अन्य मनों में से एक है, हमारी देह अन्य देहों में से एक है। इस तरह, मन और देह के स्तर पर भी समष्टि और व्यष्टि, सूक्ष्म ब्रह्माण्ड और बृहत् ब्रह्माण्ड का प्रश्न उठता है।

हिन्दू आचार्य तीन प्रकार के आकाशों की चर्चा करते हैं : महाकाश या भूत अथवा स्थूल-स्तर, चित्ताकाश या मानसिक-स्तर और चिदाकाश या ज्ञान अथवा चैतन्य का स्तर। व्यष्टि देह समष्टि देह का – पदार्थ-सागर का एक अंश है। व्यष्टि मन समष्टि मन का एक अंश है। व्यष्टि अहंकार अथवा चेतना समष्टि चेतना का एक अंश है। समष्टि मानो एक सागर है और व्यष्टि एक लहर। इन दोनों, सागर और लहर में से कौन अधिक सत्य है? निश्चय ही सागर लहर की अपेक्षा अधिक सत्य है। लहर की भी सत्ता है पर उसका अस्तित्व सागर पर आश्रित है। यही बात हमारे व्यक्तित्व के लिए भी लागू होती है। हमारे व्यष्टि शरीर, व्यष्टि मन और व्यष्टि चेतना समष्टि शरीर, समष्टि मन और समष्टि चेतना के क्रमश: अंग हैं।

इस प्रसंग में हम विराट् पुरुष की पौराणिक धारणा का अवलोकन करें, जिससे सभी जीव तथा वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं तथा जिसमें उनकी स्थिति एवं गति है। वेदों में कहा गया है:

विराट् पुरुष सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपाद वाला है। उसने समग्र विश्व को आवृत कर रखा है तथा वह उससे दशांगुल परे भी है। यह समग्र विश्व-ब्रह्माण्ड वह पुरुष ही है तथा जो भूत और भविष्यत् है वह भी वही है। वह सभी के रूप में व्यक्त होता है। वही ईश तथा अमृतत्व का प्रदाता है। यह व्यक्त जगत् उसकी महिमा है लेकिन उसका अल्पांश ही है। मूलत: वह अनभिव्यक्त और अविकार्य ही है।[५]

व्यक्ति को समझने के लिए अनन्त के बारे में भी थोड़ा-बहुत जानना आवश्यक है। सुकरात और एक ब्राह्मण ऋषि की पुरातन कथा क्या आप जानते हैं? एक ब्राह्मण भारत से यूनान गये जहाँ उनकी भेंट सुकरात से हुई। सुकरात ने उनसे कहा, "मानव का अध्ययन ही अध्ययन का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है। इस पर ब्राह्मण ने पूछा : परमात्मा – सर्वव्यापी पुरुष

---

५. पुरुष सूक्त-ऋग्वेद १०.

को जाने बिना तुम मानव को कैसे जान सकते हो? अनन्त की पृष्ठभूमि में ही व्यक्ति को ठीक-ठीक समझा जा सकता है। सर्वव्यापी 'व्यक्तित्व' (परमात्मा) की पृष्ठभूमि में ही व्यष्टि व्यक्तित्व को समझा जा सकता है।''

धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार मानव एक आध्यात्मिक प्राणी है। उसका व्यक्तित्व देह और मन के द्वारा ही निर्मित नहीं है, उसमें आत्मा भी है। देह, इन्द्रियों और मन को एक साथ जोड़कर रखने वाली व्यष्टि आत्मा के पीछे परमात्मा, बौद्धों का निर्वाण, वेदान्त का ब्रह्म और सभी धर्मों के ईश्वर की सत्ता है। इस उच्चतम आध्यात्मिक चेतना में प्रतिष्ठित होकर बुद्ध, ईसा अथवा रामकृष्ण जैसे महापुरुष प्रलोभनों का उपहास कर सकते थे और उनके लिए मृत्यु भी अमरत्व का द्वार स्वरूप थी। मानसिक दृष्टि से प्रसीमित अथवा प्रतिबद्ध व्यक्ति अथवा सामान्य धार्मिक मानव के लिए यह मन:स्थिति सम्भव नहीं है। आंशिक अनुभूति सम्पन्न व्यक्ति भी जिस समता अथवा स्थैर्य को प्राप्त करते हैं वह मनोविज्ञान के द्वारा दी जाने वाली स्थिरता से काफी उच्चतर है। फिर भी मनोविज्ञान बहुमूल्य सेवा कर सकता है। प्रारम्भिक विद्या के रूप में उसकी अपनी उपयोगिता है लेकिन धर्म इसके बहुत आगे तक जाता है और मनोविज्ञान के क्षेत्र से कहीं अधिक ऊपर की स्थिति प्राप्त करता है।

'व्यक्तित्व के गठन' की धारणा आधुनिक मनोविज्ञान का मानव के कल्याण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। अचेतन मन के आविष्कार के द्वारा मनोवैज्ञानिकों ने यह बताया है कि साधारण लोग सामान्यत: अपने स्वयं के मन की गहराइयों के बारे में बहुत कम जानते हैं। चेतन मन पर अचेतन मन का प्रभुत्व रहता है फिर भी वह अचेतन मन से विलग बना रहता है। इसके कारण व्यक्तित्व में विघटन और द्वन्द्व होते है। डा. युंग जैसे मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व के चेतन और अचेतन हिस्सों में सामञ्जस्य बिठाने की आवश्यकता पर बल दिया है।

व्यक्तित्व का गठन क्या है? :

अब हम यह देखें कि गठन का क्या अर्थ है। सुगठित वस्तु पूर्ण होती है – वह पूर्ण इकाई होती है, अखण्ड होती है, उसमें मिश्रण अथवा अलग अलग टुकड़े नहीं होते। गठन करने का अर्थ है एक पूर्ण इकाई का निर्माण करना – मिलना अथवा मिलित होना, जिसके फलस्वरूप एक पूर्ण इकाई का निर्माण होता है।

अनेक प्रकार के गठन हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान के अनुसार पदार्थ अणुओं के द्वारा निर्मित होता है। अणु परमाणुओं से तथा परमाणु इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन से बनते हैं। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक का कथन है कि प्रत्येक परमाणु प्रोटॉन तथा उतने ही इलेक्ट्रॉन के सम्मिलन से बनता है। सारे प्रोटॉन कुछ इलेक्ट्रॉनों के साथ परमाणु की नाभि में केन्द्रित रहते हैं जहाँ न्यूट्रॉन भी होते हैं। अन्य इलेक्ट्रॉन नाभि के चारों ओर परिक्रमा करते हैं।

इस प्रकार आप समझ सकते हैं कि प्रत्येक परमाणु एक सूर्यमण्डल के समान है

जिसके विभिन्न अंग मिलकर एक पूर्ण इकाई का निर्माण करते हैं। ये पूर्ण इकाइयाँ मिलकर एक बड़ी इकाई का निर्माण करती हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर का प्रत्येक 'कोश' एक छोटे से सौर मण्डल के समान है तथा अपने आप में एक संगठित इकाई है। ये कोश मिलकर एक अंग और विभिन्न अंग मिलकर एक बड़ी इकाई बनाते हैं जिसे हम देह कहते हैं। एक सुसंगठित शरीर में ये सभी अंग अपने-अपने नियत कार्य में लगे रहते हैं। इन सभी के कार्यों की एक ही दिशा होनी चाहिए। ऐसा न होने का परिणाम होगा असम्बद्धता और रोग। अतः अपनी देह के गठन पर समुचित ध्यान देना आवश्यक है। हम देखें कि हमारे सभी अंग-प्रत्यंग स्वस्थ और सबल हों तथा सुसम्बद्ध रूप से कार्य करें।

अब हम मन के बारे में विचार करें। हमारा मन भी विचार शक्ति, भावनाओं और इच्छाशक्ति की एक सम्मिलित इकाई है। कितनी ही बार हमारे विचारों, भावनाओं, इच्छाओं और क्रियाओं में तारतम्य का अभाव रहता है। वे एक दूसरे से झगड़ते रहते हैं तथा हमारे भीतर भीषण भ्रान्ति पैदा कर देते हैं। यह भ्रान्ति कर्तव्य, नैतिक आदर्शों अथवा आध्यात्मिक लक्ष्य के सबन्ध में हो सकती है। हम भावनाओं के भँवर में फँसकर त्रसित हो सकते हैं। अतः इस स्तर पर भी पवित्रता, शक्ति और सन्तुलन के द्वारा व्यक्तित्व का गठन आवश्यक है।

अब हम अहंकार की चर्चा करें। हम सभी जानते हैं कि हमारा अहंकार विकृत हो गया है। उसका आकर्षण-केन्द्र निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। इस क्षण वह किसी बाह्य पदार्थ के साथ एकरूप है तो दूसरे क्षण देह के साथ और बाद में इन्द्रियों अथवा मन के साथ। वह मानो पागल हो गया है और किसी भी समय उसके गिरकर टूट जाने की सम्भावना है। कभी-कभी वह स्वयं पर कितना अधिक केन्द्रित हो जाता है। हम भूल जाते हैं कि हमारा व्यक्तिगत सीमित अहंकार महत् अनन्त अहंकार का एक अंग है। हम यह भी भूल जाते हैं कि अपने साथियों का कल्याण हमारे अपने कल्याण से भिन्न नहीं है। हम अहं-केन्द्रित बन जाते हैं, जो हमारे लिए, हमारे परिवार और समाज के लिए हानिकारक है। अतः यहाँ भी हमें एक अन्य प्रकार के सामञ्जस्य की आवश्यकता है।

इस प्रकार व्यक्तित्व के गठन के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक ये तीन अंग हैं। सुनियोजित व्यक्तित्व में अहंकार अथवा सीमित व्यक्तिगत चेतना बृहत परमात्म-चेतना के साथ एकरूप हो जाती है। यह सुगठित चेतना शरीर और मन को सुसम्बद्ध, सुव्यवस्थित और स्वाभाविक रूप से परिचालित करती है। ठीक-ठीक व्यक्तित्व के गठन का यही अर्थ है।

निम्न आदर्श की अपेक्षा उच्चतर आदर्श रखना अच्छा है। लेकिन उच्च आदर्श पर दृष्टि रखकर हमें असीम धैर्य और अध्यवसाय के साथ एक के बाद दूसरा कदम बढ़ाना चाहिए। अपनी यात्रा आरम्भ करने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि हम कहाँ खड़े हैं। किसी पहाड़ पर चढ़ने से पहले भी हम यही करते हैं। अपने जीवन में किसी महत् आदर्श की उपलब्धि के लिए भी हमें यही करना चाहिए। हमें यथार्थवादी होना चाहिए – अपने शरीर, मन और अहंकार की वास्तविकता से हमें परिचित होना चाहिए। अपने गुरुदेव तथा

श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों के चरणों में बैठकर जो महान् बातें मैंने सीखी हैं, उनमें संतुलित विकास का यह आदर्श – शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का सामञ्जस्य अन्यतम है।

हमारी देह – हमारा यह भौतिक यंत्र सुचारू रूप से रखा जाना चाहिए। देह के प्रति हमारा दृष्टिकोण भिन्न होना चाहिए। वह विषयों के उपभोगों का साधन नहीं है, न ही वह घृणित और तिरस्कार करने योग्य मल-मूत्र का भाण्ड मात्र है। यह देह प्रमुखत: परमात्मा का मन्दिर है, उसे स्वच्छ और सबल रखना चाहिए। एक संस्कृत श्लोक है :

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदर्शनं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मायानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा।।[६]

अर्थात् गुरुरूपी कर्णधार और भगवत्कृपारूपी अनुकूल वायु युक्त देह एक सुलभ और सुदर्शन नौका के समान है। जो व्यक्ति इसकी सहायता से संसार सागर को पार नहीं करता वह आत्मघाती है।

देह को बल, वीर्य, आरोग्य और प्रसन्नताप्रद शुद्ध भोजन के द्वारा पुष्ट करना चाहिए। उचित आहार के साथ ही हमें शुद्ध वायु का सेवन तथा व्यायाम करना चाहिए और मादक द्रव्यों और उत्तेजक पदार्थों से दूर रहना चाहिए।

व्यक्तित्व के विघटन से गठन की ओर :

जिस व्यक्ति में उच्चतर नैतिक चेतना का उदय हो चुका है, लेकिन जिसकी आत्मा तो उच्चतर जीवन यापन करना चाहती है किन्तु जिसकी देह और इन्द्रियाँ दुर्बल हैं, ऐसा व्यक्ति यदि वासनाओं का दास हो जाय तो उसके भीतर महान् अशान्ति और असन्तुलन पैदा हो जाता है, उसका व्यक्तित्व विघटित हो जाता है। इसके विपरीत वासनाओं को आध्यात्मिक-दिशा प्रदान करने से, उन्हें उदात्त और पवित्र करने से साधक अपने भीतर अधिकाधिक सन्तुलन और सामंजस्य प्राप्त कर पाता है।

अब हमें इससे भी उच्चतर सामञ्जस्य का प्रयत्न करना चाहिए तथा हमारे चिन्तन, भावनाओं और इच्छाओं को समन्वित करना चाहिए। सामान्यत: हमारी चेतना इनमें से किसी एक के साथ संयुक्त रहती है जो अन्य सभी को दबा रखती है। व्यक्ति अतिबुद्धिमान अथवा अत्यधिक भावुक हो सकता है अथवा उसकी इच्छाशक्ति प्रबल हो सकती है और वह युक्ति और उच्चतर भावनाओं की परवाह किए बिना कर्म करना चाहता है। इस से हमारे भीतर आन्तरिक विघटन होता है। हमें इन विभिन्न क्षमताओं को समन्वित करना चाहिए। लेकिन कैसे? हमें अपने व्यक्तित्व के विभिन्न घटकों से अपने को पृथक् या अलिप्त करना तथा अपनी व्यष्टि चेतना तक पहुँचना सीखना चाहिए, उसे अपने ध्यान का विषय बनाकर उसे स्थिर रखना चाहिए। इस अनासक्त अवस्था से जब हम अपने व्यक्तित्व के घटकों की ओर

---

६. श्रीमद्भागवतम् ११.२०.१७

आयेंगे तो हम उनमें समन्वय स्थापित करने में सफल होंगे और एक सर्वमान्य कल्याण के लिए सामञ्जस्य के भाव से उनका उपयोग कर सकेंगे। यह एक महान् उपलब्धि है।

एक विख्यात मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषण द्वारा अन्तर्द्वन्द्वों से छुटकारा पाने वाले तथा आंशिक मानसिक सन्तुलन प्राप्त करने वाले एक रोगी के बारे में कहते हैं : "उसके गुरुत्व का केन्द्र, जो दूसरों में रहता था, वह उसके भीतर आ गया था।" यह सत्य है कि उचित मानसिक उपचार से गुरुत्व का केन्द्र एक सुगठित व्यक्तित्व की गहराई में स्थापित हो जाये। लेकिन एक सामान्य मर्त्य मानव में नियमित आध्यात्मिक और नैतिक साधना के एक स्तर से दूसरे स्तर तक गुजरते हुए ही उच्चतम और पूर्ण विश्वस्त स्थिरता प्राप्त की जा सकती है।

क्रोध, घृणा, असत्य, लोभ, अब्रह्मचर्य अथवा दूसरों पर असहाय की तरह निर्भरशीलता के द्वारा गुरुत्व का केन्द्र-बिन्दु हमारी मौलिक स्थिरता से हट जाता है, फलस्वरूप द्वन्द्व और असंतुलन पैदा होता है। इसके विपरीत, पवित्रता और संयम हमें अपना स्वामी बनाते और समता तथा शान्ति पैदा करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे व्यक्तित्व का गठन करते हैं। व्यक्तित्व के गठन का रहस्य वस्तुत: इस बात पर निर्भर करता है कि आखिर हमारे गुरुत्व का केन्द्र कहाँ है। गुरुत्व के केन्द्र का अर्थ है, हमारी चेतना का केन्द्र, हमारी अहं-चेतना। व्यक्तित्व के गठन का प्रथम चरण इस 'केन्द्र' को अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करना है। यदि दूसरे लोग हमारी चेतना के केन्द्र होगें तो हमारे गुरुत्व का केन्द्र पूरी तरह बाहर होगा और हम दूसरों के मनोभावों और दृष्टिकोणों से विचलित हो जाएगें। हमारी देह अथवा हमारी भावनाएँ हमारी चेतना का केन्द्र हो सकती हैं। इनके द्वारा भी हमारा व्यक्तित्व विकृत हो जाता है और उसका विघटन होता है। अत: सर्वप्रथम हमें हमारी अहं-चेतना या अहंभाव को पृथक् कर हमारी अन्तरतम आत्मा में स्थापित करना चाहिए।

हमें द्रष्टा और दृश्य का विवेक करना चाहिए और यह जान लेना चाहिए कि हमारी भावनाएँ हमारे वास्तविक अहं या द्रष्टा से भिन्न हैं। हम स्वयं को अपनी भावनाओं से पृथक करना सीख सकते हैं। उन्हें हमारी वास्तविक आत्मा से पृथक देखने में समर्थ होने पर हम उनपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। इसके फलस्वरूप जीवन की यथार्थताओं का साहसपूर्वक सामना करने तथा मन और उसकी गतिविधियों को नियन्त्रित करने की क्षमता प्राप्त होती है।

परमात्मा के साथ व्यक्तित्व का समन्वय :

हमने देखा कि हमारे गुरुत्व के केन्द्र को, हमारी चेतना के केन्द्र को निश्चित स्थान में स्थापित करना व्यक्तित्व के गठन की पहली सीढ़ी है। इस केन्द्र को व्यष्टि आत्मा या अहं को परमात्मा के साथ संयुक्त करना अगली सीढ़ी है। हमारे उच्चतम आदर्श के सन्दर्भ में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित अहं केन्द्रित सामञ्जस्य, चाहे वह हमारे अहंकार का मन इन्द्रियों और देह पर प्रभुत्व स्थापित करने में कितना ही उपयोगी क्यों न हो – पर्याप्त

नहीं है। हम ने अभी तक उच्चतम सामञ्जस्य का प्रयत्न नहीं किया है, अब हमें यह करना चाहिए। डॉक्टर युंग अपनी पुस्तक "माडर्न मेन इन सर्च आफ ए सोल" में लिखते हैं : "अहंकार मात्र इसलिए रोग ग्रस्त हो गया है कि उसने पूर्ण से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और मानव जाति तथा परमात्मा के साथ सम्पर्क खो दिया है।[७] एक अन्य पुस्तक में वे इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं : "ताओ में होने का अर्थ है पूर्णता, कृतकृत्यता, ... सर्वव्यापी सत्ता के अर्थ का पूर्ण साक्षात्कार। ताओ बृहत व्यक्तित्व है।"[८] ताओ अदृश्य, अग्राह्य जीवन का अनन्त स्रोत, सत्य का धाम और समग्र जीव-जगत् का उत्पत्ति स्थान है। ताओ हिन्दू ऋषियो के परमात्मा, परब्रह्म के सदृश है।

अहं का समष्टि सत्ता के साथ सम्पर्क कैसे करें। प्रार्थना और स्तोत्रपाठ, भगवन्नाम के जप और उसके अर्थ के चिन्तन, परमात्मा के ध्यान के द्वारा हम अपनी आत्मा में एक ऐसा संगीत, अपने भीतर एक ऐसी समरसता पैदा कर सकते हैं, जो हमें अपने क्षुद्र व्यक्तित्व से, अपने क्षुद्र अहंकार से अपनी व्यष्टि चेतना से ऊपर उठा दे। तब हम महत्-अहंकार, हम सभी में विद्यमान समष्टि चेतना के संस्पर्श का अनुभव करते हैं। इसी अवस्था में परमात्मा या समष्टि चेतना, व्यष्टि चेतना या सीमित आत्मा की तुलना में अधिक सत्य अनुभव होती है। इसी अवस्था में गम्भीरतम सामञ्जस्य स्थापित होता है। इसके बाद जीव जब सामान्य चेतना के, अहंकार, मन और देह के स्तर पर लौटता है, तो वह एक अद्‌भुत समन्वय और सामञ्जस्य का अनुभव करता है। तब व्यष्टि-चेतना समष्टि परमात्म-चेतना में बद्धमूल हो जाती है और आध्यात्मीकृत पक्के अहंकार का मन और देह के साथ तारतम्य बना रहता है तथा जो अहंकार के अत्यन्त आज्ञाकारी सेवक के रूप में कार्य करते हैं। इस स्थिति में व्यक्तित्व एक अवैयक्तिक परमात्म-सत्ता के साथ समन्वित और सुगठित होकर रहता है।

एक बार स्वामी विवेकानन्दजी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के एक गाँव के दौरे पर थे। उन्हें दर्शनशास्त्र पर व्याख्यान देते सुनकर विश्वविद्यालय के कुछ लोगों ने, जो काऊबॉय बन गये थे, उनके शब्दों को पकड़ लिया। जब स्वामीजी ने कहा कि परमात्मा की ज्योति का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति सभी परिस्थितियों में अपना सन्तुलन बनाये रख सकता है तो उन्होंने उनकी परीक्षा लेने की ठानी। उन्होंने स्वामीजी को व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया और लकड़ी की एक चौड़ी नाँद को जमीन पर उल्टा करके भाषण के लिए मञ्च बना दिया। स्वामी विवेकानन्दजी ने भाषण प्रारम्भ किया और वे शीघ्र ही विषय-वस्तु में डूब गये। अचानक बन्दूक चलने का भयानक शब्द होने लगा और उनके सिर के पास से गोलियाँ निकलने लगीं। लेकिन स्वामीजी बिना विचलित हुए भाषण देते रहे मानो कुछ अनहोनी बात

७. कार्ल जी. युंग, माडर्न मेन इन सर्च आफ ए सोल, (लन्दन, रोलेज एण्ड केगन पाल लिमिटेड, १९५३), पृ. १४१

८. कार्ल जी युंग, दि इन्टीग्रेशन आफ पर्सनालिटी, (लन्दन, रोलेज एण्ड केगन पाल लिमिटेड, १९५२), पृ. ३०५

हुई ही न हो।[९] यह आध्यात्मिक अनुभूति के फलस्वरूप प्राप्त आध्यात्मिक समत्व था, जिसके द्वारा गुरुत्व का केन्द्र भौतिक व्यक्तित्व में नहीं बल्कि दिव्य चेतना में, आत्मा की भी आत्मा – परमात्मा में प्रतिष्ठित हो गया था। ऐसी अनुभूति स्त्री अथवा पुरुष में एक सम्पूर्ण नयी दृष्टि को जन्म देती है।

इस्लाम का अनुभूतिपरक पक्ष सूफी धर्म कहलाता है। राबिया एक मध्यकालीन सूफी महिला सन्त थीं जो भगवद्भाव में विभोर रहा करती थीं। एक दिन किसी ने पूछा, "क्या तुम ईश्वर से प्रेम करती हो?" उसने कहा, "हाँ, मैं सचमुच उससे प्रेम करती हूँ।" और क्या तुम शैतान को अपना शत्रु समझती हो?" महिला सन्त ने मुस्कुराकर कहा, "मैं भगवान् को इतना प्रेम करती हूँ कि शैतान से नफरत करने का वक्त ही नहीं होता।" उनकी आत्मा परमात्मा के साथ संयुक्त थी, जिसके कारण वे अपने आसपास के कठोर-निष्ठुर संसार की क्रूरता और उथल-पुथल में अविचलित रहने में समर्थ हुई थीं। सन्तों और ऋषियों से हम यह शिक्षा प्राप्त करते हैं। वे महान् आन्तरिक समत्व से युक्त थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व का गठन कर लिया था और नियति के कठोर आघातों में भी अविखण्डित बने रहते थे।

ऐसा दुर्लभ और महाभाग व्यक्ति परमात्मा का स्वयं में तथा सभी प्राणियों में दर्शन करता है। उसका मन दुःखों से विचलित नहीं होता और सुखों से अभिभूत नहीं होता। वह वीतरागभय क्रोध हो जाता है। उसकी देह सचमुच देवालय बन जाती है। वह पवित्रता और प्रेम प्रसारित करता है और सभी के लिए प्रेरणा, शुभकामना और आशीर्वाद का चिरस्रोत बन जाता है। हमने अपने आध्यात्मिक गुरुजनों से सुना है कि अतिचेतन अवस्था की उपलब्धि के बाद ही वास्तविक आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ होता है।[१०] लेकिन हमारे लिए वह एक आदर्श मात्र है और आदर्श की अधिक चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। लक्ष्य, आदर्श निर्धारित करने के बाद हमें मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए और अल्प सामंजस्य से अधिकतर सामञ्जस्य (समत्व) प्राप्त करना चाहिए। यह निश्चय है कि समत्व एवं नैतिक पूर्णता के उच्च से उच्चतर स्तर पर आरूढ़ होने पर हम अधिकाधिक समरसता, शान्ति और धन्यता का लाभ करेंगे। अतः हम उठें, जागें और लक्ष्य प्राप्त होने तक बढ़ते चलें।

□□□

---

९. ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स, लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९७४), पृ. ३२८

१०. इटरनल कम्पेनियन, (१९७१), पृ. ३६६

अध्याय १६

भगवत्प्रेम

सच्चा भगवत्प्रेम :

कोई भी व्यक्ति प्रेम के बिना जीवित नहीं रह सकता। केवल विभिन्न लोगों के प्रेम पात्र भिन्न-भिन्न होते हैं। हम मानवों अथवा इन्द्रिय सुखों अथवा भगवान् और दिव्यानन्द के पीछे दौड़ते हैं। हमारा यह भगवान् की ओर अग्रसर होना आध्यात्मिक जीवन के सभी स्तरों पर विद्यमान रहता है। भगवान् हम में हैं, तथा हमारे माध्यम से कार्य करते हैं। इस सत्य का अनुभव करते ही हमारा समग्र दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। लेकिन सर्वप्रथम हमें कम से कम कुछ हद तक अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सजग होना चाहिए, क्योंकि स्वरूपत: हम भगवान् के अंश हैं। आत्मा, परमात्मा का एक अविभाज्य अंश है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, ''शाश्वत आत्मा का शाश्वत परमात्मा के साथ शाश्वत् सम्बन्ध धर्म है।'' [१] इसीलिए सत्य की स्पष्ट धारणा साधक के लिए, चाहे वह भक्त हो, या ज्ञानी हो, या योगी हो, इतनी आवश्यक है।

किसी पुरुष अथवा स्त्री के प्रति प्रेम की तरह भगवत्प्रेम अन्धा नहीं होता। वह सदा एक प्रकार की उच्चतर प्रज्ञा पर आधारित होता है। वह प्रेम की सामान्य मान्यता से भिन्न होता है। सामान्यत: हमारा प्रेम नदी की तरह निम्नगामी होता है। भगवान् से प्रेम करना मानो नदी के प्रवाह को उसके उस स्रोत की ओर मोड़ना है, जिस अक्षय स्रोत से मानव प्रेम की सभी धाराएँ उत्पन्न होती हैं।

जिस मात्रा में हम पवित्र होंगे, उसी मात्रा में हम अपने वास्तविक उच्चतर स्वरूप को जान पायेंगे तथा अन्तर्यामी परमात्मा के साथ सम्पर्क स्थापित कर पायेंगे। इसके लिए हमें अपनी निम्न प्रकृति का अतिक्रमण करना होगा। ज्ञानी पुरुषार्थ की सहायता से मन को नियन्त्रित करना चाहता है। भक्त अपनी समस्त भावनाओं को भगवान् में केन्द्रित करता है। ऐकान्तिक भक्ति द्वारा हमारी सभी वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। भगवद्भक्ति भक्तों के जीवन को पवित्र करने का सबसे महान् साधन है।

यही भगवत्प्रेम अन्ततोगत्वा भक्त को भगवान् से मिलाता है। लेकिन यह भावुक

---

१. विवेकानन्द साहित्य

लोगों की भक्ति नहीं है। यह भावुक उच्छ्वास, छिछलापन नहीं है। यह जीव की परमात्मा के लिए तीव्र पिपासा है। सामान्यतः हमारी भक्ति में कुछ नित्य और कुछ अनित्य का सम्मिश्रण होता है। वह विशुद्ध प्रेम (भक्ति) नहीं होता। भक्त अपनी अपवित्रता को भगवत्समर्पण द्वारा दूर करना चाहता है, जिससे उसे शुद्ध-भक्ति प्राप्त हो।

हम सर्वदा पूरी तरह ईमानदार नहीं होते। हमारे भगवत्प्रेम में कुछ सच्चाई अवश्य होती है, लेकिन उसमें कुछ इच्छाएँ भी मिली रहती हैं, वह पूर्ण-निष्ठा नहीं होती। साधना में निष्ठा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कई बार अपने को बहुत निष्ठावान् मानकर हम स्वयं को धोखा देते हैं। एक जर्मन महिला ने एक बार मुझसे कुछ निर्देश माँगे। वह दुर्बल दिख रही थी। वह हाल ही में बीमारी से ठीक हुई थी, और स्वास्थ्य लाभ के लिए अन्य स्थान पर जाने वाली थी। वह उस समय को ध्यान में बिताना चाहती थी। वह भगवत्साक्षात्कार करना चाहती थी। मैंने उससे कहा कि आध्यात्मिक निर्देश प्राप्त करने के पूर्व उसे अपना स्वास्थ्य सुधार लेना चाहिए। तब उसने पूछा, "स्वामीजी! क्या आप मेरी ईमानदारी पर शक करते हैं?" मैंने कहा, "नहीं, मैं शंका नहीं करता। लेकिन तुम्हारी ईमानदारी अन्य बातों के साथ मिली हुई है।"

अचानक पैदा होने वाली निष्ठा अल्पस्थायी होती है। हम बहुत-सी बातें चाहते हैं और भगवान् उनमें से एक हैं। प्रारम्भ में हमारा भगवत्प्रेम स्वतः प्रसूत होता है – सहजात होता है, परन्तु हमें धीरे-धीरे उस एक (परमात्मा) की सत्ता का अनुभव करना चाहिए, जो माता-पिता तथा संसार की अन्य सभी वस्तुओं से अधिक प्रिय है। साधना द्वारा चित्तशुद्धि करके हमें भगवान् के प्रति अपने प्रेम के अनुपात को बढ़ाना चाहिए, जो किसी कारण विभिन्न सांसारिक वासनाओं के साथ मिल गया है। हममें पूर्ण एकान्तिक प्रेम होना चाहिए। हमारी सभी भावनाएँ भगवान् में केन्द्रित होनी चाहिएँ। तथा अन्य किसी भी वस्तु को मन को भगवान् से विमुख करने तथा हमें उसकी ओर आकृष्ट करने नहीं देना चाहिए। इस प्रकार अपनी सभी इच्छाओं और वासनाओं को भगवान् की ओर सचेतन-प्रयास द्वारा निरन्तर लगाये रखने से हमारी मनोवृत्तियाँ और भावनाएँ विशुद्ध और उदात्त हो जाती हैं। तब हम जान पाते हैं कि वास्तविक भक्ति क्या है। इस प्रक्रिया द्वारा हम एकाग्र किन्तु अपरिशुद्ध भावनाओं और मनोवृत्तियों तथा योग साधना के साथ जुड़े हुए, महान् खतरे से भी बचते है।

हम भोजन, मित्र, धन, सम्पत्ति से प्यार करते हैं। लेकिन यह प्रेम हमारे क्षुद्र 'अहं' पर केन्द्रित है। यह अहंकार समस्याएँ पैदा करता है और समस्त दुःखों का कारण है। एक सरल हृदय ग्रामीण को अपनी पत्नी त्यागने के आरोप में न्यायाधीश के सामने पेश किया गया। उसने प्रतिवाद किया, "महामहिम! मैंने पत्नी का त्याग नहीं किया, उल्टे मैं शरणार्थी हूँ।" मानवी प्रेम प्रायः घोर स्वार्थपरता सिद्ध होता है।

जरा इसकी तुलना श्रीरामकृष्ण और उनके शिष्यों के सम्बन्ध से करो। उस प्रेम की गहराई और शुद्धता का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। नरेन्द्रनाथ (जो आगे चलकर

स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्वविख्यात हुए) श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्य थे। श्रीरामकृष्ण उन्हें बहुत प्यार करते थे, जो अनेक प्रकार से अभिव्यक्त होता था। उनके दर्शन मात्र से वे भावविह्वल हो जाते थे। लेकिन एक बार श्रीरामकृष्ण ने अपने इस शिष्य की कठिन परीक्षा ली। अचानक उन्होंने उसकी पूरी तरह उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया। नरेन्द्र के आकर प्रणाम करने पर श्रीरामकृष्ण चुप हो जाते, लेकिन उनके कमरे से बाहर जाने पर दूसरों से बातचीत करने लग जाते। श्रीरामकृष्ण ने उपेक्षा का यह भाव कई सप्ताहों तक बनाए रखा, लेकिन इस दौरान नरेन्द्र पूर्ववत् उनके पास आते-जाते रहे। एक महीने के बाद श्रीरामकृष्ण ने युवक शिष्य से पूछा, "मैं तुमसे एक शब्द भी नहीं बोलता, फिर भी तुम आते हो। क्या बात है?" नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "क्या आप सोचते हैं, कि मैं केवल आपकी बातें सुनने के लिए यहाँ आता हूँ? मैं आपसे प्रेम करता हूँ, और आपके दर्शन करना चाहता हूँ। इसलिए आता हूँ।"[२] यह नि:स्वार्थ प्रेम है।

एक बार नरेन्द्र ने स्वयं श्रीरामकृष्ण से कहा कि वे उसके प्रति आसक्त न होवें। यह सुनकर बाल-स्वभाव श्रीरामकृष्ण तत्काल माँ जगदम्बा की राय जानने कालीमन्दिर पहुँचे। माँ जगदम्बा ने उनके सामने यह सत्य उद्घाटित किया कि वे अपने युवा-शिष्य के भीतर भगवान् का दर्शन करते हैं, इसलिए उससे प्रेम करते हैं। जिस दिन वे ऐसा नहीं करेंगे, उस दिन उनके लिए उसको देखना भी सम्भव नहीं होगा।[३] श्रीरामकृष्ण का शिष्यों के प्रति प्रेम सामान्य प्रेम नहीं था। वह सर्वव्यापी परमात्मा की अपरोक्ष-अनुभूति पर आधारित आध्यात्मिक सम्बन्ध था। ऐसे प्रेम में आकर्षण का केन्द्र क्षुद्र अहंकार नहीं, बल्कि परमात्मा होता है।

श्रीचैतन्य के जीवन में भी ऐसी एक घटना का वर्णन है। पुरी में निवास करते समय एक बार वे एक निम्न जाति के भक्त का आलिंगन करना चाहते थे। वह व्यक्ति भयभीत हो दूर हटकर कहने लगा, "प्रभु, मैं नीच जाति का हूँ, मुझे स्पर्श न करें।" श्रीचैतन्य ने उत्तर दिया, "तुम यह क्या कहते हो? तुम्हार स्पर्श से मैं स्वयं पवित्र हो गया हूँ।" देव-मानव सर्वत्र सर्वव्यापी परमात्मा की सत्ता का अनुभव करते हैं। उनके लिए ऊँची और नीची जाति, धनी-निर्धन का अन्तर नहीं होता।

विभिन्न प्रकार के भक्त :

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, और ज्ञानी ये चार प्रकार के लोग भगवान् की आराधना करते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये सभी प्रशंसनीय हैं, लेकिन चतुर्थ अर्थात् ज्ञानी, भगवान् को सर्वाधिक प्रिय है।[४] इस महत्त्वपूर्ण वक्तव्य का क्या अर्थ

---

२. ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स, लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९७४), पृ. ६७-६८ ३. वहीं पृ. ५९-६० ४.श्रीमद्भगवद्गीता, ७.१६-१८

है? ज्ञानी, परमात्मा का सभी प्राणियों में दर्शन करता है, तथा उसके साथ नित्ययुक्त रहता है। वह स्वयं अथवा दूसरों के अशुभ से अप्रभावित रहता है। औपनिषदिक् ऋषियों को यह अनुभूति हुई थी। उनमें से एक कहते हैं :

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।[५]

अर्थात् तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो, तुम कुमारी भी हो। तुम दण्ड के सहारे चल रहे वृद्ध हो, तुम अनेक रूपों को धारण करते हो।

यौवन में साधक के रूप में स्वामी विवेकानन्द निरन्तर समाधि में मग्न रहना चाहते थे। लेकिन श्रीरामकृष्ण ने उन्हें कहा, कि उससे भी ऊँची एक स्थिति है, अर्थात् परमात्मा का समस्त प्राणियों में दर्शन करना। अवश्य, यह एक बहुत उच्च आदर्श है।

लोग अनेक प्रकार के होते हैं। जीवन तथा ईश्वर के प्रति अनेक दृष्टिकोणों में बहुत पार्थक्य होता है।

१. पक्के संसारी लोग सामान्यतः भगवान् की जरा भी फिक्र नहीं करते; वे सांसारिक और वैषयिक सुखों के लिए अत्यधिक लालायित रहते हैं और दुःखों से बहुत डरते हैं।

२. एक अन्य प्रकार के संसारी लोग भगवान् का चिन्तन करते हैं, लेकिन वे उन्हें अधिकतर वरदाता, मौलिक सम्पत्ति तथा सुख का प्रदाता ही मानते हैं। उन्हें भी बहुत सुखाभिलाषा होती है तथा वे संसार के दुःखों से डरते हैं।

३. कुछ आंशिक रूप से संसारी और आध्यात्मिक भावापन्न लोग भगवान् की उपासना करते हुए भी सांसारिक सुखों से अत्याधिक आसक्त रहते हैं। वे दुःखों का अनुभव करते हुए भी अप्रिय को प्रिय समझने का प्रयत्न करते हैं।

४. कुछ यथार्थवादी लोग भगवान् की परवाह किये बिना जीवन के सुख और दुःख को अपरिहार्य मानकर वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में स्वीकार करते हैं।

५. कुछ अध्यात्मप्रवण लोग जीवन के सुख दुःखों को अपने शुभाशुभ कर्मों का परिणाम मानकर शान्तिपूर्वक स्वीकार करते हैं और यथासाध्य अच्छा जीवन यापन करने का प्रयास करते हैं।

६. अन्य लोग सब कुछ भगवान् का दिया हुआ मान कर यथासंभव धर्म और कर्तव्य के पथ का अनुसरण करते हुए अविचलित और सन्तुष्ट बने रहने का प्रयास करते हैं।

७. अन्य लोग सुख-दुःख को, अपने कर्मों के दण्ड अथवा पुरस्कार के रूप में ही नहीं, बल्कि लौकिक अस्तित्व के अपरिहार्य द्वन्द्व के रूप में देखते हैं। वे अनासक्ति, पवित्रता, कर्तव्य पालन, निष्काम-सेवा और साधनामय जीवन यापन करने का प्रयत्न करते हैं, और उस परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, जो सभी सापेक्ष और शुभाशुभ से परे

---

५. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.३

है। सांसारिक सुखों के समान सांसारिक दु:खों में भी वे सन्तुलन बनाये रखते हैं और द्वन्द्वों से विचलित अथवा पथभ्रष्ट हुए बिना उच्चतर जीवन यापन करने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

एक प्रकार के प्रेम में प्रेमी केवल अपने सुख की चिंता करती अथवा करता है। दूसरे प्रकार के प्रेम में आदान-प्रदान, लेन-देन का भाव रहता है, दोनों प्रेमी एक-दूसरे के सुख की चिंता करते हैं। एक तीसरे प्रकार का प्रेम है, जिसमें प्रेमी अपने सुख की चिंता करता ही नहीं है। उसका समग्र मन प्रेमास्पद के सुख में लगा रहता है।

यदि भगवत्प्रेम में हमें आनन्द और शान्ति प्राप्त न हो, तो समझना चाहिए, कि हमारे इस प्रेम में कुछ त्रुटि है। सांसारिक वासनाओं से रहित विशुद्ध प्रेम हमें बहुत आनन्द और पूर्णता अवश्य प्रदान करेगा। भगवान् प्राय: हमारी आसक्ति की वस्तुओं को छीन लेते हैं, ताकि हम उनसे (भगवान् से) शुद्ध-नि:स्वार्थ प्रेम कर सकें। आध्यात्मिक जीवन कई बार भौतिक-स्तर पर दारिद्र्य और दु:ख से पूर्ण होता है, लेकिन विशुद्ध-प्रेम और उसके माध्यम से परमानन्द की प्राप्ति के लिए ये सारी बातें प्राय: आवश्यक होती हैं। भगवान् हमारी सबसे बड़ी सम्पद् हैं और उसका सञ्चय करने के लिए काँच के दाने और गोटा आदि को फेंकना पड़ता है।

भगवत्प्रेम की शक्ति :

ईश्वरीय-शक्ति की धारणा केवल जगत् की सृष्टि-स्थिति और लय के रूप में ही मत करो, अपितु भगवत्प्रेम तथा ईश्वरीय-ज्ञान के द्वारा प्राप्त शक्ति के बारे में सोचो। शक्ति, शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक हो सकती है। सभी प्रकार की शक्तियों की आदि कारण माँ जगदम्बा से प्रार्थना करो। माँ जगदम्बा की भक्ति से असीम शक्ति प्राप्त होती है। तुम उनके हाथों में यन्त्रमात्र हो। लेकिन यन्त्र भी कार्यरत होता है और याद रखो यन्त्र के रूप में तुम्हारी शक्ति असीम है।

जिस प्रकार जगदम्बा तुम में विद्यमान है, उसी तरह वे सभी में विद्यमान हैं। इस तरह सोचो, अन्यथा आज जो प्रेम है, वही कल घृणा में परिणत हो जाएगा। हमारा प्रेम घृणा से सम्बन्धित रहता है। उसे प्रेम के लिए प्रेम होना चाहिए। यदि यह भाव बनाये रखना सम्भव न हो, तो प्रारम्भ में हमें कम से कम परस्पर प्रेम के लेन-देन का भाव रखना चाहिए। उसके बाद एक स्थिति आयेगी, जब तुम जितना पाओगे, उससे अधिक देना चाहोगे। उच्चतम अवस्था वह है, जब व्यक्ति अपने बारे में सोचता तक नहीं। वह प्रतिदान की अपेक्षा किये बिना देता चला जाता है।

अभी हमारा प्रेम स्वार्थयुक्त है। क्या तुम आधा-आधा की कहानी जानते हो? एक होटल खरगोश के मांस के कबाब के लिए प्रसिद्ध था। एक दिन एक ग्राहक को स्वाद में अन्तर प्रतीत हुआ। पुलिस को सूचना दी गई। होटल मालकिन ने कहा, "महाशय, मैं क्या

करूँ, खरगोश का मांस मिलना मुश्किल हो गया है। अत: मैंने थोड़ा सा घोड़े का मांस मिला दिया है। "किस अनुपात में?" पुलिस ने पूछा। उसने कहा, "आधा-आधा" – याने एक खरगोश के साथ एक घोड़े का। हमारा, दूसरों के प्रति प्रेम एक खरगोश के वजन का होता है और स्वयं के प्रति एक घोड़े के वजन का सा। सचमुच आधा-आधा। लोग और हम स्वयं भी विश्वसनीय नहीं हैं। प्रेम के अनन्त स्रोत के निकट जाओ। उस विशुद्ध प्रेम की एक बूँद हम प्राप्त करते हैं। वह स्वार्थपरता से अत्यधिक अपमिश्रित हो जाता है। उसे शुद्ध करो। सभी में आत्म-प्रेम है। उसे उदात्त कैसे करें, यही समस्या है। विज्ञान में विशुद्धिकरण की प्रक्रिया उदात्तीकरण कहलाती है। ईसाई उसे 'परगेशन' कहते हैं। अपने प्रेम को शुद्ध करना – यह हमारे जीवन का प्रस्तुत कार्य है।

अपने भगवत्प्रेम को, परमात्मा के प्रति प्रेम को बढ़ाओ। तब दूसरों के प्रति प्रेम बढ़ेगा। हम सभी माँ जगदम्बा के माध्यम से परस्पर सम्बन्धित हैं। सर्वप्रथम वैयक्तिक प्रेम होता है। उसके बाद हम क्रमश: अनुभव करते हैं कि हम परमात्मा के अंश हैं – आत्मा हैं। तब हमारा दूसरों के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित होता है। मानव-प्रेम का स्थान आध्यात्मिक-बन्धुत्व ले लेता है। आसक्ति के स्थान पर स्वाधीनता आ जाती है। स्वार्थपरता का स्थान सेवा ले लेती है। इस प्रेम को बढ़ाओ, इसे दूसरों को दो, दूसरों को सम्मान प्रदान करो। सभी में विद्यमान परमात्मा का चिन्तन करो। पारिवारिक-प्रेम तथा मित्रों का प्रेम स्वार्थपूर्ण होता है। जानो कि यह प्रेम भगवान् से सम्बन्धित असीम प्रेम का बिन्दुमात्र है। इसे भगवत्प्रेम से संयुक्त करने का प्रयत्न करो। अपनी दैनन्दिनी साधना के बाद माता-पिता, सम्बन्धियों, मित्रों और विद्वेषियों में भी भगवान् को प्रणाम् करो। सभी को नि:स्वार्थ-भाव से प्रेम करने का प्रयास करो।

हमें चैतन्य के उच्चस्तर पर उठने का प्रयत्न करना चाहिए, जो समस्त शुभाशुभ इच्छाओं और मनोभावों से परे है। सदा याद रखो कि शुभ-भावनाओं से अशुभ-भावनाओं के स्तर पर आने में देर नहीं लगती। अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखो, और उन्हें आध्यात्मिक दिशा प्रदान करना सीखो। दूसरे व्यक्ति के प्रति अपने प्रेम को भौतिक-स्तर पर व्यक्त करते समय सावधान रहो। यदि तुम किसी व्यक्ति से सचमुच प्रेम करते हो, तो तुम्हें उसकी अनासक्त होकर सेवा करने का प्रयास करना चाहिए। यदि ऐसा न कर सको तो दूर हो जाओ और उसके लिए प्रार्थना करो। जिन साधकों की कुछ चित्त-शुद्धि हो चुकी है, उन्हें अपनी इच्छाओं और कामनाओं को बाहर प्रकट करने में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। उन्हें कोमल भावनाओं और मनोभावों के विषय में अत्यधिक सतर्क होना चाहिए।

मन पर सतत निगरानी बनाए रखना चाहिए। यदि वह दैनन्दिन जीवन की छोटी-छोटी बातों में लापरवाह होगा, तो वह ध्यान में भी लापरवाही बरतेगा। ध्यान के लिए बैठने पर हमें कोई नया मन नहीं मिल जाता। वह तो वही पुराना मन ही रहता है, और यदि वह दूसरे समय भटकने का अभ्यस्त हो जाता है, तो यह कैसे अपेक्षा की जा सकती है कि वह

ध्यान के समय शान्त होगा? जिस मात्रा में हम भगवान को प्रेम करने तथा उनकी सेवा में रुचि का अनुभव करेंगे, उसी मात्रा में हमारी साधना में अधिकाधिक स्थिरता आएगी और वह फलप्रद होगी।

कर्म-निरत रहते हुए भी, मन सांसारिक वस्तुओं की ओर अग्रसर हो रहा हो उस समय भी, किसी न किसी प्रकार, चोरी-छुपे, भगवान् को भीतर प्रविष्ट करो। केवल भगवत्प्रेम को ही प्रोत्साहित करना चाहिए और यह सतत-अभ्यास द्वारा किया जा सकता है। मन के अधिकांश भाग को, जितना वह अभी है, उससे अधिक सजग, अधिक जाग्रत करना चाहिए। प्रभु को अपने जीवन का ध्रुवतारा बना लो।

जो व्यक्ति भगवान् को प्रेम नहीं करता, वह वस्तुत: आध्यात्मिक-जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। आध्यात्मिक-जीवन की सबसे महान् बात हमारे मानवी प्रेम को भगवत्प्रेम में रूपान्तरित करना है। निकृष्टतम आसक्ति के मूल में भी विशुद्ध प्रेम का सारभाग रहता है। बुराई के भस्म हो जाने पर विशुद्ध प्रेम बचा रहता है।

यह निश्चित रूप से जानो कि यदि किसी कारणवश कोई मानव तुम्हें त्याग दे, तो भी भगवान् ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि जैसा श्रीकृष्ण ने 'गीता' में कहा है, "हम भगवान् के नित्य-अंश स्वरूप हैं।"[६] अपने समग्र प्रेम को भगवान् की ओर मोड़ दो, और भगवत्प्रेम के माध्यम से दूसरों को प्रेम करना सीखो। अर्थात् दूसरों को व्यक्तिगत-रूप से प्रेम मत करो, लेकिन भगवान् के लिए तथा भगवान् के माध्यम से प्रेम करना सीखो। भगवान् का मानवों के प्रति जो पवित्र प्रेम है, उसका कुछ अंश दुसरों के प्रति हमारे प्रेम में होना चाहिए।

ईश्वराभिमुखीकरण :

अहंकार बार-बार सर उठाता है। अत: श्रीरामकृष्ण कहते हैं, उसे भगवान् का दास बना दो।[७] इच्छाएँ और वासनाएँ नियन्त्रित नहीं होना चाहतीं। उनकी तीव्रता बनाए रखकर, उन्हें ईश्वर की ओर मोड़ दो। स्त्री-पुरुषों के संग की लालसा के बदले भगवान् से मिलन की लालसा करो। उनके दर्शन से ही जीव की क्षुधा मिट सकती है। वे ही जीव की रिक्तता को भर कर उसे स्थायी शान्ति और आनन्द प्रदान कर सकते हैं।

तुम्हारे स्थूल और सूक्ष्म विषय सुखों की बाधाओं के प्रति क्रुद्ध होने के बदले भगवत्प्राति की बाधाओं से क्रुद्ध होओ। अपनी अशुभ इच्छाओं, उच्छृंखल-वासनाओं और क्रोध पर ही क्रुद्ध होओ और उन सबसे अपने महान् निष्ठुर शत्रुओं की तरह दूर रहो। दूसरे किसी मानवी पुतले अथवा क्षणस्थायी सांसारिक सम्पत्ति के लोभ के बदले भगवान् तथा उनकी अक्षय आध्यात्मिक सम्पत्ति की कामना करो जो कभी नष्ट नहीं होती तथा जिसके द्वारा ही स्थायी शान्ति मिल सकती है। श्रीमद्‌भागवत् में कहा गया है : काम, क्रोध, भय, स्नेह, मित्रता और आत्मीयता को भगवान् की ओर मोड़ने पर भगवत्साक्षात्कार होता है।[८]

---

६. श्रीमद्‌भगवद्गीता १५.७ ७. श्रीरामकृष्णवचनामृत

पारस के स्पर्श से सभी इच्छाएँ, वासनाएँ, लोभ और क्रोध रूपी निम्न धातुएँ अपना अशुभ स्वभाव त्याग कर, जीव को आनन्द व अमरत्व प्रदान करने वाली शुद्ध-भक्ति में रूपान्तरित हो जाती हैं। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में घोषणा की है; यदि कोई अति दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भाव से मेरी आराधना करता है, तो उसे साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि उसने शुभ-निर्णय ही किया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है। कौन्तेय! यह दृढ़तापूर्वक कहो, कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।[९]

यह सम्भव है, कि कोई व्यक्ति वासनाओं के बुरे परिणामों के बारे में भलीभाँति जानता हो, लेकिन फिर भी वह उनसे अपने को पूरी तरह दूर रखने में समर्थ न हो पाया हो। ऐसे व्यक्ति को क्या करना चाहिए? वह उनके ऊपर कैसे उठ सकता है। उनके प्रति साक्षी भाव का विकास करना दूसरा उपाय है। दोनों ही आसान नहीं हैं और साधना के प्रारम्भिक काल में तो लगभग असम्भव ही हैं। तब फिर साधक के लिए क्या उपाय है? उसे उन सभी को अपरोक्ष या परोक्ष रूप से परमात्मा के साथ जोड़ देना चाहिए। प्रत्येक इच्छा, प्रत्येक वैषयिक आवेग, प्रत्येक वासना को सचेतन तथा सज्ञात रूप से इच्छा शक्ति की सहायता से ईश्वराभिमुखी कर देना चाहिये। यदि उसकी कला प्रवणता, तथा कला का आनन्द उपभोग करने की इच्छा, बहुत प्रबल हो तो उसे किसी धार्मिक कला पद्धति को स्वीकार कर उसके द्वारा परमात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। लौकिक-संगीत के बदले भक्ति-संगीत का श्रवण करना चाहिए। दूसरों के लिए गाने के बदले भगवान् के लिए गाना चाहिए इत्यादि। यदि उसे मीठी सुगन्ध बहुत प्रिय हो, और वह पुष्पों के सौन्दर्य का उपभोग करना चाहता है, तो पुष्प तोड़ कर उन्हें भगवान् को अर्पित करे तथा उनसे भगवान् की वेदी का कलात्मक श्रृंगार करे। यदि वह किसी व्यक्ति से प्यार करना चाहता है, अथवा किसी के प्रति बहुत आकर्षित हो रहा है, तो उस व्यक्ति में परमात्मा को प्रेम करे, और इस प्रकार सीधे परमात्मा की ओर अग्रसर हो जाय।

सोच समझकर तथा सचेतन रूप से किये जाने पर ये सारे कार्य महान् संयम एवं नियन्त्रण कारक सिद्ध होते हैं, तथा हमारी इच्छाओं के उदात्तीकरण में, उन्हें उच्चतर दिशा प्रदान करने में तथा और अधिक पवित्रता अर्जन में सहायक होते हैं। लेकिन यहाँ भी साधक का प्राप्य चरम लक्ष्य मन का पूर्ण नियन्त्रण और भगवद् साक्षात्कार ही है। अन्य सभी साधन उसकी प्राप्ति के सोपान मात्र हैं। इस क्रमिक पथ का अवलंबन कर आगे या पीछे हमें विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम की उच्चतम अवस्था तक आरोहण करने में समर्थ होना होगा।

समस्त बाह्य-पदार्थों के साथ हमारे सम्बन्ध को ईश्वराभिमुखी करना चाहिए। परमात्मा सर्वत्र तथा सभी में हैं, लेकिन इसे अनुभव करने के लिए हमें अधिक सजग और सचेतन होना होगा। हमें अपनी इन्द्रियों तथा शुभ अथवा अशुभ सहजात प्रवृत्तियों के आवेशों के द्वारा कम परिचालित होना चाहिए, तथा अधिक चिन्तनशील होना चाहिए। हम इन सभी

---

८. भागवतम् १०.२९.१५ ९. श्रीमद् भगवद्गीता – ९.३०,३१

बातों में इतने लापरवाह और आलसी हैं कि हम इसके विपरित मार्ग को स्वीकार कर स्वयं अनन्त कष्ट भोगते हैं।

सभी जीवों में एक ही परमात्मा विद्यमान है – इस सिद्धान्त को हमें भलीभाँति हृदयंगम करना चाहिए। अभी हम उसे आधे मन से स्वीकार करते हैं। और वस्तुतः सच्चे वैराग्य और अनासक्ति के बिना उसे पूरी तरह स्वीकार करना एवं उसके अनुरूप कार्य करना सम्भव भी नहीं है। यदि हमें दृढ़ निश्चय हो जाय कि सभी में एक अखण्ड सत्ता विद्यमान है, तो किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति तीव्र-घृणा अथवा प्रबल पाशविक प्रेम होना सम्भव नहीं है। तब हम उस पुरुष अथवा स्त्री की पृष्ठभूमि में विद्यमान सत्ता की ओर ही अपनी दृष्टि निबद्ध रखेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि हम मूर्खों का सा आचरण करें और अपने संग के सम्बन्ध में विवेकहीन हो जायें। नहीं। एक अखण्ड-सत्ता की अभिव्यक्ति होते हुए भी हमें शेर को शेर ही समझना चाहिए और उसे आलिंगन करने नहीं जाना चाहिए। सभी स्त्री-पुरुषों में परमात्म सत्ता विद्यमान है यह हमें जानना चाहिए लेकिन जब तक हम इन्द्रिय ग्राह्य प्रापञ्चिक स्तर पर हैं तब तक यह ज्ञान हमारे विवेक और सावधानी बरतने में बाधक नहीं होना चाहिए। अपवित्र और अनैतिक आचरण कर रहे सांसारिक व्यक्ति की पृष्ठभूमि में विद्यमान एक सत्ता को देखना चाहिए, लेकिन उसके साथ घनिष्ट वार्तालाप नहीं करना चाहिए। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। और यदि हम इस नियम का पालन न करें, तो किसी न किसी दिन हमारा पैर फिसलेगा, और हम अवश्य कष्ट भोगेगें। इस विषय में साधक जितना सतर्क हो, उतना कम है। जिस मात्रा मे हम सर्वव्यापी एक अखण्ड सत्ता को स्वीकार करेंगे, उसी मात्रा में हमारी घृणा, तथाकथित मानवी प्रेम, आसक्ति कम होगें, तथा शक्तिहीन और प्रभावहीन होगें। जहाँ भी हम किसी साधक में सांसारिक लोगों तथा विपरीत लिंग के व्यक्तियों से बिना विचारे मिलने-जुलने की इच्छा पायें, तो हमें समझ लेना चाहिए कि उसमें कोई बड़ी त्रुटि है। सांसारिक वस्तुओं और भोग की उसकी इच्छाओं का प्रबल प्रभाव अभी कम नहीं हुआ है, चित्तशुद्धि नहीं हुई है। आध्यात्मिक साधना और प्रगति का उसके लिए कोई प्रश्न ही नहीं है।

सामान्यतः हमारी आसक्ति हमारी समग्र बुद्धि को धूमिल बना देती है। हमें रूप, व्यक्तित्व और इन्द्रिय-विषयों के बदले आत्मा को अधिक महत्त्व देने में समर्थ होना चाहिए। लेकिन जब तक विषय सुख की लालसा, इस क्षुद्र व्यक्तित्व से हमारा लगाव, हमारी बुद्धि को आवृत किए हुए हैं, तब तक हम वस्तुतः एक अखण्ड सत्ता का ठीक-ठीक चिन्तन कर ही नहीं सकते और इसीलिए हम उन्हीं पुरानी गलतियों को बार-बार दुहराते जाते हैं। अतः सभी साधकों को यथासम्भव वैराग्य की वृद्धि करनी चाहिए। उसके बिना कुछ भी ठोस उपलब्धि नहीं हो सकती।

वैराग्य के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों पक्ष हैं। हमें यथासम्भव दूसरों से असंयुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए, और तब परमात्मा के साथ संयुक्त होना चाहिए,

जिससे बाद में दूसरों के साथ सभी सम्बन्ध पुन: कभी सीधे न होकर परमात्मा के माध्यम से होवें। मानवी प्रेम को परमात्मा के साथ जोड़ देने से धीरे-धीरे उसका रूपान्तरण किया जा सकता है, लेकिन ऐसा न करने पर वह अपभ्रष्ट हो जाता है, और अन्त में दु:खदायी होता है। हमारे सभी सीधे सम्बन्ध देह-जनित होते हैं, और दूसरों के साथ देह के माध्यम से ही बने रहते हैं। इनमें ऐसा कुछ स्थायी नहीं होता जो किसी को भी वास्तविक शान्ति और आनन्द प्रदान कर सके।

सामान्यत: हमारा अपनी देह, इन्द्रियों तथा वासनाओं के साथ इतना प्रबल तादात्म्य रहता है कि हम भगवान् को दूर हटा देते हैं। जिस भी व्यक्ति में परमात्मा के विषय में संशय है उसी में अहंकार, इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-विषयों के प्रति अस्वाभाविक आसक्ति रहती है, जिसके कारण भगवान् दूर हो जाता है। जब तक व्यक्ति में अहंकार और दम्भ, विषय भोगों और भोग्य-पदार्थों की लालसा, भरे पड़े हों, तब तक उसके जीवन में भगवान् के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। मन की इच्छाओं और वासनाओं से पूरी तरह मुक्त होने पर भगवत्-साक्षात्कार तत्काल हो जाता है। अत: यदि हमें भगवत्-साक्षात्कार नहीं होता, यदि हमें सत्य की एक झलक भी नहीं मिलती, तो इसके कारण के विषय में प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं है। हमें यह जानना चाहिए, कि हमारे मन के अचेतन और अवचेतन भागों में, अभी भी प्रबल वासनाएँ विद्यमान हैं, और सर्वप्रथम इन बाधाओं को दूर करना चाहिए। जब तक हम इन्हें बने रहेने देगें, तब तक भगवत् साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। हमें अपने ऊपर विद्यमान मनोवेगों के प्रभुत्व को नष्ट कर देना चाहिए।

ज्यों ही मनोवेग उठें, त्यों ही अपनी चेतना को व्यापक करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से सागर में लहर की तरह ये मनोवेग तत्काल विलीन हो जायेंगे। जो व्यक्ति अपनी चेतना को विस्तारित करना, उच्चतर प्रकार की चेतना अर्जित करना, जानता है, वह अपने मन में उठ रहे इन आवेगों से प्रभावित नहीं होता। अपने आवेगों से ऊपर उठने का एक बहुत प्रभावशाली उपाय, परमात्म चेतना से, उस अनन्त सत्ता से सम्पर्क स्थापित करना है, जो हममें सदा विद्यमान है, और तब अपने सभी विचारों को उससे ही जोड़े रखना चाहिए।

झूठे इष्टों का वास्तविक इष्ट देवता में विलय :

हम लोगों से मेल-मिलाप करने में कितना समय गँवाते हैं? दूसरों के बारे में सोचने में हम कितना समय खर्च करते हैं? यह ध्यान जैसा ही है – उतना ही तीव्र, लेकिन इसमें झूठे चित्र और झूठी भावनाएँ होती है। इस तरह आध्यात्मिक जीवन में प्रगति नहीं हो सकती। हमें क्षुद्र गुड़ियाओं और कठपुतलियों का त्याग कर उस परमात्मा तक पहुँचना चाहिए, जिसके हाथ में उनकी डोर है, तथा जो उन्हें यह अजीब नाच नचा रहा है। अपनी ओर अनासक्त रूप से देखने पर हम पायेंगे, कि हममें कितनी अजीब बातें हो रही हैं। दूसरों में

समय व्यर्थ गँवाने के बदले यदि हम सारा समय इष्ट चिन्तन में लगाते, तो हमारी कैसी अद्भुत प्रगति होती। डोर पकड़ने और हिलानेवाले के बिना कठपुतली का क्या महत्त्व है? अत: सभी भावनाओं को इष्ट-देवता पर केन्द्रित करने के स्थान पर इतना राग-द्वेष, इतनी इच्छा-अनिच्छा क्यों? इष्ट सदा तुम्हारे भीतर है। वे कभी भी तुम्हें मँझधार में नहीं छोड़ते, कभी हताश नहीं करते, कभी दु:ख और निराशा नहीं देते; लेकिन उन्हें अपना बनाना, उनके सान्निध्य में आना, एकमात्र उनके प्रति अपने को समर्पित करना आना चाहिए। दुर्भाग्य से, कभी-कभी ऐसा होता है, कि हममें अपने इष्टदेवता के प्रति पर्याप्त प्रेम नहीं होता। हम केवल मानवों के बारे में सोचते रहते हैं, और मानव कठपुतलियों के गुलाम होना चाहते हैं। यदि हम किसी दिव्य महापुरुष को अपना इष्ट बना लें, तो दृश्यमान् जगत् से हमें बाँधने वाले तथा हमारी आध्यात्मिक प्रगति को रोकने वाले सैकड़ों झूठे मानव 'इष्टों' का चिन्तन करने से हम बच जायेंगे। उन सभी के ऊपर ऊठे बिना हम वास्तविक प्रेम व स्वाधीनता को कभी नहीं जान पायेंगे।

सर्वप्रथम, हमारा स्वयं अपने प्रति दृष्टिकोण गलत है। तब स्वाभाविक ही, हमारा दूसरों के प्रति दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण हो जाता है। सदा सावधान रहो। अपने विचारों का निर्मम विश्लेषण करो। कठपुतलियों को अपने चारों ओर अदृश्य बेड़ियाँ फैलाने तथा उनसे तुम्हें बाँधने मत दो। दिन भर के अपने विचारों का अवलोकन करने पर हम पायेंगे कि इष्ट देवता के बदले सैकड़ों सांसारिक इष्टों ने हमारे चिन्ता-जगत् और भावना-जगत् में घर कर रखा है। हमें सच्चे इष्ट से संलग्न रहना चाहिए, और झूठे इष्टों को सच्चे इष्टदेवता में विलीन कर देना चाहिए। प्रारम्भिक साधक के लिए यह कितना ही पीड़ादायक क्यों न हो, इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। मन के अन्तर्प्रवाह को सदा इष्ट के साथ संयुक्त रखो। तुम्हें आकर्षित या विकर्षित करने वाले सभी रूपों के स्थान पर भगवद्रूप को स्थापित करो। तब तुम्हारा जीवन सुखी, आसक्ति-रहित तथा सचमुच फलप्रद होगा। तब उसमें नैराश्य नहीं होगा।

कुछ लोगों का विचार कर कभी तुम सिहर उठते हो, कभी घृणा का अनुभव होता है, तो कभी प्रबल यौन-आकर्षण, तथाकथित प्रेम का अनुभव होता है। यदि इन सभी भावनाओं को सचेतन रूप से तीव्रतापूर्वक तत्काल इष्ट के साथ संयुक्त कर दो, तो शक्ति क्षय होने से बचती है तथा इन सभी विक्षेपों से छुटकारा मिलता है। जब दूसरे लोगों के विचार मन में उठें, तो उसके स्थान पर इष्ट का चिन्तन करो। उनके बदले सदा इष्ट के ज्योतिर्मय रूप का चिन्तन करो। इस तरह तुम शक्ति-क्षय कम करोगे। यही नहीं, इस अभ्यास से महान् आध्यात्मिक लाभ भी होता है।

हममें अभी भी बहुत अधिक देहात्म-बोध है, इसलिए हम देह के सन्दर्भ में सोचते हैं। जब जब तुम देखो कि तुम्हारे मन में किसी व्यक्ति का विचार उठ रहा है, जो निरर्थक अथवा हानिकारक है, चाहे वह आकर्षक हो या विकर्षक, लेकिन तुम्हारे आध्यात्मिक

विकास में सहायक नहीं है, तो उसके स्थान पर तत्काल अपने इष्टदेवता का चिन्तन आरम्भ कर दो। यह तीव्रतापूर्वक करो और साथ ही जप करो। हमारा समग्र ध्यान परमात्मा में लगा होना चाहिए। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक "देववाणी" में कहा हैं : "दिनभर के लिए आवश्यक हमारा समग्र चिन्तन परमात्मा के सन्दर्भ में किया जा सकता है।"

मानव मन सृजनात्मक है, और वह कुछ न कुछ अवश्य सृजन करेगा। यदि तुम इस क्रियाशीलता को सचेतन रूप से, जानबूझकर उच्चतर प्रकार के सृजन की सही दिशा प्रदान नहीं करोगे, तो वह निम्नस्तर पर सृजन करेगा। सामान्य व्यक्ति की हानिकारक क्रियाशीलता और सृजनशीलता को नियन्त्रित करने का श्रेष्ठतम उपाय उसकी शक्ति को उच्चतर दिशा प्रदान करना है। सृष्टि भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक होती है। उच्चतम प्रकार की सृष्टि का प्रयास क्यों न किया जाय? हम भौतिक-स्तर पर क्रियाशील होना चाहते हैं। आध्यात्मिक-स्तर पर भी क्रियाशील क्यों न हों?

बंगाल के, अठारहवीं सदी के महान् सन्त कवि रामप्रसाद अपनी एक कविता में कहते हैं :

मन कहूँ तू भज काली, जैसी तेरी इच्छा हो रे।
गुरुदत्त महामन्त्र निशदिन जपा कर रे।।
शयन को प्रणाम् जान, निद्रा तेरी माँ का ध्यान।
आहार करते सोचो, यह आहुति श्यामा माँ को रे।
कानों से जो सुनो, वे हैं माँ के मन्त्र सारे।
पञ्चाशत् वर्णमयी काली, वर्ण-वर्ण नाम उसके रे।।
रामप्रसाद कहे आनन्द भरे, सर्वत्र माँ विराज करे।।
नगर घूमो सोचो मन में, प्रदक्षिणा श्यामा की रे।।

इस सुन्दर भजन का भाव यह है कि हमारी सभी क्रियाओं को परमात्मा से जोड़ना चाहिए।

धार्मिक कट्टरपन्थी मत बनो :

पश्चिम के देशों में ऐसे बहुत से लोग मिलते हैं, जो निराकार का ध्यान करना चाहते हैं। निराकार के ध्यान के सोपान के रूप में भगवान् के साकार रूपों की आवश्यकता उन्हें समझाना कठिन होता है। उनके साथ हुआ यह है कि वे उस दैवी व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट नहीं होते, जो उन सभी पर बिना प्रभेद किए थोप दिया गया हो। यदि उन्हें किसी अन्य दैवी-महापुरुष का ध्यान करने को कहा जाय, जो उनके स्वभाव के अनुरूप हो, तो वे उनका ध्यान करने को राजी हो जायेंगे, और यह उनकी आध्यात्मिक प्रगति में अवश्य सहायक होगा। लेकिन दिव्य-महापुरुष के ध्यान से हमें धर्मान्ध नहीं बन जाना चाहिए। हमारे दृष्टिकोण में सभी दिव्य-महापुरुषों को परमात्मा की विशेष अभिव्यक्तियों के रूप में स्वीकार करने की उदारता होनी चाहिए।

हमारे अधिकांश धार्मिक अथवा सैद्धान्तिक विवाद सत्य के प्रति हमारे संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण होते हैं। हम एक वैचारिक स्तर तक उठ पाते हैं, उस स्तर से सत्य का अवलोकन करते हैं, और दूसरों से झगड़ा करने लगते हैं, जिनके भी दृष्टिकोण हमसे भिन्न और संकीर्ण होते हैं। हम भूल जाते हैं, कि हम चरम सत्य के अनेक पक्षों में से केवल एक को ही जानते हैं। सीमित दृष्टिकोण चेतना के स्तर-विशेष के अनुसार सत्य हो सकते हैं, लेकिन वे सम्पूर्ण सत्य नहीं है। निरपेक्ष अनन्त सत्ता के स्तर पर उठने पर ही हम पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं, और प्रत्येक आंशिक-दृष्टिकोण को उचित स्थान प्रदान कर सकते हैं।

भारत में इस सिद्धान्त को आदि काल से भीतर किया गया है, और इस देश में अधिक धार्मिक-प्रताड़ना और हठधर्मिता नहीं थी। भारत में आध्यात्मिक-जीवन के लिए एक आदर्श-निर्धारित करने तथा केवल एक अवतार को ही सत्य मानने की गलती नहीं की गई। सैद्धान्तिक संकीर्णता पश्चिम में आध्यात्मिकता के नाश का कारण है।

जब हम ईसा मसीह की उपासना करते हैं तब हमें ईसा-चेतना प्राप्त होती है। कृष्ण की उपासना करते समय हमें कृष्ण-चेतना प्राप्त होती है। रामकृष्ण की उपासना करते समय हमें रामकृष्ण-चेतना प्राप्त होती है। और प्रत्येक हमें अनन्त-चैतन्य परमात्मा तक पहुँचा सकती है। क्योंकि इन सभी महापुरुषों ने अनन्त के साथ अपने एकत्व की अनुभूति की थी। प्रत्येक अवतार परमात्मा तक पहुँचने का मानो एक द्वार है। यदि ईसा-व्यक्तित्व मुझे आकर्षित न करे, मेरे रुचि के अनुरूप न हो, तो मैं ईसा की उपासना द्वारा लाभान्वित नहीं हो सकूँगा और मेरा सारा आध्यात्मिक-जीवन असफल हो जाएगा। मुझे उस दिव्य-महापुरुष का अनुसरण करना चाहिए, जो मेरे मानसिक गठन के अनुकूल हो, तथा जो मेरे आदर्श की पूर्ति कर सके। ईसा के अनुसरणकारी को बुद्ध अथवा कृष्ण की उपासना करने को नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उससे उसका आध्यात्मिक जीवन निष्फल हो जाएगा। धर्मान्ध लोग प्राय: इस महत्त्वपूर्ण सत्य को हृदयंगम नहीं कर पाते। स्वयं अन्धे, वे दूसरों को भी अन्धे रखना चाहते हैं। विश्व के विभिन्न धर्मों के सभी महान् अवतार और पैगम्बर उसी एक परमात्म-सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं। सभी के लिए केवल एक त्राणकर्ता नहीं हो सकता। सभी पर एक ही परित्राता थोपना बहुत हानिकारक है।

धर्मान्धता केवल अवतारों के उपासकों तक ही सीमित नहीं है। अद्वैतवादी भी धर्मान्ध हो सकते हैं। सभी के समक्ष यह घोषणा करना कि देवी-देवता तथा अवतार सब माया के कार्य होने के कारण मिथ्या हैं, मूर्खता की पराकाष्ठा है। अद्वैतवादियों को भी समग्र-सृष्टि में अनुस्यूत परमात्मा को स्वीकार करना पड़ता है। बहुत से लोगों के लिए सगुण-ब्रह्म उतना ही महत्त्व रखता है, जितना निर्गुण ब्रह्म। सर्वातीत निर्गुण निराकार तक पहुँचने का मार्ग सर्वव्यापी ब्रह्म से होकर ही जाता है। सर्वप्रथम हमें परमात्मा का हमारे भीतर अनुभव करना चाहिए, उसके बाद दूसरों में, और अन्त में सभी नाम-रूपों का अतिक्रमण कर

एकमेवाद्वितीयम् का साक्षात्कार करना चाहिए। हमें सदा याद रखना चाहिए, कि नाम, रूप, उपाधियाँ आदि उसी व्यक्ति के लिए असत्य हैं, जिसने निर्गुण-निराकार का साक्षात्कार कर लिया है, दूसरों के लिए नहीं।

श्रीरामकृष्ण के सर्वसमन्वयकारी सिद्धान्त के अनुसार नाम-रूपातीत अनन्त परमात्मा सभी जीवों के रूप में तथा जगत् और जीवों के नियामक ईश्वर के रूप में अभिव्यक्त होता है। वह देवी-देवताओं का रूप भी धारण करता है। वह भगवद् अवतार के रूप में भी अभिव्यक्त होता है।

अनन्त परमात्मा अवाङ्मनसगोचर अर्थात् मन और वाणी की पकड़ से परे है। और इसका साक्षात्कार करने के लिए साधक को व्यक्त जगत् से प्रारम्भ करना चाहिए, तथा किसी दैवी नाम एवं दैवी रूप को स्वीकार करना चाहिए। भगवद्-रूप परमात्मा की एक विशेष अभिव्यक्ति है। वह हमें क्रमशः परमात्मा तक ले जाता है। भगवन्नाम भी परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार रूप रूपातीत तक ले जाता है, उसी तरह नाम नामातीत तक पहुँचता है।

हम सामान्य साधकों की समस्या यह है, कि हम अपने स्त्री अथवा पुरुष रूपी व्यक्तिगत आकार से चिपके रहते है, और किसी स्त्री अथवा पुरुष-रूपधारी देवी-देवता के साथ अपने को संयुक्त कर लेते हैं। और हम इस आरामदेह स्थिति से आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं होते। जब तक हम सर्वप्रथम अपने तथा ईश्वर के सम्बन्ध में अपनी इस भौतिकवादी धारणा से छुटकारा नहीं पाते, तब तक हम सही अर्थों में कोई प्रगति नहीं कर सकते। मैं यह नहीं कहता कि स्वयं को भक्त समझकर किसी पुरुष अथवा स्त्री ईश्वर की आराधना करना बुरा है। यह सचमुच बहुत अच्छा और आवश्यक है, लेकिन यह न सोचो कि यह उच्चतम अवस्था है।

भले ही हम अपनी वर्तमान अवस्था में अनन्त परमात्मा का ध्यान न कर सकें, परन्तु हम कम से कम कुछ भावना या कल्पना तो कर ही सकते हैं। हम प्रायः यह सोचते हैं कि हमारी देह बिल्कुल सत्य है, हमारा व्यक्तित्व पूर्ण रूप से सत्य है। सर्वप्रथम तो हम यह सोचें कि हम देह और मन से पृथक् आत्मा हैं। हम अपनी आत्मा की अनन्त ज्योतिस्वरूप भगवान् के अंश – एक ज्योति-बिन्दु के रूप में कल्पना करें। तुम्हारी आत्मा के पार्श्व में तथा उसके आधार के रूप में विद्यमान एक ज्योतिसागर की तीव्र कल्पना करो। अपने देह और मन को उसमें विलीन कर दो। हमारी सामान्य उपासना के भौतिकवाद को क्षीण करने के लिए कम से कम ऐसी भावना करनी चाहिए।

साधना के प्रारम्भ में यह याद रखना सदा श्रेयस्कर है, कि हम आत्मा हैं। जीवन-नाटक में एक भूमिका अदा करने के लिए प्रत्येक आत्मा ने एक स्थूल और एक सूक्ष्म शरीर धारण कर रखा है। जीवन का नाटक अच्छा खेला जाना चाहिए। हम यह न सोचें कि जीवन नाटक का अर्थ केवल सांसारिक जीवन यापन करना है। वह नाटक मनोजगत् तथा

आत्मजगत् में भी खेला जाता है।

सगुण-निर्गुण ईश्वर से प्रेम :

हममें से प्रत्येक ने अपने चारों ओर एक मनोजगत् की सृष्टि की है, जो हमारी दृष्टि को सीमित कर देता है। मेरा रूप कैसे बना है? मेरा व्यक्तित्व कैसे निर्मित हुआ है? इस तरह विचार करने पर हम पायेंगे, कि हमारा 'अहं' निराकार-सत्ता में विलीन हो रहा है। महान् अवतारों के जीवन का अध्ययन करने पर हम पाते हैं, कि उन सभी ने परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव किया था।

उनकी चेतना के साथ सम्पर्क स्थापित करने पर हम भी अपनी सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं। हमारे सीमित अस्तित्व के बन्धन टूट जाते हैं, और हम भी विराट् चेतना का अनुभव करते हैं। हम बुदबुदों के समान हैं, लेकिन महान् अवतार अपने वास्तविक-स्वरूप के प्रति सदा पूर्ण सजग, सागर के साथ सदा सक्रिय-सम्पर्क-युक्त पर्वताकार लहरों के समान हैं। हमारी चेतना अशुद्ध और सीमित है। उनकी चेतना शुद्ध और असीम है। व्यक्तित्व को चरम सत्ता में लीन किया जा सकता है, लेकिन समग्र परमात्म-सत्ता का व्यक्तित्व के साथ ऐक्य कभी भी नहीं किया जा सकता है। दिव्य-महापुरुष तथा हमारे सीमित अहंकार के पार्श्व में अखण्ड सच्चिदानन्द विद्यमान है। अपनी भावनाओं की तीव्रता के द्वारा हम विराट् मन को ऐसा उद्दीप्त कर सकते हैं कि उससे एक ज्योतिर्मय ईश्वरीय रूप प्रकट हो जाए अथवा यदि कोई रूप प्रकट न हो, तो भी हम उसकी अवस्थिति का अनुभव कर सकें।

सरोवर मे पत्थर फेंकने पर लहरों के रूप में प्रतिक्रिया दिखाई देगी, लेकिन इतना होने पर भी तुम सरोवर की सृष्टि नहीं करते। जल सदा विद्यमान है, पत्थर केवल लहर पैदा करने का उत्तेजक कारण है। इसी तरह परमात्म चैतन्य सदा विद्यमान रहता है। जब तुम तीव्रतापूर्वक प्रार्थना करते हो, तो वह एक उत्तेजक का कार्य करती है, और निराकार से एक दिव्य-आकार उत्पन्न हो जाता है। लेकिन प्रेम की तीव्रता होनी चाहिए। तीव्रता साधक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंगों में से एक है। जीवन की तीव्र पिपासा के कारण भगवान् उत्तर देते हैं। यही सच्ची भक्ति है।

आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने पर साधक पाता है कि निराकार से उत्पन्न हुआ भगवद्-रूप पुन: उसी में लीन हो जाता है। तब साकार ईश्वर के प्रति प्रेम निर्गुण निराकार के प्रति प्रेम में परिणत हो जाता है। सच्चा भक्त सभी तथ्यों के प्रति समीचीन दृष्टि रखता है। वह जानता है कि निराकार और साकार, सगुण और निर्गुण एक ही चरम सत्ता के दो रूप हैं। सांसारिक आसक्तियों के चंगुल से छुटकारा पाकर वह समग्र हृदय और मन से भगवान् का चिन्तन करता है। वह भगवान् के सभी रूपों से प्रेम करता है। उसके प्रेम की कोई सीमाएँ नहीं होतीं।

□□□

अध्याय १७

शरणागति

दैवी शक्ति :

आध्यात्मिक जीवन केवल बलवानों के लिए है। लेकिन बल से हमारा अर्थ केवल शारीरिक बल ही नहीं, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक बल भी है। तपस्या और इच्छा-शक्ति के प्रयोग से महान् आन्तरिक शक्ति अर्जित होती है। लेकिन इन सब से भिन्न एक दूसरी शक्ति है – परमात्मा की शक्ति। सच्चा भक्त यह महसूस करता है कि वह सर्वशक्तिमान परमात्मा के संरक्षण में है तथा अनन्त बल का अनुभव करता है। मध्यकालीन उत्तर भारतीय महान् सन्तों में से सन्त सूरदास ने गाया है : वृन्दावनलाल की कृपा से मैं जान गया हूँ कि निर्बल के बल राम हैं।

परमात्मा के प्रति शरणागति अपने आप में एक महान् साधना है। यह इतनी आसान नहीं जितना लोग सोचते हैं। सामान्यत: लोग यह कर सकते हैं कि परमात्मा से प्रार्थना करें और दिन के विभिन्न समय पर परमात्मा पर निर्भर हों, अपने देह, मन, आत्मा को पुन: पुन: परमात्मा के चरणों में अर्पित करें।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में विराजित रहते हैं और माया द्वारा उन्हें यन्त्र पर आरूढ़ की तरह घुमाते हैं। (जिस प्रकार कठपुतली वाला कठपुतलियों को नचाता है) हे भारत, तुम सभी प्रकार से उनकी शरण में जाओ। उनकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत धाम प्राप्त करोगे। इस प्रकार यह गोपनीय से अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुम्हें कहा। अब इस पर पूर्णतया भलीभाँति विचार कर जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

भगवान से दूर जाने पर हम अधिक अहंकारी होकर उच्चतर पथ से पतित हो जाते हैं। अहंकार को आधार बनाने के बदले में परमात्मा के प्रति शरणागत होना चाहिए तथा उन्हें अपनी चेतना का केन्द्र बनाना चाहिए। और तब नैतिक और आध्यात्मिक जीवन आसान हो जाता है। निम्न प्रवृत्तियों के उदित होने पर हमें प्रार्थना, तीव्रता से प्रार्थना, करनी चाहिए। और तब हम पायेंगे कि कोई शक्ति आकर हमें उबार रही है।

---

१. भगवद्गीता १८.६१-६३

अनिश्चितता का वरदान :

आध्यात्मिक दृष्टि से, महान् अनिश्चितता में रहना अच्छा है। यदि तुम से सब कुछ ले लिया जाये और तुम समस्त सांसारिक आश्रयों से रहित हो जाओ तो यह वस्तुत: अच्छा ही है। यदि सभी पूर्व-मान्यताएँ, पूर्व-मित्रताएँ और आसक्तियाँ टूट जायें और जिन सभी वस्तुओं से तुम चिपके हुए थे, वे आकाश में विलीन हो जायें, तो अच्छा है। सभी बाह्य सान्त्वनाएँ, दूसरों से सभी प्रकार की आशाएँ टुकड़े-टुकड़े हो जायें तो अच्छा है। क्योंकि तब तुम परमात्मा की ओर मुड़ने को बाध्य होगे, जो हमारा एकमात्र, नित्य और सच्चा मित्र तथा पथ-प्रदर्शक है।

यह अनुभव अत्यन्त कष्टप्रद है, लेकिन बहुतों के लिए बहुत आवश्यक है। अन्यथा वे परमात्मा को तथा अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को भूल जाते हैं। तुम अपने भविष्य के बारे में कुछ नहीं जानते। तुम नश्वर वस्तुओं पर भरोसा नहीं कर सकते लेकिन लोग यही करते हैं। कभी-कभी इलाज रोग से अधिक कष्ट-प्रद होता है, लेकिन करना पड़ता है। जितना प्रबल रोग हो, उतना ही शक्तिशाली यह इलाज होना चाहिए। और पाश्चात्य में "कामिनी-कांचन" का यह रोग अत्यन्त प्रबल हो गया है। अत: तेज दवाईयों और इञ्जेक्शनों की आवश्यकता है। प्रत्येक रोग में उपचार-विषयक एक आपत्काल होता है तथा पूर्ण आरोग्य की दिशा में यह एक कदम है।

कभी-कभी मैं परमात्मा से भक्तों को दु:ख और परीक्षाएँ देने के लिए, कठिनाईयों से गुजराने और सहन करवाने के लिए, प्रार्थना करता हूँ, जिससे वे होश में आयें। माया इतनी बलवती है कि लोग अपने पुराने कष्ट भूलकर, अपने पुराने तरीके से जीवन यापन करते रहते हैं। उन्हें परमात्मा को सदा याद दिलाने के लिए कुछ होना चाहिए।

सभी दु:ख हमारी शिक्षा के लिए हैं। हमारी सहजात प्रवृत्तियों को नियन्त्रित कर उन्हें आध्यात्मिक-प्रयास की अग्नि में जलाना है। लोहे की छड़ के टेढ़े हो जाने पर उसे ठोकना पड़ता है। कभी-कभी अपने घमण्ड में हम यह भूल जाते हैं कि हम हथौड़े और एरण के बीच नाजुक-स्थिति में पड़े हुए हैं। और जब हथौड़ा पड़ता है, तो हम अचानक चौंक कर कह उठते हैं, "ओह! मुझ पर यह कष्ट कैसा?"– प्रथमत:, तुम्हें वहाँ घुसने को किसने कहा था?

दु:ख केवल भौतिक-स्तर पर ही नहीं होते हैं। साधकों के जीवन में शुष्क काल सामान्य है, जब वे अपना प्रारम्भिक आध्यात्मिक उत्साह नहीं पाते, जब वे स्वयं को 'अन्धकारमयी रात्रि' में पाते हैं। यह अनुभव सांसारिक व्यक्ति के दु:ख जैसा ही दु:खदायी हो सकता है।

अहंकार - दु:ख का मुख्य कारण :

लोग कई बार भगवान् की कृपा की उपेक्षा कर देते हैं अथवा उसे भूल जाते हैं। वे

स्वयं की शक्ति में अति-विश्वासी हो कर लापरवाह हो जाते हैं। यहाँ तक कि वे इससे उद्दण्ड भी हो जाते हैं। हमारी प्राचीन पुस्तकों में एक मजेदार कहानी है। एक ऋषि के आश्रम में एक छोटा-सा चूहा था। एक दिन एक बिल्ली उस पर झपटी। ऋषि ने दया करके उसे बिल्ली बना दिया। जब कुछ कुत्तों ने इस नयी बिल्ली के टुकड़े कर डालना चाहा, अतः ऋषि ने उसे कुत्ता बना दिया। बेचारा कुत्ता चीते से भयभीत रहता था, अतः ऋषि ने उसे शेर बना दिया। लेकिन शेर बनने पर वह ऋषि को ही मारने हेतु उद्यत हुआ। तब ऋषि ने कहा : "अच्छा पुनः चूहा बन जाओ।" "पुनर्मूषको भव"।

साधकों में भी इसी तरह की बात होती है। उन पर भगवत्कृपा की वर्षा होती है, जो उन्हें कुछ हद तक पवित्र करती है और वे कुछ मात्रा में एकाग्रता और स्वाधीनता को प्राप्त करने में सफल होते हैं। पर उसके बाद वे अहंकारी हो अपनी उपलब्धियों को बहुत अधिक समझने लगते हैं और लापरवाह हो जाते हैं, अथवा संसार को कोसने और सुधारने तक में लग जाते हैं। तब अचानक भगवत्-कृपा वापस ले ली जाती है और वे अपने आप को भयानक-शून्यता के सामने अकेला पाते हैं।

हम सभी को यह याद रखना चाहिए, कि जो सचमुच यथार्थ में आध्यात्मिक पथ पर चलते हैं, वे कम अहं केन्द्रित और अधिक निःस्वार्थ तथा दूसरों के प्रति दयालु और सहिष्णु होते हैं। हमें दाता होना चाहिए, भिखारी नहीं। भौतिक वस्तुओं के बारे में अधिकांश लोग भिखारी हैं, उन्हें दूसरों से बहुत-सी वस्तुएँ चाहिएँ, पर फिर भी वे घमण्ड करते हैं। अहंकार जितना कम होगा, शान्ति और आनन्द उतना ही अधिक होगा और हमारा कार्य भी श्रेष्ठतर होगा।

अपने आध्यात्मिक वरदानों को कम मत समझो। अपनी दुर्बलताओं और भूतकाल की गलतियों का निरन्तर-चिन्तन करते रहने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन मन की सजगता बनाये रखना चाहिए। भक्ति-मार्ग में भी सतत विचार आवश्यक है। भगवान् जिन आशीर्वादों की वृष्टि हम पर कर रहा है, उनसे लाभ उठाने के लिए मन का सतत सजग बने रहना आवश्यक है। जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे – भगवान् की ओर एक कदम बढ़ने पर वे दस कदम तुम्हारी ओर आते हैं।

कष्ट को आध्यात्मिक शक्ति में परिवर्तित करो :

सच्चे-भक्त धन अथवा भौतिक लाभ के लिए भगवान् से प्रार्थना नहीं करते। वे दुःख निवारण के लिए भी प्रार्थना नहीं करते। वे कष्ट सहन करने की शक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर का एक सुन्दर गीत है :

प्रभु! तुम्हारी पताका तुमने मुझे दी है, तो उसे धारण करने की शक्ति भी मुझे दो। मुझे भक्ति दो, कि मैं तुम्हारी सेवा के लिए अपरिहार्य महानतम् कष्ट सहन कर सकूँ। तुम भले ही मेरे हृदय को महान् दुःख से पूर्ण करो।

आपके ही हाथों से दिये गये इस दुःख की भेंट को मैं दूर नहीं करना चाहता। यह दुःख मेरा चूड़ामणि होगा, यदि इसके साथ आप मुझे भक्ति भी देवें। मुझे जितना चाहो, कर्म में लगाओ, केवल मैं तुम्हें न भूलूँ और मेरे मन को संसार के मायापाश में बद्ध न होने दो।

प्रभु! जितना चाहो, मुझे बाँधो, लेकिन मेरे हृदय को तुम अपने प्रति उन्मुक्त रखो। किसी भी हालत में मैं तुम्हें न भूलूँ।[२]

और फिर कुन्ती की श्रीकृष्ण के प्रति सुन्दर प्रार्थना है :

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद् गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्।।[३]

हे जगद्गुरु! हम पर सभी ओर से सदा विपत्तियाँ आयें, क्योंकि उनके कारण तुम्हारा दर्शन होता है, जो संसार-चक्र का नाश कर देता है।

जब हमें अप्रिय अनुभव होने ही हैं, तो उनका उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के लिए उपयोग करना श्रेयस्कर है। कोई भी व्यक्ति जीवन में किसी न किसी प्रकार के दुःख, कष्ट, अपमान से बच नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में इन्हें उच्चतर लक्ष्य के प्रेरक बनाओ। इनका उपयोग आध्यात्मिक जीवन की सीढ़ियों के रूप में करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि हम जानबूझकर मुसीबत मोल लें, जैसा कि कुछ लोग करने की चेष्टा करते हैं। सुख अथवा दुःख की कामना करने के बदले हमें परमात्मा की कामना करनी चाहिए, जो इन दोनों से परे है।

यह आवश्यक नहीं है कि भगवत्-कृपा हमारे समस्त दुःख-कष्टों को दूर कर दे, लेकिन यदि हम पर कृपा है, तो हम जीवन की अग्निमय कठिनाईयों को, अपने भीतर की बुराइयों को जलाते हुए सफलता पूर्वक पार कर सकते हैं। इससे हमारी आन्तरिक पवित्रता और शरणागति के भाव की वृद्धि होती है। धन्य हैं हमारे कष्ट यदि उनसे हमारा ज्ञान स्पष्टतर और भक्ति दृढ़तर हो। जितना ही मैं जीवन का अवलोकन करता हूँ, उतना ही यह समझने लगा हूँ, कि भगवत्कृपा से हमारी समस्यायें दूर हों, यह आवश्यक नहीं है। लेकिन वह सदा ही भक्त को अद्भुत आन्तरिक-स्थिरता और विपदाओं तथा कठिनाईयों का सामना करने की शक्ति प्रदान करती है, उसे पवित्रतर बनाती है। कृपा से भक्त भगवान् के सान्निध्य का अनुभव करने में समर्थ होता है, जिससे महानतम् कष्ट में भी आन्तरिक शान्ति बनी रहती है। वास्तविक शांति निद्रा जैसी नहीं है। वह मन की शांत अवस्था है, जो कठिनाईयों और विपदाओं के बीच अविचलित रहने में तथा व्यापक तर सत्ता के साथ सम्पर्क बनाये रखने में समर्थ बनाती है। जीवन की कठिनाइयों से भागने वाले व्यक्ति अपने को अधिकाधिक दुर्बल बनाते हैं। सुखान्वेषी तथा कर्तव्यों से कतराने वाले लोगों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। वे कभी अपना पूर्ण-आध्यात्मिक विकास नहीं कर पाते और भगवान् द्वारा सदा की जा रही कृपा का लाभ नहीं उठा पाते।

---

२. 'तोमार पताका जारे दाओ' का अनुवाद   ३. श्रीमद्भागवतम् १.८.२५

हमें, हमपर वर्षित हो रही कृपा का पूरा लाभ उठाना चाहिए। समय के अभाव और असुविधाओं की शिकायत करने के बदले प्राप्त समय और सुविधाओं का पूरा लाभ उठाते हुए शरणागति के भाव से ईश्वर-साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना चाहिए। संसार की तुच्छ वस्तुओं, जिनसे ईश्वर तथा आध्यात्मिक लक्ष्य का विस्मरण होता है, के लिए प्रयास करने के बदले हमें भगवत्-कृपा और भगवद्भक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

हमें सदा परमात्मा के पास दौड़ जाने की मनःस्थिति में रहना चाहिए।

कर्म और भगवत्कृपा :

कुछ कर्मों का नाश दुःख के द्वारा होता है। अतः जब दुःख आयें तो हमें कुछ राहत महसूस करनी चाहिए, क्योंकि दुःख का अर्थ है, उतने कर्मों का बोझ कम हो गया है। इसके अतिरिक्त दुःख द्वारा पैदा हुई असमर्थता का, परमात्मा के प्रति और अधिक शरणागति का अभ्यास कर, आध्यात्मिक उपयोग किया जा सकता है। सुख-दुःख में, जीवन-मरण में, परमात्मा हमारे अपने हैं। वह हमारी आत्मा की आत्मा और प्राणों के प्राण हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि शरीर में रहने का रोग रूपी टेक्स चुकाना पड़ता है। कभी-कभी यह टैक्स हमें भारी किश्तों में चुकाना पड़ता है। और उसके बाद कुछ समय के लिए छुटकारा मिलता है। अपनी अन्तिम बीमारी के समय श्रीरामकृष्ण को प्रायः कहते सुना जाता था, "देह कष्ट को झेले, मन तुम आनन्द में रहो।"

बहुत तेज दौड़ने का प्रयत्न किये बिना आगे बढ़ते रहो। यदि तेजी से दौड़ने की कोशिश करेंगे तो हमें चक्रवृद्धि ब्याज में कीमत चुकानी पड़ सकती है। ईश्वर-साक्षात्कार निश्चित रूप से लक्ष्य है, लेकिन इसे आध्यात्मिक अनुशीलन द्वारा ही नहीं बल्कि उचित और आवश्यक कर्म के द्वारा प्राप्त करना है। हमें हर हालत में अनुचित और अनावश्यक कार्यों से दूर रहना चाहिए। अतः आन्तरिक आदर्श और बाह्य क्रियाओं दोनों के सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिए। धीर-स्थिर रूप से, कर्मों का नाश करते हुए आगे बढ़ो। अन्तर्यामी परमात्मा के साथ संयुक्त रहो और अपनी क्रियाओं के प्रति भी सतर्क रहो। हमें वैचारिक और क्रियात्मक, दोनों ही स्तरों पर अपने को सुधारना चाहिए।

अधिकांश लोक अपनी आध्यात्मिक आकांक्षा और अपने समक्ष विद्यमान सांसारिक जीवन के कटु-सत्यों में सन्तुलन स्थापित न कर सकने के कारण कष्ट पाते हैं। यह कष्ट अपने आप में बुरा नहीं है। यह कल्याणकारी भी हो सकता है, यदि यह आन्तरिक-आध्यात्मिक सन्तुलन खोजने हेतु प्रेरित करे। तब व्यक्ति क्रमशः यह अनुभव करने लगता है कि संसार में रहते हुए भी वह वस्तुतः संसार का नहीं है।

एक प्रकार से हम सभी वही पाते हैं, जिसके हम अधिकारी हैं। हम किसी वस्तु की कामना करते हैं, वह मिलती भी है। और उसके साथ उससे अपरिहार्य रूप से जुड़े शुभाशुभ भी हमें प्राप्त होते हैं। हम कुछ प्रकार के सुख चाहते हैं और फिर जैसा स्वामी विवेकानन्द

कहते हैं : "सुख मनुष्य के पास दु:ख का मुकुट पहन कर आता है।"[४] हम एक के बिना दूसरे को ग्रहण नहीं कर सकते। हम किसी सांसारिक वासना की पूर्ति चाहते हैं. हमें अपनी काम्य वस्तु मिल भी जावे, लेकिन उसके साथ जुड़ी समस्याएँ भी हमें मिलती हैं। हमारी वर्तमान स्थिति हमारी भूत और वर्तमान सांसारिक वासनाओं का परिणाम है। हमें यथासम्भव निष्काम होना सीखना चाहिए; परिस्थितियों के साथ जिन्हें हमने स्वयं पैदा किया है, तालमेल स्थापित करना चाहिए और तब उनसे ऊपर उठना चाहिए। हमें अपनी नियति के अनुसार जीवन-यापन करना चाहिए और अपने कर्मों का क्षय करते हुए, परमात्मा पर अधिकाधिक निर्भर रहना सीखना चाहिए। तब यह संसार हमारा प्रशिक्षण-स्थल बन जायेगा और इसके माध्यम से हम परमात्मा तक पहुँच सकेंगे। तब बाह्यत: संसार में रहते हुए भी हम उसके नहीं होगें। जहाँ कहीं भी होगें, हम परमात्मा के ही होगें।

जगदम्बा की लीला :

सब कुछ जगदम्बा का खेल है। वे विभिन्न रूपों में – गुरु और शिष्य के रूप में, मित्र और शत्रु के रूप में हमारे पास आती हैं। अत: हम अपनी भूमिका यथासम्भव अच्छी तरह निभायें और साथ ही अपने खेल के अनासक्त साक्षी बने रहें।

हम अपने चारों ओर जो कुछ देखते हैं और हमारे साथ जो कुछ हो रहा है, सब उनकी लीला के, उनके आनन्द के ही विभिन्न रूप हैं। कभी, जब भक्त माँ जगदम्बा को, अपनी किसी शरारत में रत, सुख-दु:ख देकर मानव हृदयों के साथ खेलते देखता है, तो वह कह उठता है; "पगली स्त्री, तुम यह क्या कर रही हो?" कभी-कभी हमें समग्र सृष्टि की प्रक्रिया में कोई तर्क और संगति दिखायी नहीं देती। लेकिन अपने पागलपन में, अपनी क्रूरता और सुख दु:ख में, ब्रह्माण्ड की यह सारी प्रक्रिया माँ जगदम्बा के पगले-शरारती स्वभाव की, इस खेल में माँ के आनन्द की अभिव्यक्ति मात्र ही है। हमें भी नाटक के पात्रों की तरह अपनी भूमिका अदा करते हुए, लेकिन यह जानते हुए कि हमें इससे कुछ लेना-देना नहीं है, कि यह सब कुछ खेल के महान्-आनन्द के लिए है, उसे खेल की तरह स्वीकार करते हुए माँ जगदम्बा के खेल में आनन्द लेना चाहिए।

श्रीरामकृष्ण द्वारा गाये जाने वाले गीतों में से बहुत से गीतों में (जिनमें से अधिकांश रामप्रसाद और बंगाल के अन्य सन्त कवियों द्वारा रचित हैं) सृष्टि-प्रक्रिया के प्रतीकात्मक वर्णन हैं। सांसारिक व्यक्ति का स्थूल-मन उन्हें स्थूल-रूप में ही लेता है और उनके सारे आन्तरिक अर्थ को खो देता है। उनका प्रतीकात्मक वर्णन सचमुच अद्भुत है और जिस मात्रा में सत्य शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, उतना वह सत्य को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करता है। पतंग उड़ाती माँ जगदम्बा का एक गीत श्रीरामकृष्ण को विशेष प्रिय था।

---

४. विवेकानन्द साहित्य

हम सभी जगदम्बा द्वारा आसमान में उड़ाई जा रही पतंगें हैं और हम अलग-अलग डोरों से बँधी हैं, जिससे हम छूट न जायें। लेकिन कुछ बहुत चतुर पतंगें डोर काटने में समर्थ होकर सदा के लिए चली जाती हैं और तब जगदम्बा आनन्द-विभोर होकर तालियाँ बजाती है, वस्तुत: उसने ही पतंगों को डोर से बाँध रखा था। अत: हमें करना यह है कि जगदम्बा की लीला के लिए अनित्य संसार से हमें बाँधने वाली डोर को काटकर मुक्त हो जायें और माँ हमारी मुक्ति पर आनन्दित होंगी। अन्यथा सुख-दु:ख, आशाओं-निराशाओं सहित यह खेल अनन्त, अनिश्चित काल तक चलता ही रहेगा, जो माँ की दृष्टि से एक विशाल पगली शरारत का और हमारी दृष्टि से महान् दु:ख और बन्धन का चक्र है।

अपनी क्षुद्र व्यक्तिगत इच्छा को पूरी तरह हटाकर तुम्हें आनन्द-पूर्वक माँ जगदम्बा के पगले-नृत्य में नृत्य करना चाहिए। मजा यह है कि अब हमारे मन में विभिन्न प्रवृत्तियाँ पैदा होतीं हैं, तब हम समझते हैं, कि वे हमसे पैदा होती हैं, हमारी प्रवृत्तियाँ है, हमारी इच्छा से सम्बन्धित हैं। हम अपनी परतन्त्रता का वास्तविक स्वरूप भी समझ नहीं पाते। जब हमें ब्रह्माण्ड के इस बृहत् नृत्य में भाग लेना ही है, तो इसे खेल और केवल खेल के रूप में जानना चाहिए। हम अपने स्वरूप की गहराई में केवल साक्षी हैं तथा इससे संयुक्त नहीं हैं। यही नहीं हमारा तथाकथित व्यक्तित्व-बोध भी परमात्मा का एक रूप है, लेकिन इस नृत्य को प्रारम्भ करने और चलाने वाली परमात्म-सत्ता से, जगदम्बा से, अपने को पृथक् कर हम कष्ट पाते हैं।

देखो, जब आलू उबाले जाते हैं तो बर्तन के भीतर वे भी एक अजीब नृत्य करते हैं और हम उन आलुओं जैसे ही हैं। अगर उनमें भी विचार की क्षमता होती तो वे भी सम्भवत: यही कल्पना करते कि वे दूसरे के द्वारा नहीं नचाये जा रहे, बल्कि स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छा से नाच रहे हैं। इस सत्य की पूरी उपलब्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे सही दिशा में बढ़ने में बहुत सहायता मिलती है।

परमात्मा के हाथों में यन्त्र बनो :

परमात्म-सत्ता के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित होने पर ही मुक्ति की झलक मिल सकती है। अन्यथा सामान्यत: हम जिसे स्वातन्त्र्य कहते हैं, वह पाशविक स्वातन्त्र्य है, सहजात प्रवृत्तियों का स्वातन्त्र्य, प्रवृत्तियों से मुक्ति नहीं। इन्द्रियों का कार्य सृष्टि-शक्ति की अचेतन अभिव्यक्ति है। वैसी स्वाधीनता को हम जितना चाहेंगे, उतना ही हम अचेतन-स्तर पर जीवन-यापन करेंगे और अधिक बद्ध होते जायेंगे। प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित जीवन यापन करने के बदले सचेतन, विचार-पूर्वक, जीवन यापन करो। सहजात प्रवृत्तियों का स्वातन्त्र्य भोग की छूट है, मुक्ति कभी भी नहीं। तथाकथित स्वतन्त्र्य व्यक्ति वस्तुत: अपने खयालों का, प्रवृत्तियों का दास है। सारा संसार ऐसे ''मुक्त''-पुरुषों से पूर्ण होने के कारण बद से बदतर होता जा रहा है। वे सभी अद्भुत मुक्त पुरुष हैं : माँ जगदम्बा की मोहिनी शक्ति की डोर से

बेढंगी लटकती कठपुतलियाँ हैं।

साधक को यह अनुभव करना चाहिए कि वह परमात्मा के हाथों का यन्त्र है। स्वयं को अकर्ता जानते हुए यन्त्र समझना श्रेष्ठतम दृष्टिकोण है। एक उदाहरण लो : एक ही विद्युत ऊर्जा से परिचालित अनेक घड़ियाँ हैं। यदि सभी घड़ियाँ यह सोचें कि वे अपनी शक्ति से चल रही हैं, तो यह बड़ी भूल होगी। हम सभी शक्ति की एक महान् धारा के अंग हैं, जो हमारे माध्यम से कार्य कर रही है। हमें सदा परमात्म-केन्द्रित और सभी बातों में यथासम्भव अवैयक्तिक होने का प्रयत्न करना चाहिए। ये शरीर और मन एक महान् शक्ति के यन्त्र हैं। जिस मात्रा में हम परमात्म-केन्द्रित और अवैयक्तिक हो पाते हैं, उतनी ही मात्रा में हम कर्तापन का सारा भाव त्याग कर शान्ति प्राप्त करते हैं। जितना हम परमात्मा से दूर भागते हैं, उतने ही दुखी होते हैं।

वस्तुत: क्या अपनी देह को तुम जीवित रखते हो या तुम्हारे माध्यम से कार्य कर रही दैवी-शक्ती? तुम अपने व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों पर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरों पर ब्रह्माण्ड की व्यापक शक्तियों के साथ सक्रिय सम्पर्क में हो। जिस प्रकार देह अन्न द्वारा प्राप्त ऊर्जा से जीवित रहती है, उसी प्रकार आत्मा भी दैवी आध्यात्मिक-शक्ति द्वारा आश्रय प्राप्त करती है। इस शक्ति के हटते ही तुम जड़, प्राणहीन हो जाते हो। अत: किसी भी बात का श्रेय स्वयं न लो बल्कि सारा श्रेय दैवी-शक्ति को देना सीखो। उस दैवी-शक्ति के उपयुक्त माध्यम बनने का प्रयत्न करो। विनम्रता और शरणागति के द्वारा अपने में इस सामर्थ्य का विकास करो। लेकिन इसके लिए सतत प्रयास आवश्यक है। अहंकार उस दैवी शक्ति के उन्मुक्त प्रवाह को अवरुद्ध करता है और दिव्य स्रोत से हमें काट देता है। इसीलिए हम कष्ट पाते हैं।

वस्तुत: हम परमात्मा के हाथों में यन्त्र मात्र हैं। काश्मीर में स्वामी विवेकानन्द का अनुभव याद है न? मुसलमानों द्वारा 'ध्वंस' के चिन्हों से युक्त एक मन्दिर में उन्होंने अपने आप से कहा कि यदि वे तब जीवित होते तो यह होने नहीं देते। तत्काल उन्हें माँ जगदम्बा की वाणी सुनायी दी, "मैं तेरी रक्षा करती हूँ या तू मेरी रक्षा करता है?"[५] स्वामीजी एक अनुभूति-सम्पन्न पुरुष थे, अत: वे दैवी वाणी सुन सकते थे।

सामान्य लोगों को अपनी वाणी को दैवी-वाणी समझने की गलती नहीं करना चाहिए। उसे सुनना इतना आसान नहीं है, जितना लोग समझते हैं। जब हमारा चित्त शुद्ध होता है और हमारी इच्छा भगवद्-इच्छा के साथ संयुक्त रहती है तभी हम दैवी-वाणी सुन सकते हैं। दैवी-वाणी सुनने में समर्थ होने के पूर्व हमारी समग्र सत्ता को भगवदिच्छा से स्पन्दित होना चाहिए। और हमें ध्यान रहे कि वह वाणी युक्ति के विरुद्ध नहीं होती, बल्कि उसका अतिक्रमण करती है। आजकल "आन्तरिक वाणी" सुनना एक फैशन हो गया है और

---

५. ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स, लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, (१९७४), पृ. ५९८

अधिकांश घटनायें संशयास्पद होती हैं।

हमारे लिए आवश्यक यह है कि हम अपने क्षुद्र अहं को परमात्मा के साथ संयुक्त करने का सचेतन प्रयत्न करें। जाग्रत अवस्था में हमें इसके लिए यथाशक्ति संघर्ष करना चाहिए और सोने पर यह सोचना चाहिए कि परमात्मा की शक्ति उस समय हमें धारण किये हुए है। हम सतत "मैं मैं मैं" करते रहते हैं। लेकिन जब यह आश्चर्यजनक मैं सो जाता है, तब कौन इसकी रक्षा करता है? तब कौन देह को जीवित रखता है? हमारी समस्या यह है कि हम इस व्यक्तिगत अहं की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। नहीं, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। वह अनंत सत्ता का एक अंश मात्र है।

जिस प्रकार अपने क्षुद्र अहं से प्रभावित होना सम्भव है, उसी प्रकार परमात्मा से प्रभावित होना सम्भव है। जिस प्रकार अपने व्यक्तित्व के अनुसार कार्य करना सम्भव है, उसी प्रकार उसके पार्श्व में विद्यमान सत्ता के अनुसार कार्य करना भी सम्भव है। जैसे हम एक व्यक्ति से प्रेम कर सकते हैं, उसी प्रकार हम अव्यक्त को भी प्रेम कर सकते हैं। लेकिन यह प्रेम हमारे मानवीय प्रेम से बहुत भिन्न है।

अनन्त अव्यक्त परमात्मा के बदले ईश्वर की शक्ति की धारणा तुम्हें सम्भवत: अधिक अच्छी लगे। लेकिन हमें उस धारणा को भी समझना चाहिए और उसमें प्रतिष्ठित होना सीखना चाहिए। स्वयं को आत्मा और ईश्वर को समस्त आत्माओं की समष्टि अथवा सभी आत्माओं की आत्मा समझने से यह आसान हो जाता है। श्रीरामकृष्ण एक गीत गाया करते थे :

सभी तुम्हारी इच्छा है माँ, इच्छामयी तारा तुम ही।
अपना कर्म तुम्हीं करती माँ, लोग कहते करते हमीं।।
मैं हूँ यन्त्र, तुम हो यन्त्री, मैं हूँ घर, तुम हो गृहिणी।
मैं हूँ रथ, तुम रथी माँ, चलता जैसा माँ चलाती।।

लेकिन यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उपर्युक्त गीत का भाव उच्च आध्यात्मिक अवस्था का संकेत करता है, जो दीर्घ संघर्ष और पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त होती है। जो सचमुच श्रमसाध्य पुरुषार्थ से गुजरा है, वही पूर्णरूपेण और बिना शर्त के भगवान् के चरणों में अपने को न्यौछावर कर शरणागत हो सकता है। सभी प्रकार की साधनाएँ मन को पवित्र और इस शरणागति के उपयुक्त बनाती हैं जो अपनी साधना को महान् अध्यवसाय और निष्ठापूर्वक करने पर ही प्राप्त हो सकती है।

श्रीरामकृष्ण की कथा के पक्षी की तरह हमारे "पंखों" के पूरी तरह थक जाने पर ही शरणागति आ सकती है। एक जहाज के मस्तूल पर बैठी एक चिड़िया को यह पता नहीं था कि जहाज चल रहा है। जब अचानक उसे इसका भान हुआ तो वह क्रमश: पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में उड़ी, लेकिन सभी ओर उसने असीम सागर को ही पाया। अन्त में जब उसके पंख पूरी तरह थक गये तो वह लौट कर मस्तूल पर आ बैठी और अपने को जहाज

के भरोसे छोड़ दिया।[६] जिस व्यक्ति ने पूरा पुरुषार्थ किया है, वही जान सकता है कि वास्तविक शरणागति क्या है? "सभी प्रभु की इच्छा है।" केवल इतना कहना पर्याप्त नहीं है। शरणागति एक ऐसा मनोभाव है, जो इस बोध से, कि आत्मा परमात्मा का अंश है तथा शरीर और मन उच्चतर शक्ति के हाथों के यन्त्र हैं, प्राप्त होता है। सच्ची शरणागति साक्षात् आध्यात्मिक अनुभूति के बाद आती है।

कुछ व्यावहारिक सुझाव :

जीवन की कोई अन्तिम रूपरेखा मत बनाओ। इसका अर्थ यह नहीं कि कोई सामान्य रूपरेखा नहीं होनी चाहिए। अपने भविष्य की सामान्य योजना बनाओ, लेकिन उसके बाद सब कुछ परमात्मा पर छोड़ दो। उन्हें उनकी इच्छानुसार तुम्हें चलने दो।

हमें आध्यात्मिक प्रगति और आध्यात्मिक-अनुभूति की तीव्र कामना करनी चाहिए। लेकिन उसका विस्तार परमात्मा पर छोड़ दो। चूँकि हमें सदा भविष्य स्पष्ट दिखाई नहीं देता, अत: हम अपने भविष्य के बारे में सोचने और योजना बनाये बिना नहीं रह सकते। लेकिन यह सब अन्तत: परमात्मा पर छोड़ देना चाहिए। हमें धीरे-धीरे परमात्मा के साथ संयुक्त होना तथा भगवदिच्छा का अनुसरण करना सीखना चाहिए। निष्ठा-पूर्वक ऐसा करते रहने पर एक अवस्था ऐसी आयेगी जब हमारी समग्र-सत्ता परमात्मा के साथ समस्वर हो जायेगी।

याद रखो, यदि कोई पूर्ण शरणागति की साधना करे तो वह कोई गलत कदम नहीं उठा सकता। लोग कई बार बड़ी शान से कहते हैं, "मैंने सब कुछ परमात्मा पर छोड़ दिया है।", और जाकर मनमाना आचरण भी करते हैं। सांसारिक पदार्थों में अथवा अपनी वासनाओं और पूर्व मान्यताओं से आसक्त व्यक्ति शरणागति की बात नहीं सोच सकता। हमें सदा ध्यान रखना चाहिए कि कुछ न्यूनतम अनासक्ति के बिना शरणागति असम्भव है। पूर्ण शरणागति के लिए पूर्ण अनासक्ति आवश्यक है।

जो गरीब है, उसे आवश्यकता से अधिक की कामना नहीं करनी चाहिए। जो धनी है उसे अधिकारी के भाव के बदले न्यासी का भाव लाना चाहिए और परमात्मा जो देता है, उसका श्रेष्ठतम् उपयोग करना चाहिए। यह बात भौतिक-सम्पत्ति के सम्बन्ध में ही नहीं बल्कि बौद्धिक क्षमताओं और आध्यात्मिक वरदानों के विषय में भी सत्य है। तुम्हारे पास जो कुछ है – संगीत की प्रतिभा, कर्म-निपुणता, बौद्धिक विचार, प्रेम – सभी को भगवान् की देन समझना चाहिए, जो दूसरों को देने के लिए है। "पुराने व्यवस्थान" में जॉब की कहानी तुम जानते हो। उसनें अपना सब कुछ गँवा दिया, पर उसने केवल यही कहा, "प्रभु ने दिया था, प्रभु ने वापस ले लिया, प्रभु के नाम की जय हो।"[७] जो कुछ हम दे सकें, हमें उपयुक्त पात्रों को देना चाहिए। लेकिन दान देने में भी, चाहे वह कुछ भी हो, हमें बहुत सतर्कता बरतनी

---

६. श्रीरामकृष्णवचनामृत ७. बाईबिल, जॉब, १.२१

चाहिए। शरणागति के नाम पर बिना विचारे वस्तुएँ न दे डालो। सच्चे भक्त को ठीक समय पर कब, कैसे और किसे दान दे, इस विषय में सही निर्देश प्राप्त हो जाते हैं।

अभी तुम शान्ति प्राप्त करने की इतनी अधिक चिन्ता न करो। दो प्रकार की शान्तियाँ हैं : अहं केन्द्रित और परमात्मा-केन्द्रित। कुछ लोग दूसरों के प्रति प्रेम और सहानुभूति के अभाव के कारण शान्त दिखायी देते हैं। वे दूसरों के दु:ख की चिन्ता नहीं करते और सन्तुलित तथा सबल प्रतीत होते हैं। लेकिन यदि उनको कुछ हो जाये, तो वे ढह जाते हैं। ऐसी शान्ति न होना ही अच्छा है। भगवत्-केन्द्रित शान्ति परमात्मा के संस्पर्श में आने से, भगवत्-शरणागति से, प्राप्त होती है। सार्वभौमिक चेतना में प्रतिष्ठित होने पर ही हम सभी परिस्थितियों में वास्तविक शान्ति और सन्तुलन बनाये रख सकते हैं।

अत्यधिक आत्म-दोष-दर्शन द्वारा स्वयं को दुर्बल न करो। लोग अपने जीवन के विषय में शिकायत करते रहते हैं क्योंकि वे अपनी समस्याओं के कारणों को बने रहने देते हैं। जब तक हम आन्तरिक परिवर्तन न करें, जब तक हम अपने मन का कायापलट न करें, तब तक वह हमें कष्ट देता रहेगा। क्या तुम श्रीरामकृष्ण की, पालतू कुत्ते की कहानी जानते हो? एक कुत्ते का प्रारम्भ में इतना लाड़-प्यार किया गया था कि उसकी, अपने मालिक की देह पर कूदने की आदत बन गयी थी। बाद में मालिक इसे नियन्त्रित करना चाहता था, लेकिन कुत्ता नहीं मानता था। पीटे जाने पर भी वह मालिक की देह पर कूदना चाहता था। हमारा मन उस कुत्ते के समान है। उसे इतने समय तक अनुचित प्रश्रय मिला है कि उसे नियन्त्रित कर प्रभु के चरणों में अर्पित करना कठिन है। लेकिन पुन:-पुन: अभ्यास के द्वारा हमें अपने मन को परमात्मा को समर्पित करने के लिए बाध्य करना है।

सर्वप्रथम नियमित साधना द्वारा कम से कम कुछ मात्रा में स्वयं अपने जीवन में परिवर्तन लाओ और उसके बाद "कर्म और उपासना" का आदर्श स्वीकार करो। केवल इतना ध्यान रखो कि तुम उतना ही कर्म स्वीकार करो, जितना तुम प्रसन्नतापूर्वक कर सको। प्रारम्भ में निरन्तर भगवत-स्मरण बनाये रखना सम्भव नहीं होता। अत: कर्म के प्रारम्भ और अन्त में अपने सभी कार्यों को प्रभु को समर्पित कर दो और यदि सम्भव हो, तो कर्म के समय भी।

कर्म तभी यन्त्रवत् होता है, जब तुम जीवन के लक्ष्य को भूल जाते हो, जब तुम यह भूल जाते हो कि जो कुछ तुम करते हो, वह ईश्वर-साक्षात्कार का उपाय है। यन्त्र की तरह कार्य करने से कोई लाभ नहीं। हमारे कर्म के साथ समस्या, मात्रा की उतनी नहीं, जितनी कर्म की गुणवत्ता, अर्थात् जैसा हम उसे करते हैं, की है। भगवत्-समर्पित बुद्धि से कर्म करने की हमारी असमर्थता, कर्म को साधना के रूप में करने में मुख्य बाधा है। और भगवत्-साक्षात्कार के लक्ष्य को निरन्तर सामने रखे बिना समर्पण का भाव नहीं आ सकता।

बड़ों के प्रति आज्ञाकारिता हमारी भगवत्-शरणागति का मापदण्ड है। लेकिन जो व्यक्ति यह कहता है कि बड़ों की आज्ञा पालन करने में उसे अपने आध्यात्मिक लक्ष्य और

साधना सहित सबकुछ बलिदान करना या त्यागना पड़ता है तो उसने शरणागति के भाव को नहीं समझा है। भगवत्-शरणागति की साधना से हमारा अहंकार उतना नष्ट नहीं होता, जितना रूपान्तरित होता है। व्यष्टि चेतना विस्तारित हो जाती है और उसमें बड़े, छोटे एवम् बराबरी के, सभी लोगों के लिए स्थान हो जाता है। सच्ची शरणागति व्यक्ति को उच्चतर मेधा, प्रज्ञा तथा सौम्यता प्रदान करती है, जो दूसरों के द्वारा उसका दुरुपयोग नहीं करने देती।

शरणागति का अर्थ यह नहीं कि तुम मूर्खों का सा आचरण करो। एक महान् पण्डित थे। एक दिन उनकी पत्नी को कहीं जाना था, और उसने अपने लौटने तक उन्हें चूल्हे पर दाल उबालने को कहा। अब जब भोजन पकाना शुरू हुआ तो दाल में उफ़ान आने लगा और उसका रसा बरतन से बाहर गिरने लगा। पण्डित भी तत्काल भगवान् से प्रार्थना करने लगे। बाद में पत्नी ने आकर उनके द्वारा किया झमेला देखा और पूछा, कि उन्होंने यह क्या किया। उसके बाद उन्हें डाँटते हुए उसने कहा, "मूर्ख! क्या तुम दाल पर थोड़ा तेल नहीं डाल सकते थे?" भगवान् से प्रार्थना करते समय हमें सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ, भले और बुरे को पहचानने के ज्ञान की प्रार्थना करनी चाहिए। उनके द्वारा पहले से ही दिये गये ज्ञान के सहारे हमें यथासम्भव अच्छा कर्म करना चाहिए और ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ेगें, वे हमें अधिकाधिक ज्ञान प्रदान करेगें।

बाह्य सहायता पर बहुत अधिक निर्भर करना तथा दूसरों से बार-बार सलाह लेना एक महान् बन्धन है। तुम आन्तरिक पथ-प्रदर्शक की ओर जितना अधिक मुड़ोगे, उतना ही अधिक स्वाधीन होओगे। परमात्मा पर असीम विश्वास रखो और साहस-पूर्वक जीवन के कर्तव्यों का निर्वाह करो। हाथ कर्म में लगे रहें और मन परमात्मा के चिन्तन में लगा रहे। यदि तुम्हें – बौद्धिक कार्य करना हो और मन को सांसारिक विचारों में लगाना पड़े तो अपने हृदय को, इच्छा को, परमात्मा में दृढ़ता-पूर्वक लगाए रखो। अपने अहंकार को परमात्मा को समर्पित करो।

कर्म और उपासना साथ-साथ होने चाहिए। हमारा आदर्श कर्म को उपासना में रूपान्तरित करना है, लेकिन यह निरन्तर अभ्यास द्वारा कालान्तर में ही सम्भव होता है। इसमें सफलता के लिए, कर्म करते समय भी तुम्हें कुछ हद तक प्रार्थना और ध्यान का भाव बनाये रखना चाहिए। तुम यदि इसमें सदा सफल न होओ तो कोई बात नहीं। इन असफलताओं को अपनी सफलता की सीढ़ियों में बदल दो। हमें मन के एक भाग से भगवान् का स्मरण करना चाहिए और दूसरे भाग से जीवन का कर्तव्य पालन करना चाहिए। अवश्य यह ध्यान रखना चाहिए कि हम क्या कर रहे हैं, और कर्मफलों को भगवान् को समर्पित करते आना चाहिए। यह सब निश्चय ही कठिन है, किन्तु हमें बार-बार प्रयत्न करना चाहिए।

श्रीरामकृष्ण की धान कूटने वाली स्त्री की कथा क्या तुम नहीं जानते? सब समय मित्रों से बात करते और ग्राहकों से मोल-भाव करते हुए उसे एक हाथ से ओखली में धान को

चलाना पड़ता है और दूसरे हाथ से बच्चे को सम्भालना पड़ता है।[८] अपनी साधना में कुछ ऐसी ही कुशलता लानी पड़ती है।

शंकराचार्य का वह प्रसिद्ध गीत तुम जानते हो, जिसमें वे कहते हैं, जो कुछ मैं करता हूँ, प्रभु! वह सब तुम्हारी आराधना है।[९] कर्म से प्रेम होने पर यह मनोभाव आसान हो जाता है। जिस कर्म को तुम्हें करना पड़ रहा है, उसके नैसर्गिक दोष के कारण यदि तुम उसे पसन्द नहीं करते, तो प्रभु से अपनी कठिनाई कहो और यह बताओ कि तुम केवल परिस्थितियों के दबाव से ऐसा कर रहे हो। यदि चाहो तो, प्रभु से उसे हटा देने को, और उसकी अपेक्षा कुछ श्रेष्ठतर कर्म देने को कह सकते हो। तुम्हारे लिए कल्याणकारी होने पर वे अवश्य तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे। अन्यथा यह जानो कि पुराना काम करते रहना तुम्हारे लिए कल्याणकारी है, जहाँ तुम्हें उसी कार्य, जिसे तुम पसन्द नहीं करते, से अप्रत्याशित लाभ हो सकता है।

मैं निश्चित नहीं हूँ, कि श्रीरामकृष्ण हमें आघात देते हैं या नहीं। हमारी समस्याएँ और कठिनाइयाँ हमारे कर्मों के फलीभूत होने के कारण हैं। अत: भगवान् को दोष देने के बदले हमें अपने अनुभवों से, चाहे व कितने ही कटु क्यों न हों, लाभ उठाना चाहिए, अधिकाधिक वैराग्यवान होना चाहिए, और सदा भगवान को पकड़े रहना चाहिए। वे हमारी कठिनाईयों को देख ही नहीं रहे हैं, अपितु उनसे उबरने में हमारी सहायता करने के लिए भी तत्पर हैं। प्रभु तुम्हें आध्यात्मिक स्रोत के निकट सम्पर्क में ले आये हैं। उस स्रोत का अनुसरण करो और सम्पर्क बनाये रखो। समय आने पर तुम चुप बैठे हुए या कठिन कर्म करते हुए सर्वदा भगवान् के सान्निध्य का अपने भीतर अनुभव करोगे।

कर्म और उपासना साथ-साथ होने चाहिएँ। और सही भाव से किया गया कर्म भगवान् को उतना ही स्वीकार्य है, जितनी प्रार्थना ध्यानादि-युक्त भक्तिपूर्ण उपासना। मेरे गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने मुझे यह निर्देश दिया था, "कर्म प्रारम्भ करने के पूर्व भगवान् का स्मरण कर उन्हें प्रणाम करो। कर्म करते समय बीच-बीच में ऐसा करो और कर्म समाप्त होने पर भी यही करो।"

यह आवश्यक नहीं है कि भगवत्-कृपा हमारे सभी भौतिक दुःख कष्टों को दूर कर दे। लेकिन यदि हम पर कृपा है, तो हम जीवन की अग्निमय परीक्षा से सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होंगे और हमारे भीतर के कल्मष को जलाकर आन्तरिक पवित्रता और भगवदिच्छा के प्रति अधिकतर शरणागति का भी विकास कर सकेगें। तब हमारे दुःख धन्य होंगें यदि वे हमें स्पष्टतर ज्ञान और दृढ़तर भक्ति प्रदान करें।

अपनी इच्छा को भगवदिच्छा के प्रति समर्पित कर भगवान् का नाम लो, अन्तर्यामी

---

८. श्रीरामकृष्णवचनामृत

९. यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्। – शिव-मानस पूजा, ४

परमात्मा का चिन्तन करो, भगवत्सान्निध्य का अनुभव करो और शान्ति से रहो। प्रभु से मन और हृदय में नया प्रकाश और शक्ति प्रदान करने के लिए प्रार्थना करो।

परिस्थितियाँ जैसी हैं, उन्हें उसी तरह स्वीकार कर, उनका श्रेष्ठतम्, सदुपयोग करने के अतिरिक्त तुम और क्या कर सकते हो? तुम जानो या न जानो, तुम्हारा भूत, वर्तमान और भविष्य प्रभु पर निर्भर है। अपनी भूमिका जितनी अच्छी तरह हो सके, निभाना, और यथासम्भव परमात्मा के प्रति शरणागत होना, ही हमारे लिए श्रेष्ठतम मार्ग है।

सभी को महान् अनिश्चितता के काल से गुजरना पड़ता है। जब कभी, किसी-न-किसी कारण से तुम चिन्ताग्रस्त होओ, तब भगवन्नाम का जप करो, उनका चिन्तन करो और शरणागति का अभ्यास करो। मुझे विश्वास है कि इस उपाय से तुम्हें यथासमय महान् शक्ति और शान्ति प्राप्त होगी।

प्रभु का कार्य करना तो आनन्द का विषय ही है। मैं भविष्य के लिए चिन्तित नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि भूत, वर्तमान और भविष्य उनपर ही निर्भर करता है। उनको स्मरण करना, उनके प्रति स्वयं को समर्पित करना और उनकी अनन्त सत्ता, प्रेम और आनन्द में डूबे रहना ही हमारे लिए सबसे अच्छा है।

अपने समस्त कर्मों के फल तुम्हारे हृदय में निवास कर रहे तथा तुम्हारी नियति को परिचालित करने वाले परमात्मा को, समर्पित कर, शान्ति से रहो। यदि तुम्हें लगे कि समस्त संसार ने तुम्हें त्याग दिया है, तो भी यह निश्चित जानो, कि परमात्मा तुम्हारे साथ तथा तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं। अत: परमात्मा से तुम्हारी सहायता करने तथा मार्ग प्रकाशित करने के लिए प्रार्थना करो। जीवन के अकेलेपन में प्रभु से प्रकाश और मार्गदर्शन के लिए प्रार्थना करते रहो और कठिनाईयों और कष्टों के बीच भी उनके दिव्य सान्निध्य का अनुभव करने का प्रयत्न करो। प्रभु तुम्हें सभी आवश्यक बल तथा साहस प्रदान करेंगे।

यदि तुम मन की शान्ति चाहते हो, तो किसी से कुछ भी अपेक्षा मत करो। कुछ मिलने पर कृतज्ञ होओ और यदि कुछ न मिले तो भगवान् को धन्यवाद दो, और मन ही मन जान लो, कि प्रभु ही तुम्हारे अपने हैं। तुम्हारी आत्मा की परम-आत्मा के रूप में न तो वे तुम्हें कभी त्याग सकते हैं और न तुम उन्हें।

आरम्भ किये किसी कार्य की सफलता केवल तुम्हारे प्रयास-मात्र पर निर्भर नहीं करती। और भी कई घटक हैं, जो मिलकर सफलता प्रदान करते हैं। फिर भी बाह्यत:, यदि हमारे प्रयास असफल होवें, तो भी सही मनोभाव से अथक प्रयास करने पर हम आन्तरिक सफलता प्राप्त करेंगे। इस आन्तरिक सफलता को दृष्टि में रखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है : "तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, उसके फल पर नहीं।"[१०]

जीवन के सभी क्षेत्रों की तरह आध्यात्मिक जीवन का महान् कार्य, अनन्त सत्ता के सन्दर्भ में अपनी स्थिति को जानना और समस्याओं का साहस-पूर्वक सामना करना है। साथ

---

१०. श्रीमद्भगवद्गीता, २.४७

ही हमें स्वयं को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम परिस्थितियों को श्रेष्ठतर बना सकें तो ठीक है, अन्यथा हम जिस सीमित परिस्थिति में हैं, उसी में अपनी भूमिका यथायोग्य रूप से निभाने का प्रयत्न करना चाहिए।

जीवन से पलायन करके मृत्यु की शरण लेने का विचार निरी भीरुता है। यह तो आसमान से गिरकर खजूर पर अटकने के समान है और किसी स्वस्थ मस्तिष्क वाले को उसका विचार नहीं करना चाहिए।

श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों ने हमें सिखाया है कि साधक को किसी दूसरे के द्वारा सदा परिचालित होने की इच्छा रखने वाले एक यन्त्र-मात्र जैसा नहीं होना चाहिए। हमें अपने व्यक्तित्व का सचेतन नियन्त्रण करना सीखना चाहिए। हमें सेवा, प्रार्थना और शरणागति के द्वारा भगवदिच्छा के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए और निष्ठा और भक्ति सहित भगवदिच्छा का पालन करना चाहिए। मैंने जान लिया है कि भगवदिच्छा जैसी एक वस्तु है, जो मानवेच्छा के माध्यम से अपने तथा दूसरों के कल्याण के लिए कार्य करती है। प्रार्थना, जप, ध्यान और पूजा के माध्यम से हमें उसके साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

अनासक्ति और भक्तिपूर्वक अपने कर्तव्य-पालन करते हुए, अपनी साधना को नियमपूर्वक, निष्ठा के साथ करते हुए तथा अपनी उच्चतर नैतिकता का अनुसरण करते हुए यथा-संभव प्रयास करो। इस युग में श्रीरामकृष्ण और माँ सारदा के माध्यम से अभिव्यक्त ईश्वरीय शक्ति के संरक्षण में आने वाले सभी व्यक्ति सौभाग्यशाली हैं। पाल तान देने पर, सदा बह रही भगवत्कृपा की वायु को तुम अधिकाधिक प्राप्त कर सकोगे। समुद्र की गहराई नापने वाले और उसमें घुल जाने वाले नमक के पुतले का रूपक तुम जानते हो। यह केवल विशुद्ध नमक के पुतले के साथ होता है, रेत के पुतले अथवा "बहुत सी रेत और नमक से बने" पुतले के साथ नहीं होता। हम सभी में 'नमक और रेत' है। पूर्ण शरणागति की साधना के लिए रेत को निकालना अथवा उसे नमक में रूपान्तरित करना आवश्यक है। असंख्य वासनाओं और अभिमान-युक्त हमारे अहंकार को रूपान्तरित करना आसान नहीं है, लेकिन धीरे-धीरे प्रयत्न करते रहना चाहिए, जिससे अंतत: रेत दूर की जा सके। तब तक हमें माँ से चिपके हुए बन्दर के बच्चे की तरह रहना और भगवान् श्रीकृष्ण के, "मामनुस्मर युद्ध्य च" "मुझे स्मरण करते हुए युद्ध करो" इस निर्देश का पालन करना चाहिए।

जब "नमक" स्वभाव प्रभावशाली होता है, तब प्रेम का एक महान् प्रवाह हमें अभिभूत कर डालता है और उस समय के लिए शरणागति आसान हो जाती है। लेकिन सम्भवत: तत्काल बाद, "रेत" स्वभाव जो काफी बलवान् है, प्रभावी हो उठता है और पूर्ण शरणागति असम्भव हो जाती है। ऐसे अवसरों पर हमें चिन्तित हुए बिना शान्त बने रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

अपनी अहं-केन्द्रित क्रियाओं के साथ हमें भगवदिच्छा के प्रति यथासम्भव समर्पित होने का प्रयत्न करना चाहिए। हम सभी में दो या कभी-कभी तीन व्यक्तित्व होते हैं और ये असंख्य द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं। एक व्यक्तित्व दूसरे के साथ युद्ध करता है तथा समस्या को

और जटिल बना देता है।

सन्तुलन पूरी तरह खोने के बदले, हमें अपने कर्तव्य-कर्मों में व्यस्त रहते हुए भी, भगवत्-स्मरण करते हुए, ध्यान, जप करते रहना चाहिए और अपने सभी प्रयासों के फल को उन्हें समर्पित करना चाहिए।

शरणागति की साधना की तीन अवस्थाएँ हैं :-

१. प्रथम अवस्था में हम अपनी साधना अथवा कर्तव्य-कर्मों को अहंकार-पूर्वक करते हैं।
२. दूसरी अवस्था में हम कर्म के फलों को समर्पित करना सीखते हैं।
३. अन्तिम अवस्था में हम सबकुछ भगवत्प्रीत्यर्थ करते हैं। मन के पवित्रतर होने पर हम भगवान् की सत्ता का अनुभव करते हैं और तभी यह अनुभव होता है कि हम यन्त्र-सदृश हैं और प्रभु चलाने वाले हैं।

द्वितीय भाग

आध्यात्मिक साधना

(२) पद्धति

अध्याय १८

ज्ञान-भक्ति-योग समन्वय साधना

आरम्भ करने से पूर्व, विषय से सम्बन्धित कुछ अंश मैं श्रीरामकृष्ण वचनामृत से पढ़ना चाहूँगा –

श्रीरामकृष्ण – तुम मिट्टी की मूर्ति की पूजा की बात कहते थे। यदि मिट्टी की ही हो तो भी उस पूजा की जरूरत है। देखो, सब प्रकार की पूजाओं की योजना ईश्वर ने ही की है। जिनका यह संसार है, उन्होंने ही यह सब किया है। जो जैसा अधिकारी है, उसके लिए वैसा ही अनुष्ठान ईश्वर ने किया है।

मास्टर – (विनीत भाव से) – ईश्वर में मन किस तरह लगे?

श्रीरामकृष्ण – सर्वदा ईश्वर का नाम-गुणगान करना चाहिए। सत्संग करना चाहिए – बीच बीच में भक्तों और साधुओं से मिलना चाहिए। संसार में दिन-रात विषय के भीतर पड़े रहने से मन ईश्वर में नहीं लगता। कभी-कभी निर्जन स्थान में जाकर ईश्वर की चिन्ता करना बहुत जरूरी है। प्रथम अवस्था में बीच-बीच में एकान्त वास किये बिना ईश्वर में मन लगाना बड़ा कठिन है। पौधे को चारों ओर से रूँधना पड़ता है, नहीं तो बकरी चर लेगी।

ध्यान करना चाहिए मन में, कोने में और वन में। और सर्वदा सत्-असत् विचार करना चाहिए। ईश्वर ही सत् अथवा नित्य वस्तु हैं, और सब असत्, अनित्य। बारम्बार इस प्रकार विचार करते हुए मन से अनित्य वस्तुओं का त्याग करना चाहिए।

मास्टर – (विनीत भाव से) – संसार में किस तरह रहना चाहिए?

श्रीरामकृष्ण – सब काम करना चाहिए परन्तु मन ईश्वर में रखना चाहिए। माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सबके साथ रहते हुए सबकी सेवा करनी चाहिए परन्तु मन में इस ज्ञान को दृढ़ रखना चाहिए कि ये हमारे कोई नहीं हैं।

मास्टर – क्या ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं?

श्रीरामकृष्ण – हाँ, हो सकते हैं। बीच बीच में एकान्तवास, उनका नाम-गुणगान और वस्तु-विचार करने से ईश्वर के दर्शन होते हैं।''[१]

उपर्युक्त अंश में श्रीरामकृष्ण ने योग और वेदान्त, भक्ति और ज्ञान तथा कर्म और उपासना के समन्वय की साधना पद्धति की मूल बातें कह दी हैं। आधुनिक युग के लिए यह मार्ग सबसे उपयुक्त है। इस सधाना पद्धति में उपासना, प्रार्थना, ध्यान, विचार, सेवा सभी

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत-१, (१९९५), पृ. ११-१२, १४

के लिए स्थान है। ज्ञानयोग नामक आत्मविचार की साधना चुने हुए कुछ लोगों द्वारा ही सफलता पूर्वक की जा सकती है। अन्य सभी के लिए समन्वयात्मक मार्ग सबसे आसान है। श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों के चरणों में बैठकर हमने इसी समन्वित मार्ग की शिक्षा प्राप्त की है।

प्रारम्भिक अनुशासन की आवश्यकता :

महापुरुषों ने सर्वप्रथम हमें नैतिक जीवनयापन करने के सर्वाधिक महत्त्व की शिक्षा दी है। साधना के साथ ही साथ नैतिक-जीवन यापन भी किया जाना चाहिए। सांसारिक मामलों की तरह आध्यात्मिक जीवन में भी योजना बद्ध अभ्यास आवश्यक है। हमें प्रारम्भिक तैयारी करने में समर्थ होना चाहिए। जिससे हम आध्यात्मिक पथ के अनुसरण का सही मनोभाव बना सकें। श्रीरामकृष्ण के एक महान् शिष्य थे – सन्त दुर्गाचरण नाग – जो नाग महाशय कहलाते थे। उनके पिता उन के प्रति अत्यधिक आसक्त थे लेकिन वे बहुत जप किया करते थे। एक बार किसी ने उनसे कहा, "आपके पिता बड़े भक्त हैं।" इस पर नाग महाशय ने उत्तर दिया, "उन्हें क्या मिलेगा? वे मुझ में बहुत अधिक आसक्त हैं। लंगर डाली नाव आगे नहीं बढ़ती।" इस कहावत के पीछे एक कहानी है। एक चाँदनी रात में कुछ शराबियों ने नौका विहार की ठानी, वे घाट पर पहुँचे, एक नौका किराये पर ली और पतवार थाम कर नौका खेने लगे। वे रात भर नौका खेते ही रहे। प्रातःकाल नशा उतर जाने पर उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे एक इञ्च भी नहीं बढ़े थे। वे एक दूसरे से पूछने लगे, "क्या हुआ? क्या बात है?" वे लंगर उठाना भूल गये थे।

मैं हरदम लोगों को शिकायत करते सुनता हूँ, "हम साधना करते हैं पर कोई प्रगति नहीं होती।" उत्तर यह है कि साधना के समय क्या तुम कम से कम कुछ हद तक मन को सांसारिक बातों से मुक्त कर अपने शुद्ध मन को भगवान् में लगा पाते हो? बस, यही बात है। सभी पथों में प्रशिक्षण की आवश्यकता है। तुम में से कुछ लोगों ने स्वामी विवेकानन्द की 'ज्ञानयोग', 'राजयोग', 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग' नामक पुस्तकें पढ़ी होंगी। किसी भी मार्ग का अनुसरण क्यों न करो, उसमें अनुशासन, उचित प्रशिक्षण और सही मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। यदि मन अनुशासित हो और सही मनोभाव निर्मित हो गया तो साधना में शीघ्र सफलता प्राप्त होती है। हमारी समस्या यह है कि हम सांसारिक विषयों में तो सुव्यवस्थित भले ही रहें लेकिन आध्यात्मिक विषयों में हम बच्चों के समान अव्यवस्थित और आवेगप्रवण रहते हैं। मैंने वयस्कों और उच्च पदाधिकारियों को बच्चों के समान बातें करते देखा है। सर्वप्रथम एक परिपक्व व्यक्तित्व का गठन आवश्यक है। हम में से अधिकांश व्यक्ति तो हैं, पर हमारा व्यक्तित्व नहीं है। हम व्यक्ति तो हैं लेकिन हमारी कोई वैयक्तिक सत्ता नहीं है। नैतिक साधना, कर्तव्य-पालन, नियमित ध्यान-जप के द्वारा एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व का गठन करना होगा। तभी हमारी साधना फलप्रद हो सकती है। तब हमारे जप और

ध्यान महान् आनन्द प्रदान करेंगे।

मैं पुन: कहता हूँ : सभी योगों, सभी पथों में कठोर अनुशासन आवश्यक है। यदि मैं कर्मयोग का अनुसरण करूँ तो मेरा मन पूर्णत: शान्त होना चाहिए। मुझे सांसारिक वस्तुओं और कर्मफल से अनासक्त होना चाहिए। यदि मैं भक्तियोग का अवलम्बन करूँ तो मुझमें ईश्वर के प्रति पूर्ण शरणागति का भाव होना चाहिए। साथ ही मुझमें भगवान् के लिए तीव्र व्याकुलता होनी चाहिये, ऐसी आध्यात्मिक क्षुधा जो किसी भी सांसारिक वस्तु से शान्त न की जा सके। प्रार्थना, जप, ध्यान और अन्ततोगत्वा भगवत् संस्पर्श के द्वारा साधक अपनी पिपासा शान्त करके भगवत्-साक्षात्कार में परम शान्ति और आनन्द प्राप्त करता है। बहुत से लोग ज्ञानयोग की साधना करना चाहते हैं, लेकिन इसमें मन को इस प्रकार प्रशिक्षित करना पड़ता है कि वह ऐसा चरम आत्मविश्लेषण कर सके "मैं देह नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं अहंकार या इन्द्रियाँ नहीं हूँ। मैं आत्मा हूँ।" इसलिए ज्ञानमार्ग के आचार्य कुछ प्रारम्भिक साधनाएँ बताते हैं। साधक में इहलोक और परलोक के समस्त भोगों के प्रति वैराग्य होना चाहिए और नित्यानित्य विवेक की क्षमता होनी चाहिए। साथ ही उसमें इन्द्रिय और मन का महान् संयम, परमात्मा में श्रद्धा, तितिक्षा और एकाग्रता की क्षमता होनी चाहिए। और सर्वोपरि उसमें तीव्र मुमुक्षा होनी चाहिए।

बहुत से लोग कहते हैं, "ओह! मैं मन को एकाग्र करने में समर्थ नहीं हूँ।" मैं जानता हूँ कि उनका मन पर्याप्त शुद्ध नहीं है। अत: मैं उनसे कहता हूँ, "यह अच्छा ही है कि तुम्हारा मन एकाग्र नहीं होता।" यदि अशुद्ध मन एकाग्र हो जावे तो वह एक बम के समान विस्फोटक हो जाता है। क्रुद्ध होने पर अथवा ईर्ष्या या द्वेषपूर्ण होने पर क्या हमारा मन एकाग्र नहीं हो जाता? ऐसी एकाग्रता किस काम की? वस्तुत: वह तो हानिकारक है। तात्पर्य यह कि कुछ मात्रा में प्रारम्भिक अनुशासन आवश्यक है। पातञ्जल योगशास्त्र के आठ अंग हैं। इन अनुशासनों का सुनियोजित रूप से अभ्यास करना पड़ता है। आध्यात्मिक-जीवन में अचानक प्रतिष्ठित नहीं हुआ जा सकता।

ईश्वर के लिए व्याकुलता :

श्रीरामकृष्ण वचनामृत में श्रीरामकृष्ण बारबार कहते हैं, "तुममें व्याकुलता होनी चाहिए।"[२] आध्यात्मिक व्याकुलता भूख के समान है। जब लोग मुझसे पूछते हैं, "मैं ध्यान क्यों करूँ?" तो मैं उल्टे उनसे कहता हूँ, "तुम क्यों ध्यान करोगे? मत करो।" यदि तुम में व्याकुलता होती तो तुम ऐसा मूर्खतापूर्ण प्रश्न नहीं पूछते। वास्तविक आध्यात्मिक क्षुधा होने पर तुम भगवान् से प्रार्थना किये बिना, उनका चिन्तन किये बिना, उनका नाम लिए बिना, उनकी महिमा का ध्यान किये बिना रह ही नहीं सकते। इस क्षुधा को जगाना है और

---

२. श्रीरामकृष्णवचनामृत - १, पृ. १४

जगाकर बनाये रखना है। नियमित साधना करने पर ही यह सम्भव है। तुम देह को भौतिक आहार से पुष्ट करते हो, मन को स्वाध्याय और विचारों से पुष्ट करते हो। लेकिन तुम्हारी आत्मा प्राचुर्य के बीच भूखी रह जाती है। क्या तुम्हें यह भूख महसूस नहीं होती? जीवात्मा परमात्मा के लिए लालायित है, वह अनन्त सच्चिदानन्द का साक्षात्कार करने के लिए व्याकुल है लेकिन हम उसकी इस लालसा को सन्तुष्ट नहीं करते। परन्तु इसका प्रयत्न करते ही हमारे जीवन में एक नया अध्याय प्रारम्भ हो जाता है।

श्रीरामकृष्ण ने यह भी कहा है कि सत्संग आवश्यक है।[3] ऐसे लोगों का संग जो साधना करते हों, जो हमें साधना में बल प्रदान करें, जिनमें परमात्मा की ज्योति कुछ मात्रा में प्रतिबिम्बित होती हो तथा जो अपने व्यक्तिगत दृष्टान्त से हमें शिक्षा प्रदान करें। सर्वोपरि उनके सान्निध्य में हम में भगवान् के लिए व्याकुलता पैदा होती है।

यहाँ एक बड़ी समस्या हमारे सम्मुख आती है। अपवित्र मन संसार की वस्तुओं की ओर दौड़ता है। शुद्ध मन स्वभावत: ईश्वर की महिमा को प्रतिबिम्बित करता है, उनकी ओर अग्रसर होता है, उनका ध्यान करता है और उनके दिव्य सान्निध्य, प्रेम और आनन्द का अनुभव करने का प्रयत्न करता है। तो मन को शुद्ध कैसे करें? सर्वप्रथम अपवित्र विचार, अपवित्र भावनाओं और अपवित्र कर्मों को यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न करो। अच्छे विचार सोचो, अच्छी भावनाएं उठाओ और शुभ कर्म करो। यह प्रथम सीढ़ी है। हमें हमेशा याद रखना चाहिए कि हम आत्मा हैं। इस आत्मा ने जीवन के विश्व-नाटक में अभिनय के लिए एक मानव व्यक्तित्व का चोला पहन रखा है। हमें जो भी भूमिका मिले उसे अच्छी तरह निभाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि हमें जीवन के कर्तव्य कर्मो को अनासक्त भाव से, भगवत्सेवा के रूप में करना चाहिए। लेकिन नैतिक आचरण और कर्तव्य-पालन चित्तशुद्धि के लिए पर्याप्त नहीं हैं। हमें ईश्वर का ध्यान करना होगा, उन से प्रार्थना करनी होगी जो पवित्रता, ज्ञान, भक्ति, करुणा, प्रेम और आनन्द का अनन्त उद्‌गम है।

क्रमिक विकास का पथ :

हमें सही मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। मान लो, मैं वन में भटक जाऊँ। मैं गलत रास्ते पर चलने लगूँ तो क्या होगा? मैं वन में अधिकाधिक भटक जाऊँगा। सही मार्ग पर चलने पर मैं उससे बाहर निकल सकूँगा। मुझे एक कथा याद आ गयी। एक आदमी अत्यन्त वेग से मोटर चला रहा था। उसे किसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना था। उसने एक स्कूल के विद्यार्थी से, जिसे थोड़ा भूगोल का ज्ञान था, पूछा, "अच्छा बेटे, यदि मैं इस रास्ते से जाऊँ तो क्या अमुक स्थान पर पहुँच सकता हूँ?" "जी हाँ", लड़के ने कहा, "आप पहुँच जाएंगे।" मोटर वाले ने पूछा, इधर से वह स्थान कितनी दूर है?" लड़का बोला, "आपको

३. श्रीरामकृष्णवचनामृत - १, पृ. ४१)

पच्चीस हजार मील का चक्कर लगाना होगा।" "अगर मैं विपरीत दिशा से जाऊँ तो?" "तो केवल दो मील।" इसका मर्म समझे? पहले मार्ग से तुम्हें गन्तव्य तक पहुँचने के लिए पृथिवी का चक्कर लगाना पड़ता। दूसरी दिशा में जाने पर केवल दो मील। आध्यात्मिक जीवन में भी यही बात है। उचित मनोभाव का निर्माण करने से, सही मनोवृत्ति से सही दिशा में अग्रसर होने से तुम्हारी प्रगति तेजी से होती है और लक्ष्य शीघ्र प्राप्त होता है। तुम्हारे भीतर एक महान् परिवर्तन हो जाता है। लेकिन बहुत जल्दबाजी करने का प्रयत्न मत करो। सही मार्ग पर दृढ़तापूर्वक धीरे-धीरे आगे बढ़ो। क्रमशः तुम चरम सत्य को प्राप्त करोगे।

साधना में हमें एक-एक करके सीढ़ियाँ तय करनी चाहिएँ। सर्वप्रथम है प्रतिमा-पूजन अर्थात् किसी रूप, प्रतीक, चित्र अथवा मूर्ति की सहायता से भगवान् की पूजा। भगवन्नाम का जप, उनका नाम-गुणगान और चिन्तन दूसरी सीढ़ी है। इसके बाद मन थोड़ा लीन होने लगता है और भगवत्-सान्निध्य का अनुभव होता है। यह ध्यान है, और ध्यान कालान्तर में उच्चतम अतीन्द्रिय अनुभूति तक ले जाता है। श्रीरामकृष्ण की एक कथा में एक गरीब लकड़हारे को चन्दन के वन से चाँदी की खान तक, वहाँ से सोने की खान तक और अन्त में हीरे की खान तक एक के बाद दूसरे तक आगे बढ़ने का निर्देश दिया गया है।[४] इसी प्रकार यदि हम प्रथम सीढ़ी से आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करें तो हम सत्य तक पहुँच जाएँगे। लेकिन यदि हम अन्तिम सीढ़ी से आरम्भ करें तो कहीं नहीं पहुँचेंगे। कुछ लोग अद्वैत-साधना करना चाहते हैं। मैं उन्हें कहता हूँ, "मैं अद्वैत-साधना के बारे में कुछ नहीं जानता। किसी दूसरे गुरू के पास जाओ। लेकिन यदि तुम प्रथम सीढ़ी से प्रारम्भ करना चाहिते हो तो मैं कुछ सहायता कर सकता हूँ।"

अतः सर्व प्रथम भगवान् के किसी रूप से प्रारम्भ करो। मुझमें देहात्म-बुद्धि है। मुझे लगता है कि मैं एक शरीरधारी प्राणी हूँ, सब लोगों की तरह एक व्यक्ति हूँ। ऐसे में मैं अनन्त की धारणा कैसे कर सकता हूँ? नहीं कर सकता। अतः मुझे देहात्म-बोध के स्तर से ही प्रारम्भ करना चाहिए और देखना चाहिए कि आगे क्या होता है। हनुमान् से श्रीराम ने पूछा था, "तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" हनुमान् ने उत्तर दिया –

"देहबुद्ध्या तु दासोऽस्मि जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥"[५]

अर्थात् हे प्रभु! जब मुझ मे देहात्म बोध होता है तब मैं आप का दास हूँ। जब मैं अपने को जीव समझता हूँ तब मैं आपका अंश हूँ। और जब मैं अपने को आत्मा समझता हूँ तब मैं आपके साथ अभिन्न हूँ। यह मेरा निश्चित मत है।

---

४. श्रीरामकृष्णवचनामृत-१, पृ. ७७-७८

५. इस प्रचलित श्लोक का सन्दर्भ अनुपलब्ध है। कृपया देखें – लेखक द्वारा संग्रहित युनिवर्सल प्रेयर्स, (मद्रास, रामकृष्ण मठ, १९५५), पृ.२३६ तथा श्रीरामकृष्णवचनामृत

अत: हमें प्रथम सीढ़ी से प्रारम्भ करना चाहिए।

क्या गुरु आवश्यक है? :

यह प्रश्न बहुत से लोग पूछते हैं। अपने बच्चों को स्कूल, कालेज अथवा संगीत विद्यालय भेजते समय वे यह प्रश्न नहीं करते। आध्यात्मिक जीवन के विषय में ही गुरु की आवश्यकता के विषय में संशय पैदा होता है। जैसा मैंने कहा आध्यात्मिक-जीवन में पदार्पण के समय अधिकांश लोग निरे बच्चे ही होते हैं। केवल उम्र तथा शारीरिक विकास पर्याप्त नहीं हैं। ऐसे कुछ बिरले जीव होते हैं जो दिव्य-चेतना लेकर जन्मते हैं और बचपन से ही भगवान् के सान्निध्य का अनुभव करते हैं। इनको आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन अन्य सभी को उसकी आवश्यकता होती है। एक बार एक भक्त ने मेरे गुरु स्वामी ब्रह्मानन्दजी से पूछा, "महाशय, क्या गुरू आवश्यक है?" स्वामीजी मुस्कुराए और बोले, "बेटे, चोरी करना सीखने के लिए भी गुरु की आवश्यकता होती है। और यह उच्चतम ब्रह्मविद्या है, क्या इसके लिए गुरु आवश्यक नहीं है?"[६] तुम्हें पता है कि जेबकतरों के भी गुरु होते हैं क्योंकि उन्हें कठोर अनुशासन और प्रशिक्षण से गुजरना पड़ता है और इसके लिए एक विशेषज्ञ जेबकतरे के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है।

इस सन्दर्भ में मैं तुम्हें एक कथा सुनाना चाहता हूँ। श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्य, बंगाल के प्रसिद्ध लेखक और नाटककार गिरीशचन्द्र घोष वृद्धावस्था में होमियोपेथी का डाक्टरी पेशा करने लगे थे। श्रीरामकृष्ण का नाम लेकर वे दवाई देते थे। उनकी महान् अन्तर्दृष्टि के कारण उन्हें इस उपचार में सफलता मिली थी। एक दिन एक वयस्क और अत्यन्त सम्भ्रान्त दीखने वाले व्यक्ति उनके पास बैठे थे। तभी एक युवक आया और उसने कहा, "महाशय, मैंने रास्ते में अपनी घड़ी खो दी है।" दूसरे सज्जन यह सुनकर सजग हो गये और पूछा, "यह कितने बजे और कहाँ की बात है?" युवक ने कहा, "महाशय, मैंने अपनी घड़ी अमुक स्थान पर अमुक समय खोई है।" इस पर वृद्ध सज्जन ने कहा, तुम्हें वह वापस मिल जायेगी।" वह व्यक्ति ऐसा आश्वासन कैसे दे सका था? क्योंकि सम्भ्रान्त दिखाई देने वाला वह सज्जन जेबकतरों का एक नेता, उनका गुरु था।

एक और दृष्टान्त लो। तुम खगोलशास्त्र सीखना चाहते हो। तुम एक पुस्तक उठाकर उसे समझना चाहते हो। पर तुम कुछ भी नहीं समझ पाते। लेकिन खगोलशास्त्री एक अद्भुत बात कहता है। प्रतिदिन हम सूर्य को उगते और अस्त होते देखते हैं और यह व्यक्ति आकर कहता है कि सूर्य न उदित होता है और न अस्त; यह सब पृथिवी की गति के कारण है। यदि हम केवल अपने इन्द्रिय जन्य ज्ञान पर विश्वास करें तो हम इस बात को समझ नहीं पायेंगे। लेकिन यदि हम ऐसा न करके उसके पास जाएँ, उसके निदर्शन में अध्ययन और प्रयोग करें

---

६. स्पिरिचुअल टाक्स, (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९६८), पृ. ४३

तभी हमें यह विश्वास हो सकेगा कि हमारे नेत्रों से जो दिखाई दे रहा है वह भ्रम है और खगोलशास्त्री का कथन सत्य है।

एक आध्यात्मिक गुरु भी इसी प्रकार की आश्चर्यजनक बात कहता है। हम सभी को अपनी देह का बोध है, हम सोचते हैं कि हम सभी स्त्री या पुरुष हैं। लेकिन आध्यात्मिक गुरु कहता है कि हम देह से ही नहीं, मन और अहंकार से भी पृथक् आत्मा हैं। लेकिन यदि तुम अन्य कई लोगों की तरह यह सोचो, "अरे यह धूर्त है" तो भगवान् तुम्हारी रक्षा करें। अपने गुरु पर संशय करने की जगह तुम्हें अपने आप पर संशय करना चाहिए। "क्या मैं मांस का एक लौंदा मात्र हूँ, मल-मूत्र का एक ढेर हूँ? या मुझमें कोई चैतन्य सत्ता है, एक जीवन्त आत्मा है।" ऐसा चिन्तन प्रारम्भ होने पर आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है। मैं एक आध्यात्मिक गुरु के पास जाता हूँ जिन्होंने समग्र जीवन साधना की है, अनुभूति प्राप्त की हो, जिनमें महान् करुणा, सहानुभूति, प्रेम और दया उत्पन्न हो गई है। मैं उनके चरणों में बैठता हूँ, साधना के विषय में उनसे कुछ निर्देश प्राप्त करता हूँ और नियमित साधना करता हूँ। ज्यों-ज्यों मेरा मन शुद्ध होता जाता है त्यों-त्यों मुझे आत्मजगत् की कुछ उपलब्धियाँ होने लगती हैं और मेरे इष्टदेव मेरे लिए जीवन्त हो उठते हैं। मैं अपने भीतर एक दिव्य-सत्ता का अनुभव करता हूँ जो मुझमें ओतप्रोत है तथा जो सभी प्राणियों में भी अभिव्यक्त है।

छान्दोग्योपनिषद के सातवें अध्याय में नारद-सनत्कुमार संवाद है। सन्त और ऋषि आकाश से नहीं टपक पड़ते। वे भी सामान्य मानवों की तरह जन्म लेते हैं। वे जन्म ही से पूर्ण नहीं होते, उन्हें अपनी पूर्णता अभिव्यक्त करनी पड़ती है। साधना द्वारा वे अपनी अन्तर्निहित दिव्यता को अभिव्यक्त करते हैं। नारद भी एक समय विद्यार्थी थे और शास्त्र, विज्ञान एवं कला की सभी शाखाओं का ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था। लेकिन इन विषयों में पारंगत होने पर भी उन्हें लगा कि कुछ कमी है। उन्हें लगा कि वे स्वयं अपने बारे में, अपने स्वरूप के बारे में कुछ नहीं जानते। हम बाहर की दुनिया की बात पढ़कर और जानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं लेकिन अपने बारे में जानने का रत्तीभर भी प्रयत्न नहीं करते। यह पूर्णरूपेण अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। ब्रिटिश खगोल भौतिक विशेषज्ञ एडिंगटन ने कहा है, "जिसके लिए सत्य अर्थ रखता है, उसे सत्य की श्रेणी में रखना चाहिये।" द्रष्टा के कुछ ज्ञान के बिना शिक्षा अपूर्ण है। संसार ऐसे अर्धशिक्षितों से भरा पड़ा है जो अपने आप को नहीं जानते, उच्चतर सत्ता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते फिर भी अपने को संसार का गुरु अथवा त्राणकर्ता समझते हैं। ऐसे लोग संसार को नष्ट करने पर तुले हैं। अब हम पुनः उपनिषद् की कहानी पर आएँ। सनत्कुमार ने नारद से पूछा कि वे क्या जानते हैं? नारद ने व्याकरण, शिक्षा, कल्प, वेदादि युक्त अधीत विषयों की एक लम्बी सूची बता दी और उसके बाद कहा, मैं केवल इनके शब्द-समूह को जानता हूँ, मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने सुना है कि आत्मा को जानने वाला दुःख के पार चला जाता है। लेकिन मैंने आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है

अत: मैं महान दु:ख में हूँ।[७] सनत्कुमार ने उनकी बातें परम अनुकम्पापूर्वक सुनीं। उसके बाद उन्होंने नारद को ब्रह्म के बारे में उपदेश देना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होंने कहा कि वाक् ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति है। वाक् से उच्चतर मन है, इच्छा मन से उच्चतर है, उससे उच्चतर चित्त है, इनसे भी उच्चतर ध्यान, विज्ञान, पञ्चभूत, प्राण आदि आदि हैं। आनन्द सर्वोच्च है। इसप्रकार शिष्य की बुद्धि को क्रमश: उठाते हुए अन्त में सनत्कुमार ने एक अद्भुत बात कही, "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।" अर्थात् जो भूमा, अनन्त है, वही आनन्द है। सान्त अथवा अल्प में सुख नहीं है।[८]

चित्तशुद्धि कैसे करें? :

समस्या यह है कि हमारी आत्मा अनन्त आनन्द, अनन्त प्रेम, अनन्त सुख के लिए लालायित है। लेकिन हम इसे सान्त में प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और असफल होने पर हताश हो जाते हैं। गुरु ने कहा, "यदि तुम वास्तविक आनन्द, असीम आनन्द प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें अनन्त को प्राप्त करना होगा।" इस पर नारद का अगला प्रश्न था, "अनन्त का क्या अर्थ है?" "यह वह सर्वव्यापी सत्ता है जो ऊपर-नीचे दायें-बायें सर्वत्र है। उसे प्राप्त करने पर और कुछ दिखाई, सुनाई अथवा जाना नहीं जाता। वह अनंत चैतन्य है।"[९] पर उसे प्राप्त कैसे करें? अनन्त की तत्काल प्राप्ति में बाधा क्या है? यहाँ महान् पुरातन आचार्य सनत्कुमार साधना का समग्र रहस्य संक्षेप में बताते हैं :

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।।[१०]

अर्थात् आहार शुद्धि से चित्त शुद्ध होता है और चित्त शुद्धि से स्मृति ध्रुव होती है। अर्थात् हमें अपना आध्यात्मिक-स्वरूप याद आ जाता है और हम अध्यात्म-चेतना में क्रमश: प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इससे हृदय-ग्रन्थियाँ नष्ट होती हैं और मुक्ति प्राप्त होती है।

अनन्त परमात्मा का साक्षात्कार होने पर समग्र बन्धनों से और दु:खों से मुक्ति प्राप्त होती है। परमात्मा के साथ अपने तादात्म्य की अनुभूति से जीवन और मरण की हमारी सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

अब थोड़ा आहार शब्द का अर्थ समझने का प्रयत्न करें। 'आहार' शब्द का अर्थ है जिसका हम आहरण करते हैं। क्या इससे केवल अन्न ही समझना चाहिए? शुद्ध सात्त्विक अन्न? शुद्ध शाकाहारी अन्न? यह कहाँ तक सहायक होता है? यह कुछ हद तक सहायक होता है। लेकिन जब तक हम चित्त शुद्धि कैसे करना है यह नहीं जानते, तब तक अधिक कुछ नहीं हो सकता। ऐसे बहुतेरे शाकाहारी लोग है जो दुष्ट हैं। वे कैसे शाकाहारी हैं? भगवान् उनका भला करें। विषधर सर्प को विशुद्ध दूध पिलाने पर भी वह विष ही बनाता है।

---

७. छान्दोग्योपनिषद, ७.१.३ ८. वही ७.२३.१ ९. वही ७.२४.१, ७.२५.१
१०. वही ७.२६.२

अतएव हमारे पेट को शुद्ध अन्न से भरना मात्र पर्याप्त नहीं है; हमारे विषैले स्वभाव को त्यागना होगा। अतः शंकराचार्य इस की व्याख्या करते हुए कहते हैं,

'आहार वह है जो भीतर लिया जाता है।' अर्थात् शब्द स्पर्शादि का अनुभव, जिन्हें द्रष्टा के अनुभव के लिए ग्रहण किया जाता है। और जब विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव शुद्ध होता है याने राग, द्वेष, अथवा भ्रम रहित होता है – जिसका ऐसा शुद्ध प्रत्यक्ष है, उसका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है।[११]

तुम में से कुछ ने 'तीन जापानी बन्दरों की मूर्तियों' को देखा होगा। एक बन्दर ने दोनों कानों को, दूसरे ने दोनों आँखों को और तीसरे ने मुँह को बन्द कर रखा है। यूरोप में प्रवास के समय मैंने स्विट्जरलैण्ड की एक झील के किनारे पत्थर पर एक नक्काशी देखी। वहाँ भी तीन बन्दर थे, लेकिन एक अन्तर था। एक की एक ही आँख बन्द थी, दूसरे का एक कान बन्द था और तीसरे का आधा मुँह बन्द था। मैं क्षणभर के लिए भौंचक्का रह गया। फिर अचानक मैं इसका अर्थ समझ गया। बुरा न देखो, शुभ देखो। अशुभ न सुनो, शुभ सुनो। बुरा न बोलो, शुभ बोलो। पहले तो मुझे लगा कि यह मौलिक कल्पना है! तब मुझे प्रसिद्ध वैदिक शान्तिमन्त्र का स्मरण हो आया :

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाःभद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनुभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥[१२]

अर्थात्, हे देवगण! हम अपने कर्णों से शुभ सुनें। हे पूज्यवर, हम अपने नेत्रों से शुभ का दर्शन करें। हम तुम्हारी स्तुति करें और सबल देह और अंगों से देवताओं द्वारा निर्दिष्ट आयु का भोग करें।

अब हमें इस सबका अभ्यास करना है। और कुछ समय तक ऐसा करने पर मन कुछ मात्रा में पवित्र होगा। वागेन्द्रिय का सर्वश्रेष्ठ उपयोग करो। तुम अनर्थ बकवास के द्वारा उसका दुरूपयोग करते हो। ऐसा न करो। भगवान् का नाम जो तुम्हें रुचे, उसका जप करो। भगवान् का जो रूप तुम्हें रूचे, उसका भक्तिपूर्वक ध्यान करो। कुछ समय बाद तुम पाओगे कि तुम्हारा मन शुद्ध हो रहा है। भगवन्नाम का जप और भगवान् के रूप की कल्पना मन को उदात्त करती है। बाद में तुम अपने इष्ट-देवता की एक झलक पा सकते हो और अनन्त परमात्मा की भी झलक प्राप्त कर सकते हो।

अष्टांगयोग

साधना का प्रारंभ कैसे करें? महान् योगाचार्य पतंजलि ने सिद्धि के लिए अष्टांग-मार्ग का प्रतिपादन किया है।[१३]यम नामक प्रथम सीढ़ी का अर्थ है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन पाँच व्रतों का पालन। इसके बाद नियम हैं, जिसके अन्तर्गत

---

११. छान्दोग्योपनिषद् ७.२६.२ पर शांकरभाष्य १२. ऋग्वेद १.८९.८

१३. यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टाङ्गानि। – पातञ्जलयोगसूत्र २.२९

पाँच आचार आते हैं : प्रथम है देह और मन की पवित्रता – 'शौच'। 'सन्तोष' द्वितीय है। सन्तोष को जीवन में लाना चाहिए। यदि मनुष्य सदैव कुढ़ता रहे और शिकायत करता रहे तो ऐसे मन को लेकर वह इस संसार में अथवा आध्यात्मिक जगत् में कैसे कोई सफलता प्राप्त कर सकता है? हमें इस जगत् की परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाकर रहना चाहिए और स्वयं का विकास करना चाहिए। तीसरा नियम 'तप' है। जीवन कुछ हद तक तपोमय होना चाहिए। आध्यात्मिक-जीवन में कठोरता के अभाव में प्रत्येक आगामी पीढ़ी पूर्ववर्ती पीढ़ी से कोमल होती जा रही है। ऐसे कोमल लोगों से कुछ नहीं हो सकता। चतुर्थ नियम है 'स्वाध्याय'। हम पुस्तकें तो पढ़ते हैं लेकिन आखिर कितना हमारे दिमाग में घुसता है? हम कोई प्रवचन सुनकर कहते हैं – वह बहुत अच्छा था, लेकिन यदि पूछा जाये, "तुमने क्या सुना है" तो हम कुछ भी बता नहीं पाते। शब्द मानो एक कान से अन्दर जाते हैं और दूसरे से बाहर निकल आते हैं। विचारों की धारणा नहीं होती। स्वाध्याय का अर्थ है, जो पढ़ा है उसका मनन करना और उसे आत्मसात करना। उपनिषद् में कहा गया है : 'श्रोतव्य' : अर्थात् पहले पढ़ो या सुनो। इसके बाद 'मन्तव्यः' – जो पढ़ा या सुना है उसका मनन करो।[१४] स्वाध्याय का यही तरीका है। नैतिक जीवन में कुछ मात्रा में प्रतिष्ठित होने पर साधना का फल प्राप्त होता है। पाँचवा नियम है – 'ईश्वर प्रणिधान' या भगवान् के प्रति समर्पण। अपना सर्वस्व – देह, मन, आत्मा उन्हें समर्पित कर दो।

पतञ्जलि के अनुसार आध्यात्मिक सोपान पंक्ति की तीसरी सीढ़ी 'आसन' है। तुम घण्टों प्रतिमा के समान निश्चल बैठे रहो, पर उससे क्या लाभ? कुछ भी नहीं। इसके साथ कम-से-कम कुछ आध्यात्मिक-पिपासा होनी चाहिए। तब आसन साधना में उपयोगी होगा।

'प्राणायाम' चौथा योगांग है। प्राणायाम में प्राण या श्वास-प्रश्वास का नियमन किया जाता है। इसकी क्या उपयोगिता है? यदि यह एक भौतिक क्रिया मात्र हो तो फुटबाल की रबर की थैली महान् योगी कहलायेगी। प्राण-निरोध से तुम्हें क्या लाभ होता है? उसकी अपने आप में कोई उपयोगिता नहीं है लेकिन मन यदि अत्यधिक अनुशासित होवे, मन में यदि आध्यात्मिक भाव होवे, तो प्राणायाम चेतना के उच्चतर स्तर पर आरोहण करने में सहायक होता है।

'प्रत्याहार' नामक पंचम अंग का अर्थ है – असंगता। मन को सभी वस्तुओं से हटा लेना होगा। कोई काम करते समय तुम अन्य सभी विचारों को हटा कर उस कार्य-विशेष में मन लगाते हो। असंगता के अभाव में चिन्ताएँ आ पड़ती हैं। सोते समय यदि हम बहुत-सी बातें सोचें तो नींद नहीं आएगी और अनिद्रा का रोग हो जाएगा। इसी प्रकार यदि ध्यान करना चाहो तो मन को यथासम्भव सांसारिक बातों से, यहाँ तक कि मन में उठ रहे विचारों, भावनाओं और चित्रों से भी अलग करना होगा। लेकिन इस असंगता से मन में शून्यता नहीं

---

१४. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.५ और ४.५.६

होनी चाहिए। एक शून्य या खाली मन निद्राग्रस्त हो जाएगा। बहुत से लोगों के लिए ध्यान मानो निद्रा को आमन्त्रण है। पूर्ण सजग रहो। इच्छा शक्ति का कुछ अधिक प्रयोग करो। ध्यान करते समय भगन्नाम का जप करो। तब सोने की सम्भावना नहीं रहेगी। वरन् मन उच्चतर पर आरोहण करेगा।

अब हम छठे अंग – 'धारणा' की चर्चा करें। इसका अर्थ है चेतना के किसी केन्द्र या चक्र-विशेष में कुछ समय तक किसी ईश्वरीय विचार, भगवन्नाम या भगवान् के किसी आनन्दमय रूप पर मन को लगाना। पहले अपनी चेतना के केन्द्र बिन्दु का अनुभव करना होगा और उसके बाद मन को वहाँ एकाग्र करना होगा।

'ध्यान' अर्थात् भगवान् सम्बन्धी किसी एक ही विचार प्रवाह को बनाए रखना – सातवाँ अंग है। इस अवस्था में एकाग्रता अधिक गहरी और दीर्घस्थायी होती है। तुम ईश्वरीय-बोध में लीन रहते हो और इसके परिणामस्वरूप समाधि अथवा अति-चेतनावस्थारूप उच्चतम अवस्था प्राप्त होती है। ध्यान वह गूढ़ भगवद्-उपासना है जिसमें परमात्मा की यथार्थ और स्वरूपतः उपासना की जाती है।

आगे विचार करने के पूर्व हम अपने आप से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछें। हम अपनी देह को आत्मा समझते हैं और स्वयं को नर अथवा नारी समझते हैं। तदनुरूप किसी पुरुष अथवा स्त्री देवमूर्ति की उपासना करते हैं। हमारा आध्यात्मिक जीवन इसी तरह प्रारम्भ होता है और अन्त भी इसी प्रकार हो जाता है। इससे हमें क्या मिलता है? यह आवश्यक है कि आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में ही हमें यह भान हो कि हम क्या करने जा रहे हैं। उपासना का हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है?

ईश्वर की उपासना :

तो फिर ईश्वर की उपासना क्या है? ईश्वर की तुम्हारी क्या मान्यता है? यूरोप में एक भक्त ने मुझसे कहा, "स्वामीजी, 'गॉड' शब्द का उच्चारण कभी न करें। उससे बचपन की धारणा सामने आ जाती है कि 'गॉड' बादलों के ऊपर आसमान में रहता है और उसके नियमों को तोड़ने वालों को दण्ड देने को प्रस्तुत रहता है। मुझे यह विचार सह्य नहीं है।" इस पर मैंने कहा, "ठीक है, 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करो। मैं ब्रह्म शब्द का उपयोग करता हूँ।"

ईश्वर की उपासना में उसके सामीप्य का अनुभव होना चाहिए। हम सामान्यतः उसे स्रष्टा, पालनकर्ता और संहर्ता मानते हैं। वे वस्तुओं को अपने पास वापस ले लेते हैं जिसे हम संहार कहते हैं। लेकिन याद रखो कि वह इन से भी बहुत अधिक हैं; वे हमारी आत्मा की भी आत्मा, सबसे निकटतम और परम प्रियतम हैं। लेकिन इस सत्य का साक्षात्कार करने के लिए पहले हमें यह जानना होगा कि हम आत्माएँ हैं। हमें यह जानना होगा कि हम देह, मन, इन्द्रियों और अहंकार से भिन्न आत्मा हैं। परमात्मा के अंश, आत्मा को जाने बिना हम

ईश्वर को नहीं जान सकते जो हमारी आत्मा की आत्मा, परमात्मा है।

वह हमारे पास माता और पिता के रूप में आता है। वह हमारे पास गुरु के रूप में और इष्ट-देवता के रूप में भी आता है। द्वैतवादा वेदान्त के अनुसार – और हम सभी को द्वैतवादी की तरह ही साधना प्रारम्भ करनी चाहिए – जीव और ईश्वर, आत्मा और परमात्मा सदा भिन्न होते हुए भी परस्पर सदा संबंधित रहते हैं। हमें जीव के नित्य ईश्वर के साथ नित्य सम्बन्ध की धारणा से साधना प्रारम्भ करनी चाहिए। वे सदा संयुक्त हैं लेकिन मन की अपवित्रता के कारण हम ईश्वर के बदले उसकी सृष्टि से आसक्त हो जाते हैं। एक महान् पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने सामान्य धार्मिक लोगों के आचरण को देखकर कहा था, "लोग ईश्वर को नहीं चाहते वे केवल ईश्वर का उपयोग करना चाहते हैं।" वे ईश्वर से प्रार्थना इसलिए करते हैं कि वह उनकी समस्त अभिलाषाएँ पूरी कर दे। और यदि वह ऐसा न करे तो वे नास्तिक बनकर कहने लगते हैं, "अरे, ईश्वर-फीश्वर कुछ नहीं है, और यदि है तो वह बहरा, अन्धा है, वह किसी की नहीं सुनता।" ऐसी बचकानी धारणा उचित नहीं। तुम केवल एक ऐसे अच्छे ईश्वर को चाहते हो जो सदा तुम्हारी अभिलाषाओं की पूर्ति की वर्षा तुम पर करता रहे। क्या ईश्वर को इसके सिवा और काम नहीं है?

भगवान् श्रीरामकृष्ण ने पहले परमात्मा की उपासना ईश्वरीयशक्ति की प्रतीक – काली के रूप में की थी। काली की प्रतिमा अत्यन्त सांकेतिक है। वे एक हाथ से सृष्टि, दूसरे हाथ से पालन, तीसरे हाथ से संहार कर रही है और चौथे हाथ में एक कटा हुआ नरमुण्ड लिए हुए है। यह उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप का स्थूल प्रतिरूप ही है। एक पुत्र ने पिता से पूछा, "अधीहि भगवो ब्रह्मेति।" – भगवन्, मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए।' और पिता ने उत्तर दिया, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्य-भिसंविशन्ति-तद्ब्रह्म" – जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसमें उनकी स्थिति है और जिसमें अन्त में सब का लय हो जाता है, वह ब्रह्म है।[१५] भक्तिशास्त्रों में ब्रह्म को काली, नारायण, शिव आदि कई नाम दिये गये हैं। वेदान्त में वह ईश्वर या सच्चिदानन्द कहलाता है। वह हमारी आत्माओं में आत्माओं की आत्मा परमात्मा के रूप में वास करता है। फिर हम सभी का वास भी उसी में है। हमें कम से कम उसके सान्निध्य का अनुभव होना चाहिये। यदि हम उसके सान्निध्य का अनुभव न कर सकें तो हमें यह बोध विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिये कि वह हमारा परम सुहृद और परम प्रियतम है।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ इसके लिए ईश्वर की सही धारणा होनी चाहिये। लेकिन ईश्वर हमारी धारणा के लिए बहुत बड़ा है। एक दृष्टान्त लो : हम बुदबुदों के समान हैं। समुद्र इतना विशाल है कि हम उसकी धारणा भी नहीं कर सकते। तो फिर क्या करें? किसी विशाल लहर को ले लो, उसकी ओर अग्रसर होओ; उन लहरों से संयुक्त हो जाओ। और उनके माध्यम

---

१५. तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१.१

से कालान्तर में हमें सागर की धारणा होने लगेगी। इसी तरह हमारी साधना का प्रारम्भ ऐसी ही किसी पर्वताकार लहर से, हमारे इष्ट-देवता से होती है। हम उनकी उपासना, प्रार्थना करते हैं और इस प्रकार उच्चतर चेतना और चरम सत्य की व्यापक धारणा प्राप्त करते हैं। इष्टदेव हमें कहते हैं, "देखो, भले ही मैं एक विशाल लहर होऊँ और तुम एक छोटे बुदबुदे लेकिन हम सभी के पीछे अनन्त सागर विद्यमान है।" ठीक समय आने पर वे यह चरम सत्य हमारे समक्ष प्रकट कर देते हैं कि वे परमात्मा ही हैं।

जप और ध्यान :

परमात्मा का साक्षात्कार एकाएक नहीं हो सकता। हमें, जहाँ हम हैं, वहाँ से प्रारम्भ करना चाहिए और ऐसे पथ का अवलम्बन लेना चाहिए जो अन्ततः हमें वहाँ पहुँचा दे। आध्यात्मिक जीवन पर्वतारोहण के समान है। हमें धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक चढ़ना पढ़ता है। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहते हैं,

मकान के दालान में खड़े व्यक्ति का दृष्टान्त लो। वह छत पर पहुँचना चाहता है लेकिन एक-एक करके सीढ़ियाँ चढ़ने के बदले वह किसी से अपने को ऊपर फेंकने को कहता है। परिणाम क्या होगा? वह गम्भीर रूप से घायल हो जायेगा। आध्यात्मिक जीवन में भी यही बात है।[१६]

रातोंरात सिद्धपुरुष होने की अपेक्षा मत करो। आसान उपायों से प्रारम्भ करो। भगवन्नाम का जप बहुत प्रभावशाली प्रथम सीढ़ी है। लेकिन तोते के समान रटते हुए जप नहीं करना है। पतञ्जलि कहते हैं : 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'।[१७] भगवन्नाथ के जप के साथ ही 'अर्थभावनम्' अर्थात् अर्थ का चिन्तन करो। मन्त्र का क्या अर्थ है? आध्यात्मिक-जीवन में प्रगति करने पर तुम पाओगे कि तुम अधिकाधिक गहराई से मन्त्र के अर्थ को समझ पा रहे हो। सर्वप्रथम हम इष्टदेवता के ज्योतिर्मय, आनन्दमय रूप का चिन्तन करें। तदनन्तर उनकी अनन्त पवित्रता, अनन्त ज्ञान, अनन्त भक्ति, प्रेम और आनन्द के मूर्त-विग्रह के रूप में भावना करें। अंत में सोचें कि वे सर्वव्यापी अंतर्यामी परमात्मा ही हैं।

हम ध्यान की बात करते हैं। तुम कहते हो, "मैं ध्यान कर रहा हूँ।" तुम किसका ध्यान कर रहे हो? बैठे-बैठे किसी भी विचार में निमग्न रहना? ध्यान शब्द का यह अर्थ नहीं है। चेतना के उच्चतर-केन्द्र में उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर निरन्तर विचार-प्रवाह ध्यान कहलाता है। ध्यान मे भगवद्-चिन्तन करते हुए तुम उसमें डूब जाते हो। लेकिन यह तल्लीनता एकाएक नहीं आती। जब उसकी एक सीढ़ी है। भगवान् का चिन्तन करते हुए भगवन्नाम का जप करो। तब मन कुछ शान्त होता है और नाम की ध्वनि भी बन्द हो जाती है। इस तरह भगवच्चिन्तन करते-करते इष्ट देवता संसार की वस्तुओं से अधिकाधिक सत्य

१६. स्वामी प्रभवानन्दकृत इटरनल कम्पेनियन (१९७१), पृ. २४५
१७. पातञ्जल योगसूत्र १.२८

प्रतीत होने लगते हैं। स्वाभाविक ही मन उनमें लीन होने लगता है और क्रमशः तुम्हें भगवान् के सान्निध्य, प्रेम और आनन्द का आस्वाद प्राप्त होता है। ईश्वर हमारे निकट इष्टदेवता के रूप में, परमात्मा के रूप में, सच्चिदानन्द के रूप में आ सकते हैं। नियमित साधना से यह सब सम्भव है।

प्रारम्भ में इष्टदेव के चित्र की सहायता लेना अच्छा है। चित्र को एकटक देखो, चित्र पर मन एकाग्र करो। लेकिन हमारे अन्तर्जगत में चित्र, भगवद्रूप को बिठा देना कहीं अधिक अच्छा हैं। तब किसी बाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती। तुम जब चाहो अन्दर झाँक सकते हो जहाँ इष्टदेवता विराजमान हैं और उनसे प्रार्थना कर सकते हो। भगवन्नाम का जप करो, उनका ध्यान करो – पहले उनके रूप का, फिर उनके गुणों का और अन्त में उनके अनन्त स्वरूप का। इस प्रकार ध्यान में प्रगति की जाती है। आगे बढ़ने का यही क्रम है।

हमें 'हृदय-कमल' में ध्यान करने को कहा जाता है। यह हृदय कहाँ है? क्या यह मांस निर्मित दैहिक-हृदय है? वहाँ तो कुछ नहीं किया जा सकता। वास्तव में हृदय का अर्थ हमारी अन्तर्चेतना के केन्द्र से है जो हृदय-प्रदेश में अनुभव होती है। यह हमारे देह और मन को व्याप्त करने वाली आत्म-चेतना है। यह परमात्म-चैतन्य से अभिन्न आत्म-चेतना है। अन्तर्वस्तु विहीन होने के कारण इसकी समता आकाश से की जाती है। अतः इसे 'चिदाकाश' कहते हैं। इस चिदाकाश में ध्यान करना चाहिए। अपने को भक्त और इष्टदेवता को परमात्मा का रूप समझना चाहिए।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमसे कहा करते थे, हृदय-मन्दिर में ध्यान करने का प्रयत्न करो। साधना करते रहने पर यह हृदय-मन्दिर क्या है, यह तुम्हें समझ में आएगा।[१८] यह सत्य है। चिदाकाश या हृदय का अर्थ जानने के लिए साधना आवश्यक है। पहले तुम उसकी भावना महाकाश या बाह्य-आकाश की तरह करते हो। बाद में तुम उसे सूक्ष्म मनोजगत् मानने लगते हो। वस्तुतः वास्तविक हृदय या चिदाकाश विशुद्ध चैतन्य के राज्य में है। वहाँ जीवात्मा, परमात्मा के साथ नित्ययुक्त होकर अवस्थित है। इस हृदयाकाश में अपने इष्टदेव का ध्यान करो।

जप की पद्धति का निर्देश देने वाले पूर्वोक्त पातञ्जल-योगसूत्र 'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्' पर पुनः ध्यान दो। (अर्थ की भावना करते हुए भगवन्नाम का जप करो) ऐसा करने पर क्या होगा? पतञ्जलि कहते हैं कि अन्तराय दूर हो जाते हैं और एक नयी आध्यात्मिक-चेतना का उदय होता है। ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।।[१९] – जप तथा सरल ध्यान मात्र से बाधाएँ दूर हो जाती हैं। यह कैसे होता है? इसे यों समझाया जा सकता है : हम सतत् चिन्ताएँ, आशंकाए उठाते रहते हैं और अशुभ विचार करते रहते हैं। इन बुरे विचारों से चित्त विक्षिप्त होता है और देह अस्वस्थ होती है। हम जितना अधिक शुभ चिन्तन,

---

१८. दि इटरनल कम्पेनियन, पृ. २६९ १९.पातञ्जल योगसूत्र १.२९

भगवन्नाम का जप और भगवान् के आनन्दमय रूप का ध्यान करेंगे, मन उतना ही अधिक समरसता को प्राप्त करेगा। स्वनिर्मित रोग दूर हो जाएँगे। मन में प्रतिष्ठित समरसता बाह्य देह में प्रतिफलित, प्रतिबिम्बित होती है। अत: भगवन्नाम के जप से मानसिक स्वास्थ्य तथा कुछ मात्रा में शारीरिक स्वास्थ्य में सुधार होता है। हम जप का प्रभाव समझने लगते हैं। भगवद्रूप के ध्यान के प्रभाव से अन्तर्निहित अनभिव्यक्त प्रसुप्त एक नयी आध्यात्मिक चेतना अभिव्यक्त होती है। तब हमें पता चलता है कि हम देह मात्र नहीं है, बल्कि आत्मा हैं तथा इष्टदेव परमशान्ति, परमानन्द और परम प्रेम के निधान – परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। भगवन्नाम की ऐसी शक्ति है।

आध्यात्मिक जीवन सेवा का जीवन है :

हम योग के सात अंगों का विवेचन कर चुके हैं। आठवाँ अंग या सीढ़ी क्या है? पतंजलि के अनुसार आठवी सीढ़ी समाधि है, जिसमें परमानन्दस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

श्रीरामकृष्ण तीन प्रकार के आनन्दों की चर्चा करते हैं। पहला है विषयानन्द अर्थात् इन्द्रियों के विषयों के संस्पर्श में आने से उत्पन्न आनन्द। द्वितीय हैं भजनानन्द अर्थात् भजन, ध्यान और जप से होने वाला आनन्द। और अन्त में है – ब्रह्मानन्द – अर्थात् समाधि में परमात्मा के साक्षात्कार से प्राप्त होने वाला आनन्द। ब्रह्मानन्द प्राप्त करना कठिन है। वह कठोर साधना और भगवत्कृपा की अन्तिम परिणति के रूप में प्राप्त होता है। लेकिन उसके पहले भी हम भजनानन्द का आनन्द ले सकते हैं। आध्यात्मिक-जीवन में जितना बन सके भजनानन्द प्राप्त करना चाहिए। सभी इसे प्राप्त कर सकते हैं। जप और भगवान् के आनन्दमय रूप के ध्यान से प्राप्त आनन्द को दूसरे सहसाधकों में बाँटो। इसीलिए ऐसे समान आध्यात्मिक दृष्टिकोण वाले भक्त मिलकर भगवन्नाम-गुण-गान करते हैं। कम से कम कुछ समय के लिए वे संसार के झमेलों को भूल जाते हैं। मन उच्चतर अवस्था में आरूढ़ हो जाता है। परमात्मा का आनन्द, परमात्मा की शान्ति कुछ अंशों में उनके हृदय में आ जाती है। लेकिन जैसा मैंने कहा, यहीं रुकना नहीं चाहिए। हमारे महान् आचार्य हमें कहा करते थे, स्वयं प्रगति करने के साथ ही दूसरों की प्रगति में सहायता करो। सिद्ध-पुरुष ही सच्चा गुरु हो सकता है, लेकिन दूसरों की सहायता के लिए शुरू से ही सिद्ध होना आवश्यक नहीं है। यदि कोई उच्च कक्षा का विद्यार्थी होवे तो शिक्षकों के अभाव में वह निचली कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ा सकता है। वह निचली कक्षा के छात्रों की सेवा कर सकता है। पूर्ण साक्षात्कार और सिद्धि के लिए प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। हम सभी अवस्थाओं में अपने सहमानवों की सहायता कर सकते हैं।

भगवान् श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों से हमने जिस धर्म की शिक्षा प्राप्त की है उसने हमें आत्म-केन्द्रित न होकर सर्वभूतों में विद्यमान परमात्मा की समर्पित सेवा करना सिखाया

है। स्वामी विवेकानन्द के कुछ शब्द मुझे सदा स्मरण होते रहते हैं, "पहले हम देवता बनें और बाद में दूसरों को देवता बनने में सहायता करें।"[२०] इस से स्वामीजी का क्या तात्पर्य है? हम में से प्रत्येक को ऐसा जीवन यापन करना चाहिए कि वह आध्यात्मिक-साक्षात्कार कर समस्त बन्धनों से मुक्त ही नहीं हो जावे, बल्कि वह दूसरों का कल्याण भी करे। हमें परमात्मा का अपनी हृदय-गुफा में साक्षात्कार करना है और उसके बाद उसको समस्त प्राणियों में अभिव्यक्त रूप में भी अनुभव करना है। स्वयं स्वामीजी का यह समन्वित दृष्टिकोण था और उनकी यह अनुभूति रामकृष्ण-धर्मान्दोलन के विभिन्न प्रकार के सेवाकार्यों – चिकित्सा, शिक्षा, प्रचार और प्रकाशन आदि की आधार और प्रेरणा भी है। आदर्श है – दूसरों में विद्यमान परमात्मा की सेवा। जिस प्रकार हम मुक्त होने का प्रयास करते हैं उसी प्रकार हमें दूसरों को मुक्त होने में सहायता करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही वह समन्वित मार्ग है जिसका हम सभी अभ्यास कर रहे हैं। इसमें कर्म, ध्यान, भक्ति और ज्ञान – चारों योग हैं।

जैसा स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, उच्चतम आदर्श है, "पहले हम स्वयं देवता बनें और तब दूसरों को देवता बनने में सहायता करें।" यदि हम थोड़ा आगे बढ़े तो दूसरों को भी कुछ आगे बढ़ने में सहायता कर सकते हैं। इसी प्रकार हम स्वामीजी के महान् आदर्श – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – अर्थात् 'अपनी मुक्ति और संसार के हित के लिए' – को जीवन में प्रतिफलित कर सकते हैं। जैसे-जैसे हम उन्नत होते जाते हैं, वैसे-वैसे हम दूसरों को उन्नत होने में अपना विनम्र सहयोग दे सकते हैं। साधना और आध्यात्मिक पथ पर प्रगति करते हुए हम दूसरों की सेवा करने का प्रयत्न करें। यह दोहरा, दो उपायों वाला पथ हमें आन्तरिक पवित्रता और दैवी प्रेम, आनन्द तथा सत्ता की अनुभूति में सहायक होगा। यह महान् आदर्श हमारे सम्मुख है। आओ, हम सभी प्रत्येक अपने-अपने ढंग से उसकी धीरे-धीरे उपलब्धि की दिशा में पथ के प्रत्येक कदम का निश्चय करते हुए आगे बढ़ें।

□□□

---

२०. विवेकानन्द साहित्य ... २१. वही ...

अध्याय १९

ध्याननिष्ठ जीवन की अनिवार्य शर्तें

हमारा प्रस्तुत कार्य :

सर्व प्रथम हमारे लिए आवश्यक है कि आध्यात्मिक आदर्श स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष हो। सांख्य-नामक पुरातन दर्शन प्रणाली के अनुसार केवल दो मूल-तत्व हैं : 'पुरुष' अथवा शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप आत्मा तथा 'प्रकृति'। वेदान्त के अनुसार मानव का चैतन्य तत्त्व आत्मा है, तथा सभी आत्माएँ अनन्त सर्वव्यापी परमात्मा या ब्रह्म की अंश हैं। अत: वेदान्त के अनुसार आत्म-साक्षात्कार का अर्थ भगवत्साक्षात्कार है। जो लोग आत्मा और आत्माओं की आत्मा, परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उनका लक्ष्य परमात्मा के साथ, स्वयं में तथा सभी प्राणियों में एकत्व स्थापित करना है। सर्वव्यापी परमात्मा का साक्षात्कार हमारे आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य है।

छात्रावस्था में जब हम श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों के पास गये, तो उन्होंने हमारे सम्मुख आत्म-साक्षात्कार का आदर्श प्रस्तुत किया। लेकिन आत्म-साक्षात्कार से उनका अर्थ किसी वस्तु का निराकरण नहीं था। उन्होंने हमें स्पष्ट रूप से कहा कि व्यक्ति जितना ही अपनी उच्चतर-आत्मा के निकट जाता है, उतना ही वह परमात्मा का, तथा उसकी सभी में अभिव्यक्ति का अनुभव करता है। और तब व्यक्ति परमात्मा की सभी में सेवा करना चाहता है। लेकिन इसके पहले व्यक्ति को प्रार्थना और उपासना की सहायता से आध्यात्मिक-पथ का अनुसरण करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा अपनी आत्मा तथा सर्वान्तर्यामी परमात्मा के स्वरूप की स्पष्ट धारणा प्राप्त करनी चाहिए।

अब जब यह लक्ष्य है, तो प्रश्न उठता है : हम कौन सा मार्ग चुनें? और इस विषय में भी उन्होंने हमारे सम्मुख मोक्ष और सेवा का द्विविध आदर्श प्रस्तुत किया। कर्म और उपासना दोनों साथ-साथ किये जाने चाहिएँ। कर्म को सर्वान्तर्यामी परमात्मा की सेवा के भाव से किया जाना चाहिए। हम विभिन्न प्रकार के कर्म करते हैं, लेकिन यह नहीं जानते कि उन्हें कैसे करें; विभिन्न कर्तव्यों को कैसे निभायें, विभिन्न कर्मों के द्वारा आध्यात्मिक-लाभ कैसे उठायें। पहले तो कर्म को कर्तव्य के भाव से करना चाहिए। सभी परिस्थितियों में कर्तव्य पालन करना चाहिए और तब, ज्यों-ज्यों प्रगति करेंगे, हमें अनुभव होगा, कि हमें अपने कर्मों के सभी फलों को सर्वकर्माध्यक्ष परमात्मा को समर्पित करना चाहिए। तब एक समय

आता है जब हम प्रश्न करते हैं, हम कर्म क्यों करें? और उत्तर भी भीतर से फूट पड़ता है : "भगवत्प्रीत्यर्थ।" और ऐसा भी समय आ सकता है, जब हम परमात्म सत्ता को हमारे अन्दर-बाहर परिव्याप्त अनुभव करने लगें। तब हम परमात्म शक्ति के – जो ईश्वरीय-शक्ति जगत् कल्याण हेतु कार्यरत रहती है – उसके प्रवाह के माध्यम बन जाते हैं।

आध्यात्मिक पिपासा जगाओ :

जिस प्रकार कर्म सही दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए, उसी प्रकार उपासना भी सही ढंग से की जानी चाहिए। हम सभी को किसी न किसी प्रकार का कर्म करना पड़ता है। कर्म अनिवार्य है, लेकिन कठिनाई यह है कि उपासना ऐच्छिक है। हम में से अधिकांश को किसी प्रकार की उपासना, जप अथवा ध्यान करने की इच्छा नहीं होती, और यही खेद की बात है। यदि हम में आध्यात्मिक क्षुधा होगी, तो हम आध्यात्मिक आहार लेना चाहेंगे। हम देह को आहार देते हैं। हमें देह को अच्छा पौष्टिक अन्न प्रदान करना चाहिए। हम अध्ययन द्वारा मन को आहार प्रदान करते हैं – विचार शुभ होने चाहिएँ। इसी प्रकार आत्मा को भी आहार देना चाहिए। कैसे? उपासना, जप, ध्यान के अभ्यास द्वारा।

श्रीरामकृष्ण की एक कथा है : एक बच्चा सोने वाला था, और उसने कहा : "माँ, जब मुझे भूख लगे, तो मुझे जगा देना।" माँ ने उत्तर दिया : "मुझे यह करना नहीं पड़ेगा। तुम्हारी भूख ही तुम्हें जगा देगी।"[१] जीव के विकास के क्रम में एक समय आता है, जब हम आध्यात्मिक क्षुधा का अनुभव करते हैं तथा अनादि निद्रा से जाग उठते हैं। लेकिन मात्र जागना पर्याप्त नहीं है। हमें कार्य में लग जाना चाहिए। मुझे माँ सारदादेवी की एक अपूर्व उक्ति स्मरण हो आई है : 'कमरा विभिन्न खाद्य सामग्री से भरा हो, लेकिन उन्हें पकाना होगा। जो पहले पकाता है, उसे भोजन भी पहले मिलता है।' हम में से बहुत से आलसी हैं और समय पर पकाना नहीं चाहते, देर से, सन्ध्या को पकाना चाहते हैं। और कुछ इतने आलसी हैं कि भूखे मर जाएँ, तो भी न पकाएँगे। स्वाभाविक ही वे आध्यात्मिक जीवन में कुछ नहीं पाते, और दुःखी होते हैं।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी के उपदेश :

जब हम शान्त बैठकर किसी प्रकार की मानसिक उपासना जप या ध्यान करते हैं, तो सर्वप्रथम कई बाधाएँ आती हैं। यह स्वाभाविक है, जैसा स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहा करते थे। यहाँ मैं स्वामी ब्रह्मानन्दजी के उपदेशों की पुस्तक "ध्यान, धर्म तथा साधना" से कुछ अंश पढ़ता हूँ। वे कहते हैं :

प्रत्येक दिन थोड़ा बहुत जप-ध्यान करना। किसी भी दिन नागा मत करना। मन बालक

---

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत

के समान चञ्चल होता है, लगातार इधर-उधर भागता रहता है। उसे बार बार खींच कर इष्ट के ध्यान में निमग्न करना। इसी तरह दो तीन वर्ष करने पर देखोगे कि हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द आने लगा है, मन भी शान्त हो रहा है। पहले पहल जप-ध्यान नीरस ही लगता है, परन्तु औषधि सेवन के समान जबरदस्ती मन को इष्ट-चिन्तन में निमग्न रखना चाहिए। तब कहीं धीरे-धीरे आनन्द का अनुभव होगा। परीक्षा में सफल होने के लिए लोग कितनी मेहनत करते हैं? पर भगवान्-लाभ उसकी तुलना में कहीं अधिक सहज है। प्रशान्त अन्तःकरणपूर्वक सरल भाव से भगवान् को पुकारना चाहिए। [२]

जिस शिष्य से उन्होंने ये बाते कहीं, उसने कहा, "कभी-कभी घोर निराशा आ जाती है। ऐसा लगता है कि जप करने पर भी जब कुछ अनुभव नहीं हो रहा है, तो सब फिज़ूल है।" स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने आशा बँधाते हुए कहा,

नहीं, नहीं! निराश होने की कोई बात नहीं है। कर्म का फल तो अनिवार्य रूप से मिलता है। जबरदस्ती करो या खूब भक्ति के साथ करो, नाम-जप करने से उसका फल होगा ही। कुछ काल नियमित रूप से अभ्यास करो। ध्यान से केवल मन की ही शान्ति होती है, ऐसी बात नहीं है, उससे शारीरिक लाभ भी होता है। ...

पहले पहल ध्यान करना, मानो मन के साथ युद्ध करने के समान है। चञ्चल मन को धीरे-धीरे स्थिर कर इष्ट के पाद-पद्मों में लगाना चाहिए। इस अभ्यास से कुछ समय बाद सिर थोड़ा गरम हो जाता है। इसलिए पहले-पहल अधिक ध्यान-धारणा करके मस्तिष्क से ज्यादा-परिश्रम लेना ठीक नहीं, वह सब कुछ वहुत ही धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। कुछ दिन इस तरह नियमित अभ्यास करते रहने से जब ठीक-ठीक ध्यान होने लगेगा, तब दो चार घण्टे लगातार एक आसन में बैठकर ध्यान-धारणा करने से भी कोई कष्ट नहीं होगा, वरन् गाढ़ी नींद के बाद शरीर और मन जैसे रिफ्रेश्ड (ताजा) हो जाते है, उसी प्रकार का अनुभव होगा, और हृदय में एक आनन्द का प्रवाह बहता रहेगा। ...

शरीर के साथ मन का बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। खान-पान के दोष के कारण स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, और फलस्वरूप ध्यान-धारणा का अभ्यास भी सम्भव नहीं हो पाता। तभी तो खान-पान के सम्बन्ध में इतने आचार-विचार हैं। ....

ध्यान करना क्या सहज बात है? किसी दिन थोड़ा अधिक खा लेने से मन एकाग्र नहीं हो पाता। काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि रिपुओं को दबा कर रखना पड़ता है, तब कहीं ध्यान करना सम्भव हो पाता है। इन रिपुओं में से एक के भी सिर उठाने से ध्यान नहीं हो पायेगा।...

ध्यान किये बिना मन स्थिर नहीं होता और मन-स्थिर न होने से ध्यान नहीं होता। मन स्थिर होने पर ध्यान करेंगे, ऐसा सोचने से ध्यान करना फिर कभी होगा ही नहीं। दोनों एक साथ करने होंगे। ध्यान के समय ऐसा सोचना कि सब मिथ्या है। इस तरह चिन्तन करते-करते क्रमशः मन में सद्भावनाओं के इम्प्रेशन (संस्कार) पड़ेंगे। असद्भावनाओं को जैसे-जैसे मन से

---

२. दि इटरनल कम्पेनियन, (१९७१), पृ. ३३५-६

निकालोगे, वैसे-वैसे उसमें सद्भावनाएँ आती जायेंगी। ...

यदि भगवान् लाभ करना चाहते हो, तो धैर्य धारण कर साधना करते जाओ। समय आने पर सब होगा।''[३]

परमात्मा का साक्षात्कार होने पर सिद्ध पुरुष शान्ति और आनन्द की उपलब्धि करता है तथा इस शान्ति और आनन्द का अपने सह-मानवों में वितरण करता है। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने इस आदर्श को तथा उसकी प्राप्ति के लिए अनुकरणीय साधना पद्धति को भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है।

प्रारम्भिक अवस्थाएँ :

जैसा मैंने कहा, शान्त बैठने का प्रयत्न करने पर मन में कई प्रकार के विक्षेप पैदा होते हैं। कभी-कभी जब तुम ध्यान नहीं कर रहे होते, तब तुम्हें कुछ शान्ति का अनुभव होता हो, लेकिन ध्यान में बैठते ही मन चञ्चल हो उठता है। इतना ही नहीं, देह में पीड़ा होने लगती है, इन्द्रियाँ पुनः उच्छृंखल हो भागने लगती हैं, और मन में असंख्य अनियन्त्रित विचार उठने लगते हैं। तथा जप और ध्यान एक महान् संघर्ष-सम बन जाते हैं। लेकिन इस संघर्ष से गुजरना ही होगा।

सभी धर्मों के योगी-साधक हमारे सम्मुख सर्वप्रथम साधना की आधारभूत न्यूनतम पवित्रता का – देह की पवित्रता, इन्द्रियों की पवित्रता, चित्त की पवित्रता और अहंकार की पवित्रता का लक्ष्य रखते हैं। देह सम्भवतः रोगग्रस्त हो, जिसके कारण उसके विभिन्न अंगों में सामञ्जस्य न हो या ठीक से काम न करें। हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं तथा सदा इन्द्रिय-विषयों के सम्पर्क में आने के लिए व्यग्र हैं। हमारा मन पूर्व-संस्कारों से दोलायमान होता रहता है। और फिर हमारे मन में एक दूसरे प्रकार का द्वन्द्व भी है : हम एक प्रकार से सोचते हैं, हमारी भावनाएँ दूसरी दिशा में जाती हैं, हमारी इच्छा तीसरी दिशा में जाती है, और ऊपर से हमारा अहंकार दुष्ट हो गया है। अहंकार एक बुदबुदे के समान है, लेकिन बुदबुदा अपने आप को बहुत समझता है। वह दूसरे बुदबुदों को भूल जाता है, वह सागर को भी भूलकर स्वयं बढ़ना चाहता है। परिणाम क्या होता है? बुदबुदा फूट जाता है। और यह सचमुच अनेक मानवों के साथ घटता है।

अब, हमारे समक्ष उपस्थित इन विभिन्न कठिनाइयों से डरने की आवश्यकता नहीं है। भगवद्गीता में अर्जुन भगवान् से शिकायत करते हुए कहता हैं : ''आप आत्म-संयम की, आत्म-साक्षात्कार की बात कहते हैं। लेकिन मेरा मन बहुत चञ्चल है। मैं उसे नियंत्रित नहीं कर सकता।'' गुरु ने शिष्य की कठिनाई को पहचाना और बड़ी सहानुभूति एवं प्रेम के साथ कहा : हाँ, तुम्हारा कहना सत्य है, लेकिन उचित उपायों से, वैराग्य और निरन्तर ध्यान के अभ्यास से इस विक्षिप्त मन को, जिसे नियन्त्रित करना असम्भव प्रतीत होता है, नियन्त्रित

---

३. ध्यान, धर्म तथा साधना, (तृतीय संस्करण १९९२), पृ. २१-२४

किया जा सकता है।[४] अन्ततः हम आत्माओं की भी आत्मा, विश्वात्मा, परमात्मा का संस्पर्श प्राप्त करते हैं।

परिस्थितियों की शिकायत मत करो :

सर्वप्रथम तो हम ध्यान दें कि हम अपनी परिस्थितियों के विषय में बहुत शिकायत करते हैं। वस्तुतः परिस्थितियों की शिकायत करने के बदले हम और कुछ करना ही नहीं चाहते। मान लो कि हम परिस्थितियों को बदल भी दें, तब भी वही शिकायतें रहेंगी। हम कहीं भी आदर्श परिवेश नहीं पा सकते ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं। तुम यह दलील देते हो : 'परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं, मैं कैसे ध्यान कर सकता हूँ?' क्यों, तुम्हें यहीं ध्यान करना होगा। क्या तुम अत्यधिक कष्टप्रद परिस्थितियों के बीच सोने का प्रयत्न नहीं करते? इसी तरह तुम्हें परिस्थितियाँ कैसी भी क्यों न हो, ध्यान के अभ्यास का प्रयत्न करना चाहिए। कैसे? सभी बाह्य-विक्षेपों से अपने को अलग करके, जिस प्रकार तुम सोने के पूर्व करते हो। अभ्यास द्वारा यह किया जा सकता है। इसके साथ ही, हमारी शारीरिक समस्याएँ हैं। सम्भवतः शरीर अस्वस्थ हो। कई बार ऐसी शिकायतें सुनी जाती हैं : "ओह स्वामीजी! जब मैं ध्यान करने बैठता हूँ, तो मुझे सिरदर्द होने लगता है।" अरे, कुछ लोगों के लिए तो ध्यान ही एक सिरदर्द है। जो हो, स्वस्थ रहने का प्रयत्न करो भगवान् श्रीकृष्ण गीता के आत्म संयम योग नामक अध्याय में यही बात करते हैं : युक्त-आहार, युक्त-विहार, युक्त-कर्म-प्रचेष्टा और युक्त जागरण-निद्रा वाले व्यक्ति के लिए योग आसान एवं दुःखनाशक होता है।[५] अतियों को त्यागकर मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। इस से व्यक्ति के साधन-पथ पर अग्रसर होने की शक्ति और उत्साह प्राप्त होता है।

पहले शरीर को साधो :

देह को कुछ हद तक साधने के लिए कुछ साधना की जानी चाहिए। उसके बाद इन्द्रियों एवं मन को भी प्रशिक्षित करना चाहिए। यही नहीं, अहंकार को भी प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

देह को कैसे साधोगे? भोजन के विषय में सावधानी बरतो। अत्यधिक मत खाओ, और ऐसा भोजन चुनो, जो तुम्हारे लिए अनुकूल हो, तथा देहकी समरसता में सहायक हो। कुछ लोग समझते हैं, कि खाना पेट की सबसे अच्छी कसरत है। यही नहीं, पौष्टिक आहार के साथ ही तुम्हें देह के सभी अंगों का, विशेषकर पेट का कुछ व्यायाम करना चाहिए, जिस से तुम्हारी पाचन-क्रिया, आत्मसात्-करण तथा मलोत्सर्ग क्रिया अधिक से अधिक अच्छी तरह हो सके। ये नियम, प्राथमिक नियम हैं, जिनका पालन करना चाहिए। हमारे पुरातन आचार्यों का कथन हैं : "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्", अर्थात् शरीर धर्म का एक साधन

---

४. भगवद्गीता, ६.३३-३६ ५.भगवद्गीता, ६.१७

है। उसका ख़याल रखना पहला कर्तव्य है। कभी कभी दुबले लोग मेरे पास आकर कहते हैं, "मैं देह को भूलना चाहता हूँ।" उनका शरीर कैसा है? केवल हाड़-मांस का एक समूह। पहले देह को सबल बनाओ। यदि देह स्वस्थ न हो, तो तुम उसे कभी भूल नहीं सकते।

नैतिक-जीवन :

यम और नियम में साधक जब तक कुछ मात्रा में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता, तब तक योगाचार्य पतञ्जलि आसन के बारे में निर्देश नहीं देना चाहते। साधक को अहिंसक आचरण करना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, निर्लोभी होना चाहिए, यथासम्भव ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और दूसरों पर असहाय की तरह निर्भर नहीं होना चाहिए। इन्हें वे यम कहते हैं।[६] इतना ही पर्याप्त नहीं है। उनका कथन है, कि कुछ मात्रा में बाह्य और आन्तरिक पवित्रता होनी चाहिए। सन्तुष्ट रहने तथा परिस्थितियों के साथ यथा सम्भव सामञ्जस्य रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मन, वचन एवं काया का त्रिविध संयम रखना चाहिए। साथ ही शास्त्रों का अध्ययन और आदर्शों को आत्मसात् करना चाहिए। यह भी पर्याप्त नहीं है। अहं केन्द्रित कर्म उचित नहीं हैं। परमात्मा के प्रति, जिसे आगे बढ़ने पर साधक आत्माओं की आत्मा के रूप में पहचानता है, पूर्ण समर्पण का प्रयत्न करना चाहिए। ये सब 'नियम' के अन्तर्गत आते हैं।[७]

स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहा करते थे, "मैं काम को जीतूँगा, मैं क्रोध, लोभ को जीतूँगा", यदि यह तुम्हारा तरीका है, तो तुम उन्हें कभी नहीं जीत सकते। लेकिन यदि तुम भगवान् में मन लगा सको, तो वासनाएँ अपने-आप चली जाएँगी।" भगवान् में विश्वास किए बिना नैतिकता में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नहीं हुआ जा सकता।[८] ईश्वर से उनका अर्थ किसी जगदातीत सत्ता से नहीं था। प्रारम्भ में हम ईश्वर की धारणा जगत् की सृष्टि, पालन और संहारकारक शक्ति या सत्ता के रूप में कर सकते हैं। जैसे-जैसे हम प्रगति करते हैं, हम पाते हैं, कि जिसे हम बाह्य शक्ति समझते थे, वह शक्ति मात्र ही नहीं है, अपितु वह एक अन्तर्यामी सत्ता भी है, तथा और भी आगे बढ़ने पर हम सभी में परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने लगते हैं।

मानसिक सन्तुलन स्थापित करो :

कई बार लोग आकर कहते हैं, "स्वामीजी, मैं अपने मन सहित सब कुछ भूल जाना चाहता हूँ।" उनका मन कैसा है? स्वामी विवेकानन्द 'मन' शब्द पर श्लेष किया करते थे। 'मन' का एक अर्थ ४० सेर अथवा ८० पौण्ड भी है। अतः महान् स्वामी विवेकानन्द अपने पास आने वाले युवकों से पूछा करते थे, तुम्हारे मन का वज़न अस्सी पौंड या चालीस सेर

---

६. पातञ्जल योग सूत्र, २.३० ७. वही २.३२
८. इटरनल कम्पेनिअन (१९७१), पृ. २४५

है अथवा केवल एक छँटाक? तुम्हारा मन कैसा है? 'मन' को विकसित करो। इच्छा-शक्ति को बढ़ाओ। विचारों और भावनाओं का विकास करो। उसके बाद ही मन के पार जाने की बात आती है। यह एक कठिन कार्य है, लेकिन यदि आध्यात्मिक-प्रेरणा हो, तो सब कुछ आसान हो जाता है। यदि इच्छा हो, तो रास्ता भी मिल जाता है।

जब तुम कोई परीक्षा पास करना चाहते हो, तो कितनी मेहनत करते हो? विशेषकर भारत में, जहाँ प्रत्येक युवक ज्ञान लाभ के लिए प्रयत्न करने के बदले अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए, किसी नौकरी के लिए, अत्यन्त व्यग्र रहता है। यह इसलिए है कि तुम्हारे सामने एक लक्ष्य है। आध्यात्मिक जीवन में भी यदि हम आध्यात्मिक लक्ष्य को जीवित और प्रज्ज्वलित रखें, तो सारी बातें आसान हो जाती हैं। तब सारा परिश्रम सार्थक होगा।

कठोपनिषद् की सुन्दर उपमा का स्मरण करो। उपनिषद् में कहा गया है कि देह एक रथ है, इन्द्रियाँ घोड़ों के समान हैं, मन मानो लगाम है, बुद्धि सारथि सदृश है और आत्मा रथ का स्वामी है, रथी है।

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
> बुद्धिं तु सारथीं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च॥
> इन्द्रियाणि हयानाहुः ...[९]

यदि रथ को चलाते समय उसका पहिया निकल जाए, तो क्या वह चल सकेगा? घोड़े चञ्चल, उच्छृंखल हो गए हैं। घोड़ों को नियन्त्रित करने के लिए लगाम कस कर पकड़नी होगी। और रथी को सारथी को सजग रहने का निर्देश देना होगा। लेकिन प्रायः होता यह है कि रथ का स्वामी सो जाता है, सारथी नशे में मस्त हो जाता है, लगाम ढीली हो जाती है और फिर घोड़े अनियन्त्रित होकर इधर उधर दौड़ने लगते हैं। सौभाग्य से कोई दुर्घटना नहीं होती। अतः दुर्घटना होने से पूर्व ही हमें सजग हो जाना चाहिए। रथ का स्वामी सजग रहे। उसे सारथी को सजग रहने का आदेश देना चाहिए और मन की सहायता से इन्द्रियों को नियन्त्रित कर सही दिशा में परिचालित करना चाहिए। तब रथ ठीक से चल सकेगा।

लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि हम में से कोई भी आध्यात्मिक साधना में तत्काल सफल नहीं हो सकता। देह, मन और इन्द्रियों को समरस बनाए रखने के लिए कुछ अल्पतम प्रगति आवश्यक है। और हमारी क्षुद्र इच्छा के पार्श्व में विद्यमान भगवदिच्छा के संस्पर्श में आने के लिए हमारे अहंकार, दुष्ट अहंकार का भाव समीचीन होना चाहिए। जब हम सर्वप्रथम देह में, उसके बाद मन और इन्द्रियों में समरसता स्थापित करने में कुछ हद तक समर्थ होगें – स्मरण रहे, कुछ हद तक – और हम आध्यात्मिक आकांक्षा, स्पृहा को अपने में पैदा करने में सफल होगें, तब हम आसन का अभ्यास प्रारम्भ कर सकते हैं, जो

---

९. कठोपनिषद् १.३.३

ध्यान मार्ग का प्रथम सोपान है।

आसन :

याद रखो, यम-निमय का कुछ हद तक अभ्यास करने के बाद ही योगाचार्य पतञ्जलि हमें किसी आसन-विशेष में बैठने का निर्देश देते हैं। हमें अपने लिए कौन से आसन का चुनाव करना चाहिए? आसन की परिभाषा है : "स्थिरसुखमासनम्"[१०] – अर्थात् जो स्थिर तथा सुखदायक हो, वह आसन है। ऐसा आसन चुनो, जिसमें तुम स्थिरतापूर्वक तथा सहज रूप से बैठ सको। कोई पूछ सकता है : क्या मैं लेट सकता हूँ? हाँ, तुम लेट सकते हो, और उसका आसन के रूप में उपयोग कर सकते हो, लेकिन उसमें एक खतरा है; उसका सामान्यत: निद्रा के साथ सम्बन्ध होता है। लेट कर ध्यान का अभ्यास करने पर सम्भवत: तुम्हारी कोई प्रगति न होगी। तुम्हें अच्छी तरह नींद आ सकती है, और उस से तुम्हें ताजगी भले ही मिले, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से वह तुम्हें मन्द बना देगी। "आसीन: सम्भवात्"[११] – अर्थात् उपासना बैठी स्थिति में सम्भव है। यह (महर्षि) व्यास का कथन है। बैठना अच्छा है, लेकिन यह ध्यान रखो, कि उसमें तनाव न हो, तथा तुम्हारी देह और मन में किसी प्रकार का तनाव महसूस न हो। यदि योगासनों का व्यायाम के रूप में अभ्यास करना चाहो, तो किसी और समय कर सकते हो। लेकिन जब तुम ध्यान के लिए बैठो, तो तुम्हें स्थिर तथा देह और मन से तनाव रहित होकर बैठना चाहिए।

सब के लिए प्रार्थना :

बैठने के बाद प्रभु का स्मरण करो, वे हमारे लक्ष्य हैं, वे अन्तर्यामी आत्मा हैं, वे अन्दर और बाहर भी हैं। कोई प्रार्थना या स्तोत्र पाठ कर सकते हो। थोड़ा संगीत का आश्रय लो। तुम्हारी देह, मन और इन्द्रियों को आध्यात्मिक स्पन्दनों से स्पन्दित होने दो। उसके बाद परमात्मा को प्रणाम् करो। किसी पथ-विशेष का अनुसरण करने पर आध्यात्मिक-जीवन में हठधर्मी होने का महान् खतरा रहता है। अत: परमात्मा के साथ ही अपने देश तथा संसार के सभी देशों के महान् आचार्यों और सन्तों को प्रणाम् करना बहुत अच्छा है। इस से क्या होता है? मन उदार होता है।

आध्यात्मिक-जीवन में दूसरा खतरा अत्यन्त स्वार्थपरता का है। मैंने कई बार पाया है कि कम से कम आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में साधक अपने बारे में बहुत अधिक सोचते हैं। वे दूसरों को भूल जाते हैं। इसलिए अपने ही नहीं, सभी के कल्याण और भले के लिए प्रार्थना करना अच्छा है। जिस प्रकार तुम अपने लिए शान्ति पवित्रता, ज्ञान चाहते हो, उसी तरह सभी के लिए शान्ति, पवित्रता और ज्ञान के लिए प्रार्थना करो। "सभी परमात्मा की ओर अग्रसर हों, सभी पवित्र हों, सभी मुक्त हों।" – ऐसी प्रार्थना मन को उदार बनाती है।

---

१०. पातञ्जल योगसूत्र २.४६ ११. ब्रह्मसूत्र ४.१७

तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा, कि ऐसी प्रार्थना कितनी जल्दी तुम्हारे स्नायुओं को शीतल और मन को शान्त करती है। कुछ हद तक हमारी चेतना को व्यापक करने के अतिरिक्त ऐसी प्रार्थना और प्रणति साधना में बहुत सहायक होते हैं।

श्वास-प्रश्वास का महत्त्व :

अब नियमित श्वास-प्रश्वास का थोड़ा अभ्यास बहुत उपयोगी है। गहरी साँस खींचो और उसे धीरे-धीरे निकालो। श्वास रोकना अथवा नाक बन्द करना आवश्यक नहीं है। केवल नियमित रूप से दोनों नाकों से धीरे-धीरे साँस अन्दर लो और बाहर निकालो। लेकिन मन को सुझाव दो : "मैं पवित्रता, शक्ति और शान्ति को अन्दर ले रहा हूँ।" परमात्मा समग्र शान्ति के स्रोत हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन में पवित्रता, बल और शान्ति की प्राप्ति की कोई सीमा नहीं है। वे जितने अधिक हों उतना अच्छा है। ईश्वरीय पवित्रता, ईश्वरीय शक्ति और ईश्वरीय शान्ति से अपने को पूर्ण कर लो। पवित्रता को निःश्वसित करो। सभी के प्रति पवित्रता की तरंगें प्रवाहित करो। सभी के प्रति सहानुभूतिसम्पन्न होओ, मैत्री का भाव रखो। तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा, कि इस भाव का विकास करने पर तुम्हारे लिए चेतना के उच्च स्तर पर आरोहण करना कितना आसान हो जाता है। क्योंकि इस भाव में रहने पर विषयों से इन्द्रियों को पृथक् करना आसान हो जाता है।

इच्छाओं का आध्यात्मीकरण :

इन्द्रियाँ बाह्य-जगत् के संस्पर्श में आना चाहती हैं। इन्द्रियों को संयत करो, उन्हें अन्तर्मुखी बनाओ, जैसे औपनिषदिक ऋषियों ने किया था। इन्द्रियों की क्रियाओं को आध्यात्मिक-दिशा प्रदान करो। जैसी कि वैदिक प्रार्थना है : "हे देव, हम कर्णों से शुभ श्रवण करें, हम अपने नेत्रों से शुभ का दर्शन करें।"[१२] शुभ सुनो, शुभ बोलो, शुभ देखो, इन्द्रियों को शुभ दिशा प्रदान करो। उन को आध्यात्मिक बनाओ।

अब सदा उच्छृंखल रहने वाले मन को लो। मन को शान्त कैसे करें? नाना प्रकार की इच्छाएँ और वासनाएँ मन के लिए समस्याएँ पैदा करती हैं। एक आध्यात्मिक मनोभाव का, कुछ व्यापक चेतना के भाव का विकास करने का प्रयत्न करो। सोचो, कि ये सारे विक्षेप मिथ्या और स्वप्न सदृश हैं। स्वयं से कहो : "काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और ईर्ष्या से बिल्कुल डरो मत।" उनको आध्यात्मिक दिशा प्रदान करो। भगवान् से मिलन की कामना करो। अपने क्रोध से क्रोध करो, लोगों से नहीं, बल्कि तुम्हारी राह की बाधाओं के प्रति क्रोध करो। परमात्मा के लिए लोभ करो, जो महत्तम सम्पद हैं। यदि तुम गर्व करना चाहो, तो यह सोच कर गर्व करो कि तुम प्रभु की सन्तान हो, इत्यादि। ऐसा करने पर हमारी सभी इच्छाओं को एक आध्यात्मिक-दिशा प्राप्त होती है। वे फिर हमें तंग नहीं करतीं, यही नहीं, वे हमारे

१२. ऋग्वेद १.८९.८

आध्यात्मिक जीवन में हमारी सहायक हो जाती हैं।

कुछ लोगों में एक भ्रान्त धारणा फैली हुई है। कुछ छिछले मनोवैज्ञानिक साधकों से कहते हैं, "तुम सभी अपनी भावनाओं का दमन और विरोध कर रहे हो।" हम ऐसी कोई चीज नहीं करते। हम अपने मन और इन्द्रियों की शक्ति को सञ्चित करना चाहते हैं। हम इस शक्ति को आध्यात्मिक दिशा प्रदान करना चाहते हैं। हम भगवान् के गुणगान करना चाहते हैं, हम भगवान् के रूप का ध्यान करना चाहते हैं। हम इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना चाहते हैं, जिससे साधक के जीवन में ऐसा एक समय आए, जब वह अदृश्य को देखने के लिए नये चक्षु, ईश्वरीय वाणी-'स्वर्ग का संगीत' सुनने के लिए नये कर्ण प्राप्त कर सके, तथा इस चिरन्तन हो रही घटना का आनन्द ले सके। भगवान् के साथ खेला जा सकता है, लेकिन यह केवल मार्ग की बातें हैं। हमें और आगे जाना है।

परमात्मा का मन्दिर :

पूर्वोल्लिखित कठोपनिषद् के प्रसिद्ध रूपक में देह की तुलना रथ से की गयी है। एक दूसरे रूपक में देह को मन्दिर और हृदय को गर्भगृह कहा गया है। यह एक अद्भुत-धारणा है। इस मन्दिर में भक्त भी है और भगवान भी। इन दोनों का मिलन होना चाहिए। लेकिन यह मन्दिर बहुत विचित्र है। हमारा क्षुद्र स्थूल शरीर हमारे सूक्ष्म शरीर द्वारा परिव्याप्त है। पुन: सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के द्वारा ओतप्रोत और परिव्याप्त है। और जीवात्मा परमात्मा का अंश है। हमारी देह, सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियों और मन को समरस बनाने में, उनमें सामञ्जस्य स्थापित करने में, हम ज्यों-ज्यों समर्थ होंगे, उतने ही हम अपने भीतर प्रकाशित हो रही परमात्म-ज्योति के प्रति सचेतन होंगे। अत: 'हृदय' के गर्भ मन्दिर में प्रवेश करो और हृदय को आत्म-ज्योति से, जो परमात्मा का एक अंश है, पूर्ण देखो।

ध्यान की विधि :

अगर तुम निराकार ध्यान करना चाहो, तो देह, मन और समस्त संसार को भगवान् में विलीन कर दो। सोचो, "मैं एक छोटा ज्योति पुञ्ज हूँ, तथा परमात्मा सर्वत्र प्रकाशित अनन्त ज्योति हैं।" लेकिन जब तक हमें देहात्म-बोध तथा व्यक्तिगत-बोध अधिक है, तब तक यह ध्यान नहीं किया जा सकता। अत: अब सोचो कि तुम्हारी आत्मा ने एक पवित्र सूक्ष्म शरीर और एक पवित्र स्थूल शरीर धारण किया है, तथा परमात्मा ने हमारे आराध्य इष्ट-देवता का रूप धारण किया है।

अब कल्पना करो : अनन्त परमात्म-ज्योति में, जो अनन्त प्रेम और आनन्द-स्वरूप भी है, भक्त तथा अनन्त ज्योति, प्रेम और आनन्द के विग्रह इष्ट-देवता विद्यमान हैं। उपयुक्त मन्त्र का जप करते हुए उनका ध्यान करो।

सर्वप्रथम इष्ट देवता के ज्योतिर्मय, आनन्दमय दैवी रूप का ध्यान करो। उसके बाद

उनकी अनन्त पवित्रता, अनन्त प्रेम, अनन्त करुणा का चिन्तन करो। अन्त में उनके अनन्त चैतन्य का ध्यान करो, जिसमें वे मानो डूबे हुए हैं।

इससे क्या होता है? भगवन्नाम का जप करते हुए तथा परमात्मा के एक पक्ष से दूसरे पक्ष पर अग्रसर होते हुए परमात्मा का ध्यान करने से एक अपूर्व परिवर्तन होता है। जैसा मैंने कहा, नैतिक जीवन यापन से हम कुछ समरसता स्थापित करने में सफल होते हैं। लेकिन परमात्मा के ध्यान से स्थापित होने वाली समरसता उच्च प्रकार की होती है। जब हमारे मन और आत्मा में स्वाभाविक रूप से वास्तविक समरसता स्थापित होती है, तब हमें अनुभव होता है कि हम ईश्वरीय-समरसता के संस्पर्श में आ गए हैं। हमारी देह भी विराट-देह, विराट-पुरुष का अंश है। हमारा मन विराट मन, हिरण्यगर्भ का अंश है। हमारी जीवात्मा विराट आत्मा या ईश्वर का अंश है। ध्यान और साधना करने वाले बहुत से लोग चेतना के इस स्तर की उपलब्धि करते हैं। सही पद्धति से ध्यान और जप करने पर हमें कोई न कोई दिव्य-दर्शन या अनुभूति अवश्य होगी। इससे हमारा विश्वास दृढ़ होगा तथा ध्यान के मार्ग में हमारा मन दृढ़तापूर्वक लगा रहेगा।

मन ध्यान के विषय से भागना चाहता है। लेकिन नैतिक-जीवन-यापन कर हमें इन विक्षेपों को कम करने में सक्षम होना चाहिए। यही नहीं, जप और ध्यान द्वारा हम मन को कुछ सामग्री प्रदान करते हैं, अर्थात् जप के लिए भगवन्नाम तथा कल्पना के लिए भगवद्रूप। ये मन को केन्द्रित करने तथा अन्तर्मुखी बनाए रखने में हमारे सहायक होते हैं। हमें भगवान् का चिन्तन प्रेम के साथ करना चाहिए। इष्ट के प्रति हृदय में कुछ प्रेम-भक्ति होने पर जप और ध्यान के मार्ग पर बने रहना आसान हो जाता है।

और जप और ध्यान से क्या होता है? वे मन को व्यस्त रखते हैं। वे उसे अन्तर्मुखी बनाए रखते हैं। भगवन्नाम, भगवद्रूप, तथा भगवत् प्रेम सहित भाव मन को अन्तर में एकाग्र बनाए रखते हैं। बाह्य विषयों में रुचि की तुलना में जब ध्यान के विषय में हमारी रुचि बढ़ जाती है, तब ध्यान का विषय हमारे लिए अधिकाधिक सत्य प्रतीत होने लगता है। कम से कम कुछ समय के लिए मन परमात्मा का आनन्दमय भगवद्रूप का तथा दैवी सद्गुणों का चिन्तन करता है। इसके बाद भगवद्-सान्निध्य की अनुभूति होती है। इस स्थिति में बहुत से साधक ईश्वरीय रूप का दर्शनलाभ कर धन्य हो जाते हैं। परमात्मा किसी न किसी रूप में प्रकट होता है। वह तब गुरु का रूप धारण करता है।

अन्तर्यामी गुरु :

हमारे आचार्यों का कथन है, कि गुरु हमारे भीतर है। हम अपने आध्यात्मिक-जीवन के प्रारम्भ में बाह्य-गुरु की सहायता भले ही लें, लेकिन प्रगति होने पर हमें अन्तर्यामी गुरु का पता चलता है, तथा हमें अपने को उनके चरणों में समर्पित करना चाहिए। वे शिष्य को आध्यात्मिक अनुभूतियों के निम्न-स्तरों से उच्च और उच्चतर स्तरों तक ले जाते हैं। यही

बात उन सन्तों में हुई थी, जिन से हमारी भेंट हुई है। यदि हम अपने मन को ठीक से साधना जान लें, तो सन्तों की अनुभूतियों को, उनके गीतों को, उनके हृदय के उद्‌गारों को, उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्तियों को, उनके उपदेशों को 'सुन' सकते हैं। ये अनुभूतियाँ सचमुच होती हैं। यदि हम कुछ हद तक आवश्यक शर्तों का पालन करते हुए निष्ठापूर्वक साधन-पथ का अनुसरण करें, तो हमें निश्चित रूप से आध्यात्मिक फल प्राप्त होंगे।

ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण :

ध्यान का फल अवश्य प्राप्त होगा, लेकिन जप-ध्यान करते समय फल की अत्यधिक चिन्ता नहीं करना चाहिए। फल अपने आप आयेंगे। फल की अत्यधिक चिन्ता करने से हम साधना ठीक से नहीं कर पाएँगे, और यहीं आत्म-समर्पण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है। योगाचार्य पतञ्जलि का कथन है : "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्"[१३] – अर्थात् ईश्वर समर्पण से समाधि होती है। अपने को पूरी तरह ईश्वर के प्रति समर्पित कर दो। अपनी साधना के, अपने प्रयास के समग्र फलों को परमात्मा के प्रति समर्पित कर दो। अपनी क्षुद्र इच्छा को भगवदिच्छा के साथ संयुक्त करना सीखो। तब एक चमत्कार होता है। बाह्य जगत् में तथा आन्तर जगत् में प्रकाशित हो रहा सत्य, परमात्म-सत्ता, अपने समग्र ऐश्वर्य में प्रकट होती है। और तब आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है। स्वामी विवेकानन्द ने हमें धर्म की एक परिभाषा प्रदान की है : "चिरन्तन जीव और चिरन्तन परमात्मा का चिरन्तन सम्बन्ध" – धर्म है।[१४] लेकिन इसका साक्षात्कार करने के लिए विभिन्न साधनों का एकनिष्ठ अभ्यास आवश्यक है।

निश्चित भाव का विकास :

अब आध्यात्मिक-जीवन में हमारी स्थिति कहाँ है, इसकी जानकारी का महत्त्वपूर्ण प्रश्न आता है। यह पता लगाओ, कि तुम किस भाव से परमात्मा की ओर अग्रसर होओगे। हम में से बहुत कम लोग परमात्मा को अपनी आत्मा की भी आत्मा मानकर अग्रसर होने में समर्थ हैं। हम बालक के समान हैं, और बालक जिस तरह माता पिता पर आश्रित रहता है, उसी तरह हम परमात्मा पर आश्रित रहना चाहते हैं। हमें मित्र की, एक जीवन साथी की, एक ऐसे सुहृद की आवश्यकता है, जो हमें प्रेम करे, जिसे हम अपने प्रेम का, हमारी भावनाओं का केन्द्र बना सकें। अच्छा, भगवान् तो हैं। वे असंख्य दैवी रूपों तथा सम्बन्धों में अभिव्यक्त हुए हैं। उनमें से किसी एक को चुन लो। हिन्दू-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि भक्त भगवान् की स्वामी, पिता, माता अथवा दिव्य बालक के रूप में आराधना से प्रारम्भ करता है, कुछ भक्त भगवान् को बाल कृष्ण या बालक राम के रूप में

---

१३. पातंजल योगसूत्र २.४५ १४. विवेकानन्द साहित्य

प्रेम करना चाहते हैं। अन्य भक्त जगदम्बा की दुर्गा, काली, उमा अथवा कुमारी आदि उनके विभिन्न रूपों में पूजा करते हैं। इन विभिन्न प्रकार की उपासनाओं से हृदय और मन पवित्र होते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, नैतिक आचरण से प्राप्त पवित्रता पर्याप्त नहीं है। हम एक उच्चतर स्वर की पवित्रता चाहते हैं, एक ऐसी पवित्रता जो देह, मन, इन्द्रियों से ही नहीं, अपितु आत्मा के अन्तिम बन्धन क्षुद्र अहंकार से भी आत्मा को पृथक् करने में सहायक हो। यह उपर्युक्त उच्चतर-प्रकार की उपासना पद्धति से ही संभव है।

सभी में एक आत्मा :

आत्मा और परमात्मा का मिलन हमारा लक्ष्य है। और ज्यों-ज्यों परमात्मा, परमगुरू, अपना स्वरूप प्रकट करता है, त्यों-त्यों भक्त यह अनुभव करता है, कि जिस परमात्मा की वह उपासना कर रहा था, वह अन्तर्यामी ही नहीं है, बल्कि सभी में अभिव्यक्त हो रहा है। और तब एक नया पूर्णतर जीवन प्रारम्भ होता है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं : "योग द्वारा एकाग्र मन तथा सर्वत्र समता दर्शन करने वाला व्यक्ति समस्त प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता है"।[१५] अब भक्त यह अनुभव करता है, कि जो आत्मा भीतर है, वह बाहर भी है, और भगवान् को सर्वत्र अभिव्यक्त देख कर वह सभी में उनकी उपासना करता है।

'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' :

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। इस उच्चतर आध्यात्मिक-अनुभूति को प्राप्त करने के बहुत पहले ही, साकार ईश्वर की उपासना करते हुए भी इस उच्चतर विश्वजनीन व्यापक दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए। ईश्वर को स्वामी और अपने को दास समझकर अग्रसर होते हुए भी मुझे अपने साथियों को नहीं भूल जाना चाहिए। हम सभी परमात्मा के दास हैं। भगवान् को माता या पिता समझने पर हमारे सह-प्राणियों को हमें उसी भगवान् की सन्तानें समझना चाहिए। यदि हम भगवान् को अपनी आत्मा की भी आत्मा समझाने का साहस कर सकें, तब हमें याद रहे, कि हम सभी परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध आत्माएँ हैं, और हमारे परमात्मा के सम्बन्ध के माध्यम से एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं। तब हमारे जीवन को एक नयी दिशा प्राप्त होती है। जिन महापुरुषों ने हमें कहा था, कि "कर्म और उपासना एक साथ करने चाहिएँ," उन्होंने ही हमें यह भी कहा था कि इस आदर्श को अपने सामने रखो : "आत्मा की मुक्ति तथा जगत् के कल्याण के लिए" कर्म करो। तुम्हें अपनी आध्यात्मिक मुक्ति अथवा ज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही दूसरों के कल्याण के लिए भी प्रयास करो। सिद्ध पुरुष ही सभी में ईश्वर का दर्शन कर सकता है, तथा उसकी सेवा स्वत: स्फूर्त होती है। लेकिन हम में से अभी जो अज्ञान में पड़े हैं, उन्हें ऐसी तीव्र कल्पना करनी चाहिए

---

१५. भगवद्गीता ६.२९

कि हम सब परमात्मा के माध्यम से एक दूसरे से संयुक्त हैं और जिस तरह हम अपना हित साधने का प्रयास करते हैं, उसी तरह हमें सभी का कल्याण करने का भी प्रयत्न करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में "कर्म और उपासना साथ साथ होने चाहिएँ" यह उपदेश नया अर्थ धारण कर लेता है। ध्यान में प्रगति करते हुए, आन्तरिक विकास का प्रयास करते हुए हमें अपने परिवार के सदस्यों के लिए ही नहीं अपितु दूसरों के हित के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। यदि इसका आचरण किया जाता, तो संसार में कैसी सुन्दर सुव्यवस्था स्थापित हो जाती। यदि प्रत्येक व्यक्ति जैसे अपने लिए सोचता है, वैसा दूसरों के लिए भी सोचता तो हमें अवश्य और अधिक लाभ होता। स्वार्थपर मनोभाव से हम सामान्यत: सोचते हैं, "मुझे अपने हित से ही मतलब है।" लेकिन दृष्टिकोण के उदार होने पर हमें अनुभव होता है, कि हम एक बृहत्तर पूर्ण सत्ता के अंश हैं, और तब हमें सभी के साथ महान् आत्मीयता और निकटता का बोध होता है। और जब प्रत्येक व्यक्ति 'कर्म और उपासना' के आदर्श को इस दृष्टिकोण से व्यावहारिक जगत् में कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न करेगा तो हमारा जीवन मधुमय और सफल होगा तथा आध्यात्मिक-चेतना उपलब्ध होगी।

साधना एवं सेवा करते समय हम अहं-केन्द्रित न हों। हम अपने समस्त कर्मों के फल परमात्मा को समर्पित कर दें। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "यदि हम भगवान् की ओर एक कदम बढ़ेंगे, तो भगवान् हमारी ओर दस कदम आएंगे।" आत्म-जगत् के इस सत्य की अनुभूति करनी चाहिए। अत: आगे बढ़ो। परमात्मा सदा तुम्हारी रक्षा करें, तुम्हारा मार्ग-दर्शन करें तथा पवित्रता, प्रेम, आनन्द और उनकी दिव्य सत्ता से तुम्हारा हृदय पूर्ण कर दें।

अध्याय २०

एकाग्रता और ध्यान

एकाग्रता और ध्यान में अन्तर :

सामान्य एकाग्रता और ध्यान का अन्तर जानना आवश्यक है। ध्यान केवल साधारण एकाग्रता नहीं है। वह एक विशेष प्रकार की एकाग्रता है। सर्वप्रथम, ध्यान एक पूर्ण सचेतन एवं इच्छाशक्ति द्वारा की गयी प्रकिया है। द्वितीयत: ध्यान में एक आध्यात्मिक आदर्श पर मन को एकाग्र किया जाता है, जिसका अर्थ है कि साधक सांसारिक-विचारों के ऊपर उठने में समर्थ है, और अन्तत: ध्यान सामान्यत: चेतना के एक केन्द्र-विशेष में किया जाता है। यह स्पष्ट है, कि वास्तविक ध्यान दीर्घ अभ्यास के द्वारा प्राप्त एक काफी उन्नत अवस्था है। वह दीर्घ वर्षों के अनुशासन का फल होती है।

जिसे सामान्यत: ध्यान कहा जाता है, वह ध्यान कहलाने योग्य नहीं है। विभिन्न अशुभ विचार और मनोवृत्तियों के कारण मन चञ्चल रहता है और सांसारिक बातें मन को भगवच्चिन्तन से हटा देती हैं। अधिकांश साधकों को बार-बार मन को अन्तर्मुखी बनाकर भगवान् पर लगाने का प्रयत्न करना पड़ता है। इस अवस्था को सामान्यत: ध्यान का नाम दिया जाता है। वस्तुत: वह प्रत्याहार, या बहिर्मुखी मन को बाह्य-विषयों से हटाना है। एक ही विचार पर मन को कुछ समय तक लगाये रखना दूसरी सीढ़ी है, जो धारणा कहलाती है। जब मन की बहिर्मुखी-वृत्ति नियन्त्रित हो जाती है और मन भगवच्चिन्तन में एक निरवच्छिन्न-प्रवाह के रूप में लगा रहता है, तब सच्चा ध्यान होता है।

सांसारिक व्यक्ति की स्थूल भौतिक लाभ और सुख पर एकाग्रता; वैज्ञानिक की अपने प्रयोग पर, यथा अणु की बनावट अथवा पौधे के हिस्सों पर एकाग्रता; मनोविज्ञ की चिन्तन के नियमों और गति पर एकाग्रता; अहंकार और अहं से भिन्न वस्तु के विश्लेषण पर एक योगी की एकाग्रता – वस्तुपरक दृष्टिकोण से ये सभी विभिन्न-प्रकार की एकाग्रताएँ हैं। लेकिन व्यक्तिपरक दृष्टि से उनकी विषयवस्तु में बहुत भिन्नता है और उनके अनुभव और परिणाम नितान्त भिन्न होते हैं। केवल साधक की एकाग्रता ही – चाहे वह किसी भी साधना-पथ का अनुसरण कर रहा हो – ध्यान कहलाती है।

योग की पद्धति से सत्य का अन्वेषण करने वाला साधक, जो ईश्वर में उस तरह विश्वास नहीं करता जैसा सामान्य लोग करते हैं, देश-काल-परिच्छिन्न स्थूल पदार्थों पर ध्यान

से प्रारम्भ करता है और बाद में देश-काल से अपरिच्छिन्न पदार्थों पर ध्यान करता है। उसके बाद वह ध्यान और एकाग्रता के लिए सूक्ष्म पदार्थों को, पहले देश और काल की सीमा में, तदनन्तर उनके परे को, ध्यान और एकाग्रता का विषय बनाता है। और अग्रसर होते हुए वह मन अथवा अन्त:करण को और बाद में स्वयं अहंकार को ही अपने ध्यान और एकाग्रता का विषय बनाता है। इन पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानकर वह परिच्छेदकारक-उपाधियों से अपना तादात्म्य समाप्त कर लेता है। इस तरह अपनी वास्तविक आत्मा के सामीप्य को पाकर वह आनन्द और प्रकाश की अद्भुत स्थिति का आस्वादन करता है।

परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास करने वाला वेदान्त का अनुयायी प्रारम्भ में मूर्ति अथवा चित्र के रूप में – पहले देश और काल की सीमा में और बाद में इनसे अपरिच्छिन्न- किसी महान् दैवी-विग्रह अथवा परमात्मा के किसी प्रतीक का ध्यान कर सकता है। और अधिक प्रगति करने पर वह दिव्य महापुरुष के हृदय अथवा चित्त का अथवा विराट-चित्त का ध्यान कर क्रमश: उससे सम्बन्धित उच्च आदर्शों को, सद्गुणों को, आत्मसात् कर सकता है। बाद में वह व्यष्टि या समष्टि शुद्ध चैतन्य का ध्यान कर अपनी अशुद्ध, सीमित चेतना को शुद्ध और व्यापक बनाने में सफल हो सकता है। वह अपनी आत्मा में अनन्त-सत्ता के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकता है। और भी आगे बढ़कर वह उच्चतम आध्यात्मिक-अनुभूति प्राप्त कर सकता है, जहाँ ध्याता एक समुद्र के सम्पर्क में आने वाले नमक के पुतले की तरह, अनन्त परमात्म-सत्ता में विलीन हो जाता है। इस तरह सीमित व्यक्तिगत चेतना से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के ध्यान और एकाग्रता से प्रारम्भ कर वह एक अद्वितीय, अनन्त सत्ता को – उच्चतम अतिचेतनावस्था को प्राप्त कर सकता है, जहाँ सभी द्रष्टा-दृश्य सम्बन्ध, यही नहीं, सभी सापेक्षताओं का अतिक्रमण हो जाता है।

एकाग्रता का अपने आप में कोई आध्यात्मिक मूल्य न भी हो। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसका अभ्यास करने वाले व्यक्ति ने यदि कुछ मात्रा में चित्त शुद्धि नहीं की हो और यदि वह उदात्तीकरण की प्रक्रिया भी साथ ही साथ न करता हो, तो यह खतरनाक भी हो सकता है। एकाग्रता और ध्यान आध्यात्मिक दृष्टि से प्रभावशाली उसी मात्रा में हो सकते हैं, जिस मात्रा में क्रमागत बुरे विचारों और कार्यों द्वारा अशुभ संस्कार और आदतों के रूप में सञ्चित सारी गर्द और गन्दगी को दूर कर मन को शुद्ध किया गया हो। उत्कृष्ट वैराग्य और पवित्रता प्राप्त करने पर ही साधक उच्चतर-कोटि के ध्यान और एकाग्रता का सफलतापूर्वक अभ्यास कर सकता है, जिनसे अन्तत: उच्चतम दिव्य अनुभूति और मुक्ति-लाभ होता है।

प्रत्येक साधारण व्यक्ति में ध्यान के अभ्यास की क्षमता रहती है, भले ही सामान्यत: वह संसार के द्वारा उसके सामने प्रस्तुत की गयी भोग और सुख की वस्तुओं और व्यक्तियों की ओर केन्द्रित रहती है। आध्यात्मिक जीवन-यापन करने के लिए किसी नयी क्षमता का अचानक विकास नहीं करना पड़ता। पुरानी क्षमताओं और प्रवृत्तियों की तीव्रता को कम किये बिना उन्हें ईश्वराभिमुखी करना होता है, और तब सांसारिक व्यक्ति आध्यात्मिक व्यक्ति में

रूपान्तरित हो जाता है। अत: सच्चा भक्त प्रार्थना करता है :"अविवेकी लोगों की संसार के विषयों में जैसी दृढ़-प्रीति होती है, वैसी प्रीति सहित मैं तुम्हारा स्मरण करूँ और वह मेरे हृदय में सदा बनी रहे।"

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरत: सा मे हृदयान्मापसर्पतु।।[१]

अनुशासन की आवश्यकता :

हमारा मन सदा हमें धोखा देने तथा हमसे छल करने के लिए तैयार रहता है। अत: सभी बातों में हमें एक दृढ़, दैनिक अनुशासन की आवश्यकता है। यह आवश्यक मानसिक-प्रशिक्षण कैसे प्राप्त करें? ध्यान-निष्ठ जीवन की यह प्रमुख समस्या है। नाना-प्रकार के विचार मन में निरन्तर उठते रहते हैं। जब हम मन को शान्त करना चाहते हैं, तब वह अत्यधिक चञ्चल हो उठता है। एकाग्र करने का प्रयत्न करते ही वह विद्रोह कर उठता है। वह अचानक एक विशाल सागर का रूप धारण कर लेता है, जिसमें हमारे डूबने का भय रहता है। मन की सारी सतह प्रबल चित्तवृत्तियों द्वारा विक्षिप्त हो जाती है जितना ही हम उन्हें शान्त करने का प्रयत्न करें, वे और अधिक बलवती होती जाती हैं। अत: अपेक्षित विश्राम और ज्ञानालोक प्रदान करने के बदले प्रारम्भ में ध्यान हमें बहुत क्लान्त कर देता है।

जिस प्रकार घोड़े को सिधाने में घोड़े के प्रशिक्षक को बहुत परिश्रम करना पड़ता है, उसी तरह मन पर काबू पाने के लिए हमें भी किसी एक निश्चित अनुशासन प्रणाली का महान् धैर्य और लगन के साथ पालन करना होगा। आध्यात्मिक साधना में सभी बातें पूरी तरह स्पष्ट होनी चाहिए। दो पैरों को दो भिन्न नावों में रखने से काम नहीं चलेगा। यदि हम किसी दिन लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें एक मार्ग का, निश्चित रूप से उत्तरोत्तर बिना विचलित हुए, अनुसरण करना चाहिए। इन्द्रियों के आकर्षण तथा हमारी वासनाएँ सामान्यत: वास्तविक धर्म के मार्ग में बाधाएँ बनती हैं। देवालयों में जाना, धार्मिक उपदेश सुनना और फिर यथेच्छ आचरण करना, सामान्यत: दिखायी देने वाला यह मिथ्याचार वास्तविक धर्म नहीं है। यह ईसाई धर्म-संघों (चर्च) के लिए भले ही अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ हो, पर यह ईसा के उपदेशों के अनुरूप नहीं है। सभी साधना-पद्धतियों में समुचित संयम आवश्यक है और बिना साधना के वास्तविक धर्म जैसी कोई चीज नहीं हो सकती। पुरातन ईसाई धर्मावलम्बी इस बात को अच्छी तरह जानते थे। मध्य-युग के बहुत से महान् योगी-साधक भी इसे जानते थे। लेकिन अब पश्चिम में सारी परम्परा नष्ट हो गयी लगती है और इसी कारण पाश्चात्य मनुष्य पशु के स्तर पर पतित हो रहा है।

जैसा कि कहा जा चुका है, मन एक अनियन्त्रित घोड़े के समान है, जिसे काबू में लाना

---

१. विष्णु पुराण – १.२०.१७

है। जब हम घोड़े पर बैठना चाहते हैं, तो वह दो कार्य करता है : या तो बहुत चञ्चल हो उठता है, या फिर अड़ जाता है और चलने से इनकार कर देता है। वह स्थिर नहीं होना चाहता। हमारे मन रूपी अनियन्त्रित घोड़े को काबू में लाने के लिए कुछ मात्रा में नैतिक अनुशासन आवश्यक है। जब तक काम और काञ्चन के विचारों को उस पर हावी होने दिया जायेगा, तब तक वह काबू में नहीं आ सकता।

चित्तशुद्धि की आवश्यकता :

यदि तुम चित्तशुद्धि के बिना ध्यान करने का प्रयत्न करो, तो यह सम्भव है, कि तुम ईश्वर के बदले चित्त की बुराईयों पर मन को एकाग्र करने लगो। उच्चतर केन्द्रों के जाग्रत होने पर ही साधक के लिए उच्च विचारों पर लम्बे समय तक ध्यान करना सम्भव होता है। इसीलिए प्रार्थना और शुभ कर्मों का महत्त्व है।

प्रारम्भिक साधक को ऐकान्तिक-ध्यान के पथ का अनुसरण कभी नहीं करने देना चाहिए। हमारे संन्यासी संघ में हम कभी भी ऐसा नहीं करने देते। जब तक तुम अपने विचारों पर पूर्ण-नियन्त्रण स्थापित नहीं कर लेते, तब तक आध्यात्मिक-जीवन की प्रारम्भिक-अवस्थाओं में अत्यधिक ध्यान तुम्हारे लिए हानिकारक है। एकान्त में बैठकर जब तुम अपने मन को शान्त करने का प्रयत्न करते हो, तो अवाञ्छनीय अपवित्र विचार तुम्हारे मन में उठने लगते हैं और विभ्रम पैदा करते हैं। ये तुम पर हावी भी हो सकते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में थोड़े समय ध्यान करना ही श्रेयस्कर है। बाकी समय का कर्म, सेवा और अध्ययन के द्वारा सदुपयोग करना चाहिए।

यही बात ईसाई संन्यासी-समुदाय ने प्रारम्भिक शताब्दियों के ईसाई तपस्वियों के जीवन से सीखी है। तब से केथोलिक ईसाई धर्म-संघ ने सार्थक कर्म और ध्यान को साथ साथ करने का बुद्धिमत्तापूर्ण विधान किया है।

कुछ मात्रा में वासनाओं और इच्छाओं को शुद्ध और उदात्त किये बिना एकाग्रता ऐसे लोगों के लिए बहुत हानिकारक हो जाती है, जिन्होंने अपने आप को उच्चतर-जीवन के लिए समुचित रूप से तैयार नहीं किया है। इसके बहुत बुरे परिणाम हो सकते हैं। एक तरह से हम सभी मन को एकाग्र करते हैं, लेकिन हम उसे इच्छानुसार दिशा प्रदान करना नहीं जानते। यह केन्द्रित किया गया मन एकाग्रता के कारण अधिक तीव्रता के साथ विषय भोगों तथा नाना-प्रकार की सांसारिक वस्तुओं और प्रलोभनों की ओर दौड़ेगा। अत: यदि हमें मन की ठीक से देखभाल करनी न आती हो, तो वह हमें विपथगामी कर सकता है। यदि एकाग्रता के साथ ही साथ उदात्तीकरण और चित्तशुद्धि न हो, तो एकाग्रता न होना अधिक अच्छा है। अत: मन, वचन और कर्म की पवित्रता, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादि के पालन की आवश्यकता पर इतना बल दिया गया है। समस्त इच्छाओं और भावनाओं को उदात्त किये बिना हम आध्यात्मिक-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते। चारित्रिक यम-नियमों का कड़ाई से

पालन करने के बाद ही हमें एकाग्रता और ध्यान का प्रयत्न करना चाहिए। पवित्र न होने पर एकाग्र मन पूरा शैतान बन कर साधक के लिए अनन्त समस्याएँ पैदा करता है।

शारीरिक और मानसिक पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी हम केवल शारीरिक पवित्रता को महत्त्व देने की भूल कर बैठते हैं, क्योंकि वास्तविक मानसिक पवित्रता अर्जन करना कहीं अधिक कठिन होता है। ऐसे बहुत से लोग हैं, जो स्नान से सन्तुष्ट हो जाते हैं। लेकिन जो चित्त-शुद्धि के लिए प्रयास नहीं करते। परन्तु मलीन मन को उच्च-वस्तुओं पर एकाग्र करना असम्भव है। जब तक किसी पुरुष में स्त्री और स्त्री में पुरुष के बारे में अपवित्र विचार हैं, तब तक उस पुरुष अथवा स्त्री के लिए वास्तविक उच्चतर ध्यान का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। स्थूल शारीरिक सम्बन्ध भले ही न हों, पर फिर भी यह काम ही है और जब तक किसी भी रूप में काम रहेगा तब तक पवित्रता की प्राप्ति नहीं हुई है, और पवित्रता के बिना उच्चतर आध्यात्मिक जीवन बहुत दूर की बात है।

आसन :

स्थिर-आसन, विशेषकर बैठने का, अगली सीढ़ी है। पतञ्जलि किसी भी स्थिर और सुखकर आसन का सुझाव देते हैं।[२] पालथी मारकर बैठना निश्चय ही बहुत उपयोगी है, क्योकि इस आसन में देह का भार पूरी तरह सन्तुलित रहता है। लेकिन यह सहज साध्य होना चाहिए, अन्यथा वह साधना का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के मन को विक्षिप्त कर देगा। भारतीयों के लिए यह स्वाभाविक है, किन्तु बहुत से पाश्चात्यवासियों को इसके लिए बहुत अभ्यास करना पड़ सकता है और कुछ उसे करने में बिल्कुल असमर्थ रहते हैं। जो हो, जो लोग कर सकते हैं, उनके लिए पालथी मारकर बैठना साधना के लिए सर्वश्रेष्ठ आसन है।

प्राणायाम :

कुछ लोगों के लिए प्राणायाम बहुत उपयोगी होता है। मन और प्राण परस्पर सम्बन्धित रहते हैं, और सदा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। प्राणायाम करते समय पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात १:४:२ का होना चाहिए। लेकिन अत्यधिक व्यस्त अथवा अनियमित जीवन व्यतीत करने वाले लोगों को प्राणायाम के अभ्यास की सलाह नहीं दी जा सकती। लेकिन साधारण सन्तुलित श्वास-प्रश्वास सभी के लिए अच्छा है। पर केवल साँस को रोकना पर्याप्त नहीं है। यदि ऐसा होता तो फुटबाल की थैली संसार की सबसे महान् योगी होती। प्राणायाम के साथ हमें तीव्रतापूर्वक पवित्रता का चिन्तन करना चाहिए। "सबकुछ पवित्र है, मैं पवित्र हूँ, मैं पवित्रतास्वरूप हूँ" – मन को ऐसे प्रबल सुझाव दो। ऐसा अनुभव करो कि प्रत्येक साँस के साथ तुम्हारे देह-मन पवित्र से पवित्रतर होते जा रहे हैं। श्वास में पवित्रता को भीतर लो, प्रश्वास में पवित्रता को बाहर निकालो। शान्ति को भीतर लो, शान्ति

---

२. स्थिरसुखमासनम् – पातञ्जल योगसूत्र २.४६

को बाहर आने दो, अपने को पूरी तरह शान्ति से भर लो। अथवा, शान्ति को भीतर लो, सभी मानसिक विक्षेपों को (प्रश्वास द्वारा) बाहर निकालो। त्याग और वैराग्य को भीतर खींचो और देह व मन की सभी अशुद्धि को बाहर निकालो। बल को भीतर लो, सभी दुर्बलता और भय को बाहर निकालो। वास्तविक ध्यान का प्रारम्भ करने के पूर्व मन को ये प्रबल सुझाव बार-बार प्रदान करो।

ध्यान की विषय-वस्तु :

ध्यान को शून्य पर केन्द्रित नहीं करना चाहिए। प्रारम्भिक साधक को मन को शून्य या खाली करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि वह ऐसा करेगा तो, या तो वह ऊँघने लगेगा या फ़िर वह शून्य अपवित्र विचारों से भर जायेगा। ध्यान में कुछ निश्चित सकारात्मक आध्यात्मिक प्रत्यय होना चाहिए। ज़िन लोगों के लिए निराकार पर ध्यान करना बहुत सूक्ष्म प्रतीत होता है, उन्हें अपनी भावनाओं को किसी दैवी रूप पर केन्द्रित करना चाहिए। यह दो प्रकार से बहुत लाभप्रद होता है। यह व्यक्ति के अहंकार से उसे बचाता है और भावनाओं का उदात्तीकरण करता है। यदि कभी किसी ऐसे व्यक्ति का रूप तुम्हारे मन में उठे, जिसे तुम प्रेम या घृणा करते थे, तो अपने इष्ट का चित्र उसके बदले में अपने मन में स्पष्ट रूप से उठाओ। इष्ट के प्रति अपनी भावनाओं को, उस व्यक्ति के प्रति तुम्हारी भावनाओं के विरोध में खड़ी करो, जिसकी स्मृति अब तुम्हें कष्ट दे रही है। सांसारिक चित्रों/विषयों और भावनाओं के प्रभाव को ईश्वरीय रूप तथा उनकी भावना द्वारा क्षीण करना चाहिए। ऐसा करने में समर्थ व्यक्ति आध्यात्मिक-जीवन में बिना अधिक कठिनाई के तेजी से प्रगति करते हैं। अपने इष्ट-देवता के प्रति तीव्र प्रेम और आकर्षण का अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिए ध्यान आसान होता है।

नैतिक-अनुशासन के बिना हम परमात्मा के निकट सम्पर्क में कभी नहीं आ सकते। यदि मन को पूर्ण रूप से शून्य करने के बाद सद्‌विचार उठाये जा सकें, तो ठीक है। तब फिर ऐसी पद्धति बहुत उपयोगी होगी। लेकिन प्रारम्भिक साधक के लिए यह बहुत खतरनाक है, क्योंकि मन को शून्य करने के बाद वह उचित विचार लाने में सफल नहीं होता, बल्कि सो जाता है या अपने अचेतन मन द्वारा परिचालित होने लगता है। प्रारम्भिक साधक के लिए मन के चेतना के स्तर से नीचे गिरने का महान् खतरा सदा बना रहता है।

बहुत से लोग आध्यात्मिक जीवन को उच्चतम सोपान से प्रारम्भ करना चाहते हैं, लेकिन यह सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक-जीवन में लम्बी छलांगें नहीं होतीं और यह पता लगाये बिना कि व्यक्ति किस अवस्था में है, कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता है। उच्च-दार्शनिक उड़ानों तथा सुन्दर बौद्धिक स्वप्नों का अर्थ अनुभूति नहीं है तथा वे अपने से अनुभूति नहीं करवा सकते। वे केवल अतिसूक्ष्म और वैचारिक कल्पनाओं तक ले जा सकते हैं, जिनका वास्तविक और व्यावहारिक जीवन के साथ किञ्चित मात्र भी सम्बन्ध नहीं होता।

उनमें निरत रखने वाले व्यक्ति के जीवन में, उन से किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। हमें यह जानना चाहिए कि हम कहाँ खड़े हैं और वहाँ से आगे बढ़ना चाहिए। हमें नौसिखिये की तरह प्रारम्भ करना चाहिए और धीरे-धीरे बढ़ना चाहिए। आदर्श के रूप में हमारे लिए 'अद्वैत' ठीक हो सकता है, लेकिन व्यावहारिक स्तर पर हम द्वैतवादी हैं और बहुत समय तक द्वैतवादी बने रहेंगे। किसी को अद्वैत की, चरम-सिद्धान्त की बड़ी-बड़ी बातें करते देख मुझे हँसी आती है, क्योंकि अधिकांश समय वे खोखली कल्पनायें होती हैं और लच्छेदार शब्दों के अतिरिक्त कुछ नहीं होतीं। इनसे यह भी ज्ञात नहीं होता, कि वह व्यक्ति-विशेष अद्वैत-साधना का अधिकारी है। द्वैत में स्थित कोई भी व्यक्ति चाहे वह कैसी भी स्थिति में क्यों न हो, अद्वैतवादी नहीं है, भले ही उसे अद्वैतवाद के प्रति रुचि हो या न हो।

कई बार आधुनिक मानव का मन रूढ़िवादी, औपचारिक ध्यान के सुझाव का विरोध करता है। वह कहता है : "हम उसमें अपने मन को क्यों लगायें? क्या संसार में दासता पर्याप्त नहीं है? अत: उन साधना-पद्धतियों का अभ्यास क्यों करें, जो हमें अच्छी नहीं लगतीं। हम तो अनन्त निर्गुण को चाहते हैं, अत: जप, भगवान् के रूप अथवा गुणों से हमें क्या प्रयोजन? हमें अखण्ड ब्रह्म को प्राप्त करना है। हम परमात्मा की "सत्य और आत्मा के रूप में" उपासना करना चाहते हैं।" निश्चय ही यह सारा कथन बहुत आकर्षक और अत्यन्त आध्यात्मिक प्रतीत होता है, लेकिन वास्तविक जीवन के स्तर पर इस तरह का चिन्तन कुछ भी उपलब्धि प्रदान नहीं कर सकता। प्राय: ऐसे लोग अपने दैनन्दिन जीवन में पक्के द्वैतवादी होते हैं। परमात्मा की 'सत्य और आत्मा के रूप में' आराधना आदर्श के रूप में ठीक हो सकती है, लेकिन प्रश्न यह है कि ऐसा कितने लोग कर सकते हैं? अधिकांश लोगों कि लिए यह केवल धुँधली भावना और अस्पष्ट चिन्तन तथा ऐसा क्रिया-कलाप होता है, जिसका सत्य से और आत्मा से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता।

चेतना का केन्द्र :

अगली सीढ़ी क्या है? आसन और प्राणायाम के बाद परमात्मा का चिन्तन प्रारम्भ करना चाहिए। परमात्मा का चिन्तन कहाँ करें? अपनी चेतना का केन्द्र कहाँ होना चाहिए? या तो हृदय में या मस्तक में। ये दो केन्द्र सबके लिए सुरक्षित हैं। हृदय के नीचे का केन्द्र कभी नहीं चुनना चाहिए। इस सम्बन्ध में निर्देश केवल व्यक्तिगत रूप से ही दिये जा सकते हैं, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर होता है; फिर भी हृदय और मस्तक में ध्यान करना सदा निरापद है। यदि हम स्नायु-प्रवाह को स्वप्रयत्न द्वारा, कम से कम भौतिक हृदय के आस-पास तक के (मानसिक) स्तर तक न उठायें तो कोई आध्यात्मिक-ध्यान सम्भव नहीं होगा। इस तरह स्वप्रयत्न द्वारा अपने स्नायु प्रवाह (चिन्तन प्रवाह) को ऊपर उठाने से व्यक्ति सभी वैषयिक प्रलोभनों का अतिक्रमण कर नैतिक आदर्शों और यम-नियमों में दृढ़-प्रतिष्ठ हो जाता है। अधिकांश लोगों के लिए हृदय में ध्यान करने की सलाह दी जाती है। अत्यधिक

भावुक व्यक्तियों के लिए हृदय उपयुक्त नहीं होता और उन्हें वहाँ ध्यान नहीं करना चाहिए। उनके लिए मस्तक में एकाग्रता का अभ्यास करना उचित है। वे बाद में हृदय के स्तर पर आ सकते हैं, जो अतिचेतनावस्था का द्वार है।

चेतना का केन्द्र – हृदय :

हम हृदय शब्द का उपयोग बड़ी सरलता से करते हैं। लेकिन हम उससे आखिर समझते क्या हैं? क्या वह माँस-निर्मित भौतिक अंग है, जो क्रमागत संकोच और विकास द्वारा शरीर में रक्त का प्रवाह बनाये रखता है? स्वामी ब्रह्मानन्द जी से एक बार एक शिष्य ने पूछा : "महाराज! मुझे किस चक्र में ध्यान करना चाहिए? हृदय में या मस्तक में स्थित चक्र में?" स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने उत्तर दिया : "बेटा! ध्यान का अभ्यास तुम जिस चक्र में चाहो कर सकते हो। लेकिन मैं तुम्हें पहले हृदय में ध्यान करने की सलाह दूँगा। हृदय कमल में अपने इष्ट-देवता का ध्यान करो।" तब शिष्य ने पुन: पूछा: "लेकिन महाराज, हृदय तो मांस और रक्त से निर्मित है। मैं वहाँ भगवान् का चिन्तन कैसे कर सकता हूँ?" ब्रह्मानन्दजी ने उत्तर दिया, "मेरा अर्थ भौतिक हृदय से नहीं है। हृदय के निकट स्थित आध्यात्मिक केन्द्र का चिन्तन करो। प्रारम्भ में तुम जब देह के भीतर परमात्मा का चिन्तन करोगे, तो मांस और रक्त का विचार आयेगा। लेकिन शीघ्र ही तुम देह भूल जाओगे और इष्ट का आनन्दमय-रूप ही रह जायेगा।[३]

कभी-कभी हम अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए हृदय के भाग की ओर इंगित करते हैं। हम कहते हैं, "अपने हृदय के अन्तस्थल से इत्यादि"। इसे भावनात्मक 'हृदय' कहा जा सकता है।

भौतिक और भावनात्मक हृदय के अतिरिक्त एक और हृदय है, जो आध्यात्मिक हृदय या हृदय चक्र या अनाहत-चक्र कहलाता है, जो प्राय: कमल, हृदय-कमल के रूप में चित्रित किया जाता है। यह उच्च आध्यात्मिक चेतना की प्रज्ञा का स्थान है।

इस आश्चर्यजनक मानव देह में बहुत से चक्र, चेतना के केन्द्र हैं। प्रत्येक केन्द्र शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शरीरों का मिलन-बिन्दु होता है। निम्नतम तीन चक्र गुदा, लिंग और नाभि के स्तर पर स्थित हैं। ये मानव के निम्न-जीवन, पाशविक, वैषयिक जीवन से सम्बन्धित हैं। हृदय में स्थित चौथा चक्र अनाहत चक्र कहलाता हैं; यह निम्न तीन और उच्च तीन चक्रों के बीच स्थित है। हृदय तथा ऊपरी तीन चक्र मानव के आध्यात्मिक जीवन से संबन्धित हैं। तीन ऊपरी चक्र क्रमश: कण्ठ, भ्रूमध्य तथा मस्तक में स्थित हैं। इन केन्द्रों को शारीरिक नहीं समझना चाहिए। ये आध्यात्मिक चेतना के विभिन्न-स्तरों के द्वार स्वरूप हैं।

---

३. इटरनल कम्पेनियन, (१९७१), पृ. ३४७-३४८

तन्त्राचार्यों के अनुसार मानव की प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्ति या कुण्डलिनी या जिसे शुद्ध चैतन्य भी कहा जा सकता है, तथा जिसका मूल स्थान मस्तिष्क के केन्द्र सहस्रार में था, सुषुम्ना नामक आध्यात्मिक मार्ग से चेतना के विभिन्न केन्द्रों से होती हुई रीढ़ के निम्नतम भाग में पहुँच गयी है। वहाँ पहुँचकर वह अपना स्वरूप भूल गयी। उसके बाद वह अज्ञान द्वारा अभिभूत हो गयी और इच्छाओं एवं वासनाओं के वश में आ गयी। वह वापस आने का मार्ग भूल गयी। आध्यात्मिक-जीवन का उद्देश्य अपने वास्तविक-स्वरूप को पुनः स्मरण कर अपनी चेतना को निम्न-केन्द्रों से उच्च-केन्द्रों तक उठाना है। निम्न और उच्च-केन्द्रों के बीच होने के कारण हृदय को अधिक महत्त्व देना चाहिए। वहाँ ध्यान करना हमारे लिए आसान है।

हृदय-चक्र का महत्त्व :

पुनः हृदय-चक्र इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यहीं हमारी आत्मा की आत्मा के रूप में विद्यमान अन्तर्यामी परमात्मा की ज्योति की अनुभूति होती है। वह साकार ईश्वर का विशेष स्थान है। भगवद्भक्तों के लिए हृदय चक्र स्वभावतः ध्यान का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे :

वे जिस आधार में अपनी लीला का विकास दिखलाते हैं, वहाँ शक्ति की विशेषता रहती है. जमीन्दार सब जगह पर रहते हैं। परन्तु लोग उन्हें किसी खास बैठकखाने में अक्सर बैठे हुए देखते हैं। ईश्वर का बैठकखाना, भक्तों का हृदय है। वहाँ अपनी लीला दिखाना उन्हें अधिक पसन्द है। वहाँ उनकी विशेष शक्ति अवतीर्ण होती है। [४]

विचारवान लोगों के लिए मस्तक के केन्द्र में ध्यान करना आसान होता है। लेकिन उनके लिए भी हृदय केन्द्र से साधना प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है। प्रमुखतः ज्ञान का उपदेश देनेवाले उपनिषदों में सर्वत्र हृदय का चेतना के मुख्य-केन्द्र के रूप में उल्लेख किया गया है।

य: सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति।। [५]

अर्थात् जिस सर्वज्ञ, सर्वविद् परमात्मा की महिमा जगत् में प्रकाशित हो रही है, वह दिव्य ब्रह्मपुरी के आकाश में प्रतिष्ठित है। वह मनोमय पुरुष प्राण और शरीर को हृदय में रहकर परिचालित करता है। उसका साक्षात्कार करके धीर पुरुष आनन्द और अमृतत्व के अधिकारी होते हैं।

---

४. श्रीरामकृष्णवचनामृत – १,(१९९२), पृ. ५१५-५१६

५. मुण्डकोपनिषद् २.२.७-८

हमारे आध्यात्मिक आचार्यों के अनुसार हृदय वह पवित्र स्थान है, जहाँ परमात्मा का विशेष निवास होता है। वहाँ वे हमारी आत्मा की भी आत्मा के रूप में निवास करते हैं। अत्यधिक भावुक प्रकृति के लोग अपनी भावनाओं को निम्न केन्द्रों में पतित होने से बचाने के लिए कुछ समय के लिए भ्रूमध्य अथवा मस्तिष्क के केन्द्र में मन को एकाग्र कर सकते हैं। लेकिन आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रारम्भ हृदयकेन्द्र से होता है।

हृदय के स्तर के समानान्तर चेतना का स्तर वह है, जहाँ भक्त साकार ईश्वर के रूपों का दर्शन पाकर धन्य हो जाता है। वह 'अन्तर्ज्योति' तथा अपने इष्ट देवता के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन करता है। इन दर्शनों से, यह दृढ़ विश्वास भी पैदा होता है कि वह देह से पृथक् आत्मा है। तब भक्त अनुभव करता है, कि वह एक आत्मा है, जिसने एक शुद्ध मनोमय शरीर तथा एक शुद्ध अन्नमय शरीर धारण कर रखा है तथा परमात्मा ने भी उसपर कृपा करने के लिए एक आनन्दमय रूप ग्रहण किया है।

हृदय चक्र में प्रवेश करने में सफल होने पर भक्त का देहात्म-बोध विस्मृत हो जाता है और कम से कम कुछ समय के लिए उसे परमात्मा के ज्योतिर्मय और आनन्दमय रूप का बोध होता रहता है। यह तब होता है, जब साधना के फलस्वरूप हृदय-चक्र के महत्त्व को समझने की सूक्ष्म क्षमता का उसमें विकास होता है। तब वह हृदय चक्र में ध्यान करने के महत्त्व को तथा भगवद्सान्निध्य के वास्तविक अर्थ को समझ पाता है।

हृदय-चक्र कहाँ है?

आध्यात्मिक चेतना के जाग्रत होने पर हम नित्य आत्मा का अनन्त परमात्मा के साथ नित्य (शाश्वत) सम्बन्ध अनुभव करते हैं। लेकिन लोगों में इन सभी प्रयोगों को स्वयं करने का धैर्य कहाँ है? वे केवल आकर प्रश्न पूछा करते हैं। कई बार भक्तों को हृदय-चक्र का महत्त्व समझाने और उन्हें कुछ साधना करने का निर्देश देने के बाद वे मेरे पास बिना कुछ किये पुनः आते हैं, और पूछते हैं : "अच्छा, हृदय-चक्र कहाँ है? वह दाहिनी ओर है या बाँयी ओर?" ... यह तुम्हें स्वयं पता लगाना है। वह तुम्हारा हृदय है, मेरा नहीं। तुम्हें पता लगाना है। यह चिर-प्रश्न सदा बना रहता है। साधक का मुख्य लक्ष्य इस सूक्ष्म आन्तरिक-क्षमता को विकसित करना है। पवित्रता, ब्रह्मचर्य, और तीव्र आध्यात्मिक-पिपासा के अभाव में हृदय-चक्र अविकसित, अनजाना, पड़ा रहता है।

इस सन्दर्भ में मुझे एक कहानी याद आयी। चीन में एक अमेरिकन चिकित्सक और एक चीनी चिकित्सक के बीच एक बार बहुत विवाद हुआ। अमेरिकन डाक्टर ने कहा : "हमारे शरीर शास्त्रियों के अनुसार हृदय बाँयी ओर है।" चीनी डाक्टर ने कहा : "हमारी पुस्तकों में लिखा है कि हृदय दाहिनी ओर स्थित है।" और एक साधारण वार्तालाप एक तुमुल वाक्ययुद्ध में परिणत हो गया। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को अपने तर्कों द्वारा हराना चाहता था। तब एक बुद्धिमान चीनी वृद्ध वहाँ आये। उन्होंने पूछा, "पुत्रो क्या बात है? तुम लोग

इस तरह क्यों झगड़ रहे हो?" दोनों चिकित्सकों ने अपनी समस्या बतायी। वृद्ध मुस्कुराये और बोले; "पुत्रो हृदय दाहिनी ओर रहे या बाँयी ओर, उससे क्या फर्क पड़ता है? हृदय को ठीक स्थान पर होना चाहिए, बस।" अत: हमें शारिरिक हृदय को भूलकर, सभी मतवादों को भूलकर, सही स्थान खोजना चाहिए।

बहुत से आध्यात्मिक व्यक्तियों के अनुसार हृदय न तो दाहिनी ओर है, न बाँयी ओर; बल्कि सीने के लगभग बीच में है, जहाँ हम सामान्यत: अपनी सुखद और दुखद भावनाओं की प्रतिक्रियाओं का अनुभव करते हैं। लेकिन कोई भी शारीरिक हृदय का अर्थ नहीं लेता। उनका अर्थ है कि देह के मध्य में एक स्थान है, जिसे वे आकाश कहते हैं या जिसे तुम व्योम कह सकते हो। ध्यान उस आकाश में करना चाहिए, जो हृदय में स्थित है, जिससे हृदय पूर्ण है और जो उसके भी परे है।

अब जिसे हम हृदय कहते हैं, उस आध्यात्मिक केन्द्र का अर्थ समझने का प्रयत्न करें। वहाँ एक चोटी-सी चेतना का अनुभव करने का प्रयत्न करो, और फिर थोड़े विचार की सहायता से सोचो, "यह क्षुद्र चेतना ही समग्र देह को व्याप्त किये हुए है।" क्या यह सत्य नहीं है? हम देह के किसी भी अंग को छुएँ। यदि वह अपंग नहीं हो, तो हमें संवेदन का अनुभव होता है। इसी प्रकार चेतना समग्र मनोमय शरीर को व्याप्त किये हुए है। मन भी जड़ पदार्थ है, सूक्ष्म जड़ पदार्थ। यह चेतना के संस्पर्श के कारण सक्रिय हो उठता है। हाड़-माँस का यह शरीर जो जड़ है, चैतन्य आत्मा के संस्पर्श के कारण प्राणवन्त दिखाई देता है।

हृदय में जीव व ईश्वर का मिलन :

पुरातन ऋषि की घोषणा है :

> दह्रं विपापं परमेशमभूतं यत् पुण्डरिकं पुरमध्यसंस्थम्।
> तत्रापि दह्रं गगनं विशोकं तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्।।[६]

अर्थात्, देह के बीच में एक विशुद्ध पापरहित, सूक्ष्म, कमल के समान स्थान है। इसके बीच शोक-रहित सूक्ष्म आकाश है। इस आकाश में जो है, उसका ध्यान करना चाहिए।

जिसे हृदय कहा गया है, वहाँ एक आकाश अथवा स्थान का चिन्तन करो। यह आकाश हमारे स्थूल शरीर तथा मनोमय शरीर को परिव्याप्त कर रहे तथा उसमें अनुस्थूत आकाश का एक अंश है। यह हमारी आत्मा का निवास स्थान है और वह पुन: सर्वव्यापी परमात्मा या नारायण का अंश है।

आकाश शब्द का एक गूढ़ अर्थ है। इस कक्ष का आकाश सीमित प्रतीत होता है, पर क्या वह वास्तव में सीमित है? नहीं, वह सीमित नहीं हो सकता। कक्ष के भीतर का आकाश बाह्य आकाश से अभिन्न है। दीवारें उसे सीमित करती सी प्रतीत होती हैं। यही बात परमात्मा

---

६. महानारायण उपनिषद् १२.१६

के विषय में भी लागू होती है, जो हृदय द्वारा सीमित होता सा प्रतीत होता है। सीमित प्रतीत होने वाला असीम से अभिन्न है। बृहदारण्यक उपनिषद के अन्तर्यामी ब्राह्मण में उपनिषदाचार्य यही बात कहते हैं। अनन्त आत्मा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, स्वर्गलोक, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों में विद्यमान है। वह नेत्र, मन, बुद्धि में भी विद्यमान है तथा सर्वव्यापी है। वही अन्तर्यामी, सर्व-नियामक तथा तुम्हारी अमृतस्वरूप आत्मा है।[७] लेकिन साधक को इन सभी बातों का ध्यान द्वारा साक्षात् अनुभव करना चाहिए। आत्मा के विषय में बात करना पर्याप्त नहीं है। उसकी भावना, अनुसन्धान और अन्त में प्रत्यक्ष अनुभूति करनी चाहिए।

वेदान्त-दर्शन के अनुसार व्यष्टि और समष्टि अभिन्न है। जिस प्रकार हमारी एक देह है और हृदय में एक आकाश है, उसी तरह विराट् हृदय में भी मानो एक आकाश है। वही आकाश हमारे मनोमय शरीर और विराट् शरीर को व्याप्त किये हुए है। वही चैतन्य हमारी व्यष्टि आत्मा तथा समष्टि आत्मा को व्याप्त किये हुए है। वही सर्व-नामरूपातीत-अद्वैत-सत्ता, व्यष्टि तथा समष्टि सत्ताओं के रूप में अभिव्यक्त होती है।

"दहं विपापं" से प्रारम्भ होने वाले श्लोक की कई व्याख्याएँ की गयी हैं। लेकिन सभी दार्शनिक मतभेदों को अलग रख कर हम यह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर सकते हैं कि व्यष्टि जीव हृदयाकाश में, तथा परमात्मा सभी आत्माओं की भी आत्मा के रूप में जीव में, स्थित हैं। हमारे सभी आचार्य कहते हैं कि हमारी व्यक्तिगत चेतना विराट् चेतना का अंश हैं। व्यक्ति अकेले जीवित नहीं रह सकता। क्या बुदबुदा सागर के बिना रह सकता है? क्या प्रकाश की एक किरण अनन्त प्रकाश के बिना रह सकती है? क्या यह हृदयाकाश अनन्त आकाश के बिना रह सकता है? नहीं, व्यष्टि और समष्टि अभिन्न हैं। हमें व्यष्टि और समष्टि के नित्य सम्बन्ध का हृदय में अनुभव करना चाहिए।

हृदय केन्द्र का तीव्रता से चिन्तन करो और उसकी दिव्य चेतना के केन्द्र-बिन्दु के रूप में कल्पना करो। सोचो कि जो दिव्य चेतना तुम्हारे भीतर है, वही अविभक्त, अविभाज्य, अनन्त चेतना का अनिवार्य अंग है, और बाहर भी विद्यमान है।

प्रारम्भ में इस चेतना को प्रकाश के रूप में सोचा जा सकता है, लेकिन वस्तुतः प्रकाश का अर्थ ज्ञानालोक अर्थात् दिव्य ज्योति से है; और यह दिव्य ज्योति जो मुझमें है, वही साथ ही समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और वह एक, अखण्ड और नित्य है। हमारी यह देह मानो ब्रह्म का मन्दिर है। सदा याद रखो, प्रत्येक देह ब्रह्म का मन्दिर है।

---

७. यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी
न वेद यस्य पृथिवी शरीरम् यः पृथिवीमन्तरो
यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।।
योऽप्सु तिष्ठन् ...।। योऽग्नौ तिष्ठन् ...।। बृहदारण्यक उपनिषद ३.७.३-२३

इतना सब करने के बाद अपनी चेतना को परमात्म-चेतना में उसी तरह विलीन करने का प्रयत्न करो जिस तरह एक नमक का पुतला समुद्र में विलीन हो जाता है। तुम्हें श्रीरामकृष्ण कथित नमक के पुतले की कथा मालूम है।[८] हमारा देहात्मबोध इसमें बाधक है और उसे दिव्य चेतना में विलीन करने का प्रयत्न करते ही हमें यह भान होता है, कि आत्मा देह नहीं है।

प्रारम्भ में यह सब केवल कल्पना होती है। लेकिन याद रखो, यह सत्य-विषयक कल्पना है। यह मिथ्या कल्पना नहीं है। निष्ठापूर्वक साधना में लगे रहने पर, एक दिन हम उस परमात्म-सत्ता की अनुभूति करेंगे, जिसके विषय में हम इतने लम्बे समय तक कल्पना करते रहे थे।

अब तक जो कहा गया है, उसका सारांश यह है। ध्यान सामान्य एकाग्रता-मात्र नहीं है। वह साधना और नैतिक आदर्शों के अनुष्ठान से प्राप्त विशेष प्रकार का ध्यान है। उसका एक आध्यात्मिक प्रत्यय होना चाहिए। वह चेतना के एक केन्द्र विशेष में किया जाता है। प्रारम्भिक साधकों के लिए हृदय सर्वश्रेष्ठ केन्द्र है। और अन्त में, ध्यान का अर्थ जीव और ईश्वर का मिलन है।

□□□

---

८. श्रीरामकृष्णवचनामृत

अध्याय २१

ध्यान विषयक व्यावहारिक निर्देश

ध्यान से विश्राम :

"ओह! मेरा मन बहुत चञ्चल है। मैं ध्यान कैसे कर सकूँगा?" चूँकि तुम्हारा मन इतना चञ्चल है, इसीलिए तुम्हें और अधिक ध्यान करना चाहिए। एक पूर्णत: शान्त मन को ध्यान की इतनी आवश्यकता नहीं होती।

लोग कई बार आलसी होकर, कुछ न करके विश्राम पाने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन उनके मन नाना प्रकार की निरर्थक बातें सोचते रहते हैं। सच्चा ध्यान, विश्राम और स्थैर्य पाने तथा तनाव दूर करने का सबसे अच्छा उपाय है। बहुत से लोग सोचते हैं कि नाना प्रकार के मनोरञ्जनों तथा गन्दे आमोद-प्रमोदों द्वारा उनका तनाव दूर होगा। ध्यान और जप मन को विश्राम देने और उसे नई ताज़गी से पूर्ण करने के सहज उपाय हैं। उनकी सहायता से मन समस्त शक्ति के स्रोत परम-आत्मा की ओर स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होता है, और तब देह तथा मन इस शक्ति से पूर्ण हो जाते हैं। समस्त शक्ति, बल और स्थैर्य परमात्मा से आते हैं, और ध्यान इस स्रोत से शक्ति प्राप्त करने का सीधा उपाय है।

यदि किसी दिन तुम अत्यधिक श्रान्त अथवा विक्षिप्त होने के कारण ध्यान करने में असमर्थ होओ, तो केवल आसन पर कुछ मिनट बैठकर परमात्मा से तीव्रतापूर्वक प्रार्थना करो। "तुम पवित्रता स्वरूप हो, मुझे पवित्रता से पूर्ण करो। तुम वीर्य हो, मुझे वीर्य से पूर्ण करो। तुम बल हो, मुझे बल प्रदान करो।"[१] ऐसी प्रार्थना तुम्हारे मन को शान्त कर देगी। शान्ति, स्थैर्य और मानव की वास्तविक दक्षता का समूचा रहस्य हमारे भीतर है। फिर भी लोग उसे बाहर खोजते हैं।

दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद यदि तुम्हें रात को नींद आने लगे और स्वाभाविक ही ध्यान करना तुम्हारे लिए असम्भव हो, तो केवल थोड़ी देर के लिए भगवान् का नाम लेते हुए उनका स्मरण करो और सो जाओ तथा देह और मन से ताजे होकर जागो। थोड़ी सी नींद प्राय: सारी थकान दूर कर देती है। लेकिन उसे ध्यान के समय ऊँघने का बहाना मत बना लेना। नींद के बाद नियमित ध्यान किया जाना चाहिए।

---

१. तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि। – शुक्ल यजुर्वेद संहिता, १९.९

भीतर एकान्त खोजो :

आध्यात्मिक-जीवन के प्रारम्भ में एकान्त स्थान में शान्ति से बैठकर ध्यान करना चाहिए। लेकिन तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि वन अथवा गुफा में जाने मात्र से एकान्त का सुख नहीं मिल सकता। आन्तरिक रूप से शान्त होने पर ही बाह्य एकान्त सहायक हो सकता है। वास्तविक शान्ति मन की शान्ति है। उसका अर्थ मन को अनावश्यक विचारों से रिक्त और शान्त करना है। पहले परमात्मा का चिन्तन करो और तब उन सभी विचारों को, जो परमात्मा के साथ सीधे जोड़े नहीं जा सकते, दूर करने का प्रयास करो। "बाह्य एकान्त मात्र से संसार का विस्मरण नहीं हो सकता और वास्तविक एकान्त वही है, जिससे संसार को विस्मृत किया जा सके। ब्रह्म में विलीन होना ही सच्चा एकान्त है।" ध्यान में बैठने पर मन से संसार के समस्त विचारों को दूर कर दो और केवल परमात्मा का चिन्तन करो।

नियमित दिनचर्या :

आध्यात्मिक जीवन में सब कुछ स्पष्ट और सुनिश्चित होना चाहिए। प्रत्येक साधक को पहला काम यह करना चाहिए कि वह एक निश्चित दिनचर्या निर्धारित कर हर कीमत पर उसका पालन करे। कुछ लोगों को यह भय होता है कि ऐसी कठोर नियम-परिपाटी उनके जीवन को यन्त्रवत् बना देगी। लेकिन यह सत्य नहीं है। विशेषकर एक प्रारम्भिक साधक का एक निश्चित नित्य क्रम के बिना काम नहीं चल सकता। उच्छृंखल इच्छाओं को नियन्त्रित करने का यह एकमात्र उपाय है। हमें अपनी जाग्रतावस्था के समय के उपयोग की एक योजना बनानी चाहिए – अपने नित्य कर्तव्यों का पालन कैसे करना, खाली समय का उपयोग कैसे करना, क्या चिन्तन करना इत्यादि। साधक का जीवन सचेतन और सजग होना चाहिए। अपने अचेतन चिन्तन और कर्मों को कम करो। अधिकाधिक सजग होओ।

आदतों का निर्माण करना चाहिए तथा उन्हें दृढ़तर करना चाहिए। तब आध्यात्मिक जीवन आसान हो जाता है तथा उसका प्रारम्भिक तनाव काफी कम हो जाता है। अपनी दिनचर्या का कड़ाई से पालन करो। तब मन के अत्यधिक चंचल होने पर भी ध्यान करना सम्भव हो सकेगा। साधना के समय के विषय में पूर्ण नियमबद्धता आवश्यक है, क्योंकि तभी मन उसका अभ्यस्त हो पाता है। और सभी परिस्थितियों में प्रतिदिन कुछ न्यूनतम ध्यान और जप अवश्य करना चाहिए। जप की एक न्यूनतम संख्या पूरी किये बिना प्रातराश न करो। प्रारम्भिक साधक को साधना का समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। उच्च कोटि के साधक में भक्ति का एक प्रवाह मन में बना रहता है, जिसके कारण वह मन के एक भाग को बाह्य कार्य करते हुए भी सर्वदा साधना में लगाये रखने में समर्थ होता है। इस अवस्था की प्राप्ति के पूर्व तक सभी साधकों को साधना के समय तथा विधि के विषय में सम्पूर्ण नियमितता का पालन बहुत कड़ाई से करना चाहिए।

हममें अभी पर्याप्त संवेदनशीलता नहीं है। हम अभी उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से पहचान नहीं सकते। कभी-कभी हमारा मन हमारे कार्यों और विचारों की युक्तिसंगत व्याख्या प्रदान कर हमें धोखा देता है। यदि मन साधना के अत्यधिक बोझ की शिकायत करे, तो उसे कहो, "देखूँ तो सही कि तुम कैसे टूटते हो।" उच्चतर जीवन यापन करने के प्रयास में, यदि हमारी मृत्यु भी हो जाये, तो हमें इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। और मन बहुत लम्बे समय तक शिकायत और विद्रोह करता रहेगा। वह कहेगा, "देखो आज तुम बहुत कम सोये हो। यह तुम्हारे स्नायुवों के लिए हानिकारक हो सकता है। सावधानी बरतो, कहीं तुम्हारा मानसिक सन्तुलन न बिगड़ जाये। एक दो दिन के लिए अपनी साधना बन्द कर दो।" ऐसी स्थिती में मन को कुछ अच्छे चाँटे लगाओ। उसकी अच्छी पिटाई करो। ऐसे दुष्ट मन के साथ खूब कड़ाई से पेश आओ। जिस तरह आगे न बढ़ने पर घोड़े को सवार चाबुक मारता है, उसी तरह मन के विद्रोह करने पर उसकी खूब पिटाई करो।

अगर हम अपनी दैनन्दिन साधना के लिए समय न निकालना चाहें, तो हम प्रगति कभी नहीं कर सकते। ऐसा लगता है, कि बहुत से लोग इस सत्य को कभी हृदयंगम करते ही नहीं। हमें व्यर्थ चिन्तन, गपशप, लक्ष्यहीन, क्रियाकलापों, भ्रमण आदि में अनावश्यक समय गँवाना कम करना चाहिए। तब हमें अपनी साधना के लिए पर्याप्त समय मिलेगा। दिनभर में कुछ मिनटों के अनियमित ध्यान से कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। यथासम्भव समय को व्यर्थ गँवाने से बचाना चाहिए और अनावश्यक कार्यों में अत्यधिक शारीरिक शक्ति का क्षय कभी नहीं करना चाहिए। फिलहाल शारीरिक शक्ति का अत्यधिक अनावश्यक क्षय हो रहा है। और अत्यधिक मानसिक चञ्चलता है। मानसिक और शारीरिक सभी स्तरों पर शक्ति क्षयकारी घूर्णिवात हैं। यदि तुम तीव्र साधना के लिए सही मनःस्थिति बनाना चाहते हो तो इन घूर्णिवातों को तोड़ दो।

अपने ध्यान को श्रेष्ठतर बनाओ :

अपने ध्यान को तीव्रतर करना सीखो। उसकी मात्रा की अपेक्षा उसकी गुणवत्ता पर अधिक ध्यान दो। अत्यधिक व्यस्त लोगों के लिए और कोई रास्ता नहीं है। ध्यान के लिए निर्धारित किये गये समय का समुचित उपयोग होना चाहिए। अपनी एकाग्रता की शक्ति बढ़ाओ। इसी तरह तुम्हें अपने स्वाध्याय की गुणवत्ता को भी बढ़ाना चाहिए। जब तुम कोई पुस्तक पढ़ो तो एकाग्रता के साथ और निश्चित उद्देश्य के लिए पढ़ो।

ध्यान के समय अन्यमनस्कता, समय का निरा अपव्यय ही नहीं, बल्कि वह आध्यात्मिक-प्रेरणा के अभाव का एक स्पष्ट लक्षण भी है। बहुत से लोग ध्यान के नाम पर सांसारिक बातों का चिन्तन करते रहते हैं। यदि तुम्हें लगे कि मन बहुत तामसिक अथवा राजसिक (चञ्चल) हो रहा है, तो आसन से उठ जाओ, कुछ प्रेरणास्पद अंश का पाठ करो, और जब उपयुक्त मनःस्थिति पैदा हो, तब पुनः ध्यान के लिए बैठो। निद्रा व ध्यान को कभी

भी मिलाना नहीं चाहिए। ध्यान के समय मन को तन्द्रा में कभी नहीं जाने देना चाहिए। बहुत से लोगों के लिए ध्यान मानो नींद का निमन्त्रण होता है। यह आगे चलकर एक बुरी आदत बन जाती है।

शुभ दिवस :

भगवन्नाम का जप करने अथवा भगवान का ध्यान करने के लिए केलेण्डर अथवा पञ्जिका देखने की आवश्यकता नहीं है। भगवच्चिन्तन के लिए सभी दिन शुभ हैं। प्रत्येक दिवस हमें मृत्यु के समीप ले जाता है। अत: जो दिन भगवच्चिन्तन में व्यतीत नहीं हुआ, वह व्यर्थ गया है। हिन्दू परम्परा के अनुसार परिवार में किसी के जन्म अथवा मृत्यु के बाद कुछ दिन धार्मिक अनुष्ठानों के लिए अशुभ माने जाते हैं। लेकिन यह बात केवल बाह्य क्रिया-काण्ड के लिए लागू होती है, जप और ध्यान पर नहीं। साधना को सभी दिन तथा सभी परिस्थितियों में करते रहना चाहिए।

कुछ लोगों का ज्योतिष-शास्त्र में बहुत विश्वास होता है। बंगाल में सायंकाल को अशुभ माना जाता है। मैं जब पहली बार सन् १९११ में मद्रास गया, तो पता चला कि राहुकालम्[२] अधिकतर पूर्वाह्न में होता है। इसका मतलब यह हुआ, कि आलसी लोगों के लिए सारा दिन ही अशुभ है।

अगस्त १९२८ में एक बार मैं किसी कार्य से बेलुर-मठ गया। इस समय महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी) संघाध्यक्ष थे। वे मद्रास की गतिविधियों में बहुत रुचि रखते थे। जब कभी मैं बेलुर मठ जाता था, तो वे मुझे जल्दी वापस लौटने को कहा करते थे, जिससे मद्रास में मिशन के कार्य की क्षति न हो। लेकिन इस बार मैं बेलुर-मठ में कुछ अधिक समय ठहरना चाहता था। अत: जब हर बार की तरह महापुरुष महाराज ने मुझसे पूछा कि मैं कब वापस लौट रहा हूँ तो मैंने कहा कि आने वाले कुछ दिन अशुभ हैं। वस्तुत: मुझे शुभाशुभ की कोई चिन्ता नहीं थी। यह तो बेलुर मठ के आध्यात्मिक वातावरण में कुछ दिन और रहने का बहाना मात्र था। इस अवसर पर महापुरुष महाराज द्वारा मुझे दी गयी सलाह हम सभी के लिए चक्षु-उन्मीलक होगी।

महापुरुषजी : लेकिन तुम लोग 'कर्मी' हो। तुम्हारे शुभ दिन देखने से काम नहीं चलेगा। जिनको कोई काम नहीं है, वे प्रतिपद पर पञ्जिका देख सकते हैं। ठाकुर भी कहा करते थे, 'इन बातों पर विश्वास करने वाले ही इनसे प्रभावित होते हैं, दूसरे नहीं।' इसके अलावा तुम जगदम्बा के भक्त हो। वे सभी अवस्थाओं में तुम्हारी रक्षा कर रही हैं और सदा करेंगी। भगवान का नाम लेकर यात्रा करने से कष्ट नहीं होता। उनके नाम के प्रभाव से विपत्ति भी सम्पद् में परिणत हो जाती है।

---

२. दिन का वह समय जिसे हिन्दू किसी भी कार्यारम्भ के लिए अशुभ मानते हैं

यह कहकर उन्होंने यह भजन गाया :

जो दुर्गा का नाम लेकर यात्रा करता है,
शूलपाणि शूल हाथ में लेकर उसकी रक्षा करते हैं।

तुलसीदास रचित एक चौपाई का भी यही भाव है :

सभी तिथियाँ, सभी वार शुभ हैं,
जो भगवान को भूलता है, उसी का दिन अशुभ होता है।

जिस दिन हृदय से भगवान् का नाम लिया जाए वही शुभ दिन है।[3]

सन् १९३३ में जब मैं सर्वप्रथम पाश्चात्य देशों की समुद्रयात्रा के लिए जहाज पर सवार हुआ, तो मैंने शुभ दिन पता लगाने का प्रयत्न नहीं किया और सब बातें ठीक ही रहीं। मैं यह सोचकर गया था कि मैं प्रभु के कार्य के लिए जा रहा हूँ। यदि मन पवित्र हो, तो पञ्जिका देखने की आवश्यकता नहीं है। भगवन्नाम का जप करने से सभी काल मंगलमय हो जाते हैं। जब मैं यूरोप में था, तो बहुत से लोग मेरा हाथ और मेरी जन्मकुण्डली देखना चाहते थे। मेरी कोई जन्म कुण्डली थी ही नहीं। एक भक्त ने पूछा, "स्वामीजी, क्या आप ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव में विश्वास नहीं करते?" मैंने उत्तर दिया, "मैं ऐसी शक्ति के हाथ में हूँ, जो ग्रह-नक्षत्रों को नियन्त्रित करती है।"

महापुरुषों के जन्मदिनों पर हमें बाह्य-विक्षेपों से अधिकतर दूर रहकर ध्यान, जप और स्मरण-मनन में अधिक समय व्यतीत करना चाहिए। ये दिन बाह्य उत्सव और सामूहिक उल्लास में ही व्यतीत नहीं किये जाने चाहियें, बल्कि शान्तिपूर्वक अपनी अन्तरतम आत्मा में प्रवेश भी करना चाहिए। जहाँ उन महापुरुषों की चेतना के स्तर पर पहुँच सकने पर हम उनसे सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। यह न सोचो कि ये महान् आत्माएँ अब नहीं रहीं नहीं! वे अभी भी उसी तरह विद्यमान हैं, जिस तरह वे अपने जीवन-काल में थीं। प्रत्येक निष्ठावान व्यक्ति जिसने अपनी चेतना को भौतिक स्तर से उठाकर इन महापुरुषों तथा उनके आदर्शों पर एकाग्र करना सीख लिया है, वह उनके संस्पर्श में आकर उनका सान्निध्य-लाभ कर सकता है। यह न सोचो कि ईसा मसीह दो हजार वर्ष पूर्व ही थे और वे अब नहीं हैं। यह न सोचो कि बुद्ध की मृत्यु हो गई है, और वे अब नहीं हैं। ये अमर हैं। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द अभी भी जीवित हैं। उनकी जीवन्त शक्ति हजारों लोगों की नियति का निर्धारण और परिचालन कर रही है।

ध्यान का समय :

दिन मे चार बार ध्यान करने का प्रयत्न करो, जैसा स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने निर्देश दिया है – प्रात:काल, मध्याह्न, सायंकाल और मध्यरात्रि। काल के इन क्षणों में प्रकृति शान्त हो

---

३. आनन्दधाम की ओर

जाती है तथा हमारे भीतर तथा बाहर भी आध्यात्मिक प्रवाह में परिवर्तन होता है। जो इन चारों समय ध्यान नहीं कर सकते, उन्हें कम से कम प्रात: और सायंकाल अवश्य ध्यान करना चाहिए।

हम दिन में कितनी बार भोजन करते हैं? यदि भौतिक आहार के लिए हमारे पास पर्याप्त समय है, तो आध्यात्मिक आहार के लिए, जो स्वस्थ मन के लिए अनिवार्य है, क्या हमें समय निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए? भूखे होने पर हम दौड़कर भोजन पर झपटते हैं। हमें आध्यात्मिक आहार के लिए भी क्षुधातुर होना चाहिए। तब हम समय के अभाव की शिकायत नहीं करेंगे।

प्रात:काल ध्यान के लिए सर्वश्रेष्ठ समय है। रात को नींद से हमारी बहुत सी स्मृतियाँ शान्त अथवा दूर हो जाती हैं, और हमारे लिए मन को एकाग्र करना उस समय आसान होता है। जागते ही परमात्मा को प्रणाम् करो और पवित्र नाम का जप करो। सांसारिक बातों को सोचने से पूर्व मन को भगवन्नाम और रूप से पूर्ण कर लो। बिस्तर से उठने के साथ ही मन को सांसारिक बातों का चिन्तन कभी मत करने दो। उस समय चेतन मन सक्रिय नहीं होता और अवचेतन मन अधिक ग्रहणशील होता है, अत: उस समय मन को जो भी सुझाव दिये जाते हैं, वे अचेतन मन की गहराई में चले जाते हैं। सूर्योदय के ठीक पहले का कुछ काल साधकों के लिए सर्वाधिक मूल्यवान है और उसका जप और ध्यान के लिए पूरा सदुपयोग करना चाहिए।

ध्यान समाप्त करने के बाद कुछ समय तक आसन पर बैठे रहना अच्छा है। ध्यान के विषय के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए शान्तिपूर्वक, तनावरहित होकर बैठे रहना चाहिए। तब हमारा मन नये आध्यात्मिक विचारों से पूर्ण हो जायेगा और उच्चतर आनन्द का अनुभव होगा। यह आनन्द कहाँ से आता है? यह मन के गहरे स्तरों से आता है। यह भजनानन्द अर्थात् ध्यान अथवा उपासना से उत्पन्न आनन्द है। तब हम स्वयं के तथा संसार के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर पायेंगे। तब हम ध्यान के मनोभाव तथा आन्तरिक आनन्द को स्थायी बनाने तथा उसकी वृद्धि करने के लिए कोई प्रार्थना या स्तोत्रादि का पाठ कर सकते हैं। आसन से उठने के बाद भी हमें किसी से तत्काल बात नहीं करनी चाहिए, बल्कि आत्मस्थ तथा चिन्तनशील बने रहना चाहिए। इस तरह का अभ्यास ध्यान के एक अविच्छिन्न अन्त:प्रवाह का निर्माण और पोषण करता है और मन को उच्चस्तर पर बनाये रखने में सहायक होता है।

यह ध्यानोत्तर बैठक अल्पकालीन होनी चाहिए। यदि तुम पन्द्रह मिनट ध्यान करो, तो क्या पौन घण्टे तक बैठे रहना चाहिए? यदि तुम एक घण्टा या डेढ़ घण्टा ध्यान करो, तो आध्यात्मिक मनोभाव की सांसारिक विचारों के आकस्मिक हमले से रक्षा करने के लिए लगभग पन्द्रह मिनट और बैठ रह सकते हो। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने हमें ऐसा करने की सलाह दी थी।

निद्रा विषयक निर्देश :

साधक के लिए पाँच या छः घण्टे की नींद पर्याप्त है। आठ घण्टे प्रायः बहुत अधिक होते हैं। नींद अपने आप में इतनी आवश्यक नहीं हैं, जितना हमारे मानसिक व स्नायविक तनावों को दिन में सभी समय सचेतन रूप से कम करना आवश्यक है। ध्यान करने में समर्थ होने के लिए हमें तनावहीन होना चाहिए। तथा सर्वप्रथम स्नायुओं के तनावों को कम करना हमें सीखना चाहिए। अतिसंवेदनशील व्यक्ति कभी ध्यान नहीं कर सकते। उसके बाद हमें अपनी भावनाओं और इच्छाओं को, भले ही वे शुभ और पवित्र या प्रेरक ही क्यों न हों, नियन्त्रित करना चाहिए। शरणागति के भाव का विकास कर हमें मन को निश्चेष्ट तथा अनन्त के साथ एकरस बनाने में समर्थ होना चाहिए और इस तरह सारी चिन्ता तथा अपने प्रचण्ड मानसिक और स्नायविक तनावों को कम करना चाहिए। ऐसा करने में समर्थ होने पर हम एक प्रकार की शान्ति का, वास्तविक ध्यान में समर्थ होने के बहुत पूर्व ही, अनुभव करने लगेगें। हमें ध्यान का प्रयास करने के पूर्व यथासम्भव तनावरहित होने का खयाल चाहिए।

हमें दिन के भोजन के बाद, यथा दो बजे के लगभग, थोड़ा विश्राम करना चिहिये। एक छोटी-सी झपकी भी मन को बहुत ताज़गी प्रदान करती है। यह बहुत लाभदायक है। लेकिन बहुतसे लोगों के लिए ऐसा करना बहुत कठिन है। बहुतों के लिए अपने मन की उग्र और अशान्तिपूर्ण गतिविधियों के बीच थोड़ा समय निकाल कर उसे पुनः भगवान् के रूप तथा भगवन्नाम के समरसकारी स्पन्दनों से पूर्ण करना कठिन होता है।

हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हम सोने के पूर्व उपन्यास, कथा-कहानियाँ आदि कभी न पढ़ें। उस समय हमारे पास चिन्तन-मनन के लिए कोई धार्मिक विचार या कोई भगवन्नाम होना चाहिए। तुम भगवान् की गोद में सोने वाले हो अथवा तुम्हारी आत्मा प्रकाश के एक बिन्दु की तरह परमात्मा के ज्योतिसागर में विलीन हो रही है, या इसी तरह की कोई बात सोचो। सोने से पूर्व हमारा पूरा मन परमात्मा से पूर्ण हो जाना चाहिए। यदि हम कुछ सांसारिक साहित्य पढ़ें, तो यह निद्रा के समय हमारे अचेतन मन में कार्य करता रहता है और इसका परिणाम बहुत बुरा होता है। सन्ध्या के समय हम मन को किन बातों में व्यस्त रखते हैं, इस विषय में हमें बहुत सावधान रहना चाहिए। एकाग्रता-सहित और शान्तिपूर्वक परमात्मा का – भगवद्रूप या भगवन्नाम या दोनों का – चिन्तन करना चाहिए, जो सबसे प्रभावशाली उपाय है। ऐसा करने पर ही हम धीरे-धीरे अपने अवचेतन मन को परिवर्तित करने में सफल हो सकते हैं, सोने के पहले सांसारिक पुस्तकें पढ़ना बहुत हानिकारक है, लेकिन इस विषय में लापरवाही के कारण हम अपनी ही कितनी क्षति करते हैं, इसका हमें सामान्यतः भान ही नहीं होता। निद्रा के समय हो रही अचेतन मन की क्रियाएँ बहुत महत्त्व रखती हैं, और उनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

यदि प्रातःकाल जागने के तत्काल बाद तथा सोने के ठीक पहले तुम्हें भगवान् को याद

करने में कठिनाई हो, तो उनका एक चित्र अपने पास रख लो और रात को बत्ती बुझाते समय और पुन: प्रात:काल जागते समय उसे देखने की आदत बना लो। तुम शीघ्र ही पाओगे, कि भगवान् के चित्र को देखने का यह अभ्यास हो जाने पर तुम्हारे लिए भगवान् का चिन्तन किये बिना सोना अथवा जागना कठिन हो गया है।

एक़ और बात का उल्लेख कर देना चाहिए, यदि तुम रात को जागो, तो तत्काल, बिना किसी अनावश्यक जोर-जबर्दस्ती के, शान्तिपूर्वक जप करने लगो। लेकिन साधना के समय जप और निद्रा को कभी मत मिलाओ। यह बहुत बुरा है। सोने से पहले १०० या १००० जप करो, पवित्र ध्वनि से अपने को पूर्ण कर लो, निर्धारित संख्या पूर्ण होने तक जप करना बन्द मत करो।

चेतना का केन्द्र निश्चित करो :

तुम्हारा एक निश्चित चेतना का केन्द्र होना चाहिए। अपने अहं बोध के मूल को खोजने, अथवा परमात्मा के साथ सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करने, पर ही तुम उसे खोज सकते हो। सदा चेतना के इस केन्द्र को पकड़े रहो। हृदय के नीचे का केन्द्र कभी न चुनो। कभी भी मन को निम्न केन्द्रों पर एकाग्र मत करो, भले ही तन्त्र शास्त्र के कुछ ग्रन्थों में इसका निर्देश है। प्रारम्भिक साधक में निम्न केन्द्रों पर मन को एकाग्र करने से काम तथा अन्य वासनाओं का जागरण हो सकता है।

आहार का संयम :

साधक को कभी भी बहुत अधिक नहीं खाना चाहिए। आहार को आध्यात्मिक जीवन में उसका उचित स्थान दिया जाना चाहिए। लेकिन उसे एक प्रकार की सनक या मनोग्रस्तता नहीं बन जाना चाहिए। तुम्हारी आवश्यकता के अनुकूल आहार की मात्रा और प्रकार निर्धारित कर लो। लगभग एक पक्ष (पन्द्रह दिन) में एक दिन उपवास करना अच्छा है, लेकिन इस विषय में सदा नरमी बरतना ही ठीक है। कुछ प्रकार के शरीरों के लिए उपवास अनुकूल नहीं होता। ऐसे लोगों को उपवास के प्रलोभन से बचना चाहिए। कुछ लोग उपवास करने का प्रयत्न करते और असफल होते रहते हैं। वे सदा उसके बारे में चिन्तित रहते हैं। भगवच्चिन्तन करने के बदले बहुत सा समय और शक्ति इन व्यर्थ संघर्षों में नष्ट हो जाती है।

आसन :

आसन के विषय में निर्देश यह है, कि तुम्हें दो भिन्न आसनों का अभ्यास होना चाहिए, जिससे एक आसन में कष्ट होने पर दूसरे आसन में बैठ सको। ध्यान, साधना का मुख्य अंग है और अन्य सभी बातें मन में सही मन:स्थिति निर्माण करने के उपाय हैं। सही मन:स्थिति निर्मित होने पर ध्यान बहुत आसान हो जाता है। भारत में आजकल विभिन्न आसनों के

अभ्यास का पुनर्प्रचलन हो रहा है। ये सारे आसन आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आसन स्थिर, सुखप्रद और आरामदेह हो, तथा देह और मस्तक सीधे हों। पर्याप्त अभ्यास के बाद ही यह सहज, सरल और स्वाभाविक हो पाता है।

प्राणायाम :

प्राणायाम की साधना उन अधिकांश लोगों के लिए खतरनाक है जो न तो नियमित शान्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं, और न ही एक योग्य गुरु की निगरानी में निरन्तर रह सकते हैं। लेकिन श्वास को रोके बिना सन्तुलित श्वास-प्रश्वास के अभ्यास में कोई हानि नहीं है। प्रारम्भ में ऐसा निश्चित समय पर करना चाहिए, बाद में उसे अन्य समय भी किया जा सकता है। सन्तुलित श्वास-प्रश्वास का अभ्यास तब तक करो, जब तक वह आदत न बन जाये। असन्तुलित श्वास-प्रश्वास से शक्ति का महान् क्षय होता है और साथ ही मन भी चञ्चल होता है। इन्द्रियों को नियन्त्रित करना चाहिए, मन को समरस होना चाहिए, समग्र देह-यन्त्र के चक्र तुम्हारे नियन्त्रण में आ जाने चाहिएँ। और तब इस यन्त्र को परिचालित करने में तुम्हें आनन्द आयेगा।

सतत सजगता की आवश्यकता :

जीवन की सभी परिस्थितियों में पूर्ण सजग रहना सीखो। और सभी क्रिया-कलापों के पीछे निहित अपने वास्तविक उद्देश्य को पहचानना सीखो। स्वयं की कड़ी समालोचना करो, लेकिन यदि तुम चाहते हो, कि वह तुम्हारे विकास और आध्यात्मिक प्रयासों में सहायक हो, तो उसे सदा क्रियात्मक होना चाहिए, कभी भी ध्वंसात्मक नहीं। "मैं पापी हूँ" का नकारात्मक भाव तुम्हें और अधिक पापी बनाता है और तुम्हारी सारी आध्यात्मिक प्रेरणा छीन लेता है।

पुनः-पुनः किसी कार्य को करने से आदत बनती है। कर्म को बदलने से आदतें बदली जा सकती हैं। आदत हमारा केवल गौण-स्वभाव है, हमारी सत्ता का अनिवार्य अंग नहीं अतः सतत अभ्यास के द्वारा बुरी से बुरी आदत भी बदली जा सकती है। आदत जितनी पुरानी होगी, उसे दूर करना उतना ही कठिन होगा। लेकिन यदि बार-बार प्रयास के बावजूद भी कोई आदत बनी रहे, तो हमें निराश नहीं होना चाहिए। अपने अचेतन मन की गतिविधियों पर सजग निगरानी रखने तथा नियमित साधना में दृढ़तापूर्वक लगे रहने पर सभी बुरी आदतें शीघ्र ही क्षीण होकर लुप्त हो जायेंगी। लेकिन धैर्य और अध्यवसाय आवश्यक हैं। जहाँ इच्छा है, वहाँ उपाय भी हैं। ध्यान रहे, कि तुम नयी अशुभ आदतों का निर्माण न करो। पुरानी बुरी आदतें ही काफी कष्टप्रद हैं।

एक जञ्जीर की शक्ति का अंकन, उसकी सबसे दुर्बल कड़ी की शक्ति के द्वारा किया

जाना चाहिए। और इसी तरह बुरी संगत या सम्बन्ध का सामना करने की हमारी शक्ति का अंकन हमारे दुर्बलतम क्षणों में उसके प्रति हमारी प्रतिक्रिया से किया जाना चाहिए। अत: हमें सावधान रहना चाहिए और अशुभ प्रभावों से यथासम्भव अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही हमें अपने चरित्र की दुर्बलतम कड़ियों को बलवान बनाने का, सम्यक चिन्तन और आचरण, आत्म-निरीक्षण तथा ध्यान और प्रार्थना द्वारा, भरपूर प्रयत्न करना चाहिए।

यदि हम पूरी तरह सतर्क होकर एक निष्ठावान साधक का जीवन व्यतीत करें तो हम मन की सभी गतिविधियों, तथा उसमें उठ रहे सभी विचारों और प्रेरणाओं, का अवलोकन कर सकेंगे। सामान्यत: इस विषय में हम इतने असंवेदनशील और लापरवाह रहते हैं, कि मन रूपी घोड़े द्वारा नाले में फेंक दिये जाने के बाद ही हमें अपनी खतरनाक स्थिति का बोध होता है। लेकिन वहाँ तक पहुँचने के पूर्व हमारी लापरवाही और सम्यक् प्रयत्न के अभाव में हमारा मन नाले तक के पूरे रास्ते अलक्षित गया था।

लगाम को दृढ़ता से पकड़े रहो। मार्ग की सभी दुर्घटनाएँ प्रमादवश होती हैं। अत: सतर्क रहो। सदा अप्रमत्त, सावधान रहो। मन को कभी भी अलक्षित न छोड़ो, एक क्षण के लिए भी नहीं। यह सभी साधकों के लिए सामान्य नियम है, चाहे वे किसी भी मार्ग का अनुसरण क्यों न कर रहे हों।

परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य :

तुम जहाँ कहीं भी रहो, एक आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करो। अपने कक्ष को एक देवालय में परिणत कर दो। किसी तीर्थ या मठ में जाने पर उसके पवित्र वातावरण का आनन्द लेना मात्र पर्याप्त नहीं है। तुम्हें भी उसमें कुछ योगदान करना चाहिए। पश्चिम का सारा आध्यात्मिक वातावरण नष्ट हो गया है। यदि हम उसमें योगदान करना न सीखें, तो यह बात भारत में भी हो सकती है। भवन और चित्र पर्याप्त नहीं हैं। प्राय: ये बातें आध्यात्मिकता के मूल्य पर आती हैं।

वातावरण को दोष देने से कोई लाभ नहीं है। संसार तुम्हारे लिए बदल नहीं सकता, तुम्हें स्वयं बदलना होगा। तुम्हें अपने को ठीक से साधना होगा और विराट-सत्ता, उच्चतर सत्ता के सम्पर्क में आना होगा। साधनाकाल में हमें केवल अपने और परमात्मा के विषय में सोचना चाहिए, अन्य सभी बातों को भूल जाना चाहिए। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी बात की अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए। हमें परमात्मा के साथ ही जीना चाहिए। यह सत्य है कि यह अन्तिम गन्तव्य अवस्था नहीं है, लेकिन उसकी प्राप्ति की यह अत्यन्त आवश्यक सीढ़ी है। अन्ततोगत्वा हमें उसी एक परमात्मा का सब में साक्षात्कार करना है तथा परमात्मा के कारण, परमात्मा के लिए, परमात्मा के माध्यम से, सभी को प्रेम करना है।

परमात्मा के प्रति एक निश्चित भाव रखो :

प्रत्येक साधक को परमात्मा के प्रति एक निश्चित भाव अथवा सम्बन्ध का विकास करना चाहिए। सर्वप्रथम उसे परमात्मा के एक रूप-विशेष, अथवा एक दिव्य महापुरुष, को तीव्रता के साथ प्रेम करना चाहिए। इसके बाद सगुण साकार ईश्वर की पृष्ठभूमि में विद्यमान विराट्-पुरुष का दर्शन करना (सीखना) चाहिए और उसके बाद विराट् के आधार के रूप में अनन्त को देखना चाहिए। दिव्य महापुरुष, सगुण ईश्वर अथवा अवतार की सहायता से हमें क्रमशः उच्चतम ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सर्वान्तर्यामी ईश्वरीय सत्ता की अनुभूति के बाद ही सदा सर्वातीत अनन्त की अनुभूति होती है। कोई भी व्यक्ति लम्बी छलांग लगाकर, बिना प्रारम्भिक तैयारी के अनन्त तक पहुँच नहीं सकता, भले ही वह बौद्धिक दृष्टि से कितना ही रुचिकर क्यों न लगता हो। हम जितना अधिक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने में सफल होगें, उतना ही अधिक हमें यह अनुभव होगा कि न तो कोई स्त्री है और न पुरुष, न कोई द्रष्टा है और न कोई दृश्य, बल्कि एक ही सत्ता विभिन्न नाम-रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही है।

हमें घोर और भयानक वस्तुओं के द्वारा अपने मन को सदा अप्रभावित रखकर उन घोर और भयानक वस्तुओं में भी एकमात्र परमात्मा को देखना सीखना चाहिए। वह परमात्मा स्थूल, अपवित्र, घृणित और अश्लील वस्तुओं में भी है, लेकिन परमात्मा की इन अभिव्यक्तियों के द्वारा मन को प्रभावित नहीं होने देना चाहिए अथवा उन्हें मन पर प्रभुत्व जमाने नहीं देना चाहिए। व्यापक दृष्टिकोण का विकास किए बिना हम मानसिक सन्तुलन या शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते।

जिस मात्रा में हम एक अद्वितीय को देखने में सफल होते हैं, जिस मात्रा में हमें द्वन्द्वों एवं समस्त ससीमताओं का विस्मरण होता है, उसी मात्रा में हम दृश्य जगत की सारी लीला को भूल सकते हैं। और यह तभी सम्भव है, जब हम परमात्मा के अतिरिक्त और सब को अनित्य एवं महत्त्वहीन, गौण, छायामात्र तथा वस्तुहीन, अस्थायी, दृश्यमात्र के रूप में पहचानें। इन्द्रियों द्वारा मन के सम्मुख प्रस्तुत किये गये प्रलोभनों से स्वयं को बचाये बिना तथा इस उच्छृंखल मन को नियन्त्रित किये बिना सच्चे अर्थों में परमात्मा की ओर मुड़ना और उन्हें अपने जीवन की धुरी बनाना सम्भव नहीं है।

वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखना सीखो। दृश्य जगत् में सर्वत्र कुसुम और कचरा साथ-साथ रहते हैं। जब तक हम द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्त जगत् के स्तर का अतिक्रमण नहीं कर पाते, तब तक वे सदा संयुक्त रहेंगे। साधना के प्रारम्भिक काल में संसार और उसके सुखों के प्रति वितृष्णा पैदा करो। बाद में वितृष्णा का अतिक्रमण कर जगत् को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जा सकता है।

मन को साधना सीखो :

मन को सही बिन्दु पर छूना सीखो। दूध दुहना जाने बिना गाय से दूध नहीं मिल सकता। अधिकतम मात्रा में दूध निकालने के लिए तुम्हें कुशल दोहक होना होगा। इसी तरह मन को साधने की कला जाने बिना तुम उससे अधिक लाभ नहीं ले सकते, भले ही तुम पुस्तकों को पढ़कर, उसे बहुत से शुभ-विचारों से क्यों न भर लो। दूध के स्थान पर तुम्हें कुछ अच्छी लातें ही मिलेंगी।

मन के बहुत से विभाग होते हैं। कुछ कक्षों को सावधानी पूर्वक बन्द कर देना चाहिए, अर्थात् बुरी/अशुभ स्मृतियों और वासनाओं/इच्छाओं को नियन्त्रित करना चाहिए। दूसरे कक्षों को खोलना चाहिए, अर्थात् भक्ति, वैराग्य आदि के अभ्यास को प्रोत्साहित करना चाहिए। लेकिन अन्त में सभी कक्षों को जला देना चाहिए, क्योंकि सत्य शुभ और अशुभ दोनों से परे है।

सदा, केवल ईश्वराभिमुखी रहो :

संसार में प्राप्त हो रहे प्रत्येक आघात, प्रत्येक कष्ट, प्रत्येक दु:ख द्वारा हमें ईश्वराभिमुखी होना चाहिए। तथा संसार की अनित्यता का स्मरण करना चाहिए। इस तरह हमारी सभी निराशाएँ, सभी दु:ख वरदान बन जाएंगे। यदि तुम्हारा मन भाराक्रान्त हो, तो भगवत् – प्रवाह को भीतर प्रवेश करा कर समग्र वातावरण को भगवत्-वायु से शुद्ध कर लो। यदि विषाद की भाप बहुत अधिक भर गयी हो, तो उसे बाहर निकालना अच्छा होता है। लेकिन यह भी केवल परमात्मा की ओर ही होना चाहिए। यदि चाहो, तो मित्र, सहयोगी, सुहृद की तरह परमात्मा को डाँट भी सकते हो। यदि परमात्मा के संस्पर्श में आने का उपाय पता हो, तो देखोगे, कि वे तुम्हारे कितने निकट हैं और उनसे खुलकर बात करने से वे जरा भी नाराज़ नहीं होते। देखो! परमात्मा के साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना आध्यात्मिक जीवन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण और महत् उद्देश्य है।

साधक को सभी परिस्थितियों में केवल परमात्मा पर ही निर्भर रहना चाहिए। प्रारम्भ में वह व्यक्तियों और संघों से सहायता ले सकता है, लेकिन धीरे-धीरे उसे परमात्मा से अधिकाधिक प्रेरणा प्राप्त करनी सीखनी चाहिए।

दु:ख के अवसरों पर सारा मन असन्तुलित हो जाता है। लेकिन महान् कष्टों के अवसर पर भी हमें कहना चाहिए : "हाँ, मेरे देह और मन की ऐसी स्थिति है, लेकिन मेरी आत्मा इनसे अप्रभावित है, मेरी आत्मा इनकी गुलाम नहीं है।" सदा सर्वदा अपनी आत्मा की स्वाधीनता और महानता पर बल दो, उसे अभिव्यक्त करो। दु:खों का अनुभव होने पर सिद्ध-महापुरुष साक्षी के समान स्थित रहते हैं। वे मन को तत्काल उच्चतर दिशा प्रदान करते हैं और सभी परिस्थितियों में अप्रभावित बने रह सकते हैं।

अन्तर्यामी परमात्मा का हृदय में अनुभव करने की अपनी क्षमता की वृद्धि करनी चाहिए। हमारे विचारों एवं भावनाओं को अन्तरस्थ दिव्य चेतनाभिमुखी होना चाहिए। उसके प्रति सजग होओ, उसे पहचानो। बाह्य जगत में अत्यधिक दुःख, निराशा, वेदना और कष्ट हैं। और सदा ऐसा ही रहेगा। दृश्य जगत् द्वन्द्वों के बिना नहीं रह सकता। अतः शुभ और अशुभ, सुख और दुःख सदा साथ रहेगें, शाश्वत सुख सम्भव नहीं है। यह स्थिति कभी बदली नहीं जा सकती। तुम केवल इतना कर सकते हो, कि परमात्मा से अधिकाधिक संयुक्त रहो और उसके प्रति सच्ची शरणागति का विकास करो। शान्ति और धन्यता का यही एकमात्र उपाय है। यह पलायन नहीं है, बल्कि वस्तुतः समस्त ज्ञानात्मक और भावनात्मक क्षमताओं का वास्तविक उदात्तीकरण है। यह एक व्यावहारिक समाधान है। तुम, जिन सारी बाह्य समस्याओं की निरन्तर शिकायत करते हो, विश्व के ये सारे तनाव, जिनसे झगड़ों और युद्धों की सम्भावना बनी हुई है, इन सभी से हमें शान्ति के एकमात्र आश्रय, परमात्मा को खोजने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। हमारे समस्त दुःखों, कठिनाइयों और निराशाओं से हमें संसार के अनित्य स्वभाव का निरन्तर स्मरण होना चाहिए। संसार में कुछ भी हमें सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता। हमें संसार से किसी भी सुख, आनन्द की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। परमात्मा ही हमारी शक्ति के एकमात्र स्रोत हैं। उनकी इच्छा पूर्ण हो। हम उनसे संयुक्त रहें। सच्चे साधक का यही दृष्टिकोण होना चाहिए।

सरलता की आवश्यकता :

अपने सभी व्यवहार में निष्कपट, सीधे-सच्चे रहो। छल-कपट और दम्भ त्याग दो। बालक-सम सरल होओ लेकिन मूर्ख नहीं। परन्तु संसारी लोगों के बीच उद्धत हुए बिना सम्मानित तरीके से उनसे अलग और संयत रहो। तुम अवैयक्तिक रूप से दूसरों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो सकते हो और साथ ही उन्हें वैयक्तिक रूप से अपने निकट न आने देकर संयत और पृथक् रह सकते हो।

हमारे सरल होते ही सब कुछ सरल हो जाता है। हमें देवदूतों की तरह प्रभु की सच्ची सन्तान की तरह रहना चाहिए। हमें बालक की पवित्रता और सरलता के साथ प्रौढ़ व्यक्ति की बुद्धिमत्ता और परिपक्वता का समन्वय करना चाहिए।

तुम्हें अपने हृदय की बात सभी से नहीं कहनी चाहिए, लेकिन शुद्ध और आध्यात्मिक व्यक्तियों से ही कहनी चाहिए। अपने दोष सबके सामने प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बुरे लोग तुम्हारी दोष-स्वीकृति का लाभ उठाकर, उसका तुम्हारे विरुद्ध उपयोग कर तुम्हारी नींद हराम कर देंगे। लेकिन तुम ऐसे किसी समझदार वयस्क व्यक्ति के समक्ष, जो आध्यात्मिक-जीवन में सुप्रतिष्ठित हो और जिसने स्वयं कठिनाईयों का अनुभव किया हो, अपना हृदय खोल सकते हो। तुम्हें अपने मन की बात किसी गलत और संसारी व्यक्ति के समक्ष नहीं कहनी चाहिए। यदि कोई अनुभवी व्यक्ति पास में न हो, तो कठिनाईयों के समय

अपने इष्ट की ओर मुड़ो। संसारी व्यक्ति तुम्हें कोई भी सलाह नहीं दे सकते। मूर्खों की सलाह पर चलना दु:ख के महत् कारणों में एक है।

वे स्वयं को ही नहीं जानते, तो तुम्हारी क्या सहायता करेगें? यदि उनकी नीयत अच्छी भी हो, तो भी तुम्हारे समग्र जीवन को प्रभावित करने वाले आध्यात्मिक विषयों में कोई उपयुक्त सलाह नहीं दे सकते। इसके लिए एक भिन्न प्रकार की प्रज्ञा की आवश्यकता है, जो संसारी लोगों के पास नहीं होती। उनके आईने प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने के लिए बहुत मैले होते हैं, और यदि वे प्रतिबिम्बित करें भी, तो वह चित्र इतना धूमिल और विकृत होता है, कि उसके फलस्वरूप भ्रम ही पैदा होता है।

सर्वप्रथम सज्जन बनो :

यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात है : आध्यात्मिक स्त्री अथवा पुरुष बनने के पूर्व तुम्हें सही अर्थो में एक सज्जन स्त्री अथवा पुरुष होना चाहिए। सज्जन स्त्री अथवा सज्जन पुरुष आध्यात्मिक स्त्री या पुरुष हो सकते हैं। मैं बार-बार भक्तों को कहा करता हूँ कि भक्त बनने के पूर्व, आध्यात्मिक जीवन अंगीकार करने के विचार के भी पूर्व, सज्जन स्त्री अथवा सज्जन पुरुष बनो। और आध्यात्मिक-जीवन की पूर्व तैयारी की साधनाओं में कम से कम कुछ मात्रा में प्रतिष्ठित होने पर, भक्त सज्जन पुरुष या नारी बन सकता है। कभी कभी हम लोगों को बहुत असभ्य और अशोभन व्यवहार करते देखते हैं। बहुत सी बार वयस्क लोग बच्चों का सा आचरण करते हैं। बचकानेपन का अतिक्रमण करना होगा। कई बार लोग सही दृष्टिकोण बनाने एवं सही सन्तुलन स्थापित करने में असमर्थ होने के कारण सारा जीवन अभद्र एवं अशोभन बने रहते हैं। यह त्रुटिपूर्ण बालकपन का दुष्परिणाम है। यह कुण्ठित विकास का फल है। मैं प्राय: लोगों को 'डेल कार्नेज' की पुस्तकें – "लोगों को प्रभावित करने और मित्र बनाने का रहस्य" तथा 'चिन्ता छोड़ो और जीना प्रारम्भ करो", आध्यात्मिक-जीवन प्रारम्भ करने से पूर्व पढ़ने की सलाह देता हूँ। हमारी बहुत सी समस्याओं का आध्यात्मिक जीवन से कोई लेना-देना नहीं होता; वे हमारे भ्रान्त दृष्टिकोण और व्यवहार के कारण उत्पन्न होती हैं।

यह पर्याप्त नहीं है, कि अजनबी लोग हमें अच्छा समझें, लेकिन हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए, कि जो हमारे निकट हैं, वे भी हमें अच्छा और पूर्ण संयत समझें। अनजान लोगों को अच्छा मुस्कुराता चेहरा दिखाना बहुत आसान है। हमें सदा हमारे निकट के लोगों की राय को उन लोगों की राय से अधिक महत्त्व देना चाहिए, जो हमें क्वचित् ही देखते हैं।

धैर्यवान बनो :

असहिष्णुता और कट्टरता यही दर्शाते हैं कि व्यक्ति को कभी भी आध्यात्मिक अनुभूति नहीं हुई है, अथवा दृढ़ विश्वास ही नहीं है। यह उस नास्तिक का दृष्टिकोण है, जो

अपनी गहराई में छिपे संशयों पर सचेतन प्रयास द्वारा विजय प्राप्त न कर सकने के कारण किसी मतवाद से हताशापूर्वक चिपके रहता है। सच्ची श्रद्धा से सम्पन्न व्यक्ति सभी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होते हैं तथा दूसरे सज्जन और निष्ठावान व्यक्तियों से ईर्ष्या नहीं करते। धार्मिक दम्भ धार्मिक धोखाधड़ी का निश्चित लक्षण है।

साधक को सभी परिस्थितियों में धैर्यवान और सहिष्णु होना चाहिए। परिस्थितियाँ हमारी इच्छानुरूप नहीं होतीं। अप्रिय तथा प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ध्यान के लिए, विशेषकर आधुनिक नगरों में, सर्वदा अनुकूल वातावरण की अपेक्षा नहीं की जा सकती। तुम्हें जो भी समय और परिस्थिति उपलब्ध हो, उसका सदुपयोग करना सीखो। हमें वातावरण के साथ सामञ्जस्यपूर्वक रहना सीखना चाहिए।

आन्तरिक असन्तुलन क्रोध का कारण है। व्यक्ति दूसरों से क्रुद्ध होने से पूर्व स्वयं से क्रुद्ध होता है। स्वयं से घृणा करना दूसरों के प्रति घृणा जितना ही बुरा है। यह अनेक समस्याओं का मूल-कारण है, जैसा कि आधुनिक मनोविज्ञ हमें बताते हैं।

जीव को ईश्वर से जोड़ने वाले मार्ग प्राय: रूद्ध हो जाते हैं। उन्हें साफ़ करना है। अन्यथा इससे आन्तरिक असन्तुलन तथा दूसरों के साथ कठिनाई पैदा होगी। परमात्मा के साथ तादात्म्य में रहने वाले सदा सन्तुलित रहते हैं।

चञ्चल मत होओ। शारीरिक और मानसिक चञ्चलता के अतिरिक्त एक प्रकार की अवचेतन-चञ्चलता भी होती है। व्यक्ति स्वयं उससे अनभिज्ञ रह सकता है। ऐसी अवचेतन-चञ्चलता बहुत सी शक्ति का क्षय कर डालती है।

शिकायतें बन्द करो :

लोग प्राय: शिकायतें करते हैं कि वर्षों की साधना के बाद भी उन्होंने कुछ भी उपलब्ध नहीं किया है। उनके मन का विश्लेषण करने पर हम पायेगें, कि वे प्राय: सदा इस तरह सोचते हैं, "मैं जप और प्रार्थना करता हूँ, लेकिन कोई परिणाम नहीं होता।" अब इस तरह के चिंतन में शक्ति क्षय करने के बदले यदि वे भगवान् में मन लगाते तो कहीं अधिक लाभप्रद होता। इस 'अहं' का निरन्तर चिन्तन करने से हम अहं-केन्द्रित हो जाते हैं। हम सोचते हैं कि केवल हम ही भक्त हैं। भक्तों को इस विषय में सचमुच बहुत सावधान होना चाहिए। यदि वे इस 'अहं'-चेतना को प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही निर्मूल नहीं कर देते, तो बाद में यह बहुत कठिन होगा। इसीलिए माँ सारदा ने कहा है कि स्वयं की आध्यात्मिक प्रगति के मूल्यांकन का प्रयत्न करना अभिमान है। अपनी साधना का फल प्रभु पर छोड़ दो। अपने सभी कर्म उन्हें समर्पित कर दो।

किसी न किसी प्रकार से अपने सभी कर्मों को परमात्मा से संयुक्त करो। सब कुछ उन्हीं के लिए करो। जीवन के अपने करणीय सभी कर्तव्य करो, लेकिन केन्द्रीय विचार परमात्मा विषयक होना चाहिए। इस अभ्यास में लगे रहने पर तुम्हें महान् लाभ होगा। आध्यात्मिक

जीवन में कोई जादू या चमत्कार नहीं होते। यह बहुत स्पष्ट किन्तु कठिन है।

गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र का जप करते रहो। अकेले होने पर तुम उसे जोर से भी कर सकते हो। मानसिक जप तथा उसे सुनना सर्वश्रेष्ठ विधि है। उसके स्पन्दनों से अपने समग्र मन को पूर्ण कर लो। भगवन्नाम में महान् शक्ति है, लेकिन वह अव्यक्त है। निरन्तर अभ्यास इस शक्ति को अभिव्यक्त करेगा। सतत जप मन्त्र को मन की गहराई तक पहुँचा देगा, जहाँ वह बुरे विचारों को उठने से रोकेगा। निरन्तर जप की सम्यक् साधना का महान् प्रभाव तुम स्वयं करके देख सकते हो।

व्यर्थ असन्तोष पैदा मत करो। कुछ लोग तनाव पर पनपते प्रतीत होते हैं। जब उनके पास चिन्तित होने का कोई कारण नहीं होता, तो वे कोई नया कारण खोज निकालते हैं। तब वे उसका चिन्तन करते-करते उसे बढ़ाते जाते हैं। बंदर को खाज होती है, वह खुजलाता है, और एक छोटा सा घाव हो जाता है। वह खुजलाता रहता है और वह एक बड़ा व्रण हो जाता है। क्या हमारी अवस्था इसी तरह की नहीं है? हम अपनी समस्याओं की चिन्ता करते-करते उन्हें आवश्यकता से अधिक बड़ा बना देते हैं। इसके बदले परमात्मा का चिन्तन क्यों नहीं करते।

दु:ख और कष्ट से बचा नहीं जा सकता। सभी को इनका भोग करना होगा। यदि कुछ लोग सुखी हैं, तो इसका कारण यह है, कि उन्होंने दु:खों का अतिक्रमण करना सीख लिया है। कुछ लोग आत्महत्या करना चाहते हैं। क्या उससे उनकी समस्याएँ सुलझ जायेंगी? समस्याएँ दूसरे स्तर पर स्थानान्तरित हो जायेंगी, क्योंकि देह के नाश के बाद भी आत्मा बची रहती है। उसे समस्याओं का सामना फिर भी करना ही पड़ता है। जीवन का अस्वाभाविक तरीके से अन्त करने से बहुत सा अमूल्य समय नष्ट होता है तथा सीखने और स्वयं में सुधार करने का अमूल्य अवसर चला जाता है। अत: ऐसे मूर्खतापूर्ण विचारों को त्याग देना चाहिए।

कभी मन अच्छी स्थिति में होता है। यह सत्त्वगुण की वृद्धि के कारण होता है। लेकिन यह स्थायी नहीं होता। गुण निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं, यही प्रकृति का नियम है। अत: कभी मन में रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होती है। तब तुम चाञ्चल्य अथवा पूर्ण जड़ता का अनुभव करते हो। यह सब अपरिहार्य है। लेकिन भगन्नाम के जप तथा नैतिक जीवन-यापन से सत्त्वगुण के उदय को प्रोत्साहन मिलता है, और तब तुम शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव करते हो। अभ्यास द्वारा इस भाव को अधिक स्थायी और दीर्घकालिक बनाया जा सकता है।

आन्तरिक और बाह्य सामञ्ज़स्य स्थापित करो :

यदि आध्यात्मिक आदर्श बहुत दृढ़ न हो, तो मन अवलम्बनहीन हो सकता है। भगवन्नाम का जप करो और प्रभु का स्मरण करो। इससे नकारात्मक भाव दूर हो जाएगा।

हमारा विशिष्ट स्वभाव और रुचियाँ हैं। इसीलिए हम सभी के साथ आत्मीयता का बोध नहीं कर सकते। यह स्वाभाविक है। लेकिन आध्यात्मिक रूप से विकसित होते हुए इस स्वभाव के ऊपर उठना सम्भव है।

हमारी अपनी मानसिक अपवित्रताएँ, अपने और दूसरों के व्यक्तित्व के प्रति आसक्ति के कारण पैदा हुई इच्छाएँ और वासनाएँ, आदतें और संस्कार ही ध्यान में सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। इसका उपाय अपनी आध्यात्मिक-चेतना का जागरण करना तथा यह सोचना, कि हम आत्मा हैं, जो परमात्मा का ही एक रूप है।

सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को व्याप्त किए हुए है तथा उसमें ओतप्रोत है। वह बाहर और भीतर भी है। इसी तरह व्यष्टि चैतन्य, आत्मा, स्थूल और सूक्ष्म शरीर के बाहर और भीतर विद्यमान है। अनन्त चैतन्य सभी प्राणियों में व्याप्त तथा उनके अन्दर तथा बाहर ओतप्रोत है। (देह में स्थित) चक्र, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के तथा जीवात्मा तथा परमात्मा के मिलन-बिन्दु हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर, और बाद में आत्मा की ओर प्रगति करने पर चित्र कुछ इस प्रकार दिखाई देता है :

जीवात्मा अथवा कारण शरीर	—	अन्तरतम
सूक्ष्म शरीर	—	मध्यम
स्थूल शरीर	—	बाह्यतम

लेकिन वस्तुतः यह निम्न प्रकार है :

जीवात्मा अथवा कारण शरीर	—	बाह्यतम
सूक्ष्म शरीर	—	मध्यम
स्थूल शरीर	—	अन्तरतम

जीवात्मा, और उससे भी अधिक परमात्मा, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् है। अणोरणीयान् महतो महीयान्। अतः जो अणु (सूक्ष्म) है, वही महत् (व्यापक) भी है।

सच्चिदानन्द विग्रह पर ध्यान करो, उसके साथ एक हो जाओ और दैवी प्रेम और आनन्द को सभी में वितरित करो। इस प्रकार अपने जीवन को पूर्णतर, मधुरतर तथा स्वयं एवं दूसरों के लिए एक वरदान बनाना है। सर्वप्रथम नियमित साधना द्वारा अपने स्वयं के जीवन में कम से कम कुछ मात्रा में परिवर्तन लाओ, और उसकेबाद "कर्म और उपासना" के आदर्श को ग्रहण करो। लेकिन उतना ही कर्म स्वीकार करने की सावधानी बरतो, जितना तुम प्रसन्नतापूर्वक कर सको। अन्तर्यामी परमात्मा से प्रकाश और मार्गदर्शन की प्रार्थना करो।

मैं शान्तिलाभ का केवल एक उपाय जानता हूँ, और वह है साधना, प्रार्थना और ध्यान; मैं तुम सभी को इसी की सलाह दे सकता हूँ।

साधक जिस रिक्तता और चाञ्चल्य का अनुभव करता है, उसे परमात्मा के संस्पर्श द्वारा ही दूर किया जा सकता है, जो हमारी आत्मा की भी आत्मा तथा समस्त प्राणियों की परम आत्मा है। यह सम्पर्क, साधन-पथ का अनुसरण करने से – परमात्मा के प्रति प्रेमपूर्ण भक्ति

तथा समर्पण बुद्धि से कर्म करने से प्राप्त होता है।

यदि आध्यात्मिक जीवन भक्तों को सहानुभूति-सम्पन्न और दूसरों के प्रति दयालु न बनाए तो ऐसे जीवन से क्या लाभ? हम सभी को, भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गीता में कहे गए आदर्श भक्त के लक्षणों को, याद रखना चाहिए तथा उनके द्वारा दिखाये मार्ग का अनुसरण करना चाहिए :

जो समस्त प्राणियों के प्रति द्वेषरहित है, सभी का मित्र तथा सबके प्रति दयालु है; जो ममता और अहंकार रहित है; जो सुख और दु:ख में सम रहता है; जो क्षमाशील, सदा सन्तुष्ट है, जो योगाभ्यासी है, जिसने अपनी इन्द्रियों को संयत कर रखा है, जो दृढ़-निश्चय वाला है, जिसने मन और बुद्धि को मुझ में अर्पित कर रखा है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।[४]

अपने मस्तिष्क पर अत्यधिक बोझ न डालने की सावधानी बरतो, जिससे वह अपना सन्तुलन न खो बैठे। नियमित अभ्यास से ही एकाग्रता प्राप्त हो सकती है। और प्रारम्भ में सही मन:स्थिति हो या न हो, यह करते रहना चाहिए। मन की चञ्चलता की चिन्ता मत करो। जिस मात्रा में ध्यान के विषय में, अन्य सभी विषयों की तुलना में अधिक रुचि उपजेगी, उसी मात्रा में मन उसका चिन्तन करना चाहेगा। भगवन्नाम में ऐसी शक्ति है कि ध्यान सहित किये जाने पर वह देह और मन में समरसता पैदा करता है, बुद्धि को सही दिशा में परिचालित करता है और आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति अधिक रुचि पैदा करता है।

हमें यह याद रखना चाहिए कि आध्यात्मिक पथ के सच्चे पथिक कम अहं-केन्द्रित तथा अधिक नि:स्वार्थी, उदार और दूसरों के प्रति सहानुभूति सम्पन्न होते हैं। हमें दाता होना चाहिए, भिखारी नहीं। यह कार्य हम जितना अधिक करने में समर्थ होंगे, उतना ही अधिक हमें आनन्द, शान्ति और मुक्ति का अनुभव होगा।

यदि तुम परमात्मा को अपना सर्वस्व समझो, तो पर्याप्त है। मेरे लिए वह मेरी आत्मा की परम आत्मा तथा सभी कुछ वही है। मैं अपने व्यक्तित्व अथवा रूप से, अथवा मेरे इष्ट-देवता के रूप से भी आसक्त नहीं होना चाहता, लेकिन मैं यह अनुभव करने का प्रयत्न करता हूँ, कि मैं अपनी आत्मा की आत्मा सभी आत्माओं के परम आत्मा के साथ सदा संयुक्त एक आत्मा हूँ। अनन्त परमात्मा ही इष्टदेवता का रूप धारण करता है। उसके आनन्दमय रूप के ध्यान तथा जप से इसकी अनुभूति करो।

अपनी साधना के समय तथा काल के बारे में अत्यधिक नियमबद्ध होना आवश्यक नहीं है। तनाव रहित देह और मन के द्वारा, जितना कर सकें, उतना करें, लेकिन सदा सावधान रहें, कि हमारा निम्न मन हमें धोखा न दे पाए।

घण्टों लगातार ध्यान-जप करने के बदले बीच-बीच में स्वाध्याय और कुछ लाभदायक शारीरिक कर्म भी करना श्रेष्ठतर है।

---

४. भगवद्गीता १२.१३,१४

अनन्त की झलक पाने पर हम दैवी-महापुरुषों की महिमा को यत्किञ्चित समझ सकेंगे। सागर को जाने बिना लहर का क्या ज्ञान हो सकता है? अनन्त आकाश की धारणा के बिना सीमित आकाश का अथवा अनन्त ज्योति के ज्ञान के बिना ज्योति की एक किरण का ज्ञान कैसे हो सकता है?

ध्यान की विधि यह है : सोचो कि तुम्हारा हृदय तुम्हारी आत्मा के प्रकाश से पूर्ण है तथा तुम्हारे देह और मन को भीतर और बाहर से परिव्याप्त किये हुए है। अब सोचो कि वह ज्योतिर्मय अनन्त, परमात्मा का अंश है, जो सर्वत्र प्रकाशित है। अपने देह, मन और समग्र जगत् को उसमें विलीन करते हुए सोचो कि तुम अनन्त परमात्मा के अंशस्वरूप एक छोटे ज्योतिपुञ्ज हो।

हो सकता है कि यह निराकार ध्यान तुम्हें रुचिकर न लगे, और यदि रुचिकर लगे भी तो इसे अधिक समय तक करना कठिन है। अत: सोचो कि तुम्हारी आत्मा ने एक पवित्र सूक्ष्म शरीर और एक पवित्र स्थूल शरीर धारण किया है। और परमात्मा ने तुम्हारे इष्टदेवता का रूप ग्रहण किया है। अपने इष्ट मन्त्र का जप करो और उनके ज्योतिर्मय रूप का ध्यान करो। सोचो, कि जिसने तुम्हारे इष्टदेवता का रूप धारण किया है, वे सर्वत्र प्रकाशित अनन्त परमात्मा ही हैं।

अध्याय २२

आध्यात्मिक जीवन में प्रार्थना का स्थान

प्रार्थना - सांसारिक और आध्यात्मिक :

एक पादरी ने एक छोटे लड़के से पूछा, "क्या तुम प्रतिदिन प्रार्थना करते हो?" लड़के ने उत्तर दिया, "नहीं श्रीमान्, कुछ दिन मैं कुछ नहीं चाहता।" बालक के लिए प्रार्थना का अर्थ भगवान् से विभिन्न सांसारिक वस्तुएँ माँगना है। जिस तरह वह अपने माता पिता से विभिन्न वस्तुएँ माँगता है, उसी तरह वह भगवान् से भी माँगता है। बालकवत् प्रार्थना करने की धारणा प्राय: लोगों में प्रौढ़ावस्था तक बनी रहती है। लोग भगवान् को एक महान् वरदाता समझते हैं। वे उससे बहुत-सी वस्तुएँ माँगते रहते हैं, और यदि उनकी ये प्रार्थनाएँ 'पूर्ण' नहीं होतीं, तो वे भगवान् के अस्तित्व में ही संदेह करने लगते हैं। आजकल यह भयानक-युद्ध* हो रहा है। जर्मनी, इटली, इंग्लेण्ड, अमेरिका – इन युद्धरत देशों में लोग अपने राष्ट्र की विजय के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। यहाँ तक कि ईसाई धर्म-समुदाय भी विभक्त हो गया है तथा पादरी और धर्माचार्य-गण भगवान् से अपने-अपने राष्ट्र का पक्ष लेने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। इन लोगों ने भगवान् को क्या समझ रखा है? आसमान में बैठा पृथिवी के लोगों के प्रति पक्षपाती अत्याचारी शासक, जो लोगों की लोभ और घृणा की मनोवृत्तियों के साथ खेल रहा है?

सिकन्दरिया के प्रथम ईसवी के यहूदी दार्शनिक फिलजुडास के मतानुसार भगवान् परम पवित्र और समस्त मंगल का मूल है तथा जड़ पदार्थ अशुभ का कारण है। ईश्वर तथा पूर्ण शुभ को पुन: प्राप्त करना मानव का लक्ष्य है। यह मत ईसाई धर्मशास्त्र में प्रमुख स्थान रखता है। अशुभ की शक्तियों का शैतान के रूप में मूर्तिकरण किया गया है। मूर्तिकृत शुभ और अशुभ का यह द्वैतात्मक सिद्धान्त पारसी-धर्म से आया है। ईसाई मतानुसार ईसा मसीह ने अशुभ पर विजय प्राप्त की है।

हिन्दू धर्म के अनुसार ईश्वर शुभ और अशुभ दोनों से परे हैं जो माया के राज्य में हैं। ईश्वर पूर्ण चैतन्य तथा आनन्द स्वरूप है। वह अनन्त सत्स्वरूप है। सृष्टि और संहार, शुभ और अशुभ, माया-शक्ति-संज्ञक एक ही शक्ति के दो रूप है। इन शक्तियों की गतिविधि

---

* द्वितीय विश्व महायुद्ध – यह प्रवचन १९४४ में फिलाडेल्फिया में दिया गया था

मानव की सहजात प्रवृत्तियों से सम्बन्धित रहती है। मानव की विद्या एवं अविद्या नामक दो प्रवृत्तियाँ हैं। विद्या पवित्रता, अनासक्ति, भगवद्भक्ति और ज्ञान रूप में अभिव्यक्त होती है। अविद्या की अभिव्यक्ति मोह, निष्ठुरता, स्वार्थपरता, कामुकता आदि के रूप में होती है। ये प्रवृत्तियाँ मानव की आत्मा से जुड़ी रहतीं है, और उसके जन्म-जन्मांतर के संचित कर्मों के फलस्वरूप होती हैं। यहीं मानव के दायित्व का प्रश्न उठता है। वह धर्म-संज्ञक विद्या-पथ का चयन कर परमात्मा के निकट से निटकतर पहुँचकर अन्त में भगवत्कृपा से शुभाशुभ दोनों का अतिक्रमण कर सकता है। अथवा अविद्या या अधर्म का मार्ग चुनकर भगवान् से दूर हटकर दु:ख के बोझ को अधिकाधिक बढ़ा सकता है। शुभाशुभ से परे होते हुए भी भगवान् मानव जाति के कल्याण के लिए मानव के रूप में अवतरित होता है। अवतार मानव जाति को अपने आधार, निजधाम अनन्त परमात्मा तक वापस जाने की एक नई साधना-पद्धति प्रदर्शित करता है।

भगवान् सभी प्राणियों का अन्तर्यामी साक्षी है। आत्मा की परम-आत्मा का अनुसन्धान ही आध्यात्मिक जीवन कहलाता है। प्रार्थना इस अनुसन्धान का एक उपाय है। प्रार्थना हमें भगवान के निकट ले जाती है। वह हमारी अन्तर्निहित आध्यात्मिक-शक्ति को जाग्रत करती है। परमात्मा हमारी प्रार्थना सुनते हैं, लेकिन जैसा श्रीरामकृष्ण बार-बार कहते हैं, प्रार्थना आन्तरिक होनी चाहिए। प्रार्थना में हृदय और बुद्धि एक होने चाहियें। भगवान् हमारी प्रार्थना को इस तरह जिस तरह से पूर्ण करते हैं, वह हमारे लिए कल्याणकारी हो। कई बार लोग यह नहीं जानते कि उनके लिए क्या श्रेयस्कर है। अत: यह अच्छा ही है कि उनकी बहुत-सी स्वार्थपरक सांसारिक प्रार्थनाओं का कोई उत्तर ही नहीं मिलता। यदि भगवान् सभी लोगों की सभी प्रार्थनाएँ पूर्ण कर दें, तो दुनिया अस्तव्यस्त हो जाएगी और प्रत्येक जीवित व्यक्ति पागल हो जाएगा। एक बालिका ने अपनी नियमित रात्रि-प्रार्थना के बाद भगवान् से कहा, फूलों को शीतकाल में ताजगी प्रदान करने के लिए सुन्दर हिमपात भी करो। उसके बाद उसने अपने मन की बात अपनी माँ से कही, "इस बार मैंने भगवान् को मूर्ख बनाया है; मैं तो वस्तुत: फिसलने के खेल के लिए हिम चाहती हूँ।" इस तरह की प्रार्थनाओं द्वारा भगवान् को मूर्ख नहीं बनाया जा सकता।

प्रार्थना के साथ श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। भगवान सभी अवस्थाओं में हमारे एकमात्र शरण हैं, ऐसी आस्था होने पर ही प्रार्थना प्रभावशाली होती है। दो व्यक्ति एक खुली नौका पर सागर में भटक रहे थे। उनमें से एक ने, जो बड़ा पियक्कड़ था, भगवान से प्रार्थना की, "हे प्रभु, मेरी रक्षा कर दो, मैं अब कभी शराब नहीं पिऊँगा।" उसके साथी ने सलाह देते हुए कहा, "जरा ठहरो, ऐसी प्रतिज्ञा न करो, मुझे एक जहाज आता दिखाई दे रहा है।" प्रार्थना करते समय लोग इस तरह सोचते हैं।

लोग भय, चिन्ता अथवा आशंका के कारण प्रार्थना करते हैं। आदि-मानव प्रकृति की विभिन्न शक्तियों से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करता था। जूलू आदिवासी उपासक भगवान

को डर दिखाता हुआ कहता है, "मेरी बात सुनो, नहीं तो मैं तुम्हें बिच्छूबूटी खिलाऊँगा।" आध्यात्मिक भावापन्न व्यक्ति हृदय के अंतस्थल से प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना उसकी आत्मा की मुमुक्षा की द्योतक होती है। सच्चा भक्त प्रार्थना करते समय भगवदिच्छा के प्रति अपने को समर्पित कर देता है। उसकी प्रार्थना सत्यालोक के लिए होती है। लाखों हिन्दुओं द्वारा प्रतिदिन की जाने वाली 'गायत्री' नामक प्रसिद्ध पुरातन हिन्दू प्रार्थना एक अत्यन्त उदात्त प्रार्थना है। "तीनों लोकों को आलोकित करने वाली परमात्मा की उत्कृष्ट महिमा का हम ध्यान करते हैं। वह हममें आध्यात्मिक प्रज्ञा जाग्रत करे।"[१] ध्यान सर्वश्रेष्ठ (उत्कृष्टम) प्रार्थना है, जिसमें मन निरवच्छिन्न रूप से गहरी निस्तब्धता में परमात्मा की ओर प्रवाहित होता है।

स्वामी विवेकानन्द जब किशोरावस्था में थे, तब उनके पिता का अचानक देहान्त हो गया। उनकी माता, अनेक बच्चों और परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण का भार उनपर आ पड़ा। परिवार के भरण-पोषण के सम्मानजनक उपाय को पाने के उनके सभी प्रयास विफल हुए। अन्ततः विपदग्रस्त् हो, वे अपने प्रिय गुरु श्रीरामकृष्ण के पास पहुँचे और अपने लिए जगन्माता से प्रार्थना करने का अनुरोध किया। लेकिन त्यागमूर्ति श्रीरामकृष्ण ने युवक से कहा, "स्वयं मंदिर में जाकर माँ से प्रार्थना करो। वे तुम्हारी बात अवश्य सुनेंगी।" माँ जगदम्बा के समक्ष उपस्थित होने पर युवक विवेकानन्द को माँ के दैवी-स्वरूप का तथा उनकी चैतन्य-सत्ता का अनुभव हुआ। वे अपने पारिवारिक तथा सांसारिक मामलों को पूरी तरह भूल गए और माँ जगदम्बा से पुनः-पुनः भक्ति और ज्ञान के लिए प्रार्थना करने लगे। श्रीरामकृष्ण के पास लौटने पर ही उन्हें अपनी 'गलती' का पता चला। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें पुनः माँ जगदम्बा के पास भेजा। लेकिन स्वामी विवेकानन्द पुनः ज्ञान और भक्ति के लिए ही प्रार्थना कर सके। ऐसा कई बार हुआ। अन्त में श्रीरामकृष्ण को उनपर दया आई और उन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया कि उनके परिवार के सदस्यों को जीवन की अल्पतम आवश्यकताओं का अभाव नहीं होगा।[२]

यह घटना हम सभी के लिए शिक्षाप्रद है। हमें केवल भक्ति, शक्ति और शुद्धि के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। यह है, आध्यात्मिक प्रार्थना। इसके अनेक रूप हो सकते हैं। लेकिन इन सभी का उद्देश्य जीव को परमात्मा के निकट ले जाना है। आध्यात्मिक-प्रार्थना वास्तविक ध्यान की प्रथम सीढ़ी है।

हिन्दू धर्म में आध्यात्मिक प्रार्थनाएँ :

सभी धर्मों और सभी कालों में भक्तों और साधकों ने, अपनी आन्तरिक अभिलाषाओं और श्रेष्ठ भावनाओं को, स्तवों, स्तोत्रों एवं प्रार्थनाओं के माध्यम से स्वाभाविक अभिव्यक्ति

---

१. तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
   धियो यो नः प्रचोदयात्।। - ऋग्वेद, ३.६२.१०
२. देखें - श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग

प्रदान की है। कभी-कभी वे प्रेमपूर्ण हृदय से चिन्ता और आकांक्षारहित हो उच्चभावावस्था में विचरण करते हुए प्रार्थना और भजन करते हैं। लेकिन अधिकांश क्षेत्र में अपनी ससीमता और अपूर्णता का बोध, अथवा दु:ख और असहायता का बोध, श्रान्त और संघर्षरत जीवों को, सान्त्वना और सहायता के लिए, सर्वशक्तिमान् और नित्यपूर्ण परमात्मा से प्रार्थना करने को बाध्य करता है। जैसा श्रीकृष्ण श्रीमद्‌भगवद्गीता में कहते हैं, आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी-ये चार प्रकार के लोग भगवान् का भजन करते हैं।[३]

अध्यात्म-प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए भक्ति और प्रेम के अतिरेक के कारण भगवान् का भजन, ध्यान और गुणगान करना स्वाभाविक है। लेकिन दूसरों की बात अलग है। सांसारिक समस्याओं के थपेड़ों अथवा पाप-बोध के कारण तथा मानव-सहायता की व्यर्थता को जानकर आर्त व्यक्ति सुरक्षा और आश्रय के लिए भगवान् को पुकारता है। सुखान्वेषी व्यक्ति (अर्थार्थी) समस्त मानवी-प्रयासों को निष्फल जानकर अपनी असमर्थता के कारण अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवान् की ओर देखता है। जिज्ञासु सांसारिक समस्याओं अथवा अलौकिक वासनाओं द्वारा उद्विग्न नहीं होता, लेकिन वह हृदय के अन्तस्थल में एक आन्तरिक पिपासा, ससीमता की एक पीड़ा, एक रिक्तता का, अनुभव करता है, जिसे संसार की कोई भी वस्तु दूर नहीं कर सकती। उसकी आत्मा एक उच्चतर जीवन के लिए व्याकुल होती है, और अपने अनुसन्धान के दौरान वह शान्ति और आनन्द के उत्स – परमात्मा के निकट पहुँचता है। नितान्त असहाय होकर ये सभी प्रकार के भक्त भगवत्कृपा और सहायता की याचना करते हैं। अत: भगवान् की उनको स्वाभाविक रूप से आवश्यकता है। और यह आवश्यकता इतनी अधिक होती है, कि अनीश्वरवादी भी असमर्थता और निराशा के क्षणों में सर्वशक्तिमान् परमात्मा को सान्त्वना और आश्रय के लिए पुकारते हुए देखे जाते हैं : "हे भगवान्! यदि तुम हो, तो मेरी आत्मा की, यदि मेरी आत्मा हो, तो उसकी रक्षा करो।" तथाकथित अनीश्वरवादी की आपातत: हास्यास्पद प्रतीत होने वाली इस प्रार्थना में एक महान् सत्य निहित है, जो धर्म-मनोविज्ञान के सहृदय, उदार-हृदय अध्येता को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। एक अनीश्वरवादी भी कभी-कभी जीवन की क्षणभंगुरता का अनुभव किए बिना नहीं रह सकता। एक आध्यात्मिक साधक को इसका बहुत कटु अनुभव होता है और वह हृदय से भगवान् की सहायता के लिए पुकार उठता है :

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गता: पुनर्न दिवसा: कालो जगद्भक्षक:।
लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितं
तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना।।[४]

अर्थात्, हे भगवन्! प्रतिदिन आयु नष्ट होती दिखाई देती है। यौवन क्षय होता है। बीते

---

३. भगवद्गीता ७.१६ ४. श्री शंकराचार्यकृत शिवापराधक्षमापना स्तोत्र - १३

दिन वापस नहीं आते। काल जगत् का भक्षक है। लक्ष्मी जल की तरंग के समान क्षणस्थायी है, और जीवन भी विद्युत की चमक के समान क्षणिक है। अत: हे शरणदाता! मुझ शरणागत की अभी रक्षा कीजिए।

उन्नत सत्यान्वेषी साधक सर्वव्यापी और सर्वातीत परमात्मा की अपने अनुभव के आधार पर प्रार्थना कर सकते हैं। उनके अनुसार परमात्मा पवित्र और मंगलमय हैं। लेकिन अनुन्नत उपासक भगवान् की वस्तुत: कोई उच्च धारणा का आत्मसात् नहीं कर पाता। भले ही वह सर्वव्यापी परमात्मा में विश्वास करने का दावा करता हो, लेकिन वह उसकी मानवरूपधारी तथा मानव-भावनाओंयुक्त सर्वशक्तिमान व्यक्ति के रूप में ही कल्पना करता है। और वह अपने भगवान् को भक्तवत्सल समझते हुए भी उसे भक्त-विद्वेषियों का दण्डदाता तथा नास्तिकों को अनन्त नरक में भेजने वाला भयानक और ईर्ष्यालु भी मानता है। और कभी-कभी श्रद्धालु उपासक प्रेममय भगवान् को घृणायुक्त स्तोत्र भी सुना बैठता है। यही नहीं वह दूसरों में सच्चे अथवा कल्पित दोष देखता है, लेकिन स्वयं में विद्यमान उनसे कहीं अधिक दोषों से अनभिज्ञ बना रहता है। यह बात संसार में सर्वत्र लगभग सभी धर्मों और सम्प्रदायों में पाई जाती है। लेकिन अपनी प्रारम्भिक धारणाओं के ऊपर उठने पर साधक भगवान् की श्रेष्ठतर धारणा हृदयंगम करने लगता है, जो सर्वव्यापी ही नहीं बल्कि समग्र पवित्रता और सद्गुणों का उत्स भी है।

यही नहीं, साधक आत्मनिरीक्षण की क्षमता भी अधिकाधिक अर्जित करता है, और वस्तुत: यही आध्यात्मिक प्रगति का मुख्य मापदण्ड है। अन्तर्दृष्टि उदित होने पर वह अपने शरीर और मन को दूषित करने वाली बुराइयों और अपवित्रताओं को आसानी से पहचान पाता है। वह अपने पापबोध और अपूर्णता से व्यथित हो उठता है, और उन्हें उस पतितपावन भगवान् की कृपा और संस्पर्श द्वारा दूर करना चाहता है, जिसे औपनिषदिक ऋषियों ने सर्वव्यापी, स्वयंज्योति, निराकार, शुद्ध और अपापविद्ध कहा है।[५] जो 'विपाप' है, "जो पवित्र हृदय में निवास करता है"[६] तथा "जो ऐसे किसी भी व्यक्ति से जाना नहीं जा सकता, जो दुराचरण से विरत नहीं हुआ है, तथा जिसने अपने मन और इन्द्रियों को नियन्त्रित नहीं किया है"।[७]

त्राणकर्ता और शुद्धिकर्ता ईश्वर :

नित्यशुद्ध और शुद्धिकर्ता परमात्मा की धारणा ऋग्वेद संहिता तक में पाई जाती है, जहाँ ऋषि लिए क्षमायाचना तथा पाप और बुराईयों के बन्धनों से अपनी रक्षा के लिए विश्व

---

५. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। – ईशावास्योपनिषद्, ८

६. दहं विपापं परमेश्मभूतं यत् पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्। – महानारायणोनिषद, १२.१६

७. ना विरतो दुश्चरितन्नशान्तो ना समाहित:।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। – कठोपनिषद्, १.११.२४

के महान् धर्माध्यक्ष वरुण के पाप की प्रार्थना करते हैं।[८] यह विचार वैदिक तथा हिन्दू धार्मिक साहित्य भण्डार में पुनः पुनः पाया जाता है। उपनिषद् में ऋषि प्रार्थना करते हैं :

चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूताः अतिपाप्मानमरातिं तरेम।।[९]

अर्थात्, *पवित्र, सर्वव्यापी, पुराण, ज्योतिर्मय, परमात्मा के द्वारा शुद्ध हो मनुष्य पापों से तर जाता है। हम भी उन नित्यमुक्त, नित्यशुद्ध, शुद्धिकर्ता परमात्मा के द्वारा पूत हो पापरूपी महाशत्रुओं का अतिक्रमण करें।*

चूँकि पवित्रता; भगवत्कृपा, ज्ञान और मुक्ति के लिए अनिवार्य है, अतः भक्त प्रार्थना करता है:

यन्मे मनसा वाचा कर्मणा वा दुष्कृतं कृतम्।
तन्न इन्द्रो वरुणो बृहस्पतिः सविता च पुनन्तु पुनः पुनः।।[१०]

अर्थात् *"इन्द्र, वरुण, बृहस्पति, सवितृ रूपी परमात्मा मेरे द्वारा मन, वचन और कर्म से किये गये पापों को क्षमा कर मुझे पुनः पुनः शुद्ध करें।"*

वस्तुतः उपनिषदों में यह प्रार्थना बार-बार पाई जाती है:

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।[११]

अर्थात्, *देवताओं के प्रभवस्थान और आश्रय, विश्वाधिप अशुभ के लिए रुद्रस्वरूप, महर्षि, जिसने पूर्व में हिरण्यगर्भ को पैदा किया, वह परमात्मा हमें शुद्ध बुद्धि प्रदान करें।*

अशुभ और अपवित्रता सच्चे साधक को अत्यधिक कष्ट प्रदान करते हैं, क्योंकि वे परमात्मा के साथ उसके मिलन में बाधक होते हैं। अतः वह इस विपत्ति में पुनः-पुनः त्राणकर्ता और शुद्धिकर्ता भगवान् को पुकारता है। और भगवान् भी अनन्त कृपापूर्वक उसे आश्वासन प्रदान करते हुए कहते हैं :

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।[१२]

अर्थात्, *यदि तुम समस्त पापियों में भी सबसे अधिक पापी हो, तो भी ज्ञान-नौका द्वारा सभी पापों को पार कर जाओगे।*

और प्रेममय भगवान् भक्त को सांत्वना प्रदान करते हुए स्वयं को उनके प्रति समर्पित

---

८. वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते'वरुण खामृतस्य।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः।। – ऋग्वेद २.२.५ अर्थात् "हे वरुण, पाप रूपी रज्जु को मुझसे दूर करो; हम तुम से जल की धारा प्राप्त करें। मेरे सत्कर्म की बुनाई का तन्तु न काटो। यज्ञांगों को फलोत्पत्ति के पूर्व नष्ट न करो।"

९. महानारायण उपनिषद् १.११ १०. वही १.१२ ११. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३.४
१२. भगवद्गीता ४.३६

होने के लिए कहते हैं:

सर्वधर्मान्परित्यज्य परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:।।[१३]

अर्थात्, *समस्त औपचारिक धर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। शोक न करो।*

वस्तुत: ईश्वर विषयक हिन्दू-धारणा में पवित्रता और पुण्यता के साथ कृपा और करुणा, दया ऐसा अविभाज्य सम्बन्ध है, कि उसे एक स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। और भक्त हृदय से प्रार्थना कर उठता है :

सर्वमेतत् क्षमस्व जय जय करुणाब्धे ...।[१४]

अर्थात्, *हे करुणासिंधु, तुम्हारी जय हो, जय हो, मेरे समस्त पापों को क्षमा करो।*
अपराधसहस्र सङ्कुले पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु।।[१५]

अर्थात्, *सहस्रों अपराधकृत मैं संसार रूपी भयंकर सागर में पतित हूँ। आपके शरणागत मुझ गतिहीन को कृपया स्वीकार कर अपना बना लीजिए।*

भक्त के भगवत्प्रेम की गहराई :

पापबोध तथा भगवान् की क्षमाशीलता में विश्वास, मानव की आध्यात्मिक प्रगति के लिए विकास के एक स्तर-विशेष पर निश्चय ही आवश्यक है। लेकिन हिन्दू-धर्म के उच्च दार्शनिक स्तर पर ये बातें अधिक महत्त्व नहीं रखती; क्यों कि सभी हिन्दु सम्प्रदाय और मतवाद मानव के आत्मस्वरूप की अंतर्निहित दिव्यता, पवित्रता, तथा सर्व-बंधन मुक्तता में विश्वास करते हैं। हिन्दू भक्त का हृदय भगवत्प्रेम, ईश्वर-मिलन तथा आत्मा की मुक्ति के लिए अन्य सभी बातों की अपेक्षा, कहीं अधिक उत्सुक रहता है। वह सगुण-निर्गुण परमात्मा के सगुण रूप को अधिक महत्व देता है।

वह भगवान् के जीवन्त संस्पर्श में आना चाहता है, उनके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास में वह अनेक प्रकार के भावों और दृष्टिकोणों का सहारा लेता है, जिनकी गहाराई का अंकन बाहर से देखने से नहीं किया जा सकता। उसके अनुसार भगवान् सर्वव्यापी, जगदाधार, जगत् स्रष्टा मात्र नहीं हैं, बल्कि प्रेममय भी हैं, जो भक्त के साथ पिता, माता, स्वामी, सखा और सन्तान के रूप में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर दिव्य-लीला करते हैं। वह प्रियतम के साथ मिलन के लिए अपने अन्तस्थल से लालायित हो रही मानवात्मा के चिरंतन प्रियतम के रूप में भी लीला करता

---

१३. भगवद्गीता १८.६६
१४. श्रीशंकराचार्यकृत शिवापराधक्षमापना स्तोत्र १८.६६
१५. स्वामी यतीश्वरानन्द संग्रहित यूनिवर्सल प्रेयर्स श्लोक सं. २५२

है। यह उत्कंठा, यह तीव्र लालसा भक्ति कहलाती है, जिसे नारद ने 'अनिर्वचनीय'[१६] कहा है तथा समस्त कर्मों का भगवत्समर्पण और भगवान् के विस्मरण में परम व्याकुलता जिसके लक्षण हैं।[१७]

सामान्यतः भक्त भगवान् की माता, पिता या स्वामी के रूप में उपासना करते हैं। चिरन्तन प्रियतम का भाव उन लोगों के लिए सम्भव नहीं होता। लेकिन फिर भी कुछ ऐसे भाग्यवान् लोग होते हैं, जो भगवान् के प्रति ऐसा सर्वग्राही प्रेम करने में समर्थ होते हैं, जो अपने विस्तार में अन्य सभी भावों का समावेश कर लेता है, तथा जिसमें उन्हें उच्चतम पूर्णता और उच्चतम अनुभूति होती है। यामुनाचार्य के हृदय से उठ रही यह प्रार्थना अत्यंत मर्म स्पर्शी है

न मृषा परमार्थमेव मे श्रृणु विज्ञापनमेकमग्रतः।
यदि मे न दयिष्यसे ततो दयनीयस्तवनाथ दुर्लभः।।[१८]

अर्थात्, *हे नाथ! सर्वप्रथम मेरी प्रार्थना सुनो। मैं सत्य कहता हूँ, असत्य नहीं। यदि आप मुझपर दया न करें, तो आपको मुझसे अधिक दयनीय और कोई नहीं मिलेगा।*

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरसि गतिश्चासि जगताम्।
त्वदीयस्त्वद् भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहं
प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः।।[१९]

अर्थात्, *तुम पिता हो, माता हो, पति और पुत्र भी तुम हो। तुम प्रिय सुहृद हो, मित्र हो, गुरु हो और जगत की गति भी तुम हो। मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारा सेवक और परिजन हूँ। तुम ही मेरी गति हो, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ और हे प्रभु, मेरा भार तुम पर ही है।*

चैतन्य महाप्रभु अतुलनीय आवेगपूर्ण प्रेम से प्रेमास्पद भगवान् से प्रार्थना करते हैं :

न धनं न जनं न सुंदरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।।[२०]

अर्थात्, *हे जगदीश! मैं धन, जन, सुन्दरी स्त्री अथवा कवित्व कुछ नहीं चाहता हूँ। मैं केवल यही चाहता हूँ, कि जन्म-जन्म में मेरी आपके प्रति पूर्ण अहैतुकी भक्ति हो।*

हिन्दू आध्यात्मिक अनुभूतियों की व्यापकता :

आल्हादकर भगवत्प्रेम की गहरी भावावस्थाएँ आत्म-विमोहक हैं, आत्मा को विभोर कर देती हैं लेकिन हिन्दू भक्त की आध्यात्मिक अनुभूतियों का यहीं अन्त नहीं हो जाता। ऐसे असाधारण आध्यात्मिक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति भी होते हैं, जो निराकार और साकार दोनों की

---

१६. अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्। - नारद भक्तिसूत्र ४.५१
१७. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। - नारद भक्तिसूत्र १.१९
१८. स्तोत्ररत्न ५० १९. स्तोत्ररत्न ६० २०. शिक्षाष्टकम् ४

अनुभूतियाँ प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी आध्यात्मिक चेतना सीमित और संकुचित नहीं रह पाती। वे सभी भावों को स्वीकार करते हैं और भगवान् के सभी रूपों का साक्षात्कार करते हैं। वे प्रियतम परमात्मा का सभी रूपों में आस्वादन करते हैं। लेकिन कभी-कभी अनन्त की एक ज्वलन्त पिपासा उनकी आत्मा पर छा जाती है। वे निराकार की गहराई में डूबकर अपने को सच्चिदानन्द में विलीन कर देते हैं। और पुनः जागतिक स्तर पर लौटने पर वे सभी वस्तुओं में परमात्म ज्योति का प्रतिबिम्ब दर्शन करते हैं, जिसके बारे में उपनिषद् में कहा गया है :

न तत्र सूयों भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।[२१]

अर्थात्, *वहाँ न सूर्य चमकता है, न चन्द्र-नक्षत्रगण। न विद्युत, फिर अग्नि का क्या कहना। उसके प्रकाश को प्रतिबिम्बित करते हुए सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। सारा विश्व उसके प्रकाश से प्रकाशित होता है।*

सर्वान्तर्यामी में सर्वातीत का, सभी रूपों में एक नित्यसत्ता का, अनेकों में एक का साक्षात्कार कर वे महापुरुष सभी से प्रेम, सभी की पूजा तथा सभी का आनन्द लेते हैं। वे असीम और ससीम दोनों के साथ परिचित होते हैं। शंकराचार्य के स्तवों और स्तुतियों में हमें इस सर्वव्यापी आध्यात्मिक दृष्टिकोण की झलक मिलती है। ये महान् अद्वैतवादी अपनी आत्मा की तरह सभी वस्तुओं के पीछे एक परमात्म सत्ता का दर्शन करते हैं। वे उसका ध्यान करते हुए अनुभव करते हैं, कि वे ब्रह्म के साथ अभिन्न हैं :

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्वं सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम्।
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः।।[२२]

अर्थात्, *मैं प्रातःकाल अपने हृदय में ज्योतिर्मय आत्मतत्त्व का स्मरण करता हूँ, जो सच्चित्-सुख-स्वरूप है, परमहंस संन्यासियों की परमगति है और तुरीय है; जो स्वप्न जाग्रत और सुषुप्ति अवस्थाओं से परे और नित्य है। मैं वही निष्कल ब्रह्म हूँ, भूतों का समूह नहीं।*

एक यथार्थ मन्त्रद्रष्टा ऋषि शंकर सभी ईश्वरीय भावों में एक ही परमात्म सत्ता को पहचानते हैं। वे गुरु को प्रणाम करते हैं, और उनमें भी उसी नित्य अनन्त सत्ता का दर्शन करते हैं :

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।[२३]

---

२१. मुण्डकोपनिषद् २.२.१०   २२. श्रीशंकराचार्यकृत प्रातःस्मरण स्तोत्र - १
२३. श्रीशंकराचार्यकृत दक्षिणामूर्ति स्तोत्र - १

अर्थात्, *जो माया द्वारा निद्रा में विश्व को दर्पण में प्रतिबिंबित नगरी की तरह अपने भीतर होते हुए भी बाहर देखता है तथा जो प्रबोध के समय अपने अद्वय-स्वरूप का साक्षात्कार करता है, उस मंगलमय गुरुरूप में प्रकट दक्षिणामूर्ति को मैं प्रणाम् करता हूँ।*

शंकराचार्य की मान्यता है, कि शिव, विष्णु तथा अन्यान्य देवी-देवता उस अनन्त को ही व्यक्त करते हैं, जो ससीम को सत्ता प्रदान करता है। शिव की स्तुति करते हुए वे कहते हैं :

परात्मानमेकं जगद्बीजमाद्यं। निरीहं निराकारमोङ्काकारवेद्यम्।।
यतो जायते पाल्यते येन विश्वं। तमीशं भजे लीयते यत्र विश्वम्।।[२४]

अर्थात् *मैं उस एक, अद्वय, जगत् के आदिकारण, निरीह, निराकार, ओंकारवेद्य परमात्मा को प्रणाम् करता हूँ, जो जगत् की सृष्टि, पालन और विनाश करने वाले ईश्वर हैं।*

विष्णु के प्रति प्रगाढ़ भक्ति के साथ वे प्रार्थना करते हैं :

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः।।[२५]

अर्थात्, *हे सर्वव्यापी प्रभु! मेरे अविनय को दूर करो, और मेरे मन को शान्त करो। विषयमृगतृष्णा को नष्ट करो। समस्त प्राणियों के प्रति दया का मेरे हृदय में विस्तार करो और मुझे संसार सागर से पार करो।*

वे आगे कहते हैं :

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।।[२६]

अर्थात्, *तरंगे सागर में विलीन होती हैं, सागर तरंगों में नहीं। इसी तरह हे नाथ! समस्त भेदों के समाप्त हो जाने पर मैं तुम में लीन होता हूँ, तुम मुझमें नहीं।*

इस महान् अद्वैत वेदान्ती का हृदय माँ जगदम्बा की प्रेमपूर्ण पुकार के प्रति सबसे अधिक आकृष्ट होता है और वे स्वयं को एक सामान्य भक्त मानकर अत्यन्त मार्मिक प्रार्थना करते हैं :

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।।[२७]

अर्थात्, *हे जननि! पृथिवी में तुम्हारे अनेक योग्य पुत्र हैं, उनमें मैं एक अयोग्यतम् पुत्र हूँ। फिर भी हे शिवे! मेरा त्याग करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि कुपुत्र जन्म ले सकता है, लेकिन कुमाता कभी नहीं होती।*

---

२४. श्रीशंकरकृत वेदसार-शिव स्तोत्र - ५ २५. विष्णुषट्पदी - १ २६. वही ३
२७. देव्यपराधक्षमापन-स्तोत्र - ३

और उनके लिए जगन्माता ही एकमात्र गति हैं :

न जानामि दानं न च ध्यानयोगं। न जानामि तन्त्रं न च स्तोत्रमंत्रम्।।
न जानामि पूजां न च न्यासयोगं। गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि।।[२८]

अर्थात्, *हे माता! मैंने न दान किया है, न ध्यान और योग; न मैं तन्त्र जानता हूँ न स्तोत्र मंत्र जप करना। न मैंने पूजा की है और न ही न्यासादि द्वारा अंगशुद्धि। अत: हे जगदम्बे! तुम ही मेरी एकमात्र गति हो, एकमात्र गति हो।*

लेकिन उनकी दृष्टि में कोमलतम भावनाओं की अद्भुत-लीला के बावजूद भी माँ जगदम्बा ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं; और उनका मानवी रूप उसका एक प्रतिबिम्ब-मात्र है। उसी जगदम्बा ने लीला के लिए एक अद्वितीय चैतन्य सत्ता को ईश्वर और जीवों में विभक्त कर दिया है। और उन्हीं की सत्ता में शंकराचार्य स्वयं को विलीन करना चाहते हैं :

कदा वा हृषीकाणि साम्यां भजेयु: कदा वा न शत्रुर्न मित्रं भवानि।
कदा वा दुराशाविषूचीविलोप: कदा वा मनो मे समूलं विनश्येत्।।[२९]

अर्थात्, *हे जगदम्बे! कब मेरी इन्द्रियाँ संयत होंगी; कब मेरे शत्रु अथवा मित्र नहीं रहेंगें; कब दुराशा-रोग का विलोप होगा; कब मेरा मन समूल नष्ट होगा?*

वस्तुत: हिन्दू स्तोत्रों और स्तुतियों का बुद्धि एवं प्रज्ञा सहित अध्ययन करने पर हम वैदिक ऋषि के साथ सहमत होने को बाध्य होते हैं : एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति – अर्थात् सत्य एक है, विप्रगण उसे भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त करते हैं।[३०] यही भाव शिवमहिम्न स्तोत्र के प्रसिद्ध श्लोक में इतनी स्पष्टता और सरलता के साथ व्यक्त किया गया है :

त्रयी सांख्यं योग: पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद: पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।[३१]

अर्थात्, *वेद, सांख्य, योग, शैव और वैष्णव शास्त्रों में विभिन्न पथों का निर्देश है, जिनमें से लोग इसका या उसका चयन करते हैं। भक्त अपनी रुचि की भिन्नता के कारण इन सीधे या टेढ़े-मेढ़े पथों का अनुसरण करते हैं। लेकिन हे प्रभु! सभी नदियों के एकमात्र गन्तव्य सागर की तरह तुम ही सभी मनुष्यों के एकमात्र गन्तव्य हो।*

तात्पर्य यह है कि सभी साधकों के लिए किसी न किसी रूप में प्रार्थना आवश्यक है। यह जीव की ईश्वर मिलन की लालसा का द्योतक है। साकार ईश्वर के प्रति जितना प्रेम और उसे पाने की जितनी लालसा होती है, उतनी ही निराकार, अनन्त परमात्मा के प्रति भी हो सकती है। यह केवल अभिरुचि पर निर्भर करता है। भक्त की प्रार्थना अधिक मुखर और

---

२८. श्रीशंकराचार्यकृत भवान्याष्टकम् -३ २९. देवी भुजंगप्रयात स्तोत्र - २०
३०. ऋग्वेद १.१६४.४६ ३१. शिवमहिम्न स्तोत्र, ७

भक्तिपूर्ण होती है। ज्ञानी शान्त रह सकता है, उसकी प्रार्थना शब्दों में अभिव्यक्त न भी हो। लेकिन उसका गहरा आन्तरिक मौन एक प्रकार की महान् आन्तरिक प्रार्थना है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति में ये दोनों मनोभाव एक के बाद एक दिखाई देते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि अतीन्द्रिय अनुभूति की तीव्र लालसा हो। जो लोग मूक प्रार्थना द्वारा इस पिपासा, लालसा को बनाए रखने में असमर्थ हैं वे उपर्युक्त प्रकार की प्रार्थनाओं की सहायता ले सकते हैं।

इसके अतिरिक्त हमें अपनी प्रार्थनाओं में स्वार्थी नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार हम अपने लिए प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार हमें दूसरों के लिए भी प्रार्थना करनी चाहिए। अपने प्रिय तथा निकट-बन्धुओं के लिए प्रार्थना करो। उसके बाद सज्जनों तथा आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए संघर्षरत लोगों के लिए प्रार्थना करो। और अंत में सर्वत्र निवास कर रहे सभी प्राणियों के लिए प्रार्थना करो। सभी दिशाओं में शुभ संकल्पों का प्रसार करो। तुम्हारे द्वारा सभी दिशाओं में शान्ति और शुभेच्छा प्रसारित होवें।

स्वामी यतीश्वरानन्दजी अपने प्रवचनों और कक्षालापों के पूर्व प्रार्थनाओं और ध्यानांशों का पाठ किया करते थे। उनमें से कुछ नीचे दिये जा रहे हैं : (सम्पादक)

सर्वव्यापी, आनन्दस्वरूप, सर्वहृदयनिवासी परमात्मा को प्रणाम्। वह भूत, वर्तमान और भविष्य का ईशनकर्ता है। उसका साक्षात्कार कर व्यक्ति भयमुक्त हो शान्ति प्राप्त करता है। वह परमसत्ता, सत्स्वरूप, परमज्योति और परम आत्मा है। उसी सर्वव्यापी रसस्वरूप परमात्मा से हम सबकी उत्पत्ति हुई है, उसी में हम स्थित हैं और उसी में हम लय हो जाएगें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हम कुछ क्षणों के लिए देह और मन को तनावरहित कर शान्ति से बैठें। अब हम सर्वव्यापी परमात्मा को प्रणाम् करें। वह हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे। हम संसार के सभी महान् आचार्यों और सन्तो को प्रणाम् करें, जिनके उपदेश हमें धरोहर के रूप में प्राप्त हुए हैं। वे हम में सत्य की स्पृहा जगावें।

परमात्मा पवित्रता-स्वरूप हैं। हम पवित्रता के स्पन्दनों को निःश्वास के साथ भीतर लेवें, वे हमारी सारी अपवित्रता को नष्ट करें। हम प्रश्वास द्वारा पवित्रता के स्पन्दनों को बाहर छोड़ें। हम बल के स्पन्दनों को भीतर खींचे; वे हमारी सारी दुर्बलता नष्ट करे। हम बल को प्रश्वास द्वारा बाहर निकालें। हम शान्ति के स्पन्दनों को भीतर लेवें; वे हमारी सारी चंचलता नष्ट करें; हम शान्ति के स्पन्दन बाहर निःश्वसित करें। हम पवित्रता, बल और शान्ति को पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं में अपने सहमानवों के प्रति प्रवाहित करें। हम स्वयं शान्त होवे तथा समग्र विश्व में शान्ति का विस्तार करें।

अब हम साक्षी भाव का अवलंबन लें तथा मन को सभी विक्षेपों, ध्वनियों तथा अन्य कठिनाईयों से विलग करें। हम सभी विचारों, कल्पना-चित्रों एवं मन में उठ रही भावनाओं से भी स्वयं को पृथक् करें। हम पूर्ण सजग रहें। हमारी देह भगवान् का एक मंदिर है। हम चेतना को हृदयरूपी गर्भगृह में एकाग्र करें तथा वहाँ एक छोटे ज्योतिपुंज की तरह अपनी आत्मा का

अनुभव करें। यह क्षुद्र ज्योतिपुञ्ज सर्वत्र प्रकाशित हो रही अनन्त-ज्योति का एक अंश है। अनन्त परमात्मा सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्रों में व्याप्त है। परमात्मा सभी प्राणियों में विराजित है। वह हमारे नेत्रों, कर्णों तथा अन्य इन्द्रियों में व्याप्त है। परमात्मा हमारे मन में प्रकाशित हो रहा है। वह हमारे हृदय में विद्यमान है। हम उसके साथ संपर्क का अनुभव करें।

अद्वैतवादी परमात्मा का अनन्त सच्चिदानन्द के रूप में ध्यान करता है। भक्त उसी सच्चिदानन्द की पिता, माता, सखा एवं प्रियतम के रूप में पूजा-उपासना करता है। अनन्त सच्चिदानन्द महान् देवी देवताओं का रूप धारण करता है। पुन: वह मानव जाति के कल्याण के लिए पृथिवी पर मानो ईश्वरावतार बनकर आता है। हम ध्यान के लिए किसी भी भाव का अवलम्बन कर सकते हैं, लेकिन ध्यान करते समय हम अनुभव करें कि ध्याता और ध्येय एक अनन्त सच्चिदानन्द में निमग्न हैं।

वस्तुत: एक ही अनन्त परमात्मा एक ओर भक्त तथा दूसरी ओर भगवान् के रूप में अभिव्यक्त होता है। हम अपने हृदय के अंतस्थल में भगवत् संस्पर्श का अनुभव करें और वहाँ भगवान् की अवस्थिती हमारे स्नायुओं को शीतल, मनों को शान्त और हृदयों को विश्राम प्रदान करे। परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें और हमारी चेतना को उद्बुद्ध करें।

हम कुछ क्षणों के लिए सर्वव्यापी, आनन्दस्वरूप परमात्मा का, उनके किसी भी रूप का, जो हमें अच्छा लगे, तथा जिस प्रकार से हमारी इच्छा हो, ध्यान करें। लेकिन हम भगवत् संस्पर्श का अवश्य अनुभव करें।

सर्वव्यापी, आनन्दस्वरूप परमात्मा, जो आत्मा की भी आत्मा है, हम सभी की रक्षा करें, हम सभी का मार्गदर्शन करें, हम सभी का पोषण करें। हम जो ज्ञान प्राप्त करें, वह उनकी कृपा से तेजस्वी और फलप्रसू हो। हम सभी में परस्पर शान्ति और सद्भाव स्थापित हो। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हे प्रभु! सभी साधनापथ सच्चिदानन्द रूप सागर तक जाने वाली नदियों के समान हैं।
तुम हमारी आत्माओं की आत्मा हो।
तुम्हीं हो माता, पिता तुम्ही हो, तुम्ही हो बन्धु, सखा तुम्ही हो,
तुम्ही हो विद्या, धन तुम्ही हो, हमारे सर्वस्व तुम्हीं हो।

हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलो।

हमारी आत्मा में पूर्णतया प्रकाशित होओ, और अपनी प्रेरक-सत्ता से हमें धन्य करो।

हम अपने हृदय के अन्तरतम-प्रदेश में आपका साक्षात्कार करें। हम अपने सभी सह प्राणियों में आपका दर्शन करें। सब में विराजित आपको हम प्रेम करें और उनमें आपकी सेवा करें।

संसार में शान्ति विराजे। सभी भयमुक्त होवें। सभी शुभ का साक्षात्कार करें। सभी सद्विचारों द्वारा प्रेरित हों। सभी सर्वत्र सुखी होवें। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

□□□

अध्याय २३

उपासना

भगवद्-समर्पण :

"जो लोगों का इष्टतम हो तथा जो अपनी अति-प्रिय वस्तु हो, उसे मुझे निवेदित करो। उसका फल अनन्त होता है।"

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते।।[१]

हम प्रभु से प्राप्त वस्तुओं द्वारा ही उनकी पूजा करते हैं। हम पुष्प की सृष्टि नहीं करते, न ही अग्नि की। ये हमारे पास आती हैं, और जिस प्रकार हम इनका उपयोग करते हैं, उसी से अन्तर पड़ता है। जो कुछ प्राप्त होता है उसे भक्त भगवान् को समर्पित करता है। और रोचक बात यह है, कि ऐसा करने से उसका हृदय विशाल होता है। भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तु उन्हें ही अर्पित करने से तुम्हें स्वयं पवित्रता का बोध होता है, तथा तुम्हारी आत्मा का विकास होता है। इसके द्वारा आत्मा, परमात्मा द्वारा प्रदत्त वरदानों को अधिक मात्रा में आत्मसात् कर पाती है। जितना अधिक उन वस्तुओं को अपना समझोगे, तुम्हारी आत्मा उतनी ही संकीर्ण तथा अज्ञानावृत होगी।

तुम्हें प्राप्त भोजन, नयी पोशाक/वस्त्र, मोटरकार आदि कोई भी वस्तु प्रभु को अर्पित की जा सकती है। उपयोग प्रारम्भ करने के पूर्व सर्वप्रथम मन ही मन उसे प्रभु को समर्पित करो। उसे प्रसाद के रूप में स्वीकार करो और सावधानी के साथ उसका उपयोग करो। इससे चित्त शुद्ध और उदात्त होता है। भगवान् सर्वोत्तम पावनकर्ता हैं। उनसे सम्बन्धित सभी वस्तुएँ पवित्र हो जाती हैं। पावन वस्तुओं के साथ व्यवहार करने से हम भी पवित्र होते हैं। हमारे आश्रमों में हमारे निमन्त्रण पत्र, हमारे प्रकाशनों आदि की प्रथम प्रति मन्दिर में भेजी जाती है। परमात्मा को समर्पित करने के बाद ही उनका वितरण होता है। यह एक अच्छा रिवाज है, जिसे तुम अपने घर में भी सभी क्रय की गयी वस्तुओं के साथ जोड़ सकते हो।

कर्म अपने आप में बड़ा न भी हो, लेकिन जब इस तरह के सैकड़ों कर्म, परमात्मा के प्रति इस तरह के छोटे-छोटे समर्पण किए जाते हैं, तो कुछ वर्षों बाद इनका सम्मिलित

---

१. श्रीमद्भागवतम्, ११.११.४१

प्रभाव सचमुच महान् होता है। क्रमशः शरणागति और अनासक्ति का एक भाव हमारे साथ स्थायी रूप से बना रह जाएगा। वस्तुतः इसके अतिरिक्त उसे पाने का दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। शरणागति व पवित्रता अचानक प्राप्त नहीं होते। वे सैकड़ों छोटे-छोटे कर्मों के संयुक्त परिणाम-स्वरूप होते हैं।

भक्ति-सम्प्रदायों में, विशेषकर वैष्णवों में, सन्तों एवं निर्धनों की सेवा को बहुत महत्त्व दिया गया है। सेवा का आध्यात्मिक-जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। परमात्मा को सब कुछ समर्पित करने के बाद उसका स्वयं उपयोग करना बहुत अच्छा है। वह हमें परमात्मा से संयुक्त करता है। लेकिन तुम्हारी निष्ठा, ईमानदारी का मापदण्ड क्या है? यह कैसे जानोगे, कि तुम परमात्मा के लिए सर्वस्व त्याग करने को तैयार हो? त्याग की तुम्हारी तत्परता ही एकमात्र मापदण्ड है। तुम्हें परमात्मा के लिए सर्वस्व त्याग करने के लिए तत्पर होना चाहिए। त्याग की भावना के विकास का सर्वश्रेष्ठ उपाय सेवा है। सेवा में स्वाभाविक ही कुछ मात्रा में त्याग निहित रहता है। यदि कोई भूखा व्यक्ति तुम्हारे पास आए, तो अपने भोजन का कुछ हिस्सा उसे दो; यदि कोई निर्धन व्यक्ति आए, तो अपने धन में से कुछ अंश उसे दो। इसी तरह तुम्हें अपने समय, शक्ति और सुख इत्यादि का रोगी, अज्ञानी अथवा दुःखी (व्यक्ति) के लिए त्याग करना होगा। प्रत्येक को भगवान् का एक मंदिर समझो। मानव सेवा कर तुम भगवान् की सेवा कर रहे हो। स्वामी विवेकानन्द के सेवा-दर्शन के पीछे यही महान् आदर्श था। निर्धन और भूखे (व्यक्ति) से आध्यात्म की बात करने से कोई लाभ नहीं। उसे पहले अन्न प्रदान करो। भगवदाराधना की यही विधि है। पुष्प-धूपादि अर्पित करना ही आराधना की एकमात्र विधि नहीं है।

हमें एक समन्वयात्मक दृष्टि, एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। हमारे सीमित अस्तित्व, सीमित चेतना, सीमित आनन्दों के आधार के रूप में, उनके पीछे एक अखण्ड अनन्त सत्ता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के माध्यम से प्रकट हो रही है, अभिव्यक्त हो रही है। उस सत्ता के प्रति सर्वस्व समर्पित करना सर्वोत्कृष्ट उपासना है। यदि हम इस उपासना को कर सकें, तो केवल निम्नतर उपासनाओं से ही सन्तोष क्यों करें?

उपासना अथवा मानसिक पूजा :

भगवान् की भौतिक वस्तुओं से पूजा के अतिरिक्त एक दूसरी मानसिक पूजा भी है, जो वस्तुतः उच्चतर प्रकार की पूजा है। संस्कृत भाषा में वह 'उपासना' कहलाती है, जिसका शाब्दिक अर्थ (इष्ट के) 'निकट बैठना' है। व्यवहार में उसका रूप है – भगवान् का ध्यान या चिन्तन। इस प्रकार की मानसिक उपासना वेदान्त के द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायों की प्रमुख साधना है। ये दर्शन-प्रणालियाँ भगवान् और आत्मा की पृथक्-पृथक् सत्ता मानती हैं। उपासक इन दोनों के बीच घनिष्ठता की विभिन्न मात्रा में सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करता है, लेकिन दोनों का पार्थक्य कभी समाप्त नहीं होता। प्रारम्भ में भक्त दास और भगवान्

स्वामी रहते हैं। उच्च अवस्थाओं में भक्त आत्मा, और भगवान् सभी आत्माओं की आत्मा के रूप में रहते हैं। इस भाव का उपयोग अद्वैतवाद की साधना की एक सीढ़ी के रूप में किया जा सकता है।

जिनका स्वाभाविक झुकाव निराकार ईश्वर की ओर है, उनके लिए प्रारम्भ में ब्रह्म या परमात्मा की सागर के रूप में तथा जीव की लहर के रूप में धारणा करना लाभदायक होगा। जीव का परमात्मा से पृथक् 'अहं' है, लेकिन वस्तुत: वह व्यष्टि सत्ता, समष्टि-सत्ता के सन्दर्भ में ही विद्यमान है। सदा लहर का चिन्तन करने के बदले सागर का ध्यान किया जा सकता है। लहर जल तत्त्व से अभिन्न है। उसका सागर नामक विशाल जलराशि तथा लहर नामक क्षुद्र ईकाई के साथ ऐक्य है। आध्यात्मिक पथ पर प्रगति करने पर साधक यह अनुभव करने में समर्थ होता है कि जल ही सत्य है, लहरें असत्य हैं। व्यष्टि और समष्टि का, विराट और जीव का अन्तर समाप्त हो जाता है, और असीम, अनन्त, एकमेवाद्वितीय ही अवशिष्ट रहता है।

लेकिन अधिकांश लोगों के लिए इसकी अनुभूति करना बहुत कठिन होता है, तथा उन्हें ध्यान के लिए कुछ प्रतीकों की आवश्यकता होती है, जिनकी वे उपासना कर सकें। उनके अभाव में उनका मन भटकता रहता है। एकाग्रता की सुविधा के लिए कुछ पवित्र वस्तुओं को चुना गया है। ऐसी प्रतीकोपासना सगुण-ईश्वर के भक्तों तथा निर्गुण-निराकार-ईश्वर के उन उपासकों में भी प्रचलित हैं, जो भगवान् का प्रतीक के रूप में नहीं, बल्कि प्रतीक के माध्यम से, ध्यान करते हैं। ईश्वर का निरुपण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण के रूप में किया गया है।[२] अत: एक प्रकार से किसी भी वस्तु को उसके प्रतीक के रूप में लिया जा सकता है। लेकिन अनादिकाल से विश्व के विभिन्न धर्मों ने कुछ प्रतीकों को विशेष रूप से पवित्र मानकर स्वीकार किया है।

विराट् शक्ति के उत्स, प्रकाश और तेज के स्रोत के रूप में सूर्य ईश्वर का एक अच्छा प्रतीक है, और सूर्योपासना सारे विश्व में काफ़ी प्रचलित थी। हिन्दू और पारसी अग्नि की ईश्वर के प्रतीक के रूप में उपासना करते हैं। वेदों में अग्नि को मर्त्यलोक में निवास करने वाला एक अमर देवता तथा देवताओं का मुख कहा गया है, जिसके माध्यम से अन्य सभी देवता आहुतियाँ प्राप्त करते हैं, लेकिन हमें सदा याद रखना चाहिए, कि प्रतीक भगवान् नहीं हैं। हमें अपने ध्यान में मात्र अग्नि और सूर्य के परे उस अनन्त ज्योति को प्राप्त करना चाहिये, जिसके ये प्रतीक अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं।

श्रीरामकृष्ण के महान्तम् शिष्यों में से एक स्वामी ब्रह्मानन्द का कथन है :

लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजाओं में होती है। विभिन्न अभिरुचियों के अनुसार शास्त्रों ने भगवान् को पाने के चार पृथक् उपायों का वर्णन किया है। आनुष्ठानिक-पूजा अर्थात्

---

२. जन्माद्यस्य यत:। – ब्रह्मसूत्र १.१.२

प्रतीक अथवा प्रतिमा में भगवान् की पूजा करना, एक उपाय है। प्रार्थना और जप के माध्यम से भगवान् की पूजा-उपासना करना उच्चतर विधि है। साधक इष्ट के ज्योतिर्मय रूप का ध्यान करता है। वह इनसे प्रार्थना करता है, और जप करता है। इससे भी उच्चतर है – ध्यान, अर्थात् परमात्मा के प्रति चित्त का निरवच्छिन्न प्रवाह। इस उपासना के समय व्यक्ति अपने इष्ट के जीवन्त सान्निध्य में डूबा रहता है। यहाँ न प्रार्थना है, न जप, लेकिन द्वैत बोध बना रहता है। इष्ट हैं, और मैं भी हूँ। लेकिन आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता का चिन्तन, ब्रह्म का सतत अनुभव, उसकी सत्ता का नित्य ज्ञान, ऐसी उच्चतम साधना है, जिससे तत्काल परमात्मा की साक्षात् अनुभूति होती है। यह सर्वव्यापी सत्ता का साक्षात् अनुभव है। साधक इन अवस्थाओं से गुजरता है। व्यक्ति को जहाँ वह है, वहीं से प्रारम्भ करना चाहिए।[३]

संस्कृत का एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है :

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमोभावो बहिःपूजाधमाधमा।।[४]

अर्थात्, *ब्रह्मसद्भाव सर्वोत्तम है। ध्यान मध्यम श्रेणी का है। स्तुति जपादि अधम हैं तथा वहिर्पूजा निकृष्टतम है।*

एक दूसरा श्लोक निम्न प्रकार है:

प्रथमा प्रतिमापूजा जपस्तोत्रादि मध्यमा।
उत्तमा मानसी पूजा सोऽहं पूजोत्तमोत्तमा।।[५]

प्रतिमा पूजा प्रथम सीढ़ी है। जप स्तोत्रादि उससे श्रेष्ठतर हैं। इससे भी अच्छा ध्यान अथवा मानसिक पूजा है। और "मैं ब्रह्म हूँ" – 'सोऽहं' की अनुभूति सर्वोत्कृष्ट है।

एक अन्य श्लोक में कहा गया है :

द्विजों का देवता अग्नि होता है, योगी परमात्मा की अपनी अन्तरात्मा के रूप में उपासना करते हैं। मूढ़ उनकी पूजा प्रतिमा में करते हैं, तथा समदर्शी ज्ञानी उनका दर्शन सर्वत्र करते हैं।[६]

उन्नत पुरुष बाह्य-प्रतीकों की परवाह नहीं करते। वे इष्ट का ध्यान स्वयं के हृदय में अवस्थित सर्वान्तर्यामी के रूप में करते हैं। स्थूल बुद्धि वाले अपने आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ एक मूर्ति की सहायता से ही कर सकते हैं, जो उनकी श्रद्धा को टिकाये रखने का खूँटा-मात्र है। इसके विपरीत महापुरुषों (सिद्ध पुरुषों) को प्रतीकों की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे परमात्मा का अन्दर-बाहर सर्वत्र, अन्तर्यामी तथा साथ ही सर्वातीत रूप में साक्षात्कार करते हैं।

अद्वैत-साधना का लक्ष्य आत्मा को एकमेवाद्वितीय अनन्त-सत्ता में विलीन करना है। यह अवस्था, नित्य-परिवर्तनशील दृश्य-जगत् के आधार के रूप में विद्यमान

---

३. द इटरनल कम्पेनिअन, (१९७१), पृ. २४४ ४. महानिर्वाण तन्त्र - १४.१२२
५. तन्त्रसार ६. उत्तरगीता ३.७

अपरिवर्तनशील अनन्त सत्ता की, अपने विचारों तथा अनुभवों के निर्मम विश्लेषण द्वारा, खोज करने पर प्राप्त होती है। इस मार्ग का पथिक पूर्ण पवित्रता में प्रतिष्ठित होकर आत्मा को सीमित करने वाली सभी उपाधियों का बाध करके चरम सत्य तक पहुँचता है। यह प्रक्रिया निदिध्यासन कहलाती है, जो अपनी सत्ता का एक प्रकार का गहरा आत्म-विश्लेषण अथवा प्रत्यग् प्रवणता है।

परमात्मा और आत्मा के मिलन के लिए एक निम्नतर अधिकारी साधक अहंग्रहोपासना कर सकता है। इस उपासना पद्धति में उपासक उपास्य ब्रह्म अथवा ईश्वर अथवा किसी अन्य देव-विशेष के साथ स्वयं का तादात्म्य स्थापित कर अपनी आत्मा का ध्यान करता है। उपास्य और उपासक की अभिन्नता के ध्यान से एकमेव-अद्वितीय की प्राप्ति होती है।

प्रतीकोपासना :

जिन्हें यह प्रक्रिया भी कठिन प्रतीत हो, उनके लिए प्रतीकोपासना, अर्थात् किसी उचित प्रतीक की सहायता से पूजा करने का विधान किया जाता है। देवता की, प्रतीक के रूप में नहीं, बल्कि प्रतीक के माध्यम से, पूजा की जाती है। उसका उद्देश्य सीमित प्रतीक में असीम नाम-रूपातीत सर्वव्यापी परमात्मा का साक्षात्कार करना है। जैसा स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : "जहाँ स्वयं ब्रह्म ही उपास्य होता है, प्रतीक उसका केवल प्रतिनिधि-स्वरूप अथवा उसके संकेत का कारण-मात्र होता है।"[७] प्रतीक आन्तरिक हो सकता है, जैसे उपासक का मन, बुद्धि या आत्मा, अथवा वह सूर्य, आकाश, अग्नि अथवा शब्द प्रतीक ओम् इत्यादि बाह्य-प्रतीक हो सकता है। उचित पद्धति से किये गए ध्यान द्वारा बाह्य एवं आन्तर जगत् में व्याप्त एवं उनका अतिक्रमण करने वाले परमात्मा का अन्ततः साक्षात्कार होता है।

जिन्हें उपासना के उपर्युक्त प्रतीक भी बहुत सूक्ष्म या जटिल प्रतीत हों, उन्हें मानवी रूपधारी प्रतिमा का उपयोग करना चाहिए। लेकिन यहाँ भी यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि मूर्ति की ईश्वर अथवा परमात्मा के प्रतीक के रूप में पूजा की जाय। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : "यदि प्रतिमा किसी देवता या किसी महापुरुष की सूचक हो, तो ऐसी उपासना मुक्ति नहीं दे सकती। पर यदि वह उसी एक परमेश्वर की सूचक हो तो उस उपासना से भक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त हो सकती हैं।"[८]

भारत में प्रतिवर्ष दुर्गा अथवा गणेश की, मिट्टी की मूर्तियों में पूजा होती है। उत्सव की समाप्ति नदी या तालाब में मूर्तियों के विसर्जन द्वारा होती है। एक बार दक्षिणेश्वर में विशाल काली मन्दिर की निर्माणकर्ती रानी रासमणि के दामाद मथुर ने वार्षिक दुर्गा पूजा के

---

७. विवेकानन्द साहित्य - ४ (प्रथम संस्करण), पृ. ३३ ८. वही पृ. सं. ३३-३४

बाद मूर्ति का परित्याग करने में असमर्थता व्यक्त की। इतने दिनों तक अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजित मूर्ति को नदी में फेंकने के विचार से उनका हृदय विदीर्ण हो गया। उन्होंने आदेश दिया, कि कोई भी मूर्ति को अपने स्थान से न हटाये, और वे एक जिद्दी-बालक का सा आचरण करने लगे। उनके संबंधी तथा कर्मचारी सहायता के लिए श्रीरामकृष्ण के पास पहुँचे। श्रीरामकृष्ण ने मथुर के पास जाकर पूछा : "क्या माँ जगदम्बा केवल मूर्ति में ही हैं? उन्हें अपने हृदय-रूपी स्थायी निवास में प्रतिष्ठित करके, उनकी मृण्मयी-प्रतिमा का त्याग क्यों नहीं करते?" माँ जगदम्बा सर्वदा हृदय में विराजित हैं, जब यह विचार मथुर के मन में जागा, तो मथुर तत्काल सामान्य हो गए, तथा विसर्जन विधिवत् सम्पन्न हुआ।[९] यह छोटी सी घटना हिन्दुओं की मूर्तिपूजा के रहस्य का उद्घाटन करती है।

भगवान् एक हैं, लेकिन उनके बहुत से रूप हैं। पूर्ण वैभव और ऐश्वर्य में उनकी पूजा करना असम्भव है, अत: हम उनका कोई एक रूप चुन लेते हैं। लेकिन विष्णु, शिव, शक्ति आदि उनके किसी सगुण रूप के माध्यम से उन तक पहुँचने के लिए भी हमें विभिन्न भौतिक, शाब्दिक अथवा मानसिक प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है, जिनमें से एक या अनेक को एक साथ ग्रहण किया जा सकता है। प्रतीक सत्य नहीं है। वह परमात्मा का, भावों के माध्यम से, स्मरण करने का उपाय मात्र है।

आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ कर रहा साधक किसी देवता की मूर्ति अथवा यन्त्र (आदर्श का प्रतीक ज्यामितीय-चित्र) जैसे स्थूल प्रतीकों की सहायता ले सकता है। प्रगति करने पर वह स्थूल सहायता को त्याग कर परमात्मा का स्मरण करने के लिए शब्द-प्रतीक का उपयोग कर सकता है। और आगे बढ़ने पर वह स्थूल तथा शब्द दोनों प्रकार के प्रतीकों को त्यागकर वैचारिक-स्तर पर शान्तिपूर्वक केवल मानसिक उपासना की सहायता से आगे बढ़ सकता है। और परमात्मा के विचार-मात्र से नमक के पुतले के समान अपनी क्षुद्र आत्मा को अखण्ड-चैतन्य-सागर में, जहाँ उपासक-उपास्य के भेद पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं, विलीन करने में समर्थ होने पर वह मानसिक-पूजा भी त्याग सकता है।

हमारी दृष्टि सीमित है, और हम जो कुछ देखते हैं, वह सभी इसी सीमा से प्रभावित हो जाता है। हम केवल प्रतिबिम्ब ही देख पाते हैं, प्रकाश नहीं, और वह भी एक सीमा में। हमारी बुद्धि भी संकुचित, सीमित है। हम चरम सत्य का साक्षात् अनुभव नहीं कर सकते। हमारा ज्ञान मन की ससीम उपाधियों, जिन्हें शंकराचार्य ने देश, काल और निमित्त की संज्ञा दी है, के माध्यम से ही प्राप्त होता है। प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान मन, उसकी वृत्तियों तथा कल्पनाओं द्वारा प्रभावित होता है। सारांश यह है, कि हम प्रतीकों के दायरे में बद्ध हैं, जो सत्य की ओर संकेत तो करते हैं, किन्तु साथ ही उसे आवृत भी करते हैं।

लेकिन हमें याद रखना चाहिए, कि कई प्रकार के प्रतीक होते हैं; कुछ सत्य होते हैं,

---

९. श्रीरामकृष्णलीला प्रसंग – २, (तृतीय संस्करण), पृ. १८२

कुछ मिथ्या। मृगतृष्णा जल जैसी प्रतीत होती है, लेकिन वह एक भ्रामक दृश्यप्रपञ्च है, जिसका पानी से कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु लहर को सागर का सच्चा प्रतीक माना जा सकता है। क्योंकि वह उससे ही उठती है, उसके सम्पर्क में बनी रहती है और उसमें विलीन भी होती है। सागर की तरह वह भी उसी तत्व, जल से बनी होती है।

यही नहीं, उच्च और निम्न प्रतीक भी होते हैं। एक शब्द के अक्षर नामात्मक शब्द प्रतीक हैं, जो पुन: मानसिक चित्र का प्रतीक है; चित्र (अपने में) चिन्तन प्रक्रिया का प्रतीक है, और विचार भी उस परमसत्ता का प्रतीक बन जाता है, जिसे वह व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु ऐसा, वह उपर्युक्त परोक्ष रूप से ही कर सकता है। सत्य तथा उसकी अभिव्यक्ति के बीच बहुत-सी सांकेतिक प्रक्रियाएँ हैं। इस गहन-रहस्य को भारत में अतिदीर्घकाल पूर्व समझा गया था। इसीलिए विभिन्न प्रकार की प्रतीकात्मक उपासनाओं को भारत में स्वीकार और विकसित किया.गया है। ज्ञानी पुरुष बीच के सभी माध्यमों को भेदते हुए सत्य की चरम गहराई तक पहुँचे हैं और कम क्षमता वाले साधकों के लिए अपने पीछे चरण-चिह्न छोड़ गए हैं, जिनका अनुसरण किया जा सके।

हिन्दू-धर्म में प्रतीकों का विषय तथा देवी-देवताओं की पूजा का विषय बहुत व्यापक है। अत: हम ईश्वर के किसी न किसी रूप के साक्षात्कार के उद्देश्य से, पूजा और ध्यान के लिए वैदिक काल से आज तक प्रयुक्त उपास्य देवी-देवताओं एवं प्रतीकों में से कुछ का ही यहाँ वर्णन करेंगे।

हिन्दू धर्म के कुछ प्रतीक :

शिव की, प्रतिमा अथवा लिंग के रूप में पूजा की जाती है। इसका मूल उद्देश्य चाहे कुछ भी रहा हो, वह शिवोपासकों के मन में पुरुष-लिंग का विचार कभी भी पैदा नहीं करता। उनके लिए लिंग एक अपुरुषविध, मूर्ति से भिन्न उस परमात्मा का प्रतीक है, जो रूपों में अभिव्यक्त होते हुए भी उन सभी से परे है। तान्त्रिक-भक्त लिंग को परमात्मा की स्त्री-पुरुषात्मक सृजन शक्ति का प्रतीक समझता है। शालिग्राम-शिला एक अन्य अपुरुषविध प्रतीक है, जो विष्णु से सम्बन्धित है। विष्णु की, शंख चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज मूर्ति की अथवा उसके राम, कृष्ण आदि अवतारों की प्राय: पूजा की जाती है। तान्त्रिक-उपासक तथा अन्य लोग भी प्राय: यंत्र नामक ज्यामितीय रेखाचित्रों की देवता-शरीर के गुह्य-प्रतीक के रूप में उपासना करते है। कभी-कभी एक पट या द्विआयतनीय चित्र (ग्रीक ईसाई गिरजे का आईकॉन्) त्रिआयतनीय मूर्ति के बदले देवता का आव्हान करने के लिए प्रतीक का काम करता है। बहुत सी उपासनाओं में जलपूरित घट अकेले अथवा अन्य प्रतीकों के साथ निराकार सर्वव्यापी परमात्मा के संकेतक के रूप में काम में लाया जाता है। अग्नि को भी अन्य प्रतीकों के स्थान पर काम में लिया जा सकता है। प्रज्ज्वलित अग्नि को ईश्वर का शरीर मानकर आहुतियों द्वारा उसकी उपासना की जाती है।

सुसंस्कृत उपासनाओं में ओम् अथवा अन्य कोई भगवन्नाम मन्त्र-प्रतीक होता है। मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है : उच्चारण और मनन से जीव को बन्धन से मुक्त करने वाला।[१०]

शब्द प्रतीक के रूप में ओम् अखण्ड ब्रह्म का प्रतीक है, जब कि अन्य नाम अथवा मन्त्र उसी परमात्मा के खण्ड या रूप-विशेष के प्रतीक हैं। विभिन्न तान्त्रिक देवताओं के विशेष-विशेष "बीज" मन्त्र होते हैं, जिनमें उपासक के समक्ष तत्तत् ईश्वरीय नामों को अभिव्यक्त या प्रकट करने की क्षमता का होना माना जाता है।

भगवान् के नाम, भगवान् की शक्ति के शाब्दिक रूप हैं, जिनके जप तथा अर्थ का चिन्तन करने से वह शक्ति जाग्रत होती है। श्रीचैतन्य कहते हैं : "प्रभु! आपके अनेक नाम हैं, और प्रत्येक में आपने अपनी सारी शक्ति अर्पित कर दी है।"[११] विभिन्न नाम परमात्मा के विभिन्न रूपों के प्रतीक हैं, जिनका जप द्वारा साक्षात्कार किया जाता है। एक ही ईश्वर के लिए अनेक नामों का प्रयोग वैदिक-काल से चला आ रहा है।

ईसा-मसीह, चैतन्य या रामकृष्ण जैसे अवतारी महापुरुषों की जीवनी का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि इन सभी के लिए ईश्वर चरम-सत्य था। परमात्मा उनके जीवन का केन्द्र बिन्दु था तथा अन्य सब बातें गौण थीं। तुम भगवान् के किसी भी प्रतीक को चुन सकते हो, भगवान् के साथ कोई भी सम्बन्ध स्थापित कर सकते हो – उन्हें अपना पिता, माता, पुत्र, मित्र अथवा पति मान सकते हो – लेकिन सदा उसे अपना निकटतम और प्रियतम समझो। निम्नोक्त श्लोक में अभिव्यक्त प्रेम की तीव्रता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है :

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।[१२]

अर्थात्, *हे देवाधिदेव! तुम ही मेरी माता हो, तुम ही मेरे पिता हो, तुम ही बन्धु और सखा भी हो। तुम ही धन और विद्या हो, तुम ही मेरे सर्वस्व हो।*

उपासना द्वारा आध्यात्मिक विकास :

ऐसे लोग हैं, जो समुचित आध्यात्मिक विकास के पूर्व ही क्रिया-अनुष्ठान का त्याग कर देते हैं। मूर्तिपूजा की आवशयकता से ऊपर उठने के पूर्व उसके त्याग के समान यह भी बहुत गलत है। मूर्तिपूजकों की कभी निन्दा न करो। मूर्तिपूजा में बहुत सार है, और प्रोटेस्टेण्ट ईसाई सम्प्रदाय उसकी उपेक्षा करके गलती करते हैं। वे आध्यात्मिक-परंपरा और आध्यात्मिक-जीवन के बारे में कुछ नहीं जानते। उपासक के मन में ही नहीं, बल्कि दैवी-मूर्ति में भी देवता का प्राकट्य होता है। रोमन कैथोलिक मूर्तिपूजा पद्धति के मूल में भी यही भाव विद्यमान है, भले ही सदियों के दौरान ये पूजाएँ धर्म-प्रवक्ताओं के द्वारा विकृत हो गई

---

१०. मननात् त्रायते इति मन्त्रः।

११. नाम्नामकारी बहुधा निज सर्वशक्तिस्तत्रार्पिता। – शिक्षाष्टकम् २

१२. प्रपन्न गीता, २८

हों। हममें से अधिकांश व्यक्तियों के लिए, जो केवल सिद्धान्त प्रतिपादन ही नहीं, बल्कि अपना आध्यात्मिक विकास भी करना चाहते हैं, भौतिक अथवा मानसिक-मूर्तियों की उपासना नितान्त आवश्यक है।

लेकिन यदि ऐसा पाया जाय, कि हम सारे जीवन केवल मूर्तिपूजा ही कर रहे हैं, तो कोई गम्भीर त्रुटि है। साधना से हमारी प्रगति हो रही है या नहीं, यह सदा अवलोकन करते रहना चाहिए। प्रारम्भ में बाह्य-पूजा हमारे लिए उपयोगी हो सकती है। कुछ लोग बहुत कर्मकाण्डी होते हैं और उससे बहुत आनन्द प्राप्त करते हैं। लेकिन हमें अपना सारा जीवन केवल बाह्य-पूजा करते हुए ही नहीं बिता देना चाहिए। आगे या पीछे बाह्य-पूजा से हमें आन्तरपूजा तक पहुँचना चाहिए। हमें कस्तूरीमृग जैसा नहीं होना चाहिए। उसकी नाभि में कस्तूरी होती है, लेकिन वह उस मीठी-सुगन्ध की खोज में भटकता रहता है और अन्त में मर जाता है। इसी तरह हम जिस भगवान् को खोज रहे हैं, वह हमारे हृदय में नित्य विद्यमान है, लेकिन हम उसे बाहर पाना चाहते हैं।

हम सदा अपने ईश्वर अथवा देवताओं की सृष्टि करते रहते हैं। हम महादेव की प्रतिमा गढ़ने का प्रयास करते हैं, और वह एक कुरूप बन्दर की सी बन जाती है। यदि हमें सही जानकारी न हो तथा उसे जीवन में अभिव्यक्त करना भी न जानें, तो परिणाम एक कुरूप बन्दर जैसा होता है। यही खतरा है।

मूर्तिपूजा जीवन्मुक्त पुरुष के बन्धन तथा पुनर्जन्म का कारण होती है। अतः संन्यासी को हृदयस्थ-परमात्मा की उपासना करना चाहिए, तथा बाह्यपूजा त्याग देनी चाहिए।[१३]

यह बात उन्नत-साधकों के लिए कही गयी है। इसका यह अर्थ नहीं, कि सभी को मूर्तिपूजा त्यागकर सीधे निराकार के ध्यान से प्रारम्भ करना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात परमात्मा को अपने हृदय के अन्तरतम प्रदेश में, अपनी आत्मा में खोजना है। आध्यात्मिक-जीवन एक सीढ़ी के समान है। हमें एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ना चाहिए। पहले हमें यह पता लगाना चाहिए, कि हम कहाँ खड़े हैं, अन्यथा प्रगति सम्भव नहीं है। हम बाह्यपूजा, मन्दिरों में जाना आदि से भले ही प्रारम्भ करें, लेकिन हमें अधिकाधिक अंतर्मुखी होकर परमात्मा को उसके वास्तविक-धाम, हमारी आत्मा में खोजना चाहिए।

देह-मन्दिर :

एक उपनिषद् में कहा गया है : "देहो देवालयः"[१४] अर्थात् हमारी यह देह भगवान् का मन्दिर है। कठोपनिषद् में इस बात को बड़े सुंदर रूपक द्वारा व्यक्त किया गया है : आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ जानो।[१५] भगवान् की अग्नि और जल आदि तत्त्वों में, पौधों और पशुओं में, अथवा मिट्टी, पत्थर और धातु की मूर्ति में पूजा करने के बदले हम परमात्मा की

---

१३. मैत्रेय उपनिषद् २.२६ १४. वही २.१

१५. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु ...। - कठोपनिषद् १.३.३

देहरूपी मूर्ति में, उसे सबके हृदय को प्रकाशित करने वाले परमात्मा के मन्दिर, रथ अथवा निवासस्थान के रूप में पूजा कर सकते हैं। सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापी परमात्मा की उपासना द्वारा, हम उसका विराट्-ब्रह्माण्ड में भी साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि व्यष्टि, समष्टि का ही सूक्ष्म रूप है।

लेकिन यदि परमात्म-सत्ता के बदले प्रतीक, रूप अथवा व्यक्तित्व अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाय, तो उपासना का सारा आध्यात्मिक-मूल्य नष्ट हो जाता है। अत: अपनी पूजा और प्रार्थना से लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है, कि हम सही मन:स्थिति तथा दृष्टिकोण का विकास करें, जिसके बिना आध्यात्मिक-प्रगति सम्भव ही नहीं है। लेकिन सही दृष्टिकोण कैसे अपनाएँ? तन्त्रशास्त्रों में कहा गया है, कि निम्नतर के चिन्तन को नियन्त्रित करके अपनी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को क्रमश: अभिव्यक्त करने पर यह सम्भव है। सुषुम्ना-नाड़ी में स्थित छ: यौगिक-चक्र तथा मस्तिष्क में स्थित सातवें-चक्र से सम्बन्धित विभिन्न स्तरीय चिन्तन को सीढ़ी से संयुक्त एक भवन की विभिन्न मंजिलों के अनुरूप समझा जा सकता है। ये चक्र हमारे तथा चेतना के विभिन्न स्तरों के संपर्क-बिन्दु सदृश हैं।

साधना का पथ, जिसमें चेतना को एक केन्द्र से उससे उच्चतर केन्द्र में तथा अन्त में उच्चतम केन्द्र तक उठाया जा सकता है, बहुत कठिन है। लेकिन ध्यान के मार्ग का अनुसरण करने वाले प्रत्येक साधक को चेतना के केन्द्र अथवा इच्छा के केन्द्र को कम से कम हृदय-चक्र तक उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस केन्द्र की अन्तराकाश से भी तुलना की जा सकती है। कुछ लोगों के लिए हृदय को, कुछ के लिए भ्रूमध्य को, चेतना का केन्द्र बनाना आसान होता है।

जो किसी प्रतीक अथवा मूर्ति की ओर आकर्षण का अनुभव नहीं करते, वे चेतना के किसी उच्चतर केन्द्र अथवा स्तर पर उस दिव्य ज्योति का ध्यान कर सकते हैं, जो केवल हमारे शरीर को ही नहीं, बल्कि समग्र विश्व के सभी व्यक्तियों और वस्तुओं को व्याप्त किये हुए है। जिस साधक का किसी रूप के बिना काम नहीं चल सकता, वह किसी ज्योतिर्मय रूप का ध्यान करते रहने पर अन्तत: निराकार, सर्व प्रकाशक, परमात्म ज्योति के ध्यान तक पहुँच सकता है।

आत्मा, कारण-शरीर से, जो सूक्ष्म शरीर और उसके बाद स्थूल-शरीर से, आवृत है। ये तीनों शरीर – कारण, सूक्ष्म और स्थूल – दूषित हैं। कारण-शरीर अनादि अविद्या द्वारा दूषित है। सूक्ष्म अथवा मनोमय-शरीर हमारी वृत्तियों और भावनाओं द्वारा दूषित है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर असन्तुलित अहंकार तथा उसकी स्वार्थपूर्ण वासनाओं द्वारा दूषित हैं। असन्तुलित अहंकार मन को रुग्ण बना देता है। रुग्ण-मन इन्द्रियों को प्रभावित करता है और दोनों मिलकर देह की क्रिया को बिगाड़ देते हैं। इस बात की सत्यता आधुनिक-मनोविज्ञान द्वारा प्रतिदिन प्रमाणित की जा रही है। लेकिन इस असामंजस्य का ईलाज है। स्थूल, सूक्ष्म देहों आदि को एक साथ उनके आदिकारण तक ले जाओ, जहाँ से वे उत्पन्न हुए हैं। हम इस

चरम-सत्य को भूल जाते हैं कि हम परमात्मा में जीते हैं और परमात्मा हम में रहता है। अपने सहित सभी वस्तुओं को परमात्मा के साथ जोड़ देना है।

हम अपने बारे में तथा हमारी इन्द्रियों की क्रियाओं के बारे में बहुत कम जानते हैं। उदाहरण के लिए, जीवन के निम्नतम स्तर पर हमारा अपनी स्थूल इन्द्रियों के साथ तादात्म्य रहता है, लेकिन आध्यात्मिक बोध के जाग्रत होने पर हमारी चेतना के उच्चतर केन्द्र बलवान होते हैं, और वे निम्नतर केन्द्रों पर नियन्त्रण रखने लगते हैं। चेतना के अनेक केन्द्र हैं और ध्यान द्वारा निम्नस्तरों से उच्चतर केन्द्रों पर उठकर अन्त में आत्मा, परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाती है। इसके लिए काफी अभ्यास करना पड़ता है, लेकिन चेतना क्रमशः ऊपर की ओर उठने लगती है। नाड़ी-मार्गों को साफ रख़कर इच्छाशक्ति की सहायता से चेतना के स्तर को उस समय तक उन्नत करते रहना चाहिए, जब हमें परम सत्य की एक झलक मिले और क्षणभर के लिए परमात्मा के साथ अभिन्नता का अनुभव करें। तब हमें ज्ञात होगा कि परमात्मा का कुछ अंश हममें भी व्याप्त है। यदि हम उस परमात्मा के सान्निध्य का हमारे अन्दर और बाहर निरन्तर अनुभव कर सकें, तो हम एक नई शक्ति से अनुप्राणित हो जाएगें। तब हमारी जीवन-पद्धति तथा सेवा में गुणगत परिवर्तन हो जाएगा। हमारा अपने तथा दूसरों के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाएगा।

हम में से बहुत कम लोग इस तरह केवल इच्छा शक्ति की सहायता से इस अति चेतनावस्था को प्राप्त कर अपने अहंकार से छुटकारा पा सकते हैं अथवा इन्द्रियों का अतिक्रमण कर सकते हैं। लेकिन जप और ध्यान की सहायता से परमात्मा के अन्तर्यामित्व की अनुभूति की जा सकती है।

जप – सर्वश्रेष्ठ उपासना :

उपासना तीन प्रकार की है – कायिक, वाचिक और मानसिक, याने बाह्य-पूजा, स्तुति-प्रार्थनादि और ध्यान। इनमें से शास्त्रविधि के अनुसार कृत क्रियाकाण्ड और अनुष्ठान-रूप प्रथम प्रकार की उपासना सामान्य नागरिक के जीवन से प्रायः उठ गई है। यह मुख्यतः सामाजिक-जीवन के तनाव, समय की कमी तथा आधुनिक जीवन की अन्य असुविधाओं के कारण हुआ है। काल की गति का अवलोकन कर पुराणकारों ने वाचिक और मानसिक उपासनाओं को और इस में से भी वाचिक-उपासना को विशेषकर बहुत अधिक महत्त्व दिया है।

वाचिक-उपासना का अर्थ भगवान् के एक अथवा अनेक नामों और गुणों का पाठ करना है। प्रथम को जप तथा दूसरे को स्तोत्र या कीर्तन कहते हैं, लेकिन सामान्यतः दोनों एक साथ होते हैं।

'मनु' का कथन है, कि मुमुक्षु (जिज्ञासु) जप मात्र से ही चरम लक्ष्य प्राप्त करता है।[१६]

---

१६. मनुस्मृति २.८७

और महाभारत में कहा गया है, कि "जप साधनाओं में श्रेष्ठतम है।" श्रीमद्‌भागवत् में इस मत का पूरा समर्थन करते हुए कहा गया है : "सत्ययुग में विष्णु के ध्यान से, त्रेता में यज्ञों द्वारा और द्वापर में परिचर्या (पूजा) द्वारा, जो फल प्राप्त होता था, वही कलियुग में हरि-कीर्तन द्वारा प्राप्त होता है।[१७] और इस जप और स्तुति का अर्थ भगवान् के गुणों का चिन्तन भी है। इसका अर्थ यह है कि यह साधक को भगवन्नाम के जप के साथ ही साथ, अपने इष्टदेवता के दैवीरूप अथवा भगवान् के प्रेम, करुणा, बल, पवित्रता आदि सद्गुणों का भी चिन्तन करना चाहिए। अधिकांश साधकों के लिए इष्ट के रूप की कल्पना करना आसान होता है।

भावना-अर्थात् श्रद्धा और भक्ति के साथ इष्टदेव के रूप का चिन्तन करना, अपने आप में एक उच्चतर मानसी पूजा है। जप के साथ यह वर्तमान काल में सबसे अधिक प्रचलित उपासना पद्धति है। प्रारम्भिक साधक के आध्यात्मिक जीवन में कल्पना का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जप और भावना (कल्पना) साथ-साथ होना चाहिए। भगवद्रूप ज्योतिर्मय, आनन्दमय, जीवन्त और सत्य है, ऐसी भावना करनी चाहिये। अपने देह को ज्योतिर्मय सोचो और तब इष्ट के ज्योतिर्मय रूप को ज्योतिर्मय हृदय-चक्र में प्रतिष्ठित करो।

ऐसी सजीव कल्पना के लिए कुछ उपाय दिए जाते हैं। उचित आसन पर बैठने के तुरन्त बाद बद्धाञ्जली हो उपासक कहे,

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपिवा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं सबाह्याभ्यन्तरःशुचिः।।

अर्थात्, *किसी भी अवस्था में कोई पवित्र हो या अपवित्र, भगवद् चिन्तन से बाह्यभ्यान्तर पवित्रता प्राप्त करता है।*

इस प्रकार वह अपने शरीर तता मन में पवित्रता अनुभव करे। तब वह अनुमान कर सकता है कि व्यष्टि का उत्थान शरीर के निम्न केन्द्रों से मस्तक में स्थि केन्द्र तक हुआ है। तथा समष्टि चेतना के तेज-पुञ्ज के साथ एकाकार हो रहा है। फिर वह कल्पना करे कि सभी पदार्थों तथा रुपों सहित स्थूल एवं सूक्ष्म, ये दोनो शरीर परमतत्त्व की ज्योति में मिल गए हैं अब भीतर, बाहर, सर्वत्र केवल वही आलोकित है। अधिकतर लोग ज्यादा समय तक इस अवस्था में नहीं रह सकते। तत्पश्चात् उपासक अपने हृदय में चेतना-केन्द्र का अनुभव करे तथा ऐसी सजीव कल्पना करे कि उस केन्द्र में परमज्योति के सागर से उसके इष्टदेव का तेजोमयी दिव्य रूप तथा सबी मलिनताओं से मुक्त उपासक का आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत रूप भी प्रकट हो रहा है। साधक अपने को सूक्ष्म आध्यात्मिक शरीर से अभिन्न समझते हुए तथा कुछ समय के लिए भगवन्नाम जपते हए इष्टदेव की पजा तथा ध्यान करे। वह इष्टदेव

---

१७. कृते यद्ध्यायतो विष्णुः त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्।। – श्रीमद्भागवतम् १२.३.५२

तथा अपने नये आध्यात्मिक शरीर इन दोनों को आधार देने वाले तथा व्याप्त करने वाले निराकार को न भूले। अन्त में उपासक निम्नोक्त प्रार्थना का उच्चारण करते हुए अपना सर्वस्व भगवान को समर्पण करे :

इतः पूर्वं प्राणबुद्धि देह धर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु
मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्कृतं यत्स्मृतं
तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा।

अर्थात्, *प्राण बुद्धि तथा देह के आवेग के अधीन होकर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में मन वचन तथा कर्म से मेरी विभिन्न इन्द्रियों द्वारा किया गया सर्वस्व, ब्रह्म को अर्पित हो।*

जप और ध्यान को समाप्त करने के बाद भी भक्त को अपने चेतना के केन्द्र को पकड़े रहना चाहिए तथा सदा उस उच्च मनोभाव को बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक साधक का चेतना का एक निश्चित केन्द्र, एक निश्चित मन्त्र और ध्यान के लिए एक निर्धारित दैवी रूप, ये तीन बातें होनी चाहिए। प्रभावशाली होने के लिए जप और भावना बहुत तीव्रता के साथ किए जाने चाहिए।

लौकिक मामलों की तरह आध्यात्मिक विषयों में भी हमें अपने विचारों और क्रियाओं के बारे में पूर्णरूपेण स्पष्ट और निश्चित होना चाहिए। कुछ लोग इन कड़े नियमों और ध्यान की विधियों को पसन्द नहीं करते। प्रायः ऐसी अरुचि मानसिक अशान्ति और विद्रोह की द्योतक है। प्रारम्भ में निश्चित नियमावलि और विधि के बिना कोई भी आध्यात्मिक-जीवन में आगे नहीं बढ़ सकता। मैंने लोगों को बर्फ पर स्केटिंग (फिसलने) का अधिक खतरनाक खेल खेलने के पूर्व निशान बनाकर आसान स्केटिंग का अभ्यास करते देखा है। इसी तरह आध्यात्मिक-जीवन में भी ध्यान के कड़े-नियमों से सर्वप्रथम आरम्भ करना चाहिए। बाद में इन नियमों का अतिक्रमण किया जा सकता है।

साकार ईश्वर की आवश्यकता :

आधुनिक मानव बड़ी सरलता से कह उठता है : "ओह! भगवान् सर्वत्र है।" लेकिन जब वह भगवान् के स्वरूप के विषय में सोचने लगता है, तो उसे ज्ञात होता है, कि उसकी धारणा अस्पष्ट है। अधिकांश लोगों की ईश्वर सम्बन्धी धारणाएँ केवल अस्पष्ट और धूमिल होती हैं। निराकार ईश्वर का तथाकथित उपासक चर्च से घर लौटने पर केवल अपनी देह और उसके सम्बन्धियों में व्यस्त हो जाता है। वह आत्मा के स्तर पर उठकर उस अनिर्देश्य-परमात्मा के (अनिर्देश्य निराकार परमात्मा के) साथ सम्पर्क बनाने में असमर्थ होता है, जिसके बारे में वह इतनी बातें करता है। जब हमारा देहात्म-बोध प्रबल है, जब हम अपने व्यक्तित्व को एकमात्र सत्य मानते हैं, तब हमारी साधना और आध्यात्मिक-विकास के लिए एक साकार ईश्वर आवश्यक है।

निम्न-स्तर पर निराकार की मान्यता अस्पष्ट-सी हो जाती है, जब कि उच्चस्तर पर वही सत्य हो जाती है। और हम रूप और व्यक्तित्व के जिस निम्न-स्तर पर हैं, उस स्तर पर अस्पष्ट-धारणाओं की सहायता से मन में उठ रहे सभी अशुभ विचारों और चित्रों का प्रतिकार नहीं कर सकते। उनका प्रतिकार करने के लिए हमें उनके प्रतिद्वंद्वी शुभ और पवित्र विचार तथा चित्र मन में उठाने में समर्थ होना चाहिए और इसीलिए एक ऐसे दैवी-महापुरुष की आवश्यकता है, जिसमें उच्चतम आदर्श हमें चरितार्थ दिखाई दें। जब तक हम अपनी देह को सत्य समझते हैं, तब तक हमें एक दैवी-पुरुष विशेष की आवश्यकता रहेगी। लेकिन साथ ही हमें साकार और निराकार को जोड़ने वाले सूत्र को भी जानना चाहिए। आकार, निराकार की एक अभिव्यक्ति मात्र है। दैवी महापुरुष उस निराकार-परमात्मा की अभिव्यक्ति है, जो सभी के आधार के रूप में विद्यमान है।

दैवी व्यक्ति-विशेष ससीम और असीम को जोड़ने वाला सूत्र है, और इस प्रकार ग्रहण करने पर वह मस्तिष्क और हृदय दोनों को सन्तुष्ट करता है। बुद्धि अनन्त चाहती है और भावनाएँ सान्त ससीम चाहती हैं। और सही दृष्टि से देखने पर, याने परमात्मा की अभिव्यक्ति के रूप में, जिसका उसे सदा बोध बना रहता है, दिव्य व्यक्ति विशेष में हमें दोनों बातें प्राप्त होती हैं।

भगवत् रूप को मन में उठाने के लिए शब्द-प्रतीक 'ओम्' की सहायता ली जा सकती है। और इसका उपयोग पहले साकार और बाद में निराकार के चिन्तन के लिए भी किया जा सकता है। लेकिन प्राय: एक योग्य गुरु द्वारा प्रदत्त शब्द संकेत या मन्त्र का उपयोग किया जाता है। साधक को गुरु तथा मन्त्र की शक्ति में विश्वास होना चाहिए। जप करते समय मन्त्र की आवृत्ति के साथ-साथ शब्द-प्रतीक से संबन्धित इष्ट के रूप अथवा निराकार का चिन्तन भी करना चाहिए। चेतना का केन्द्र उस अनंत चैतन्य का अंश है, जो हममें ही नहीं, बल्कि समग्र ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत है तथा उसके परे और असीम भी है, पहले शब्द और चिन्तन साथ-साथ चलते रहते है, बाद में शब्द भगवच्चिन्तन और चैतन्य में लीन हो जाता है। साधना में लगे रहने पर तुम इसके वास्तविक अर्थ को अधिकाधिक हृदयंगम कर सकोगे।

परमात्मा को पाने के एक से अधिक उपाय हैं। हम भी ईसा मसीह को मानते हैं, लेकिन तुम जानते हो, श्रीरामकृष्ण के अनुयायी होने के कारण हम ईसा को परमात्मा का एकमात्र अवतार नहीं, बल्कि अनेक अवतारों में से एक मानते हैं। हमारे सहित समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर की सामान्य अपूर्ण अभिव्यक्ति है। लेकिन ईसा मसीह, बुद्ध, रामकृष्ण आदि को हम अनन्त अक्षर की, बाइबिल और वेदों में वर्णित अनन्त शब्द की विशेष अभिव्यक्तियाँ मानते हैं। यह धारणा प्राच्यवासी और पाश्चात्यवासी, दोनों में समान रूप से विद्यमान है। ये पूर्ण-अभिव्यक्तियाँ अपूर्ण अभिव्यक्त रूपों को ज्ञान और सत्य का निदर्शन कराती हैं। शब्द या अक्षर एकमात्र निराकार निर्गुण सत्ता है। स्थूलतर स्तरों पर वह साकार अथवा मानवी-रूप धारण करता है। ये रूप अनेक हो सकते हैं; लेकिन जो अभिव्यक्त होता

है, वह एक है। हम सभी महानतम् अभिव्यक्तियों में से एक या अनेक या सभी को स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन हम सभी की उस एक अनन्त-सत्ता में निष्ठा होनी चाहिए, जो समय-समय पर जगत-हित के लिए अवतरित होती है।

यदि आधारभूत सत्ता से पृथक् कोई साकार रूप तुम्हें अच्छा लगे, तो तुम उसकी पूजा और उपासना कर सकते हो। लेकिन ऐसा उस चरम-सत्ता की अनुभूति की सीढ़ी के रूप में कहना चाहिए। कालान्तर में वह निराकार-परमात्मा जिसका तुम ध्यान करने का प्रयत्न कर रहे हो, तुम्हें यह अनुभूति प्रदान करेगा कि वही साकार के रूप में अभिव्यक्त हुआ है तथा वही सर्वातीत सर्वान्तर्यामी भी है। और उसको उसके पूर्ण तथा सभी अपूर्ण रूपों में भी अर्थात् महान् पैगम्बरों तथा सामान्य स्त्री-पुरुषों में भी पहचानना चाहिए। इस विषय में पूर्व तथा पश्चिम (की विचारधारा) का कोई प्रभेद नहीं है, क्योंकि परमात्मा सभी सीमाओं से परे है।

शब्द परमात्मा का प्रतीक है, रूप भी परमात्मा का प्रतीक है। इन दोनों प्रतीकों की हम परमात्म-चेतना के जागरण के लिए सहायता लेते हैं। साकार की सहायता से नाम और रूप की शक्ल में अभिव्यक्त हो रही परमात्म-सत्ता के साक्षात्कार का प्रयत्न किया जाता है। और हम यह अनुभव करते हैं कि हम भी उस सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं।

साकार में सर्वव्यापी परमात्मा का दर्शन करने के बाद हम उसका प्रकाश स्वयं तथा दूसरों में देख पाते हैं। हमें परमात्मा को अच्छे-बुरे सभी रूपों में, लेकिन अच्छे और बुरे का अन्तर भूले बिना देखना सीखना चाहिए। तब बुरे रूप हमें बिल्कुल प्रभावित नहीं कर सकेगें। हमें भौतिक जगत के रूपों में ही परमात्मा को देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये बल्कि हमारे मन में उठ रहे रूपों में भी देखना चाहिए।

जो लोग साकार ध्यान नहीं करना चाहते, उनके लिए अपने तथा दूसरों में परमात्मा को देखने का प्रयास करना ही एकमात्र उपाय है। देह एक मन्दिर है, जिसमें आत्मा विराजित है, तथा ईश्वर आत्मा की भी आत्मा है। इसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। लेकिन कुछ ही लोग इस उच्च-आदर्श को लम्बे समय तक पकड़े रह सकते हैं।

उपसंहार :

इस प्रकार हिन्दूधर्म में "पूजा" का अर्थ अन्य धर्मों से कुछ भिन्न है। उसे उपासना कहते हैं और जैसा पहले कहा जा चुका है, उसका अर्थ परमात्मा की ओर क्रमशः अग्रसर होते हुए अन्त में उनके साथ एकत्व प्राप्त करना है। स्थूल-प्रतिमाओं से प्रारम्भ करके मानसिक-प्रतिमाओं और भगवन्नामों के जप तक पहुँचा जाता है और अन्त में आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है। क्रमिक (साधनाओं) द्वारा देहात्म-बोध और अहंकार अधिकाधिक कम होता जाता है और जीव की प्रसुप्त दिव्यता अधिकाधिक प्रकट होती जाती है। इस यात्रा में जीव विभिन्न-स्तरों से गुजरता है तथा अनेक बाधाओं पर विजय प्राप्त करता

हुआ अन्त में पूर्णता को प्राप्त करता है।

आधुनिक युग के लिए जप सर्वश्रेष्ठ उपासना है। जप उपासना के मनोभाव से किया जाना चाहिए। इस मनोभाव के नष्ट होने पर ही वह यन्त्रवत् हो जाता है। प्राय: लोग इस मूल बात को भूल जाते हैं। जप की साधना उच्चतर प्रकार की उपासना के रूप में की जानी चाहिए। जप को प्रभावशाली साधना बनाने के लिए श्रद्धा और भक्ति आवश्यक हैं। इसमें कोई शक नहीं कि यन्त्रवत् जप करने का भी कुछ लाभ होता है, क्योंकि भगवन्नाम में भी अपनी अन्तर्निहित शक्ति होती है। लेकिन जब जप श्रद्धापूर्वक एक उपासना के रूप में किया जाता है, तब हमारे समग्र देह, मन और आत्मा उसके द्वारा प्रभावित होते हैं। जप द्वारा आध्यात्मिक-जीवन में सफलता प्राप्त करने का यह रहस्य है।

एक बात सदा याद रखनी चाहिए। हमें देह से अधिक आत्मा को और आत्मा से अधिक परमात्मा को महत्त्व देना चाहिए। देह को केवल आत्मा का निवास-स्थान समझना चाहिए और आत्मा को परमात्मा का वासस्थान मानना चाहिए। हमें अपनी आत्मा के साथ अपना एकत्व अनुभव करने का और उसके बाद परमात्मा के साथ संयुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए, जो हमारी आत्मा की भी आत्मा है। इस बात को महत्त्व न देने से हमारा समग्र-जीवन एक प्रकार की देह-उपासना बन जायेगा। जो लोग साकार की उपासना को पौत्तलिकता समझकर उसे हीन दृष्टि से देखते हैं, उन्हें यह जानना चाहिये कि स्वयं की देह की उपासना से वह कहीं बेहतर है! इसके विपरीत सच्चे भक्त, परमात्मा को सबमें व्याप्त देखते हैं। इस तरह उनका सारा जीवन परमात्मा की उपासना बन जाता है, और वे परमशान्ति और धन्यता का अनुभव करते हैं।

अध्याय २४

भगवन्नाम की महिमा

शब्दों की शक्ति :

क्या आप शब्दों की शक्ति में विश्वास करते हैं? एक कहानी सुनिए। एक साँवले व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति पर मानहानि का मुकदमा दायर किया। कचहरी में न्यायाधीश ने उससे पूछा कि दूसरे व्यक्ति ने क्या किया था?

"उसने मुझे दरियाई घोड़ा कहा था।" – पहले व्यक्ति ने कहा।

"कितने दिन पूर्व?" – न्यायाधीश ने पूछा।

"दो वर्ष पूर्व।"

"तो फिर तुम अभी फरियाद क्यों कर रहे हो।"

"क्योंकि मैंने उस पशु को आज सुबह ही देखा है।"

अर्थ का ज्ञान होने पर नाम में महान् शक्ति रहती है। जब कोई द्वेष-वश हमें गधा, सूअर, उल्लू आदि बुरे नामों से पुकारता है, तो हम अपना संतुलन खो बैठते हैं।

हम सभी जानते हैं, कि हम नाम पुकारा जाने पर प्रत्युत्तर देते हैं। भीड़ से किसी को बुलाने का श्रेष्ठतम उपाय उसका नाम लेकर पुकारना है। सोये व्यक्ति को जगाने के लिए भी हम यही करते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज-कवि 'टेनिसन' को एक आश्चर्यजनक अनुभूति होती थी, जिसका वर्णन उसने अपनी कविता "पुरातन-ऋषि" में किया है :

हुआ है कई बार ऐसा
जब मैं एकान्त में बैठा,
आवृत्ति उस नाम की करता
जो है प्रतीक मेरा।
आत्मा की स्थूल सीमा नष्ट होती
और वह नाम-रूपातीत में प्रविष्ट करती,
जैसे बादल आकाश में विलीन होता।
मैं स्पर्श करता अंगों को अपने,
मेरे नहीं पराए लगते।
पर सन्देह की छाया तक नहीं, सुस्पष्ट,

हुआ क्षुद्र अहंकार पूरी तरह नष्ट।
ऐसा विराट् जीवन उपलब्ध,
हमारे जीवन की तुलना में
मानो सूर्य, स्फुलिंग की तुलना में।
शब्दों के द्वारा अव्यक्त
छाया-जगत् की छाया-मात्र। [१]

क्या कभी तुमने इस सत्य को हृदयंगम किया है कि तुम्हारा अपना नाम आत्मा का प्रतीक है? अपनी मानसिक संवेदनशीलता के कारण 'टेनिसन' अपने ही नाम का उपयोग अतीन्द्रिय-जगत् की किसी विशेष प्रकार की झलक प्राप्त करने के लिए कर सका था। यदि एक सामान्य नाम में ऐसी शक्ति है, तो भगवन्नाम में कितनी अधिक शक्ति होगी? लेकिन भगवन्नाम की इस शक्ति को वही अभिव्यक्त कर सकता है, जो उसका अर्थ, वह किसका प्रतीक है, यह जानता है।

पवित्राक्षर ओंकार :

भारत का परिभ्रमण करते हुए स्वामी विवेकानन्द एक दिन हिमालय में अल्मोड़ा के निकट एक पुरातन-वृक्ष के नीचे बैठे और शीघ्र ही गहरे ध्यान में निमग्न हो गये। ध्यान के बाद स्वामीजी ने अपने सहयात्री गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द से कहा, "सुनो, यहाँ इस पीपल के वृक्ष के नीचे मेरे जीवन की एक सबसे महान् समस्या का समाधान हो गया है।" इस अनुभूति का, उनकी डायरी में उनके द्वारा उस समय लिखा संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :

प्रारम्भ में शब्द था, इत्यादि। व्यष्टि ब्रह्माण्ड और समष्टि-ब्रह्माण्ड एक ही योजनानुसार निर्मित हैं। जिस प्रकार एक जीव एक प्राणयुक्त देह से आवृत है, उसी प्रकार विराट् आत्मा प्राणवन्त दृष्ट-जगत्-प्रकृति से आवृत है। यह एक (जीव) का दूसरे (प्रकृति) के द्वारा आवृत होना, शब्द और उसको अभिव्यक्त करने वाले भाव के अनुरूप है। वे दोनों एक ही हैं और मानसिक-विश्लेषण द्वारा ही उन दोनों का पृथक् ज्ञान सम्भव है। शब्द बिना विचार असम्भव हैं। अत: प्रारम्भ में शब्द था, इत्यादि। विश्व आत्मा का यह द्विविध रूप अनादि है। अत: हम अनन्त निराकार और अनन्त साकार के इस सम्मिलित रूप को ही देखते अथवा अनुभव करते हैं। [२]

वर्षों बाद स्वामीजी ने उपर्युक्त विचारों को अपने 'भक्तियोग' में विकसित किया।

भारतीय-दर्शन के अनुसार नाम और रूप ही इस जगत् की अभिव्यक्ति के कारण हैं। मानवीय अन्तर्जगत् में एक भी ऐसी चित्तवृत्ति नहीं रह सकती, जो नाम रूपात्मक न हो। यदि

---

१. एफ. मेक्समूलर द्वारा – दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन-फिलासाफी, (न्यूयार्क, लांग मेन्स ग्रीन एण्ड को. १९२८), पृ. १९४ में उद्धृत

२. ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स, लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, (१९७४), पृ. १७९

यह सत्य हो कि प्रकृति सर्वत्र एक ही नियम से निर्मित है, तो इस नाम-रूपात्मकता को समस्त ब्रह्माण्ड का नियम कहना होगा। जैसे मिट्टी के एक पिण्ड को जान लेने से मिट्टी की सब चीजों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार इस देह-पिण्ड को जान लेने से समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। रूप, वस्तु का मानो छिलका है और नाम या भाव भीतर का गूदा। शरीर है रूप और मन या अन्तःकरण है नाम; और भाव-शक्ति-युक्त समस्त प्राणियों में इस नाम के साथ उसके वाचक शब्दों का अभेद्य योग रहता है। व्यष्टि-मानव के परिच्छिन्न महत् या चित्त में विचार तरंगें पहले शब्द के रूप में उठती हैं और फिर बाद में वे तदपेक्षा स्थूलतर 'रूप' धारण कर लेती है। वृहत्-ब्रह्माण्ड में भी ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ या समष्टि-महत् ने पहले अपने को नाम के, और फिर बाद में रूप के आकार में अर्थात् इस परिदृश्यमान जगत् के आकार में रूप के आकार में अभिव्यक्त किया। यह सारा व्यक्त इन्द्रिय ग्राह्य जगत्-रूप है, और इसके पीछे है, अनन्त अव्यक्त-स्फोट। स्फोट का अर्थ है, समस्त जगत की अभिव्यक्ति का कारण 'शब्द-ब्रह्म'। समस्त नामों अर्थात् भावों का नित्यसमवायी उपादान-स्वरूप यह नित्य-स्फोट ही वह शक्ति है, जिससे ईश्वर इस विश्व की सृष्टि करता है। यही नहीं, ईश्वर पहले स्फोट-रूप में परिणत हो जाता है, और तत्पश्चात् अपने को उससे भी स्थूल इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेता है। इस स्फोट का एकमात्र वाचक शब्द है, 'ॐ'। और चूँकि हम किसी भी उपाय से शब्द को भाव से अलग नहीं कर सकते, इसलिए यह 'ॐ' ही इस नित्य-स्फोट से नित्य-संयुक्त है। अतएव समस्त विश्व की उत्पत्ति सारे नामों की जननी-स्वरूप इस ओंकार-रूप पवित्रतम शब्द से ही मानी जा सकती है।[३]

दूसरे शब्दों में परमात्मा, ईश्वरीय-भाव के द्वारा अभिव्यक्त होता है, और ईश्वरीय-भाव, ईश्वरीय शब्द या वाणी द्वारा अभिव्यक्त होता है। भगवन्नाम की शक्ति के विषय में उचित-धारणा के लिए अनिवार्य यह सिद्धान्त, भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का अंग बन गया है, जिसकी सत्यता इस प्रकार की साधना करने वाले असंख्य सन्तों और ऋषियों ने प्रमाणित की है। अपने व्यक्तिगत अनुभव के बारे में स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहते हैं :

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उपदेश देते समय शब्द-ब्रह्म, नाद की चर्चा की। मैंने अपने मध्यान्ह-ध्यान के समय इस पर ध्यान किया। ज्योंही मैं ध्यान के लिए बैठा, शब्द-ब्रह्म का मुझे साक्षात्कार हुआ।[४]

कठोपनिषद् में ओम् को आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य तथा परम सत्य कहा गया है।

समस्त वेद जिस पद (लक्ष्य) का निर्देश करते हैं, समस्त तप जिस ओर इंगित करते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, वह मैं तुम्हें संक्षेप में कहूँगा। वह 'ओम्' है। वही परब्रह्म स्वयं है। उसे जाननेवाला जीवन में कृतकृत्य हो जाता है।[५]

मुण्डकोपनिषद् में ओम् की धनुष से तथा एकाग्र और शुद्ध मन की तुलना तीर से की

---

३. विवेकानन्द साहित्य –४, (१९६३) पृ. २९-३०

४. द इटरनल कम्पेनिअन, (१९७१), पृ. १४९

५. कठोपनिषद् १.२.१५,१६

गई है, तथा हमें तीव्र मनोयोग के साथ (अप्रमत्त होकर) तीर छोड़ने को कहा गया है, जिससे ब्रह्मरूपी लक्ष्य को वेध कर, वह उसके साथ एकाकार हो जाए।[६] यहाँ ओम् समग्र औपनिषदिक-श्रुतज्ञान को सूचित करता है। उसकी सहायता से हमें अपने शुद्ध मन से ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। 'ओम्' हिन्दू धर्म का पवित्रतम प्रतीक है, जो अत्यन्त पुरातन काल से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है। वेदान्त के सार को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाले माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है,

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं, भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।

अक्षर ओम् अक्षर ब्रह्म तथा समग्र ब्रह्माण्ड है। भूत, वर्तमान और भविष्य सभी ओंकार है।[७]

इस उपनिषद् में आगे ओम् की व्याख्या की गई है तथा इसके प्रत्येक अक्षर की चेतना के स्तर विशेष के साथ एकता बताई गई है। वेदान्त के अनुसार मानव के सामान्य अनुभव ज़ाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में होते हैं। इसी तरह 'ओम्' शब्द भी अ, उ और म इन तीन अक्षरों में विभक्त किया जा सकता है, जो क्रमशः उपर्युक्त तीन अवस्थाओं का संकेत करते हैं। चूँकि व्यष्टि-ब्रह्माण्ड और समष्टि-ब्रह्माण्ड एक ही योजनानुसार निर्मित हैं, अतः अ, उ और म अक्षर क्रमशः बृहत् स्थूल जगत्, बृहत् मनोजगत तथा इन दोनों के आधारभूत कारण के भी प्रतीक हैं। लेकिन ब्रह्म अथवा चरम-सत्य, जिसकी ये तीनों अभिव्यक्तियाँ हैं, इनका अतिक्रमण करता है तथा ओम् का अनभिव्यक्त शब्दातीत 'अमात्र' उसका प्रतीक है।

शब्द तत्त्व और नाद-ब्रह्म :

पतंजलि भी अपने योगसूत्रों में 'ओम्' को ईश्वर का वाचक कहते हैं।[८] वे यह भी कहते हैं कि इस ओंकार के जप से आध्यात्मिक-प्रगति के अन्तराय दूर होते हैं और प्रत्यक्-चेतन की प्राप्ति होती है।[९] इस प्रकार 'ओम्' हिन्दू धर्म के सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द प्रतीकों में से एक है। लेकिन वह सन्त 'जान' द्वारा कथित ईसामसीह की कथा में उल्लिखित 'शब्द' से अधिक रहस्यमय नहीं है। सन्त जानकृत कथा का प्रारम्भ निम्न प्रकार है :

(सृष्टि के) प्रारम्भ में शब्द था,
और शब्द ही ईश्वर था।
वही प्रारम्भ में ईश्वर के साथ था।

---

६. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्।। – मुण्डकोपनिषद् २.२.४

७. माण्डूक्योपनिषद् -१

८. तस्य वाचकः प्रणवः – पातंजल योगसूत्र १.२७

९. ततः प्रत्यग्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च - पातंजल योगसूत्र १.२९

उसने सभी वस्तुओं की रचना की,
उसमें ही जीवन था, और जीवन
मानवों की ज्योति था।
और शब्द ने स्थूल आकार धारण किया
और हमारे बीच रहा। [१०]

इस चतुर्थ धर्मोपदेश के लेखक ने यहाँ ईसा मसीह का शब्द के साथ, यूनानियों के शब्द-तत्त्व के साथ एकत्व बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु उस समय यह मान्यता नवीन नहीं थी। ऑसीरिस, मिथ्रा आदि पुरातन सम्प्रदायों के कुछ देवताओं को भी किसी समय अनादि शब्द-तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ समझा जाता था।

लोगोस या शब्द-तत्त्व की धारणा पुरातन-काल में काफी प्रचलित थी। पुरातन यूनानी दार्शनिकों में से एक हेरक्लेटस के अनुसार सृष्टि के क्रम परिवर्तनों को नियन्त्रित करने वाला कोई तत्त्व होना चाहिए और उसने उसे 'लोगोस' कहा। बाद में उसे सार्वभौमिक-बुद्धि कहा जाने लगा, मानव-बुद्धि जिसका एक अंग है। स्टोएक-मतावलम्बियों ने उसे ईश्वर-विषयक मान्यता प्रदान कर लोगोस को अपने सर्वेश्वरवादात्मक सिद्धान्त के साथ मिला दिया। यहूदी सर्वप्रथम यह मानते थे कि जगत् की उत्पत्ति 'ईश्वर के शब्द' से हुई है। परवर्ती यहूदी-दार्शनिक सिकन्दरिया के फिलो ने इस शब्द या 'ईश्वर के श्वास' को पृथक् सत्ता मानकर उसे लोगोस की संज्ञा दी। उसके अनुसार परमात्मा इस अपूर्ण जगत् पर लोगोस के माध्यम से प्रभावविस्तार करता है। चतुर्थ धर्म-कथा के लेखक संत जॉन ने लोगोस और ईश्वर को एक मानकर एक ही ईश्वरीय-सत्ता और कर्ता के दो नाम बताये। इसी लोगोस ने ईसामसीह के रूप में मूर्त रूप धारण किया।

भारत में लोगोस या शब्द-तत्त्व के सिद्धान्त का प्रारम्भ व्याकरणाचार्यों से हुआ, जिन्होंने उसे 'स्फोट' संज्ञा दी। बाद में तन्त्रों में उसका और विकास हुआ। तन्त्रो का एक अंग, मन्त्रशास्त्र, इस सिद्धान्त पर आधारित है कि समग्र ब्रह्माण्ड स्पन्दनों से निर्मित है। जिसे हम शब्द कहते हैं, वह केवल बाह्य भौतिक स्पन्दन मात्र है। रेडियो तरंगों जैसी इलेक्ट्रो मेग्नेटिक या विद्युतचुम्बकीय तरंगें श्रवणगोचर शब्द से सूक्ष्मतर हैं। ये ईथर या व्योमतत्त्व की तरंगें हैं। रेडियोग्राहक यन्त्र में विद्यमान विशेष यन्त्र रेडियो तरंगों को श्रवणगोचर स्पन्दनों में परिवर्तित कर सकता है। चित्तवृत्तियाँ इनसे भी सूक्ष्मतर हैं। विचार पुनः नादब्रह्म (या शब्द-ब्रह्म) या विराट-मन के चिरन्तन अतीन्द्रिय विराट्-स्पन्दनों की अभिव्यक्ति है।

नादब्रह्म एक दार्शनिक सिद्धान्तमात्र नहीं है। इसकी अनुभूति की जा सकती है। सूक्ष्म मन द्वारा इसे सुना जा सकता है। जिस प्रकार सूक्ष्म रेडियो-तरंगों को सुनने के लिए विशेष यन्त्र की आवश्यकता है, उसी प्रकार नाद ब्रह्म के स्पन्दनों को सुनने के लिए अत्यन्त पवित्र

---

१०. बाइबिल संत जॉन १.१-१४

मन आवश्यक है। मन के शुद्ध और एकाग्र होने पर चिरन्तन, अत्यन्त सूक्ष्म-विश्वजनीन-स्पंदन, दीर्घ, निरवच्छिन्न अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। यह कल्पनामात्र नहीं है। और न ही कान के किसी रोग से ऐसा होता है। अतिमात्र में कुईनाइन के सेवन से अथवा सिर पर चोट लगने से पैदा हुई स्थूल ध्वनि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अंगुलियों से कानों को बंद करने पर पैदा होने वाली भिनभिनाहट भी यह नहीं है। यह दीर्घ निरन्तर-साधना द्वारा प्राप्त एक नितान्त-भिन्न प्रकार की अनुभूति है। अनाहत ध्वनि वह सूक्ष्म ध्वनि-स्पन्दन है, जो फव्वारे में उठ और गिर रहे जल की तरह नाद-ब्रह्म या विराट मन से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है।

ये विराट्-सूक्ष्म 'धड़कनें' मन के शान्त होने तथा आध्यात्मिक चेतना के उच्चतर-स्तर पर आरोहण करने पर ही सुनी जा सकती हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं है, कि आध्यात्मिक-पथ का प्रत्येक पथिक इसे सुने। यह उनके द्वारा सुनी जाती हैं, जिसका मन उसके स्पन्दनों के साथ समरस हो जाते हैं। अन्य उच्च साधकों को अन्य प्रकार की अनुभूतियाँ हो सकती हैं। अनाहत-ध्वनि हममें विद्यमान केन्द्रिय-नाड़ी सुषुम्ना नाड़ी की सक्रियता से सम्बन्धित है। यह नाड़ी अधिकांश लोगों में बन्द रहती है। चित्त शुद्धि तीव्र मुमुक्षा और एकाग्रता के द्वारा इस नाड़ी मार्ग को खोला जा सकता है। तब आध्यात्मिक प्रवाह एक सूक्ष्म आध्यात्मिक संगीत करता हुआ उससे होकर ऊपर उठता है। पुरातन यूनान के पाईथागोरियन योगी इसे "ब्रह्माण्ड का संगीत" कहते थे। हिन्दू भक्त इसे कभी "श्रीकृष्ण की वेणु" कहते हैं। यह नित्य कृष्ण की वास्तविक वेणु है। परमात्मा से प्रवाहित हो रहा दिव्य संगीत जीव को आनन्द विभोर कर देता है, और उसे आध्यात्मिक चेतना के उच्च स्तरों की ओर ले जाता है। जैसा स्वामी विवेकानन्द ने कहा है :

"स्पष्ट रूप से उच्चारित जितनी भी ध्वनियाँ हैं, उनकी उच्चारण क्रिया मुख में जिव्हा के मूल से आरम्भ होती है, और ओठों में आकर समाप्त हो जाती है – 'अ' ध्वनि कण्ठ से उच्चारित है और 'म' अन्तिम ओष्ठ्य-ध्वनि है। और 'उ' उस शक्ति का द्योतक है, जो जिव्हा मूल से आरम्भ होकर मुँहभर में लुड़कती हुई ओठों में आकर समाप्त होती है। यदि इस 'ॐ' का उच्चारण ठीक ढंग से किया जाए, तो इससे शब्दोच्चारण की सम्पूर्ण-क्रिया सम्पन्न हो जाती है। दूसरे (अन्य) किसी शब्द में यह शक्ति नहीं है। अतएव यह 'ॐ' ही स्फोट का सर्वाधिक उपयुक्त वाचक शब्द है और यह स्फोट ही 'ॐ' का प्रकृत-वाच्य है। और चूँकि वाचक वाच्य से कभी भी अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए 'ॐ' और स्फोट अभिन्न हैं। फिर यह स्फोट इस व्यक्त जगत् का सूक्ष्मतम अंश होने के कारण ईश्वर के अत्यन्त निकटवर्ती है, तथा ईश्वरीय-ज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसलिए 'ॐ' ही ईश्वर का सच्चा वाचक है।"[११]

---

११. विवेकानन्द साहित्य –४, (प्रथम संस्करण), पृ. ३०-३१

मन्त्र क्या है?

अतएव हम देखते हैं, कि ओम् का अर्थ कितना गहरा और व्यापक है। हमारे आध्यात्मिक जीवन में आत्मसाक्षात्कार के सहायक के रूप में जप और ध्यान में प्रयुक्त ओम् के ज्ञानदायक पक्ष को समझना आवश्यक है। ओम् सामान्यत: अखण्ड, अनन्त, निर्गुण, निराकार ब्रह्म के प्रतीक के रूप में लिया जाता है, लेकिन उसका उपयोग किसी साकार ईश्वरीय-विग्रह के साथ भी किया जा सकता है। वस्तुत: यह इतना पवित्र माना जाता है कि उसका प्रयोग सभी धार्मिक अनुष्ठानों और स्तोत्रादि में किया जाता है। परन्तु प्राय: ईश्वर के प्रत्येक साकार रूप का अपना एक विशिष्ट नाम तथा वाचक शब्द और कभी-कभी एक गुह्य अक्षर होता है, जो 'बीज' कहलाता है। इस विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

और जिस प्रकार अपूर्ण जीवात्मागण एकमेव अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म का चिन्तन विशेष-विशेष भाव से विशेष-विशेष गुणों से युक्त रूप में ही कर सकते हैं, उसी प्रकार उसके देह रूप इस अखिल ब्रह्मांड का चिन्तन भी साधक के मनोभाव के अनुसार विभिन्न रूप से करना पड़ता है। उपासक के मन का दिशा-निर्धारण तत्त्वों की प्रबलता के अनुसार होता है। परिणामत: एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न-भिन्न गुणों की प्रधानता से युक्त दीख पड़ता है, और वही एक विश्व विभिन्न रूपों में प्रतिभास होता है। जिस प्रकार अल्पतम विशिष्टीकृत तथा सार्वभौमिक वाचक शब्द 'ॐ' के सम्बन्ध में, वाच्य और वाचक परस्पर समवायी रूप से सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार वाच्य और वाचक का अविच्छिन्न सम्बन्ध ईश्वर और विश्व के विभिन्न खण्ड भावों पर भी लागू है। अतएव उनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट वाचक शब्द होना आवश्यक है। ये वाचक शब्द ऋषियों की गम्भीरतम आध्यात्मिक अनुभूति से उत्पन्न हुए हैं, और वे ईश्वर तथा विश्व के जिन विशेष-विशेष खण्ड-भावों के वाचक हैं, उन विशेष भावों को यथासंभव प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार 'ॐ' अखण्ड ब्रह्म का वाचक है, उसी प्रकार अन्यान्य मन्त्र भी उसी परम-पुरुष के खण्ड-खण्ड भावों के वाचक हैं। ये सभी ईश्वर के ध्यान और सत्य-ज्ञान प्राप्ति में सहायक हैं।[१२]

संस्कृत का "शब्द" ध्वनि और शब्द दोनों का सूचक है। वार्तालाप के समय हम 'वैखरी' नामक शब्द के स्थूल रूप को ही सुनते हैं। यह जिव्हा, स्वरतन्त्री आदि की क्रिया से पैदा होता है। इसके पीछे चिन्तन-क्रिया के द्वारा उत्पन्न होने वाला शब्द है। यह 'मध्यमा' वाक् है। विचार पुन: 'पश्यन्ती' नामक और भी सूक्ष्मतर प्रक्रिया का परिणाम है और जो स्वयं 'परा' नामक अव्यक्त शब्द ब्रह्म से उत्पन्न होती है। अत: परा, पश्यन्ती और मध्यमा से होकर वैखरी तक मानव के मनोराज्य का विस्तार है। हम अपने अन्तर्जगत के बारे में कितना कम सोचते हैं? हम कितनी लापरवाही से सोचते और बोलते हैं? चिन्तन एक सक्रिय-प्रक्रिया है, जिसका उद्भव सूक्ष्म अव्यक्त आदिकारण से होता है। अशुभ चिन्तन का

१२. विवेकानन्द साहित्य, पूर्वोद्धृत पृ. २१

प्रभाव गहरा होता है और वह हमारे समग्र-देह-मन को प्रभावित करता है। इसी तरह शुभ चिन्तन हमारे व्यक्तित्व के गहनतर-स्तरों को भी शुभ बनाता है।

सामान्य-चिन्तन में हम मन के आध्यात्मिक-धरातल के विषय में अनभिज्ञ रहते हैं। लेकिन मन्त्र कहे जानेवाले विशेष विचार-संकेतों के द्वारा उस मौलिक-स्तर तक पहुँचा जा सकता है। मन्त्र के जप तथा उसके अर्थ की भावना से हम चेतना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर-स्तरों पर पहुँचकर उच्च से उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कर धन्य हो सकते हैं। ठीक से जप करने से जड़ प्रतीत होनेवोले शब्द जीवन्त हो महान् शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक मन्त्र में यह शक्ति (मन्त्र-चैतन्य) निहित रहता है। जब उच्च आध्यात्मिक पुरुष मन्त्र का जप करता है, तो उसमें यह शक्ति संचारित हो जाती है और वह चैतन्य हो उठता है। जब वे यह मन्त्र शिष्य को प्रदान करते हैं, तो यह शक्ति भी उसमें संचरित हो जाती है। विधिपूर्वक साधना करने वाले तथा पवित्र जीवन यापन करनेवाले ही मन्त्र की शक्ति का अनुभव कर सकते हैं।

मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है : "जो मनन द्वारा जीव का त्राण करे" (मननात् त्रायते इति)। मन्द बुद्धिवालों के लिए मन्त्र केवल शब्द अथवा संकेत-मात्र है, लेकिन उच्च साधक की दृष्टि में वह गंभीर आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करने वाला महान् शक्तिसम्पन्न घनीभूत विचार है। मन्त्र के यथायथ जप से उच्चतम ज्ञानालोक और मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। शब्द का अनुसरण करते हुए योगी साकार ईश्वर का दिव्य दर्शन प्राप्त करता है और उसके बाद समस्त शब्दों का अतिक्रमण कर परमात्मा तक पहुँचता है।

मन्त्र विभिन्न प्रकार के हैं। गायत्री मन्त्र अति प्राचीन और प्रसिद्ध मन्त्रों में से एक है। "नमःशिवाय" शिव जी का सबसे विख्यात मन्त्र है। "नमो नारायणाय" विष्णु का प्रसिद्ध मन्त्र है। "हरे राम हरे राम" आदि तथा "श्रीराम जय राम जय जय राम" का जप लाखों हिन्दू करते हैं। उक्त सभी मन्त्र असंख्य संतों के जीवन और अनुभूतियों से सम्बन्धित रहे हैं। विधिपूर्वक जप करने से प्रत्येक मन्त्र साधक में एक विशेष प्रकार के स्पन्दनों को पैदा करता है, जिससे अन्ततोगत्वा ध्येय देवता का दर्शन प्राप्त होता है। तान्त्रिक परम्परा में मन्त्रों को सर्वसाधारण को नहीं बताया जाता। गुरु से प्राप्त मन्त्र को शिष्य गुप्त रखता है और अपने निकटतम सम्बन्धी को भी नहीं बताता। प्रत्येक मन्त्र में 'बीज' नामक एक विशेष अक्षर होता है, जो तत्सम्बन्धित देवता की शक्ति का प्रतीक होता है। ऐसी मान्यता है कि बीज से देवता की सृजनात्मक शक्ति हममें जाग्रत होती है।

जप की शक्ति :

मन्त्र की शक्ति उच्चतम अधिकारियों में ही प्रकट होती है। अपनी देह त्यागने के कुछ दिन पूर्व एक दिन श्रीरामकृष्ण ने काशीपुर उद्यान-भवन में अपने शिष्य नरेन्द्र को 'राम मन्त्र' से दीक्षित किया। स्वभावतः महान् आत्म-संयम सम्पन्न नरेन्द्र में इससे आश्चर्यजनक

परिवर्तन हुआ। इस बार उनकी भावावस्था हो गई और वे भगवान् का 'राम राम' नाम उत्तेजित और उच्च स्वर में जपते हुए भवन का चक्कर लगाने लगे। उनकी बाह्य चेतना प्रायः लुप्त हो गई। और उन्होंने सारी रात इसी तरह बिताई। जब श्रीरामकृष्ण को इसकी सूचना दी गई, तो उन्होंने केवल इतना ही कहा : ''उसे यों ही रहने दो। कुछ समय बाद वह सामान्य हो जायेगा।'' कुछ घण्टो बाद नरेन्द्र सामान्य हो गए।

प्रत्येक शब्द हमारे मन में उठ रहे किसी भाव अथवा इच्छा को व्यक्त करता है। मन्त्र मानव की आध्यात्मिक स्पृहाओं का द्योतक है। जिस प्रकार बोला या सुना गया एक सामान्य शब्द हम में किसी भाव अथवा कामना विशेष को पैदा कर सकता है, उसी प्रकार मन्त्र हममें प्रसुप्त आध्यात्मिक-प्रवृत्तियों को जाग्रत कर सकता है। इन प्रसुप्त आध्यात्मिक-प्रवृत्तियों की अभिव्यक्तियाँ किसी एक संस्कृति विशेष के लोगों में एक तरह की होती है अतएव प्रत्येक संस्कृति-विशेष के लोगों के अपने विशिष्ट मन्त्र या पवित्र शब्द प्रतीक होते हैं। विधिवत् जप करने पर ये अपने विशिष्ट मन्त्र या पवित्र शब्द प्रतीक होते हैं। विधिवत जप करने पर ये मन्त्र उन आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को जाग्रत कर देते हैं जो अधिकांश लोगों में आवरित आवृत पड़ी रहती है। जप का उद्देश्य मानव की विस्मृत आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को जगाना है। प्रत्येक साधक का एक इष्ट देवता, एक मन्त्र और चेतना का एक निश्चित केन्द्र होना चाहिए। उसे सदा चेतना के इस केन्द्र को पकड़े रहना चाहिए।

जप कई प्रकार से किया जा सकता है। साधक जोर से उच्चारण करके मन्त्र जप कर सकता है, कम से कम इतने जोर से कि वह स्वयं उसको सुन सके। यह वाचिक जप कहलाता है। अथवा वह होठों को हिलाते हुए मुँह ही मुँह में बोलकर जप कर सकता है। ऐसा जप उपांशु कहलाता है। तीसरी विधि बिना जिव्हा और होंठों के हिलाए मन ही मन मन्त्र का जप करना है। ऐसा ध्वनिरहित जप मानसिक कहलाता है। मानसिक जप निश्चित रूप से श्रेष्ठतम है, लेकिन जिन्हें वह कठिन लगे, वे अन्य दो विधियों से जप कर सकते हैं। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साधक को जप करते समय अपने चेतना के केन्द्र को पकड़े रखना चाहिए।

विश्व के धर्मों में जप का स्थान :

'अपने प्रभु भगवान् का नाम व्यर्थ में न लो।' बाईबिल के इस निर्देश और ईसा द्वारा व्यर्थ जप की निंदा की अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं। केथोलिक ईसाई लोग 'मेरी की स्तुति' का जप करने के लिए जप-माला का उपयोग करते हैं, परन्तु सामान्यतः ईसाई-धर्म में भगवन्नाम के जप के बदले अनुनयपूर्ण प्रार्थना पर अधिक जोर दिया गया है। लेकिन ग्रीक रूढ़िवादी ईसाई सम्प्रदाय का अवलोकन करने पर हम पाते हैं, कि वहाँ हिन्दू धर्म के जप से मिलती-जुलती एक प्रकार की बार-बार की गई प्रार्थना को बहुत महत्त्व दिया गया है। मध्य युग के ग्रीक सन्त 'ईसामसीह की प्रार्थना' नामक एक सरल सूत्र (फार्मूला) के जप की

एक विधि विशेष में पारंगत हुए थे।[१३] 'द वे आफ पिलग्रिम' नामक लोकप्रिय पुस्तक में इस विधि का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है :

ईसा मसीह की आंतरिक निरवच्छिन्न प्रार्थना का अर्थ निरंतर व्यवधान रहित ईसा के पवित्र नाम का होठों से, आत्मा में हृदय में जप/उच्चारण करना है। यह कार्य सदा-सर्वदा सभी स्थानों पर सभी कार्यों में रत रहते हुए, यहाँ तक कि निद्रा में भी उनके निरन्तर सान्निध्य का मानसिक कल्पना चित्र अंकित करते हुए तथा उनकी कृपा की याचना करते हुए किया जाना चाहिए। यह प्रार्थना इन शब्दों में की जानी चाहिए : "प्रभु ईसा मसीह! मुझ पर दया करो।"[१४]

इस्लाम में सूफी सन्त अल्लाह अथवा अली के नाम के जप का प्रयोग आध्यात्मिक-जागरण के लिए सदियों से करते रहे हैं। बारहवीं सदी के महान् मुसलमान धर्माचार्य अल-ग़ज़ाली, के धर्म-सम्प्रदाय में अनुयायियों को निम्न-निर्देश दिए जाते थे :

साधक एकान्त में अकेले बैठे और ध्यान रखें, कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई विचार उसके मन में न आने पावे। इस तरह एकान्त में अकेले बैठकर जिव्हा से वह 'अल्लाह-अल्लाह' निरन्तर उच्चारण करना बंद न करे, और मन को उसी में लगाए रखे। अन्त में एक ऐसी अवस्था आएगी जब जिव्हा का चलना बन्द हो जाएगा और ऐसा प्रतीत होगा, मानो शब्द उससे अपने आप प्रवाहित हो रहा है। वह इसमें उस समय तक लगा रहे जब तक जिव्हा का हिलना पूरी तरह बन्द न हो जाए, और वह पाये, कि उसका मन उसी चिन्तन में लगा हुआ है। वह इस प्रक्रिया में तब तक और लगा रहे जब तक शब्द का रूप और उसके अक्षर मन से दूर न हो जायें, और मन से मानो चिपका हुआ उससे अभिन्न रूप में केवल भाव रह जाये। इसके बाद केवल भगवान् उसके समक्ष जो प्रकट करेगें, उसके लिए प्रतीक्षा करने के सिवाय और कुछ करणीय नहीं रहता। इस पद्धति का अनुसरण करने पर परम सत्य की ज्योति निश्चित रूप से उसके हृदय में प्रकाशित होगी।

बौद्ध धर्म में नैतिक जीवन और ध्यान को अधिक महत्त्व दिया गया है। लेकिन महायान बौद्ध शाखा के कुछ सम्प्रदायों में विज्ञान के उपाय के रूप में भगवन्नाम के जप का विधान किया गया है। जापान के 'शिन' नामक सर्वाधिक लोकप्रिय बौद्ध-सम्प्रदाय में साधक "नमो अमिताभ बुद्धाय:" (जो जापानी भाषा में 'नमू-अमिडा-बुत्सु' होता है) मन्त्र का निरन्तर जप करता है। सुखावती व्यूह सूत्र की टीका में निम्न अंश है :

अमिडा के नाम का पूरे मन से चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते केवल जप करते रहो, और एक क्षण के लिए भी उसे बन्द न करो। यह कार्य निश्चित रूप से मोक्ष तक ले जाता है, क्योंकि यह 'अमिडा' बुद्ध की मूल प्रतिज्ञा के अनुरूप है।

सूरंगम-सूत्र नामक एक अन्य शास्त्र में कहा गया है :

---

१३. देखिए कडलोबोस्की और पामर रचित राइटिंग्स फ्रॉम द फिलोकेलिया ऑन प्रेयर ऑफ द हर्ट, (लन्दन, फेबर एण्ड फेबर १९५१)

१४. द वे ऑफ दि पिलिग्रिम,(लन्दन, S.P.C.K. १९४१) पृ. १९-२०

(अमिताभ बुद्ध के नाम के जप की) साधना का लाभ यह है ... जो भी अमिताभ बुद्ध के नाम का वर्तमान अथवा भविष्य में जप करेगा, वह अमिताभ बुद्ध का अवश्य दर्शन करेगा और उससे कभी पृथक् नहीं होगा। जिस प्रकार इत्र के निर्माता का सहवास करने वाला उसी सुगन्ध से ओतप्रोत हो जाता है, उसी प्रकार अमिताभ के इस संग से वह अमिताभ की करुणा से सुवासित हो जाएगा, और बिना अन्य किसी उपाय के प्रबुद्ध हो जाएगा।

हिन्दू धर्म में जप का स्थान :

हिन्दू धर्म का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि जप को किसी न किसी रूप में यहाँ बहुत महत्त्व दिया गया है। दक्षिण भारत के शैव और वैष्णव सन्तों तथा उत्तर भारत के महान् सन्तों मे भगवन्नाम के सतत जप पर बहुत बल दिया है। सन्त तुकाराम के एक भजन का भाव यह है :

प्रभु, जब तुम्हारा नाम मेरे मन में उदित हो, तो मेरा आपके प्रति प्रेम प्रज्ज्वलित हो उठे, और मैं आनन्द से मूक हो जाऊँ मेरे नेत्रों से आनन्दाश्रु बहने लगें, अंग थिरकने लगें और मेरे रोम रोम में आपका प्रेम व्याप्त हो जाए। मैं आपके आनन्दमय गुण-गान में लगा रहूँ, तथा दिन-रात अहर्निश आपके नाम का जप करता रहूँ। तुका कहता है कि यही सर्वश्रेष्ठ कार्य है और संतों के चरणों में परम शांति मिलती है।[१५]

गुरुनानक और उनके अनुयायियों ने भगवन्नाम को बहुत महत्त्व दिया है। भगवन्नाम का जप नानक द्वारा उपदिष्ट एक महत्त्वपूर्ण साधना है। चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में सभी वर्ग के लोगों में जप का प्रचार-प्रसार किया। नामे रुची, जीवे दया, वैष्णव सेवा (भगवन्नाम में रुचि, जीवों पर दया, वैष्णवों की सेवा) यह त्रिविध विधान उनके पंथ का आधार है। यौवन में वे अपनी प्रखर बुद्धि और पाण्डित्य के लिए विख्यात थे। लेकिन वे सर्वस्व का त्याग कर भगवत्प्रेम में दीवाने हो गये। उनका कथन है :

चेतो दर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेय: कैरवचंद्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
स्वानंदाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदंपूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्म स्वप्नं परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनम्।।[१६]

श्रीकृष्ण के नाम-संकीर्तन की जय हो, जो चित्तरूपी दर्पण को साफ़ करता है, संसार रूपी महान् दावानल को बुझाता है, जो श्रेयरूपी श्वेतकमल पर चन्द्रमा की ज्योत्सना के समान है, जो (परमात्म) विद्यारूपी वधु का जीवन है, जो आनन्दसागर की वृद्धि करता है, जो प्रतिपद पर पूर्णामृत के समान सुस्वादु है तथा जो समस्त प्राणियों के लिए शीतल स्नान-स्वरूप है।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है :

---

१५. निकोल मेकनिकोल की पुस्तक साम्स ऑफ मराठा सेन्ट्स, (कलकत्ता, असोसिएशन प्रेस), पृ. ७१-७२

१६. श्रीचैतन्य शिक्षाष्टकम १

जप करने का अर्थ है, निर्जन में चुपचाप उनका नाम लेना। एकाग्र होकर उनका नाम जप करते रहने से उनके रूप के भी दर्शन होते हैं और उनका साक्षात्कार भी होता है। जंजीर से बँधी लकड़ी गंगा में जैसे डुबोई हुई हो और जंजीर का दूसरा छोर तट पर बँधा हुआ हो। जंजीर की एक-एक कड़ी पकड़ कर कुछ दूर बढ़कर फिर पानी में डुबकी मार कर उसी प्रकार और आगे बढ़ते हुए लोग लकड़ी को अवश्य छू सकते हैं। इसी तरह जप करते हुए मग्न हो जाने पर धीरे-धीरे ईश्वर के दर्शन होते हैं। [१७]

माँ सारदा अपने साधना-काल में लगभग एक लाख जप प्रतिदिन किया करती थीं। उन्होंने अपने जीवन से भगवन्नाम की शक्ति को प्रदर्शित किया है। जप और ध्यान की सहायता से उनका देहात्म-बोध नष्ट हो जाता था, और वे अतिचेतन अनुभूतियों के स्तर पर आरूढ़ हो जाती थीं। अपने उपदेशों में उन्होंने बार-बार जप के महत्त्व पर बल दिया है, जो एक शिष्य के साथ इनके निम्नोक्त वार्तालाप से प्रकट होता है :

शिष्य : माँ! कुण्डलिनी जागरण के बिना कुछ नहीं होने का।

माँ सारदा : हाँ बेटा! कुण्डलिनी धीरे-धीरे जाग्रत होगी। भगवन्नाम के जप से तुम सब अनुभव कर सकोगे। मन शान्त न भी हो, तो भी एक स्थान पर बैठकर तुम एक लाख जप कर सकते हो। कुण्डलिनी जागरण के पूर्व अनाहत-ध्वनि सुनायी पड़ती है। लेकिन माँ जगदंबा की कृपा के बिना कुछ भी नहीं होता। [१८]

कोयालपाड़ा में एक शिष्य ने माँ सारदा से कहा : "माँ! मन बड़ा चञ्चल है। मैं उसे किसी भी प्रकार स्थिर नहीं कर पा रहा हूँ।" माँ ने उत्तर दिया : "जैसे वायु बादलों को हटा देती है, वैसे ही भगवन्नाम सांसारिकता में मेघों को दूर कर देता है।" [१९]

पंद्रह अथवा बीस हजार जप प्रतिदिन करने पर मन शांत होगा। यह सत्य है। अरे कृष्णलाल, मैंने स्वयं इसका अनुभव किया है। उन्हें पहले जप करने दो, उसके बाद यदि वे असफल हों, तो मुझसे शिकायत कर सकते हैं। थोड़ी भक्ति के साथ जप करना चाहिए, पर लोग ऐसा नहीं करते। वे करेंगे कुछ नहीं और केवल शिकायत करेगें, "मैं सफल क्यों नहीं होता?" [२०]

प्रारब्ध-कर्म का फल भोगना पड़ता है। इससे कोई बच नहीं सकता। लेकिन जप अथवा भगवन्नाम की आवृत्ति से उसकी तीव्रता कम हो जाती है। जैसे किसी का पैर कटने वाला हो, तो उसके बदले उसके पैर में केवल काँटा चुभकर रह जाता है।

श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्यों में से एक स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने जप को बहुत महत्त्व दिया है। एक शिष्य ने एक बार उनसे पूछा : "महाराज! कुण्डलिनी को कैसे जगाया जा सकता है?" महाराज ने उत्तर दिया : "कुछ लोगों के अनुसार उसको जगाने के विशेष उपाय

---

१७. श्रीरामकृष्णवचनामृत –३, (नवम् संस्करण, १९९२), पृ. ३६५

१८. स्वामी तपस्यानन्द और स्वामी निखिलानन्द, श्रीसारदा देवी द होली मदर, (१९६९) पृ. ४०१

१९. वही पृ. ४०५ २०. वही पृ. ३९८ २१. वही पृ. ४२३

हैं। लेकिन मैं समझता हूँ, कि जप और ध्यान उसके जागरण के सर्वश्रेष्ठ उपाय हैं। जप की साधना हमारे आधुनिक युग के लिए विशेषरूप से उपयुक्त है।" [२२]

एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा है :

जप-जप-जप। कार्य करते समय भी जप करो। भगवान् के नाम का चक्र अपनी समस्त क्रियाओं के बीच चलने दो। यदि ऐसा कर सको, तो हृदय की समस्त ज्वाला शान्त हो जाएगी। भगवन्नाम का आश्रय लेकर बहुत से पापी शुद्ध, मुक्त और दिव्य हो गए हैं। भगवान् और उनके नाम में प्रबल विश्वास रखो, जानो, कि वे दोनों भिन्न नहीं हैं। [२३]

इतने उद्धरण देने का उद्देश्य क्या है? ये क्या प्रदर्शित करते हैं? सिद्ध महापुरुषों की ये वाणियाँ बताती हैं कि भगवन्नाम में महान् शक्ति है। इस शक्ति में विश्वास होना चाहिए। लाखों लोगों ने जप की सहायता से आध्यात्मिक उन्नति की है। यह एक महत्त्वपूर्ण साधना-पद्धति है। भगवन्नाम की शक्ति आगे या पीछे साधक में अवश्य प्रकट होगी। भगवन्नाम मन में उठ रहे अशुभ विचारों को निरस्त करता है। भगवन्नाम के निरन्तर जप के बिना पूर्ण पवित्र जीवन यापन करना असम्भव है। यह मैं अपने स्वयं के जीवन के अनुभव से कह रहा हूँ। अतएव हमें निरन्तर भगवन्नाम का जप करना चाहिए। हमारे देह और मन पवित्र और आध्यात्मिक स्पन्दनों से स्पन्दित होते रहें। नाम हमारी बाधाओं को दूर करे, और हमारी आत्मा का परमात्मा के साथ मिलन करे। हम आत्मा के उस संगीत को गाना सीखें जो आत्मा को उन्नत बनाता है और परमात्मा के साथ संयुक्त करता है।

कुछ व्यावहारिक सुझाव :

सर्वप्रथम देह के स्तर से मानसिक स्तर पर उठो और फिर आध्यात्मिक-स्तर पर उठने का प्रयत्न करो। उच्चतर आध्यात्मिक भाव-प्रवाहों के संस्पर्श में आने के पूर्व हम में विद्यमान निम्न भाव-प्रवाहों को निष्क्रिय करना होगा। जब निम्न भाव-तरंगें बहुत प्रबल हों, तो भगवन्नाम का जप बहुत तीव्रता और निष्ठा के साथ करो। हमारा पर्यावरण विभिन्न प्रकार से पैदा हो रही ध्वनि-तरंगों से पूर्ण है। ये हमारे अनजाने ही हमें प्रभावित करती हैं। रेडियो पर संगीत सुनने पर तुम विभिन्न प्रकार के संगीतों के अपने ऊपर पड़ रहे प्रभाव को पहचान सकोगे। कोई संगीत तुम्हारा बौद्धिक स्तर ऊँचा करता है, कोई तुम्हें चञ्चल बनाता है, तो कोई तुम्हें मानो पागल ही कर डालता है। बुरे संगीत के प्रभाव को भजनों और पावन स्तोत्र पाठादि से विफल करना सीखो।

व्यक्तिगत आन्तरिक संगीत का निर्माण करो। वस्तुतः वह निरन्तर चल रहा है। मन को अंतर्मुखी बनाकर ठीक से साधने पर उसे सुना जा सकता है। "कृष्ण की बाँसुरी" का हृदय-सम्मोहनकारी मधुर संगीत भीतर सुना जा सकता है। वह हृदय को आनन्द से पूर्ण और

---

२२. द इटरनल कम्पेनिअन, पूर्वोद्धृत पृ. २७५   २३. वही पृ: २९७

देह और मन को शांति से प्लावित कर देता है।

जप शुरू करने के पहले श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम, यदि जप कुछ हद तक यन्त्रवत् हो भी तो कुछ हर्ज़ नहीं। परन्तु व्यक्ति को मन्त्र की शक्ति में विश्वास होना चाहिए। प्रवर्तक जानता है कि उसके बोध का केन्द्र लगातार बदल रहा है – कभी ऊपर जा रहा है तो कभी नीचे, और ऐसे अनुभव से प्रत्येक साधक के लिए यह सबसे कठिन अवस्था है। शुरू में नियमित समय में जप करते हुए जो भी परिणाम हो, अपार धैर्य के साथ उसे आगे बढ़ाना चाहिए। यथा समय सफलता प्राप्त करने का यही एकमात्र मार्ग है।

ध्यान या जप का अभ्यास करते समय तुम स्वयं को कभी तन्द्रा मत आने दो। यह बड़ा खतरनाक है। निद्रा, तन्द्रा तथा ध्यान को एकसाथ कभी भी जोड़ना नहीं चाहिए। यदी तुम्हें खूब सुस्ती आती हो तो उठकर अपने कमरे में जप करते करते जब तक सुस्ती नहीं चली जाती तब तक इधर उधर चलते फिरते रहो। जब मन अत्यन्त चंचल और बहिर्मुख होता है तब हमें चंचलता की ओर ध्यान दिये बिना जप में, यद्यपि वह यन्त्रवत् क्यों न हो, लगे रहना चाहिए। इस तरह सम्पूर्ण मन चंचल नहीं हो सकता है।

तुम्हारे इष्ट के नाम या मन्त्र के हर जप के साथ कल्पना करो कि तुम्हारा शरीर, मन और इन्द्रियाँ शुद्ध हो रही है। यह श्रद्धा दृढ करनी चाहिए क्योंकि जप के पीछे यही एक कल्पना है। इष्ट मन्त्र स्नायुओं को प्रशमित करता है, मन को शान्त कर शरीर में सहायकारी बदलाव करता है। जब मस्तिष्क अत्यन्त तनावपूर्ण अथवा अवसादपूर्ण स्थिति में आ जाए, तो तत्काल प्रभु का नाम गुनगनाते हुए दिव्यत्व का चिन्तन शुरू कर दो। यह कलपना करो कि इससे शरीर एवं मस्तिष्क में एक नई लय के साथ सन्तुलन की स्थिति क शुरूवात हो रही है। यथार्थत: तुम अनुभव करोगे कि कैसे इससे सारा स्नायविक समूह प्रशमित हो रहा है, कैसे इसके द्वारा मस्तिष्क की बहिर्मुखी प्रवृत्ति अधिक से अधिक स्तब्ध हो रही है।

तुम जप से पहले या जप करते समय प्राणायाम का अभ्यास भी कर सकते हो। लयबद्ध, नियमित श्वासोच्छ्वास शान्तता लाता है। स्नावयिक तन्तु-समूह में सन्तुलन लाता है तथा इससे आध्यात्मिक साधना में अभिवृद्धि होती है। श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया करते समय, मस्तिष्क को कुछ कठोर निर्देश देने का प्रयास करना चाहिए। 'मैं पवित्रता को भीतर खींच रहा हूँ, अपवित्रता को बाहर धकेल रहा हूँ। मैं शक्ति को भीतर लेकर कमजोरी को बहिष्कृत कर रहा हूँ। मैं स्वतन्त्रता को श्वास से भीतर समाविष्ट करके बन्धनों को उच्छवास द्वारा बाहर फेंक रहा हूँ। इन निर्देशों को जप करते समय भी देने चाहिए। ये सब यथार्थ साधना करने हेतु भूमिका तैयार करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

जप के साथ अथवा उसके पहले तुम प्राणायाम भी कर सकते हो। सुनियोजित, नियन्त्रित श्वास-प्रश्वास (प्राणायाम) से प्रशान्ति आती है और स्नायु-तन्त्र कुछ हद तक संतुलित होता है, और यह तुम्हारी साधना में भी सहायता होता है। प्राणायाम करते समय मन को कुछ जोरदार सुझाव देने का प्रयत्न करो : मैं पवित्रता को भीतर ले रहा हूँ और प्रश्वास

द्वारा अपवित्रता बाहर निकाल रहा हूँ। मैं श्वास के साथ बल भीतर ले रहा हूँ और प्रश्वास के साथ दुर्बलता बाहर निकाल रहा हूँ। मैं शान्ति भीतर ले रहा हूँ, सारी अशान्ति बाहर निकाल रहा हूँ। मैं मुक्ति भीतर ले रहा हूँ और समस्त बन्धनों को बाहर निकाल रहा हूँ। जप करते समय भी ये सुझाव दिए जा सकते हैं। मुख्य साधना का आधार तैयार करने में ये बहुत सहायक होते हैं।

पवित्र विचार शरीर तथा मन में अवश्यम्भावी समन्वय लाते हैं। सोचो, कि प्रत्येक मन्त्र के प्रत्येक जप के साथ तुम पवित्र से पवित्रतर हो रहे हो। जप का प्रभाव तुम एकाएक नहीं जान सकते परन्तु कुछ अवधि तक नियमित रूप से तता अध्यवसाय से करते रहने पर तुम्हें इसका अनुभव होगा और फिर कुछ वर्षों के बाद तुम यह जान कर स्तम्भित हो जाओगे कि तुम में कितना बड़ा बदलाव आया है। प्रयोग के लिए कार्यक्षेत्र बहुत है। कुछ सीमा तक इस शरीर को और स्नायुओं को भी दिशाबद्ध तथा लयबद्ध करना है। तभी हम आध्यात्मिक साधनाओं तथा ध्यान के लिए उचित मनोदशायुक्त होंगे तथा उन्हें सही लगन तथा उचित रीति से करेंगे। बाकी सब तो प्रारम्भिक उपाय हैं।

इस रास्ते में सब कुछ कठिन है। मानसदर्शन कठिन, मन का नियन्त्रण कठिन और ध्यान कठिन। जब भी कठिन है लेकिन उचित रीति से करने पर उतना कठिन नहीं। अत: नई शक्ति प्राप्त करनी होगी और इसके लिए दिए गए निर्देश बहुत सहायक हैं। शब्द तथा शब्द-प्रतीकों की महान् शक्ति का लाभ उठाओ। तुम्हें यह अनुभव करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए कि प्रभु का नाम – पवित्र मन्त्र – तुम्हें पावन तथा उन्नत कर रहा है। समय आने पर तुम स्वयं जानोगे कि नूतनाभ्यासी साधक के जीवन में भगवन्नाम का लयबद्ध जप आध्यात्मिक साधना का अति महत्त्वपूर्ण भाग है।

शब्द-प्रतीकों की सहायता सदैव लो क्योंकि शब्द और विचार परस्पर सम्बन्धित हैं। विचार स्वयं के विभिन्न शब्दों से अभिव्यक्त करते हैं। अब हम पाते हैं कि दिव्य-कल्पना परमेश्वर के विभिन्न पवित्र नामों से अभिव्यक्त होती है। इसीलिए हम आध्यात्मिक साधना में शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्द की सहायता से हमें पवित्र विचार का सुगमतर हो जाता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि शब्द-प्रतीक से हमें उसमें निहित अर्थ की ओर बढ़ें अन्यथा शब्द हमारी कुछ भी मदद नहीं कर सकता। पहले बाह्य पूजा होती है, प्रत्येक साधक द्वारा अगला आध्यात्मिक अभ्यास जप और ध्यान और अन्त में बन्द या खुली आखों से भी दिव्य सत्ता की सर्वव्यापकता का अनुभव होता है। यह उच्चतम अवस्था है और इसे कोई तभी प्राप्त कर सकता है जब वह पहले की सभी अवस्थाओं को क्रमश: पार करे।

शब्द-प्रतीक तथा प्रभु के पवित्र विचार में निश्चित रूप से सम्बन्ध दृढ़ करने का यत्न करो ताकि शब्द-प्रतीक के सम्पर्क में आते ही दिव्य विचार उठे। जैसे कि टाइपरायटर की एक कल जब तुम दबाते हो तो उसी के अनुरुप अक्षर कागज पर छपता है उसी प्रकार जैसे ही तुम शब्द प्रतीक के संस्पर्श में आते तो तुम में तदनुरूप विचार उठना चाहिए और वह

तुम्हारी सहायता करे। परन्तु इसके लिए प्रतिदिन सुनियोजित अभ्यास द्वारा इन दोनों में अत्यन्त सुनिश्चि सम्बन्ध अवश्य बनाना चाहिए।

चाहे तुम्हारे मन में प्रचण्ड अशान्ति का आवेग उठने वाला हो और वह तुम्हें कमजोर कर रख दे तो भी जप करो। यदि आवश्यक हो तो जोर ले या कम से कम तुम्हें सुनाई दे, इतने जोर से जप करो। कई बार अति अशान्त अवस्था में मौन रह कर किया गया मानसिक जप पर्याप्त नहीं है। सुनाई देनेवाली ध्वनि टकते मन को रोकती है हमें ध्वनि-कम्पन के प्रभाव कम नहीं करने चाहिए। हमारा सम्पूर्ण मन यहां तक कि हमारा शरीर भी भगवन्नाम का लयबद्ध कीर्तन होने पर दिखाता है। जप मन को उच्चतर वैश्विक कम्पनों के अनुकूल बनाता है। यह मन को शान्त, उदात्त तथा केन्द्रित करता है। कुछ लोग उँची आवाज में जप जारी रखते हैं, और विशेष आध्यात्मिक लाभ पाते हैं। उच्चारण के बिना मानसिक जप से भी कैसा ही प्रभाव बनाया जा सकता है।

श्रीरामकृष्ण जप की तुलना उस जञ्जीर से करते थे जिसका एक सिरा नदी में डूबे एक बड़े कुन्दे से बँधा हो। जञ्जीर को पकड़े एक-एक कड़ी आगे बढ़ते तुम अन्त में कुन्दे को छूते हो। उसी प्रकार भगवन्नाम की प्रत्येक आवृत्ति तुम्हें भगवान के समीप ले जाती है। शब्द हमें ज्ञान की स्मृती दिलाता है और ज्ञान भगवान का सान्निध्य कराता है। ध्यान रहे कि गुरु की दृष्टि से तुम्हारा जप बेहतर होता जाए। तुम्हें अपना जप सचेत होकर तथा ध्यानपूर्वक करना चाहिए और समय बीतने के साथ इसे बढ़ाना चाहिए। सदा जञ्जीर का ध्यान रखते हुए अगली कड़ी पकड़ने की चेष्टा करो। इस प्रकार तुम भगवान के समीपतर आते हुए अपने को ध्यन के लिए तैयार करते हो।

यदि हमें लगे कि हम बहे जा रहे हैं तो भी हों जञ्जीर को अवश्य पकड़े रहना चाहिए। कई बार हम अपने समक्ष उपस्थित खतरे को बड़ा चढ़ाकर समझते हैं। बाद में हमें पता चलता है, कि हम अपनी सजीव कल्पना द्वारा उसे बढ़ा बना रहे थे। परिस्थिति बुरी रही हो, लेकिन वह प्राय: इतनी बुरी नहीं होती, जितनी हम मान लेते हैं। प्राय: परिस्थितियाँ इतनी बुरी दिशा नहीं लेतीं, जैसा हम कल्पना करते हैं। और यदि परिस्थितियाँ सचमुच बहुत बुरी हों, तो भी संघर्ष त्याग कर बिना प्रतिकार के पराजय क्यों स्वीकार करते हो? ऐसी स्थिति में सदा अपनी प्रार्थना, जप करते रहो और यथासम्भव समस्या का सामना करने का प्रयत्न करो। यदि पराजित भी होओ, तो भी तुम्हारी पराजय सफलता की सीढ़ी बन जाएगी।

नियम तो यह है कि भगवन्नाम के जप के साथ भगवद्रूप का ध्यान किया जाए। लेकिन जब ध्यान के योग्य मन:स्थिति न हो, तब एक साथ, बिना व्यवधान के एक या दो हजार बार भगवन्नाम का जप किया जा सकता है। यदि यह कुछ यन्त्रवत् भी हो जाये, तो कोई बात नहीं है। इस तरह अभ्यास करने पर, बाद में ध्यान करना आसान हो जाएगा। ध्यान, जप की आगामी सीढ़ी है। जप, व्यवधान-युक्त ध्यान है। एक प्रकार से ध्यान को निरविच्छिन्न जप कहा जा सकता है और अवश्य वह एक अधिक तीव्रतर प्रक्रिया है। जप में व्यवधान युक्त

शब्द और चिन्तन रहता है, जब कि ध्यान में केवल व्यवधानरहित चिन्तन मात्र रहता है। यदि हम ध्यान करना चाहते हैं, तो हमें पहले जप का अभ्यास करना चाहिए। प्रारम्भ से ही ध्यान नहीं किया जा सकता।

जब भी मानसिक सन्तुलन खोने का भय हो, तब भगवन्नाम का उच्चारण करो और अपने चेतना के केन्द्र में भगवद्रुप का ध्यान करने का प्रयत्न करो। शब्द को पकड़े रहो और उसके अर्थ का चिन्तन करो। कुछ समय तक ऐसा करने में समर्थ होने पर महान् स्थिरता प्राप्त होगी। तब हमारा अव्यवस्थित मन कुछ मात्रा में व्यवस्थित हो जाएगा और हमारे चिन्तन तथा भावना अधिकाधिक स्पष्ट होगें। जप अनेक बाधाओं को दूर कर साधक को ध्यान के लिए सक्षम बनाता है। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, जप किये जाओ। मन में जप करने की इच्छा नहीं है, केवल इसीलिए जप करना बन्द क्यों करते हो? पराजय स्वीकार क्यों करते हो? अपने ही मन के द्वारा क्यों ठगे जाते हो? भगवन्नाम का जप करते रहो और उस के द्वारा प्रतिपादित आदर्श का चिन्तन करते रहो और कभी हार न मानो। नाम का जप इस तरह करते रहो, कि तुम्हारे कर्ण उसे सुनें और मन उसके अर्थ का चिन्तन करे।

भगवन्नाम की महिमा :

साधना के प्रारम्भ में वास्तविक ध्यान के बारे में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। जप तथा इष्टदेवता का चिन्तन करो। कालान्तर में जप विकसित होकर, ध्यान बन जाएगा। (एक पात्र से दूसरे पात्र में डाली जा रही) तेल धारावत् प्रत्यय की एकतानता ध्यान कहलाता है।

ध्यान द्वारा परमात्मा संसार से अधिक सत्य प्रतीत होने लगेंगे। और तभी वास्तविक ध्यान सम्भव हो सकेगा। प्रथम करणीय कार्य को पहले करो, और तब अगली अवस्था अपने-आप उपस्थित होगी।

अपने तरीके से जप प्रारम्भ करो। ओंकार के वाचिक जप के साथ अपने को लयबद्ध करने के बाद क्रमशः उपांशु जप किया जा सकता है, और भारतीय ऋषियों के शब्द-ब्रह्म अथवा यूनानी पाईथागोरियन दार्शनिकों के 'स्वर्गीय संगीत' के संस्पर्श में आया जा सकता है। लयपूर्ण शब्द का जप करो और जानो कि वह अनन्त सत्य, प्रेम, आनन्द-स्वरूप परमात्मा का प्रतीक है – उसकी एक अभिव्यक्ति है। अपने मन रूपी 'रेडियो' को ठीक से मिलाने या समायोजित करने पर तुम विश्वजनीन स्पन्दनों के साथ संपर्क स्थापित कर सकते हो, जो तुम्हें विराट् मन (हिरण्यगर्भ) के संस्पर्श में ले जाएगा और उसके माध्यम से अपनी आत्मा की भी आत्मा, समस्त प्राणियों की आत्मा, सर्वव्यापी परमात्मा तक तुम पहुँच सकते हो।

सभी परिस्थितियों में जप करते रहो। साधक को प्राप्त पवित्र 'शक्ति मन्त्र' में व्यवधान दूर करने की तथा आध्यात्मिक चेतना जाग्रत करने की महान् शक्ति है। यह वस्तुतः देवी

अथवा काली कहलाने वाली जगदंबा की शक्ति है, जो भगवान् श्रीरामकृष्ण के रूप में इस युग में आविर्भूत हुई है।

जप करते समय कभी कभी साधक यदि अपनी जपमाला या हथेली से हृदय, मस्तक आदि चेतना के उच्चतर केन्द्रों को स्पर्श करे, तो यह काफी लाभदायक होता है। केन्द्र-विशेष के शारीरिक स्थान को स्पर्श करने से चेतना को उस स्थान पर केन्द्रित करना आसान होता है।

भगवन्नाम मन को एक तरह से सम्बल प्रदान करता है। किसी कठिन समस्या के उपस्थित होने पर शान्त रहकर थोड़ा आत्म-निरीक्षण करने का प्रयत्न करना चाहिए, तथा हृदय के अन्तस्थल से प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। किसी समस्या के उपस्थित होने पर अपना सन्तुलन बिगड़ने क्यों देते हो? (जप रूपी) कड़ी को हाथों से छोड़ते ही तुम कहीं के नहीं रहते। जब कोई भी सहायता नहीं होती तब परमात्मा ही एकमात्र सहायक होते हैं, और परमात्मा का अर्थ है हममें विद्यमान आत्मा की भी परम-आत्मा। जप आध्यात्मिक स्वहित के उपायों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एक उपाय है। वह हमें हमारी आत्मा की परम-आत्मा के निकट से निकटतर ले जाता है।

हमारी अवस्था में वस्तुत: जप ही एकमात्र कार्य है, जो हम कर सकते हैं। हम उसे कभी-कभी भद्रता के तौर पर 'ध्यान' की संज्ञा दे देते हैं। नैतिक आचरण, कर्तव्य-पालन, जप, प्रार्थना, शास्त्रों का अध्ययन और मनन के यथासम्भव अभ्यास द्वारा पहले अपने को सक्षम बनाए बिना किसी भी प्रकार के उच्चस्तरीय ध्यान को करने का प्रश्न ही नहीं हो सकता। ये प्रारम्भिक साधनाएँ मन को विभिन्न विक्षेपों से दूर रखने तथा प्रारम्भिक अवस्था में हमें भगवच्चिन्तन में – भले ही व्यवधान सहित – लगाए रखने में हमारी सहायता करती हैं। बाद में निरन्तर साधना द्वारा हम उसी चिन्तन-प्रवाह को व्यवधान रहित बनाए रखने में समर्थ होगें।

ज्यों-ज्यों हम देह और मन से, तथा मन-वचन और क्रिया में पवित्र से पवित्रतर होते जाएगे, त्यों-त्यों हमारी एकाग्रता भी अधिकाधिक वर्धित होगी और ध्यान श्रेष्ठतर होता जाएगा। और तब कालान्तर में हम परमात्मा के साकार और निराकार दोनों रूपों का साक्षात्कार कर सकेगें। तब हम अपने हृदय में ही ससीम के साथ असीम के, जीव और ईश्वर, हमारी आत्मा के परम-आत्मा से, मिलन की अनुभूति कर सकेगें। इस तरह ध्यान के लक्ष्य, उच्चतम अतिचेतनावस्था की प्राप्ति होती है, जब जीव अपने वास्तविक-स्वरूप, भगवत्-सत्ता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है और अपनी वास्तविक पूर्णता और मुक्ति, शान्ति और आनन्द का लाभ करता है।

भगवन्नाम सभी को शान्ति और धन्यता प्रदान करे।

□□□

अध्याय २५

निराकार ध्यान

अद्वैत का लक्ष्य सुदूर है :

निम्नोक्त संस्कृत श्लोक में हिन्दुओं की उपासना का यथार्थ भाव बड़ी अच्छी तरह व्यक्त किया गया है :

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितं,
स्तुत्यनिर्वचनीयताखिलगुरो दूरीकृतं यन्मया।
व्यापित्वञ्च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदीश तद्विकलतादोषतत्रयं मत्कृतम्।।

अर्थात् हे प्रभो! आप रूपविवर्जित हैं, लेकिन मैंने ध्यान में आपके रूप की कल्पना की है; हे जगद्गुरु! स्तुती द्वारा आपकी अनिर्वचनीयता की उपेक्षा की है; तीर्थ-यात्रादि द्वारा आपके सर्वव्यापित्व का निराकरण किया है; हे जगदीश! विकृति के इन दोषत्रय को कृपया क्षमा करें।

सारी उपासनाओं के पीछे यह मूल सिद्धान्त है कि सभी नामों, रूपों और प्रतीकों के पीछे एक रूपगुणातीत परम ज्योति विद्यमान है। आध्यात्मिक जीवन-अद्वैत की अनुभूति रूपी छत तक जाने वाली एक सोपानपंक्ति के समान है। चूँकि हममें से अधिकांश अभी भी सीढ़ी पर ही हैं, छत पर नहीं, अतएव हमें सोपानों पर अधिक ध्यान देना चाहिए, लेकिन सदा याद रखना चाहिए, कि हमारा लक्ष्य सोपानों से परे की छत है। यही नहीं, सर्वप्रथम तो हमें यह ज्ञात होना चाहिए, कि हम सीढ़ी पर खड़े कहाँ है।

बहुत से लोग अद्वैत-विषयक कुछ पुस्तकें पढ़कर प्राय: अद्वैत परक ध्यान करना चाहते हैं। बहुत से लोग अनन्त की चर्चा करते हैं, लेकिन व्यावहारिक स्तर पर इससे उन्हें क्या लाभ होता है? अधिकांश लोग इसे बीच में ही छोड़ देते हैं, उन्हें कुछ नहीं मिलता। कुछ दूसरे लोगों को महीनों अथवा वर्षों तक व्यर्थ परिश्रम के बाद समझ में आता है कि अद्वैत उनकी समझ से बाहर है। लोग यह भूल जाते हैं कि अद्वैत प्रत्यक्ष अनुभूति की अवस्था है। तुम्हें बौद्धिक दृष्टि से जो रुचिकर लगता हैं, वह महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि महत्त्वपूर्ण वह है, जो तुम सचमुच कर सकते हो। केवल पुस्तकें पढ़कर ही हमें कुछ भी करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

सच्चा आध्यात्मिक-अनुभूतिसम्पन्न द्वैतवादी अनुभूतिरहित अद्वैतवादी से अनन्त-गुना अच्छा है।

जब तक सूक्ष्मतम रूप में भी ध्याता, ध्यान और ध्येय विद्यमान है, तब तक द्वैत है। अत: फिलहाल "एकमेवाद्वितीयम्" की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। अभी एकत्व में विलीन होने का प्रश्न नहीं उठता। अधिकांश लोगों के लिए उस अवस्था को प्राप्त करने में करोड़ों वर्ष लगेगें।

अनेकता में एकता :

लेकिन बहुत्व में एकत्व को स्वीकार करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समस्त नानात्व के बीच हमें उस एक को नहीं भूलना चाहिए, जो हमारा चरम लक्ष्य है। हम जिन ईश्वरीय-रूपों का ध्यान करते हैं, उनका आधार अनन्त, पूर्ण परमात्मा होना चाहिए। भक्तिमार्ग में साधक अपने इष्टदेवता पर अपना मन और भावनाएँ केन्द्रित करता है। अधिकांश लोगों को ध्यान के लिए ऐसे ईश्वरीय रूपों के सम्बल की आवश्यकता होती है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए की ये सारे ईश्वरीय रूप उस अनन्त सत्ता की विशेष अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। तुम्हारी आत्मा और ईश्वरीय रूप वेदांतोक्त ब्रह्म नामक अनन्त सत्ता के साथ एकरूप हैं लेकिन ईश्वरीय-रूप ब्रह्म की विशेष अभिव्यक्ति हैं।

महान अवतारों और पैगम्बरों में ईश्वरीय दिव्य ज्ञान, प्रेम, पवित्रता आदि की अपूर्व अभिव्यक्ति दिखाई देती है। हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व के केंद्र में भी यही ज्ञान, प्रेम, पवित्रता आदि विद्यमान है, लेकिन वे सब अज्ञान से आवरित हैं। हमारा व्यक्तित्व सत्य और मिथ्या का मिश्रण है।

प्रकाश का स्फुलिंग अपने प्रकाश-स्वरूप को भूलकर आवरण के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, और इसी से जीवन की सारी समस्याएँ एवं दुःख पैदा होता हैं। यदि तुम ऐसी कल्पना करो, कि तुम अनन्त-चैतन्य-सिन्धु में निमग्न हो, तो तुम्हें अनुभव होगा कि तुम्हारा व्यक्तित्व वस्तुत: एक सूक्ष्मतर इकाई है, जो स्थूल हो गया है।

निराकार ध्यान के प्रकार :

फिर भी किसी दैवी-पुरुष का ध्यान करने के बदले तुम चाहो तो सागर, आकाश अथवा अनन्त प्रकाश जैसे परमात्मा के किसी अपुरुषविध प्रतीक का ध्यान कर सकते हो। यह निराकार ध्यान है, लेकिन याद रखो, यह अद्वैतवाद नहीं है, केवल उसकी एक सीढ़ी है। ज्योति सागर का ध्यान और दिव्य महापुरुष का ध्यान दोनों द्वैतात्मक ध्यान हैं, लेकिन पहला दूसरे की अपेक्षा अद्वैत के अधिक निकट है। और मैं पुन: कहता हूँ : अनुभूति सम्पन्न द्वैतवादी अनुभूति रहित अद्वैतवादी से अनन्तगुना श्रेष्ठ है।

निराकार ध्यान करते समय सोचो कि तुम्हारा उपास्य-महान् ज्योति खण्ड है तथा तुम

क्षुद्र ज्योति-कण हो तथा दोनों ही अनन्त विराट् ज्योतिसागर में निमग्न हो। प्रारम्भ में हम न्यूनाधिक मात्रा में केवल देह का ही चिन्तन करते हैं, और हमारे तथा सभी वस्तुओं के आधार के रूप में विद्यमान चैतन्य सत्ता की हमारी धारणा अस्पष्ट ही होती है, बाद में हम चैतन्य सत्ता को देह से अधिक महत्त्व देने लगते हैं, और सभी देहों में विद्यमान तथा उन्हें जीवन प्रदान करनेवाले भगवद्स्फुलिंग को देखने का प्रयत्न करते हैं।

भक्त के लिए निराकार ईश्वर को साकार ईश्वर के अनुरूप प्रेम करना सम्भव है! यह केवल व्यक्तिगत अभिरुचि का प्रश्न है। इसमें तीन स्तर होते हैं :

१. सगुण साकार
२. सगुण निराकार
३. निर्गुण निराकार

साधना के दौरान हमें अपनी स्थिति के अनुरूप एक निश्चित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। कुछ भक्त एक विशेष मनोभाव में सगुण साकार को, और दूसरी मनःस्थिति में सगुण निराकार को ग्रहण करते हैं। हमारा मनोभाव चाहे कुछ भी रहे, प्रत्येक स्तर पर हमें परमात्मा से संस्पर्श बनाए रखना चाहिए। यह आन्तरिक सम्पर्क ध्यान के निराकार या साकार से अधिक महत्त्वपूर्ण है। श्रीरामकृष्ण को निम्नोक्त श्लोक बहुत प्रिय था :

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीव बुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति में निश्चितामतिः।।

– *अर्थात् जब मैं स्वयं को देह समझता हूँ, तब मैं तुम्हारा दास हूँ, तुम मेरी इच्छा को नियन्त्रित करनेवाले स्वामी हो। जब मैं अपने को देह से पृथक् जीव समझता हूँ, तब मैं अंश हूँ, तुम पूर्ण हो, और जब मैं देह मन और जीव से भिन्न अन्तरस्य चैतन्य को अपनी सत्ता के रूप में स्वीकार करता हूँ, तब मैं यह अनुभव करता हूँ कि तुम और मैं एक ही हैं।*

हमारा दृष्टिकोण हमारे प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होना चाहिए। पुस्तकें पढ़-पढ़कर हमें अपना दृष्टिकोण बदलते नहीं रहना चाहिए। उच्चतर दृष्टिकोण हमें रुचिकर प्रतीत हो लेकिन क्या हम उसे सचमुच अपने व्यावहारिक-जीवन में क्रियान्वित करने में समर्थ हैं? यही प्रश्न है।

कुछ साधक केवल एक प्रकार के ध्यान से सन्तुष्ट नहीं होते। वे अनन्त का सागर के रूप में चिन्तन करते हैं, जिसमें उपासक और उपास्य क्रमशः बुदबुदे और लहर के समान हैं। भक्त अपनी अपेक्षा भगवान् का चिन्तन अधिक करता है। उसके बाद वह अपने और उपास्य में विद्यमान सत्ता का चिन्तन करने का प्रयत्न करता है। अगले चरण में लहर और बुदबुदा दोनों अनन्त सागर में विलीन हो जाते हैं।

जब तक व्यक्तित्व के प्रति सूक्ष्मतम आसक्ति भी रहेगी, तब तक बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। इस आसक्ति के नष्ट होने पर जल के कण सागर के साथ एक हो जाते हैं। लेकिन अभी सागर में लीन होने की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। उसको बहुत

समय लगेगा।

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका में थे, तो उनसे एक महिला ने कहा कि वह ब्रह्म में विलीन होने के विचार से भयभीत हो जाती है। स्वामीजी ने मुस्कुराते हुए कहा कि इसमें भय का कोई कारण नहीं है। जब बिन्दु के सागर में पहुँचने पर सूर्य किरणें उसे पुन: उठाकर पृथिवी पर ले आएँगी। जीव के ब्रह्म में विलीन होने का कोई आसन्न खतरा नहीं है।[१] अधिकांश लोगों को इसमें करोड़ों वर्ष लग सकते हैं। उसके पूर्व वे अपने साथियों के बीच कर्म करने तथा उनके सुख-दु:ख में हाथ बँटाने के लिए बार-बार जन्म ग्रहण करते रहेंगे।

मृत्यु के पूर्व हमें सत्य की कम से कम कुछ झलक प्राप्त कर लेनी चाहिए और आगे बढ़ जाना चाहिए। यदि इस जन्म में सफल न होओ, तो पुनः पुनः प्रारम्भ करो, एक जन्म से दूसरे जन्म में प्रगति करते रहो, जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाए।

स्वयं से प्रारम्भ करो :

हम चाहे भगवान् के किसी रूप विशेष का ध्यान करें या निराकार का, सबसे महत्त्वपूर्ण बात अपने देहात्म-बोध को कम करना है। कुछ लोग साकार उपासना की, मिट्टी की मूर्ति की पूजा की, निन्दा करते हैं, लेकिन साथ ही अपने देह के प्रति आसक्त रहते हैं। बहुत से लोगों के लिए उनकी अपनी देह संसार की सर्वाधिक पूजनीय वस्तु होती है। ऐसी देह-उपासना निकृष्टतम पौत्तलिकता है। और इस पर भी इतने अधिक लोग स्वयं को इसलिए श्रेष्ठ समझते हैं कि वे 'मृण्मय मूर्तियों' की पूजा नहीं करते। कुछ लोग ईश्वर के स्वरूप का विश्लेषण करना चाहते हैं, लेकिन वे स्वयं का विश्लेषण करने के अनिच्छुक हैं। निराकारता अथवा अवैयक्तिकता के सिद्धान्त को ईश्वर पर लागू करने के पूर्व, उसे स्वयं पर लागू करो। यह एक महत्त्वपूर्ण नियम है कि हमारी सत्य विषयक मान्यता हमारी अपने सम्बन्ध में मान्यता पर निर्भर करती है। अत: निराकार ईश्वर का ध्यान करने के लिए हमें पहले स्वयं को निराकार समझना चाहिए। ईश्वर को व्यक्तित्व विहीन करने का प्रयास करने के पूर्व हमें अपने व्यक्तित्व को नकारना चाहिए। अधिकांश लोग यह नहीं करते। इसीलिए उन्हें अपने अवैयक्तिक ध्यान से कोई लाभ नहीं होता। बहुत से लोग निराकार ध्यान के नाम पर मानसिक-जड़ता को प्रश्रय देते हैं। अपटु मस्तिष्क से सभी रूपों को दूर करने के प्रयास से प्राय: निद्रा आ जाती है या अच्छे के बदले बुरे विचार मन में उठने लगते हैं। अत: निराकार-ध्यान का अभ्यास करने के लिए पहले स्वयं से प्रारम्भ करो। स्वयं को आत्मा, आन्तर-ज्योति समझो।

देह को भीतर की ओर से देखने का प्रयत्न करने, तथा उसे आत्म-चैतन्य द्वारा व्याप्त सोचने से हमारा व्यक्तित्व बोध निश्चित रूप से कम होता है, भले ही तत्सम्बन्धी विचार और

१. देखिए लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द बाई ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स, (१९७४), पृ. ३५१

भावनाएँ पूरी तरह दूर न भी हों। पुनः भीतर से देखने की इस प्रक्रिया को उन रूपों पर प्रयुक्त करने का प्रयत्न करो जो मन में उठकर समस्याएँ पैदा करते हैं। अपना और दूसरों का बाह्य रूप इच्छाओं एवं वासनाओं से सम्बन्धित है, जो इस आन्तर दृष्टि को स्वीकार करते ही लुप्त होता सा प्रतीत होता है। मुख की हमारी देह चेतना में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। चेहरे को भी भीतर से देखा जा सकता है। प्रत्येक रूप के प्रति समादर का भाव रखने से उसमें परमात्मा को देखना हमारे लिए आसान हो जाता है।

पहले हमें व्यक्तित्व का विकास करना है, और उसके बाद उसे मानो अवैयक्तिक सत्ता में विलीन करना है। तब इस अवैयक्तिक सत्ता से एक ऐसे विशुद्ध व्यक्तित्व की उत्पत्ति होगी, जिसे अपने मूल कारण का सदा भान होगा और जो सदा उस पर निर्भर होगा। यह हमारी उदात्तीकृत आत्मा है। यही परमात्मा का सच्चा यन्त्र बनती है।

हमें आत्मा के अनुरूप सोचना सीखना चाहिए। देह सम्बन्धी बातों पर कभी बल मत दो। स्वयं को कभी स्त्री या पुरुष मत सोचो। इस निगोड़े व्यक्तित्व बोध को, इस अर्थहीन अहंकार को शंकराचार्य के कुछ शानदार श्लोकांशों के आक्रमण द्वारा ध्वंस कर दो। यथा:

मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त नहीं हूँ मैं, श्रोत्र-जिव्हा-घ्राण-नेत्र नहीं हूँ मैं।
व्योम-भूमि-तेज-वायु नहीं हूँ मैं, चिदानन्दरूप शिव हूँ, शिव हूँ मैं।। [२]
मैं न पुरुष हूँ, न स्त्री, न षण्ड, मैं प्रकृष्ट-प्रकाश स्वरूप शिव हूँ। [३]
मैं न मनुष्य हूँ, न देव-यक्ष, न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र हूँ।
न ब्रह्मचारी, गृहस्थ-वानप्रस्थी अथवा भिक्षु हूँ।
मैं निजबोधस्वरूप आत्मा हूँ। [४]

निष्ठापूर्वक 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अहं ब्रह्मास्मि' की आवृत्ति करते रहो।

चेतना की अवस्थाएँ :

देह हमारी चेतना का केन्द्र हो सकती है, मन हमारी चेतना का केन्द्र हो सकता है। जीवात्मा हमारी चेतना का केन्द्र हो सकती है। परमात्मा हमारी चेतना का केन्द्र हो सकते हैं। और हमारा समग्र दृष्टिकोण, हमारा सारा चिन्तन और कार्य इस बात पर निर्भर करते हैं, कि हमने चेतना के किस केन्द्र को चुना है और हमारे गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र कहाँ है।

हमारी चेतना की दो अवस्थाएँ हो सकतीं हैं। हम अपनी आत्मा को चेतना का केन्द्र बनाकर उसके सन्दर्भ से अनन्त परमात्मा का अनुभव करें अथवा अनन्त परमात्मा को चेतना

---

२. मनोबुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राण नेत्रे।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।। – निर्वाणषट्कम् - १

३. पुमान् नैव व स्त्री तथा नैव षण्डः प्रकृष्टः प्रकाश-स्वरूपः शिवोऽहम्। – निर्वाण मञ्जरी - १

४. नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो, न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
न ब्रह्मचारी गृही वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः।। – हस्तामलक स्तोत्र - २

केन्द्र बनाकर आत्मा का उसकी अभिव्यक्ति के रूप में अनुभव करें। आत्मा को चेतना का केन्द्र बनाकर अनन्त परमात्मा का उसके चारों ओर वृत्त के रूप में अनुभव किया जा सकता है, अथवा अनन्त परमात्मा को चेतना का केन्द्र बनाकर आत्मा को उसमें विद्यमान बिन्दु के रूप में अनुभव किया जा सकता है। प्रत्येक आत्मा एक बिन्दु के समान है और ईश्वर वृत्त के प्रत्येक बिन्दु को जोड़ने वाले ज्योति के अनन्त सागर के समान है। प्रारम्भ में ये सारी बातें काल्पनिक हो सकती हैं, लेकिन अन्त में ये ही अनुभूतियाँ हो जाती हैं।

हमें निम्नोक्त तीन में से किसी एक आध्यात्मिक भाव में बने रहने का प्रयत्न करना चाहिये :

१. व्यक्तित्व को एक-सत्ता में विलीन करके एकत्व का चिन्तन करना।

२. अनन्त परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने के बाद व्यक्तित्व का अनुभव केवल उसकी एक अभिव्यक्ति के रूप में करना।

३. स्वयं को एक व्यक्ति समझकर उस अन्तर्यामी सर्वव्यापी सत्ता के सान्निध्य का अनुभव करना, जो हमारी आत्मा की परम-आत्मा है, तथा जिस पर आत्मा पूर्णरूपेण आश्रित है।

जब तक अहं विद्यमान है, तब तक अनन्त परमात्मा के साथ (२) या (३) के भाव से जुड़े रहें। अहंकार को परमात्मा से अधिक सत्य कभी न होने दें। एकत्व-बोध को दृढ़ करने के लिए पूर्वोल्लिखित अद्वैतपरक श्लोकों की आवृत्ति की जा सकती है। धीरे-धीरे ऊपर उठो। सर्वश्रेष्ठ सद्गुण सम्पन्न भगवद्रूप के ध्यान से सगुण निराकार तक उठो। उसके बाद निर्गुण निराकार सत्मात्र तक पहुँचो।

और प्रत्यावर्तन करते समय विपरीत क्रम का अवलंबन करो। ऐसा करने पर तुम पाओगे कि देहात्मबोध प्रबल होने पर भी जीव का भगवदाश्रय और संस्पर्श सर्वदा बना रहता है।

अपुरुषविध ध्यान :

निम्नोल्लिखित निराकार ध्यानों में से किसी का भी अभ्यास किया जा सकता है :

१. साधक कल्पना करे कि वह एक अखण्ड, अनन्त, अनादि, अविभाज्य सच्चिदानन्द सागर में मीन की तरह मुक्त होकर तैर रहा है।

२. साधक कल्पना करे कि वह एक अखण्ड, अनन्त आकाश में बिना किसी व्यवधान के पक्षी के रूप में उड़ रहा है।

३. साधक जल में डुबाए गये पात्र के समान है, जिसके भीतर-बाहर जल ही जल है।

४. साधक स्वयं की, एक अखण्ड ज्योति-सागर में निमज्जित चैतन्य ज्योति के रूप में कल्पना करे।

ज्योति के एक बिन्दु के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करो। अब उसे अनन्त

ज्योतिपुञ्ज का अंश समझो। अन्त में अपने ज्योतिबिन्दु को फैलाओ अथवा उसे अनन्त-ज्योति में विलीन कर दो अथवा उसे इधर-उधर आने जाने दो। लेकिन सर्वत्र ज्योति ही हो। यह ध्यान का एक उत्तम प्रकार है।

खगोलशास्त्र का कुछ ज्ञान हमें विराट् का भाव प्रदान करता है। हम अनन्त की धारणा नहीं कर सकते, किन्तु विराट् का चिन्तन कर सकते हैं और उसे धीरे-धीरे बृहत् और बृहत्तर कर सकते हैं। अन्तरिक्ष की व्यापकता का तथा तारों और आकाशगंगा के अचिन्तनीय-विस्तार का चिन्तन करो। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है :

> यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारका-दन्तर: यं चन्द्रतारकं न वेद
> यस्य चन्द्रतारकं शरीरम्, यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयति
> एष त आत्म अन्तर्यामी अमृत:।। [५]

अनन्त परमात्मा सभी ग्रह-नक्षत्रों (चन्द्र-तारकों) में विद्यमान है। वह उनके भीतर और बाहर है और वही अनन्त मानवों में भी है।

सान्त, क्षुद्र, छोटे, ससीम का चिन्तन करने की अपेक्षा अनन्त, विराट् सौरमण्डल, तारागण, आकाश गंगा, और नीहारिका कहे जानेवाले जन्म ले रहे नए नक्षत्र मंडलों का चिन्तन करना श्रेष्ठतर है। और उसके बाद पृथिवी, आकाश, सौर मण्डल, इत्यादि सभी को अनन्त, अखण्ड ज्योति सागर में विलीन कर दो।

हिन्दुओं के प्रसिद्ध अतिपुरातन, धार्मिक स्तोत्रों में से एक, 'पुरुष-सूक्त' में वैदिक-ऋषि कहते हैं : यह समस्त अभिव्यक्त जगत् परमात्मा की महिमा का एक अंशमात्र है।[६] आखिर वह परमात्मा का एक छोटा सा अंश मात्र ही तो है।

जब कभी हमारा मन क्षुद्र, ओछी, सामान्य, मूल्यहीन वस्तुओं का चिन्तन करने से संकीर्ण हो जाए, तब हमें ऐसा उन्नत करने वाला चिन्तन करना चाहिए। आकाश की तथा असंख्य सौर मण्डलों की व्यापकता का चिन्तन करो। लेकिन यह ध्यान रखो कि तुम इन सभी अभिव्यक्तियों में परमात्मा का, प्रकृति में, आकाश में स्थित परंमात्मा का, न कि परमात्मा के रूप में प्रकृति का चिन्तन करो।

कभी-कभी मन को एकाग्र करने के लिए हमें पुरुषविध या अपुरुषविध कुछ ठोस रूपों की आवश्यकता होती है। अन्यथा अधिकांश लोगों के लिए मन को एकाग्र करना सम्भव नहीं हो पाता। निर्दिष्ट आकार युक्त प्रत्यय के बिना हमारे लिए मन को केन्द्रित करना तथा एकाग्र करना सम्भव नहीं है। जो भी हो, अधिकांश लोग ऐसा नहीं कर पाते।

अतएव, ध्यान के लिए किसी निर्दिष्ट ठोस असीम वस्तु की आवश्यकता है। यहाँ रूप-विशेष का चयन व्यक्ति की अभिरुचि पर निर्भर करता है। ससीम का ध्यान करने में

---

५. बृहदारण्यक उपनिषद् ३.७.११
६. एतावानस्य महिमा तो ज्यायांश्च पुरुष:। पादोऽस्य विश्वा भूतानि।। - ऋग्वेद, १०.९०.३

निपुण होने पर, ससीम में विद्यमान असीम का ध्यान करने का प्रयत्न करना चाहिए। ससीम और असीम के बीच सम्बन्ध स्थापित कर ससीम को असीम की एक अभिव्यक्ति समझकर किया जानेवाला ध्यान अत्यन्त उत्कृष्ट होता है, लेकिन ससीम को कभी भी परमात्मा नहीं समझना चाहिए। साधक को ससीम रूपों की पृष्ठभूमि में विद्यमान असीम को देखना चाहिए, लेकिन उसे ससीम रूपों को परमात्मा नहीं समझना चाहिए। पहली स्थिति में वह परमात्मा को महत्त्व देता है, किन्तु दूसरी स्थिति में वह रूपों पर बल देता है, जो अत्यन्त हानिकारक है, तथा मोह का कारण होता है। ससीम का असीम की अभिव्यक्ति के रूप में ध्यान करने में तीव्रता भी होती है और व्यापकता भी। सही ढंग से किया गया इस प्रकार का ध्यान उत्कृष्ट है।

इन सभी ध्यानों के दौरान हमें अपने 'आत्मा' होने के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सत्य को नहीं भूलना चाहिए। चाहे हम ससीम रूप का ध्यान करें या निराकार का, हमें स्वयं को आत्मा समझना चाहिए। और हमें सदा याद रखना चाहिए कि परमात्मा आत्मा की अपेक्षा अधिक व्यापक और सत्य है। जैसा कि शंकराचार्य ने कहा है :

सत्यापि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकी नस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।।[७]

नाथ! लहरें समुद्र में विलीन होती हैं, समुद्र लहरों में नहीं। जब मेरी समस्त सीमाएँ दूर हो जाती हैं तब मैं तुम में विलीन होता हूँ, तुम मुझ में नहीं।

परमात्मा में लीन हो जाओ :

आध्यात्मिक चेतना के उच्चतर स्तरों पर साधक दृश्यजगत् को पूरी तरह भूल जाता है। श्रीरामकृष्ण वचनामृत में इस बात को पक्षी पर निशाना लगा रहे शिकारी के दृष्टान्त से समझाया गया है। शिकारी अपने कार्य में इतना लीन था, कि उसे पास से जाती हुई कोलाहलपूर्ण बारात का भी भान नहीं था।

आध्यात्मिक जीवन का यह मूलभूत सिद्धान्त है कि जिसे भी हम सत्य समझते हैं, वह हमारी समग्र शक्ति, बुद्धि मन और कार्यक्षमता को अपनी ओर खींच लेता है। यदि हम इस जगत् को सत्य माने, तो हम उसी में तल्लीन हो जाते हैं। वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म चिन्तन में अत्यधिक लीन रहता है। यदि तुम आध्यात्मिक जीवनयापन करना चाहते हो तो यह जगत् तुम्हें 'आत्मा' से अधिक सत्य प्रतीत नहीं होना चाहिए। भगवान् को समग्र जगत् से अधिक सत्य समझे बिना द्वैतवादी भी नहीं हुआ जा सकता। एक द्वैतवादी भी जगत् को ईश्वर की तुलना में निम्नतर स्तर की सत्ता मानता है। परमात्मा ही एकमात्र नित्य और अमर हैं। कोई भी धर्म, जगत् को उतना सत्य नहीं समझता, जितना परमात्मा को।

---

७. विष्णु षट्पदी -१

अद्वैतवाद प्रारम्भ से ही दृढ़तापूर्वक कहता है कि संसार असत्य है तथा परमात्मा ही एकमात्र सत्य है। द्वैतवाद जगत् को सत्य मानकर चलता है और जगत् को सत्ता प्रदान करने वाले परमात्मा का अनुसन्धान करने का प्रयत्न करता है। लेकिन चाहे द्वैतवादी के रूप में अथवा अद्वैतवादी के रूप में साधना का शुभारम्भ किया जाए, जब अतीन्द्रिय अनुभूति होती है, तब साधक की चेतना से दृश्य-जगत् विलुप्त हो जाता है। द्वैतवाद और अद्वैतवाद जीव और परमात्मा के सम्बन्ध को प्रदर्शित करनेवाले शब्द हैं यह एक महत्त्वपूर्ण बात है जिसे स्मरण रखना चाहिए। जगत् की सत्यता या असत्यता जिज्ञासा का विषय नहीं है। परमात्मा अधिक सत्य हैं, इस बात पर जोर देना, तथा उनके साथ सम्पर्क स्थापित करना, अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अपनी विलग सत्ता को परमात्मा के साथ कैसे जोड़ें? अंश को पूर्ण के साथ कैसे संयुक्त करें? आध्यात्मिक जीवन में यह हमारा प्रस्तुत कार्य है, और जिस मात्रा में हम यह करने में समर्थ होंगे, उसी मात्रा में हम अधिक आध्यात्मिक, मुक्त और प्रबुद्ध होंगे।

स्वयं के सम्बन्ध में अपनी धारणा को परिवर्तित करने में इसका रहस्य निहित है। यदि हम अपनी देह के साथ तादात्म्य स्थापित करेंगे, तो यह जगत् और उससे सम्बन्धित सभी बातें स्वाभाविक रूप से सत्य प्रतीत होंगी। स्वयं को आत्मा समझने पर ही परमात्मा सत्य प्रतीत होते हैं। हम देह हैं, स्त्री अथवा पुरुष हैं, कर्ता और भोक्ता हैं, इन विचारों को निरस्त कैसे करें? प्रबल विपरीत चिन्तन-प्रवाह पैदा करो। इसे इतना प्रबल और सजीव बनाओ कि अन्य सभी मिथ्या विचार धूमिल हो जाये। प्रत्येक साधक को, वह चाहे अद्वैत के सिद्धान्त में विश्वास करता हो अथवा द्वैत के सिद्धान्त में, यह कार्य करना चाहिए। उसे स्वयं को देह और मन से निर्लिप्त स्वयं-प्रकाश आत्मा समझना चाहिए। उसे इस सत्य का गहराई के साथ तब तक मनन करना चाहिए, जब तक वह उसके व्यक्तित्व में गहरा बैठकर उसके जीवन के प्रति दृष्टिकोण का कायापलट न कर दे।

पवित्रता की उपलब्धि का यही रहस्य है। आत्मा नित्यशुद्ध है, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है। चाहे कितना भी प्रयत्न करें, अपने वास्तविक-स्वरूप का साक्षात्कार किए बिना हम वास्तविक पवित्रता की उपलब्धि नहीं कर सकते। वस्तुतः आत्मा का देह, इन्द्रियों तथा मन के साथ तादात्म्य ही समस्त अपवित्रता का मूल कारण है।

आत्मचिन्तन से आत्मसाक्षात्कार :

मन आनुवांशिकता के द्वारा सदा के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता। उसका स्वभाव गतिशील है और उचित अभ्यास द्वारा बदला जा सकता है। मन को प्राप्त सभी अनुभवों को अंकित करना उसका स्वभाव है। और ऐसा वह तब तक करता है, जब तक अंकित अनुभव हमारे स्वभाव के मानो अंग नहीं बन जाते। बुरे व्यक्ति का चिन्तन करने से हम उसके दुर्गुण ग्रहण कर लेते हैं, और स्वयं बुरे हो जाते हैं। एक दिव्य महापुरुष का ध्यान करने से हम

उनकी पवित्रता और सद्‌गुणों को ग्रहण कर स्वयं पवित्र होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक नियम है, जो सभी मानवों पर लागू होता है। इस नियम का आविष्कार भारत में बहुत पहले हुआ था और सभी प्रकार के अध्यात्म-विषयक-ध्यान इसी पर आधारित हैं। अद्वैतवादी भी परमात्मा के चिन्तन द्वारा इस प्रक्रिया से मन के रूपान्तरण का महत्त्व स्वीकार करते हैं। अतएव ज्ञानमार्गी साधक 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि उपनिषदोक्त महावाक्यों पर अथवा शंकराचार्य एवं अन्य आचार्योंद्वारा रचित अद्वैतानुभूति विषयक छन्दों पर ध्यान करते पाए जाते हैं।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर मन को तीव्रता से एकाग्र करने पर आत्मा की विस्मृत स्मृति पुन: जगाई जा सकती है। लेकिन इसके लिए तीव्र एकाग्रता की आवश्यकता है। समग्र मन निर्धारित लक्ष्य की ओर प्रवाहित होना चाहिए। लेकिन इसके पूर्व चित्तशुद्धि तथा दृश्य जगत् के प्रति हमारे दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन किए बिना यह सम्भव नहीं है। संसार तथा सांसारिक सुखों से तीव्र वैराग्य के बिना समग्र मन को आत्मा की ओर नहीं लगाया जा सकता।

सामान्य लोगों का मन चञ्चल रहता है। वह इन्द्रिय-विषयों के द्वारा विभिन्न दिशाओं में बाहर आकृष्ट होता रहता है और अपनी इच्छाओं एवं आवेगों द्वारा इधर-उधर परिचालित होता रहता है। हम अपने कर्मों के लिए कोई भी बहाना क्यों न प्रस्तुत करें, हमें इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति के वेग को स्वीकार करना पड़ेगा। संसार के प्रति पूर्ण अनासक्त व्यक्ति ही अपने समग्र मन को एक क्षण में आत्मा की ओर मोड़ सकता है। सतत ध्यान द्वारा उसे यह अनुभूति हो गई होती है कि वह मन अथवा देह नहीं, अपितु आत्मा है।

श्रीमद्‌भागवत् में उपर्युक्त भाव को अवधूतोपाख्यान में ततैया और झींगुर के दृष्टान्त से समझाया गया है।[८] यह सर्वविदित है कि ततैया (बर्रे) झींगुर, मकड़ियों, इल्ली आदि को अपने डंक से शक्तिहीन करने के बाद अपने छत्ते में ले जाती है। इसके बाद वह इन असहाय शिकारों के पास अण्डे देकर छत्ते को बन्द कर देती है। अण्डो से जो कीड़े पैदा होते हैं, वे इन कीड़ों को खाकर बड़े होकर ततैया बन जाते हैं। ततैया के जीवन-वृत्त का सम्भवत: भारत में अन्वेषण नहीं हुआ था, लेकिन बर्रे आदि के छत्ते में झींगुर का रखा जाना आदि सर्वविदित था। इससे जनसाधारण में यह धारणा पैदा हुई कि बर्रे का तीव्र चिन्तन करने से झींगुर बर्रे बन जाता है। हिन्दू-साहित्य की "झींगुर और बर्रे" की प्रचलित कथा का यही आधार है।

इसका यह अर्थ नहीं कि आत्मा का यह ध्यान एक प्रकार का आत्म-सुझाव या आत्म-सम्मोहन है। सामान्य मानव मन के लिए अनुभवातीत होते हुए भी, शुद्ध मन द्वारा सत्य का प्रत्यय अनुभव किया जा सकता है। अत: यह ध्यान किसी असत्य वस्तु का नहीं, बल्कि सत्य का किया जाता है। ध्यान द्वारा सत्य के विपरीत विचार उठने नहीं पाते और सत्य स्वयं

---

८. श्रीमद्भागवतम् ११.९.२३

प्रकाशित होता है। आत्मा स्वयंप्रकाश है तथा हमारे सभी विचारों के पीछे सदा विद्यमान है। ध्यान द्वारा विचारों के शान्त होने पर तथा आत्मा को आवृत करने वाले अज्ञान के नष्ट होने पर आत्मा प्रकाशित होती है।

उपासना और विचार की द्विविध पद्धति :

सामान्यत: (हमारे) लौकिक और वैचारिक जीवन में हमारा स्थूल और सूक्ष्म शरीर के साथ पूर्ण तादात्म्य बना रहता है। और चूँकि इस मिथ्या तादात्म्य को अचानक दूर करना सम्भव नहीं है, अतएव हमें कम से कम यह ध्यान रखना चाहिए कि हम उसे यथासम्भव बढ़ने न दें, और ज्यों-ज्यों लक्ष्य की ओर अग्रसर होते जाएँ, त्यों-त्यों इस मिथ्या तादात्म्य को अधिकाधिक कम करते जाएँ।

कठिनाई यह है कि हमारी समस्त भावनाओं के पीछे यह बोध रहता है कि हम पुरुष अथवा स्त्री हैं, तथा हमारी पृथक सत्ता व्यक्तित्त्व हैं। साथ ही साथ हम यह भी अनुभव करते हैं कि हम साधक और भगवद्भक्त हैं। लेकिन इस भाव का उपयोग व्यक्तित्व बोध का अतिक्रमण करने के लिए किया जा सकता है। हम साधक और भक्त का भाव बनाए रखकर किसी स्त्री अथवा पुरुष इष्टदेवता की उपासना कर सकते हैं। लेकिन इस भाव के साथ कुछ हद तक आत्म-विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अन्ततोगत्वा साधक और भक्त का भाव भी एक मिथ्या धारणा ही है।

चूँकि हम विशुद्ध आत्मविश्लेषण के पथ का अनुसरण करने में समर्थ नहीं हैं, अत: हमें मिली जुली साधना पद्धति का अनुसरण करना चाहिए। हमें अपने को भक्त मानकर भगवदाराधना करनी चाहिए और साथ ही अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण कर आत्मा और स्थूल-सूक्ष्म शरीर-युक्त अनात्मा को पृथक् करना चाहिए। इसके बाद हमें आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर अनात्मा से पृथक् होने का प्रयत्न करना चाहिए। उपासना और आत्मविचार की इस द्विविध प्रणाली का अनुसरण सभी को करना चाहिए।

एकाग्रता के लिए हम में से अधिकांश को ईश्वर के एक साकार रूप अथवा इष्टदेवता की आवश्यकता होती है। लेकिन इष्ट के ध्यान के साथ ही साथ हमें उस सत्ता का भी मनन और ध्यान करने का प्रयत्न करना चाहिए, इष्ट-देवता जिसकी एक अभिव्यक्ति हैं। इस तरह हम परमात्मा के साकार और निराकार रूपों के ध्यान को जोड़ना सीखते हैं। इसके अतिरिक्त हमें "अद्वैत-विचार" भी करना चाहिए, जिसमें हम अपनी आत्मा को अनात्मा से – स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से पृथक् करने की कोशिश करते हैं। यह विधि सभी के लिए अनुकरणीय है, और इसे पुन: पुन: करना बहुत आवश्यक है।

यह भी आवश्यक है कि हम कुछ निर्दिष्ट साकार और निराकार ध्यान प्रतिदिन करें। ध्यान के इन अंशों का पाठ तथा आवृत्ति प्रतिदिन बिना व्यवधान के तथा उन्हें परिवर्तित किए बिना की जानी चाहिए। मैं नहीं जानता कि ऐसा किया जाता है या नहीं, लेकिन इसे

अति सावधानी पूर्वक अपनी साधना के रूप में करने का नियम बना लेना चाहिए। यह हमारी साधना का एक बहुत आवश्यक अंग है। यदि किसी दिन देहात्मबोध, व्यक्तित्वबोध सामान्य से अधिक प्रबल होता दिखाई दे, तो कुछ शास्त्रीय-अंशों का, विशेषकर अद्वैतपरक-अंशो का और अधिक मनन करना चाहिए। मन के विद्रोह करने पर भी और अधिक ध्यान करना चाहिए। कुछ महत्त्वपूर्ण विचारों को, कुछ निर्दिष्ट शास्त्रांशों को बार-बार स्मरण करना चाहिए और उनकी आवृत्ति करनी चाहिए। हर बार नए अंशों को पढ़ने के बदले यह कहीं अधिक अच्छा है। कुछ भावों को बार-बार अभ्यास द्वारा गहराई से आत्मसात् कर लेना चाहिए।

अतएव दृश्यजगत् से उत्पन्न दुःख-कष्टों के समय हमें निरन्तर उनसे दूर हटने तथा अन्तर्यामी परमात्मा की ओर अग्रसर होने का सचेतन प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक निष्ठावान्, सच्चे आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए बाह्य जगत से दूर हटना आवश्यक है, भले ही वह परमात्मा की ओर अधिक अग्रसर होता हो या नहीं। सांसारिक लोग इसके बिल्कुल विपरीत कार्य करते हैं। विवेक की सहायता से दृश्य-जगत् से अपने को अलग किए बिना ही, वे भगवान् की ओर बढ़ने की कोशिश करते हैं। देह और मन से व्यष्टि आत्मा को पृथक् करने में सफल होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु हमें ससीम आत्मा को अनन्त परमात्मा के साथ, व्यष्टि आत्मा को समष्टि परमात्मा के साथ संयुक्त करने का भी प्रयत्न करना चाहिए। हम केवल इतना ही कर सकते हैं क्योंकि अनन्त, जगदातीत, एकमेवाद्वितीय बहुत दूर की बात है तथा हम में से अधिकांश के लिए अनेकानेक वर्षों तक अप्राप्य है।

जिस मात्रा में हमारा देहात्म बोध कम होता है, उसी मात्रा में हम पवित्र होते हैं और जिस मात्रा में हम पवित्र होते हैं, उसी मात्रा में हमारा देहात्मबोध भी कम होता है। ये दो, पवित्रता और अनासक्ति साथ-साथ रहते हैं; दोनों का समानान्तर विकास होता है, न कि कार्यकारणात्मक वृत्ताकार विकास। और जिस मात्रा में हमारी देहासक्ति कम होगी एवं शुद्धिकरण की प्रक्रिया तीव्र होगी, उसी मात्रा में हम आत्म-साक्षात्कार की ओर अग्रसर होगें।

एक उपनिषद् में निम्नोक्त श्लोक है :

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढ़वत्।।[१]

स्वदेह को निम्न अरणि तथा प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यानाभ्यास से उनके परस्पर मंथन द्वारा निगूढ़ परमात्मा का दर्शन करो।

तात्पर्य यह है कि साधक को धैर्यपूर्वक सतत् जप करते जाना चाहिए और साथ ही आत्म-चिन्तन भी करना चाहिए। यही उपासना और आत्मविश्लेषण की द्विविध प्रणाली है।

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् – १.१४

चिन्तनात्मक ज्ञान अज्ञान को दूर करता है और फिर वह ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। ज्ञान साधक को आत्मा तथा परमात्मा के वास्तविक स्वरूप की सही जानकारी प्रदान कर दोनों का पूर्ण एकत्व स्थापित कराता है। इसके बाद वह नष्ट हो जाता है और तब ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान रहित अद्वैत सत्ता का साक्षात्कार होता है। एकमात्र शुद्ध अनन्त चैतन्य अवशिष्ट रहता है।

द्वैतवादी-भक्त अपनी आत्मा को भगवान् के साथ संयुक्त करने का प्रयत्न करता है, अद्वैतवादी चरम विश्लेषण द्वारा चैतन्य परमात्मा से भिन्न सभी वस्तुओं का बाध करके ब्रह्म-साक्षात्कार करता है। दोनों ही दो भिन्न पद्धतियों से 'अहं' को नकारने और दूर करने का प्रयत्न करते हैं। भक्त कहता है – "नाहं – तूहूँ" – मैं कुछ नहीं, तुम ही हो। अद्वैतवादी कहता है – "मेरा व्यक्तित्व मिथ्या है, परमात्मा ही सत्य है।" इस भाव को प्रदर्शित करनेवाला एक संस्कृत-श्लोक है :

तवास्मीति भजत्येक: त्वमेवास्मीति चापर:।
इति किंचित् विशेषोऽपि परिणामा: समोद्वयो:।।[१०]

अर्थात् *कुछ लोग "मैं तुम्हारा हूँ" कहकर तुम्हारा भजन करते हैं; अन्य लोग "मैं तुम हूँ" कहकर करते हैं। इस प्रकार थोड़ा अन्तर होते हुए भी दोनों का अन्तिम परिणाम एक ही होता है।*

अत: सच पूछो तो अनन्त 'तुम' और अनन्त 'मैं' एक ही हैं। दोनों एक ही चरण अनुभूति प्रदान करते हैं। केवल अभिव्यक्ति के प्रकार तथा साधन-मार्ग की भिन्नता है।

□□□

१०. नरहरि, बोधसार

अध्याय २६

भगवत्-सान्निध्य का अभ्यास

मन को उच्चस्तर पर बनाए रखना :

आध्यात्मिक जीवन के लिए सुबह और सायंकाल एक-दो घण्टे ध्यान में बिताना पर्याप्त नहीं है। कुछ मात्रा में ध्यान का मनोभाव सारे दिन बनाये रखना चाहिए। जीवन के दैनन्दिन कर्तव्यों में लगे रहते हुए भी भगवच्चिन्तन का एक अन्तर्प्रवाह बना रहना चाहिये। यह अपवित्र विचारों को उठने से रोकता है और ध्यान में बैठने पर एकाग्रता के लिए बहुत सहायक होता है। दैनंदिन ध्यान के साथ भगवत् सान्निध्य का अभ्यास किया जाना चाहिये और यदि ठीक से किया जाये तो वह अपने आप में एक तीव्र साधना है। वह एकाग्रता-रहित कई घण्टो तक किये गये ध्यान के बराबर होता है।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन श्रीकृष्ण से स्थितप्रज्ञ के लक्षण पूछते हैं। इस पुस्तक तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों में मुक्त-पुरुषों के लक्षण बार-बार गिनाये जाने का क्या उद्देश्य है? गीता के द्वितीय अध्याय पर अपने भाष्य में शंकराचार्य इसकी व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि मुक्त पुरुष के लक्षणों को साधक द्वारा आचरित गुण अथवा साधनाएं समझना चाहिये। संघर्षरत जीव के लिए जो कष्टसाध्य साधना है, वही सिद्ध पुरुष के आभूषण हैं, अलंकार हैं। एक सिद्ध महापुरुष के चरित्र और व्यवहार की जानकारी का यही महत्त्व है।

इन सभी निर्देशों में ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है, कि मन को सदा उच्चस्तर पर बनाये रखना चाहिये। मन को कभी भी नीचे नहीं आने देना चाहिये। परम आदर्श को भूलकर सांसारिक मामलों में डूबने से ऐसा होता है। कर्म और कर्तव्य अपरिहार्य हैं, अत: उन्हें परमात्मा के साथ सम्पर्क बनाये रखने के उपायों में रूपान्तरित करना चाहिये। ऐसा किये बिना सायं-प्रात: किया थोड़ा सा ध्यान-जप अधिक लाभकर नहीं होता। हमें सदा भगवान् को याद रखना चाहिये और ऐसा करने का एकमात्र उपाय, हम जो कुछ करते या सोचते हैं, उसे परमात्मा से जोड़ना है। मन को खाली रहने देना अथवा भूतकाल का चिन्तन करते रहना बहुत हानिकारक है। यदि मन को खाली रहने दोगे तो वह व्यर्थ चिन्तन करता रहेगा और भूतकालीन स्मृतियों में डूबा रहेगा। ये किसी के लिए लाभदायक नहीं होते।

यदि कभी तुम्हारी ऐसी मन:स्थिति होवे तो तत्काल कोई अच्छी पुस्तक पढ़ने लगो

अथवा किसी की निस्वार्थ सेवा करने लगो। तुम देखोगे, कि वह मनोदशा शीघ्र दूर हो जायेगी। अन्यथा यदि तुम केवल बैठे बैठे भूतकाल की स्मृतियों में खोये रहोगे, तो समय बर्बाद तो होगा ही, तुम स्वनिर्मित बाधायें भी पैदा करोगे। धर्म जीवन में गहन अध्ययन के महत्त्व पर जितना बल दिया जाये उतना कम है। अधिकांश साधकों के लिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मानना कि स्वाध्याय तुम्हारे लिए अब आवश्यक नहीं है, और तुम ध्यान से ही सबकुछ पा जाओगे, निरा-अभिमान है। निश्चय ही ध्यान उच्चतर चक्रों को विकसित करने में सहायक होता है, लेकिन प्राण और मन की सारी ऊर्जा को इन केन्द्रों से प्रवाहित नहीं किया जा सकता। ऊर्जा की बड़ी मात्रा निम्नतर चक्रों में बची रहती है, और उसे यदि किसी सृजनात्मक कर्म के द्वारा प्रवाहित न किया जा सके, तो इससे मन अनावश्यक रूप से विक्षिप्त हो जाता है। स्वाध्याय और नि:स्वार्थ कर्म को एक प्रकार की साधना समझना चाहिये। उन्हें आध्यात्मिक जीवन की किसी भी सर्वतोमुखी योजना का अंग होना चाहिये। उन्हें अनावश्यक या व्यर्थ समझकर छोड़ नहीं देना चाहिये। अन्य समय कुछ रचनात्मक कार्य कर सकने पर तुम जीवन में नीरसता का अनुभव नहीं करोगे। अन्यथा विशेषकर प्रारम्भिक साधक के लिए स्वयं आध्यात्मिक जीवन ही असहनीय रूप से नीरस हो जाता है।

हमारे आध्यात्मिक जीवन का मूल्यांकन दिनभर में हमारे मन में भगवदीय विचार किस प्रकार और कितनी बार उठते हैं, इससे किया जाना चाहिये। दिन में एक दो-बार ध्यान के लिए घण्टे भर के लिए बैठना पर्याप्त नहीं है। हमारे दैनन्दिन कर्तव्य कर्मों के बीच भगवदीय विचारों को निरन्तर उठते रहना चाहिये। यही वास्तविक आध्यात्मिक जीवन है। अन्यथा तुम एक दो घण्टे के लिए ही आध्यात्मिक रहते हो। अन्य समय तुम किसी सामान्य सांसारिक व्यक्ति से भिन्न नहीं।

लेकिन, निश्चय ही इसके लिए दीर्घ काल तक प्रयत्नपूर्वक संघर्ष करना पड़ता है। अप्रिय परिस्थितियों एवं व्यक्तियों से बचा नहीं जा सकता और ये हमारे मन को विक्षिप्त करते हैं। अत: उन्हें भी परमात्मा के साथ जोड़ना सीखना चाहिये। परमात्मा की सृष्टि की इस विशाल रचना में तथाकथित दुष्ट लोगों और दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के लिए कोई स्थान निर्धारित करो, और तब तुम पाओगे कि अन्तत: लोग दुष्ट दिखायी नहीं देते और परिस्थितियाँ भी इतनी दुर्भाग्यपूर्ण नहीं लगतीं। निरन्तर अभ्यास के द्वारा तुम अपने अहंकार को पीछे फेंकने में, परमात्मा के सामने लाने में और उन्हें अपने वैचारिक जीवन को प्रभावित करने देने में सफल होवोगे। अपने क्षुद्र अहंकार से चिपके रहना ही आध्यात्मिक जीवन की प्रमुख समस्या है। इसे कम किया जाना चाहिये। अपने प्रति तुम्हारा दृष्टिकोण ही तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति की सम्भवत: सबसे बड़ी बाधा है न कि अन्य व्यक्ति और परिस्थितियाँ

निरन्तर अभ्यास :

अभ्यास के द्वारा हाथों से कर्म करते हुए भी तुम भगवन्नाम का जप अथवा किसी स्तोत्र

या प्रार्थना का पाठ तथा भगवत्-स्मरण कर सकोगे। इस तरह तुम कर्म को उपासना में परिणत कर सकोगे तथा परमात्मा के निकट आ सकोगे।

निश्चित समय पर ध्यान और प्रार्थना करना आध्यात्मिक प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन यह पर्याप्त नहीं है। कर्म के समय भी प्रार्थना और ध्यान का मनोभाव बनाये रखना चाहिये। तभी समर्पण के भाव से किया जाने वाला कर्म आध्यात्मिक साधना में परिणित हो पाता है, तथा प्रार्थना और ध्यान की तरह ही प्रभावशाली हो पाता है। एक 'हिन्दू स्तोत्र' में कहा गया है : "मैं जो कुछ करता हूँ, प्रभु, सभी तुम्हारी आराधना है।"[१]

अपने नियमित ध्यान और प्रार्थना के विषय में बहुत सतर्क रहो, लेकिन सारे दिन भी कुछ मात्रा में भगवच्चिन्तन को अपने साथ बनाये रखो। अपने खाली समय को भगवन्नाम और चिन्तन द्वारा जिस मात्रा में तुम पूर्ण करने में समर्थ होगे, उतनी ही मात्रा में तुम में एक महान् आध्यात्मिक रूपान्तरण होगा और तुम अपने हृदय में भगवत्-सत्ता, प्रेम और आनंद का अधिकाधिक अनुभव करने लगोगे।

आध्यात्मिक पथ के पथिकों के जीवन में अनिवार्य रूप से आनेवाले उतार-चढ़ावों से चिन्तित मत होओ। श्रीरामकृष्ण कहते थे, कि समुद्र के निकट पहुँचने पर ही नदी में ज्वार का प्रभाव दिखायी देता है। तुम्हें अपने मनोभावों की चिन्ता नहीं करना चाहिये। मन में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, लेकिन निष्ठापूर्वक जप और ध्यान करते रहने पर तथा उस एक अपरिवर्तनशील परमात्मा के सान्निध्य का अनुभव करने पर तुम्हें अधिकतर स्थिरता प्राप्त होगी। इसके अतिरिक्त तुम्हारी चिन्तन और आत्म निरीक्षण की शक्ति में भी वृद्धि होगी।

थोड़े जप-ध्यान के बाद अपने कर्तव्यों को करो, लेकिन कुछ मात्रा में यह भाव बनाये रखो, कि अनन्त परमात्मा तुम्हारी आत्मा की आत्मा के रूप में, तुम्हारे हृदय में, और उसी तरह सभी प्राणियों में विद्यमान है। यह भी सोचो, कि तुम तथा अन्य सभी उसमें अवस्थित हैं।

इस तरह बढ़ते रहो। तब तुम तुम्हारी आत्मा और परमात्मा के मिलन केन्द्र हृदय-चक्र का अधिकाधिक अनुभव कर सकोगे। यह कालान्तर में तुम्हें महान् शारीरिक और मानसिक स्थिरता प्रदान करेगा।

परमात्मा के साथ आन्तरिक सम्पर्क :

प्रत्येक साधक को निरन्तर अभ्यास के लिए चेतना का एक निश्चित केन्द्र, एक इष्ट देवता और एक मन्त्र होना चाहिये। इसके साथ ही नाविक की कुतुबनुमा की घड़ी, जिस प्रकार सदा उत्तर दिशा की ओर इंगित करती रहती है, उसी प्रकार हमारे मन को सदा चेतना के केन्द्र में इष्ट के रूप तथा मन्त्र में सदा लगे रहना चाहिये। प्रत्येक साधक का एक उच्चतर

---

१. देखिए, अध्याय १७ की पादटिप्पणी संख्या ९

आध्यात्मिक चेतना का केन्द्र होना चाहिये। उसे सदा अपने चेतना के केन्द्र में रहना सीख लेना चाहिये। अपने मन को प्रात:कालीन ध्यान के समय वहाँ एकाग्र करने में सफल होने पर वह यह आसानी से कर सकता है। अपने वास्तविक "अहं" की वहाँ पर स्थिति अनुभव करने में समर्थ होने पर उसके लिए अपनी व्यक्तिगत चेतना को इस केन्द्रीय चेतना के साथ संयुक्त करना आसान हो जाता है। साधक को यह ध्यान रखना चाहिये कि वह चेतना के अपने केन्द्र में सदा बद्धमूल है। यदि हमारा मन इस केन्द्रीय चेतना से उखड़ जाये, तो वह अन्य स्थानों में जड़ें जमाने लगता है, जो बहुत अस्थिरता पैदा करता है। ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने वाले सतत आत्मविश्लेषण द्वारा सदा केन्द्रीय "अहं" चेतना को पकड़े रहने का प्रयत्न करते हैं। वे अधिक सन्तुलित रहते हैं, तथा दीर्घ आध्यात्मिक शुष्कता का अनुभव नहीं करते।

भक्त की बात भिन्न है। वह अपने इष्ट देवता के रूप को अधिक महत्त्व देता है और जब वह उन्हें स्मरण नहीं कर पाता, तो दु:खित होता है। भक्ति-मार्ग का अनुसरण करनेवालों को अपनी व्यक्तिगत चेतना को इष्ट की चेतना के साथ संयुक्त करना सीखना चाहिये। जब इष्ट की जीवन्त-सत्ता की अनुभूति नहीं होती, तब तुम्हारी अपनी चेतना का भी आधार नहीं रहता और तुम्हें ऐसा लगता है, मानो तुम बिना किसी सहारे के हवा में तैर रहे हो। कभी-कभी साधक ध्यान के समय इष्ट के रूप को बहुत स्पष्ट रूप से देखने में सफल होता है, लेकिन वह पाता है कि वह उसके साथ ठीक से सम्पर्क स्थापित नहीं कर पा रहा है। वह अपनी चेतना को इष्ट की चेतना के साथ संयुक्त नहीं कर पा रहा है। इससे गहरा विक्षेप होता है तथा प्राय: दीर्घकालव्यापी अस्थिरता हो जाती है। कई दिनों तक साधक एक प्रकार की भावनात्मक-रिक्तता में रहता है।

यदि कुछ समय के लिए तुम अपने इष्ट देवता के साथ सम्पर्क का अभाव अनुभव करो, तो कृपया निराश न होओ। प्रार्थना करते रहो तथा अपना स्वाध्याय और साधना करते रहो। आन्तरिक तीव्रता के साथ प्रतीक्षा करो, आन्तरिक सम्पर्क पुन: स्थापित हो जायेगा और वह भी पहले से अधिक गहरा।

वस्तुत: हमारी आत्मायें सदा परमात्मा के साथ संयुक्त रहती हैं, लेकिन अचेतन के राज्य में रहने के कारण हम उसका अनुभव नहीं कर पाते। अपवित्रतायें, आन्तरिक-वासनायें और कल्पनायें हमें चेतना के उच्चतर स्तर पर उठने नहीं देतीं, जहाँ हम परमात्मा का सम्पर्क आसानी से अनुभव कर सकें। अत: चित्तशुद्धि को आध्यात्मिक जीवन में इतना अधिक महत्त्व दिया गया है।

आधुनिक लोगों की मुख्य समस्या यह है कि वे अपने इष्ट के प्रति तीव्र-प्रेम का अनुभव नहीं करते और उसके साथ ठीक सम्बन्ध स्थापित करने में सफल नहीं होते। परमात्मा के प्रति सच्चा प्रेम होने पर, वह कर्म के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। सभी प्रकार के कर्म साधक की परमात्मा के प्रति श्रद्धा को अभिव्यक्त करने लगते हैं।

अतिश्रम बाधक है :

कुछ लोग हैं, जो स्वयं की रक्षा करना जाने बिना जगत का उद्धार करना चाहते हैं। अपनी समस्यायें सुलझाये बिना तुम जगत की समस्याओं को नहीं सुलझा सकते। अधिकांश कट्टर सुधारकों के साथ यही समस्या है। वे वस्तुत: अपने विषय में कुछ नहीं जानते, पर फिर भी दूसरों को सुधारना चाहते हैं। हमारा ऐसा विकृत स्वभाव है, कि हम कर्म को इतना बढ़ाते जाते हैं, कि अन्त में वह हमारी समस्त शक्ति और हमारे समग्र मन को सोख लेता है। हमें अपने कर्तव्यों को व्यर्थ ही बढ़ाना नहीं चाहिये। हमें कर्म के पीछे भागना नहीं चाहिये। हमें कुछ मात्रा में अवकाश भी चाहिये। हमें अपनी साधनाओं तथा भक्ति के कार्यों के लिए सदा समय निकालना चाहिये।

अतिश्रम आध्यात्मिक जीवन की एक बाधा है। बार-बार लोगों में कर्म को बढ़ाने की प्रवृत्ति दिखायी देती है, विशेषकर चञ्चलता और लक्ष्यहीन आवेगयुक्त पाश्चात्य देशों में। श्रीरामकृष्ण कुछ लोगों की कर्म-वृद्धि की, कर्तव्यों को बढ़ाने की वृत्ति को सदा निरुत्साहित किया करते थे। यह एक असन्तुलित मानसिकता है। यह मन की चञ्चलता का लक्षण है और पलायन का प्रयास है। यह प्रशंसनीय नहीं है। कोई भी मानव खाली समय का सदुपयोग किये बिना कुछ उपलब्धि नहीं कर सकता। अधिकांश अतिक्रियाशील लोग सन्तुलित नहीं होते तथा उनकी मन:स्थिति अस्वाभाविक होती है। मदोन्मत्त तथा बिच्छू के द्वारा दंशित बन्दर की क्रिया में कोई विशेषता नहीं है, और इन लोगों की क्रियाएँ भी इसी तरह की अर्ध-विक्षिप्त, असम्बद्ध, कर्म के लिए कर्म कर्ममात्र होती हैं। उसके बाद वे आकर शिकायत करते हैं : "साधना के लिए मेरे पास समय कहाँ है? काश! मेरे पास समय होता।" इत्यादि, इत्यादि। चञ्चलता उतनी ही बुरी है, जितना आलस्य। आवेग उतना ही बुरा है, जितनी जड़ता। अत: इस प्रकार की क्रियाशीलता स्तुत्य नहीं है। और इन मामलों में कर्तव्य केवल एक बहाना मात्र होता है। अधिकांशत: अपनी चञ्चलता और असन्तुलन को छुपाने के लिए कर्तव्य का स्वयं निर्माण किया जाता है। हम अपने आप से भागना चाहते हैं और अपने कर्तव्यों को बढ़ाते जाते हैं, जिससे अपने और दूसरों के लिए एक आसान बहाना मिल जाये। वास्तविक कर्तव्य बिल्कुल भिन्न वस्तु है। अनावश्यक सामाजिक-उत्सव सर्वत्र सांसारिक लोगों के लिए होते हैं। उनमें बहुत-सी बुराईयाँ होतीं हैं। ऐसे अनावश्यक कर्म प्रारम्भ न करो, जो तुम्हारा और दूसरों का कोई भला न करें।

जिन्हें अपने दैहिक अस्तित्व को बनाये रखने के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता है, उनके लिए परमात्मा की ओर जाना कठिन है। इस संघर्ष के बावजूद ऐसा करने में समर्थ लोग बहुत कम हैं। सभी को खाली समय चाहिये, जिसका सदुपयोग किया जा सके। प्रार्थना, जप, ध्यान, गहन-अध्ययन तथा अन्य प्रकार की साधनाओं के द्वारा सदा परमात्मा का कार्य करने का प्रयत्न करो। जितना अधिक सम्भव हो, इनके लिए समय निकालने का प्रयत्न करो। कर्म

को पूर्ण अनासक्ति के साथ करना चाहिये और उसे साध्य नहीं बल्कि साधन समझना चाहिये।

यन्त्र भी कर्म करते हैं, और हमें कर्म करते समय यह सोचना चाहिये, कि हम परमात्मा के हाथों में यन्त्र हैं। तब हमारा समग्र दृष्टिकोण परिवर्तित हो जायेगा और हमारा कर्म भी साधना का, प्रभु की सेवा का अंग बन जायेगा। कर्म का लक्ष्य सदा परमात्मा की ओर होना चाहिये। हम चाहे कोई भी कर्म कर रहे हों, हमारा यही सजग दृष्टिकोण होना चाहिये। ऐसा करने में कुछ तरह के कर्मों को त्यागना होगा। श्रीमद्भागवत् में कहा गया है :

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थ पदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः।।[२]

अर्थात् वह व्यक्ति जीवित होते हुए भी मृत है, इस संसार में जिसके कर्म, न धर्म के लिए, न वैराग्य के लिए और न भगवान् के पादसेवा के लिए होते हैं।

कर्म और उपासना :

प्रारम्भ में साधक को शरणागति के भाव से करते हुए भी कर्म और उपासना में कुछ अन्तर प्रतीत हो सकता है। बाद में उसे लगता है, कि वह अपने समस्त कर्तव्यों के बीच अपनी मानसिक उपासना कर सकता है। अन्त में उसके सभी कर्म उपासना बन जाते हैं। प्रारम्भ में हमें कर्मों के फलों को परमात्मा को समर्पित करके अपनी क्रियाओं को यथासम्भव निष्काम बनाना चाहिये। बाद में हम परमात्मा के हाथों के यन्त्र के रूप में काम करना सीख जाते हैं। तब हमारा समग्र जीवन एक अविच्छिन्न उपासना बन जाता है।

कर्म और उपासना को साथ-साथ किया जाना चाहिये। दोनों चित्तशुद्धि करते हैं और उच्चतर चेतना के विकास में सहायक होते हैं। उन्हें एक दूसरे से अभिन्न द्विविध साधना जानना समझना चाहिये।

ध्यान के नाम पर किसी भी स्त्री अथवा पुरुष को अपने कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। सदा भगवत्-स्मरण करते हुए कर्म करने पर हमें इतने अधिक व्यक्तिगत ध्यान की आवश्यकता नहीं रहेगी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि साधक किसी न किसी रूप में सदा परमात्मा के संस्पर्श में रहे। नित्य कर्मों में निरत रहते हुए भी मन ही मन मन्त्र का जप करना इसके श्रेष्ठ उपायों में से एक है। जप के चक्र को निरन्तर अपने भीतर चलने दो। जैसा स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने हमें निर्देश दिया है : सर्वदा शब्द प्रतीक की सहायता लो। अपने खाली समय को परमात्मा के नाम से भर दो।[३]

जब कभी सेवा का अवसर आये, हमें उसे बिना हिचकिचाहट के स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा आत्मा संकुचित होती है। अधिक कर्म न खोजो, लेकिन अवसर आने पर

---

२. श्रीमद्भागवत् : ३.२३.५६
३. द इटरनल कम्पेनियन (१९८५), पृ. १८१

सेवा करो। हमारा विकास देने से होता है, प्राप्त करने से नहीं। प्राप्तकर्ता को दाता, किसी न किसी वस्तु का दाता, होना चाहिये। कभी भी भिक्षु का स्थान न लो। अनासक्त, लेकिन पूरी तरह सहानुभूति सम्पन्न रहो। जहाँ भी सम्भव हो, सहायता प्रदान करो, लेकिन अनासक्त होकर, यह जानते हुए कि तुम कर्ता नहीं हो।

कभी-कभी हम यह सोचते हैं, कि दूसरों की आध्यात्मिक सहायता करने का प्रयत्न करने से हम गुरु की भूमिका निभाने लगते हैं। यदि हम में बड़प्पन या अहंकार का भाव न रहे, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह सेवा है और अवसर आने पर अथवा आवश्यकता पड़ने पर ऐसी सेवा करने से हमें संकुचित नहीं होना चाहिये।

कर्म को उपासना में परिणत करने के लिए सर्वप्रथम जप और ध्यान द्वारा आध्यात्मिक-भाव का विकास करने का प्रयत्न करना चाहिये। जब कोई व्यक्ति किसी काम को हाथ में लेता है, तो वह सर्वदा भगवत्-स्मरण नहीं कर सकता। अत: वह कर्म के प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में परमात्मा का स्मरण करे, तथा यह सोचे कि वह यह कार्य परमात्मा की सेवा के रूप में उन्हें प्रसन्न करने के लिए कर रहा है। इस प्रथम कदम को बढ़ाने में सफल होने पर परमात्मा को कर्म के बीच में अधिक बार स्मरण किया जा सकता है।

मन में दो प्रवाह रहते हैं; एक ऊपरी और दूसरा नीचे का। सामान्यत: निम्न-प्रवाह व्यर्थ विचारों से भरा रहता है। अपने निर्दिष्ट कर्म करते हुए यह स्मरण रखने से, कि भगवान् के निमित्त कर्म किया जा रहा है, मन के इस निम्न या अन्तर्प्रवाह को भगवच्चिन्तन के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। इससे कर्म यन्त्रवत् नहीं बनता और मन भी सांसारिक विचारों में व्यस्त नहीं होता।

कभी-कभी परिस्थितियों के दबाव के कारण अधिक कर्म करना पड़ जाता है, लेकिन यदि मन समुचित रूप से प्रशिक्षित हो तो तीव्र क्रियाशीलता के बीच भी परमात्मा का चिन्तन करना सम्भव होता है। इसके लिए नियमित प्रारंभिक साधना आवश्यक है।

अच्छा, मन को यह निश्चय कैसे दिलाया जाये, कि भगवान ही एकमात्र कर्ता है? पहले कर्म और उपासना के द्वारा आत्मा की भी आत्मा – परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करनी चाहिये और उसके बाद तुम उनकी इच्छा और उनकी शक्ति को तुम्हारे देह और मन तथा विश्व की सभी वस्तुओं के माध्यम से कार्य करते आसानी से अनुभव कर सकोगे।

इस तरह हम समर्पण के आदर्श पर पहुँचते हैं। इस शब्द का अर्थ है, अपनी आत्मा, मन और देह को परमात्मा को समर्पित करना, उनके कार्य सम्पादन के लिए उनके हाथों के यन्त्र बनने की प्रार्थना करना और स्वयं की आत्मा की मुक्ति के लिए संघर्षरत रहने के साथ ही साथ सभी के कल्याण के लिए प्रयत्न करना। मानव में परमात्मा को प्रेम करना और उसकी सेवा करना और इस तरह मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करना ही मूल विचार होना चाहिये। हमारे निकट सम्पर्क में आनेवाले की आवश्यकता के अनुसार सेवा, शारीरिक, बौद्धिक नैतिक अथवा आध्यात्मिक हो सकती है।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, कर्म के साथ परमात्मा का चिन्तन और सभी क्रियाओं को उन्हें समर्पित किया जाना चाहिये। परमात्मा तथा उन्हें प्राप्त करने के लक्ष्य को भूलकर मशीन की तरह कार्य करने वाले ही यन्त्रवत् होते हैं। समस्या कर्म की मात्रा की इतनी नहीं है, जितनी उसे भगवत् समर्पित बुद्धि से न कर सकने की। आत्म-साक्षात्कार को निरन्तर दृष्टिगोचर रखे बिना तथा क्षुद्र अहंकार को नष्ट और ईश्वरीय चेतना में विलीन किये बिना समर्पण सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति यह कहता है, कि समर्पण में सब कुछ त्यागकर दूसरों की सही अथवा गलत सभी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है, उसने शरणागति की भावना को नहीं समझना है। और यदि उसने समझा भी है, तो वह आदर्श को ठीक से व्यक्त नहीं कर पा रहा है। सच्ची शरणागति की साधना में सफल होने पर अहंकार का नाश नहीं होता, बल्कि वह रूपान्तरित हो जाता है। व्यक्तिगत चेतना परमात्म चेतना के साथ तथा व्यक्तिगत इच्छा, भगवदिच्छा के साथ एकाकार हो जाती है। यहाँ तक कि व्यक्ति की देह भी विराट देह का अंग प्रतीत होती है। ऐसा व्यक्ति कभी यन्त्रवत् नहीं हो सकता। इस के विपरीत वह अहं-केन्द्रित जीवन के बदले परमात्म-केन्द्रित जीवन यापन करता है।

तुम जो भी कार्य करो, सोचो कि वह सारा कार्य तुम तुम्हारे और सभी के भीतर विराजित परमात्मा की सेवा के रूप में कर रहे हो। गीता के अठारहवे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, कि स्वकर्म से परमात्मा की आराधना करने से आध्यात्मिक-सिद्धि प्राप्त होती है।[४] कोई भी सत्कार्य चाहे वह कितना ही तुच्छ क्यों न हो, भगवत्सेवा के रूप में लिया जा सकता है और उसे अनासक्त होकर किया जा सकता है।

तीव्रता की आवश्यकता :

तीन प्रकार की क्रियायें होतीं हैं : लक्ष्यहीन अचेतन क्रिया; निश्चित लक्ष्ययुक्त सचेतन क्रिया और सामान्य चेतना के साथ उच्चतर चेतनायुक्त क्रिया। और तीसरे प्रकार की क्रिया को प्राप्त करने तक हमें रुकना नहीं चाहिये। हमें उच्चतर चेतना के साथ सम्पर्क विच्छेद किये बिना कर्म करना सीखना चाहिये। इसमें कोई नयी कार्यक्षमता विकसित नहीं होती, पर पुराने कार्य को नयी और श्रेष्ठतर दिशा प्रदान की जाती है। बाहर से कोई नयी बात नहीं आती, पर एक नयी आन्तरिक चेतना का उदय होता है, जो हमारा नैसर्गिक स्वभाव है।

तीव्र आध्यात्मिक प्रयास के द्वारा हम मन में एक अन्तर्प्रवाह का निर्माण कर सकते हैं, जो बाकी मन के कर्म में लगे रहते हुए भी परमात्मा की ओर प्रवाहित होता रहे। इस तरह मन के दो प्रवाह हो जाते हैं। मन का ऐसा सचेतन विभाजन सम्भव है। और आध्यात्मिक जीवन की अविच्छिन्नता के लिए आवश्यक है। सतत साधना के द्वारा हम मन के अधिकांश भाग को नियन्त्रित कर सकेगें और जिस मात्रा में हम ऐसा कर पायेगें, उतना ही सफलता-

---

४. भगवद्गीता - १८.४६

पूर्वक मन को दो भागों में विभक्त कर सकेगें और अपने कर्तव्य-कर्मों के बीच भगवत्-सान्निध्य की अधिक दक्षता पूर्वक साधना कर सकेगें। सामान्यत: यह अन्तर्प्रवाह नाना प्रकार की फालतू बातों का अचेतन प्रवाह होता है। ध्यान के समय हमें बाह्य प्रवाह और अन्तर्प्रवाह को एक करना चाहिये, और उसके बाद कर्म के समय अन्तर्प्रवाह को किसी उच्चतर दिशा में, किसी उच्चतर क्रियात्मक मार्ग में यथासम्भव प्रवाहित करना चाहिये। हमें निम्न प्रवाह की विषयवस्तु को परिवर्तित करना चाहिये। हमें उन्हें चेतन स्तर पर लाना चाहिये। ऐसा करने पर मन का बहुत सा भाग हमारे नियन्त्रण में आ जाता है, और साथ ही हमारा मन पूर्ण सजग और तीव्रतर हो जाता है। साधक के जीवन की यह एक महत्त्वपूर्ण साधना है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है, अधिकाधिक मानसिक सजगता, अर्थात् उच्चतर मन का विकास, जिससे अन्त में अतिचेतन अवस्था की प्राप्ति होती है।

अपने कर्म करते समय मन और उसकी गतिविधियों का निष्पक्ष रूप से थोड़ा अध्ययन करो। उसका निरीक्षण करो और देखो कि किस प्रकार वह नाना प्रकार की निरर्थक और कभी कभी हानिकारक बातों में भी व्यस्त रहता है। तब तुम मन का बहुत हद तक सचेतन नियन्त्रण कर सकोगे, और दीर्घकालव्यापी निरन्तर साधना द्वारा तुम पाओगे, कि मस्तिष्क के स्नायु मानो हल्के हो गये हैं और उनकी अधिकांश बाधा नष्ट हो गयी है। अतिचेतन-अवस्था के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शारीरिक और मनोवैज्ञानिक, दोनों ही बाधाओं को यथासम्भव प्रभावहीन करना होगा।

दूसरों के साथ आदान-प्रदान :

हम अपने लिए कुछ हासिल करने का प्रयत्न करते हैं, और उसके बाद दूसरों को बाँटते हैं। प्रारम्भ में हम अपने स्वयं के आन्तरिक विकास को अधिक महत्त्व भले ही दें, पर दूसरों के हित को दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिये। सर्वप्रथम हमारी कुछ तैयारी होनी चाहिये, अन्यथा हम दूसरों की सेवा भी अच्छी तरह नहीं कर सकते। पहले स्वयं दिव्य बनने का प्रयत्न करें और उसके बाद दूसरों को दिव्य बनने में सहायता करें। लेकिन ये दोनों साथ-साथ होने चाहियें। अपनी आध्यात्मिक-प्रगति को कुछ हद तक आगे बढ़ाने पर ही दूसरों के लिए सुचारू रूप से कार्य किया जा सकता है। जब स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "मैं अपनी मुक्ति की परवाह नहीं करता", उसके पहले उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया था। उच्चतम आध्यात्मिक-स्थिति प्राप्त कर उन्होंने दूसरों के लिए कर्म किया था।

यदि प्रभु हमें उच्चतर मन:स्थिति में रखें और उनकी सेवा करने की शक्ति प्रदान करें तो हमें उसे स्वीकार करना चाहिये। ऐसी सेवा हमें लक्ष्य के निकट ले जाती है। कभी-कभी अपने लिए ही नहीं, बल्कि दूसरों के लिए भी उच्चतर मनोभूमि पर बने रहना आवश्यक होता है। यह आध्यात्मिक-साधना को और अधिक प्रेरणा प्रदान करता है। तुम्हारे पास यदि कुछ न हो, तो तुम क्या दोगे? अत: अपनी लगन के कारण ही नहीं, बल्कि आवश्यकता

के कारण हमें अधिक उपार्जन करना पड़ता है, क्योंकि अधिक का वितरण करना है।

हम सभी के लिए यही आदर्श है; अपने तथा दूसरों के कल्याण का प्रयत्न करना और सच पूछो तो दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता। सेवा द्वारा दोनों में अधिकाधिक एकत्व का बोध होने लगता है। जिस मात्रा में अहं के भाव को कम महत्त्व दिया जाता है, उसी मात्रा में एकत्व का भाव अधिकाधिक प्रकट होता है और अन्त में हम सभी स्त्री-पुरुषों में; सारे बहि: तथा अन्तर्जगत में परमात्मा की अनुभूति करने लगते हैं।

जगत के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन :

इस एकत्व के वास्तविक साक्षात्कार के पूर्व भी अपनी साधना के दौरान उसकी कल्पना और अनुभूति करनी चाहिये। सत्य की स्पष्ट धारणा के बिना कर्म खतरनाक हो सकता है। संसार में कर्म करते समय हमें लोगों के साथ रहना और मिलना-जुलना पड़ता है। अत: यह आवश्यक है, कि प्रारम्भ में ही एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्थिर कर लिया जाये। अत: साधक को कल्पना की सहायता लेनी चाहिये। पतञ्जलि अपने योगसूत्रों में कहते हैं; ''वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्''[५] अर्थात् ''योग के विपरीत विचारों की बाधा को दूर करने के लिए प्रतिपक्ष चिन्तन किया जाना चाहिये।''

अत: जब कभी बुरे विचार या बुरी कल्पना मन में उठे, तब विपरीत शुभ-विचारों को मन में उठाओ। सही प्रकार की शुभ कल्पनाओं को बुरी कल्पनाओं का स्थान लेना चाहिये। यह अन्तिम समाधान नहीं है, लेकिन अधिकांश लोग प्रारम्भ में यही कर सकते हैं। यह लुटेरों को भगाने के लिए पुलिस की सहायता लेने के समान है। लेकिन सुरक्षित स्थान पर पहुँचने पर हमें पुलिस की और आवश्यकता नहीं होती। अत: साक्षात्कार होने तक हमें शुभ कल्पनाओं की सहायता लेनी चाहिये। इनके बिना हम इस संसार में नहीं रह सकते और आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकते।

फिर भी हमें यह देखना चाहिये, कि कल्पना कोई गलत दिशा न ले ले। उसे विवेक और वैराग्य तथा आत्मा के स्वरूप पर आधारित होना चाहिये। तुम्हारा, दूसरों के प्रति दृष्टिकोण तुम्हारे अपने प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। यदि तुम स्वयं को देह समझोगे तो तुम्हें अपने आसपास मानव-शरीर ही दिखायी देगें। अगर तुम अपने को देह में स्थित ज्योतिर्मय आत्मा समझोगे तो तुम्हें वही ज्योति सब में प्रकाशित होती दिखाई देगी।

जब तक हम कभी न कभी अशुभ का सामना करने, तथा उसमें भी परमात्मा का दर्शन करने के लिए तत्पर नहीं होते, तब तक हमारी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। हमें रूप से अधिक तथ्य को, शुभ और अशुभ से अधिक परमात्म सत्ता को महत्त्व देना सीखना चाहिये। हम शुभ और अशुभ से परे विद्यमान परमात्म सत्ता की ओर ध्यान दिये बिना शुभ

---

५. पातञ्जल योगसूत्र २.३३

और अशुभ को लेकर व्यस्त रहते हैं। हमें कहना चाहिये; "रूप मेरे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, मैं तत्त्व को अधिक महत्त्व देता हूँ।"

शिवजी के कुछ भक्त सभी नारियों को पार्वती तथा सभी पुरुषों को महेश्वर शिव समझते हैं, और उसके बाद इन दोनों, भगवान और भगवती को उस सत्ता में विलीन कर देते हैं, जिससे वे उत्पन्न हुये हैं। इस तरह ये उपासक कई समस्याओं को सुलझा लेते हैं। यदि कोई व्यक्ति सभी नारियों को भगवती और सभी पुरुषों को भगवान के रूप में देखने लगे, तो इससे कितना फर्क पड़ जायेगा।

कुछ अन्य भक्त सभी पुरुषों को श्रीरामकृष्ण तथा सभी स्त्रियों को माँ शारदा के रूप समझते हैं, और अन्त में उनका भी अतिक्रमण कर उन दोनों की पृष्ठभूमि में विद्यमान परमात्मा तक पहुँच जाते हैं। इसी तरह हमारी समस्याओं का सच्चा समाधान सम्भव है। अच्छा, हमारी वर्तमान स्थिति में उद्विग्न कर रहे विचार तथा अशुभ रूपों की उपेक्षा की जा सकती है, लेकिन यह कभी भी समाधान नहीं हो सकता। एक समय ऐसा आना चाहिये जब हम शुभ और अशुभ दोनों के पीछे की अद्वितीय सत्ता को देख सकें। और तब शुभ और अशुभ हमें प्रभावित नहीं करेगें।

और यदि हम इन विभिन्न भौतिक रूपों को वास्तविक सत्ताओं के रूप में कभी नहीं, बल्कि निराकार की अभिव्यक्तियों के रूप में देखने में सचमुच समर्थ हों; यदि हम जड़ पदार्थ को विचारों की अभिव्यक्तियों के रूप में तथा विचारों को अनन्त चैतन्य की अभिव्यक्ति के रूप में देखने में समर्थ हो सकें, तब हम सभी वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में, सही स्थिति में देख पायेगें। तब फिर हम भौतिक अथवा मानसिक रूपों मात्र से भ्रमित नहीं होगें। भगवत्-सान्निध्य के अभ्यास के लिए ऐसा दृष्टिकोण आवश्यक है।

भौतिक दृष्टि से हमारा अनन्त भौतिक ब्रह्माण्ड के साथ, मानसिक स्तर पर अनन्त-विराट् मन के साथ तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अनन्त परमात्मा के साथ तादात्म्य होना चाहिये। और तब हम सभी बातों को उनकी सही भूमिका में, सही दृष्टि से देख तथा तदनुरूप कार्य कर सकेगें। ससीम का सदा असीम के साथ, सभी विभिन्न स्तरों पर, चेतना के सभी विविध रूपों के साथ तादात्म्य होना चाहिये। परमात्मा के सान्निध्य का सदा, सभी स्तरों पर अनुभव होना चाहिये।

विराट् शक्ति का नियन्त्रण :

व्यष्टि मन, समष्टि मन के साथ जुड़ा रहता है तथा हमारी मानसिक शक्ति ईश्वरीय स्रोत से आती है। इस मानसिक-शक्ति को नियन्त्रित और संचालित करना हमें आना चाहिये। ऊर्जा का निम्न केन्द्रों में प्रवाह रोकने के लिए, तथा हमारी इन्द्रियों के माध्यम से उसे बाहर जाने, व्यर्थ विचारों, चिन्ता एवं व्यर्थ बातों के द्वारा नष्ट होने से बचाने के लिए नियन्त्रण आवश्यक है। इससे प्रारम्भ में कुछ तनाव उत्पन्न होता है, जो अपरिहार्य है। सिद्ध पुरुषों में ऐसे नियन्त्रण

की आवश्यकता नहीं रहती। उसकी सारी मानसिक ऊर्जा उच्चतर केन्द्रों की ओर प्रवाहित होती है। लेकिन हम लोगों के लिए सचेतन सज्ञान नियन्त्रण अत्यावश्यक है।

अचेतन-नियन्त्रण को मनोविज्ञ लोग दमन कहते हैं और कुछ लोगों के लिए, कुछ प्रकार के दमन हानिकारक होते हैं। लेकिन सचेतन नियन्त्रण समझबूझकर किया गया नियन्त्रण आध्यात्मिक जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि सभी स्वस्थ स्वाभाविक सामाजिक जीवन के लिए भी आवश्यक है। इस विषय में भारतीय मनोविज्ञान और पाश्चात्य मनोविज्ञान में अन्तर है। ईश्वरीय शक्ति हम सभी के भीतर प्रवाहित हो रही है। हम सभी न्यूनाधिक मात्रा में (परमात्मा के हाथों में) यन्त्र हैं। लेकिन जब हम इस ऊर्जा को निम्न-केन्द्रों से प्रवाह को समझ-बूझकर रोककर उच्चतर केन्द्रों से अभिव्यक्त होने देते हैं, तब हम नित्य ताजगी का अनुभव करते हैं। तब फिर जहाँ तक बौद्धिक जीवन का प्रश्न है, हमारे लिए कोई वार्धक्य नहीं होता। कभी-कभी पूर्व-संस्कारों एवं प्रवृत्तियों के कारण हम उच्चतर स्तरों की क्रियाशीलता बनाये नहीं रख पाते, तब नीचे की ओर एक तीव्र खिंचाव होता है। एक वास्तविक खींचतान चलती है, जो विकास के लिए अपरिहार्य है। हम ऊर्जा के प्रवाह को रोक नहीं सकते, पर उसे सोच-विचार कर, सचेतन रूप से, इच्छा शक्ति की सहायता से एक उच्चतर दिशा प्रदान कर सकते हैं।

सचेतन बुद्धिमत्तायुक्त चिन्तन आवश्यक है। सचेतन चिन्तन बाधाओं को दूर करता है और व्यवधान दूर होने पर अधिक मानसिक शक्ति हम में प्रवाहित होती है।

सर्वप्रथम इच्छा शक्ति की सहायता से सज्ञान प्रवाह प्रारम्भ करो। उसके बाद वह बना रहता है। नये विचारों को सोचने, चिन्तन और अभिव्यक्ति के नये मार्गों को खोजने का प्रयत्न करो, और ऐसा होने पर मानसिक शक्ति को दिशा प्रदान करने का कार्य स्वाभाविक और बिना प्रयास के होने लगता है।

सचेतन उच्चतर चिन्तन के द्वारा हम उच्चतर मार्गों का द्वार खोल देते हैं, और मार्ग खुल जाने पर उच्चतर चिन्तन आसान हो जाता है। उच्चतर विचार प्रवाहित होने लगते हैं, वस्तुतः वे बड़ी तेजी से उठने लगते हैं। लेकिन सदा सचेतन रूप से, इच्छा शक्ति की सहायता से इस प्रक्रिया को प्रारम्भ करना चाहिये। यदि उच्चतर विचार अनजाने में हममें उठते हों, तो किसी दिन निम्नतर विचार भी उठेगें। अतः अचेतन प्रक्रिया से यथासम्भव बचना चाहिये।

उच्चतर विचारों को सचेतन रूप से हममें प्रवाहित होने देना चाहिये। इसे अचेतन-प्रक्रिया नहीं बनने देना चाहिये। सचेतन संघर्ष से उच्चतर मार्गों के खुलने पर उच्चतर विचार सचेतन रूप से हममें उठते हैं, और तब आध्यात्मिक जीवन बहुत आसान हो जाता है। एक नया मनोवैज्ञानिक और स्नायविक रास्ता खुल जाता है, जिससे ये उच्चतर विचार बिना बाधा के प्रवाहित हो सकते हैं। उच्चतर का वास्तविक अर्थ है – गहरे। हम बाह्य आकाश की अपेक्षा से "उच्चतर" कहते हैं, लेकिन आध्यात्मिक जीवन में आन्तरिक चेतना का महत्त्व है। अतः मानसिक ऊर्जा के केन्द्रों और मार्गों के सन्दर्भ में हमें "गहरे" शब्द का उपयोग

करना चाहिये। जो हो, हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, प्रवाह को सचेतन रूप से प्रारम्भ करना। यह प्रारम्भिक कर्तव्य है, और उसके बाद अन्य सब बातें होती जाती हैं।

उच्चतर केन्द्रों का जागरण :

ससीम सदा असीम के संस्पर्श में है। निम्न स्तरों पर यह अचेतन रहता है। उच्चस्तर पर यह सचेतन हो जाता है, जब तुम उसका अनुभव करते हो। उच्चतर स्तर पर उठकर ऊर्जा की उच्चतर अभिव्यक्ति करना तुम्हारा प्रस्तुत कार्य है।

साधक का कार्य उच्चतर केन्द्रों को क्रियाशील करना, उन्हें जगाना है। निम्न केन्द्रों की क्रिया को सचेतन रूप से बन्द करके उच्चतर केन्द्रों को गतिशील करना चाहिये, लेकिन यह कार्य सज्ञान किया जाना चाहिये। यह एक सज्ञान, सोचे-विचारे की गयी प्रक्रिया होनी चाहिये। जप, ध्यान, प्रार्थना इत्यादि सभी उच्चतर केन्द्रों की क्रिया को प्रारम्भ करने के लिए हैं।

किसी समय तुम निम्न तथा उच्च केन्द्रों को युगपत् अनुभव कर सकते हो, अर्थात् दोनों एक ही समय क्रियाशील होना चाहते हैं, और तब एक भयानक खींचतान होती है, और यह अपरिहार्य है तथा सभी को इस स्थिति से गुजरना पड़ता है। तब तुम्हें महान इच्छाशक्ति की सहायता से निम्न केन्द्रों की गतिशीलता को रोकना पड़ता है।

नित्य साधना और तीव्र संघर्ष के द्वारा उच्चतर केन्द्रों की क्रिया अधिकाधिक स्वाभाविक और कम श्रमसाध्य हो जायेगी, लेकिन इस युद्ध-सम अवस्था से गुजरे बिना इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। बाधाओं को दूरकर ऊर्जा को उच्चतर दिशा में प्रवाहित कर अभिव्यक्त करने तथा उच्चतर स्तरों पर सृजनशील करने के लिए देह और मन की सामान्य शुद्धि आवश्यक है। ऊर्जा कार्यरत होगी ही, चाहे निम्न शारीरिक-स्तर पर हो या उच्चतर स्तर पर। उसकी अभिव्यक्ति को रोका नहीं जा सकता, लेकिन उसकी दिशा परिवर्तित की जा सकती है और यही साधक का प्रस्तुत कार्य है।

अपनी ऊर्जा को नियन्त्रित करना मात्र पर्याप्त नहीं है, लेकिन उसे उच्चतर दिशा प्रदान करना आना चाहिये। अन्यथा ऊर्जा घूमती रहती है और अधिकाधिक एक वर्तुल सी बन जाती है अथवा वह आसानी से एक निम्नतर दिशा पाकर निम्न केन्द्रों से अभिव्यक्त हो सकती है। हम में बहुत सी शक्ति अभिव्यक्त हुए बिना भरी पड़ी है। सारे शक्ति प्रवाह को रोक देने पर बहुत से लोग जड़वत् हो जाते हैं, अर्थात् वे निम्न केन्द्रों से शक्ति को अभिव्यक्त होने नहीं देते और साथ ही उसे उच्चतर दिशा भी प्रदान नहीं करते। अतः शक्ति अवरुद्ध होकर समस्यायें पैदा करने लगती है। बहुत से लोग उच्चतर स्तर पर इसका उपयोग करने में असमर्थ होते हैं और निम्न-केन्द्रों के द्वारा ही उपयोग कर सकते हैं। निम्न केन्द्रों से शक्ति के प्रवाह को रोक देने पर वे निष्क्रिय हो जाते हैं अथवा उनकी शक्ति आवर्तित होने लगती है। इसलिए इस निम्न श्रेणी के लोगों को निर्देश देते समय हमें बहुत सावधान होना चाहिये।

कभी दैवी-शक्ति के तीव्र वेग का अनुभव होता है, जिसे रोका नहीं जा सकता। पूर्व प्रशिक्षण तथा चित्तशुद्धि के द्वारा हमें इसे संभालने के लिए तैयार रहना चाहिये। बहुत से विभिन्न मनोभाव तथा प्रेरणायें हम में उठती हैं, और हमें उच्चतर भावों को विकसित और संवर्धित करना तथा निम्न भावों को दूर करना सीखना चाहिये।

आन्तरिक नियन्त्रण :

सामान्यत: हमारे भीतर कुछ अवचेतन प्रक्रिया हमारे अनजाने ही चलती रहती है, और हम उसके परिणाम को ही जान पाते हैं। अत: हमें अपने मन की गतिविधियों को नियन्त्रित करने में समर्थ होना चाहिये। हमें अपने भीतर प्रवाहित हो रही ईश्वरीय-शक्ति के प्रति सचेत होना तथा उसको अपने भीतर नियन्त्रित करने में समर्थ होना चाहिये। हम बाह्य घटनाओं को नियन्त्रित नहीं कर सकते – कम से कम पूर्ण नियन्त्रण तो नहीं कर सकते – लेकिन हम अपने आप पर यथासम्भव नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं।

ग्रह-नक्षत्रों का, पर्यावरण का तथा समग्र बाह्य वातावरण का प्रभाव हम पर पड़ता है, लेकिन यह कोई कारण नहीं कि हम उनसे प्रभावित हो जायें। यदि उनका विरोध न कर सको तो तुम्हें उनसे अप्रभावित-सा रहना चाहिये। तब तुम उनके प्रभाव को अनुभव नहीं करोगे और अवाञ्छनीय आवेगों अथवा शक्ति के वेग के उठने पर अपना सन्तुलन नहीं खोओगे। और अभ्यास के द्वारा हम बिना प्रयत्न के सुरक्षित हो जाते हैं।

यदि तुम मिलनसार होओ और बुरे स्वभाव के लोगों के सम्पर्क में आओ, तो तुम अपने को उनसे अत्यधिक प्रभावित महसूस करोगे, और ऐसी स्थिति में यदि तुम सावधान न रहो और गलत व्यक्ति आये तो वह तुम्हें नीचे खींच लेगा। और यह पतन बाह्य प्रभाव के कारण ही अथवा हमारी अपनी लापरवाही तथा विवेकहीनता के कारण भी हो सकता है। आन्तरिक सन्तुलन आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या है, और इसके बिना स्थिरता अथवा शान्ति सम्भव नहीं है।

आघातों को परमात्मा की ओर मोड़ो :

यह सारा नैतिक अनुशासन हमें बहुत सहायक होता है। कभी-कभी महान इच्छाशक्ति की सहायता से आन्तरिक संतुलन बनाये रखना पड़ता है। लेकिन यह भी अभ्यास द्वारा अधिकाधिक स्वाभाविक होता जाता है। और उच्चतर ध्यान की मन:स्थिति बनाये रखने के प्रयास से तथा किसी व्यापकतर चेतना के संस्पर्श में रहने से आध्यात्मिक जीवन में यह सन्तुलन आसान हो जाता है, क्यों कि तब तुम अपने में हो रही प्रतिक्रियाओं को किसी व्यापकतर सत्ता को स्थानान्तरित कर देते हो। तुम्हें आघात लगते हैं, पर तुम किसी और को दे देते हो। अत: परमात्मा एक प्रकार से हमारे "झटका अवशोषक" हो जाते हैं।

भक्त इस कार्य को – अपने आघातों को परमात्मा को देने के कार्य को – अपनी भक्ति की सहायता से करते हैं, "प्रभु यह तुम्हारी इच्छा है; हम क्या करें?" प्रतिक्रियाओं को कम

करने की भक्तों की यह मनोवैज्ञानिक प्रद्धति है।

ज्ञानी उस अनन्त का चिन्तन करने का प्रयत्न करता है, जिसका वह अंश है, और अंश कभी पूर्ण का अतिक्रमण नहीं कर सकता। असीम सदा ससीम की सहायता करने को तत्पर है, क्योंकि इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। बुदबुदे के दृष्टान्त में हम देखते हैं, कि सागर यदि बुदबुदे को सभी अवस्थाओं में आश्रय न दे, तो बुदबुदा किसी भी क्षण फूट सकता है। कभी उसे अपना केन्द्र परिवर्तित करना पड़ता है, लेकिन वह सागर पर रहते हुए ही केन्द्र परिवर्तित करता है, और यही हमें करना है।

यदि किसी दिन तुम में भावनाओं का अत्यधिक उद्रेक हो और तुम्हें यह न ज्ञात हो, कि इससे कैसे छुटकारा पायें, तो परमात्मा की ओर दौड़ पड़ो; यह भावना तुम्हें परमात्मा तक ले जाये, और यदि तुम रोना चाहो, तो परमात्मा तक पहुँचने की प्रतीक्षा करो। उसके पहले न रुको। यही उपाय है; सभी कुछ परमात्मा को स्थानान्तरित कर देना।

जब तक ससीम असीम के संस्पर्श में आने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक समूल शुद्धिकरण नहीं हो सकता। हम सभी कचरा और धूल छुपाते हैं, कभी कभी फूलों के द्वारा उसे आवृत कर देते हैं, लेकिन जब तक हमारे सारे मन की वास्तविक सफाई नहीं होती, तब तक आध्यात्मिक जीवन में कुछ भी नहीं हो सकता। केवल ऊपरी सफाई से काम नहीं चलेगा।

ससीम सदा अपवित्र होता है और वह असीम के संस्पर्श में आने पर ही पवित्र होता है और इस तरह अपने असीम स्वरूप्र की अनुभूति प्राप्त करता है। ससीमता, अपने स्वभाव की ससीमता ही वास्तविक "आदि पाप" है और यह आदिपाप, ससीमता का त्याग करने पर, असीम के, हमारे वास्तविक मूल स्वभाव के संस्पर्श में आने पर ही दूर हो सकता है।

इस एकात्मता की अनुभूति होने पर समग्र जगत् हमारे नेत्रों के समक्ष रूपान्तरित होकर दिखाई देता है। हमारे लिए सब कुछ मंगलमय और शुभ हो जाता है। हृदय की सभी ग्रन्थियाँ और वक्रतायें नष्ट हो जाती हैं और अनन्त का आनन्द हमारे रोम रोम में व्याप्त हो जाता है। तब हमें उस वैदिक ऋषि का सा अनुभव होता है, जिसने निम्नोक्त मन्त्र का गान किया था :

वायु हंमारे लिए मधुर है, सागर हम पर मधु-सिंचन कर रहे हैं। औषधियाँ हमारे लिए मधुमय होवें, वनस्पतियाँ मधुमय हों, सूर्य भी हमारे लिए प्रिय हो। दिवा-रात्रि हमारे लिए मधुमान होवें। पृथ्वी की रज हमारे लिए मधुमय है। ए स्वर्गस्थ पिता, हमारे लिए मधुमान होओ। गायें हमारे प्रति मधुमति होवें। [६]

□□□

६. मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।।
मधुनक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता।।
मधुमान्नो वनस्पतिः मधुमानस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।। - महानारायण उपनिषद् - ३९

तृतीय भाग

अनुभूतियाँ

अध्याय २७

असतो मा सद्गमय

मानव और सत्य :

हम सभी को तापत्रय सहन करने पड़ते हैं। ये हैं – आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ताप अर्थात् स्वयं से, दूसरे प्राणियों से तथा प्राकृतिक प्रकोपों से उत्पन्न कष्ट। प्राय: ये तीनों एक साथ रहते हैं। लेकिन अधिकांश अवसरों में स्वयं हमारे द्वारा उत्पन्न समस्याएँ हमारे कष्टों के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार होती हैं।

जीवन का लक्ष्य क्या है? तापत्रय से निवृत्ति। सभी दु:ख और बन्धनों से बचने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। लेकिन यदि आनन्द और मुक्ति पाने की कोई सम्भावना ही नहीं होती, तो कोई भी दु:ख से छुटकारा पाने के लिए उत्सुक नहीं होता। यह सम्भावना, यह अव्यक्त सम्भावना, जीवन का मूल केन्द्रीय सत्य है। यदि लोगों की यह निश्चित धारणा होती कि बचने का कोई उपाय नहीं है, तो कोई हिलता-डुलता भी नहीं।

हम में से प्रत्येक में अमरत्व, ज्ञान और सुख की स्पृहा है। हम सभी जीना चाहते हैं, और वह भी सचेतन और आनन्दपूर्वक। तात्पर्य यह है, कि सत्, चित् और आनन्द हमारी आत्मा का, हमारे वास्तविक स्वरुप का सार है।

और जब हम बाह्य-जगत् का विश्लेषण करते हैं, तब भी समस्त दृश्य जगत् के पीछे हम इन्हीं को अवस्थित पाते हैं। जड़ चेतन सभी पदार्थ अस्तित्ववान् हैं। और सभी वस्तुओं में हमारी चेतना को प्रभावित करने की क्षमता है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार की ज्योति है, जो जड़ और चेतन सब में प्रकाशित होती है। इस विषय में प्रकार का भेद नहीं है, केवल मात्रा का भेद है। आन्तर-जगत् की तरह बाह्य-जगत् में भी सत्ता और चेतना का यह सतत बोध बना रहता है। इस तरह हमारे भीतर ही नहीं, अपितु सभी बाह्य पदार्थों में सत्य की झलक दिखाई देती है। पुन: हमारे चारों ओर दिखाई देनेवाले स्थूल पदार्थ, सभी की कुछ न कुछ आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। हम सभी इन्द्रिय-विषयों की ओर दौड़ते हैं, जिनसे हम इन्द्रिय-विशेष का सुख पाने की आशा रखते हैं, चाहे वे कैसे ही क्यों न हों। सुख की इच्छा हम में सदा बनी रहती है। इन्द्रिय-विषय मन को इसीलिए आकृष्ट करते हैं कि उनसे हमें सुख प्राप्त होने की आशा बनी रहती है। इसी कारण हम प्रलोभित होते हैं, उस वस्तु की अपनी किसी विशेषता के कारण नहीं। इस तरह हम देखते हैं, कि प्रत्येक बाह्य-पदार्थ

में स्वयं बने रहने की, उसके प्रति हम में चेतना पैदा करने की, तथा हमारे मन को आकृष्ट करने की क्षमता होती है।[१]

लेकिन यदि हम उन पदार्थों का विश्लेषण करें, तो पाएगें, कि अन्तिम विश्लेषण में हम उनके नाम और रूप का ही पता लगा सकते हैं, उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकते। वे जिस सत्ता को अभिव्यक्त कर रहे हैं, वह फिलहाल हमारे लिए अज्ञात है। नाम और रूप हमारा और बाह्य विषयों का सत्य आवृत्त कर देते हैं, लेकिन सभी नाम और रूप उनके पार्श्व में विद्यमान सत्ता के प्रकाश के मन्द रूप में प्रतिबिम्बित करते हैं। हमारे आन्तर-जगत् तथा बाह्य-जगत् के सर्व सामान्य आधार तथा चरम-सत्ता को उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा कहा गया है।

हम में इस सत्ता अथवा ब्रह्म के साथ सम्बन्ध अथवा एकत्व का एक अचेतन-बोध सदा बना रहता है। यह भले ही बहुत अस्पष्ट, बहुत धूमिल हो, लेकिन फिर भी वह रहता अवश्य है। समस्त आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य इस अस्पष्ट आत्म-चेतना को सुस्पष्ट करना है। यदि हम सचमुच सत्य का साक्षत्कार करना चाहते हैं, तो हमें सर्व प्रथम अपने से ही प्रारम्भ करना चाहिए, और उसका पता लगाना चाहिए, जो हम में तथा हमारे अहंकार के पीछे विद्यमान है।

'मैं' का मौलिक-बोध :

जब तक आत्मा का मिथ्या तादात्म्य, व्यक्तित्व का मिथ्या-बोध बना रहेगा, तब तक चरम सत्य का साक्षात्कार कभी भी नहीं हो सकता। देह, मन और अहंकार के साथ हमारी आत्मा का तादात्म्य बना हुआ है, और इस तादात्म्य के काल में हमारी चेतना का केन्द्र निरन्तर परिवर्तित होता रहता हैं। व्यावहारिक स्तर पर कार्य करते अथवा जीते हुए भी अपनी चेतना को परमात्मा में बद्धमूल रखा जा सकता है, लेकिन देह और मन के साथ-मिथ्या तादात्म्य बने रहने तक यह भी नहीं किया जा सकता। कभी हम देह के साथ तादात्म्य स्थापित कर कह उठते हैं : "ओह! मुझे चोट लग गई, मुझे बहुत दर्द हो रहा है।" कभी मन के साथ तादात्म्य होता है और हम कहते हैं; "ओह, अमुक व्यक्ति ने मेरे साथ बहुत बुरा व्यवहार किया, मुझे इतनी चिन्ता हो रही है, मुझे बहुत दुःख है।" यह सब मिथ्या तादात्म्य है, लेकिन इस तादात्म्य में जो सामान्य घटक है, वह है, "मैं, मैं, मैं" – सदा यह 'मैं' विभिन्न रूपों में उठता रहता है। और जब तक यह 'मैं' रहेगा, तब तक हम ब्रह्म की एक झलक भी नहीं पा सकेंगे। लेकिन एक बात ध्यान देने की है : मिथ्या तादात्म्य के समय भी हमें 'किसी' अपरिवर्तनशील वस्तु का बोध बना रहता है[२] और साधक का लक्ष्य यह पता

---

१. अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पंचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद् रूपं ततोद्वयम्।। - दृग्दृश्य विवेक, २०

२. प्रतिबोधविदितम्। - कनोपनिषद्, २.४

लगाना है, कि अपरिवर्तनशील, नित्य, विद्यमान 'वह' क्या है।

यह मैं क्या है? ज्ञाता को कैसे जानें?[३] अनन्त की धारणा के बिना सान्त का चिंतन कभी भी सम्भव नहीं है, चाहे वह धारणा कितनी भी अस्पष्ट क्यों न हो। एक को स्वीकार करने से हम दूसरे को भी स्वीकार कर लेते हैं। हम अनन्त की परिभाषा नहीं कर सकते, विशुद्ध चैतन्य अर्थात् ब्रह्म की धारणा नहीं कर सकते, लेकिन भले ही उसका वर्णन न किया जा सके पर उसका प्रज्ञा की सहायता से साक्षात्कार किया ज़ा सकता है। अपरोक्ष अतिचेतन अनुभूति जैसी एक अवस्था होती है।

"सत्य का साक्षात्कार उसे होता है, जिसे वह वरण करता है, तथा जिसके समक्ष वह प्रकट होता है।"[४] अद्वैत के दृष्टिकोण से तुम स्वयं अपना ही चयन या वरण करते हो, क्योंकि यह आत्मा या सत्य तुम से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, और यदि तुम स्वयं को सत्य के ज्ञाता के रूप में चुनो और उसके लिए प्रयत्न करो, तो तुम वही हो जाओगे। अद्वैत की दृष्टि से आध्यात्मिक-साक्षात्कार आत्म-साक्षात्कार ही है।

द्वैतपरक दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर वरणं कर्ता है। भगवान् की कृपा उनपर होती है, जिन्हें वह चुनता है। लेकिन यहाँ भी व्यक्ति की, जीव की समस्या बनी रहती है। भगवत्कृपा उन्ही पर होती है, जो-उसके लिए तत्पर हैं, जिन्होंने पवित्रता के लिए कठोर साधना की है। अचानक पवित्र जीवन की ओर मुड़नेवाले तथा कथित 'पापियों' के जीवन में भी उनके 'पाप कर्म' ही उन्हें उनके निकृष्ट मन की गतिविधि की जानकारी प्रदान करते हैं। उनमें शुद्धि के लिए अचेतन लेकिन तीव्र संघर्ष होता रहता है। द्वैतपरक दृष्टिकोण से आध्यात्मिक अनुभूति का अर्थ भगवत्साक्षात्कार है।

अद्वैत मतानुसार आत्मसाक्षात्कार और भगवत्साक्षात्कार एक ही है। द्वैतमत में इन दोनों में अन्तर माना गया है : पहले आत्मसाक्षात्कार होता है, उसके बाद भगवत्साक्षात्कार होता है। लेकिन दोनों पथों में ही अहं-बोध का अतिक्रमण करना और आत्मा को पहचानना आवश्यक है। वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ आत्मा के अन्वेषण के बाद ही होता है। "साहसी बनो और सत्य का सामना करो।"[५] निर्मम आत्म-विश्लेषण करो। सर्व प्रथम अपनी आत्मा को पहचानकर पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करो। तुम्हारी आत्मा प्रायः पूरी तरह खो गई है, और उसे पुनः पाने पर ही उच्चतर अनुभूति की बात उठ सकती है। मानव की अपनी आत्मा की खोज से आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता हैं। आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ इस सत्य की स्वीकृति से होता है कि हम न देह है, न भावनाओं के समूह, न स्त्री हैं, न पुरुष, बल्कि विराट् चैतन्य सत्ता के अंग हैं, जो अधिक सत्य है, तथा भौतिक-जगत्

---

३. विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ...। बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.१४ और ४.५.१५

४. कठोपनिषद् १.२.२३

५. 'प्रबुद्ध भारत के प्रति' विवेकानन्द साहित्य

से अनन्त गुना अधिक मूल्यवान है। और हमारे समस्त प्रयासों के आधार के रूप में इस सत्य का बोध बना रहना आवश्यक है।

आध्यात्मिक जीवन के मूलभूत नियम :

जीव तथा विराट् के सम्बन्ध को निर्धारित करनेवाले दो मौलिक सिद्धान्त हैं। प्रथम सिद्धान्त यह है : "व्यक्ति जिसे सत्य समझता है, वह उसकी समग्र सत्ता को, उसके विचारों, भावनाओं और इच्छा-शक्ति को आकृष्ट करता है।" यदि यह असत्य जगत् हमें सत्य प्रतीत होगा, तो वह हमारे समग्र मन-प्राण को अपनी ओर खींच लेगा। यदि परमात्मा हमें सत्य प्रतीत होगा, तो हम संसार से विमुख होकर अपना समग्र मन भगवान् में लगाएगें। संसार को सत्य मानने से हम उस से पूर्ण हो जाते हैं। परमात्मा को सत्य मानने से हम एकमात्र परमात्मा से ही परिपूर्ण हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि जो हमारे लिए यथार्थ है, हम उसी का अपने पूरे मन से अनुसरण करते हैं।

अतएव सत्य के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करना हमारे लिए आवश्यक है। और इस विषय में अनुसन्धान करने पर हम एक दूसरे सत्य का आविष्कार करते हैं, जो आध्यात्मिक-जीवन का दूसरा मौलिक सिद्धान्त है। और वह है : "सत्य की हमारी धारणा हमारी अपने प्रति धारणा पर निर्भर करती है।" बालक के लिए उसकी गुड़ियाएँ सत्य, जीवन्त होती हैं। बड़े होने पर उसकी अपने बारे में धारणा बदलने पर गुड़ियाएँ अपनी सत्यता खो देती हैं। इसी तरह किशोरावस्था, यौवन तथा वृद्धावस्था में बाह्य-जगत् की मानव की मान्यता में परिवर्तन होता है। हमारे अपने बारे में ज्ञान तथा जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण में निकट का सम्बन्ध रहता है। हमारा बाह्य-जगत् का ज्ञान सदा व्यक्तिगत परिवर्तन के बाद ही होता है।

नेत्ररोग-ग्रस्त राजा की प्रसिद्ध कहानी इस बात का दृष्टांत है। डाक्टरों ने राजा को सदा हरे रंग की वस्तुओं को देखने की सलाह दी। राजा ने महल, बगीचे आदि सभी स्थानों को हरे रंग से रंगने का आदेश दिया। लेकिन बुद्धिमान मन्त्री ने इसके बदले हरे रंग का चश्मा पहनने का सुझाव दिया। तब राजा को सारा संसार हरा दिखने लगा। हमारी अपने प्रति धारणा में परिवर्तन होने पर, स्वयं को आत्मा समझने पर, आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ होता है। स्वयं को आत्मा समझने पर हम परमात्मा की खोज में लग जाते हैं।

भौतिक-जगत् के आध्यात्मिक-जगत् से अधिक सत्य प्रतीत होने के पूर्व ही हमारी चेतना में हमारी देह आत्मा से अधिक सत्य हो गई होती है। सत्य तो यह है, कि पहले हमारी चेतना के स्तर में गिरावट आती है, उसके बाद हम स्थूल देह तथा बाह्य-जगत् के बारे में अधिक सचेतन होते हैं।

युक्ति का आधार :

वेदान्त में प्रत्यक्ष अनुभूति-प्रमाण, युक्ति का आधार है। यह तार्किक खण्डन-मण्डन या युक्तिवाद मात्र नहीं है। युक्ति सदा अनुभव पर आधारित होती है। युक्ति हमारी आत्मा के अखण्डनीय सत्य से प्रारम्भ होती है। डेकार्टे ने कहा था, "मैं सोचता हूँ, अत: मैं हूँ।" हिन्दू इस कथन को उलटकर कहेगा, "मैं हूँ, अत: मैं सोचता हूँ।" इस युक्ति को हमारे आस पास के स्थूल जगत् और आन्तरिक मनोजगत् पर भी लगाया जाता है। तब हम पाते हैं कि आत्मा ही एक मात्र अपरिवर्तनशील सत्ता है, और अन्य सब वस्तुएँ अनित्य हैं। जो परिवर्तनशील है, उसे असत्य होना चाहिए या जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं में नित्य विद्यमान वस्तु से कम सत्य होना ही चाहिए। वेदान्त का साधक इस तरह सत्या-सत्य या नित्यानित्य विवेक करता है।

स्पष्ट-विश्लेषण करना चाहिए। हम अपने विचारों से पृथक् खड़े होकर उनका अवलोकन भी कर सकते हैं। हम मन को देख सकते हैं। अत: मन एक वस्तु है, जिसको कोई अन्य द्रष्टा देख सकता है।

रूपं, दृश्यं, लोचनं दृक, तद्दृश्यं दृक्तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयस्याक्षी दृगेव न तु दृश्यते।।[६]

अर्थात् *रूप दृश्य है, जिसे नेत्र-रूपी द्रष्टा देखता है। वह (नेत्र) दृश्य है, और मन द्रष्टा है। बुद्धि-वृत्तियाँ साक्षी के द्वारा देखी जाती हैं, जो द्रष्टा है। लेकिन साक्षी (आत्मा) किसी के द्वारा नहीं देखा जाता।*

इस तरह आत्म-विश्लेषण तथा हमारे वास्तविक स्वरूप का अन्वेषण किया जाता है। इस से दृश्य पदार्थों के द्रष्टा, साक्षी आत्मा की झलक प्राप्त होती है। लेकिन चरम सत्य दृश्य तथा द्रष्टा दोनों के परे है।

जब तुम बहुत मननशील होते हो, तब तुम अपने आप से कहते हो, "यह विचार मेरे मन में उठ रहा है" इत्यादि। इस तरह तुम अपने ही विचारों के द्रष्टा बन जाते हो। मन, उठ रहे तथा विलीन हो रहे अनेक विचारों द्वारा निर्मित है। अत: मन निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। लेकिन साक्षी आत्मा कभी परिवर्तित नहीं होता। मानव की सत्य की सभी गवेषणाएँ सदा इसी अपरिवर्तनशील आत्मा से प्रारम्भ होनी चाहिए। आत्म-चेतन सत्ता हमारे समग्र व्यक्तित्व का मूल आधार है। समग्र भौतिक और मानसिक परिवर्तनों के बीच हम में कोई अपरिवर्तनशील सत्ता बनी हुई है। और इस से हमें चरम सत्य की प्राप्ति की दिशा प्राप्त होती है।

जो वस्तु हमारी चेतना में सत्य है, वह सदा सत्य बनी रहती है। यदि बुदबुदा नष्ट हो जाए, तो भी जल के कण बने रहते हैं। देह बुदबुदा है, आत्मा मानो जल बिन्दु है। हमारी

---

६. दृग्-दृश्य-विवेक -१

वास्तविक सत्ता सदा बनी रहती है। जो चरम सत्य नहीं है, वह नष्ट हो जाता है। देह नष्ट हो जाती है; अपरिवर्तनशील आत्मा नित्य, अमर बनी रहती है।

हमारी अपने सम्बन्ध में धारणा का हमारी गतिविधियों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मान लो कि हम स्वयं को देह समझते हैं, तब शारीरिक सुख-भोग जीवन का उद्देश्य बन जाता है। और मान लो, हमारी यह मान्यता बन जाय, कि आत्मा मृत्यु के बाद बनी रहता है, तथा हमारा भावी जीवन पूरी तरह हमारी वर्तमान शारीरिक और मानसिक क्रियाओं पर निर्भर है, तब हमारा दृष्टिकोण क्या होगा? तब हम भिन्न प्रकार से आचरण करेंगे, क्योंकि मृत्यु के समय सब कुछ नष्ट हो जानेवाला नहीं है। तब फिर हम उसकी खोज करने का प्रयत्न करेंगे, जिससे हमारी आत्मा को पूर्णता, शांति और धन्यता प्राप्त हो। तात्पर्य यह कि हमारे दृष्टिकोण का, हमारे दैनन्दिन आचरण और चिन्तन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। विवेक के द्वारा हमें सही दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए।

द्रष्टा का स्वरूप :

अहंकार का सारतत्त्व जीव कहलाता है। जीव के लिए तीन बातें आवश्यक हैं – अन्तःकरण, अहं-बोध तथा मन में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब, जो चिदाभास कहलाता है। ये तीन मिलकर जीव कहलाते हैं। इनमें से अन्तःकरण सब से महत्त्वपूर्ण है। यह अन्तःकरण माया के तीन गुणा – सत्त्व, रज और तम का विशेष परिणाम है। यही अन्तःकरण अहं बोध पैदा करता है, तथा ब्रह्म के प्रकाश को (चैतन्य को) प्रतिबिम्बित करता है। अहंबोध के साथ प्रतिबिम्बित-चैतन्य ही जीव हैं। उच्च-ज्ञान के द्वारा जब प्रतिबिम्बक या अन्तःकरण विलीन हो जाता है, तब प्रतिबिम्ब का क्या होगा? प्रथमतः ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हुआ था, और प्रतिबिम्बक के अभाव में प्रतिबिम्ब ब्रह्म से अभिन्न बना रहता है। दूसरे शब्दों में गुणों के पार जाने पर जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। जब तक प्रतिबिम्बक है, तब तक जीव है, तथा वह सीमित और बद्ध है। लेकिन प्रतिबिम्बक के विलीन हो जाने पर एकमात्र ब्रह्म बचा रहता है, जिसके लिए कोई सीमा या बन्धन नहीं हो सकते। वह अनन्त, पूर्ण और एकमेवाद्वितीय है।

अवश्य, यह एक बहुत ऊँचा, मानव जाति द्वारा विश्व में कभी भी, कहीं भी उपलब्ध, उच्चतम दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण हम में से अधिकांश की वर्तमान अवस्था में, उनकी पहुँच से बहुत दूर है, और इसे प्राप्त करने में अनेक वर्ष या जन्म लग सकते हैं। अतएव हमारा तात्कालिक कार्य क्या होना चाहिए? हमारा तात्कालिक कार्य प्रतिबिम्ब को प्रतिबिम्बक से अलग करना होना चाहिए। ब्रह्म मन के माध्यम से प्रतिबिम्बित होता है, लेकिन हम मन की विभिन्न वृत्तियों (विचारों) में ही इतने डूबे रहते हैं, कि हम उस प्रकाश को पहचान नहीं पाते, जो उसके माध्यम से प्रकट होता है। मन के शुद्ध तथा वृत्ति रहित होने पर ही हम इस प्रतिबिम्बित प्रकाश को देख सकते हैं। तब प्रकाश विचारों से पृथक् दिखाई

देता है। केवल इतना ही नहीं हमें यह अनुभूति भी होती है, कि यह प्रतीबिम्बित प्रकाश वस्तुतः अनन्त परमात्म-ज्योति का ही अंश है। लेकिन सर्व प्रथम तो हमें अपने उच्च आत्म-स्वरूप की एक झलक प्राप्त करनी चाहिए। अनन्त का प्रश्न तो बाद में उठेगा।

अन्तर्ज्योति :

प्रज्ञा या अपरोक्ष अनुभूति की क्षमता हम में प्रसुप्त है। इसकी पुनः प्राप्ति करनी है। उसके द्वारा ही उच्चतर सत्यों की झलक प्राप्त की जा सकती है। प्रज्ञा की इस उच्चतर क्षमता का विकास कैसे करें? तुम कैसे सोते हो, तथा कैसे नींद से जागते हो, इसका थोड़ा निरीक्षण करो। तुम पाओगे कि पहले इन्द्रियाँ मन में विलीन होती हैं। इसके बाद विचार समाप्त हो जाते हैं, और केवल अस्फुट अहं-बोध बचा रहता है। अन्त में यह 'अहं' गहरी निद्रा में लीन हो जाता है। जागते समय विपरीत प्रक्रिया होती है। सर्वप्रथम अहं-बोध उदित होता है। उसके बाद वह मन में उदित हो रहे विचारों तथा आसपास की वस्तुओं के साथ संयुक्त होता है। जाग्रत होने के ठीक बाद एक धूमिल अन्तरिम काल रहता है, जब तुम विशुद्ध अहं-बोध को क्षण भर के लिए बनाये रखते हो। इस क्षण जगत् छाया के समान प्रतीत होता है, वह हमारे लिए तब तक स्थूल अस्तित्व धारण नहीं किये होता है। हमारे जाग्रत-काल में भी इसी विशुद्ध चेतना के कुछ अंश की प्राप्ति प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये। साधक के समक्ष यही महत्त्वपूर्ण कार्य है। हमें उस स्तर की प्राप्ति करनी चाहिए, जहाँ प्रकाश और अन्धकार को पृथक् करनेवाली रेखा बहुत बारीक है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में राजा जनक आदरणीय ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं : मानव की ज्योति क्या है? ऋषि ने उत्तर दिया, कि सूर्य का प्रकाश वह ज्योति है। सूर्य के प्रकाश में मानव बैठता, बाहर जाता, कार्य करता, लौटता है। सूर्यास्त होने पर ज्योति क्या होती है? चन्द्रमा। जब चन्द्रमा नहीं होता? अग्नि। जब अग्नि नहीं होती? ध्वनि। जब ध्वनि भी प्रशमित हो जाती है? इस तरह प्रश्न करते हुए वे अपनी आत्मा तक पहुँचते है।[७] मन बाह्य-विषयों को पहचानता है। लेकिन मन के पीछे ज्योतिर्मय आत्मा विद्यमान है, जिसके प्रकाश से हम अपने भीतर स्वप्न देखते हैं। स्वप्न की वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाली ज्योति के बारे में सोचो। वह ज्योति क्या है? वह आत्मा ही है। आत्मा स्वप्रकाश है। वह स्वयं अपने को प्रकाशित करती है। अन्य कोई उसे प्रकाशित नहीं कर सकता। वह अन्य विषयों को बाह्य विषयों तथा आन्तरिक मानसिक चित्रों को प्रकाशित करती है। जब वस्तुएँ नहीं रहतीं, तब केवल स्वप्रकाश आत्मा प्रकाशित होती है। जाग्रत और सुषुप्ति की दो अवस्थाओं के बीच हम लगभग एक क्षण के लिए इस विशुद्ध आत्मा के रूप में रहते हैं। इसकी जाग्रत-अवस्था में स्थाई उपलब्धि करना हमारा उद्देश्य है। तब वह कभी दूर नहीं होगी।

---

७. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.३.२-७

प्रज्ञा को कैसे जगायें :

हमारी बौद्धिक, भावनात्मक और क्रियात्मक इन त्रिविध क्षमताओं का सर्वोत्कृष्ट उपयोग करने पर हमारे भीतर विस्मृत पड़ी प्रज्ञा की क्षमता का विकास होता है। सर्वप्रथम इन क्षमताओं को शुद्ध करना पड़ता है। यह शुद्धिकरण एक कठिन कार्य है। इसमें बहुत समय लगता है। पूर्व अनुभवों के संस्कार हम में छुपे पड़े हुए हैं। उन्हें दूर करने में समय लगता है। इनमें से कुछ को इच्छा शक्ति की सहायता से साफ कर देना पड़ता है। कुछ अन्य संस्कारों को अन्य संस्कारों की सहायता से नियन्त्रित करना पड़ता है। कुछ दूसरों को अन्य रूपों में परिवर्तित करना होता है। संस्कारों के रूप में मन में संचित शक्ति को उच्चतर दिशा में प्रवाहित करना पड़ता है। इसे उदात्तीकरण कहते हैं। इसमें कर्मयोग उपयोगी सिद्ध होता है। तुमने घृणा को जीत लिया है, ऐसा सोचने मात्र से उस पर विजय नहीं पाई जा सकती। तुम्हें आदर्श को कार्य में प्रतिफलित करना चाहिए, अपने जीवन में व्यक्त करना चाहिए। आदर्शों को कार्य रूप में परिणत करना चाहिए। शुभ कर्मों के परिणाम पुनः शुभ संस्कारों के रूप में संचित रहते हैं। ये मन को पवित्र तथा बलवान् बनाते हैं। कुछ संस्कार नियमित जप और ध्यान द्वारा परिवर्तित अथवा पराभूत किये जा सकते हैं। ध्यान विभिन्न क्षमताओं को समन्वित करने तथा उनमें सामंजस्य बिठाने में सहायक होता है। चिन्तनात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक – इन तीन क्षमताओं के शुद्ध, समन्वित और एकाग्र होने पर प्रज्ञा की क्षमता का आविष्कार होता है। आत्मा की ज्योति सर्व प्रथम झलकों के रूप में, लेकिन बाद में नित्य विद्यमान प्रकाश की किरण के रूप में प्रकाशित होती है।

तब हम पाते हैं, कि आत्मा जीव के रूप में मन, इन्द्रियों और स्थूल देह के माध्यम से कार्य करती है। अपने प्रसिद्ध दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र में श्रीशंकराचार्य इस बात को स्पष्ट करते हैं :

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते।
जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जगत्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।[८]

अर्थात् *जिस प्रकार अनेक छिद्रयुक्त घट के भीतर स्थित दीप की प्रभा उन छिद्रों से निकलती है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान चक्षु आदि करणों के माध्यम से बाहर प्रकाशित होकर 'मैं जानता हूँ', इस तरह का भान पैदा करता है। आत्मा के द्वारा प्रकाशित होने के बाद अन्य सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं। मैं उसी दक्षिणामूर्ति गुरु को प्रणाम् करता हूँ, जो परम आत्मा ही हैं।*

इसकी अनुभूति होने पर हम यन्त्रों या करणों को वास्तविक आत्मा से पृथक् कर

---

८. दक्षिणामूर्ति स्तोत्रम् -४

सकेगें। तब जिसे हम पहले आत्मा कहा करते थे वह मिथ्या आत्मा प्रतीत होगी। देह, मन और इन्द्रियों का संघात मिथ्या-आत्मा है। वास्तविक आत्मा इन सब के पीछे इन्हें प्रकाशित और प्राणवन्त करती हुई विद्यमान है। हमारा वर्तमान कार्य हमारे माध्यम से प्रकाशित हो रही, इस ज्योतिर्मय आत्मा को खोज निकालना है। यही हमारा निकटतम लक्ष्य है। अवश्य, अन्तिम लक्ष्य आत्मा को अनन्त परमात्मा अथवा ब्रह्म में विलीन करना है। लेकिन अभी वह प्रश्न नहीं उठता। हम जहाँ है, वहीं से प्रारम्भ करें, तथा दैनन्दिन जप, ध्यान, स्वाध्याय और नि:स्वार्थ कर्तव्य पालन द्वारा स्वयं को शुद्ध करते हुए अग्रसर होवें।

तीन प्रकार के शरीर :

स्थूल देह स्थूल पदार्थ से निर्मित है। इसी का जन्म और मृत्यु होती है। इस स्थूल देह से भिन्न हम सभी की एक सूक्ष्म देह है। स्थूल देह के नष्ट होने पर भी अन्य दो शरीर संयुक्त रूप से बचे रहते हैं। इन्द्रियाँ किस शरीर में रहती हैं? यदि इन्द्रियों से हमारा तात्पर्य बाह्य नेत्र, कर्ण इत्यादि ज्ञान के बाह्य स्थूल करणों से है, तो वे स्थूल शरीर के अंग होगें। लेकिन यदि इन्द्रियों से हमारा तात्पर्य उस सूक्ष्म शक्ति से है, नेत्रादि बाह्य अंग जिसके यन्त्र मात्र हैं, तो वे सूक्ष्म शरीर की अंग कहलायेंगी। कारण शरीर सूक्ष्म शरीर का भी आधार है।

स्थूल देह के नष्ट होने पर किसी का भी अन्त नहीं होता। जीव अपनी समस्त वासनाओं और इच्छाओं के साथ उतना ही बद्ध बना रहता है, जितना वह स्थूल शरीर के विद्यमान रहते समय था। अत: मरने से पूर्व उन सभी वासनादि से छुटकारा पा लेना चाहिए। मृत्यु कोई समाधान नहीं है, क्योंकि जैसा मैंने कहा, मृत्यु के साथ किसी का अन्त नहीं होता। वह न तो हमें श्रेष्ठतर बनाती है और न ही कम अज्ञानी। हमें उस तत्त्व का अवश्य साक्षात्कार कर लेना चाहिए, जो जीवन और मृत्यु से परे है। हम में एक ऐसी शक्ति है, जो नेत्र से भिन्न है, लेकिन जो नेत्र के माध्यम से अभिव्यक्त होती है; जो कर्ण से पृथक् है, लेकिन जो कर्ण के द्वारा प्रकट होती है; जो मन से भिन्न है, लेकिन जो मन के माध्यम से कार्य करती है। और वही शक्ति इसी अन्य करणों अथवा इन्द्रियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

सुषुप्ति में इन्द्रियाँ और मन कारण शरीर में विलीन हो जाते हैं, लेकिन चेतनावस्था प्राप्त होने पर व्यक्ति अपनी समस्त इच्छाओं, वासनाओं, तृष्णाओं, काम, क्रोध, घृणा को साथ लेकर वापस आ जाता है। उसको कोई लाभ नहीं होता। समाधि और सुषुप्ति, आध्यात्मिक चेतना और गहरी निद्रा में यही महान् अन्तर है। सत्य का साक्षात्कार होने पर हमारी सारी वासनाएँ और इच्छाएँ भस्म हो जाती हैं। यदि कोई मूढ़ व्यक्ति समाधि में जाए, तो वह सिद्ध पुरुष होकर लौटता है, लेकिन सत्य यह है कि, मूढ़ (व्यक्ति) समाधि में जा ही नहीं सकता।

एक वर्गीकरण के अनुसार हमारे तीन शरीर हैं, और दूसरे वर्गीकरण के अनुसार हमारे पाँच कोष हैं। सामान्यत: हम स्थूल देह का इतना अधिक अनुभव करते हैं कि सूक्ष्म

तथा कारण शरीर का हमें अनुभव ही नहीं होता। क्या प्रत्येक मानव को प्राप्त विभिन्न शरीरों की धारणा की जा सकती है? हाँ। सचमुच अन्तर्मुखी होने पर तथा मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को रोककर उन्हें अन्तर्मुखी करने पर यह सम्भव है। जब तक प्राण-तत्त्व देह के साथ संयुक्त रहता है, तब तक प्रत्येक परमाणु उस से प्राणवन्त रहता है। देह में हम शक्ति के संस्पर्श में आते हैं और शक्ति का अर्थ है ऊर्जा अर्थात् स्पन्दन। और आगे बढ़ने पर हम एक दूसरे प्रकार की शक्ति या ऊर्जा अर्थात् विचार या भावनाओं को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि हमारा व्यक्तित्व मानो स्पन्दनों का एक समूह है। कभी-कभी मन में बहुत विक्षेपकारक विचार उठते हैं और तब हम मानो उबलते हुए स्पन्दनों का समूह बन जाते हैं, जिनमें हमारी देह रखी गई हो। और आगे बढ़ने पर यदि हम अपने मन को शान्त करने में समर्थ हों, तो हम अपनी चेतना का अनुभव करते हैं – अवश्य विशुद्ध चैतन्य का नहीं, लेकिन एक मिश्रित चेतना का, जिसमें ये अस्पष्ट भावनाएँ और संवेग विलीन होते हैं, तथा जिस निश्चित चेतना में 'अहं' का प्राधान्य होता है। इसे करण अर्थात मन और इन्द्रियों की चेतना से, भिन्न कर्ता की चेतना कहा जा सकता है। यह अनुभूत-आत्मा या तेजस् कहलाता है। और इस कर्ता से भिन्न एक विशुद्ध चैतन्य है, एक व्यक्तिगत चैतन्य है, जो सभी प्रकार के ज्ञान और संवेदनाओं के माध्यम से प्रकाशित होता है। माण्डूक्य उपनिषद् में इसे प्राज्ञ कहा गया है।[९]

व्यष्टि और समष्टि :

व्यक्तिगत या व्यष्टि चेतना का अनुभव करने के बाद यह जाना जा सकता है, कि यह व्यक्ति-चेतना अनन्त अपरिवर्तनशील चेतना या ब्रह्म का एक अंश है। लेकिन इसके लिए हमें अन्तर्मुखी होकर चिन्तन और मनन का जीवन यापन करना होगा। कुछ लोग व्यष्टि-चेतना का साक्षात्कार करने के बाद ही समष्टि-चेतना के संस्पर्श में आने का प्रयास करते हैं, जब कि दूसरे सवंदा तथा सभी स्तरों पर परमात्मा का चिन्तन करने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि व्यक्तित्व विभिन्न स्तरों पर परमात्मा के साथ संयुक्त रहता है।

यदि मैं अपनी देह के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में सोचने का प्रयत्न करूँ, तो पाऊँगा कि वह अन्य सभी की देहों की तरह जड़ पदार्थ के एक अनन्त सागर का अंश है। स्थूल देह से जब मैं प्राणमय शरीर पर आता हूँ, तो मैं अनुभव करता हूँ, कि मुझ में विद्यमान प्राण शक्ति विराट् प्राण शक्ति का अंश है। मनोवेगों और भावनाओं पर आने पर मैं उन्हें विराट्, व्यापक भावनाओं और मनोभावों का अंश पाता हूँ। इसी तरह मेरी चेतना विराट् चेतना का अंश है, मन और इन्द्रियाँ जिसके यन्त्र या करण हैं। और अन्त में मैं यह अनुभव करता हूँ कि मेरी विशुद्ध व्यष्टि चेतना, विशुद्ध अनन्त चैतन्य या ब्रह्म का अंश है। यही परम-चैतन्य हमारी सभी क्रियाओं और विचारों के पार्श्व में उन्हें सत्ता प्रदान करता हुआ

---

९. माण्डूक्योपनिषद् ४,५

विद्यमान है। अतः हमारा व्यक्तित्व एक मिश्रित ईकाई है, जिसका स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर स्तरों की ओर अग्रसर होते हुए विश्लेषण किया जाना चाहिए। यदि कोई यथार्थतः अन्तर्मुखी होवे, तो किसी समय वह यह अनुभव कर सकता है, कि वह मानो विचारों का एक समूह बन गया है, मानो उसकी देह विचारों के एक सरोवर में तैर रही है।

सामान्यतः हमारा देह के साथ इतना अधिक तादात्म्य बोध होता हैं तथा हम उसे इतनी स्थूल दृष्टि से देखते हैं कि हमारे लिए यह कल्पना करना भी कठिन होता है, कि वह हाड़ मांस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमें और अधिक संवेदनशील होना चाहिए तथा आत्म-विश्लेषण की और अधिक क्षमता अर्जित करनी चाहिए। हमें उच्चतर संवेदनशीलता अर्जित करनी चाहिए, जिस से हम इन सभी सूक्ष्म पहलुओं के प्रति सजग हो सकें।

यदि हम उच्चतर संवेदनशीलता का विकास करें, तो हम अपने व्यक्तित्व को विचारों के एक समूह, वृत्ति-समूह, में पर्यवसित कर सकेगें। और विचार आखिर सूक्ष्म पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, तथा वे दृश्य जगत् के एक अंश हैं, चरम सत्ता अथवा परमार्थ कभी नहीं। प्रारम्भ में हमारा व्यक्तित्व एक धधकते हुए गरम लोह-पिण्ड की तरह होता है, जिसमें लोह पिण्ड तथा लाल अग्नि-प्रकाश अभिन्न प्रतीत होते हैं। लेकिन उन्हें पृथक् किया जा सकता है। वे स्वरूपतः एक नहीं हैं। कभी-कभी इस विशुद्ध-चैतन्य के अस्तित्व का देह से पृथक् अनुभव भी किया जा सकता है। किसी समय, किसी अति उच्च अवस्था की प्राप्ति पर स्वयं का देह और मन से पृथक् अनुभव किया जा सकता है।

हमारी सभी भावनाएँ और संवेदन देह के सत्यत्व पर आधारित हैं। आध्यात्मिक अनुभूति के बाद भी हमारी भावनाएँ और संवेदन एवं सम्बन्ध बने रहते हैं, लेकिन वे देह से सम्बन्धित नहीं होते। देहात्म-बोध से उठने पर भी हम एक दूसरे से पूर्ण परमात्मा के अंशो के रूप में जुड़े रहते हैं, और यह सम्बन्ध पति-पत्नी, माता-पिता, और सन्तानों तथा भाई-बहन और मित्रों के बीच सम्बन्ध से कहीं अधिक घनिष्ट होता है।

आध्यात्मिक प्रगति के साथ-साथ एक प्रकार के मानसिक एक्स-रे का विकास होता है, जो स्पष्ट विश्लेषण के लिए बहुत आवश्यक है। तब हम वस्तुओं और सम्बन्धों को गहराई से देखना सीख लेते हैं, और अपने चंचल मन द्वारा धोखा नहीं खाते। इस मानसिक एक्स-रे को अपनी ओर घुमाकर अपने वास्तविक-स्वरूप का पता लगाना चाहिए।

एक सच्चा व्यापक दृष्टिकोण सर्वदा दूसरे लोगों पर हमारी अधिकारात्मक पकड़ को ढीला करता है, लेकिन सामान्यतः हम अन्य सभी का अपने स्वयं के स्थूल अथवा सूक्ष्म सुख के लिए उपयोग करते हैं। हमारा सारा दुःख, हताशा, नैराश्य इसी कारण होता है। साधना के सम्यक् मार्ग का अनुसरण करने से, तथा सभी परिस्थितियों में उस पर बने रहने से जीव के लिए अपनी ससीम उपाधियों से छुटकारा पाना, आत्मा का अनुभव करना तथा परमात्मा के साथ अपने नित्य सम्बन्ध का साक्षात्कार करना सम्भव होता है। जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने कहा है : "विचार करते करते फिर मैं नहीं रह जाता। जब तुम प्याज छीलते

हो, तब पहले लाल छिलके निकलते हैं। फिर सफेद मोटे छिलके। इसी तरह लगातार छीलते जाओ तो भीतर ढूँढने से कुछ नहीं मिलता।''[१०]

व्यष्टि-चेतना को बनाये रखकर भी समष्टि चेतना के संस्पर्श में आया जा सकता है। और जब तक यह नहीं होता, तब तक अनुभवातीत-चेतना की अवस्था की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। उच्चतम अनुभूति की प्राप्ति क्रमपूर्वक होती है। अनन्त की बातें करने मात्र से कुछ नहीं होगा; अद्भुत अटकलबाजियों और काल्पनिक उड़ानों से कुछ नहीं होगा।

अपनी वर्तमान अवस्था से ऊपर उठने का सचेतन प्रयत्न करना चाहिये। तब, प्रगति करने पर निम्न स्तर पर द्वन्द्व नहीं रहेगें, लेकिन उच्चतर स्तर पर द्वन्द्व उठेंगे। उच्चतम स्तर तक पहुँचने तक संघर्ष और द्वन्द्व बने रहेंगे। समग्र दृश्य जगत् को दूसरे अथवा तीसरे दर्जे की सत्ता प्रदान करने पर हम दृश्य जगत् से अप्रभावित रह सकते हैं।

भौतिक-जगत् का स्वरूप :

जो कुछ चेतना का विषय बनता है, वह सब माया है। तुम्हें ज्ञाता को ज्ञेय से, द्रष्टा को दृश्य से, साक्षी को उसके द्वारा साक्ष्य की जा रही वस्तुओं से तथा अनुभव कर्ता को अनुभूत विषयों से पृथक् करना चाहिये। आध्यात्मिक-यात्रा के प्रत्येक स्तर पर स्पष्ट और निर्मम विश्लेषण तथा स्पष्ट-चिन्तन होना चाहिये।

जर्मन दार्शनिक काण्ट के अनुसार बाह्य-पदार्थ है, लेकिन हम उसका वास्तविक स्वरूप नहीं जानते। जब हम उसे देखते हैं, तो देश, और काल उस प्रत्यक्षीकरण में अपना कुछ योगदान कर देते हैं। वेदान्ती कहता है, कि जिसे काण्ट देश, काल और निमित्त कहते हैं, वह माया है, तथा उसका अतिक्रमण करना होगा। काण्ट के अनुसार उसका अतिक्रमण करने का कोई उपाय नहीं है, अत: उन्होंने कहा कि 'वस्तु-स्वरूप' को कभी भी जाना नहीं जा सकता। वेदान्त उपाय जानता है, और इसे करने की विधि बताता है। काण्ट मन तथा दृश्य जगत् के परे जाने की, दृश्य से द्रष्टा को पूरी तरह पृथक् करने की सम्भावना के बारे में नहीं जानते थे। जहाँ तक काण्ट पहुँचे हैं, वहाँ से वेदान्त प्रारम्भ होता है।

भौतिक-विषय सदा प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होते हैं, क्योंकि वे किसी न किसी इन्द्रिय के द्वारा जाने जाते हैं। इन्द्रियाँ स्वयं मन के द्वारा प्रत्यक्षीकृत होती हैं। पुन: मन आत्मा का विषय होता है, जो नित्य साक्षी अथवा द्रष्टा है, तथा कभी भी दृश्य विषय नहीं बन सकता, क्योंकि ऐसा होने पर अनावस्था दोष आ जाएगा। हमें कहीं न कहीं रुकना होगा।

वेदान्त में चैतन्य को सदा महत्त्व दिया जाता है। द्रष्टा और दृश्य, मन और जड़ पदार्थ, सब चैतन्य में अवस्थित हैं। हमें इस तथ्य को कभी नहीं भूलना चाहिये। अन्यथा सभी बातों में गड़बड़ होने का तथा मुख्य विषय के दृष्टि से ओझल होने का भय है। गहरी निद्रा

---

१०. श्रीरामकृष्णवचनामृत -१ (द्वादश संस्करण, १९९२), पृ. १५४

में चैतन्य रहता है। निद्रा से जागने पर हम कहते हैं, "मैं कुछ नहीं जानता था" – यह कहने के लिए गहरी निद्रा में चेतना विद्यमान होनी चाहिये। अत: ऐसा कोई भी समय सिद्ध नहीं किया जा सकता, जब चेतना न हो।

जब व्यक्ति को यह निश्चय होता है, कि उससे भिन्न कोई वस्तु है, चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, तभी उसमें उसे प्राप्त करने की इच्छा जागती है। इच्छा के उदित होने का तथ्य ही यह सिद्ध करता है कि उसने स्वयं को द्रष्टा और अपने से भिन्न अन्य सभी वस्तुओं को दृश्य समझना प्रारम्भ कर दिया है। यही कारण है कि सिद्ध-पुरुष में अपने पर पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण पूर्ण निष्कामता सिद्ध हो जाती है। ऐसा पुरुष 'एकामेवाद्वितीय' का साक्षात्कार कर चुका होता है। और ऐसे पुरुष की इच्छा के लिए कोई भिन्न पदार्थ नहीं होता।

सत्य और प्रतीति :

अब स्क्रू को उलटा घुमा कर खोलना है। विकास और अध्यास की प्रक्रिया के बाद कारण की ओर प्रत्यावर्तन की, संकोचन अथवा अपवाद की प्रक्रिया होती है। स्थूल से सूक्ष्म तक, सूक्ष्म से कारण तक और उसके बाद एक लम्बी कूद और इस सभी के पार्श्व में विद्यमान नित्य-आत्मा की प्राप्ति होती है। लेकिन सबसे पहले एक तैयारी का, सफाई और धुलाई का जीवन-यापन करना पड़ता है, क्योंकि जब तक मन में अपवित्रता रहेगी, तब तक दर्पण चैतन्य के प्रकाश को पूर्णरूप से तथा अच्छी तरह प्रतिबिम्बित नहीं कर सकेगा। और हमारा मन ही वह दर्पण है। इसीलिए गन्दगी और मलिनता की उन सभी परतों को दूर करना आवश्यक है, तभी मन प्रकाश को ठीक से पुन: प्रतिबिम्बित कर सकेगा। यह अस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित प्रकाश ही हमारे लिए अभी सारी समस्याएँ पैदा करता है। वह सत्य को विकृत कर भ्रम और विमोह उत्पन्न करता है।

वेदान्ती विकास को जीवन की एक अवस्था के रूप में स्वीकार करता है, लेकिन उसे चरम लक्ष्य कभी नहीं मानता। उसके अनुसार यह विकास भी एक प्रतीति, माया ही है, वह चरम सत्य कभी नहीं है। अत: जब हम विकास की बात करते भी हैं, तो वह केवल सापेक्ष दृष्टि से करते हैं, उसे यथार्थ सत्य मानकर नहीं। पूर्ण आत्मा में विकास जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। आत्मा समस्त परिवर्तनों का निर्विकार साक्षी है।

सारी समस्या यह है कि हमारे लिए प्रतीति सत्य हो गई है, और सत्य असत्य हो गया है। सचमुच यह बड़ी हास्यास्पद स्थिति है। लेकिन हम मूर्ख जो ठहरे। हमें दु:ख और कष्ट तथा अनन्त भ्रान्ति-विनाशों के रूप में इसकी कीमत चुकानी पड़ती है। सभी मिथ्या तादात्म्य भंग होगें। और इस से प्रारम्भ में कष्ट होता है। धन्य है ऐसा दु:ख, जो मुक्ति और आनन्द का अग्रदूत हो। संसार का अन्धकार आत्मा के द्वारा प्रकाशित होता हैं, लेकिन हम उसका वास्तविक स्वरूप नहीं जानते, और उसके धूमिल प्रतिबिम्बित प्रकाश में जीते और कार्य करते हुए भी हम उसका प्रकाश नहीं देख पाते।

अद्वैत वेदान्त में क्रम-विकास का अर्थ किसी वस्तु का कोई अन्य रूप धारण करना नहीं है। यह दूध के दही बनने जैसा नहीं है। ऐसा होने पर उसका वास्तविक स्वरूप बदल जायेगा। लेकिन यह रस्सी के साँप बनने जैसा है। ऐसे में रस्सी में कोई यथार्थ परिवर्तन नही होता। लेकिन जब रस्सी में साँप का भ्रम होता है, तब सच्चे साँप के साथ की भय आदि सारी समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इसी तरह असत्य को सत्य समझ कर हम अनन्त कठिनाईयाँ झेलते हैं।

जब तक हम जागृत नहीं होते, जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता तब तक एकमात्र जगत्-स्वप्न ही हमें सत्य प्रतीत होता है। और हमारी यह जागृत अवस्था भी स्वप्नावस्था से अधिक सत्य नहीं है। दोनों ही समान रूप से असत्य हैं।

'असत्य' शब्द का गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिए। रस्सी के स्थान पर सर्प का दिखाई देना, इस दृष्टि से मिथ्या नहीं है कि सर्प की प्रतीति के लिए वहाँ कुछ है ही नहीं। रस्सी उस अधिष्ठान का कार्य करती है, जिस पर सर्प की धारणा का आरोप किया जाता है। माया शून्य की तरह अलीक या भ्रम नहीं है। अविकारी ब्रह्म इस विविधतापूर्ण जगत् के रूप में कैसे प्रतीत होता है, इसे समझाने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है। बौद्धों के निर्वाण का भी अर्थ शून्य नहीं है। विनाश शब्द का प्रयोग इन्द्रिय-जन्य अनुभव तथा दुःख के अन्त के अर्थ में किया गया है। किसी वस्तु के विनाश या विलय के ज्ञान के लिए भी एक चैतन्य साक्षी की आवश्यकता है, और वह आत्मा है। बिना किसी चैतन्य के रहते विलय का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि निर्वाण में बुद्ध का विनाश हो गया होता, तो वे इतने वर्षों तक उपदेश कैसे देते? वेदान्त एक प्रकार का अनुभवातीत यथार्थवाद है, लेकिन जिसमें सामान्यतः यथार्थवाद और आदर्शवाद से समझे जानेवाले सिद्धान्तों के लिए स्थान है।

सत् और चित् :

सत् उसे कहते हैं, जो अतीत में था, जो वर्तमान में है, तथा जो अपने स्वरूप के परिवर्तन के बिना अथवा विकार को प्राप्त हुए बिना भविष्य में भी बना रहेगा। इस शर्त को पूरी न करनेवाले सभी पदार्थ असत् कहलाते हैं। असत् पदार्थ पूर्ण रूप से अस्तित्वहीन भले ही न हो, लेकिन कोई वस्तु कुछ समय तक रहे, उसके बाद लीन हो जाय या परिवर्तित हो जाय, तो असत् की श्रेणी में आयेगी। और वह बात बिना अपवाद के सम्पूर्ण प्रतीयमान जगत् पर लागू होती है। कुछ वस्तुएँ पूर्ण रूप से असत् हैं, तथा किसी भी परिस्थिति में कभी नहीं हो सकतीं : यथा आकाश दुर्ग, शशश्रृंग, वन्ध्यापुत्र इत्यादि। इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं निकलता और उनके अनुरूप कोई बाह्य-पदार्थ नहीं होता। हम आकाश में एक दुर्ग की कल्पना अवश्य कर सकते हैं, लेकिन उसमें रह नहीं सकते। इन से भिन्न ऐसी वस्तुएँ हैं, जिन्हें व्यावहारिक सत्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। ये वस्तुएँ चरम सत्य के साक्षात्कार के उपरान्त ही असत्य सिद्द होती हैं। यह दृश्यमान् प्रतिभासिक जगत् व्यावहारिक सत्य की

श्रेणी में आता है, और उस उच्चतम ज्ञान के उदय तक बना रहता है, जिसका प्रकाश इस प्रतीयमान जगत् की छाया तक को, हमारे अपने प्रतीयमान अस्तित्व तक को दूर कर देता है। चरम ज्ञानोदय के बाद जब ब्रह्मज्ञ-पुरुष दृश्य जगत् के स्तर पर उतरता है, तो वह इस समग्र प्रतीयमान जगत् को देखता तो है, लेकिन उसे छाया मात्र समझता है, तथा उसे पारमार्थिक-सत्ता-विहीन-असत् जानता है।

हमारे व्यक्तित्व में पारमार्थिक सत्य तथा व्यावहारिक सत्य की चेतनाएँ मिल गई हैं। अत: हमारी सामान्य चेतना, विशुद्ध चेतना तथा सापेक्ष दृग्-दृश्य-चेतना का मिश्रण है। और जिस मात्रा में हम दृश्य जगत् को हटाने में समर्थ होगें, उसी मात्रा में हम आध्यात्मिक बनेगें। हमारे संसार के अनुभव तथा आत्मा अथवा ब्रह्म के अनुभव के बीच की कड़ी दृश्य-जगत् की ओर नहीं, बल्कि उस तत्त्व की ओर है, जो सभी परिस्थितियों में, सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों ही स्थितियों में, विद्यमान रहता है। हमारी अहं-चेतना पूरी तरह असत् नहीं है, लेकिन उसमें एक सत् और एक असत् तत्त्व रहता है। और असत् को उस एक सत् के साक्षात्कार से दूर करना चाहिये, जो विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है।

सर्वप्रथम साधक विविधता देखता है, और उसके बाद नानात्व में एक को देखने का प्रयत्न करता है। पर नानात्व और एकत्व दोनों ही सत्य प्रतीत होते हैं। और प्रगति करने पर वह अनुभव करता है कि 'एक' ही सही माने में सत् है, और दृश्य जगत् की सत्ता गौण है, तथा वह 'एक' के अस्तित्व पर पूरी तरह निर्भर है।

वेदान्त का प्रारम्भ आत्मा के स्वरूप अथवा अहं-बोध के अनुसन्धान से होता है। उसकी परिसमाप्ति 'एकमेवाद्वितीय' की उपलब्धि में होती है। इन दो अवस्थाओं के बीच चेतना की बहुत सी मध्यवर्ती अवस्थाएँ होती हैं। साधक का 'अहं-बोध' विस्तारित होता जाता है, और अन्त में वह सम्पूर्ण विद्यमान जगत् को परिवेष्टित कर लेता है। उसकी जगत् के प्रति धारणा भी तदनुरूप परिवर्तित होती जाती है। आत्मा, जगत् और ईश्वर को पृथक् करनेवाली रेखाएँ अधिकाधिक अस्पष्ट होती जाती हैं, और अन्त में परमात्मा की प्रभा समग्र अस्तित्व को परिव्याप्त कर लेती है।

अध्याय २८

आध्यात्मिक रूपान्तरण

आकस्मिक परिवर्तन :

विश्व के आध्यात्मिक इतिहास में हम पशु प्रवृत्तियों युक्त पशु-मानव के, दिव्य चेतना और दिव्य करुणा को प्रकाशित करते हुए दिव्य मानव में, रूपान्तरण की आश्चर्यजनक घटनाएँ प्राप्त करते हैं।

श्रीरामकृष्ण की जीवनी का अध्ययन करनेवाले लोगों को बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार-अभिनेता, महापुरुष गिरीश का नाम याद होगा। हमारे यौवन में हमें उन से मिलने तथा उनकी बातें सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक समय उन्होंने असंयत, आवारा भोगलिप्त जीवन व्यतीत किया था। लेकिन उनके गुरु श्रीरामकृष्ण के संस्पर्श ने उनके जीवन का अद्भुत रूपान्तरण कर उनके जीवन को पूरी तरह बदल दिया। पाशविक प्रवृत्तियों की अवस्था से वे दैवी पवित्रता की अवस्था में परिवर्तित हो गए जहाँ वे प्रतिक्षण दिव्य-चेतना का अनुभव करते थे।

पुरातन काल में भारत में एक युवक रहता था, जिसने अपने परिवार के भरण-पोषण का और कोई उपाय न पाकर दस्युवृत्ति को अंगीकार किया था। एक दिन उस काल के महान् ऋषि और ब्रह्मज्ञ गुरु, नारद, उस ओर से जा रहे थे, और उस डाकू ने उन पर आक्रमण किया। उसकी भर्त्सना करते हुए नारद ने कहा; "तुम कहते हो कि ये सारे अपराध तुम अपने परिवार के लिए करते हो, लेकिन क्या तुम सोचते हो कि उनमें से कोई भी तुम्हारे द्वारा अब तक सञ्चित महान् पापों के कुछ अंश का भागीदार होगा? जाकर उन से पूछो।" डाकू ने कभी इस पर विचार नहीं किया था और वह इस विषय में सत्य जानना चाहता था। अत: नारद को पेड़ से बाँधकर, ताकि वे कहीं जा न सकें, वह घर गया। उसने अपने पिता, माता, और पत्नी आदि अपने सभी सम्बन्धियों को बताया कि वह किस प्रकार डाके और हत्या करके जीविकोपार्जन कर रहा है। और पूछा : "क्या तुम मेरे पापों में भागीदार होओगे?" लेकिन कोई भी इसके लिए जरा भी तैयार नहीं था। उसे जो उत्तर मिला, वह था : "हमारा भरण-पोषण करना तुम्हारा कर्तव्य है, तुम कैसे जीविकोपार्जन करते हो, हमें उससे कोई मतलब नहीं, और हम तुम्हारे पाप के भागीदार भी नहीं हो सकते।" उनके उत्तर से उसे आघात पहुँचा, और उसे चैतन्य हुआ। उसे अपने जीवन की व्यर्थता और हानिकारकता का अहसास

हुआ और उस में सत्य के पथ पर अग्रसर होने की महान् इच्छा का उदय हुआ। शीघ्रता से नारद के पास लौटकर उसने उन्हें बन्धन-मुक्त किया, और उनसे गुरु बनने तथा आध्यात्मिक उपदेश देने का निवेदन किया। कहा जाता है, कि उसने ध्यान करना सीखा, और उस अवस्था में वह प्राय: इतनी देर तक डूबा रहता था, कि चींटियों ने एक वल्मीक उसके चारों ओर बना दिया। वर्षों बाद जब नारद पुन: उसके पास आए, तो पूर्व का दस्यु एक ब्रह्मज्ञ पुरुष बन गया था। ये रामायण, जिसमें ईश्वरावतार राम की जीवनी तथा लीला का वर्णन है, के रचयिता वाल्मीकि थे।

शताब्दियों बाद सन्त फ्रांसिस का आसिसीनगर में जन्म हुआ था। वे नगर के आमोद प्रिय युवकों के नेता थे, तथा उनके मित्र उन्हें "आमोदकों का राजा" कहते थे। लेकिन एक बार एक छोटे से गिरजे में प्रार्थना करते समय उन्होंने उस गिरजे की मरम्मत का आदेश देती एक दैवी वाणी को सुना, जिससे उनमें तत्काल एक महान् परिवर्तन हो गया। उन्होंने प्रार्थना, पवित्रता, और सेवा के जीवन को चुना। लेकिन ऐसा जीवन इतना आसान नहीं था। रूपान्तरण के तत्काल बाद वे एक पहाड़ी मार्ग से भजन गाते हुए गुजर रहे थे, कि उनका सामना डाकुओं के एक दल से हुआ। उन्होंने (डाकुओं ने) पूछा, "तू कौन है?" सन्त फ्रान्सिस ने उत्तर दिया कि वह महाराजा का दूत है। क्रोधित डाकू उसे एक बर्फ के गड्ढे में फेंककर आगे बढ़ गए। फ्रांसिस बिना निरुत्साहित हुए उठ खड़े हुए, और भगवान् का गुणगान करते हुए आगे बढ़ गए। उन का आध्यात्मिक-परिवर्तन काफी गहरा था तथा उसने उन्हें समग्र कठिनाईयों का सामना करने के लिए पर्याप्त शक्ति प्रदान की थी। आगे चलकर उन्होंने एक बड़े धर्म-संघ की स्थापना की।

चतुर्थ शताब्दी के महान् धर्माचार्य और साधक सन्त आगस्टीन को लो। यौवन में उन्होंने बहुत कामुक-जीवन व्यतीत किया था। लेकिन वे शीघ्र ही अपने आप से ऊब गए, और उसके बाद उन्हें आत्मा की पुकार एवं देह की वासनाओं के बीच महान् संघर्ष का सामना करना पड़ा। आखिरकार वे और अधिक सहन नहीं कर सके। एक दिन अश्रुपूर्ण नेत्रों से वे पुकार उठे, "हे नाथ। और कितने दिन? और कितने दिन? कल छोड़ूँगा, कल छोड़ूँगा ऐसा करते-करते कितने दिन बीत गए। आज ही क्यों न त्यागूँ और अभी ही क्यों नहीं?" जब वे इस प्रकार ज्ञानालोक के लिए पुकार रहे थे, उन्होंने एक वाणी सुनी, "पुस्तक उठाओ और पढ़ो, पुस्तक उठाओ और पढ़ो।" आगस्टीन अपने एक मित्र के पास गए, और बाईबिल को खोला। पुस्तक 'शिष्यों के कार्य' में खुली, और उन्होंने पढ़ा, "उच्छृंखल आचरण और मदमस्ती में नहीं, आवारागर्दी और भोग में नहीं, झगड़ों और ईर्ष्या में शान्ति नहीं है। इसके बदले प्रभु ईसा मसीह पर आश्रित होओ और देह को अपनी काम वासनाओं की पूर्ति मत करने दो।" तत्काल उनमें एक महान् परिवर्तन हो गया। उनकी काम-वासना नष्ट हो गई। रंगरेलियाँ करनेवाला आगस्टीन परिवर्तित होने लगा। उन्हें उस दैवी-विधान की झलक प्राप्त हुई, जो सबका निर्माता है। 'जो था' वह सत्य नहीं रहा, केवल 'होना' बचा, ऐसा

होना, जो चिरन्तन था। भूतकाल एक चिरन्तन वर्तमान में विलीन हो गया। अपनी आत्मा के अन्तस्तल से अगस्टीन ने प्रार्थना की, "प्रभु। तुम्हारा दर्शन करने में मेरी सहायता करो, स्वयं को देखने में मेरी सहायता करो। क्यों कि तुम्हें जानने पर मैं अपने को जान सकता हूँ।" बाद में एक आध्यात्मिक-शक्ति की सहायता से, जिसे उनका मन समझने में असमर्थ था वे संघर्ष करते हुए अपने 'अहंकार के चक्र' के परे देखने में समर्थ हुए थे। यह एक सच्ची दैविक अनुभूति थी, जिसने अगस्टीन को आध्यात्मिक-चेतना से उत्पन्न आन्तरिक सन्तुलनयुक्त सन्त और ऋषि बना दिया। इस आन्तरिक सन्तुलन का रहस्य आन्तरिक जीवन का अध्यात्म चेतना में रूपान्तरण, तथा अपनी चेतना के केन्द्र का अहंकार से परिवर्तित होकर परमात्मा में होना है।

श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द में हम इस चेतना के केन्द्र के परिवर्तन की घटना को देख पाते हैं। पिता की आकस्मिक मृत्यु के बाद युवक नरेन्द्र को बहुत कठिन समय से गुजरना पड़ा, क्योंकि उनका परिवार विपत्ति में था, और उन्हें कोई नौकरी खोज निकालना आवश्यक था। वे एक आफिस से दूसरे आफिस गए, लेकिन कोई सफलता नहीं मिली। मित्र कहलाने वाले लोगों ने मुँह मोड़ लिया। अचानक संसार एकदम बुरा प्रतीत होने लगा। किसी दिन परिवार में खाने को कुछ नहीं होता था, और जब नरेन्द्र के पास पैसे नहीं होते, तो वे अपनी माँ को कह देते कि उन्हें कहीं खाने का न्योता है और भूखे रह जाते। इन परीक्षाओं की घड़ी में उन्हें संशय हुआ उन्होंने प्रश्न किया, "क्या सचमुच ईश्वर है। और यदि है, तो क्या वह दु:खी मानव की कातर प्रार्थना सुनता है?"

एक दिन कलकत्ता में अपने घर थके माँदे और भग्न-हृदय लौटते समय नरेन्द्र थकान से अभिभूत हो सड़क के किनारे एक मकान के बरामदे में गिर पड़े। अचानक मानो किसी दिव्य शक्ति से उनकी आत्मा के आवरण एक के बाद एक दूर होने लगे। ईश्वरीय विधान एवं दु:ख की विद्यमानता के सह अस्तित्व के विषय में उनके सारे संशय दूर हो गए। गहरे आत्म निरीक्षण के द्वारा वे इन सभी बातों का अर्थ समझ गए। शारीरिक थकान दूर हो गई और उनका मन अद्भुत शक्ति और शान्ति से तरोताजा हो गया।[१] परवर्ती काल में विवेकानन्द को अनेक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुईं तथा वे एक महान् ब्रह्मज्ञ पुरुष बने।

आन्तरिक परिवर्तन का हेतु :

ये घटनाएँ भव्य होने के कारण हमारी कल्पना को प्रभावित करती हैं। लेकिन इन रूपान्तरणों से भिन्न पशु-प्रकृति से दैवी-स्थिति लाभ करनेवाले लोगों के अनेक साधारण दृष्टान्त भी हैं। यह कैसे होता है? पुराने व्यक्तित्व में से एक नया व्यक्तित्व उभरता है, जो पूर्ण

---

१. ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स, लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९७४), पृ. ९०-९४

रूपेण नई जाति का सा प्रतीत होता है, तथा जिसकी पूर्व व्यक्तित्व से बहुत कम समानता दिखाई देती है। अवश्य, शारीरिक दृष्टि से दोनों का आधार एक ही होता है लेकिन आन्तरिक बनावट, चेतना, पूरी तरह परिवर्तित हो गई होती है। ऐसा परिवर्तन कैसे होता है?

पुरातन योगाचार्य पतञ्जलि ने एक सूत्र में कहा है : "निमित्तम प्रयोजकं प्रकृतीनां वरण भेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।"[२] – अर्थात् "सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं, वरन् वे उसकी बाधाओं को दूर कर देनेवाले निमित्त मात्र हैं – जैसे, किसान जब पानी के बहने में रुकावट डालनेवाली मेड़ को तोड़ देता है, तो पानी अपने स्वभाव से ही बहने लगता है।" एक जाति से दूसरी जाति में क्रमविकास इसी तरह होता है। इस सूत्र पर टीका करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं –

जब कोई किसान खेत में पानी सींचने की इच्छा करता है, तब उसे अन्य किसी जगह से पानी लाने की आवश्यकता नहीं होती; खेत के समीपवर्ती जलाशय में पानी सञ्चित है, बीच में बाँध रहने के कारण पानी खेत में नहीं आ पा रहा है। किसान उस बाँध को खोल भर देता है, और बस पानी गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार अपने आप खेत में बह आता है। इसी प्रकार सब व्यक्तियों में सब प्रकार की उन्नति और शक्ति पहले से ही निहित है। पूर्णता ही मनुष्य का स्वभाव है, केवल उसके किवाड़ बन्द हैं, वह अपना यथार्थ रास्ता नहीं पा रही है। यदि कोई इस बाधा को दूर कर सके, तो उसकी स्वाभाविक पूर्णता अपनी शक्ति के बल से अभिव्यक्त होगी ही। और तब मनुष्य अपने भीतर पहले से ही विद्यमान शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। जब यह बाधा दूर हो जाती हैं, और प्रकृति को अपनी अप्रतिहत गति प्राप्त हो जाती है, तब हम जिन्हें पापी कहते है, वे भी साधु के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रकृति ही हमें पूर्णता की ओर ले जा रही है, कालान्तर में वह सभी को वहाँ ले जाएगी। धार्मिक होने के लिए जो कुछ साधनाएँ और प्रयत्न हैं, वे सब केवल निषेधात्मक कार्य हैं – वे केवल बाधा को दूर कर देते हैं। और इस प्रकार उस पूर्णता के किवाड़ खोल देते हैं, जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है; जो हमारा स्वभाव है।

प्राचीन योगियों का विकासवाद आज आधुनिक विज्ञान की शोध के प्रकाश में अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझ में आ सकेगा। फिर भी योगियों की व्याख्या आधुनिक व्याख्या से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। आधुनिक मत कहता है, विकास के दो कारण हैं – यौन निर्वाचन (Sexual Selection) और बलिष्ठ अतिजीविता (Survival of the fittest)। पर ये दो कारण पर्याप्त मालूम नहीं होते। मान लो, मानव-ज्ञान उन्नत हो गया कि शरीर धारण अथवा पति या पत्नी सम्बन्धी प्रतियोगिता उठ गई। तब तो आधुनिक विज्ञान वेत्ताओं के मतानुसार मानवीय उन्नति-प्रवाह रुद्ध हो जाएगा और जाति की मृत्यु हो जाएगी। फिर इस मत के फलस्वरूप तो प्रत्येक अत्याचारी व्यक्ति अपने विवेक से छुटकारा पाने की एक युक्ति पा लेता है। ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं, जो दार्शनिक नामधारी बनकर जितने भी दुष्ट और अनुपयुक्त मनुष्य हैं (मानो

---

२. पातञ्जल योगसूत्र ४.३

ये ही उपयुक्तता अनुपयुक्तता के एकमात्र निर्धारक या विचारक हैं), उन सब को मार डालकर मनुष्य जाति की रक्षा करना चाहते हैं। लेकिन प्राचीन विकासवादी महापुरुष पतञ्जलि कहते हैं, कि परिणाम या विकास का वास्तविक रहस्य है – प्रत्येक व्यक्ति में जो पूर्णता पहले से ही निहित है, उसी की अभिव्यक्ति या विकास मात्र। वे कहते हैं, कि इस पूर्णता की अभिव्यक्ति बाधित हो रही है। हमारे अन्दर यह पूर्णता-रूप अनन्त ज्वार अपने को प्रकाशित करने के लिए संघर्ष कर रहा है। ये संघर्ष और होड़ केवल हमारे अज्ञान के फल हैं। ये इसलिए होते हैं कि हम यह नहीं जानते कि यह दरवाजा कैसे खोला जाए और पानी भीतर कैसे लाया जाए। हमारे पीछे जो अनन्त ज्वार है, वह अपने को प्रकाशित करेगा ही। वही समस्त अभिव्यक्ति का कारण है। केवल जीवन धारण या इन्द्रिय सुखों को चरितार्थ करने की चेष्टा इस अभिव्यक्ति का कारण नहीं है। ये सब संघर्ष तो वास्तव में क्षणिक हैं, अनावश्यक हैं, बाह्य व्यापारमात्र हैं। वे सब अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। सारी होड़ बन्द हो जाने पर भी, जब तक हम में से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक हमारे भीतर निहित यह पूर्ण स्वभाव हमें क्रमशः उन्नति की ओर अग्रसर करता रहेगा। अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि होड़ या प्रतियोगिता उन्नति के लिए आवश्यक है। पशु के अन्दर मनुष्य गूढ़ भाव से निहित है, ज्यों ही किवाड़ खोल दिया जाता है, अर्थात् ज्यों ही बाधा हट जाती है, त्यों ही मनुष्य प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य के भीतर भी देवता अव्यक्त भाव से विद्यमान है, केवल अज्ञान का आवरण उसे प्रकाशित नहीं होने देता। जब ज्ञान इस आवरण को चीर डालता है, तब भीतर का वह देवता प्रकाशित हो जाता है।[३]

यहाँ 'देवता' का अर्थ हमारी आध्यात्मिक अन्तरात्मा है, जो अज्ञान की अन्तिम बाधा को दूर करने में हमारी सहायता करती है, ताकि आत्मा अपने समग्र ऐश्वर्य में प्रकाशित हो सके।

परिवर्तन की मुख्य बाधा - अज्ञान :

यह अज्ञान की बाधा क्या है? मनोविज्ञान हमें सिखाता है, कि अचेतन मन की गहराईयों में पड़े सूक्ष्म संस्कारों, प्रवृत्तियों, इच्छाओं और वासनाओं का हमारे चेतन जीवन पर महान् प्रभाव पड़ता है। ये सूक्ष्म-शरीर मनोमय भावनात्मक शरीर में रहते हैं और स्थूल शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। अवचेतन मन के नियन्त्रण का अर्थ सूक्ष्म भावनात्मक शक्तियों, इच्छाओं और वासनाओं को निम्न-स्तरों पर अभिव्यक्त नहीं होने देना है। उन्हें उच्चतर स्तर पर अभिव्यक्त करना चाहिए। उन्हें शुद्ध तथा उनका उदात्तीकरण करके समाज और व्यक्ति के कल्याण के लिए उनका उपयोग किया जाना चाहिए।

आध्यात्मिक दृष्टि से सभी सूक्ष्म प्रवृत्तियों और संस्कारों को आध्यात्मिक-दिशा प्रदान की जानी चाहिए। आदतों और प्रवृत्तियों को उन की कारणावस्था में पर्यवसित कर मूल में

---

३. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खण्ड, (द्वितीय संस्करण, १९८९), पृ. २०५-७)

ही नियन्त्रित करना चाहिए। बाद में उनकी कारणावस्था का अतिक्रमण करना चाहिए।

अहंकार से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। अहंकार-अज्ञान से पैदा होता है। केवल आत्म-साक्षात्कार अथवा अन्तर्यामी परमात्मा के साक्षात्कार से ही इच्छाओं के बीज भस्म हो सकते हैं, तथा आत्मा अपनी नैसर्गिक पवित्रता, मुक्ति और शान्ति प्राप्त कर सकती है। एक गौण उपनिषद् में कहा गया है : "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो:।"[४] अर्थात् मानवों का मन ही उनके बन्धन और मोक्ष का कारण होता है। स्थूल पदार्थों के प्रति मन की आसक्ति का परिणाम बन्धन है। जब मन इस आसक्ति से रहित होता है, तब आत्मा उस मुक्ति को पुन: प्राप्त कर लेती है, जो हम सभी का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

हमारी समस्त प्रेरणाओं, वासनाओं और इच्छाओं के पीछे आत्मा की अनन्त जीवन, पूर्ण ज्ञान और चिर आनन्द की इच्छा विद्यमान है। यह इच्छा उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति होने पर, उस सच्चिदानन्द के साक्षात्कार पर पूर्ण होती है, जो हमारी व्यक्तिगत चेतना को व्याप्त और परिवेष्ठित किए हुए हम सभी में विद्यमान है। अज्ञान और अहंकार के कारण ही हम अपने आध्यात्मिक-स्वरूप को भूल जाते हैं। आत्म साक्षात्कार के द्वारा हमारे मुक्त-स्वरूप की पुन: उपलब्धि हो सकती हैं। आध्यात्मिक जीवन का यही खुला रहस्य है.

यह एक सामान्य अनुभव है कि गलत प्रकार के विचार और भावनाएँ हमारे मन और देह को प्रभावित करते हैं। बहुत से सत्यान्वेषी चिकित्सक और मनो-विशेषज्ञ हमें यह तथ्य बता रहे हैं कि अज्ञान से उत्पन्न गलत दृष्टिकोण तथा भावनाओं के कारण बहुत से शारीरिक व मानसिक रोग होते हैं, जिन्हें बहुत हद तक रोका या निवारित किया जा सकता है। एक बुद्धिमान् चिकित्सक सर विलियम ओस्लर ने कहा है, कि क्षय रोगी का भविष्य उसके सीने में क्या है, इसके बदले इस बात पर अधिक निर्भर करता है कि उसके मस्तिष्क में क्या है। हमारे बाह्य आचरण के बदले हमारे विचारों और भावनाओं का अधिक महत्व है।

प्रत्येक व्यक्ति बदल सकता है :

एक सांसारिक व्यक्ति भी बदल सकता है, यदि वह अपनी सांसारिकता तथा मन में बनी समस्त ग्रंथियों को त्यागने के लिए तैयार हो अन्यथा नहीं। उत्साह हीन धार्मिकता पर्याप्त नहीं है। लंगर डाली नौका आगे नहीं बढ़ सकती। हमारी ग्रंथियाँ सांसारिक जीवन के साथ हमारे लंगर के समान हैं। पहले लंगर उठाना पड़ेगा। हमें अपनी ग्रन्थियों का काटना होगा, चाहे यह कितना ही कष्टप्रद क्यों न हो। उसके बाद हमें अपनी जीवन नौका को तेजी से खे कर गँवाए समय की भरपाई करना चाहिए। जब तक हम हमारे गहरे बद्ध-मूल संस्कारों का समूल उच्छेद नहीं करते, तब तक हम आध्यात्मिक बनने की आशा नहीं कर सकते। आध्यात्मिक शुद्धिकरण के पहले नैतिक शुद्धिकरण होना चाहिए।

---

४. अमृत बिन्दु उपनिषद् - २

बहुत से दक्ष मनोविज्ञों का कथन है, कि अन्तर्द्वन्द्व, अनभिव्यक्ति, या निरुद्ध क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, भय तथा अन्य नकारात्मक भावनाएँ, गर्दन का दर्द, पेट में छाला, मधुमेह, हृदयरोग, तथा मनोरोग या 'न्यूरोसिस' नामक अन्य रोगों का कारण हो सकते हैं। वे हमें बताते हैं कि किस प्रकार भावनाओं के उदात्तीकरण से न्यूरोसिस की प्रकृति में परिवर्तन आ सकता है, तथा रोगी का बाह्य जीवन बदल सकता है।

स्वयं के लिए सोचना सीखने से जीवन की समस्याओं का सामना करना सीखने से, तथा स्वास्थ्यकर तरीके से जीवन को सुनियोजित करने से वर्षों तक पंगु रहने के बाद पुन: स्वस्थ होनेवाले लोगों की आश्चर्य जनक घटनाएँ पाई जाती हैं। एक आधुनिक मनोविज्ञ का यह स्पष्ट कथन उत्साहवर्धक है : "मानव व्यक्तित्व परिवर्तित हो सकता है। केवल एक छोटा बालक ही आ नम्य यालचीला नहीं है। यावज्जीवन हम सभी में परिवर्तन की, यहाँ तक कि मौलिक परिवर्तन की क्षमता बनी रहती है।"

भारत में एक कहावत है, "जब तक साँस, तब तक आस।" हम में से प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के लिए आशा है, जो आन्तरिक रूप से श्रेष्ठ होना चाहता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण सभी को आशा दिलाते हुए कहते हैं, "यदि तुम बहुत बड़े दुराचारी भी होओ, तो भी ज्ञान नौका से सभी पापों को पार करके अशुभ से उत्तीर्ण हो सकते हो।"[५] आत्म-ज्ञान एक धधकती हुई अग्नि के समान है, जो समस्त बुराईयों को भस्म करके आत्मा के ऐश्वर्य को प्रकाशित करता है, जो आत्मा सभी के हृदय में विद्यमान है, भले ही हमें यह पता हो या नहीं।

हिन्दू ऋषिगण अपने व्यापक अनुभवों के आधार पर युगों से हमें यह बताते आए हैं कि आध्यात्मिक चेतना का परिवर्तन कर हम अपने विचारों और भावनाओं में, तथा हमारी देह में भी महान् परिवर्तन ला सकते हैं। अपवित्र मन और अपवित्र सूक्ष्म शरीर ही नहीं, बल्कि पशु-मानव की अपवित्र देह भी पवित्र सूक्ष्म शरीर और देव मानव की पवित्र स्थूल देह में रूपान्तरित की जा सकती है। देव-मानव का शरीर आध्यात्मिक रीति से संयोजित और भिन्न प्रकार से गठित विशुद्धतर उपादानों से निर्मित होता है; जिससे कि उस शरीर से वह कोई बुरा कार्य नहीं कर सकता।

श्रीरामकृष्ण लोहनिर्मित तलवार का दृष्टान्त देते हैं। जो पारस पत्थर के स्पर्श से सोने की हो गयी है। तलवार का आकार बना रहता है, लेकिन सोने की तलवार से कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। तलवार की गुणवत्ता में परिवर्तन की तरह हमारी देह और मन की गुणवत्ता में भी परिवर्तन होता है। योगाभ्यास का यह परिणाम होता है।

मानव स्वभाव और प्रवृत्तियाँ :

आध्यात्मिक जीवन में हमारी जिन सूक्ष्म प्रवृत्तियों और आदतों को जीतना,

५. भगवद्गीता ४.३६

रूपान्तरित करना तथा अतिक्रमण करना पड़ता है, उनके बारे में विभिन्न मत विद्यमान हैं। भगवद्‌गीता में तमस्, रजस् और सत्त्वयुक्त तीन प्रकार के लोगों का वर्णन है। पशु-मानव में तमस् का प्राधान्य होता है, तथा अज्ञान, अन्धकार, प्रमाद, और मोह उसके लक्षण हैं। सामान्य मानव को प्रभावित करनेवाले वासना तथा चाञ्चल्य और उनके साथ रहने वाले दुःख एवं अशांति रजस् के लक्षण हैं। आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति में सत्त्व का प्राधान्य होता है और ज्ञान एवं समत्व उसके लक्षण हैं।[६]

तमोगुणी व्यक्ति अशुचि भक्षण करता है।[७] तामसिक कर्ता अस्थिर या अयुक्त, उद्धत, विषादी, शठ और आलसी होता है।[८] वह अपने समस्त कर्म मोह से तथा परिणाम की चिन्ता किए बिना प्रारम्भ करता है।[९] यदि वह दान करता है, तो गलत पात्र को, गलत देश और समय में अथवा गलत रीति से देता है।[१०] यदि वह उपासना करता है, तो वह श्रद्धा और दानरहित होती है।[११] वह अन्धविश्वासी और मोहग्रस्त होता है, तथा दूसरों को कष्ट देने के लिए तप करता है।[१२]

रजोगुणी व्यक्ति कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण और उत्तेजक आहार पसन्द करता है।[१३] वह कर्म के प्रति अत्यधिक आसक्त तथा स्वार्थी होता है। अथवा दूसरों तथा दूसरों के स्वार्थ में लिप्त होता है। वह कर्म के फलों के लिए अत्यधिक उद्विग्न होता है, तथा उसके सभी कर्म इच्छाओं तथा अहंकार की तुष्टि के लिए होते हैं। वह लोभी, हिंसक, आसानी से हर्षान्वित अथवा शोकान्वित होनेवाला होता है तथा चिन्ता और भय से ग्रस्त होता है।[१४] वह अनिच्छा से तथा फलाकांक्षा और प्रत्युपकार के उद्देश्य से दान देता है।[१५] वह उपासना भी फलाकांक्षा से या दिखावे के लिए करता है।[१६] यदि वह तप करता है, तो वह भी सत्कार-मान-पूजार्थ तथा दम्भपूर्वक होता है।[१७]

सत्त्वगुणी अथवा समतायुक्त व्यक्ति आयु, सत्त्व, बल और आरोग्य-वर्धक शुद्ध आहार ग्रहण करता है।[१८] वह आसक्ति और अहंकार-रहित हो कर्म करता है तथा धृति एवं उत्साह-युक्त एवं सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार रहता है।[१९] वह मनोयोगपूर्वक किन्तु अनासक्त हो फलाकांक्षारहित अथवा प्रतिदान की चिन्ता के बिना कर्म करता है।[२०] वह दयापूर्वक, उचितदेश और काल के अनुसार ऐसे लोगों को दान करता है, जो उसका प्रतिदान न कर सकें।[२१] वह तीन प्रकार के तप गहरी श्रद्धा तथा केवल आध्यात्मिक लक्ष्य के लिए करता है। शौच, ब्रह्मचर्य, और अहिंसा शारीरिक तप कहलाते हैं। अनुद्वेगकर, सत्य और कल्याणकारक वाणी तथा स्वाध्याय उसके वाणी के तप हैं। वह आध्यात्मिक चिन्तन में रत रहने के कारण प्रायः मौन रहता है। ऐसे मौन का अभ्यास, सौम्यत्व, आत्म-विनिग्रह,

---

६. भगवद्गीता १४.११-१३ ७. वही १७.१० ८. वही १८.२८ ९. वही १८.२५
१०. वही १७.२२ ११. वही १७.१३ १२. वही १७.१९ १३. वही १७.९
१४. वही १८.२७ १५. वही १७.२१ १६. वही १७.१२ १७. वही १७.१८
१८. वही १७.८ १९. वही १८.२६ २०. वही १८.२३ २१. वही १७.२०

तथा भाव-संशुद्धि उसके द्वारा किए गए मानसिक तप हैं।[२२]

हमारे स्वभाव और प्रवृत्तियों के निर्माण के विषय में विभिन्न दार्शनिक मतवाद हैं। व्यवहारवादी कहते हैं, कि पर्यावरण सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इससे भिन्न अन्तर्निरीक्षणवादी की यह मान्यता है कि सहजात प्रवृत्तियाँ प्राणी में विद्यमान स्वाभाविक प्रेरणाएँ अथवा आवेग हैं, तथा हम पर्यावरण अथवा बाह्य प्रेरणा या उद्दीपन की प्रतिक्रिया के परिणाम मात्र नहीं हैं। प्राणी में परिवर्तित होने की एक स्वतः विद्यमान विकासोन्मुख प्रेरणा, एक जीवन शक्ति रहती है। कुछ मनोविज्ञ और जीवशास्त्री हमारी सहजात प्रवृत्तियों का मूल बाल्यकाल में खोजते हैं, यहाँ तक कि सारा श्रेय वे माता-पिता और पुरखों को देते हैं।

अन्य पाश्चात्य चिन्तकों का विश्वास है, कि आकाशीय-जीव अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों, इच्छाओं और वासनाओं के साथ मानव-शरीर धारण करते हैं। एक महान् क्रम-विकासवादी और डार्विन के समर्थक टॉमस हक्सले का मत था कि प्रत्येक प्राणी अपनी करनी का फल भोगता है, यदि इस जन्म में नहीं तो अनेक जन्मों की श्रृंखला में किसी-न-किसी में, जिसका यह जन्म नवीनतम है। उनका निष्कर्ष था कि क्रम-विकास के सिद्धान्त की तरह पुनर्जन्मवाद भी सत्य पर आधारित है। हम कुछ स्वभावगत प्रवृत्तियों के साथ जन्म ग्रहण करते हैं, इसीलिए प्राणी बाह्य उत्तेजना के प्रति एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया करता है।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण पुरातन हिन्दू मान्यता बताते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार जीव एक देह में बाल्यकाल, यौवन और वृद्धावस्था से गुजरता है, उसी तरह वह अन्य देह में भी जाता है।[२३] जिस प्रकार व्यक्ति पुराने वस्त्र त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है, उसी तरह अंतरात्मा जीर्ण-शरीरों को त्यागकर नया शरीर धारण करती है।[२४] लेकिन हमारी प्रकृति व आदतें हमारे साथ जाती हैं। जिन पूर्वजों तक हम अपनी आदतों और स्वभाव का अनुमार्गण करते हैं, वे हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं हैं। अपने पूर्वजों को बलि का बकरा बनाने और हमारी बुराईयों के लिए उन्हें दोषी ठहराने के बदले, हमें अपनी वर्तमान स्थिति की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए और उसके बाद स्वयं को श्रेष्ठतर दिशा में परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सबसे व्यावहारिक दृष्टिकोण है।

हमारे भीतर देव और दानव दोनों हैं :

अपने आन्तरिक स्वभाव का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि हम में परस्पर-विरोधी तत्त्व विद्यमान हैं। देव अथवा दानव खोजने के लिए हमें बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वे सभी हमारे भीतर हैं। भारत के पुरातन-ऋषि महान् दार्शनिक और साथ ही मनोविज्ञ भी थे, और उन्होंने इस बात को उपनिषदों की अनेक कहानियों के माध्यम से व्यक्त किया

---

२२ भगवद्गीता १७.१४-१७ २३. वही २.१३ २४. वही २.२२

है। तदनुसार हम बृहदारण्यक उपनिषद् में पाते हैं कि प्रथम स्रष्टा प्रजापति की तीन प्रकार की सन्तानों – देवता, मानव और दैत्यों ने उनसे उपदेश की याचना की। इन तीनों को उन्होंने एक ही अक्षर 'द' का उपदेश दिया। देवताओं ने उसका अर्थ दाम्यत या "अपने मन और इन्द्रियों को संयत करो" – समझा। मानवों ने इसका अर्थ दत्त या "लोभ का संवरण और दान" – समझा, और दैत्यों ने उसका अर्थ दयध्वं या "अपने क्रूर स्वभाव को नियन्त्रित कर दयालु होना" – समझा।

महान् अद्वैतवादी दार्शनिक एवं ऋषि शंकराचार्य ने इस कथा की इस तरह व्याख्या की है : मानव से भिन्न कोई दैत्य या देवता नहीं है। एक ही मानव-जाति संयम, दान और दया तथा सत्त्व, रजस्, और तमस् के न्यूनाधिक अनुपात से देव, मानव और दैत्य कहलाती है। इसीलिए एक ही निर्देश श्रोता की मूल प्रकृति के अनुरूप तीन भिन्न प्रकार से समझा गया था। आत्म संयमविहीन, लेकिन अन्य सद्गुणों से युक्त लोग देवता हैं। अत्यधिक लोभी व्यक्ति सामान्य मानव हैं, और जो क्रूर स्वभाव लोग दूसरों को हानि पहुँचने में सुख का अनुभव करते हैं, वे दानव हैं। उल्लिखित तीनों साधनाएँ मानव के लिए हीं हैं, क्योंकि देवता, मानव और दानव हमारे मानव स्वभाव के ही अंग हैं, और हमारी समता, शुभ कर्मों तथा लोभ और क्रूरता के नियन्त्रण के अनुपात के अनुसार हम ही देव, मानव अथवा दानव कहलाते हैं।[२५]

उपनिषदों में एक ही वृक्ष पर रहनेवाले सुंदर पंखोंवाले तथा एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र, दो पक्षियों सम्बन्धी एक प्रसिद्ध वर्णन है। एक पक्षी अज्ञान से भ्रमित हो वृक्ष पर उगनेवाले फल चाव से खाता है, जब कि दूसरा पक्षी शान्तिपूर्वक वृक्ष के शिखर पर बैठा रहता है। फल खा रहा नीचे का पक्षी वासना अथवा रजस् से प्रेरित हो इच्छाओं की पूर्ति का प्रतीक है। ऊपरवाला पक्षी सतोगुणी लोगों की तरह निचली डालियों पर उग रहे फलों के लिए लालायित नहीं होता। थोड़ी-थोड़ी देर में, व्यग्रता पूर्वक खाने में लगा, लेकिन फिर भी निरन्तर असन्तुष्ट बना हुआ पक्षी, प्रशान्त, किसी भी समय उड़ने को तत्पर ऊपरवाले पक्षी की ओर देखता है। वह अपने ऊपरवाले मित्र के प्रति अत्यधिक प्रेम का अनुभव करता है, और उससे मिलने की इच्छा से ऊपर की ओर फुदकता है, लेकिन दूसरे फल को देखकर रुक जाता है। परन्तु आखिरकार ऊपर की ओर उसकी प्रगति में सभी बाधाओं की इच्छा त्यागकर वह ऊपरवाले पक्षी से मिलने में सफल होता है। लेकिन तब उसे पता चलता है, कि दोनों पक्षी वस्तुतः एक ही हैं।[२६] तब उसे ज्ञात होता है कि अज्ञान के कारण उसने सांसारिक इच्छाओं की वासनोत्पादक शक्ति रजोगुण के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था। इस तादात्म्य के समाप्त होने पर तथा अपने वास्तविक अपरिवर्तनशील आध्यात्मिक-स्वरूप का साक्षात्कार होने पर पशु-स्वभाव रूपान्तरित हो जाता है तथा उसका अतिक्रमण

२५. बृहदारण्यक उपनिषद् - ५.२.१-३ तथा इस अंश पर शांकर भाष्य
२६. मुण्डकोंपनिषद् - ३.१.१-३; श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.६,७

हो जाता है।

आत्मा के नकाब

अविद्या हानिकारक है, क्योंकि वह आत्मा को विस्मृत करवा देती है। और इस अविद्या के कारण आत्मा एक नकाब, व्यक्तित्व रूपी नकाब पहन लेती है। हम एक के बाद एक इतने नकाब (मुखौटे) पहन लेते हैं, कि यह कहना भी कठिन हो जाता है, कि हम वास्तव में क्या हैं। बंगाल के महान् नाटककार-अभिनेता गिरीश कहा करते थे, "कभी किसी अभिनेत्री की साज सज्जा करने के बाद मैं उस पहचानने में असमर्थ हो जाता था, अथवा यह नहीं बता पाता था, कि कौन सा पात्र कौन है।" इसी तरह आत्मा एक सूक्ष्म शरीर धारण कर लेती है, फिर एक स्थूल शरीर धारण करती है, जिसके ऊपर विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा धारण करती है, और अन्त में वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने में असमर्थ हो जाती है। और जैसे कभी हम अपने को पहचान नहीं पाते, उसी तरह दूसरों को भी पहचान नहीं पाते। जब तक अविद्या का नकाब दूर नहीं होता और हम इन नकाबों के भीतर से देखने में समर्थ नहीं होते, तब तक हम अन्तरात्मा को नहीं पा सकते। इन नकाबों या आवरणों के साथ मिथ्या तादात्म्य ही हमारे दुःख और बन्धन का कारण है। अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होते ही, आत्मा का परमात्मा के साथ ऊपर बैठे पक्षी के साथ जो सदा अपने प्रिय साथी की प्रतीक्षा कर रहा हैं – मिलन होते ही दुःख का अन्त हो जाएगा।

वेदान्त के अनुसार मन और इन्द्रियाँ आत्मा के सूक्ष्म आवरण या शरीर का निर्माण करते हैं, जब कि भौतिक शरीर स्थूल आवरण है। इन दोनों आवरणों को शुद्ध करना हैं, जिससे वे पूर्व विद्यमान आत्मा का प्रकाश प्रतिबिम्बित कर सकें। सभी नैतिक और आध्यात्मिक साधनाओं का उद्देश्य यही है।

हमें देह मन और आत्मा की स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। देह और मन के सम्बन्ध के विषय में अनेक मान्यताएँ हैं। मनोविश्लेषण-वृन्द व्यक्ति को देह और मन अथवा मन और देह नहीं, बल्कि देहमन समष्टि मानते हैं।[२७] उनमें से एक ने कहा है : "देह और मन एक और अविभाज्य हैं। तुम्हारा मन तुम्हारी देह है और तुम्हारी देह तुम्हारा मन है।" कुछ दूसरे लोग मन को देह से ऊँचा स्थान देते हैं : "मन एक अभौतिक पदार्थ सा है। उसे देखा, छुपा या मापा, तोला नहीं जा सकता। यदि तुम चाहो तो उसे कोई आध्यात्मिक वस्तु कह सकते हो।"[२८] यह देह-मन-संघात-सिद्धान्त से कुछ आगे है। डा. युंग और भी आगे बढ़कर कहते है : अहंकार रोग ग्रस्त हो गया है, क्योंकि वह पूर्ण से अलग हो गया है तथा मानवता और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है।[२९] लेकिन उनकी पुस्तक 'माडर्न मेन इन

---

२७. देखिए ई. ए. स्ट्रेकर तथा के. ई. एपल की पुस्तक-डिस्कवरिंग अवर सेल्व्स, (न्यूयार्क, मेकमिलन कम्पनी, १९५४), पृ. १९ २८. वही पृ. ९

२९. डा. कार्ल जी. युंग, 'माडर्न मेन इन सर्च आफ सोल' (लंदन, रोलेज एण्ड केगन पाल, १९५३), पृ. १४१

सर्च आफ ए सोल' से यह स्पष्ट है, कि उन्होंने भी यह आविष्कार नहीं किया है, कि विशुद्ध आत्मा मन से भिन्न है, जो एक सूक्ष्म आवरण और एक करण मात्र है। पाश्चात्य मनोविज्ञान अभी भी अपने बाल्यकाल में है, और उसके द्वारा मानव की वास्तविक आत्मा को खोज निकालना बहुत दूर है।

हिन्दू ऋषियों ने मानव के वास्तविक स्वरूप का पता लगाने के लिए मानव-चेतना के सभी विभिन्न स्तरों का अध्ययन किया था। वेदान्त मानव के तीन शरीरों का वर्णन करता है, जो अपने वास्तविक स्वरूप में विशुद्ध आत्मा है। सर्वप्रथम कारण शरीर या चैतन्य-रहित अहंकार है, जिसमें विविधता सुप्त रूप से पड़ी रहती है, जैसा कि सुषुप्ति में होता है। इसके बाद सूक्ष्म शरीर है, जो चेतनायुक्त अहंकार, मन, सूक्ष्म-स्मृति-संस्कारों, सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की समष्टि है, जो सभी स्वप्नावस्था में अभिव्यक्त होते हैं। लेकिन हमारी तथाकथित जाग्रतावस्था क्रियाशीलता की तीसरी अवस्था, प्राय: स्वप्न से केवल थोड़ी ही बेहतर होती है। स्थूल भौतिक नेत्र, कर्ण तथा अन्य इन्द्रियाँ उन सूक्ष्म शक्तियों के करण या यन्त्र मात्र हैं, जो प्रतिदिन के भौतिक जीवन, क्रिया कलापों, में दर्शन शक्ति, श्रवण शक्ति आदि के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। स्थूल अंगों से युक्त स्थूल-शरीर सूक्ष्म शरीर का आस्पद या स्थान है, तथा उसके द्वारा नियन्त्रित होता है।

आध्यात्मिकता का महत्त्वपूर्ण मापदण्ड - चरित्र का रूपान्तरण :

क्या तुम ऐसे लोगों से मिले हो, जो यह ढिंढोरा पीटते फिरते हैं, कि उनका उद्धार हो गया है, और जो दूसरों को अपने मुक्ति-मार्ग पर बलपूर्वक लाने के लिए अत्यधिक आतुर हैं? वे स्वयं की रक्षा करना सीखने के पूर्व दूसरों की रक्षा करना चाहते है। दिखावटी धर्म-परिवर्तन के विषय में एक कथा हैं। एक रविवार को प्रात:काल एक बालिका ने एक किराने की दूकान का सामनेवाला दरवाजा खटखटाया। ऊपर की मञ्जिल से उसकी सहेली, किरानेवाले की कन्या ने झाँककर कहा, "बहन! हम सभी धर्म-सभा में गए थे, और अब हम परिवर्तित हो गए हैं। अब यदि तुम्हें रविवार के दिन दूध लेना हो, तो तुम को पीछे के दरवाजे से आना होगा।" पहले रविवार के दिन दूकान खुलती थी, लेकिन अब से सामने का दरवाजा बन्द रहेगा और लेन-देन पहले की तरह पीछे के दरवाजे से होता रहेगा। हम में से बहुत से लोग कुछ इसी प्रकार की बात करते हैं। ऐसा 'धर्मान्तरण' पूर्व के जीवन से भी बुरा है। सच्चा परिवर्तन होना चाहिए। हमें अपनी जीवन पद्धति को बदलकर पहले से श्रेष्ठतर बनना चाहिए। दिखावे और ढोंग का जीवन त्यागकर हमें नैतिक-पथ का गम्भीरतापूर्वक अनुसरण करते हुए, जीव को साधन-पथ पर बनाए रखनेवाले समतायुक्त सत्त्वगुण की सहायता से तमोगुण और रजोगुण अर्थात् तामसिक और विक्षेपकारक शक्तियों से युक्त अपने निम्न-स्वभाव पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों के पादपद्मों में हमें यही शिक्षा प्राप्त हुई है। उन्होंने हमें

बताया था कि श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में कुछ भक्तों के साथ क्या घटा था। बहुत से आध्यात्मिक जिज्ञासु उनके पास, विशेषकर उनके जीवन के अन्तिम काल में एकत्रित होने लगे थे। श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने पाया कि उनके कुछ गुरुभाई श्रीरामकृष्ण की दैवीशक्तियों की चमत्कारी अभिव्यक्तियों के लिए व्यग्रतापूर्वक प्रतीक्षा किया करते थे, तथा उनसे वे उच्च आध्यात्मिक भावभूमि में आरूढ़ हो जाते थे। उनमें से कुछ लोग अश्रुवर्षण तथा भावों की अत्यधिक अभिव्यक्ति सहित अर्धबाह्य दशा प्राप्त करने लगे। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार श्रीरामकृष्ण से शिकायत की, कि उन्हें ऐसी कोई भावावस्था प्राप्त नहीं होती है। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें कहा, "कि मानव स्वभाव का सम्पूर्ण परिवर्तन करनेवाली तथा उच्च आध्यात्मिक अनुभूति दिलानेवाली मन और हृदय की पवित्रता की उपलब्धि की तुलना में छिछली भावनाएँ और दर्शन बहुत तुच्छ हैं। वत्स! चिन्तित मत होओ। जब एक विशाल हाथी एक छोटी-सी तलैया में प्रवेश करता है, तो उसमें महान् उथल-पुथल मच जाती है, लेकिन यदि वह गंगा में उतरे, तो बहुत कम हलचल होती है। ये भक्त छोटी तलैया जैसे हैं, तुम उस नदी की तरह हो।"[३०]

श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार स्वामी विवेकान्द ने युवा भक्तों से कहा कि यदि भावोद्रेग के बाद तदनुरूप रूपान्तरण तथा सांसारिक आकर्षणों को नष्ट करने में और आध्यात्मिक चेतना जगाने में समर्थ चरित्र की पवित्रता का उदय न हो, तो उन भावावेगों की आध्यात्मिक जीवन में कोई सच्ची उपयोगिता नहीं हो सकती। आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक कठोर साधना करने के अनिच्छुक बहुत से लोग केवल दिखावा करते हैं, और ढोंगी बन जाते हैं। ऐसे कुछ लोगों में, जो नैतिक आधार को दृढ़ बनाने तथा पवित्रता की उपलब्धि हेतु प्रयत्न नहीं करते, ऐसे महान् भावों का प्रवाह हो सकता है, जिसकी तीव्रता को वे सहन नहीं कर पाते, और परिणामस्वरूप अपना मानसिक सन्तुलन खो देते हैं। लेकिन उन लोगों के लिए आध्यात्मिक-जीवन पूर्ण रूपेण निरापद है, जो निष्ठापूर्वक इस पथ का अनुसरण करते हैं, अपने कर्तव्यों का पालन पूजा के रूप में करते हैं, तथा आन्तरिक पवित्रता के लिए आवश्यक विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं को सतत करते रहते हैं।

हम सभी को आध्यात्मिक जीवन के खतरों से सावधान रहना चाहिए तथा चरित्र के रूपान्तरण का प्रयत्न करना चाहिए जिसके द्वारा नैतिक पवित्रता और शक्ति प्राप्त होती है, और हम उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति के लिए सक्षम होते हैं। इसी से हमारे भीतर विद्यमान तामसिक दानव और राजसिक मानव, सात्त्विक देवता में रूपान्तरित हो सकता है, जो हमारा अव्यक्त स्वरूप है; तथा अन्ततः हम परमात्म साक्षात्कार के चरण लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।

पूर्ववर्ती अध्यायों में हम पहले ही हमारे स्वभाव की शुद्धि के लिए आवश्यक विभिन्न

३०. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग

साधनाओं का वर्णन कर चुके हैं। अब क्षणभर के लिए देखने का प्रयत्न करें, कि सत्त्वगुण की अधिकाधिक वृद्धि से क्या होता है? नैतिक और आध्यात्मिक साधनाओं से उपलब्ध पवित्रता में, सत्त्वगुण में, प्रतिष्ठित व्यक्ति के लक्षण निम्न हैं : उसकी देह हल्की हो जाती है, तथा उसका देहात्म बोध कम हो जाता है। इन्द्रियों के सतेज और सबल होने से सन्तुलन में वृद्धि होती है, मन पूर्ण सजग रहता है और शुद्ध बुद्धि में आनन्द उमड़ पड़ता है। एक नई आध्यात्मिक चेतना का उदय होता है। आत्मा परमात्मा के प्रति सचेत हो जाती है। कहानी का नीचेवाला पक्षी नित्य-साक्षी ऊपरवाले पक्षी के प्रति सजग हो उठता है। अहंकार, मन, इन्द्रियों और देह के साथ मिथ्या तादात्म्यों से छुटकारा पाकर आत्मा चेतना के उच्चतर स्तरों पर आरोहण करती हुई अन्त में परमात्मा के साथ एक हो जाती है। आध्यात्मिक प्रयास की यहाँ परिसमाप्ती होती है। उपनिषद घोषणा करता है :

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।[३१]

अर्थात् "जब द्रष्टा ज्योतिर्मयं जगत्कर्ता, ईश्वर, ब्रह्मयोनि, परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब वह विद्वान् पाप और पुण्य से मुक्त हो, निरञ्जन, परम साम्य को प्राप्त करता है।" और श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं : समस्त कल्मषों से रहित तथा द्विन्द्वों से मुक्त, संयत मन और इन्द्रियों से युक्त तथा समस्त प्राणियों के कल्याण में रत ऋषि ब्रह्म के साथ एक हो जीवनमुक्ति तथा विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं।[३२] यह एक देव मानव का आदर्श है। इस महान् आदर्श की उपलब्धि के लिए हमें अपने जीवन का रूपान्तरण करना चाहिए। आध्यात्मिक आदर्श हमारे लिए सदा 'आदर्श' ही बना नहीं रहना चाहिए। साधना की सदा के लिए यन्त्रवत्, अन्यमनस्क भाव से की जानेवाली 'साधना' ही नहीं बनी रहनी चाहिए। उसे हमारे जीवन को परिवर्तित करना चाहिए। हमारा जीवन रूपांतरित होना चाहिए। एक न एक दिन हमें भी देव-मानव की पवित्रता, दिव्य चेतना, और प्रेम की उपलब्धि होनी चाहिए।

□□□

---

३१. मुण्डकोपनिषद् ३.१.३ ३२. भगवद्गीता ५.२८

अध्याय २९

साधना की प्रतिक्रियाएँ

आध्यात्मिक जीवन - एक बाधा दौड़ :

एक भारतीय कहावत है – 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' (श्रेय मार्ग में बहुत बाधाएँ होती हैं।) यह बात आध्यात्मिक जीवन में और भी सत्य है। आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने के तत्काल बाद साधक जिस अत्यन्त कष्टप्रद बात का अनुभव करता है, वह यह है कि उसका पथ बाधाओं और कठिनाईयों से भरा है तथा उस पर चलने का अर्थ है, काफी मात्रा में दुःख भोगना। उसने सांसारिक जीवन से मुँह मोड़कर इस आशा से प्रार्थना और ध्यान के जीवन को स्वीकार किया था कि उसे परम शान्ति और पूर्णता प्राप्त होगी। उसने ध्यान के आनन्द तथा भगवद्दर्शन के आनन्द के बारे में पढ़ा था, जिसकी संसार के धर्मों के महान् सन्तो ने सम्भवतः उपलब्धि की थी। लेकिन जब वह उनकी तरह लंबे समय तक ध्यान का अभ्यास करने का प्रयत्न करता है तो ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाता है। पहले तो सब कुछ ठीक ठाक चलता रहता है। साधक को ध्यान और जप में आनन्द भी आता है। लेकिन इसके बाद प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं।

जो लोग दिन भर में केवल कुछ मिनटों के लिए ही ध्यान करते हैं, उन्हें इन प्रतिक्रियाओं के बारे में कुछ भी पता नहीं होता। लेकिन जो निष्ठावान् साधक लम्बे समय तक ध्यान, जप और प्रार्थना करते हैं उन्हें आन्तरिक और बाह्य बाधाओं का अवश्य सामना करना पड़ता है। ध्यान करना मन को मथने के समान है। जब हम अन्तर्मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं, तो हम अचेतन मन की गहराईयों को उद्वेलित कर देते हैं। ध्यान किए बिना हमें "अचेतन" मन के अस्तित्व का भान तक नहीं होता। जब हम उसका नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते हैं, तो वह विद्रोह कर उठता है और मन में विक्षेप पैदा करता है। ये आन्तरिक विक्षेप हमारे कर्मों तथा दूसरों के प्रति हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं, जो पुनः जिस समाज में हम जी रहे हैं, उसकी प्रतिक्रियाएँ पैदा करते हैं। इन सभी आन्तरिक और बाह्य प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप साधक को शीघ्र यह ज्ञात हो जाता है, कि ध्यान-निष्ठ-जीवन फूलों की सेज नहीं है। कई बार उसे महसूस होता है कि आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने से पूर्व ही वह अधिक सुखी था। बहुत से लोग इतने हताश हो जाते हैं कि वे साधना बन्द कर देते हैं। कुछ उसे यन्त्रवत्, कर्तव्य के बोध से करते रहते हैं। केवल कुछ विरले ही

महान् लगन और उत्साह के साथ आगे बढ़ते रहते हैं।

अपने आध्यात्मिक जीवन का सचेतन रूप से निर्माण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। अन्दर और बाहर तूफान उठते रहते हैं, और इन दोनों का सामना करने का सामर्थ्य होना चाहिए। तभी आध्यात्मिक जीवन का निर्माण सम्भव हो सकता है। साधना के दौरान तुम सभी को बहुत कठिन समय से गुजरना होगा और कुछ लोग राह के किनारे गिर जाएंगे और पीछे छोड़ दिए जायेंगे। यहाँ तक कि कुछ समय के लिए तुम्हारी कठिनाईयाँ बढ़ जाएंगी। तुम्हारे मित्रों और सम्बन्धियों की विपरीत प्रतिक्रियाओं के रूप में बाह्य बाधाओं की भी वृद्धि होगी।

कभी-कभी देह भी हर सम्भव प्रकार से विद्रोह करने लगती है। मन तनावपूर्ण और विद्रोही हो जाता है। स्नायु अतिसंवेदनशील हो जाते हैं। पुरानी वृत्तियाँ, पुरानी स्मृतियाँ और इच्छाएँ और अधिक बलवती होकर स्थूल-स्तर पर अभिव्यक्त होना चाहती हैं। यदि हम आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहते हैं, तो हमें इन सभी परीक्षाओं से, दीर्घकालीन कठिन अनिश्चितता से तथा जब तक उन पर विजय प्राप्त नहीं कर ली जाती, तब तक हमारी वासनाओं और इच्छाओं के साथ भयानक संघर्ष से गुजरना होगा। जीवन एक बाधा-दौड़ सा प्रतीत होता है। अनन्त बाधाओं को पार करना पड़ता है और लम्बे समय तक हमें चैन नहीं मिलता। जो कोई साधन-पथ का ईमानदारी और तीव्रता से अनुसरण करता है, उसे इन सभी बातों का अनुभव होगा।

प्रतिक्रियाओं का स्वरूप :

शंकराचार्य द्वारा रचित छोटे से ग्रन्थ "अपरोक्षानुभूति" में साधना के दौरान आनेवाली बाधाओं की निम्न सूची दी गई है :

समाधि का अभ्यास करते समय कई बाधाएँ बलात् उपस्थित होती हैं : यथा अनुसन्धान राहित्य, आलस्य, भोगलालसा, लय या निद्रा, तम, विक्षेप, रसास्वाद, शून्यता इत्यादि। ब्रह्मविद् को धीरे-धीरे इन विघ्नों को त्यागना चाहिए।[१]

पतञ्जलि अपने योगसूत्रों में ऐसी ही एक सूची प्रदान करते हैं :

व्याधि, स्त्यान, या मानसिक जड़ता, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय भोग से अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, एकाग्रता की अनुपलब्धि, स्थिति-विशेष में अवस्थित न हो पाना, ये चित्त के विक्षेप या बाधाएँ हैं।[२]

जब हम इन बाधाओं की सूची का अवलोकन करते हैं, तो एक महत्त्वपूर्ण बात दिखाई देती है और वह यह कि ये सारी बाधाएँ हमारे द्वारा ही निर्मित हैं। ये हमारे भीतर ही पैदा होती हैं और इनके लिए किसी दूसरे को दोष देने से कोई लाभ नहीं है। ये साधना के विभिन्न कालों में पैदा होती हैं।

---

१. अपरोक्षानुभूति १२८)   २. पातञ्जल योगसूत्र – १.३०

कभी ऐसा होता है कि वर्षों के दीर्घ आध्यात्मिक संघर्ष के बाद हमें कोई आध्यात्मिक अनुभूति होती है। वह प्राय: एक अस्थायी, आन्तरिक ज्योति की झलक मात्र होती है। उस समय बहुत से लोग सोचते हैं कि उन्हें ब्रह्मज्ञान हो गया है और अपने मन को और अधिक शुद्ध करने की अब आवश्यकता नहीं है। यह बहुत जल्दबाजी में लिया गया निर्णय है, जैसा कि उन्हें शीघ्र ही पता चल जाता है।

जब तक मन के कोनों और दरारों में जमी गर्द और मैल दूर नहीं की जाती, तब तक वस्तुत: हमारी समस्या सुलझ नहीं सकती। यदि दरवाजे के एक छेद से कुछ प्रकाश कमरे में आए, लेकिन सारा कमरा अन्धकारयुक्त और गन्दा पड़ा रहे, तो कोई लाभ नहीं होगा। यदि थोड़ा-सा प्रकाश मन में आये और उसमें पड़ी सारी गन्दगी और कचरा कुछ समय के लिए किसी सुदूर अन्धेरे कोने में भर दिया जाए, तो यह वास्तविक आध्यात्मिक ज्ञान नहीं कहला सकता। ऐसी स्थिती में व्यक्ति इस तरह की 'झलक' के पहले जैसा था, वैसा ही बना रहता है। कोरे सिद्धान्त और दार्शनिक मतवाद, चाहे वे कितने ही सुन्दर हों, हमें किसी तरह भी सहायता नहीं पहुँचा सकते। महत्त्वपूर्ण बात है, उन्हें व्यवहार में लाना, वासनाओं का उदात्तीकरण करना, और मन के अंधकारमय कोनों में छुपी गन्दगी को दूर करना। चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध, हमारी तात्कालिक समस्या नहीं है, जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं। सभी चित्तवृत्तियों को शान्त कर मन को खाली करने के प्रयत्न से प्रारम्भिक साधक को स्वत: प्रेरित निद्रा आ जाएगी, किसी प्रकार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। जो लोग सभी चित्तवृत्तियों को अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में ही निरुद्ध करने की बात करते हैं, वे नहीं जानते कि वे क्या कह रहे हैं।

प्रतिक्रियाओं के कारण :

आध्यात्मिक जीवन की अनेक बाधाएँ हमारे लापरवाह जीवन का परिणाम हैं। ऐसे लोग भी हैं, जो ध्यान का अभ्यास करते हैं और साथ ही अत्यधिक भोजन, अत्यधिक निद्रा, अत्यधिक अथवा अर्थहीन अव्यवस्थित कर्म, अत्यधिक और व्यर्थ की बकवास इत्यादि में लगे रहते हैं। अव्यवस्थित तथा गैर जिम्मेदारी से जिया गया जीवन आध्यात्मिक जीवन के साथ मेल नहीं खा सकता। जो लोग एक सुनियोजित जीवन-प्रणाली तथा नियमित शुद्ध आदतों का पालन नहीं कर सकते, उनके लिए आध्यात्मिक जीवन असम्भव है।

इन सब के अतिरिक्त साधना के दौरान होनेवाली प्रतिक्रियाओं का सबसे सामान्य कारण अपर्याप्त मानसिक पवित्रता है। ध्यान-निष्ठ जीवन अंगीकार करनेवाले अधिकांश लोग उसके नैतिक पक्ष को गहराई से नहीं लेते। वे ध्यान करने के लिए इतने व्यग्र रहते हैं, कि वे नैतिक अनुशासन के अरुचिकर और कष्टसाध्य विस्तार को एक ओर छोड़ देने का प्रयत्न करते हैं। यह बात आज के युग में और भी सत्य है, जब लोगों को आध्यात्मिक जीवन के उच्चतर पक्ष विषयक पुस्तकें उपलब्ध हो गई हैं। ध्यान, आध्यात्मिक जागरण,

कुण्डलिनी जागरण, दर्शन आदि बहुत आकर्षक और आसान प्रतीत होते हैं। लेकिन कठोर नैतिक जीवन यापन किये बिना उनकी उपलब्धि नहीं हो सकती। और यदि कोई बल प्रयोग से उच्चतर उपलब्धि प्राप्त भी कर ले, तो भी सारे पुराने संस्कार बड़े वेग से उठकर उसे नीचे खींच लेंगे और प्राय: महान् पतन का कारण होंगे।

मन इच्छाओं से पूर्ण है, जो उसे विभिन्न दिशाओं में खींचता हैं। अचेतन मन की गहराई से विभिन्न प्रकार की प्रेरणाएँ निरन्तर उठती रहती हैं और मन को चञ्चल करती रहती हैं। अधिकांश साधक इन विभिन्न व्यक्त या छुपी कठिनाईयों के बीच मन को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं। आध्यात्मिक-जीवन के प्रारम्भ में, जब साधक में नया जोश रहता है, तब इन मानसिक विक्षेपों की भले ही उपेक्षा कर दे, लेकिन आगे या पीछे वे अपनी अवस्थिति का अनुभव कराते हैं। और चूँकि तब तक प्रारम्भिक उत्साह कुछ हद तक कम हो गया होता है, इसलिए ये बाधाएँ और अधिक प्रबल और कठिन प्रतीत होती हैं।

कुछ साधक अपने आध्यात्मिक उत्साह में शुभ तथा उपयोगी प्रेरणाओं का भी प्राय: दमन कर देते हैं। वे मानवात्मा की प्रेम, करुणा और उच्चतर बौद्धिक आनन्द की स्वाभाविक और न्यायोचित माँगों को भी तिरस्कृत करने की दूसरी अति तक पहुँच जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में बहुत से साधकों को बुरी भावनाओं का प्रतिकार करने के लिए शुभ भावनाओं की आवश्यकता होती है। अपनी निम्न वासनाओं का निराकरण करने के लिए उन्हें अध्ययन, भक्ति-संगीत, समाज-सेवा आदि की सहायता की आवश्यकता होती है। शुभ प्रवृत्तियों को अस्वीकार करने से वे और आसानी से अशुभ के शिकार हो जाते हैं। यह सत्य है कि अच्छी और उदात्त भावनाएँ भी उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति में बाधक हैं। लेकिन यह समस्या उन्नत साधक की है। एक प्रारम्भिक साधक के लिए, जो निम्न स्तर की अनुभूति का अर्थ भी नहीं जानता तथा जिसमें ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त मानसिक बल नहीं है, स्वाध्याय, स्वधर्म-पालन, साधु-सेवा आदि कुछ समय के लिए आवश्यक हैं। सभी धर्मगुरु बुद्धिमानी पूर्वक साधक के लिए इनका आचरण करने का आग्रह करते हैं। अहंकार पूर्वक इन सभी प्रारम्भिक सहायता से दूर रहकर अपनी आन्तरिक शक्ति पर भरोसा करना खतरनाक है। जब तक तुम सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति के आनन्द का आस्वादन नहीं कर लेते, तब तक निम्न सुखों की पिपासा का किसी न किसी प्रकार से प्रतिकार करना होगा। प्रारम्भिक साधक के लिए यह कार्य केवल ध्यान से हमेशा नहीं हो सकता। अवश्य, अभूतपूर्व चित्तशुद्धि और ईश्वर के प्रति तीव्र व्याकुलतायुक्त साधकों की बात दूसरी है। किन्तु ऐसे लोग दुर्लभ हैं।

साधक के द्वारा बहुत अधिक करने का प्रयास साधना की प्रतिक्रियाओं का तीसरा कारण है। बहुत से साधक प्रारम्भ में लम्बे समय तक ध्यान नहीं कर सकते। उनमें दीर्घकालीन ध्यान के शारीरिक और मानसिक तनाव को सहन करने की स्नायविक-शक्ति नहीं होती। कुछ दिग्भ्रमित लोग एक ही साथ बहुत सी बातें करने का प्रयत्न करते हैं तथा

समस्या को और भी जटिल बना देते हैं। ध्यान के अतिरिक्त वे प्रायः बिना किसी उचित मार्गदर्शन के प्राणायाम तथा विभिन्न तपस्याओं में भी हाथ आजमाना चाहते हैं। शरीर को उचित आहार, विश्राम और निद्रा से वञ्चित करने से मन को नियन्त्रित करने के प्रयास में लम्बे समय तक एक आसन पर बैठने से तनाव में वृद्धि ही होगी। इसके परिणाम स्वरूप मानसिक शक्ति की क्षति अथवा स्नायविक आघात लग सकता है, जिससे जटिल समस्या पैदा हो सकती है। साधक को अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विषय में यथार्थवादी होना चाहिए। उत्तेजनीय और अति संवेदनशील लोगों को अचानक बहुत अधिक ध्यान का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उन्हें धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए। यह सत्य है कि तीव्र मुमुक्षा और महान् मनोबलयुक्त कुछ अल्पसंख्यक साधक भी हैं। लेकिन उनका अन्धानुकरण करने का प्रयत्न मत करो। अपने स्वभाव का अध्ययन करो और यह जानो कि तुम कितना बोझ उठा सकते हो। आसानी से उत्तेजित हो जाने वाले ऐसे लोगों को, जिनके दिमाग में बहुत-सी योजनाएँ उथल-पुथल मचाये रहती हैं, एक बार में एक घण्टे से अधिक समय तक बैठने और ध्यान करने के प्रलोभन से दूर रहना चाहिए। लम्बे समय तक ध्यान का अभ्यास करने के लिए शान्त स्वभाव की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त अटूट ब्रह्मचर्य द्वारा मस्तिष्क को सबल बनाना चाहिए। ब्रह्मचर्य विहीन व्यक्तियों का मस्तिष्क आसानी से गरम हो जाता है।

जिन साधकों ने कुछ प्रगति कर ली है, उन में दूसरे प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। शुष्कता अथवा शून्यता का भाव सबसे बहुल है। कुछ दिनों अथवा सप्ताहों तक अच्छे ध्यान का आस्वाद पाने के बाद साधक को लगता है कि उसने अचानक ध्यान में सारी रुचि खो दी है। वह मन को एकाग्र करने में कठिनाई का अनुभव करता है। उसे लगता है कि वह मानो शून्य में तैर रहा है। यह प्रायः अति स्पष्ट कल्पना की प्रतिक्रिया होती है। यदि तुम अपने इष्ट देवता की तीव्रता से कल्पना करने में सफल हो, उसका कुछ समय तक आनन्द ले सको तो जब तुम और अधिक कल्पना न कर सको तो तुम पूरी तरह किंकर्तव्यविमूढ हो जाओगे। तुम्हें लगता है कि तुम्हारा इष्ट की सत्ता के साथ सम्पर्क-विच्छेद हो गया है और इस से बहुत वेदना होती है। ऐसी स्थिति में यह स्मरण रखना सदा श्रेयस्कर है कि अन्तरात्मा सदा आत्माओं की आत्मा – परमात्मा के सम्पर्क में बनी रहती है। भले ही तुम कल्पना करने में असफल हो रहे हो, फिर भी तुमने वास्तव में कुछ भी नहीं खोया है। इन शुष्क अवसरों पर, चाहे वे कितने ही कष्टप्रद क्यों न हों, साधक को अपनी चेतना के केन्द्र को पकड़े रखकर जप करते रहना चाहिए।

साधना की प्रतिक्रियाओं का एक और कारण है, व्यक्ति की चेतना के केन्द्र का बदलना। आध्यात्मिक-जीवन की ओर मुड़ने के पूर्व साधारण मानव चेतना निम्न केन्द्रों में विचरती रहती है। उसका सामान्य जीवन खाने, सोने और इन्द्रिय-भोगों से ही सम्बन्धित रहता है। आध्यात्मिक-जीवन की ओर मुड़ने पर उसे पता चलता है कि निम्नविचारों और

गतिविधियों के द्वारा वह स्वयं को परिचालित नहीं होने दे सकता। उसे उच्चतर विचारों की आवश्यकता महसूस होती है और इसका अर्थ है, चेतना के केन्द्र का परिवर्तन। जब चेतना के केन्द्र को हृदयं या मस्तक के स्तर तक लाने का प्रयत्न किया जाता है, तो तुम्हें पता चलता है कि इन स्तरों पर अधिक समय तक बने नहीं रह सकते। तब तुम्हें अनुभव होता है कि तुम्हारी चेतना का कोई निश्चित केन्द्र नहीं है। इस से मन अत्याधिक अस्थिर हो जाता है।

किसी सन्दर्भ-बिन्दु के बिना संसार में रहना और उसके विषयों के साथ व्यवहार करना अत्यन्त विरक्तिकर अनुभव है। साधक पाता है कि वह न तो चेतना के उच्च केन्द्र में इष्ट का ध्यान कर सकता है और न ही निम्न केन्द्रों में विचरण करता हुआ पहले की तरह संसार का सुख भोग सकता है। जब अहं चेतना बिना किसी निश्चित बिन्दु के भटकती रहती है, तब साधक अपने बारे में कम विश्वस्त हो जाता है तथा उसका चरित्र और आचरण कुछ समय के लिए अस्थिर हो जाता हैं। आध्यात्मिक-विकास के क्रम में यह एक अपरिहार्य अवस्था है। इस अवस्था से व्यक्ति कितनी जल्दी उबरता है, यही समस्या है। कुछ साधक बहुत लम्बे समय तक उत्कृष्ट और उपहास्य स्थिति के मध्य दोलायमान होते हुये बने रहते हैं। दूसरे कुछ स्थायी रूप से अपनी चेतना को निम्न केन्द्रों में बनाए रखकर पुराने जीवन में लौट जाते हैं।

अपनी चेतना को परमात्म-चेतना से जोड़ो :

आध्यात्मिक-चेतना को हमारी व्यक्तिगत चेतना का विस्तार होना चाहिए। हमें अपनी व्यक्तिगत-चेतना के सुदृढ़ आधार पर खड़े होने के बाद आध्यात्मिक चेतना का विकास करना चाहिए। बिन्दु को सर्वप्रथम बहुत निश्चित होना चाहिए और उसके बाद उसे समग्र वृत्त के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहिए। अत्यन्त स्पष्ट बिन्दुत्व-बोध के बिना वृत्त का अनुभव सम्भव नहीं है। जब "मैं हूँ" तभी "भगवान हैं। मैं समस्त समस्याओं से रहित आत्मा हूँ। इस "मैं" को बलवान बनाना होगा। दूसरें "मैं" को, सीमित "मैं" को जो निरन्तर समस्याएँ पैदा करता है, दूर करना होगा। हमें अपनी चेतना को बनाए रखना है, लेकिन हमारी चेतना का केन्द्र मिथ्या अहंकार से हटाकर वास्तविक आत्मा में स्थापित करना चाहिए। हमें सदा अपनी उच्चतर-चेतना में बद्धमूल रहना चाहिए। कई बार हम अपनी व्यक्तिगत-चेतना-बोध में प्रतिष्ठित हुए बिना अनन्त में तैरना चाहते हैं। कोई भी ऐसा अवसर नहीं होना चाहिए जब हम अपनी चेतना में बद्धमूल न हों। हमारी जड़ें कहीं न कहीं गहरी होनी चाहिएं। जब हम अपनी जड़ों को मिथ्या आधार से हटाएँ तो हमें तत्काल अपनी सच्ची-आत्मा में बद्धमूल हो जाना चाहिए और स्वयं को आधारहीन स्थिति में नहीं रखना चाहिए।

जब भक्त अपने ध्यान के विषय का चिन्तन तथा इष्ट के रूप की स्पष्ट कल्पना करते हैं तब उन्हें उनके साथ एक सम्बन्ध स्थापित करने में भी समर्थ होना चाहिए, अन्यथा वे

कल्पना-जगत् में तैरते रहेंगे। साधक को अपनी चेतना को अपने ध्यान के विषय, इष्ट, की चेतना के साथ संयुक्त करने में समर्थ होना चाहिए। ऐसा न करने पर गहरी समस्या और अस्थिरता आ सकती है और साधना का उद्देश्य सफल नहीं होगा। इष्ट की जीवन्त सत्ता के संस्पर्श में न आने पर तुम्हें लगेगा कि तुम मानो हवा में तैर रहे हो और तुम आधारहीन हो जाओगे। तुम्हारी अपनी चेतना अपना आधार खो देगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम्हें असत्य आधार भूमि से अतिशीघ्र तथा निश्चयपूर्वक अपनी जड़ें निकाल लेनी चाहिए। अपने इष्ट की निश्चित सत्ता की अनुभूति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तब तुम्हें आन्तरिक शान्ति भी प्राप्त होगी। इष्ट एक कल्पना मात्र नहीं है। इष्ट के रूप की स्पष्ट कल्पना के बाद उनके सान्निध्य की अनुभूति सचमुच होती है। यह एक बहुत महत्त्व की बात है। यदि ध्यान का अभ्यास सही ढंग से किया जाये तो तुम्हें असीम शक्ति, शान्ति और स्थिरता प्राप्त होगी मानो तुम्हारे हृदय में आनन्द का घट स्थापित हो। तब कुछ भी तुम्हें विचलित नहीं कर सकेगा।

साधना के अनेक वर्तमान बुरे परिणाम इष्ट की चेतना को अपनी चेतना से जोड़े बिना, इष्ट के साथ आवश्यक सम्बन्ध स्थापित किये बिना, उनके रूप की स्पष्ट कल्पना के कारण होते हैं। आध्यात्मिक-जीवन में ऐसा नाजुक समय सदा उपस्थित होता है। ऐसी कठिनाई उन सभी के सामने आती है, जो अपनी साधना को तीव्रता, नियमितता और निष्ठापूर्वक करते है। जो सचमुच प्रगति करते है तथा सचमुच उत्साहपूर्वक ध्यान करते हैं, उन सभी के सामने यह समस्या आती है। इस संकट और अस्थिरता से कोई बच नहीं सकता, लेकिन उनको अपने आध्यात्मिक गुरु की सलाह लेनी चाहिए और अपनी साधना के बारे में चर्चा करनी चाहिए। यदि कोई समस्या ही न उठे, जैसा कि कुछ लोगों में होता है तो कुछ न कुछ गड़बड़ है; सम्भवत: उनकी साधना कारगर नहीं है।

ज्ञानी में ये संकट बहुत कम प्रचण्ड होते हैं। उसमें अधिक विवेक और सन्तुलन होता है, फिर भी कुछ समस्याएँ तो प्रकट होती ही हैं। लेकिन सदा याद रखो कि ज्ञानी और भक्त दोनों में सभी परिस्थितियों में व्यक्तिगत चेतना का विकास होकर अध्यात्म-चेतना का उदय होता है।

स्वप्रयत्न का त्याग न करो :

हम सभी में ये शारीरिक और मानसिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं और हमारी साधना के साथ हमें इन प्रतिक्रियाओं को सहन करने की शक्ति में भी वृद्धि करनी चाहिए। बहुत से लोग इन प्रतिक्रियाओं के दबाव से टूट जाते हैं। बहुत से लोग कुछ समय के लिए पूरी तरह अस्थिर हो जाते हैं। वे साधना के पूर्व जैसे थे, उस से भी बदतर हो जाते हैं। यदि तुम चेतना के अपने केन्द्र को नीचे से ऊपर की ओर ले जाना चाहते हो तो तुम्हें अस्थिरता के समय से गुजरना होगा। जब तक लोग सांसारिक-जीवन व्यतीत करते रहते हैं, तब तक उन्हें इन विभिन्न अवस्थाओं का भान नहीं होता, लेकिन सही ढंग से की गयी साधना सर्वदा विभिन्न

अचेतन वृत्ति-प्रवाहों का मन्थन करती हैं, जिससे अस्थिरता आ जाती है। कई बार ऐसे लोगों में मानसिक-बल नहीं बचा होता है; कभी-कभी दीर्घकाल तक विक्षेपयुक्त दोलायमान स्थिति और यहाँ तक कि नैतिक अस्थिरता बनी रहती है।

इस निराशाजनक स्थिति में कई बार लोग साधना को उत्साहपूर्वक बढ़ानें के बदले उसका त्याग कर देते हैं। साधना त्यागने से वे आध्यात्मिक दृष्टि से नष्ट हो जाते हैं। तब फिर वे एक दुर्भाग्यपूर्ण पतन से बच नहीं पाते, जिससे वे लम्बे समय तक पुन: उठ नहीं पाते। अत: ऐसी परिस्थितियों में साधना त्यागना बहुत बुरा है और खतरनाक भी। उसको और अधिक पकड़े रहो। उसे और तीव्र, और प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करो। धीर-स्थिर रूप से, एकाग्रता और लगन के साथ ध्यान और जप किये जाना चाहिए; साथ ही नैतिक आदर्शों का कड़ाई से पालन करना चाहिए। ऐसा न करनेवाले लोग (सभी लोग) आगे या पीछे हटा दिए जाएगें और वे कभी भी लक्ष्य के निकट नहीं पहुँच सकेगें।

यम और नियम का पालन नहीं करनेवाला व्यक्ति कुछ भी हासिल नहीं कर सकता। उसमें सभी दिशाओं से उसके ऊपर दबाव डालनेवाले बोझ और तनावों को सहन करने के लिए बहुत कम शक्ति रहेगी। इसीलिए किसी भी साधक के लिए शारीरिक और मानसिक मार्गों से शक्ति व्यर्थ क्षय की कोई गुंजाइश नहीं है। पुरातन आचार्य-गण भलीभाँति जानते थे कि उनके यम और नियमों के पालन में, नैतिकता के विषय में इतने कट्टर होने का क्या कारण है। यदि इन नियमों का पालन नहीं किया गया तो उसका परिणाम मानसिक विकार, हमारी सभी क्षमताओं में पर्याप्त कमी तथा इन्द्रियों की अधिकतर दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। इन्हें केवल सिद्धान्त-मात्र मत समझो। हम भी साधना की इन प्रारम्भिक अवस्थाओं से गुजरे हैं तथा हमने हमारे महान् आचार्यों को देखा है तथा उन से बहुत-सी बातें सुनी हैं। यह किन्ही पुरातन रूढ़िवादी ग्रन्थों में पाये जानेवाला पुस्तकी ज्ञान मात्र नहीं है।

साधना का प्रारम्भिक काल, जब व्यक्ति को इन भयानक प्रतिक्रियाओं का सामना करना पड़ता है; एक महान् परीक्षा का समय होता है। साधक में धैर्य और अटूट अध्यवसाय होना चाहिए, उसके बाद अच्छे दिन आएगें। महान् मानसिक शक्ति को नियन्त्रण में रखना चाहिए अन्यथा हमारे पास आगे बढ़ने की शक्ति नहीं रहेगी। एक सबल शरीर और सबल मस्तिष्क होते हुए भी एक समय ऐसा आता है जब हम अत्यधिक अस्थिर और भयग्रस्त हो जाते हैं। प्रारम्भ में उच्छृंखल कल्पनाओं और प्रेरणाओं के साथ संघर्ष का काल आता है; उसके बाद है मानसिक यन्त्रवतता और बौद्धिक आदतों से संघर्ष का काल, लेकिन उसके बाद स्थिरता, शान्ति और आन्तरिक समता का काल उपस्थित होता है।

यदि साधक गुरु के निर्देशों का सावधानी से पालन करे और साधुओं के संग में रहे तो इन में से कुछ प्रतिक्रियाओं को अवश्य दूर रखा जा सकता है। लेकिन यदि तुम्हें किसी भी प्रतिक्रिया का अनुभव न हो और यदि तुम पाओ कि तुम्हारा आध्यात्मिक-जीवन प्रारम्भ से ही बाधारहित और सरल है तो बहुत सम्भव है तुम्हारी साधना में कुछ त्रुटि है। बहुत

सम्भव है कि तुम्हारी साधना तीव्र अथवा गहरी नहीं है। वह यन्त्रवत् चल रही है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि संघर्ष और उलझनें आध्यात्मिक लगन और तीव्रता के असन्दिग्ध लक्षण हैं। गैर आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रायः आध्यात्मिक-प्रयास के साथ जुड़ जाती हैं। लेकिन छिलका दाने से शीघ्र अलग हो जाता है। सच्ची आन्तरिक आध्यात्मिक लगन वाले लोग विजयी और सफल होने तक संघर्ष करते रहते हैं। जिन लोगों ने अपनी आध्यात्मिक-पिपासा को कृत्रिम रूप से उत्तेजित किया है, वे संघर्ष के प्रारम्भिक दिखावे के बाद रूक जाते हैं अथवा मानसिक रोग-ग्रस्त भी हो जाते हैं।

साधक के प्रति सहानुभूति का व्यवहार :

साधना के इस काल में साधक के प्रति अत्यन्त सहृदयता तथा गहरी समझदारी के साथ व्यवहार करना चाहिए क्योंकि यदि देखा जाए तो उसकी अस्थिरता उसकी गलती नहीं है, बल्कि उसकी साधना का परिणाम है। इसके लिए उसकी आलोचना करने से कोई लाभ नहीं होगा। हमें उसके बारे में निर्णय नहीं लेना चाहिए। इन अवसरों से गुजरने के बाद वह मानवों में श्रेष्ठ मानव बनकर उभरेगा। यह समय हम सभी के जीवन में आएगा, लेकिन विभिन्न अवस्थाओं में। और यह सौभाग्य है, क्यों कि ये अनुभव हमें दूसरों की सहायता करने में उपयोगी होते हैं। स्वांमी विवेकानन्द ने एक बार कहा था – "मैं अपने गुरुदेव के साथ छह वर्षों तक झगड़ा था; फलस्वरूप मैं साधन-पथ का प्रत्येक इञ्च जानता हूँ।"[३] उनके तीव्र आध्यात्मिक संघर्ष ने उन्हें उन सभी कठिनाईयों का ज्ञान प्रदान किया, जिन्हें साधक को लाँघना पड़ता है। इस ज्ञान के फलस्वरूप वे हजारों लोगों को मार्गदर्शन प्रदान कर सके।

बहुत से साधक यह सोचकर घबरा जाते है कि यदि आध्यात्मिक जीवन ऐसी गम्भीर अस्थिरता पैदा करता है तो यह बहुत हानिकारक और खतरनाक होगा। इस में कोई सन्देह नहीं कि लापरवाह लोगों के लिए यह खतरनाक हो सकता है। जो लोग भारी कीमत चुकाना नहीं चाहते, उन्हें आध्यात्मिक जीवन के लिएं प्रयत्न नहीं करना चाहिएं। सहजात प्रवृत्तियों और अपवित्र स्मृतियों के कारागार की दीवारों को तोड़कर आध्यात्मिक चेतना के खुले प्रकाश में आने का साहसिक कार्य केवल बलवानों के लिए ही सुरक्षित है। इस बीच साधक को अपनी इच्छानुसार संगत में, ऐसे लोगों के संग में विचरण नहीं करने दिया जा सकता जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन यापन नहीं करते। वह अभी भी आध्यात्मिक बाल्य और किशोर अवस्था में है और बड़ों की तरह बिना किसी वास्तविक भय के खतरा मोल नहीं ले सकता। यह न सोचो कि तुम अभी से आध्यात्मिक-दृष्टि से वयस्क हो गये हो। तुम में से अधिकांश नहीं हुए हैं। अपने आप के विषय में अत्यधिक निश्चिन्त मत होओ।

आध्यात्मिक-जीवन कृत्रिम धरातल पर नहीं जिया जा सकता। शारीरिक व्यायाम की तरह साधना नहीं की जा सकती। हमारा जीवन सदा एक स्वाभाविक जीवन होना चाहिए,

३. भगिनी निवेदिताकृत 'द मास्टर एज आई सा हिम', (उद्बोधन, कलकत्ता, १९७२), पृ. १२

लेकिन स्वाभाविक जीवन का अर्थ है – हमारी निम्न पशु-प्रकृति के नहीं, बल्कि उच्च स्वभाव के अनुरूप जिया गया जीवन। सांसारिक लोग स्वाभाविक-जीवन से जो समझते हैं, उसका यह बिल्कुल विपरीत है। सच्चा आध्यात्मिक-जीवन आत्म-पिपासा का परिणाम है। यह उच्चतर स्तर पर आरोहण करने की तीव्र इच्छा का परिणाम है।

तुम सभी को कभी न कभी इन प्रतिक्रियाओं से गुजरना होगा। उनके उपस्थित होने पर भयभीत न होओ, किन्तु सजग रहो। प्रतिक्रियाओं का भिन्न रूप हो सकता है, लेकिन यदि तीव्रता से साधना की जाए तो उन्हें रोका नहीं जा सकता। और सदा अपने साथी साधक की सहायता करने का प्रयत्न करो जो अस्थिरता के दौर से गुजर रहा है। सदा उसके प्रति दयालु और सहृदय होओ।

जब भगवान् ने स्वयं साधक का भार लिया है तो वह उसे इन सभी परीक्षाओं से निकलने देता है। तुम चाहो या न चाहो, भगवान् इन महान् संघर्षों को तुम पर थोपेंगें। अत: उनका स्वागत करो और अपना सबक सीखो। इन संघर्षों का सामना करना और उन पर विजय पाना उस मन की शान्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है जो तुम्हें छोड़कर चली जायगी।

आध्यात्मिक जीवन को तीव्रतर बनाया जा सकता है, साधना की गति को बढ़ाया जा सकता है, आध्यात्मिक पिपासा में वृद्धि की जा सकती है और इस प्रकार आध्यात्मिक संघर्ष का काल कम किया जा सकता है। लेकिन तुम्हें इन सभी प्रतिक्रियाओं और कष्टकर मानसिक परिवर्तनों से होकर गुजरना ही होगा, पर तुम बहुत लम्बे समय के बदले उनसे काफी जल्दी गुजर सकते हो। जितनी तीव्र साधना होगी, प्रतिक्रियाएँ भी उतनी ही अधिक होंगी, लेकिन उनका समय भी कम होगा। स्वामी अभेदानन्द कहा करते थे कि उन्हें अपने जीवन में दस जन्मों के अनुभव से गुजरना पड़ा था।

सभी योगी अपनी साधना को तीव्र करके आध्यात्मिक संघर्ष का समय कम करने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें महान् प्रतिक्रियाओं, बाधाओं और प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है, लेकिन उन में ऐसी महान् शक्ति और लगन होती है कि वे इन अग्नि-परीक्षाओं से सहर्ष गुजरते हैं जबकि सांसारिक लोग आध्यात्मिक जीवन में कछुए की चाल से चलने का एक दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाते हैं तथा उन्हें पढ़ने और बोलने से ही सन्तोष करना पड़ता है।

चेतना के उच्च-केन्द्र को पकड़े रहो

ये सारी आध्यात्मिक कठिनाईयाँ तुम्हें तभी तक कष्ट देंगी, जब तक तुम अपनी आध्यात्मिक चेतना के केन्द्र को न खोज लोगे। ज्योंही तुम उसे पा लोगे, त्योंही लड़ाई में आधे से अधिक विजय हो जायेगी। तब तुम अपने मार्ग के सम्बन्ध में निश्चित हो जाते हो तथा बहुत सी अनिश्चितता और तनाव दूर हो जाता है। इस के बाद संघर्ष सूक्ष्मतर हो जाते हैं, लेकिन वे कम भयानक होते हैं और उनका बाह्य प्रकाश कम होता है। उसके बाद तुम अधिक सन्तुलन के साथ अधिक शक्तिपूर्वक आन्तरिक संघर्ष कर पाते हो। प्रत्येक सच्चे

संघर्ष का पुरस्कार होता है।

परिस्थितियाँ चाहे कुछ भी हों, सदा अपनी चेतना के केन्द्र को पकड़े रहो। जब कोई समस्या पैदा हो तो अपने चेतना के केन्द्र पर चले जाओ और जब तक समस्या दूर न हो जाय, तब तक वहाँ बने रहो। जब किसी भी प्रकार का प्रलोभन आए तो वहाँ चले जाओ। जब कोई अशुभ प्रेरणा रूपायित होने का प्रयत्न करे तो वहाँ चले जाओ। बाह्य-जगत् से तुम्हें आघात प्राप्त हो तो वहाँ चले जाओ। उसे सदा स्थिर रखो, उसे अपना निजी घर बना लो। चेतना के केन्द्र को उच्चतर-स्तर पर बदले बिना मनोनिग्रह एक असम्भव कार्य है। और दीर्घकाल तक निरन्तर तीव्रतापूर्वक जप, ध्यान और साधना किये बिना तुम चेतना के केन्द्र को सफलतापूर्वक परिवर्तित करके उच्च स्थान पर स्थिर तथा चिन्तन प्रवाह को परिवर्तित कर उच्चतर मार्गों में प्रवाहित नहीं कर सकते।

कई बार पुरानी आदतों के कारण हमारी चेतना का केन्द्र कुछ समय तक उच्च स्तर पर रहने के बाद निम्नगामी हो जाता है। तब उस केन्द्र-विशेष से सम्बन्धित अनेक प्रकार के विचार उठने लगते हैं। अत: तुम्हें ऐसी परिस्थिति का सामना करने के लिए अपने को तैयार रखना चाहिए। सदा स्वयं को देह और मन से भिन्न एक स्वप्रकाश आत्म-सत्ता समझो। अपने नियमित ध्यान के बाद उपनिषदों अथवा शंकराचार्य के अद्वैत परक स्तोत्रों में से कुछ निर्दिष्ट अंशों का नियमित पाठ करो। आत्मा के वास्तविकस्वरूप विषयक इन अंशों का पाठ करते समय इन भावों को अपने मन में गहरे बिठाने का प्रयत्न करो।

साधना की सकारात्मक तथा नकारात्मक पद्धति का सम्मिलित प्रयोग करो। देह तथा उससे सम्बन्धित सभी वस्तुओं का निषेध करो, लेकिन अपने समग्र मन प्राण से, बलपूर्वक आत्मा को घोषित करो, प्रतिष्ठित करो। अनेक प्रारम्भिक साधकों को इससे सिर दर्द हो जाता है। लेकिन और भी बहुत-सी बातें हैं जो सिरदर्द पैदा करती हैं। परिवर्तन के तौर पर यह क्यों नहीं?

पथिक की प्रगति :

हमारे जीवन की समग्र दिशा परिवर्तित करनी होगी। हमने जो कुछ किया है, उसे मिटाना होगा। हमने मानो अपने मित्रों को बाहर निकाल दिया है और शत्रुओं को भीतर आने तथा अपने साथ रहने दिया है। अत: अपने पूर्व के बुरे विचारों और कर्मों को प्रभावहीन बनाने के लिए विपरीत विचारों और विपरीत कार्यों की, साधना के समय ही नहीं अपितु, अन्य समय भी आवश्यकता है। यह एक कठिन और दीर्घकालीन कार्य है, जिसके लिए महान् शौर्य एवं धैर्य की आवश्यकता है। आध्यात्मिक जीवन फूलों की सेज नहीं हैं, बल्कि सचमुच एक दुस्साहसिक और कठिन कार्य है।

हमारा मानव व्यक्तित्व शुभ और अशुभ, दोनों से निर्मित हुआ है। अशुभ को धीरे-धीरे दूर करना और शुभ को प्रोत्साहन देना चाहिए। आत्मा के विकास-क्रम में शुभ और

अशुभ दोनों उपस्थित होते हैं। साधक को वास्तविकता का सामना कर जीवन की उच्चतर अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करना चाहिए। हमें अपनी त्रुटियों से भी लाभ उठाना चाहिए और उनकी अत्यधिक चिन्ता करने के बदले स्वयं को बलवान् बनाना चाहिए तथा यथाशक्ति उनकी पुनरावृत्ति से बचना चाहिए। यदि हम फिसल जाएँ तो इससे हमें विनम्र तथा परमात्मा पर और अधिक निर्भर होना चाहिए जो हमारा आश्रय तथा हमारी शक्ति का वास्तविक स्रोत है।

पूर्व अथवा पश्चिम में, सभी को संघर्षों से गुजरना पड़ता है। पूर्व में आध्यात्मिक तथा नैतिक-परम्परा अक्षुण्ण रखी गई है। इससे कुछ साधकों को सहायता मिलती अवश्य है, लेकिन बहुत से लोग ऐसे हैं जो उससे बिल्कुल लाभान्वित नहीं होते। अत: ऐसी शिकायत करने से कोई फायदा नहीं कि पश्चिम में आध्यात्मिक जीवन यापन करना बहुत कठिन है। जो कठिन है, वह है तुम्हारा स्वभाव और तुम्हें किसी न किसी प्रकार उसे बदलना ही होगा।

आत्मा के विकास के क्रम में जन्मजात अच्छाई संघर्षयुक्त सचेतन अच्छाई के स्तर से गुजरती है और बाद में निर्द्वन्द्व स्वाभाविक अच्छाई में पर्यवसित हो जाती है। अत: सचेतन संघर्ष हमारे विकास की एक सीढ़ी है तथा उसका अर्थ यह नहीं है कि उससे हमारी हानि होती है। लेकिन इस कारण सभी प्रकार के पतनों या स्खलनों को उचित नहीं ठहराया जा सकता।

नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में आंशिक सफलता से हमें अधिकाधिक सफलता के लिए प्रेरणा मिलती है। लेकिन इतने मात्र से हमें यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि हमने पूर्णता प्राप्त कर ली है। इस का अर्थ यह है कि निम्न प्रवृत्तियों और स्वभाव के नियन्त्रण के द्वारा भले ही हमने स्वयं को शुद्ध करने में कुछ प्रगति की है, परन्तु बहुत सी बुराईयाँ और अशुभ प्रवृत्तियाँ अभी भी बची हुई हैं तथा उनका नियन्त्रण और अन्ततोगत्वा पूर्ण रूपेण विसर्जन अभी बचा हुआ है।

अपनी नैतिक और आध्यात्मिक साधना के पूरे समय हमें अपनी प्रसुप्त क्षमताओं में, लक्ष्य के निकट से निकटतर बढ़ने की क्षमता में चिरस्थायी विश्वास होना चाहिए। लेकिन जब तक वह हमारे जीवन में पूरी तरह से रूपायित न हो जाए, जब तक वह हमारे विचारों और क्रियाओं में सम्पूर्ण परिवर्तन न ला दे, तब तक हमें प्रसुप्त क्षमता को वास्तविक कभी नहीं समझना चाहिए।

आध्यात्मिक अनुभूति के स्वप्न देखना पर्याप्त नहीं है। हम बहुत-सा धन पाने का स्वप्न देख सकते हैं, लेकिन सदा याद रखो कि स्वप्न में प्राप्त धन से वास्तविक जगत् में भोजन खरीद कर भूख मिटाना सम्भव नहीं है।

अगर हम हवा का वपन करेंगे तो घूर्णिवात काटना होगा। अगर हम व्यर्थ की बातों को मन में प्रवेश देंगे तो वे बढ़ चढ़कर प्रकट होंगी। सभी दमन किए गए घूर्णिवात प्रकट होंगे। मन में छिपे सभी बुरे चित्र आगे या पीछे विकसित होंगे। हमें ''पशु का सामना'' करना

ही होगा।[४] वस्तुस्थिति को उसके वास्तविक रूप में देखना होगा और तब सभी में परमात्मा का दर्शन करना होगा। परमात्मा में माया का यह सारा खेल हो रहा है, जिससे वे हमारी दृष्टि से पूरी तरह ओझल हो गये हैं। हमें माया के आर-पार देखना ही होगा। हमारी साधना, कर्तव्य पालन भी जिसका अंग है, हमें एक प्रकार के मानसिक एक्स-रे के विकास में सहायता करती है, जिसके द्वारा हम वस्तुओं के प्रातिभासिक स्वरूप को तथा दृश्य-जगत् के रूप में प्रतीत होनेवाले सत्य को देखने में समर्थ होते हैं।

यह एक कठिन, लम्बा संघर्ष है जो अन्तहीन प्रतीत होता है। हम जितनी प्रगति करते हैं, संघर्ष उतना ही सूक्ष्म और कठिन होता जाता है। और इस दौरान किये गये आत्म-विश्लेषण से बहुत-सी वीभत्स बातें प्रकट होती हैं – ऐसी बातें जिन्हें हम सामान्यत: बड़े शोभनीय नाम देते हैं। हमारे तथाकथित नि:स्वार्थ सम्बन्ध तथा मानवी भावनाएँ और मनोवृत्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में हमारे निम्न-स्वभाव पर ही आधारित होती हैं। यहाँ तक कि हमारा भगवत्प्रेम, देवमानव के प्रति भक्ति तथा सहयोगी भक्तों के प्रति स्नेह बहुत मात्रा में स्वार्थ-मूलक होते हैं। लेकिन इन सब के मूल में एक ईश्वरीय तत्त्व सदा विद्यमान रहता है जो बहुत-सी ईश्वरेतर बातों के साथ धुल-मिल गया है। स्वर्ण को किट और मैल से अलग करना होगा। आध्यात्मिक-जीवन का यही लक्ष्य है।

हमारे मनोभावों के विभिन्न पक्षों का तथा इन मनोभावों के मन तथा चेतना के केन्द्र पर प्रभाव का अध्ययन करके हम प्राय: उनका वास्तविक स्वरूप तथा मूल्य जान सकते हैं। उच्चतर केन्द्रों से सम्बन्धित भावनाएँ निम्न स्तर के विचारों के साथ संयुक्त हो सकती हैं तथा निकृष्टतम प्रकार की वासना के रूप में दूषित हो सकती हैं। अत: हमें लोगों के साथ मिलने-जुलने में सदा सावधान रहना चाहिए। और जैसा कि तुम जानते हो, स्त्री-पुरुष सदा जैसे दिखते हैं, वैसे नहीं होते। हम जितनी ही अधिक सूक्ष्मता के साथ अपना तथा दूसरों का अध्ययन करते हैं, उतना ही इस सत्य का अनुभव करते हैं – कभी कभी इससे हमें दु:ख भी होता है।

---

४. इस कथन के पीछे एक कथा है। भारत में परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते हुए स्वामी विवेकानन्द एक दिन बनारस में दुर्गा मन्दिर से लौट रहे थे। अचानक बन्दरों के एक झुण्ड ने उनका पीछा किया। यह सोचकर कि वे उन्हें हानि पहुँचाएँगे, स्वामीजी भागने लगे। लेकिन बन्दर पीछा करते हुए उनके निकट आ गए। अचानक उन्हें एक संन्यासी का सम्बोधन सुनाई दिया : "रूको, सदा पशुओं का सामना करो।" स्वामीजी निर्भीक होकर पीछे मुड़े। उन्हें पलटकर खड़ा देखकर बन्दर भाग गए। वर्षों बाद न्यूयार्क में एक भाषण में स्वामीजी ने इस घटना का उल्लेख करते हुए इस कहानी की शिक्षा बताई थी : "समस्त जीवन में हमको यह शिक्षा लेनी होगी –जो कुछ भी भयानक है, उसका सामना करना पड़ेगा, साहसपूर्वक उसके सामने खड़ा होना पड़ेगा। जैसे बन्दरों के सामने से न भागकर उनका सामना करने से वे भाग गये थे, उसी प्रकार हमारे जीवन में जो कुछ कष्टप्रद बातें हैं, उनका सामना करने पर ही वे भाग जाती हैं।" - विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खण्ड, (द्वितीय संस्करण, १९७२), पृ. २९८

इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान रखो। अपना मूल्यांकन करते समय हमें अपने श्रेष्ठतम नहीं, बल्कि अपने दुर्बलतम पक्ष को सदा मापदण्ड बनाना चाहिए। जिस प्रकार एक जंजीर की ताकत उसकी दुर्बलतम कड़ी पर निर्भर करती है, उसी तरह हमारी दुर्बलता हमारी आध्यात्मिक प्रगति, हमारे सुख और दु:ख का निर्धारण करती है। हमें अपने श्रेष्ठ गुणों के बारे में अत्यधिक गौरवान्वित अथवा अति विश्वस्त नहीं होना चाहिए। हमारी बहुत-सी समस्याएँ इसी कारण पैदा होती हैं।

अनिश्चितता की घड़ी से गुजरते हुए भी हमें समय का श्रेष्ठतम सदुपयोग करना चाहिए। जब अशुभ की शक्ति बहुत अधिक हो तो उसके कुछ मात्रा में क्षीण होने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यह जानते हुए कि शुभ दिन आनेवाले हैं, हमें अपना स्वधर्म तथा साधना करते रहना चाहिए। हमें हम पर वर्षित हुई भगवत्कृपा का पूरा लाभ उठाना चाहिए तथा जीवन में कुछ स्थायी और ठोस उपलब्धि करनी चाहिए, जिससे जब कभी ऐसा लगे कि हम कृपा से कुछ समय के लिए वञ्चित हो गए हैं, तब हम उसे पकड़कर रह सकें। प्रातिभासिक-जगत् में शान्ति और सुरक्षा मत खोजो। वह नित्य परिवर्तनशील है। यदि तुम उसमें सुख खोजोगे तो तुम दु:ख से दूर नहीं रह सकोगे।

वस्तुत: कोरी भावनाओं के स्तर पर कोई सुरक्षा सम्भव नहीं है, भले ही वे आत्मा के विकास के लिए कितनी ही आवश्यक क्यों न हों। हमारी भावनाओं को भगवत् चेतना पर आधारित और उस के साथ जुड़ी होना चाहिए। तभी हम सच्ची स्थिरता प्राप्त करते हैं और भय-मुक्त हो सकते हैं। अवश्य हम इस आदर्श को धीरे-धीरे अनेक असफलताओं और पराजयों से गुजरते हुए ही प्राप्त कर सकते हैं।

आध्यात्मिक संघर्षों और प्रतिक्रियाओं का सामना कैसे करें?

हम सभी को उतार-चढ़ाव, उत्थान-पतन से गुजरना पड़ता है। इन परिवर्तनों से हमें उच्च से उच्चतर आरोहण करते हुए गुणातीत अवस्था में परमात्मा की प्राप्ति की आवश्यकता को भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

यदि साधना में उत्साह का अनुभव न भी होवे तो भी उसे नियमित रूप से, बिना व्यवधान के लगनपूर्वक करते जाओ। साधना को बीच में बन्द करने से समस्या सुलझती नहीं। साधना में व्यवधान प्रगति को केवल अवरुद्ध ही करते हैं। तुम्हारा मनोभाव अच्छा हो या न हो, प्रतिदिन प्रात:काल और पुन: सायंकाल, एक घण्टा ध्यान और प्रार्थना में बिताओ। तुम्हारा आध्यात्मिक प्रवाह सदा बना रहना चाहिए। इच्छा शक्ति की सहायता से इसे बनाये रखा जा सकता है, यही नहीं – इसे अवश्य बनाए रखना चाहिए। साधक को प्रतिरोध और अनुरोध करना चाहिए : कुछ समय के लिए साधना बन्द करने की उसकी आन्तरिक प्रेरणा का प्रतिरोध करना चाहिए और उसके नैरन्तर्य को बनाए रखने का अनुरोध करना चाहिए। प्रतिक्रियाएँ और बाधाएँ हमारी इच्छा शक्ति के परीक्षक के रूप में आती हैं। इन पर विजय

प्राप्त करने से हमें महान् मानसिक शक्ति प्राप्त होती है।

हमें भगवत्कृपा प्राप्त है, भले ही हम उसका अनुभव न करें। हमें परमात्मा से हमारे प्रयासों और संघर्षों में संरक्षण और मार्गदर्शन के लिए तथा निकट से निकटतर ले जाने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना एक महत्त्वपूर्ण साधन है। जब सही तरीके से ध्यान करना सम्भव न हो तो प्रार्थना की जा सकती है। इससे महान् आन्तरिक सान्त्वना प्राप्त होती है और हमारी कठिनाईयाँ शीघ्र दूर हो जाती हैं। छोटी-मोटी गलतियों और स्खलनों की चिन्ता किए बिना साधक को परमात्मा को अपने जीवन का केन्द्र बनाकर आगे बढ़ते रहना चाहिए। ऐसे निष्ठावान् साधकों के लिए असफलताएँ सफलता की सीढ़ियाँ बन जाती हैं। वे बहुत सी परीक्षाओं से गुजरते हुए अन्त में विजयश्री अर्जित करते हैं।

हमें परमात्मा में अपने विश्वास की भी वृद्धि करनी चाहिए जो, जैसा कि श्रीरामकृष्ण उचित ही कहा करते थे, हमारी ओर दस कदम आता है, यदि हम उसकी ओर एक कदम अग्रसर हों। माँ बच्चों को खेलने देती है, लेकिन जब बच्चा खेल से ऊब कर रोने लगता है और माँ के पास आने लगता है, तो उसे बच्चे की ओर दौड़कर जाना पड़ता है।[५] भगवान के भक्तों का भी यही हाल है जो अपने दुर्बल मानवी उपायों से भगवान् की ओर जाना चाहते हैं।

कभी तुम्हें निराशा आ सकती है। यह अपरिहार्य है। ऐसे अवसरों पर परमात्मा के साथ आन्तरिक सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करो और निराशा के भाव के स्थान पर उच्च भाव आ जाएगा। सदा परमात्मा के साथ आन्तरिक सम्बन्ध बनाए रखने का भरसक प्रयत्न करो। मनोभावों में स्वाभाविक उतार-चढ़ाव हो सकते हैं, लेकिन यदि परमात्मा के संस्पर्श में रहने का प्रयत्न किया जाए तो कुछ उच्च मनोभाव हमारे साथ सदा बना रहेगा। यदि कभी वह विलुप्त होता प्रतीत होवे तो भी चिन्ता मत करो। शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे स्वयं को चेतना के उच्च स्तर पर उठाओ तथा सम्पर्क पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करो और सब कुछ ठीक हो जाएगा।

कभी-कभी अचेतन और अवचेतन के राज्य में छुपे पड़े संस्कारों के चेतन-स्तर पर उभर आने पर मानसिक ही नहीं, बल्कि शारीरिक विक्षेप भी पैदा हो सकते हैं। यह बहुत कष्ट और परेशानी पैदा करता है। लेकिन हमें सन्तुलन नहीं खोना चाहिए। हमें परिस्थिति जैसी है, उसे उसी रूप में साक्षी भाव अपनाते हुए, देखना चाहिए। हमें उसमें परमात्मा को देखने का प्रयत्न करना चाहिए; उस परम चिरन्तन माध्यम को अनुभव करने का प्रयत्न करना चाहिए जिसमें सभी संवेदन, सभी स्पन्दन एवं सभी विचार अभिव्यक्त हो रहे हैं। और तब परमात्मा मुख्य रूप से सत्य हो जाते हैं और सभी रूप छाया की तरह प्रतीत होने लगते हैं तथा अपना आकर्षण और मनोहरता खो देते हैं। ऐसा होने पर शारीरिक और मानसिक

५. श्रीरामकृष्णवचनामृत

सन्तुलन पुनः स्थापित हो जाता है। यदि तुम पाओ कि तुम्हारा मन धूमिल हो रहा है तो प्रभु से प्रार्थना और उनका ध्यान करो, यह अनुभव करने का प्रयत्न करो कि तुम्हारी आत्मा, तुम्हारी वास्तविक आत्मा एक दिव्य स्फुलिंग के समान है जो अनन्त ज्योति का अंश है; और तब उच्चतर मनोभाव पुनः लौट आएगा।

हमें सभी परिस्थितियों में परमात्मा को पकड़े रहना चाहिए। अवसाद की मनःस्थिति में जप बहुत सहायक होता है। भगवान् के नाम का इस तरह उच्चारण करने से कि उसे स्वयं सुना जा सके, बहुत राहत मिलती है। आन्तरिक शून्यता और चञ्चलता के समय तुम उसे अपने आप गुनगुना सकते हो तथा परमात्मा का चिन्तन करने का भी प्रयत्न कर सकते हो। जब साक्षात्कार का आनन्द उपलब्ध नहीं है तब भगवान् के, अपने प्रेमास्पद के, आत्मा की भी परम आत्मा के, चिन्तन के आनन्द से ही सन्तोष करना होगा।

स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों स्तरों के संघर्ष के दौरान हमें यथासम्भव ईश्वर चिन्तन करना तथा इस तरह अपवित्र विचारों को दूर करना चाहिए। लेकिन कभी-कभी हमारी कल्पना दूषित हो जाती है तथा अपवित्र चित्र हमारी इच्छा के विरुद्ध बहुत स्पष्ट हो उठते हैं। ऐसी स्थिति में भगवन्नाम के मन्त्र का जप तथा भगवान के रूप की कल्पना का प्रयास करते हुए हमें अशुभ विचारों के साक्षी या द्रष्टा का स्थान लेकर उन विचारों के चंगुल से अपने को निकालना चाहिए। विस्मृति के क्षणों में हमारा अशुभ विचारों के साथ तादात्म्य हो सकता है तथा वस्तुतः कोई बुरा कार्य न करते हुए भी हम उनसे शारीरिक और मानसिक रूप से प्रभावित हो सकते हैं। लेकिन अधिकाधिक सतर्क होने पर तथा तादात्म्य-राहित्य का अभ्यास करने पर हम उनके प्रकट होने पर भी उन्हें अपने से दूर रख सकते हैं।

जब हमारा 'व्यक्तिगत' मनोभाव हो तथा हम किसी मानवीय व्यक्तित्व के सम्पर्क में आने के इच्छुक हों तब दैवी व्यक्तित्व हमें बहुत सम्बल प्रदान करता है। जब सागर (जो बुदबुदे और लहर दोनों से अधिक सत्य है) काल्पनिक प्रतीत होता है तब बुदबुदा लहर से महान् सम्बल प्राप्त करता है। लहर के संस्पर्श के माध्यम से बुदबुदा पुनः सागर से अपने सम्बन्ध के प्रति सजग हो जाता है।

लेकिन जब हमारा 'अवैयक्तिक' मनोभाव हो अथवा अपने इष्ट के साथ सम्पर्क स्थापित करने में कठिनाई होती हो तो हम साक्षी-भाव का अभ्यास कर सकते हैं।

जीवन की कठिनाईयों से भागने वाले अपने को दुर्बल बनाते हैं और आध्यात्मिक प्रगति के अधिकारी नहीं रहते। जो लोग भगवान में भरोसा रखकर अपनी कठिनाईयों का सामना करने का निर्णय करते हैं, वे महान् आन्तरिक शक्ति का अनुभव करते हैं। यदि तुम्हारा भगवत्कृपा-प्रवाह के साथ सीधा सम्पर्क हो गया है तथा तुमने भक्ति के पाल भी खोल दिएं हैं तो सबके जीवन में अनिवार्य रूप से विद्यमान तूफानों और बवण्डरों के बीच से भी भगवत्कृपा की वायु तुम्हें आगे बढ़ाती रहेगी। यह संसार आखिर एक प्रशिक्षण-स्थल ही तो है। वह एक आनन्द-वाटिका नहीं है, जैसी कि हम गलत धारणा कर बैठते हैं।

युद्ध के विभिन्न हथियार :

एक वास्तविक अन्तर्मुखी मन हमारे भीतर हो रही सारी घटनाओं की हमें सूचना देता है। हमें पूर्ण सजग तथा हमारे मन में उठ रहे अथवा उठने के इच्छुक प्रत्येक विचार के प्रति पूर्ण सतर्क होना चाहिए। मन को नियन्त्रित किए बिना हम प्रगति नहीं कर सकते और हमारे मन में हो रही गतिविधियों के प्रति जागरूक हुए बिना हम उसे कभी नियन्त्रित नहीं कर सकते। अत: यह आध्यात्मिक-जीवन के सबसे पहले कदमों में से एक है।

अभी हमारे मन का एक भाग विषय-भोग और वैषयिक जीवन चाहता है, जब कि मन का दूसरा भाग उनका और अधिक इच्छुक नहीं है। तुम्हें उन सभी बातों के प्रति वितृष्णा पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिए जो इन्द्रियों को आकर्षित करती हों अथवा जो पूर्व सम्बन्धों और स्मृतियों को जगाती हो। समग्र सांसारिक सुखों के प्रति सच्चे वैराग्य के उदय होते ही सारी समस्याएँ सुलझ जाती हैं। तब एक ऐसी वस्तु का आस्वादन प्राप्त होता है जो विषयों के तथाकथित सुख से – जो वस्तुत: अत्यन्त तुच्छ हैं – मधुर है। यदि तुम्हें ऐसा लगे कि प्रलोभन किसी न किसी रूप में तुम्हें विचलित करने का प्रयत्न कर रहा है तो उन अशुभ विचारों के बुरे परिणामों का अथवा किसी ऐसे महापुरुष का चिन्तन करो जो त्याग और पवित्रता की जीवन्त मूर्ति हो। स्वस्थ अभिमान कई बार हमारे आध्यात्मिक प्रयासों में सहायक होता है : "मैं भगवान का भक्त हूँ; मैं आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहता हूँ, अत: ऐसी मानसिक दुर्बलता मुझे शोभा नहीं देती।" अपनी इच्छाओं और इन्द्रिय-प्रेरणाओं का शिकार होना सदा ही दुर्बलता और भीरूता का द्योतक है। यदि तुम अपने आप पर नियन्त्रण न कर सको तो किसी साथी साधक के पास चले जाओ, मन को दूसरी दिशा में लगाओ और उसके साथ किसी शुभ विषय पर बातचीत करो। अकेले न रहो और इच्छित वस्तु का चिन्तन मत करते रहो। इससे समस्या और जटिल हो जाती है और उसके बाद तुम्हारा पैर अवश्य फिसल जाएगा और तुम दुःख भोगोगे। यदि सम्भव हो तो ऐसी स्थिति में अपने आपको कुछ उदात्त साहित्य पढ़ने और अध्ययन करने के लिए बाध्य करो, भले ही मन ऐसा करना चाहे या नहीं।

प्रारम्भ में ध्यान, अगर ठीक से किया जाए तो समग्र अवचेतन-मन को मथ देता है और वहाँ छुपी बहुत सी वीभत्स वस्तुएँ अनायास रूप से उभर आती हैं। अत: साधक को कभी भयभीत नहीं होना चाहिए। अन्तर्मुखी मन अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है और ऐसे अनुभव जिनके बारे में हमने सोचा था कि उनका मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, वे मन पर गहरे दाग और रेखाएँ डालते दिखाई देते हैं। ऐसे सभी संस्कारों को पूरी तरह से साफ करना होगा। और ऐसा करने के लिए उनका साहसपूर्वक सामना करना होगा।

इसके साथ ही अपने नैतिक ढाँचे को सुदृढ़ करना होगा। साक्षी-भाव का विकास करने का प्रयत्न करो। अपनी वासनाओं और इच्छाओं तथा बाह्य-घटनाओं के साथ अपना तादात्म्य समाप्त कर दो। यदि तुम्हारा मन उन्मत्त की तरह भटकता रहे तो उसे देखते रहो और अपने को उससे विलग करने का प्रयत्न करो। तुम अपनी सभी मानसिक अवस्थाओं

के नित्य साक्षी हो। अपने विचारों के साथ कभी तादात्म्य मत करो। प्रारम्भिक साधक के लिए यह बहुत कठिन कदम है, लेकिन एक बार बढ़ाने के बाद सब कुछ अधिकाधिक स्वाभाविक और तनाव रहित हो जाता है।

जप बहुत सहायक है और दिव्य महापुरुष का ध्यान भी। साकार, निराकार सर्वव्यापी परमात्मा का द्वार है। एक दैवा विग्रह से प्रार्थना करो तथा उसकी कल्पना करने का प्रयत्न करो। तव यदि कोई अवांछनीय आकार तुम्हारे मन में उठे तो इष्ट के रूप की सहायता से तुम उसे दूर कर सकोगे। उसे इष्ट के रूप में विलीन कर दो।

स्वयं को वेदान्त का एक जोरदार इन्जेक्शन देना न भूलो। यह बहुत प्रभावशाली होता है। सर्वप्रथम स्वयं की अव्यक्त दिव्यता का चिन्तन करो और उसके बाद अन्य सभी रूपों की – यहाँ तक कि उन रूपों की भी जो तुम्हारे लिए समस्या पैदा करते हैं – दिव्यता का चिन्तन करो। यदि हम स्वरूपत: शुद्ध और पवित्र हैं तो हमें इसे इसी जीवन में, केवल मानसिक रूप से ही नहीं बल्कि शारीरिक रूप से भी अभिव्यक्त करना चाहिए। सभी आध्यात्मिक संघर्षों की यही सच्ची कसौटी है। शारीरिक-और मानसिक, दोनों ही स्तरों पर अभिव्यक्ति होनी चाहिए। हमारी साधना को आदर्श और व्यवहार के बीच वाञ्छित सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक होना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है – महान् दृढ़ता और एकनिष्ठा। इनकी सहायता से ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।

तुम्हें किसी भी अवस्था में, परिवर्तित हो रहे मनोभावों अथवा अपने में उठ रहे बुरे विचारों के लिए अवसन्न या उदास नहीं होना चाहिए। यह स्वाभाविक है। अब, निरन्तर साधना द्वारा तुम्हें उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों को अपना बनाना है। हमें अतिचेतन को चेतन-स्तर पर लाना है; अनेक में एक का अनुभव करना है; शारीरिक और मानसिक-स्तर पर दैवी ज्ञान, पवित्रता और एकता को अभिव्यक्त करना है। भगवान् में विश्वास रखकर दृढ़तापूर्वक हम यदि आध्यात्मिक-पथ का अनुसरण करें तो यह केवल समय का प्रश्न है। स्वामी विवेकानन्द की उत्साहवर्धक लघु कविता को याद करो :

भले ही तुम्हारा सूर्य बादलों में ढक जाए,
आकाश उदास दिखाई दे,
फिर भी धैर्य धरो कुछ हे वीर हृदय
तुम्हारी विजय अवश्यम्भावी है।
शीत से पहले ही ग्रीष्म आ गया,
लहर का दबाव ही उसे उभारता है।
धूप-छाँह का खेल चलने दो
और अटल रहो, वीर बनो।[६]

□□□

६. विवेकानन्द साहित्य, दशम् खण्ड, (प्रथम संस्करण), पृ. १८८

अध्याय ३०

आध्यात्मिक अनुभूतियों की सत्यता

आधुनिक संशय :

जब हम आध्यात्मिक अनुभूति के बारे में सोचते हैं तो यह प्रश्न उठता है : "क्या ये अनुभूतियाँ सत्य हैं?" मैं न्यूयार्क के एक पादरी को जानता था। एक दिन जब उसने अपनी कन्या से किसी आध्यात्मिक-विषय के बारे में कहा तो उसने अचम्भित होकर पूछा – "पिताजी, क्या यह सत्य है या आप केवल उपदेश दे रहे है?" हम कई प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों के बारे में सुनते हैं और हमें सदा हैरानी होती है कि क्या ये सत्य हैं?

कुछ ऐसे संशयवादी होते हैं जो सभी बातों को तर्क द्वारा उड़ा देना चाहते हैं। ऐसे यथार्थवादी भी हैं जो यह मानते हैं कि ये सारी अनुभूतियाँ अत्यधिक उत्तेजित स्नायुओं के कारण होती हैं। विलियम जेम्स इनमें से कुछ को MEDICAL MATERIALISTS या आयुर्वैज्ञानिक भौतिकवादी कहा करते थे। इनमें से एक ने एक महान् साधक के बारे में कहा कि उसे इसलिए दर्शन होते थे क्योंकि उसमें यौन-विकार था; दूसरे की आध्यात्मिक-अनुभूतियाँ हिस्टीरिया रोग के कारण थीं। उसके अनुसार केवल एक मानसिक रोगग्रस्त व्यक्ति ही संसार की रीत से अपने को अलग करके चेतना के भिन्न-स्तर तक पहुँचना चाहता है।

जब श्रीरामकृष्ण कठोर साधना कर रहे थे तब बहुत से लोग उन्हें मनोविकार-ग्रस्त समझते थे। अपने अनेक गुरूओं में से एक, भैरवी ब्राह्मणी से मुलाकात होने पर उन्होंने लोगों की उनके सम्बन्ध में मान्यता के बारे में उनसे कहा। इसके उत्तर में ब्राह्मणी – जो स्वयं एक उन्नत साधिका थी – ने कहा, "सुनो, संसार में प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए पागल है। अन्तर केवल इतना है कि तुम भगवान् के लिए पागल हो। अन्य लोग सांसारिक वस्तुओं के लिए पागल हैं।"[१]

हिस्टीरियाग्रस्त रोगी और एक सच्चे साधक के बीच, जिसने एक नई दृष्टि, एक दिव्य-दृष्टि प्राप्त की है, बड़ा अन्तर है। प्रोफेसर विलियम जेम्स अपनी पुस्तक

---

१. देखिए श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग,

VARIETIES Of RELIGIOUS EXPERIENCE (वेराइटीज आफ रिलीजिअस एक्सपीरियन्स), में बताते हैं कि सच्ची धार्मिक अनुभूतियाँ हमारे सामान्य जीवन से गहरे चेतन धरातल से पैदा होती हैं। उनका कथन है कि योगाभ्यास के द्वारा अलौकिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जा सकती है।[२] योग हमारे चेतन मन का अतिचेतन के साथ संयोग करने में सहायक होता है। योगी स्थूल देह सम्बन्धित जीवन की बाधाओं का अतिक्रमण करना जानता है तथा वह एक ऐसी अवस्था में प्रवेश करता है जिसमें वह परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है।

वैज्ञानिकों का धार्मिक-आदर्शों के प्रति विरोध घट रहा है। ऐसे आधुनिक वैज्ञानिक हैं जो आध्यात्मिक-अनुभूतियों के एक स्तर को स्वीकार करने लगे हैं जिसका अंकन प्रयोगशाला की सामान्य पद्धति से नहीं किया जा सकता। बहुत से वैज्ञानिकों ने अनुभव मूलक विज्ञान की सीमाओं का अनुभव किया है तथा वे इन्द्रियातीत सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के उपायों की खोज में लगे हैं। विश्व के महान् अनुभूति सम्पन्न सन्तों की रचनाओं के प्रति नवीन रुचि पैदा हुई है। विश्व के धर्मों के अनुभूतिसम्पन्न साधकों की अनुभूतियाँ इतनी अधिक प्रामाणिक हैं कि उन्हें आसानी से मनोकल्पना कहकर नकारा नहीं जा सकता।

सदियों से प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों प्रदेशों में अनेक महान् ऋषि हो गए हैं। इनमें से कुछ को उच्चतम आध्यात्मिक आलोक प्राप्त हुआ था। परम्परागत धर्म कुछ प्रारम्भिक क्रिया अनुष्ठानों तक ही सीमित रहते हैं। ईसाई धर्म का प्रारम्भिक अनुष्ठान बपतिस्मा है। अब, बपतिस्मा की बहुत सी व्याख्याएँ हैं। एक सम्प्रदाय की मान्यता है कि जब तक व्यक्ति पानी में पूरा नहीं डूबे तब तक उसका त्राण नहीं हो सकता। दूसरा सम्प्रदाय मानता है कि पवित्र जल से कपाल पर क्रास का आकार बनाने से व्यक्ति को उतनी ही पवित्रता का बोध हो सकता है। अन्य दूसरे लोग आन्तरिक पवित्रता पर बल देते हैं और बाह्य बपतिस्मा की किञ्चित मात्र आवश्यकता अनुभव नहीं करते। चीन में एक बार एक ईसाई मिशनरी समागम हुआ जिसमें बाप्टिस्ट समुदाय का एक व्यक्ति बोला, उसके बाद मेथोडिस्ट और अन्त में एक अंग्रेज क्वेकर। एक चीनी ने दूसरे से पूछा, "इन में से प्रत्येक ईसाई हमें एक पृथक् सिद्धान्त बता रहा है। क्या तुम इनका अन्तर मुझे समझा सकते हो?" "मैं नहीं सोचता कि इनमें कोई अन्तर है" – उसके मित्र ने उत्तर दिया, "केवल किसी में बहुत सफाई है, दूसरे में कम सफाई और किसी में कोई सफाई नहीं है।"

धर्म के बाह्य लक्षणों के सामान्य भेदों को इतना अधिक महत्त्व देना धर्मान्धता है जिसने एक दूसरे के विरोधी नाना सम्प्रदायों की सृष्टि की है। सम्प्रदायों के बदले हमें सच्चे साधकों का अवलोकन करना चाहिए जिन्होंने साधना द्वारा चरम सत्य का साक्षात्कार किया

---

२. विलियम जेम्सकृत वेरायटीज आफ रिलीजियस एक्सपीरियन्स, (न्यूयार्क, माडर्न लायब्रेरी, रेण्डम हाउस), पृ. ७२, ३९१, ४१८, ४७५

है तथा उसे अपने जीवन में उतारा है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे :

किसी ने दूध के सम्बन्ध में सुना भर है, किसी ने दूध को देखा है और कुछ ने दूध को पिया है। वह, जिसने उसके बारे में सिर्फ सुना भर है, अज्ञानी है। वह, जिसने उसे देखा है, ज्ञानी है। किन्तु जिसने उसे पिया है, वह विशेष-ज्ञान (विज्ञान) रखता है, उसे उसका सर्वाङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान हुआ है। [३]

"महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?"

एक महाविद्यालयीन छात्र के रूप में नरेन्द्र ने – जो आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द हुआ – ईश्वर में विश्वास खो दिया था। वह अनेक धार्मिक नेताओं के पास गया और उनसे पूछा कि क्या उनमें से किसी ने ईश्वर को देखा है, उनका साक्षात्कार किया है? अन्त में भाग्य उन्हें महान् आधुनिक ऋषि और अवतार श्रीरामकृष्ण के निकट लाया। महाविद्यालय के इस युवा छात्र ने सन्त से सीधा प्रश्न किया, वह था, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" क्षण-भर भी हिचके विना तथा सत्य की शक्ति से गूँजते हुए प्रत्येक शब्द के साथ सन्त ने युवक को उत्तर दिया : "हाँ, मैंने उसे देखा है, 'उसी तरह जिस तरह मैं तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ, केवल इससे और अधिक स्पष्टतर रूप में।" नरेन्द्र के दूसरी बार आगमन पर श्रीरामकृष्ण ने महान् आध्यात्मिक क्षुधा की ज्वाला से व्याकुल और व्यग्र युवक को प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति का आस्वादन प्रदान करने का निश्चय किया। श्रीरामकृष्ण के रहस्यमय स्पर्श से शिष्य को तत्काल एक अद्भुत अनुभूति हुई; उसने देखा कि सभी वस्तुओं सहित वह कक्ष चारों ओर घूमता हुआ शून्य में विलीन हो रहा है जिसमें वह स्वयं भी विलीन होनेवाला है। ऐसे अनुभव से अनभिज्ञ होने के कारण वह चिल्ला उठा, "ओह! आप मुझे यह क्या कर रहे हैं, घर पर मेरे माता-पिता हैं।" श्रीरामकृष्ण मुस्कुराते हुए उसे तत्काल सामान्य चेतना के स्तर पर ले आए।[४] शीघ्र ही नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार साधना करने लगा और कालान्तर में उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति निर्विकल्प समाधि सहित असंख्य दर्शन और अनुभूतियाँ लाभ कर धन्य हुआ था। वर्षों बाद स्वामी विवेकानन्द के रूप में उसने अपने अनुयायियों से कहा था :

जिन्हें आत्मा की अनुभूति या ईश्वर-साक्षात्कार न हुआ हो, उन्हें यह कहने का क्या अधिकार है कि आत्मा या ईश्वर है? यदि ईश्वर है तो उसका साक्षात्कार करना होगा; यदि आत्मा नामक कोई चीज है तो उसकी उपलब्धि करनी होगी। अन्यथा विश्वास न करना ही भला। ढोंगी होने से स्पष्टवादी नास्तिक होना अच्छा है। एक ओर, आज के विद्वान् कहलाने वाले मनुष्यों के मन का भाव यह है कि धर्म, दर्शन और एक परम पुरुष का अनुसन्धान – यह सब निष्फल

---

३. श्रीरामकृष्णवचनामृत

४. ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स, लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९७४), पृ. ४७-४८

है और दूसरी ओर जो अर्धशिक्षित हैं, उनका मनोभाव ऐसा जान पड़ता है कि धर्म, दर्शन आदि की वास्तव में कोई बुनियाद नहीं; उनकी इतनी ही उपयोगिता है कि वे संसार के मंगल साधन की बलशाली प्रेरक शक्तियाँ हैं। यदि लोगों का ईश्वर की सत्ता में विश्वास रहेगा तो वे सत् और नीतिपरायणा बनेंगे और इसीलिए अच्छे नागरिक होंगे। जिनके ऐसे मनोभाव हैं, इसके लिए उन को दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि वे धर्म के सम्बन्ध में जो शिक्षा पाते हैं, वह केवल सारशून्य, अर्थहीन अनन्त शब्द समष्टि पर विश्वास-मात्र है। उन लोगों से शब्दों पर विश्वास करते रहने के लिए कहा जाता है; क्या ऐसा कोई कभी कर सकता है? यदि मनुष्य द्वारा यह सम्भव होता तो मानव प्रकृति पर मेरी तिल-मात्र श्रद्धा नहीं रहती। मनुष्य चाहता है सत्य, वह सत्य का स्वयं अनुभव करना चाहता है; और जब वह सत्य की धारणा कर लेता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, हृदय के अन्तरतम-प्रदेश में उसका अनुभव कर लेता है, वेद कहते हैं, "तभी उसके सारे सन्देह दूर होते हैं, सारा तमोजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है और सारी वक्रता सीधी हो जाती है।" "हे अमृत के पुत्रो! हे दिव्य धाम के निवासियो, सुनो – मैंने अज्ञानान्धकार से आलोक में जाने का रास्ता पा लिया है। जो समस्त तम से पार है, उसको जानने पर ही वहाँ जाया जा सकता है – मुक्ति का और कोई दूसरा उपाय नहीं।"[५]

पुस्तकी ज्ञान पर्याप्त नहीं है :

हम अपनी महान् मानसिक अपवित्रता के कारण सत्य का स्पष्ट अवलोकन नहीं कर पाते। हमें अपने मन के मैल को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे लोग केवल आवश्यक सुझाव भर दे सकते हैं। लेकिन हमें तदनुसार अपने आचरण का परिवर्तन करना चाहिए।

हमें एक मानसिक दूरबीन प्राप्त करनी चाहिए। यह क्षमता हम सभी में प्रसुप्त रूप से विद्यमान रहती है। यह बाहर से नहीं आती और हमारे स्वभाव में जोड़ी नहीं जा सकती। लेकिन वह एक ऐसी वस्तु है जिसकी हमने इतने वर्षों तक उपेक्षा की है। ज्यों-ज्यों हमारा सामान्य मन पवित्र से पवित्रतर होता जाता है, त्यों-त्यों हम उसके पीछे विद्यमान बुद्धि या हृदय नामक एक सूक्ष्म आध्यात्मिक मन का आविष्कार करते हैं। उसके प्रकट होने पर एक नयी-दृष्टि खुल जाती है। यह "दिव्य चक्षु" है। जिसका उल्लेख गीता के ग्यारहवें अध्याय में किया गया है।[६] आध्यात्मिक जीवन का अर्थ इस 'दिव्यचक्षु' का विकास है।

हमें कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि हम सभी के पास निर्दोष इन्द्रियाँ हैं तथा इन्द्रियों के माध्यम से हम जो अनुभव करते हैं, वह सत्य और नित्य है। विवेक का प्रथम प्रयोग, ज्ञान का प्रथम प्रकाश हमारे सामने यह प्रकट करता है कि यह संसार निरन्तर परिवर्तित हो रहा है तथा हमें कोई स्थायी शान्ति प्रदान नहीं कर सकता। एक रेडियो संयन्त्र असंख्य विद्युत तरंगों को ग्रहण करता है लेकिन हमारी इन्द्रियाँ उनको सीधे अनुभव नहीं कर सकतीं।

---

५. विवेकानन्द साहित्य   ६. श्रीमद्भगवद्गीता, ११.८

इसी तरह हमारा स्थूल मन आत्मा से, ईश्वर से निःसृत हो रही सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगों को नहीं जान सकता। लेकिन इस मन के पवित्र, अन्तर्मुखी और एकाग्र होने पर हम अपने भीतर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर जगतों का आविष्कार कर पाते हैं।

केवल पठन, वार्तालाप और अच्छी संवेदना मात्र पर्याप्त नहीं हैं और जो लोग पूरी लगन के साथ वास्तविक साधना करने के लिए तैयार नहीं है, उनके लिए किसी और मार्ग में जाना ही बेहतर है। वे आध्यात्मिक जीवन में कोई प्रगति कभी नहीं कर सकेंगे। लोग इतने कृपण या दरिद्र बुद्धि होते हैं कि थोड़े से उच्च मनोभाव अथवा विचार प्राप्त होते ही सोचने लगते हैं कि उन्होंने कुछ महान् या महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कर ली है। उन्हें वस्तुतः सच्चे आध्यात्मिक जीवन की अथवा वह कहाँ से सचमुच प्रारम्भ होता है, इसकी कोई धारणा नहीं होती।

एक धर्म प्रचारक का एक भाई था जो डाक्टर था। दोनों एक समान दिखते थे। एक दिन एक व्यक्ति ने इनमें से एक को रास्ते में रोक कर उसके अच्छे व्याख्यानों की सफलता पर बधाई दी। उस व्यक्ति ने उत्तर दिया : मैं प्रवचनकार नहीं हूँ, मैं प्रेक्टिस करनेवाला (पेशेवर) हूँ। (यहाँ अंग्रेजी के PRACTICE शब्द पर श्लेष है। अंग्रेजी में PRACTICE का अर्थ डाक्टरी का पेशा तथा आचरण दोनों होता है)। धर्म का उपदेश देना पर्याप्त नहीं है। आध्यात्मिक-जीवन के बारे में बातें करना पर्याप्त नहीं है। हमें कुछ वास्तविक साधना करनी चाहिए। अधिकांश लोग साधना से कतराते हैं, लेकिन यदि आध्यात्मिक-जीवन हमें हमारे वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार प्रदान न करे, आध्यात्मिक सत्यों का अनुभव कराने में हमें सक्षम न बनाए तो उसका क्या अर्थ? बुद्ध के सन्देश, ईसा के सन्देश, श्रीरामकृष्ण के सन्देश का क्या अर्थ है? वे हमारे आत्मसाक्षात्कार का मार्ग हमें बताते है, लेकिन यदि हम सत्य का अनुभव न करें तो वे हमारे लिए अर्थहीन हैं। आध्यात्मिक परम्परा के अभाव में पश्चिम में ईसा के सन्देश का क्रियान्वयन अब नहीं हो रहा है और केवल बाह्य छिलका भर बचा हुआ है। ईसा को समझने के पूर्व एक ईसाई को ईसा की चेतना की उपलब्धि करनी होगी। बुद्ध को समझने के पूर्व एक बौद्ध व्यक्ति को बुद्ध की चेतना प्राप्त करनी होगी।

धर्म की कसौटियाँ :

साधना के प्रारम्भ में कोई आध्यात्मिक अनुभूतियाँ नहीं होतीं। क्योंकि वह केवल "सफाई" का समय होता है जब ढेर सारी गन्दगी और बुराईयों को साफ करना पड़ता है। कुछ हद तक मन को बलवान बनाने पर भी अपवित्र विचार मन में उठते रहते हैं, लेकिन तब वे हमें हानि नहीं पहुँचा पाते और आसानी से उन पर विजय पायी जा सकती है। यदि अच्छा और अनुभवी कर्णधार हो तो नौका डूबने के भय के बिना तूफान का सामना कर सकती है। जब तक यह प्रातिभासिक जगत् हमारे मन से पूरी तरह पोंछ नहीं दिया जाता तब तक इच्छाएँ और वासनाएँ, आकर्षण और विकर्षणों को उनके सूक्ष्मतम रूपों में नष्ट नहीं

किया जा सकता।

तब तक, वासनाएँ मन में भले ही उठें; लेकिन यदि हमने हमारे नैतिक ढाँचे को आध्यात्मिक-विकास की सहायता से सुदृढ़ किया हो तो हम उनका सामना कर सकेंगे तथा उन्हें दूर हटाने में समर्थ होंगे। नैतिक ढाँचे को बलिष्ठ करना अपने आप में आध्यात्मिक प्रगति का लक्षण है। जब तक भगवत्कृपा के आगमन का अनुभव नहीं होता तब तक हमें संघर्ष करते रहना होगा। आध्यात्मिक जीवन में पुरुषार्थ अपरिहार्य है। अपनी पूर्ण क्षमता से सच्चा प्रयास किए बिना हम कभी आत्म समर्पण नहीं कर सकते।

एक यथार्थ प्रकार का दर्शन तभी सम्भव है जब हमारी एक बलिष्ठ, स्वस्थ, शुद्ध और पवित्र देह हो, जो ऐसे दर्शन के परिणाम स्वरूप होनेवाली सभी प्रतिक्रियाओं को वास्तव में झेलने में समर्थ हो। और जब हमारे पास एक पूर्ण पवित्र और निष्काम मन तथा वास्तविक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि होगी, तभी उनकी सहायता से हम यह अनुभव कर सकेंगे कि हम न देह हैं, न मन हैं, न स्त्री हैं न पुरुष बल्कि इन सभी से भिन्न आध्यात्मिक ईकाईयाँ हैं।

वास्तविक साकार दर्शन के साथ भी आध्यात्मिक तत्त्व सदा विद्यमान रहता है तथा वह चरम सत्ता – ब्रह्म की महत्ता को प्रतिबिम्बित करता है। और याद रखो, अनुभूति रहित अद्वैतवादी होने की अपेक्षा अनुभूतिसम्पन्न द्वैतवादी होना सदा श्रेष्ठतर है। वास्तविक साकार दर्शन उच्च से उच्चतर आध्यात्मिक स्तरों की ओर जानेवाली एक सीढ़ी है, जबकि अनुभूतिरहित सैद्धान्तिक अद्वैतवाद तुम्हें कही भी नहीं ले जाता। अद्वैतवादी का निराकार बहुत दूर की बात है और हमारा प्रयोजन अधिक से अधिक विशिष्टाद्वैतवाद से है, जिस मत के अनुसार हम सभी अनन्त पूर्ण सत्ता के अंश हैं। सभी इन्द्रियों के शान्त और पूर्ण संयत होने तथा मन के भी उसी स्थिति को प्राप्त होने पर ही वास्तविक दर्शन सम्भव है, अन्यथा नहीं।

उत्तेजित मस्तिष्क में होनेवाले सम्भ्रम और सच्चे दर्शन में महान् अन्तर है। एक कसौटी यह है कि वास्तविक आध्यात्मिक अनुभूति से हमें अधिक पवित्रता, अधिक वैराग्य, शुद्धता और एकाग्रता प्राप्त होती है। हमारी शरणागति की भावना में वृद्धि होती है तथा जीवात्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "भगवत्कृपा की वायु सदा बह रही है, तुम्हें केवल पाल खोल देना है।" एक बार अतीन्द्रिय सत्ता की झलक पा जाने के बाद भक्त हवा के बारे में – वह गर्म हवा है या ठण्डी है या हवा है ही नहीं – और अधिक चिन्ता नहीं करता। वह जानता है कि भगवत्-शक्ति का प्रवाह उसे सही दिशा में ले जा रहा है।

सही दर्शनों की दो और कसौटियाँ हैं : आनन्द और निश्चिन्तता। सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति वर्णनातीत आनन्द, शान्ति और पूर्णता का बोध प्रदान करती है। तब हम आन्तरिक रूप से उसे सत्य जानते हैं, क्यों कि उसके साथ अपना ही एक असंदिग्ध प्रकाश और निश्चितता होती है। पूर्ण पवित्र, ब्रह्मचर्य युक्त तथा सुसंयत जीवन यापन करनेवाले

लोग, झूठे दर्शनों द्वारा आसानी से भ्रमित नहीं किए जा सकते। सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति अपने आप में प्रमाण है।

लेकिन बहुत से अति उत्साही साधक प्रारम्भ में झूठे ज्योति-दर्शन से भ्रमित हो जाते हैं। वे कैसे निर्णय करें कि वे सही पथ पर अग्रसर हो रहे हैं? वेदान्त के अनुसार आध्यात्मिकता की तीन कसौटियाँ हैं : श्रुति, युक्ति और अनुभूति। इसको बृहदारण्यक उपनिषद के प्रसिद्ध अंश में व्यक्त किया गया है : "... आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ...।"[७] अर्थात् आत्मा के बारे में सुनना चाहिए, उस पर मनन करना चाहिए, उसका अन्वेषण करना चाहिए और अन्त में उसकी अनुभूति होनी चाहिए। सिद्ध आचार्य अथवा शास्त्र के मार्गदर्शन के रूप में हमें सबसे पहली बड़ी सहायता प्राप्त होती हैं। कर्तव्य के रूप में शास्त्रों को पढ़ना पर्याप्त नहीं है। उनमें निहित अर्थ पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए तथा सत्य के साक्षात्कार की सम्भावना के विषय में दृढ़ निश्चय करने का प्रयत्न करना चाहिए। एक सद्गुरु के द्वारा उपदेश प्राप्त करते ही वास्तविक उत्तम अधिकारी शिष्य को तत्काल एक क्षण में सत्य का साक्षात्कार होता है, इस दृढ़ोक्ति में सत्य है। लेकिन साधक को पहले कठोर नैतिक आचरण द्वारा उत्तम अधिकारी बनना चाहिए।

आध्यात्मिक जीवन में ध्यान देने की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। तथाकथित अन्धविश्वास धार्मिक जीवन का मापदण्ड नहीं हो सकता। किसी धर्म मत को अंगीकार करना धर्म नहीं है (जैसा कि पाश्चात्य देशों में समझा जाता है)। धर्म अनुभूति का विषय है। धार्मिक सत्यों को अपने जीवन में सत्यापित किया जाना चाहिए – एक बार ही नहीं बल्कि बार-बार प्रमाणित किया जाना चाहिए। सत्य की थोड़ी सी झलक पर्याप्त नहीं है, पर हाँ, वह कुछ नहीं से श्रेष्ठतर है। यही नहीं, हमारी आध्यात्मिक अनुभूतियों का शास्त्रों के साथ मिलान करना चाहिए।

अन्त में श्रुति और अनुभूति दोनों पर युक्ति का प्रयोग करना चाहिए। इससे शास्त्रों द्वारा प्राप्त विचार स्पष्टतर ही नहीं होते बल्कि हमारे अपने बारे में ज्ञान का भी विस्तार होता है। आत्म-विश्लेषण सर्वश्रेष्ठ प्रकार का विचार है। इस संसार में क्या नित्य है; क्या अनित्य, अस्थायी है, यह निर्णय करने के लिए भी युक्ति का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन शास्त्र अथवा प्रज्ञालोक के आधार रहित शुष्क युक्तिवाद का परिणाम संशयवाद हो सकता है तथा इस से मानव की आध्यात्मिक सम्भावनाएँ नष्ट हो सकती हैं। अपनी बुद्धिमत्ता के गर्वीले व्यक्ति की व्यक्तिगत दुर्घटना अवश्यम्भावी है।

तात्पर्य यह है कि शास्त्र, अनुभूति और युक्ति आध्यात्मिक जीवन की त्रिविध कसौटियाँ हैं और सभी साधकों को सभी अवस्थाओं या स्तरों पर इन कसौटियों का प्रयोग

---

७. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.५ तथा ४.५.६

करना चाहिए।

एक सच्चा, निष्ठावान और सजग साधक अपने आसपास की प्रत्येक वस्तु से शिक्षा ग्रहण करता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण उसके लिए सत्य और मिथ्या के बीच चयन का क्षण होता है। प्रत्येक साधक को सदैव पूर्ण सजग रहना चाहिए तथा अपने हृदय में विवेकाग्नि को सदा प्रज्वलित रखना चाहिए। कोई भी विचार, कोई भी घटना उसकी दृष्टि से अलक्षित नहीं रहनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति के लिए समग्र ब्रह्माण्ड ज्ञान की एक महान् पुस्तक है।

स्वप्न और सत्य :

स्वप्न क्या है? एक छोटे बालक ने अपनी माँ से एक स्वप्न के बारे में कहा जो उसने देखा था। इस पर उसकी माँ ने पूछा, "बेटा, स्वप्न क्या है?" बच्चे ने उत्तर दिया, "सोते समय दिखनेवाला सिनेमा।" स्वप्न कई प्रकार के होते हैं : कुछ अर्थहीन होते हैं, कुछ हमारी इच्छाओं के प्रतिबिम्ब होते हैं तथा कुछ में उच्चतर आध्यात्मिक अर्थ होता है। कुछ स्वप्नों का अतीत से, यहाँ तक कि हमारे पूर्व-जन्मों के साथ सम्बन्ध होता है। हमारे कुछ स्वप्नों का अध्ययन करने पर हम पाएँगें कि उनमें होनेवाली कुछ घटनाएँ और उन में मिलनेवाले कुछ लोग वर्तमान जीवन के नहीं हैं। कुछ स्वप्नों का सम्बन्ध भविष्य से होता है। १९४० में जब मैं स्वीडन में था, मैं एक दिन इस बोध के साथ जागा कि मुझे देश से दो हजार फ्रेंक बाहर भेज देना चाहिए और मैंने ऐसा ही किया। कुछ दिनों बाद युद्धकालीन तात्कालिक व्यवस्था के रूप में एक कानून बना कि उस देश से केवल थोड़ी मात्रा में ही धन निकाला जा सकता है। अब्राहम लिंकन को हत्या द्वारा अपनी मृत्यु का स्पष्ट स्वप्न दिखा था जो उन्होंने दूसरों को बताया था।

कुछ स्वप्न हमारी छुपी इच्छाओं और वासनाओं के द्योतक होते हैं। कई स्वप्न सांकेतिक होते हैं। उनकी व्याख्या आवश्यक होती है। महान्तम आधुनिक मनोविज्ञों में से दो, फ्रायड और युंग ने स्वप्नों को बहुत महत्त्व दिया है क्यों कि उन से रोगी की मानसिक अवस्था का पता चलता है। परन्तु उन की व्याख्याएँ सर्वदा सत्य नहीं होती थी। विशेषकर फ्रायड इस विचार से ग्रस्त थे कि सभी स्वप्न दमित कामवासना की अभिव्यक्तियाँ हैं। यह बिल्कुल सत्य नहीं है, लेकिन अपने स्वप्नों का अध्ययन करना तथा अपने मन के क्रिया-कलापों के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करना लाभदायक है। अपने स्वप्नों का अध्ययन करने पर हम अपने व्यक्तित्व के एक भिन्न पक्ष से परिचित होते हैं। हम उतने अच्छे नहीं हैं, जितना हमने अपने आप को समझा था। कुछ स्वप्न हमारे अत्यन्त बुरे पक्ष को प्रकट करते हैं। लेकिन यह भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। अपने बारे में सत्य की जानकारी से तुम्हें और अधिक बलवान तथा अपने दोषों पर विजय प्राप्त करने के लिए अधिक कृतसंकल्प होना चाहिए।

प्राय: स्वप्न चेतना की गहरी परतों से उत्पन्न होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि राबर्ट लुई

लोग, झूठे दर्शनों द्वारा आसानी से भ्रमित नहीं किए जा सकते। सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति अपने आप में प्रमाण है।

लेकिन बहुत से अति उत्साही साधक प्रारम्भ में झूठे ज्योति-दर्शन से भ्रमित हो जाते हैं। वे कैसे निर्णय करें कि वे सही पथ पर अग्रसर हो रहे हैं? वेदान्त के अनुसार आध्यात्मिकता की तीन कसौटियाँ हैं : श्रुति, युक्ति और अनुभूति। इसको बृहदारण्यक उपनिषद के प्रसिद्ध अंश में व्यक्त किया गया है: "... आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ...।"[७] अर्थात् आत्मा के बारे में सुनना चाहिए, उस पर मनन करना चाहिए, उसका अन्वेषण करना चाहिए और अन्त में उसकी अनुभूति होनी चाहिए। सिद्ध आचार्य अथवा शास्त्र के मार्गदर्शन के रूप में हमें सबसे पहली बड़ी सहायता प्राप्त होती हैं। कर्तव्य के रूप में शास्त्रों को पढ़ना पर्याप्त नहीं है। उनमें निहित अर्थ पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए तथा सत्य के साक्षात्कार की सम्भावना के विषय में दृढ़ निश्चय करने का प्रयत्न करना चाहिए। एक सद्‌गुरु के द्वारा उपदेश प्राप्त करते ही वास्तविक उत्तम अधिकारी शिष्य को तत्काल एक क्षण में सत्य का साक्षात्कार होता है, इस दृढ़ोक्ति में सत्य है। लेकिन साधक को पहले कठोर नैतिक आचरण द्वारा उत्तम अधिकारी बनना चाहिए।

आध्यात्मिक जीवन में ध्यान देने की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। तथाकथित अन्धविश्वास धार्मिक जीवन का मापदण्ड नहीं हो सकता। किसी धर्म मत को अंगीकार करना धर्म नहीं है (जैसा कि पाश्चात्य देशों में समझा जाता है)। धर्म अनुभूति का विषय है। धार्मिक सत्यों को अपने जीवन में सत्यापित किया जाना चाहिए – एक बार ही नहीं बल्कि बार-बार प्रमाणित किया जाना चाहिए। सत्य की थोड़ी सी झलक पर्याप्त नहीं है, पर हाँ, वह कुछ नहीं से श्रेष्ठतर है। यही नहीं, हमारी आध्यात्मिक अनुभूतियों का शास्त्रों के साथ मिलान करना चाहिए।

अन्त में श्रुति और अनुभूति दोनों पर युक्ति का प्रयोग करना चाहिए। इससे शास्त्रों द्वारा प्राप्त विचार स्पष्टतर ही नहीं होते बल्कि हमारे अपने बारे में ज्ञान का भी विस्तार होता है। आत्म-विश्लेषण सर्वश्रेष्ठ प्रकार का विचार है। इस संसार में क्या नित्य है; क्या अनित्य, अस्थायी है, यह निर्णय करने के लिए भी युक्ति का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन शास्त्र अथवा प्रज्ञालोक के आधार रहित शुष्क युक्तिवाद का परिणाम संशयवाद हो सकता है तथा इस से मानव की आध्यात्मिक सम्भावनाएँ नष्ट हो सकती हैं। अपनी बुद्धिमत्ता के गर्वीले व्यक्ति की व्यक्तिगत दुर्घटना अवश्यम्भावी है।

तात्पर्य यह है कि शास्त्र, अनुभूति और युक्ति आध्यात्मिक जीवन की त्रिविध कसौटियाँ हैं और सभी साधकों को सभी अवस्थाओं या स्तरों पर इन कसौटियों का प्रयोग

---

७. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.५ तथा ४.५.६

करना चाहिए।

एक सच्चा, निष्ठावान और सजग साधक अपने आसपास की प्रत्येक वस्तु से शिक्षा ग्रहण करता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण उसके लिए सत्य और मिथ्या के बीच चयन का क्षण होता है। प्रत्येक साधक को सदैव पूर्ण सजग रहना चाहिए तथा अपने हृदय में विवेकाग्नि को सदा प्रज्वलित रखना चाहिए। कोई भी विचार, कोई भी घटना उसकी दृष्टि से अलक्षित नहीं रहनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति के लिए समग्र ब्रह्माण्ड ज्ञान की एक महान् पुस्तक है।

स्वप्न और सत्य :

स्वप्न क्या है? एक छोटे बालक ने अपनी माँ से एक स्वप्न के बारे में कहा जो उसने देखा था। इस पर उसकी माँ ने पूछा, "बेटा, स्वप्न क्या है?" बच्चे ने उत्तर दिया, "सोते समय दिखनेवाला सिनेमा।" स्वप्न कई प्रकार के होते हैं : कुछ अर्थहीन होते हैं, कुछ हमारी इच्छाओं के प्रतिबिम्ब होते हैं तथा कुछ में उच्चतर आध्यात्मिक अर्थ होता है। कुछ स्वप्नों का अतीत से, यहाँ तक कि हमारे पूर्व-जन्मों के साथ सम्बन्ध होता है। हमारे कुछ स्वप्नों का अध्ययन करने पर हम पाएँगें कि उनमें होनेवाली कुछ घटनाएँ और उन में मिलनेवाले कुछ लोग वर्तमान जीवन के नहीं हैं। कुछ स्वप्नों का सम्बन्ध भविष्य से होता है। १९४० में जब मैं स्वीडन में था, मैं एक दिन इस बोध के साथ जागा कि मुझे देश से दो हजार फ्रेंक बाहर भेज देना चाहिए और मैंने ऐसा ही किया। कुछ दिनों बाद युद्धकालीन तात्कालिक व्यवस्था के रूप में एक कानून बना कि उस देश से केवल थोड़ी मात्रा में ही धन निकाला जा सकता है। अब्राहम लिंकन को हत्या द्वारा अपनी मृत्यु का स्पष्ट स्वप्न दिखा था जो उन्होंने दूसरों को बताया था।

कुछ स्वप्न हमारी छुपी इच्छाओं और वासनाओं के द्योतक होते हैं। कई स्वप्न सांकेतिक होते हैं। उनकी व्याख्या आवश्यक होती है। महान्‌तम आधुनिक मनोविज्ञों में से दो, फ्रायड और युंग ने स्वप्नों को बहुत महत्त्व दिया है क्यों कि उन से रोगी की मानसिक अवस्था का पता चलता है। परन्तु उन की व्याख्याएँ सर्वदा सत्य नहीं होती थी। विशेषकर फ्रायड इस विचार से ग्रस्त थे कि सभी स्वप्न दमित कामवासना की अभिव्यक्तियाँ हैं। यह बिल्कुल सत्य नहीं है, लेकिन अपने स्वप्नों का अध्ययन करना तथा अपने मन के क्रिया-कलापों के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करना लाभदायक है। अपने स्वप्नों का अध्ययन करने पर हम अपने व्यक्तित्व के एक भिन्न पक्ष से परिचित होते हैं। हम उतने अच्छे नहीं हैं, जितना हमने अपने आप को समझा था। कुछ स्वप्न हमारे अत्यन्त बुरे पक्ष को प्रकट करते हैं। लेकिन यह भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। अपने बारे में सत्य की जानकारी से तुम्हें और अधिक बलवान तथा अपने दोषों पर विजय प्राप्त करने के लिए अधिक कृतसंकल्प होना चाहिए।

प्राय: स्वप्न चेतना की गहरी परतों से उत्पन्न होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि राबर्ट लुई

स्टिवन्सन ने "डॉ. जेकल एण्ड मिस्टर हाईड" नामक प्रसिद्ध कथा लिखने से पूर्व उसका स्वप्न देखा था। उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध जर्मन रसायन-शास्त्री केकुले ने बेन्जीन की बनावट का आविष्कार किया था। एक रात वे अंगीठी के पास जब ऊँघ रहे थे, उन्होंने विभिन्न बनावटों के फार्मूलों को अपनी आँखों के सामने तैरते देखा। अचानक उन्होंने देखा कि उनमें से कुछ, एक संवृत्त-चक्र की आकृति के हैं, मानो दो साँप एक दूसरे की पूँछ निगलने का प्रयत्न कर रहे हों। वे जाग उठे और बची हुई सारी रात बेन्जीन की वृत्तात्मक बनावट तथा अनुकम्पन के सिद्धान्त को निष्पन्न करने में बिताई।

कुछ स्वप्न-जीव की गहरी आध्यात्मिक आकांक्षाओं को प्रकट करते हैं। एक रात को स्वप्न में मैंने अपने गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्द जी को पत्र में लिखा, "मैं सभी में परमात्मा के दर्शन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" स्वप्न में ही उन्होंने उत्तर दिया, "प्रत्येक अंश में पूर्ण को देखने का प्रयत्न करो। सभी ससीम वस्तुओं में असीम को देखने का प्रयत्न करो।" कई दिनों तक यही मेरे ध्यान का विषय रहा था।

फिर आध्यात्मिक स्वप्न भी होते हैं, जिनमें महान् आध्यात्मिक सत्य उद्घाटित होते हैं। स्वप्न में व्यक्ति को मन्त्र प्राप्त हो सकता है अथवा दिव्य-दर्शन हो सकता है। स्वप्न में प्राप्त मन्त्र प्राय: गुरु-प्रदत्त मन्त्र ही होता है। माँ सारदा तथा श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के जीवन में हमें इसके अनेक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। स्वप्न में भगवान के रूप का दर्शन आध्यात्मिक जीवन में कठिन संघर्ष कर रहे साधक के लिए बहुत उत्साहवर्धक हो सकता है। उस अनुभव का आनन्द बहुत दिनों तक भले ही बना रहे, लेकिन यदि वह जाग्रतावस्था में उचित ध्यान तथा नैतिक शुद्धि की प्रेरणा प्रदान न करे तो उससे साधक को कोई लाभ नहीं होता। कोई भी अनुभूति, जब तक वह चेतनावस्था में न हो, तब तक उसका बहुत कम आध्यात्मिक-मूल्य है।

हमें उस ज्योति को अधिक महत्त्व देना चाहिए जिससे स्वप्नद्रष्टा स्वप्न देखता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस अन्तर्ज्योति के विषय में एक अपूर्व वार्तालाप है। एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य राजा जनक के दरबार में गए। राजा ने उन से मानव जिस ज्योति की सहायता से कर्म करता तथा वस्तुओं को देखता है, उसके बारे में प्रश्नावली की। याज्ञवल्क्य ने समुचित उत्तर दिए। उन्होंने पहले कहा कि सूर्य, मानव के लिए ज्योति का कार्य करता है। सूर्यास्त होने पर चन्द्रमा, चन्द्रास्त होने पर अग्नि और अग्नि के प्रशमित होने पर ध्वनि – ये एक के बाद एक, मानव के लिए ज्योति का कार्य करते हैं। अन्त में राजा जनक ने पूछा, सूर्य और चन्द्रमा दोनों के अस्त होने पर, अग्नि के शान्त होने पर और ध्वनि के भी विलुप्त हो जाने पर, हे याज्ञवल्क्य, मानव की ज्योति क्या है? महर्षि ने उत्तर दिया : आत्मा ही मनुष्य की ज्योति है।[८] दूसरी ज्योतियाँ बाहरी हैं तथा मानव को उसकी जाग्रतावस्था में ही

८. बृहदारण्यक उपनिषद् - ४.३.२-६)

सहायता कर सकती हैं। लेकिन स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में मानव आत्मा के प्रकाश से जानता और आनन्द प्राप्त करता है। वह किसी के द्वारा प्रकाशित नहीं होती परन्तु अन्य सब को प्रकाशित करती है। ब्रह्मज्ञान की अवस्था में यह ज्योति अपने आप प्रकाशित होती है।

आधुनिक मानव सुषुप्ति को विश्राम का काल ही मानता है। पाश्चात्य में गहरी निद्रा कभी दार्शनिक अनुसन्धान या अन्तर्निरीक्षण का विषय नहीं रही है। लेकिन उपनिषदों में हमें सुषुप्ति अवस्था के विषय में बहुत गम्भीर चिन्तन प्राप्त होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है :

जिस प्रकार बाज या चील आकाश में उड़ने के बाद श्रान्त होने पर अपने पंखों को समेट कर नीड़ की ओर आता है, उसी प्रकार आत्मा उस अवस्था के लिए धावित होती है जहाँ सुषुप्ति में वह न तो कोई कामना करती है और न ही कोई स्वप्न देखती है।'' [९]

इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है कि सुषुप्ति अवस्था में पिता, पिता नहीं रहता; माता, माता नहीं रहती; एक हत्यारा, हत्यारा नहीं रहता; एक संन्यासी, संन्यासी नहीं रहता।[१०] उस अवस्था में व्यक्ति देखता, सुनता, चखता अथवा बोलता नहीं है क्योंकि इन सभी क्रियाओं के लिए एक अन्य वस्तु की आवश्यकता होती है। जबकि प्रगाढ़-निद्रा में जीव अनन्त परमात्मा के साथ एक हो जाता है और विशुद्ध आनन्द का अनुभव करता है। तब एक विशाल जल-राशि की तरह एक अखण्ड चैतन्य विद्यमान रहता है।[११] यह अवस्था मुक्ति की निकटतम अवस्था है, लेकिन इन दोनों के बीच एक महान् अन्तर है। गहरी निद्रावस्था में जीव निस्सन्देह अविमिश्रित आनन्द का उपभोग करता है, लेकिन इतना होते हुए भी वह अज्ञान और बन्धन में रहता है। नींद से जागने पर वह अपनी पुरानी अवस्था प्राप्त कर सभी पुराने दु:खों और ससीमताओं का अनुभव करता है। हमें गहरी सुषुप्ति के अनुभव को सचेतन रूप से प्राप्त करना चाहिए।

सेन्-फ्रान्सिसको के एक रविवासरीय स्कूल की एक कथा-अध्यापिका – अपनी क्लास के छोटे बच्चों से कह रही थी कि सभी मनुष्य भगवान् की सन्तान हैं। एक छोटे बच्चे ने पूछा, "अल्कटरा जेल के बुरे लोग भी क्या भगवान् की संतान हैं?" अध्यापिका असमंजस में पड़कर कुछ समय तक मौन रही। तब एक चतुर छोटी बच्ची ने उत्तर दिया, "हाँ, वे भी भगवान की संतान हैं, लेकिन वे यह जानते नहीं है।" सुषप्ति में हम भगवान् के साथ एक रूप हो जाते हैं, लेकिन जागने पर हमें इस बात का पता नहीं रहता। अपने दैवी-स्वरूप को भूलकर हम हर सम्भव मूर्खतापूर्ण आचरण करते हैं। अपने स्वरूप को भूल जाने के कारण हम इस संसार में आए हैं जो एक जेलखाने के समान है। गहरी निद्रा के कुछ अंश को, उसकी-सी स्थिति को प्रयत्नपूर्वक हमारे ध्यान के समय बनाना चाहिए। आध्यात्मिक अनुभूति से हमें सुषुप्ति का पूर्ण विश्राम, शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है और साथ ही

---

९. बृहदारण्यक उपनिषद् ४.३.१९ १०. वही ४.३.२२ ११. वही ४.३.३२

परम ज्ञान, पवित्रता और पूर्णता भी।

एक बार श्रीरामकृष्ण के महानतम शिष्यों में से एक – स्वामी प्रेमानन्द बेलुड़-मठ के देवालय में ध्यान कर रहे थे। शीघ्र ही वे समाधिस्थ हो गए। एक नवीन ब्रह्मचारी ने उन्हें जाग्रत करने का प्रयत्न किया, लेकिन वह असफल रहा। बहुत समय बाद जब स्वामी प्रेमानन्द सामान्य चेतनावस्था में लौट आए तब उस अनभिज्ञ युवक ने उनसे पूछा, "महाराज! क्या आप सो गए थे?" महान् स्वामी ने एक बंगाली भजन गाते हुए उत्तर दिया, "मैंने निद्रा को निद्रित कर दिया है।"[१२] वे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के परे अति-चेतनावस्था में चले गए थे। स्वामी तुरीयानन्दजी ने अपने निद्रा-जय के बारे में कहा था। वे निद्रा को 'देखना' चाहते थे। सभी विचारों को शान्त करने के बाद वे निद्रा में लीन होने को होते तब वे अपनी इच्छा-शक्ति की सहायता से जाग्रत रहते। इस तरह अभ्यास करते-करते उन्होंने पाया कि उनकी नींद बहुत कम हो गई है तथा ब्रह्म और उनके बीच एक बहुत बारीक अन्तर रह गया है। वे अतिचेतनावस्था के कगार पर पहुँच गए थे।[१३]

मनोराज्य की अलौकिक घटनाओं का रहस्य :

चेतना के अनेक स्तर हैं। इन्द्रियों का वह स्तर जिसमें हम भौतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, एक स्तर है। चिन्तन करते अथवा दिवास्वप्न देखते समय हम समय के लिए मानसिक स्तर पर जीते हैं। लेकिन सामान्यत: हम इस स्तर का कुछ अंश ही जानते हैं। हम अपने मन के बारे में बहुत कम जानते हैं और महत् नामक इस विराट् समष्टि मन के बारे में तो लगभग कुछ भी नहीं जानते, जिसके, हमारे व्यष्टि मन अंश हैं। उसमें कौन सी शक्तियाँ छुपी हुई हैं, वहाँ कैसी विचित्र घटनाएँ होती रहती हैं, इसके बारे में हम सामान्यत: बहुत कम जानते हैं। जिस प्रकार हम भौतिक – जगत की शक्तियों का परिचालन कर सकते हैं, उसी प्रकार प्राण अथवा मानसिक शक्ति का भी परिचालन कर सकते हैं। कुछ लोगों को यह क्षमता अपने आप प्राप्त हो जाती है। वारसा में मैं एक महिला से मिला जो वस्तुओं के अज्ञात-स्वरूप को जान जाती थी। वह बिगड़ी मशीन की त्रुटि का पता लगा लेती थी। स्वामी विवेकानन्द ने हैदराबाद के एक व्यक्ति के बारे में कहा है जो न जाने कहाँ से ताज़े गुलाब, अंगूर तथा और भी बहुत सी चीजें ला सकता था।[१४]

सभी में मानसिक शक्ति है। प्राण सभी में कार्यरत है। अन्तर केवल इतना है कि अधिकांश लोगों में वह सांसारिक सफलता और वैषयिक सुखों की पूर्ति की दिशा में पूरी तरह नियोजित हैं। इस क्षय को रोकने पर मानसिक शक्ति हम में सञ्चित होने लगेगी। तब हमें

१२. स्वामी गम्भीरानन्दकृत श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका, ...

१३. स्वामी रितजानन्दकृत अंग्रेजी पुस्तक –"स्वामी तुरीयानन्द",(रामकृष्ण मठ, मद्रास १९७३), पृ. ४

१४. विवेकानन्द साहित्य

यह ज्ञात होगा कि इसे आध्यात्मिक दिशा में कैसे नियोजित किया जाए। इसके लिए हमें आध्यात्मिक व्यक्तियों के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। अन्यथा सञ्चित मानसिक शक्ति अन्य दिशाओं में प्रवाहित होती है तथा हमें कुछ क्षुद्र सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। हम दूर-दर्शन अथवा दूरश्रवण अथवा दूसरों के विचारों को जानने में समर्थ हो सकते हैं। इन से कुछ समय के लिए हमारा मनोरञ्जन भले ही हो, पर इनका कोई उच्च आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। ये सत्य के साक्षात्कार के हमारे मार्ग में बाधाएँ ही हैं। सिद्धियाँ हमें पूर्णता, आनन्द और दुःखों से मुक्ति प्रदान नहीं करती। वे हमें अधिक अहंकारी बनाती हैं।

ज्ञानी महापुरुष इन सिद्धियों की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। यदि वे उन्हें प्राप्त करते हैं तो वे उनका दूसरों के कल्याण के लिए बहुत सावधानी से उपयोग करते हैं। स्वामी ब्रह्मानन्द आध्यात्मिक शक्ति के भण्डार थे जिसका उन्होंने दूसरों के कल्याण के लिए सावधानी से उपयोग किया था। उनमें गहरी मानसिक अन्तर्दृष्टि थी। एक दिन उन्होंने एक युवक को चेतावनी देते हुए कहा : सावधान, तुम्हारे चारों ओर एक गहरा मेघ छाया हुआ है, जो लगभग चालीस वर्ष की उम्र में व्यक्त होगा। वह युवक स्वामीजी की चेतावनी के समय के आसपास पागल हो गया और मर गया।

स्वामी ब्रह्मानन्द जी अपने शिष्यों के भूत और भविष्य को देख सकते थे। जब मैं सर्वप्रथम उनसे मिला तब मैं कालेज का युवा छात्र था। मैं अपने एक मित्र के साथ बलराम-मन्दिर में उनके दर्शन करने गया। उन्होंने मेरे मित्र को अपना हाथ दिखाने को कहा। उसकी हथेली की ओर देख कर उन्होंने कहा, "काम तुम्हारे लिए कुछ बाधा पैदा करेगा, लेकिन यदि श्रीरामकृष्ण की कृपा होगी तो वह दूर हो जाएगा।" लेकिन स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने स्वामी प्रेमानन्दजी के विनती करने पर भी मेरा हाथ नहीं देखा। मैं बहुत उदास हो गया, लेकिन जब मुझे यह पता चला कि स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने उनके सेवक से कहा है कि मैं संन्यासी बनूँगा तो मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ और स्वयं को धन्य समझा। उनकी भविष्यवाणी सत्य हुई। मैं संन्यासी बना और मेरा मित्र गृहस्थ बना, पर वह महान् भगवत्-भक्त बना रहा।

१९१७ में बंगलौर में रहते समय मैं टायफाइड के ज्वर से आक्रान्त हुआ। मुझे अस्पताल में भर्ती किया गया। एक दिन प्रातःकाल एक वृद्ध को लाकर मेरे पास के बिस्तर पर रखा गया। सन्ध्या को उसकी मृत्यु हो गई। मुझे मृत्यु का भय नहीं था, लेकिन तीव्र शारीरिक वेदना मेरे लिए असह्य हो रही थी। तब मैंने सोचा कि इस से तो मर जाना ही अच्छा है। इस विचार के प्रबल होते ही मुझे स्वामी ब्रह्मानन्दजी के दर्शन हुए। उन्होंने कहा : "तुम मर कैसे सकते हो। अभी तुम्हें श्रीरामकृष्ण का कार्य करना बाकी है।" यह कह कर वे अदृश्य हो गए। इस अनुभव से मुझ में सम्पूर्ण परिवर्तन आ गया। मैं महान् शान्ति और गहरे शरणागति के भाव से पूर्ण हो गया। मेरा रोग भी ठीक होने लगा। स्वामी ब्रह्मानन्दजी के कई शिष्यों को ऐसे अनुभव हुए हैं। उनमें महान् शक्ति थी, लेकिन उन्होंने उनका उपयोग समझदारी के साथ केवल दूसरों के कल्याण के लिए किया।

सिद्धियाँ कई प्रकार की होती हैं। श्रीरामकृष्ण की जीवनी में हमें चन्द्र और गिरिजा नामक दो युवकों का उल्लेख मिलता है, जिनका परिचय उनकी गुरु भैरवी ब्राह्मणी ने श्रीरामकृष्ण से कराया था। चन्द्र अपने पास एक चमत्कारी गेंद रखता था, जिसकी सहायता से उसे मानव दृष्टि से अचानक ओझल होने की शक्ति प्राप्त हो गई थी। लेकिन उसने उच्चकोटि की चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं की थी और इसलिए वह दूसरों के घर में बिना दिखे प्रविष्ट होने के लिए इस शक्ति का दुरुपयोग करने लगा। वह शीघ्र कामग्रस्त हो गया और फ़लस्वरूप उसकी शक्ति नष्ट हो गई। दूसरे युवक गिरीजा के पास अन्य सिद्धि थी। एक रात को उसने श्रीरामकृष्ण के समक्ष इसका प्रदर्शन किया था। घना अन्धेरा था और श्रीरामकृष्ण को शम्भुमल्लिक के बगीचे से दक्षिणेश्वर जाने का मार्ग नहीं सूझ रहा था। गिरिजा, जो श्रीरामकृष्ण के साथ था, पीछे घूमकर खड़ा हो गया और उसकी पीठ से प्रकाश की एक चौड़ी चमकीली किरण निकली, जिससे काली मन्दिर के फाटक तक का पूरा मार्ग आलोकित हो गया। परम योगी श्रीरामकृष्ण ने कभी भी इस तरह की क्षुद्र सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं किया। प्रस्तुत प्रसंग में, श्रीरामकृष्ण ने चन्द्र और गिरिजा की सिद्धियों को स्वयं में खीच लिया और इस तरह उनके मन को ईश्वराभिमुखी बनाया।[१५]

सभी आध्यात्मिक-पुरुषों ने सिद्धियों को महत्त्व देने की निन्दा की है क्यों कि ये साधक को उसके मुख्य आध्यात्मिक पथ से भ्रष्ट कर देती हैं तथा अन्त में उसका पूर्ण विनाश कर सकती हैं। नियमित साधना करने वाले सभी निष्ठावान् साधकों को मनोजगत् की अनुभूतियाँ सामान्यत: होती हैं। साधक को घण्टियों की ध्वनि अथवा ब्रह्माण्ड में निरन्तर स्पन्दित होती महान् अनाहत ध्वनि सुनाई दे सकती है। अथवा उसे रहस्यमय अन्तर्ज्योति का दर्शन हो सकता है। ये सारी बातें इस बात के संकेत हैं कि तुम सही मार्ग पर हो। उनकी इतनी ही उपयोगिता है। हमें मार्ग-चिन्हों को मार्ग नहीं समझना चाहिए। यौवन में स्वामी विवेकानन्द को अद्भुत आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होती थीं। एक बार उन्हें दूरदर्शन की शक्ति प्राप्त हुई थी। युक्तिवादी होने के कारण उन्होंने अपने अनुभवों को परखा और उन्हें सत्य पाया। लेकिन जब इस बारे में उन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा तो श्रीरामकृष्ण ने कुछ दिनों के लिए ध्यान न करने की सलाह दी, जिससे वह शक्ति चली जाए।

बहुत से लोग अशरीरी भूत-प्रेतों में रुचि रखते हैं। सच्चे साधक को इन से कोई लेना-देना नहीं होता और वह इन रहस्यमय घटनाओं से दूर ही रहता है। लेकिन मानव स्वभाव में एक अशमनीय जिज्ञासा रहती है और बहुत-से लोग अपना अमूल्य समय सच्चा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने में बिताने के बदले 'प्रेतविद्या' में व्यर्थ गँवाते हैं। आपने स्वामी अभेदानन्द की पुस्तक 'मृत्यु के पार' पढ़ी होगी, जिसमें उन्होंने प्रेतवादियों की कई बैठकों में भाग लेने का वर्णन किया है। भारत में यदि कोई व्यक्ति 'प्रेत ग्रस्त' होता है तो उसे

---

१५. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग

तत्काल किसी मन्दिर में अथवा झाड़-फूँक करनेवाले ओझा के पास ले जाया जाता है और उस विपदा से मुक्ति दिखाई जाती है। लेकिन अमेरिका में वह 'मीडियम' बन जाता है और इस तरह पैसे कमाता है। माध्यम बनने की बात सत्य भले ही हो, लेकिन इन बातों के साथ खिलवाड़ करना व्यर्थ समय बर्बाद करना है। श्रीरामकृष्ण के निरञ्जन नामक एक शिष्य थे। श्रीरामकृष्ण के पास आने के पूर्व वे एक प्रेतवादियों के समूह में 'माध्यम' का कार्य करते थे। जब श्रीरामकृष्ण को यह बात पता चली तो उन्होंने युवक को तत्काल वह कार्य बन्द करने को कहा। उन्होंने उन से कहा, वत्स! भूत-प्रेतों का चिन्तन करने पर तुम भूत-प्रेत बन जाओगे और यदि तुम भगवान् का चिन्तन करोगे तो तुम्हारा जीवन दिव्य हो जाएगा।[१६]

श्रीरामकृष्ण की जीवनी में हम पाते हैं कि उनका सामना अनेक प्रकार की प्रेतात्माओं से हुआ था। उनके (वेदान्त) गुरु तोतापुरी का भी दक्षिणेश्वर में एक भूत से सामना हुआ था। दक्षिणेश्वर काली मन्दिर में एक भैरव रहता था। वह दूसरों से अदृश्य था। एक दिन जब तोतापुरी पंचवटी में ध्यान कर रहे थे, तब उन्होंने एक लम्बी धुंधली आकृति को वृक्षों की शाखाओं से उतरते देखा। तोतापुरी किञ्चित मात्र भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने रहस्यमय आगन्तुक से कहा, ठीक है, तुम और मैं एक ही हैं। तुम ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति हो, मैं ब्रह्म की दूसरी अभिव्यक्ति हूँ। आओ, बैठो और ध्यान करो। भैरव अट्टहास कर उठा और अदृश्य हो गया।[१७]

इन 'आत्माओं' में समय व्यर्थ गँवाने के बदले हमें अपनी आत्माओं की आत्मा – परमात्मा की ओर जाना चाहिए जो आनन्द और शान्ति का परम कारण है। हमें मनोजगत् का अतिक्रमण करना, उसे एक ओर छोड़ना सीख लेना चाहिए तथा सत्य परमात्मा के स्तर पर उठना चाहिए, जहाँ व्यष्टि-जीव समष्टि-परमात्मा का संस्पर्श प्राप्त करता है। जब तक यह मिलन नहीं होता, तब तक आत्मा की प्यास बनी रहती है और जब तक यह बनी रहेगी; तब तक सच्ची शान्ति और पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। आत्मा को परमात्मा का संस्पर्श होना चाहिए; सच्ची आन्तरिक ज्योति से हृदय के अन्धकारमय कक्ष को आलोकित होना चाहिए। तभी मानव, जीवन के दुःखों का अतिक्रमण कर सकता है। सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति सीधे परमात्मा से ही आती है। वह सामान्य मन और बुद्धि से परे है। जैसा कि महान् सूफी साधक अल-ग़ज़ाली ने कहा है :

एकान्त में मेरे सामने ऐसी बातें प्रकट हुईं, जिनका वर्णन करना या निर्देश करना असम्भव है। अन्तर्दृष्टि एक ज्योति से आलोकित होती है जो गूढ़ बातों और वस्तुओं को प्रकट करती है जिन्हें बुद्धि नहीं जान सकती। सूफियों की साधना-पद्धति से होने वाला परिवर्तन अपने हाथ से किसी वस्तु को छूने की तरह प्रत्यक्ष अनुभूति है।

महान् निओ-प्लेटोनिक साधक-योगी प्लोटिनस ने कहा है:

---

१६. श्रीरामकृष्णभक्तमालिका   १७. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग

तुम पूछते हो, हम अनन्त को कैसे जान सकते हैं? मेरा उत्तर हैं : युक्ति के द्वारा नहीं। वस्तुओं की परिभाषा और वर्गीकरण करना युक्ति का कार्य है। अनन्त को उसकी वस्तुओं की श्रेणी में नहीं डाला जा सकता। तुम अनन्त की धारणा बुद्धि से उच्चतर क्षमता के द्वारा, एक ऐसी अवस्था में प्रवेश करके प्राप्त कर सकते हो, जिसमें तुम अपनी सीमित सत्ता नहीं रहते, जिसमें परमात्मा की सत्ता का तुम्हारे साथ सम्बन्ध होता है।

सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति का प्रभाव :

सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति का मूल्यांकन उसके परिणाम या फल से होता है। दर्शन तथा अन्य आध्यात्मिक अनुभूतियों से चरित्र में सम्पूर्ण रूपान्तरण होना चाहिए तथा उनसे साधक को अधिक बलवान, पवित्र और दूसरों के प्रति उदार होना चाहिए। उनसे साधक में नयी आशा का संचार होना चाहिए जो उसके कर्मों में परिलक्षित होनी चाहिए। सत्रहवीं सदी के महान् कार्मेलाईट योगी, संत जॉन आफ द क्रास ने सच्ची आध्यात्मिक-अनुभूति के बारे में कहा है :

वे आत्मा को असाधारण रूप से समृद्ध करती हैं। ... उनमें से एक ही, एक बार में जीव के ऐसे किसी दोष विशेष को दूर करने के लिए पर्याप्त हो सकती है, जिस दोष को दूर करने के लिए उसने व्यर्थ प्रयास किया हो तथा उसे गुणों और अति मानवीय उपहारों से पूर्ण कर देती है।

पश्चिम में प्रबल कल्पना शक्ति सम्पन्न एक महिला ने मुझसे कहा कि उसे श्रीरामकृष्ण का दर्शन हुआ है। एक अन्य युवक को, जो एक लड़की से प्रेम करता था, ध्यान के समय उस लड़की के 'दर्शन' होते थे तथा उन्हें वह गलती से जगदम्बा की अभिव्यक्तियाँ समझता था। मुझे इन लोगों को स्पष्ट रूप से यथार्थ कहना पड़ा था कि वे लोग अपनी अति स्पष्ट कल्पना के ही शिकार हुए हैं। कई प्रकार के दर्शन होते हैं। कुछ स्पष्ट कल्पना के परिणाम होते हैं तथा केवल वैयक्तिक होते हैं। दूसरे संवेदनशील मन के द्वारा प्रत्यक्षीकृत सूक्ष्म सत्यों की बाह्य अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उनकी उपयोगिता उनके परिणामों से निर्धारित की जानी चाहिए। हेल्युसिनेशन या दृष्टिभ्रम में अनुभव या प्रत्यक्ष के पीछे कोई सत्य नहीं होता तथा वे रोगग्रस्त स्नायुओं अथवा विकृत मस्तिष्क के कारण होते हैं। मनोजगत की अनुभूतियाँ यथार्थ होते हुए भी नित्य परिवर्तनशील सूक्ष्म जगत् से सम्बन्धित होती हैं तथा उसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं होता। इसके विपरीत वास्तविक आध्यात्मिक अनुभूति में हम अपरिवर्तनशील नित्य सत्ता के सीधे सम्पर्क में आते हैं तथा वह हमारे जीवन को परिवर्तित कर देती हैं। वह हमारे चरित्र को, हमारी चेतना को और संसार के प्रति हमारे दृष्टिकोण को परिवर्तित कर देती है। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने एक खरी-खोटी किन्तु अत्यन्त सार्थक बात कही थी, "जो लोग यह कहते हैं कि उन्होंने श्रीरामकृष्ण को देखा है लेकिन उनकी पवित्रता, त्याग और भक्ति के कुछ अंश को आत्मसात नहीं किया है, उनका दर्शन मानो एक

बन्दर को देखने के समान है।''

साधक को आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए उतावला नहीं होना चाहिए। जब मन प्रस्तुत होगा तब उचित समय पर वे (उपस्थित) होंगी। तब तक साधक के लिए अपने जीवन में परिवर्तन लाना ही श्रेयस्कर है। आश्चर्यजनक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हो रही हैं – ऐसी व्यर्थ कल्पनाओं से जीवन को बर्बाद करने के बदले पवित्र, शान्त और धीर चरित्र का निर्माण करना कहीं अधिक अच्छा है। जब मैं पाश्चात्य देशों में था तो मेरी मुलाकात सुनियोजित साधना द्वारा लाभ उठाने के इच्छुक अच्छे स्त्री-पुरुषों से हुई थी। स्विट्‌जरलेण्ड-वासी एक महिला में अद्भुत पवित्रता, शान्ति और आध्यात्मिक स्पन्दन थे, लेकिन वह दिवास्वप्न देखती थी। उसका आग्रह एक घूर्णिवात में फँस गया था। उसे एक मनोचिकित्सक के पास ले जाया गया, लेकिन वह उसकी कोई सहायता नहीं कर सका। उसने मुझे अपनी आन्तरिक अनुभूतियों के बारे में लिखा मैंने उसे कुछ आध्यात्मिक-निर्देश दिए, जिनसे उसे आश्चर्यजनक लाभ हुआ। हेग में मैं एक हॉलण्डवासी युवक से मिला, जिसे तूष्णीस्थिती का एक विचित्र अनुभव हुआ था, लेकिन उसके बाद वह नष्ट हो गया था। वह उस शान्ति को नियमित साधना द्वारा पुन: प्राप्त करने को आतुर था। मैंने उसे तथा उसकी पत्नी को उचित तरीके से ध्यान करने को कहा, जिससे उन्हें बहुत लाभ हुआ।

एक अतिसुसंस्कृत महिला ने, जो स्विट्‌जरलैण्ड के एक विश्वविद्यालय के प्राध्यापक की पत्नी थी, ''स्वामी ब्रह्मानन्द के उपदेश'' – (SPIRITUAL TEACHINGS OF SWAMI BRAHMANANDA) पुस्तक पढ़ी थी। वह मुझसे मिली और कुछ प्रश्न किए। मैंने उसे बहुत हद तक आध्यात्मिक रुचि-सम्पन्न पाया, लेकिन वह जीवन की समस्याओं का सामना नहीं कर पा रही थी। मैंने उसे अपने आन्तरिक और बाह्य जीवन में सन्तुलन स्थापित करने तथा 'सांसारिक-जीवन तथा आध्यात्मिक-जीवन की समान बातों' के प्रति निष्ठावान होने की सलाह दी। मैंने उसे कर्म और उपासना को एक साथ करने की तथा अपनी आत्मा को भगवन्नाम के संगीत से परिपूर्ण करने की सलाह दी। उसने निष्ठापूर्वक संघर्ष किया और उसमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ।

एक प्रोटेस्टेण्ट पादरी रोमाँ रोला की ''द लाइफ आफ श्रीरामकृष्ण'' (THE LIFE OF SRI RAMAKRISHNA) – पुस्तक पढ़कर मेरे पास आया। वह आध्यात्मिक-जीवन के विषय में व्यावहारिक निर्देश चाहता था और इस विषय में बहुत निष्ठावान था। मेरी उससे कई बार बातचीत हुई। मैंने उसे सलाह दी कि सर्वप्रथम यह पता लगाए कि वह वस्तुत: कहाँ खड़ा है और उसके बाद मेरे द्वारा बताए सरल निर्देशों का पालन करे। उसने सहयोग किया और शीघ्र ही नयी आन्तरिक समरसता की उपलब्धि की। उसके मित्रों ने कहा कि उसके प्रवचन पहले से अच्छे हो गए हैं। कुछ लोग कहते हैं कि पाश्चात्य देशों में योग की साधना नहीं की जा सकती। अनेक वर्षों के अनुभव के बाद मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यह सत्य नहीं है। पश्चिम में मुझे अनेक युवकों से मिलने का सौभाग्य हुआ था, जिनके मन

उच्चतर स्तर पर उन्नीत हुए थे। उपयुक्त व्यक्ति से मुलाकात होने पर विश्वस्त हुए बिना नहीं रहा जा सकता। मैं ऐसे अनेक युवा व्यक्तियों से मिला, जिन्होंने साधना द्वारा शान्ति और आनन्द प्राप्त किया था। निरन्तर की गई साधना का परिणाम कोई भी व्यक्ति अनुभव कर सकता है, चाहे वह पूर्व में हो या पश्चिम में। भगवान् मनुष्य की आन्तरिक लालसा देखते हैं, उसकी बाहरी पोशाक अथवा आदतों को नहीं।

आध्यात्मिक अनुभूतियों के प्रकार :

आध्यात्मिक अनुभूतियों की कोई सीमा नहीं है; उनके अनन्त प्रकार हैं। इनमें से कुछ निम्न कोटि की हैं; ये सच्ची आध्यात्मिक अनुभूतियों के बदले मार्ग में लगे सूचकों की तरह होती हैं। यदि मन समुचित रूप से सधा हो तो अतीन्द्रिय स्पन्दनों को सुना जा सकता है। इन्हें स्थूल-कर्णों से नहीं सुना जा सकता है। वे मन के भीतर सुनाई देते हैं। कभी-कभी तुम दूर बज रही घण्टियों की झंकार-सी सुन सकते हो। वे निर्जन स्थान में विशेषकर गम्भीर रात्रि में आसानी से सुनी जा सकती हैं। जब मैं मायावती[१८] में था, तब उन्हें सुना करता था। यहाँ विस्बाडन में भी इसे सुनता हूँ। जिस प्रकार पत्थर फेंकने पर तालाब में लहरें उठती हैं, उसी प्रकार कभी-कभी अन्तराकाश की गहराई से उठ रहे कुछ स्पन्दनों को अनुभव किया जा सकता है। एक विशेष प्रकार के ध्यान की स्थिति में विराट् मन का चिरन्तन स्पन्दन – अनाहत ध्वनि सुनी जा सकती है।

और फिर रहस्यमय ज्योति की अनुभूति है। यह अन्तर्ज्योति चैतन्य की ज्योति है। इनमें से कुछ अनुभूतियाँ अच्छी हैं क्योंकि वे यह बताती हैं कि तुम्हारा मन अधिक एकाग्र हो रहा है। लेकिन इसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। यदि तुम महत्त्व दोगे तो तुम बँध जाओगे। तुम अपना लक्ष्य भूलकर अवान्तर आकर्षणों में आसक्त हो जाओगे। जैसा मैंने बार-बार कहा है – केवल एकाग्रता की अधिक उपयोगिता नहीं है। मात्र एकाग्रता में आध्यात्मिक विषय का अभाव भी हो सकता है। हमारा लक्ष्य आध्यात्मिक होना चाहिए। यदि हम कोई रहस्यमय ध्वनि सुनें तो हमें उसके कारण को खोजना चाहिए; यदि हम कोई ज्योति देखें तो हमें उसके उत्स को खोजना चाहिए। परमात्मा, मनोजगत् की इन सभी घटनाओं का कारण है और वही हमारा लक्ष्य है। एक सच्चे साधक को ऐसी निम्न कोटि की अनुभूतियाँ होने पर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए; उसे उनके बारे में दूसरों से बात नहीं करनी चाहिए और इस तरह दूसरों को भी भ्रमित नहीं करना चाहिए। जप और ध्यान करते समय केवल इष्ट-देवता का चिन्तन करो, जो चैतन्य और आनन्द के विग्रह हैं। मनोजगत् के इन अनुभवों का चिन्तन मत करो।

---

१८. मायावती हिमालय में स्थित है, जहाँ रामकृष्ण मिशन की मासिक-पत्रिका 'प्रबुद्ध-भारत' का सम्पादकीय कार्यालय है। स्वामी यतीश्वरानन्द उस पत्रिका के सम्पादक के रूब में वहाँ १९२२ तथा १९२७ में थे।)

अधिकांश साधक अपनी भावनाओं को केन्द्रित करने के लिए एक ईश्वरीय-पुरुष अथवा स्त्री विग्रह के बिना ध्यान नहीं कर सकते। उन्हें ईश्वर के रूप से प्रारम्भ करना चाहिए तथा उसको कल्पना में स्पष्ट तथा चैतन्य देखना चाहिए। रूप हम में दैवी-गुणों को जाग्रत करता है और ज्यों-ज्यों हमारा ध्यान गहरा होता है, त्यों-त्यों हम इष्ट-देवता की चेतना के संस्पर्श में आने लगते हैं। इष्ट-देवता में हम व्यष्टि और समष्टि चेतना के बीच की कड़ी पाते हैं। उसके बाद हम उसी कड़ी को अपने भीतर प्राप्त करते हैं। बाद में हमारी चेतना व्यापक होने लगती है और हम व्यष्टि को समष्टि की अभिव्यक्ति समझने लगते हैं। अन्त में व्यष्टि और समष्टि परम सत्ता में विलीन हो जाते हैं, जो एकमेवाद्वितीयम् कहलाती है।

बाद में और प्रगति करने पर जो निराकार, साकार के रूप में अभिव्यक्त होता है, वही हमारी अनुभूतियों का केन्द्र हो जाता है। हम अपनी आत्मा तथा अन्य सभी की आत्माओं को एक अखण्ड-चैतन्य की अभिव्यक्तियों के रूप में अनुभव करने लगते हैं। हम सभी प्राणियों में परमात्मा का दर्शन करते हैं तथा सभी प्राणियों की सेवा करने की गहरी आन्तरिक प्रेरणा का अनुभव करते हैं। अपने में नैतिक द्वन्द्व पैदा किए बिना हम सभी के प्रति गहरे प्रेम और करुणा से पूर्ण हो जाते हैं।

सर्वप्रथम हम विराट् स्पन्दनों के संस्पर्श में आते हैं, उसके बाद विराट् मन के संस्पर्श में आते हैं और फिर हम अपनी सीमित चेतना और अनन्त चैतन्य के संयोग का अनुभव करते हैं। एक दृष्टिकोण से ये सब एक के भीतर एक समकेन्द्रित-वृत्त के समान हैं। हम विचारों के स्तर पर जी सकते हैं, हम अपनी तथा दूसरों की देहों को विचार-मात्र में पर्यवसित कर सकते हैं। हम इन वैचारिक रूपों को भी शान्त कर निर्गुण-निराकार के स्तर तक पहुँच सकते हैं तथा परम शान्ति और धन्यता का अनुभव कर सकते हैं।

किसी भी आध्यात्मिक अनुभूति की सत्यता तीन प्रकार से प्रमाणित की जानी चाहिए। (१) अपनी स्वयं की अनुभूति की पुनः पुनः प्राप्ति द्वारा सत्यापन। (२) अपनी स्वयं की अनुभूति की गुरु कथन के साथ तुलना करके सत्यता प्रमाणित करना। (३) अपनी अनुभूति की सत्-शास्त्रों के कथन से तुलना करके सत्यता प्रमाणित करना। यदि हम ये सत्यापन न करें तो आत्म-प्रवंचना की बहुत बड़ी सम्भावना है और हमारी अनुभूतियाँ हमारे अनियन्त्रित-मन की खतरनाक कल्पनाएँ बन सकती हैं।

जब तक हमें देहात्म-बोध है, तब तक हमें स्थूल जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित रखना चाहिए; जब हम मानसिक स्तर पर हों, तब हमें विराट् मन के साथ तारतम्य बनाए रखना चाहिए; और जब हम आध्यात्मिक स्तर पर आरोहण करें, तो हमें परमात्मा के साथ एकरस होना चाहिए। उच्चतर-स्तरों पर हम जिस प्रकाश, आनन्द और समरसता का अनुभव करते हैं, उन्हें निम्न स्तरों पर अभिव्यक्त करना चाहिए। तब हम जगत्-कल्याण के लिए दिव्य शक्ति, ज्ञान और आनन्द के मार्ग बन जाते हैं।

☐☐☐

अध्याय ३१

कुण्डलिनी जागरण और आध्यात्मिक विकास

देह, मन और आत्मा :

आध्यात्मिक विकास के रहस्य को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप से तथा चेतना की उन अवस्थाओं से परिचित होवें, जिनसे होकर हम जीवन में गुजरते हैं।

स्वरूपत: हम दिव्य हैं अर्थात् हमारी वास्तविक आत्मा ब्रह्म है। यह सत्य आत्मा अनन्त परमात्मा या ब्रह्म से अभिन्न है। आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न महापुरुषों का यह अनुभव है। अज्ञान इस वास्तविक स्वरूप को आवृत रखता है। अज्ञान के कारण हम यह सोचते हैं कि हम भगवान् से पृथक तथा ससीम मर्त्य जीव हैं। अज्ञान एक तेज़ शराब के समान है। यह व्यक्ति के स्वरूप को विस्मृत करा कर विभ्रम पैदा कर देता है। यह अज्ञान या अविद्या सर्वप्रथम हमारे स्वरूप को आवृत कर देती है और उसके बाद अनात्मा से हमारा तादात्म्य करा देती है। अविद्या के कारण सत्य आत्मा का देह, मन और इन्द्रियों के साथ तादात्म्य हो जाता है और अहंकार का मिथ्या भ्रम पैदा हो जाता है। परिणामस्वरूप हमें लगता है कि हमारी दो देहें हैं : भौतिक या स्थूल और मानसिक या सूक्ष्म। आत्म-विश्लेषण द्वारा हम पता लगा सकते हैं कि कारण शरीर कहलाने वाली हमारी एक और सूक्ष्मतर देह है। वास्तविक आत्मा इन तीनों देहों से परे है।

इसके अतिरिक्त हम चेतना की तीन अवस्थाओं से बँधे हुए हैं : जाग्रतावस्था, जिसमें चैतन्य का स्थूल देह के साथ तादात्म्य रहता है तथा हमें स्थूल जगत् का बोध होता है; स्वप्नावस्था, जिसमें चेतना का सूक्ष्म शरीर के साथ तादाम्य रहता है तथा हम मानो संस्कारों द्वारा निर्मित स्वप्न-जगत् में निवास करते हैं; सुषुप्तावस्था, जिसमें चेतना का कारण शरीर के साथ तथा कारण जगत् में तादात्म्य रहता है तथा जहाँ मन निष्क्रिय रहता है।

मनीषियों का कथन है कि इन तीन अवस्थाओं से परे तुरीय नामक एक अतीन्द्रिय चेतनावस्था है, जिसमें व्यक्ति अपने विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप की पुन: उपलब्धि करता है। परन्तु विशुद्ध-चैतन्य की इस उच्चतम अवस्था, जहाँ जीव यह अनुभव करता है कि वह अनन्त परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, की उपलब्धि अचानक नहीं होती। अधिकांश साधकों में यह धीरे-धीरे होता है। अध्यात्म-चेतना की उपलब्धि एक क्रमिक-विकास के रूप में होती है। पूर्णतम ज्ञानोदय की उपलब्धि के पूर्व साधक विभिन्न-अवस्थाओं

से होकर गुजरता है। अब हम इसी आध्यात्मिक-विकास का वर्णन करेंगे।

अपनी चेतनावस्था में हमारा स्थूल देह के साथ तादात्म्य रहता है। तब हम अपने को लम्बे या छोटे कद का, युवा या वृद्ध, गोरा या साँवला (इत्यादि) समझते हैं। मन के साथ तादात्म्य होने पर हम दु:ख, पीड़ा अथवा आनन्द का अनुभव करते हैं। अहंकार के साथ तादात्म्य होने पर हम "मैं कर्ता हूँ, मैं बद्ध या मुक्त हूँ" – इस तरह सोचते हैं।

हमें अविद्या से छुटकारा पाकर हमारे आध्यात्मिक स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए। हम यह इच्छामात्र से नहीं कर सकते। यदि इच्छाएँ घोड़े होतीं, तो सभी सवारी करते। हमने खुद को आत्मविमोहित कर दिया है। अब हमें इस सम्मोहन को दूर करना है। यह कैसे करें? हमें अपनी पुरातन आत्मा का पुन:निर्माण करना है, उसे पुन:प्राप्त करना है।

हमें चिन्तन, भावना और क्रिया की सभी पुरानी बुरी आदतों को नष्ट करना, शुभ नैतिक आदतों का निर्माण करना तथा अपने विचारों, भावनाओं और क्रियाओं को आध्यात्मिक-दिशा प्रदान करनी चाहिये। तब हम पवित्र होते हैं।

नैतिक आचरण, प्रार्थना और भगवन्नाम के जप और ध्यान से जब चित्त शुद्ध होता है तब अन्तर्निरीक्षण की क्षमता का विकास होता है। तब हम अपने भीतर-चेतना के विभिन्न केन्द्रों का, योगियों की गुप्त सोपान-पंक्ति का, आविष्कार करते हैं, जो चेतना के विभिन्न-स्तरों से संयुक्त उतराव-घाट युक्त एक गुप्त उच्चालक लिफ्ट के समान है। तन्त्रों में ये स्तर चक्र कहलाते हैं। हम सभी जानते हैं कि हमारे मनोभावों के परिवर्तन के साथ ही हमारे विचार, भावनाएँ और क्रियाएँ परिवर्तित होती हैं। इन मनोभावों का चेतना के उन केन्द्रों के साथ कुछ लेना-देना रहता है, जिनके साथ हम किसी समय विशेष में सम्बन्धित रहते हैं।

शोपेनहावर का कथन है कि बालक के युवा होने पर काम उसकी इच्छा का केन्द्र हो जाता है। तब वह काम द्वारा प्रभावित विचारों, भावनाओं और क्रियाओं के एक नये जगत् में जीता है। अत्यधिक क्षुधातुर होने पर हम पेट का अनुभव करते हैं। गम्भीर भावनाओं से दोलायमान होने पर हमें हृदय का अनुभव होता है। विचारों के स्पष्ट और विषय-प्रबोधक होने पर हम भ्रूमध्य के बिन्दु का अनुभव करते हैं। इस से दो बातें स्पष्ट होती हैं : प्रथम यह कि हमारी चेतना के विभिन्न केन्द्र हैं और द्वितीय यह कि हम एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में निरन्तर आते-जाते रहते हैं। यहाँ हमने केवल भौतिक केन्द्रों की चर्चा की है। हमारे भौतिक अस्तित्व से सम्बन्धित इन चक्रों के अतिरिक्त आध्यात्मिक-बोध के उच्चतर केन्द्र भी हैं। वे नेत्रों द्वारा देखे नहीं जा सकते और सामान्य मन द्वारा समझे भी नहीं जा सकते। ये सूक्ष्म आध्यात्मिक केन्द्र हैं, जिन्हे समुन्नत योगी ही पहचान सकते हैं। तन्त्र-शास्त्रों के अनुसार चेतना के सात केन्द्र हैं, जो चक्र कहलाते हैं।

चेतना के विभिन्न केन्द्रों तथा उनकी क्रियाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा होना आवश्यक है। अति चेतनावस्था की बातों का वर्णन करते समय हमें बाध्य होकर भौतिक-स्तर की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। 'कुण्डलिनी' का वर्णन करते समय भी यही किया

जाता है, यह मानव में प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्ति है, जो 'सर्पेण्ट-पावर' या सर्पाकार-शक्ति भी कहलाती है। उसकी तुलना कुण्डलाकार सर्प से की जाती है, जो मेरूदण्ड के मूलाधार में सो रहा है।

इडा पिंगला और सुषुम्ना :

अपने सृजनात्मक पक्ष में चेतना कुण्डलिनी या कुण्डलाकार शक्ति कहलाती है। योग की भाषा में, वह कुण्डली मार कर, रीढ़ के निम्नतम भाग, मूलाधार में सोई रहती है। अध्यात्म-प्रबुद्ध व्यक्ति में यह शक्ति सुषुम्ना नामक आध्यात्मिक मार्ग से प्रवाहित होती है। इस आध्यात्मिक मार्ग या नाड़ी के साथ इडा और पिंगला नामक दो और मार्ग या नाड़ियाँ रहती हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये रीढ़ के बायीं और दायीं ओर तथा सुषुम्ना मध्य में रहती है। निम्नतम अथवा मूलाधार चक्र में जुड़ी हुई तीन नाड़ियों की कल्पना करो। मध्यवर्ती नाड़ी आध्यात्मिक है, जबकि अन्य दो मानव के सामान्य भौतिक और मानसिक जीवन से सम्बन्धित हैं। एक सामान्य मानव में इन नाड़ियों के मिलन स्थल में सञ्चित होने वाली शक्ति केवल दोनों ओर वाली नाड़ियों से होकर प्रवाहित होती है, बीच वाली नाड़ी से नहीं। अत: सारी शक्ति की दिशा परिवर्तित हो जाती है और वह सामान्य सांसारिक चिन्तन, भावनाओं और क्रियाओं में ही अभिव्यक्त होती है।

प्रत्येक चक्र व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और विराट् के बीच चेतना के उस स्तर-विशेष के सम्पर्क का बिन्दु होता है। नीचे के तीन चक्रों का सम्बन्ध, खान-पान, इन्द्रिय सुख तथा काम-सुख आदि, मानव के पशु-जीवन से रहता है। मानव का प्रथम आध्यात्मिक जागरण उस समय होता है, जब उसकी चेतना हृदय चक्र तक उन्नीत होती है। यहाँ वह अपनी आत्मा का आविष्कार करता है।

चेतना के इन केन्द्रों का वर्णन कभी-कभी भौतिक स्नायु-समुहों तथा उनसे संयुक्त ग्रन्थियों के रूप में किया जाता है। लेकिन उन्हें उनके साथ एक नहीं समझना चाहिए। जैसा कि सर जॉन वुड्रॉफ अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सर्पण्ट-पावर' में मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि ये 'पद्म' या चक्र अत्यन्त सूक्ष्म केन्द्र हैं, जो रीढ़ की हड्डी के निकट स्थित विभिन्न स्थानों, स्नायु-समूहों, ग्रन्थियों, शिराओं, धमनियों तथा उन विभिन्न प्रदेशों में स्थित शारीरिक अंगों को नियन्त्रित और उज्जीवित करते हैं।

चक्र अथवा चेतना के केन्द्र :

यदि हम स्थूल शरीर को परिव्याप्त करने वाले सूक्ष्म शरीर पर मन को एकाग्र करें तो हमें अपने मानसिक एवं भावनात्मक स्वभाव की स्पष्ट धारणा हो सकेगी और हम अपने भावनात्मक स्वभाव को ही नहीं बल्कि इन्द्रियों एवं स्थूल अंगों को भी नियन्त्रित करना सीख सकेगें। हमारे आचार्यों का कथन है कि जिस प्रकार हमारी भौतिक देह के अज्ञात या छुपे हुए अंग तथा गतिविधियाँ हैं, जिनके बारे में हमें बोध नहीं है, उसी प्रकार मन की अवचेतन और

अतिचेतन परतें भी हैं। हमारी बहुत सी गहरी बद्धमूल इच्छाएँ और वासनाएँ अवचेतन में पड़ी रहती हैं। आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए उन्हें खोजकर निर्मूल करना होगा। अतिचेतन-स्तर आध्यात्मिक अनुभूति तथा आनन्द का स्तर है।

कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बहुत से मिलन बिन्दु हैं। ये ही पूर्वोल्लिखित चक्र हैं, जो मेरुदण्ड के निकट मस्तक से लेकर मेरुदण्ड के निम्न भाग तक स्थित हैं। आत्मा, मन और देह इन मिलन-स्थलों पर मिलते तथा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इन तीनों शरीरों के बीच जानकारी इन चक्रों से होकर आती जाती है। लेकिन सामान्य लोगों में नीचे के तीन चक्र ही सक्रिय रहते हैं और ऊपर वाले प्रसुप्त पड़े रहते हैं। विशेष यौगिक साधनाओं से ये उच्चतर केन्द्र प्रबुद्ध किए जा सकते हैं और प्रत्येक केन्द्र सक्रिय होने पर एक विशेष प्रकार की चेतना प्रकट करता है। देह और मन के बीच इस सम्बन्ध के कारण ये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। हम जानते हैं कि हमारे विचार और भावनाएँ देह को प्रभावित ही नहीं करते बल्कि उसे रूपान्तरित भी कर सकते हैं।

स्वार्थपर पाशविक विचार और भावनाएँ मानव के पाशविक जीवन से सम्बन्धित चेतना के निम्न केन्द्रों को प्रभावित करते हैं। उच्चतर विचार और भावनाओं की प्रतिक्रिया उच्च केन्द्रों पर होती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हम में से प्रत्येक में तीन विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं : तामसिक, राजसिक और सात्त्विक। उच्चतर जीवन के लिए संघर्ष रहित आलस्य और विषय-भोग की स्थिति तमस् की अवस्था है। जीवन के उच्चतर और निम्नतर स्तरों के बीच संघर्ष की अवस्था रजस् की अवस्था है। तमस् और रजस् का सम्बन्ध निम्न चक्रों से रहता है। उच्चतर चक्र सत्त्व से सम्बन्धित होते हैं। सत्त्व में उच्चतर स्वभाव अथवा चेतना का प्रभुत्व होता है, लेकिन अशुभ पूरी तरह रूपान्तरित नहीं हो जाता। अचेतन मन में अशुभ के बीज पड़े रहते हैं, उन्हें निर्मूल नहीं किया जा सकता। लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति के प्रकाश द्वारा उन्हें भस्म किया जा सकता है।

सत्त्व की अवस्था में ही सुषुम्ना सक्रिय हो सकती है। व्यक्तित्व में कार्यरत मानसिक शक्तियों को सामञ्जस्यपूर्ण होना चाहिए। जब मन अत्यधिक क्रियाशील अथवा चञ्चल होवे तो निश्चित जानो कि हमारी बहुत सी मानसिक शक्ति दूसरी दिशा में प्रवाहित हो रही है। जब हम अपने आप को अत्यधिक क्रियाशील, चञ्चल, क्रुद्ध, उदास अथवा बहुत प्रमोदकारी होने देते हैं, तब हम अपनी बहुत सी मानसिक शक्ति का अपव्यय करते हैं। कुण्डलिनी जागरण इतना आसान नहीं है, जितना लोग सोचते हैं। इसके लिए महान् इच्छा शक्ति और अनुशासन आवश्यक है। प्रारम्भ में केवल इच्छा शक्ति की सहायता से मानसिक शक्ति को सुषुम्ना से प्रवाहित करना कठिन है।

अतएव हमें ईश्वर के रूप का हृदय-चक्र में ध्यान करने को कहा जाता है। हम भगवद्भक्ति की सहायता से मन को हृदय में एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं। शक्ति के सभी प्रकार के अपव्यय को रोका जाता है और हृदय हमारी चेतना का केन्द्र बन जाता है। ऐसा

करने पर भगवत्कृपा से कुण्डलिनी जाग्रत होती है। प्रारम्भ में हम पद्म, ज्योति, इष्ट के रूप आदि की कल्पना से प्रारम्भ करते हैं, लेकिन आध्यात्मिक-चेतना के जाग्रत होने पर इन कल्पनाओं में निहित सत्य का साक्षात्कार होता है। तब हमें पता चलता है कि हमारी कल्पना की वस्तुएँ वास्तविक हैं।

जब तक वासना का बीज, पूर्व अनुभवों के संस्कार, मन में विद्यमान हैं, तब तक आध्यात्मिक अनुभूति स्थायी नहीं हो सकती। प्रारम्भ में हम केवल कुछ झलकें प्राप्त करते हैं। लेकिन प्रकाश की प्रत्येक क्षुद्र किरण कुछ संस्कारों को भस्म कर देती है। इस प्रकार वासनाओं के अधिकांश बीजों के नष्ट होने पर ही निर्विकल्प समाधि नामक आध्यात्मिक चेतना की उच्चतम अवस्था की उपलब्धि हो सकती है। आंशिक अनुभूतियाँ अस्थायी आध्यात्मिक दर्शन, यदा कदा होने वाली भावावस्था, चाहे वे अपने आप में कितनी ही अच्छी क्यों न हो, हमें चरम पूर्णता या धन्यता प्रदान नहीं कर सकती। निम्न स्तरों पर विचरण करने तक हम कभी सुरक्षित नहीं हैं।

एकमात्र आध्यात्मिक अनुभूति से ही भगवान् और आत्मा हमारे लिए यथार्थ हो सकते हैं। दृश्य-जगत् के पीछे स्थित सत्ता का अनुसंधान धर्म का लक्ष्य है। सामान्यतया हम अनेक बाह्य-वस्तुओं पर निर्भर करते हैं लेकिन केवल भगवान पर निर्भर नहीं होते, जो एकमात्र सत्य हैं। हमारे लिए असत्य वस्तुएँ सत्य हो गई हैं तथा हमने सत्य वस्तु को असत्य बना दिया है। सत्य को जानने की शक्ति हम में प्रसुप्त है। हमें उस शक्ति को उद्बुद्ध करना है। प्रत्येक चक्र पर हमें एक नयी अनुभूति होती है, सत्य के नये पक्ष का ज्ञान होता है। हृदय-चक्र के प्रबुद्ध होने पर व्यक्ति को स्वयं का, देह और विचारों से पृथक् चेतना के एक ज्योतिर्मय बिन्दु की तरह एक जीवात्मा के रूप में अनुभव होता है। कुण्डलिनी के भ्रूमध्य में पहुँचने पर साधक को यह अनुभूति होती है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। तथा आत्मा महत् आत्मा का अंश है। अधिकांश लोग इस अवस्था से आगे नहीं जा सकते।

सर्प के साथ खिलवाड़ मत करो :

इस विषय में सभी साधकों को एक बात ध्यान रखना चाहिये। शारीरिक और मानसिक पवित्रता के बिना साधना करने वाले लोग आध्यात्मिक दृष्टि से अपनी शक्ति को व्यर्थ गँवा ही नहीं रहे, बल्कि अत्यधिक शक्ति संचय का खतरा भी मोल ले रहे हैं। क्यों कि वह शक्ति सांसारिक दिशा में प्रवाहित होकर काम-जीवन सहित उनके सांसारिक-जीवन को प्रबलतर बना सकती है और इस तरह उनकी महान् हानि कर सकती है। श्रीरामकृष्ण द्वारा कथित उस किसान की कथा को याद करो, जिसने अपने खेत को सींचने तथा अपनी फसल तक पानी पहुँचाने के लिए कठोर परिश्रम किया, लेकिन उसे बाद में पता चला कि सारा जल चूहों द्वारा बनाए गए छिद्रों से बह गया है।[१] तात्पर्य यह कि संसारी व्यक्ति में सांसारिक इच्छाएँ उन छेदों

---

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत

के सदृश हैं, जिनसे शक्ति सांसारिक दिशा में बह जाती है।

स्विट्जरलैण्ड में रहते समय एक बार मैं एक प्रसिद्ध मनोविज्ञ से मिलने गया। उसके अनेक शिष्य थे, जिन्हें वह योग सिखाता था। मैंने उसकी पत्नी को 'कुण्डलिनी शक्ति' का चित्र बनाते देखा और उससे पूछा, "सर्प से खिलवाड़ करना क्या खतरनाक नहीं है?" उसने हँसते हुए कहा, "अरे नहीं, स्वामीजी, लोग इसे गम्भीरता से नहीं लेते।" लेकिन कभी-कभी कुछ लोग इसे गम्भीरता से ग्रहण करते हैं और चित्तशुद्धि के बिना ही कुण्डलिनी के जागरण का प्रयत्न करते हैं। पर्याप्त पवित्रता के बिना एकाग्रता का अभ्यास खतरनाक है। एकाग्रता के द्वारा वर्धित शक्ति यदि आध्यात्मिक दिशा में प्रवाहित न हो सके, तो बहिर्मुखी व्यक्ति में वह किसी प्रबल वासना के रूप में बाहर प्रकाशित होकर उसकी और दूसरों की हानि कर सकती है। अन्तर्मुखी व्यक्ति में सञ्चित शक्ति बाहर अभिव्यक्त न भी होवे। ऐसी स्थिति में वह उस व्यक्ति में एक भयानक मानसिक घूर्णिवात का निर्माण कर उसके स्नायुओं और मन को झकझोर कर उसे पूरी तरह भग्न कर सकती है।

कुछ लोगों में ध्यान द्वारा मन के आलोड़ित होने पर उसमें छुपी सभी शुभ और अशुभ बातें बड़े वेग से सतह पर आकर शारीरिक और मानसिक पतन कर सकती हैं। 'सर्प' के साथ खिलवाड़ करने के इच्छुक अपवित्रात्मा लोग सदा कष्ट पाते हैं। कुछ और दूसरे लोगों में सञ्चित शक्ति दूर दर्शन, मन की बात जानना आदि क्षुद्र सिद्धियों के रूप में अभिव्यक्त होती है और ये शक्तियाँ उन लोगों को अहंकारी किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से दिवालिया बना देती हैं। कुछ अन्य लोगों में प्रसुप्त शक्ति का आंशिक जागरण होता है। आध्यात्मिक शक्ति एक उच्चतर केन्द्र तक उठती है, लेकिन पुनः नीचे गिरती है, जिसके भयानक परिणाम होते हैं और सांसारिक इच्छाएँ उत्तेजित हो जाती हैं। लेकिन जप, ध्यान और प्रार्थना के अभ्यास के साथ नैतिक अनुशासन का पालन करने वाले निष्ठावान साधक के लिए भय का किंचित मात्र भी कारण नहीं है। उसके लिए आध्यात्मिक जीवन पूरी तरह निरापद है।

आध्यात्मिक-विकास एक सा नहीं होता :

एक कठिन समस्या का सामना प्रत्येक साधक को करना पड़ता है और वह यह है कि साधना बिरले ही एक समान होती है। आध्यात्मिक विकास सीधी लकीर में नहीं होता। एक उच्चतर केन्द्र में पहुँच कर साधक पाता है कि मार्ग बन्द है। वह उस केन्द्र पर अटक जाता है और उसकी शक्ति दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगती है। इसमें से पुनः मार्ग पाने में उसे लम्बा समय लग सकता है। कभी-कभी साधक बिना प्रगति किये एक ही स्थान पर बार-बार घूमता रहता है। महान् ईसाई योगी सन्त जॉन ऑफ द क्रॉस द्वारा 'आत्मा की अन्धकार रात्रि' (DARK NIGHT OF THE SOUL) के रूप में वर्णित ये 'शुष्क' काल सभी साधकों के जीवन में प्रायः अपरिहार्य रूप से उपस्थित होते हैं। लेकिन नैतिक पथ का निष्ठापूर्वक अनुसरण करने से उनकी तीव्रता और काल को कम किया जा सकता है। मन की पवित्रता, कठोर नियमितता और भक्ति द्वारा एकरस आध्यात्मिक प्रगति सुनिश्चित हो जाती है।

कुण्डलिनी जागरण का वर्णन सरल और आसान प्रतीत होता है। लेकिन वास्तव में वह अत्यधिक कठिन है। जैसा कि गीता में कहा गया है :[२] इसके लिए प्रयत्नशील सहस्र व्यक्तियों में सम्भवत: केवल एक का ही जागरण हो पाता है। लेकिन हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस तरह से लोग जीवन-यापन करते हैं, उसे देखते हुये यह अच्छा ही है कि उन की कुण्डलिनी बहुत धीरे जाग्रत होती है, या होतीं ही नहीं। अधिकांश लोग उसके जागरण के लिये बिल्कुल तैयार नहीं होते। वे उससे पैदा होने वाली महान् प्रतिक्रियाओं को सहन नहीं कर सकते। वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में कुण्डलिनी को भूलकर केवल भगवान् का ही स्मरण करना चाहिये। अपनी समस्त शक्ति और मनोयोग अपने इष्ट के प्रति प्रेम में लगाओ। कुण्डलिनी की बात उन पर छोड़ दो। वे तुम्हारे आध्यात्मिक कल्याण की चिन्ता करेंगे। भगवान् उचित समय पर तुम्हारा आध्यात्मिक जागरण करेंगे।

जैसा क़ि मैं बार-बार कह चुका हूँ – कर्म, ज्ञान और भक्ति के समन्वय के मार्ग का अनुसरण करना श्रेयस्कर है। ध्यान के साथ-साथ निष्काम कर्म करते जाओ इस से मन शुद्ध और बलवान् होता है। आत्म निरीक्षण करो और मन को शान्त और निर्लिप्त बनाओ। इसके बाद का काम जप से हो जाएगा। उचित पद्धति से किया गया जप आन्तरिक समरसता पैदा करता है, जो समरसता सुषुम्ना को गतिशील करते हुए उस से प्रवाहित होती है।

कुण्डलिनी जागरण का सर्वश्रेष्ठ उपाय :

हमारा आध्यात्मिक-पथ चाहे वह हिन्दू, बौद्ध, ईसाई अथवा सूफी किसी का भी क्यों न हो, हम सभी को जिन तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है, वे हैं – शुद्धिकरण, ध्यान और ईश्वर अथवा भगवत्-सत्ता की अनुभूति। यहाँ एक प्रश्न उठता है : "आध्यात्मिक चेतना के जागरण के लिए ध्यान का प्रारम्भ कैसे करें?" हम में से एक ने हमारे अध्यात्मगुरु स्वामी ब्रह्मानन्दजी से प्रश्न किया था, "महाराज, कुण्डलिनी अथवा प्रसुप्त आध्यात्मिक-चेतना का जागरण कैसे करते हैं?" इसके उत्तर में स्वामी ब्रह्मानन्द ने कहा :

कोई-कोई कहते हैं, उसकी एक विशेष साधना है, जिसके द्वारा वह जागृत होती है। मेरा विश्वास है कि जप-ध्यान द्वारा ही जागृत होती है। कलियुग में जप-ध्यान ही श्रेष्ठ है। जप के समान सहज साधन और नहीं है। जप के साथ-साथ ध्यान करना चाहिये।[३]

भगवान् की पिता, माता, ज्योतिस्वरूप आदि विभिन्न रूपों में धारणा की जा सकती है। हृदय को अपनी चेतना का केन्द्र बनाकर परमात्मा का वहाँ पर किसी भी रूप में चिन्तन करो, जो तुम्हें रूचिकर लगे। भगवन्नाम अथवा शास्त्रांश का, उसके द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय रूप का चिन्तन करते हुए आवृत्ति करो। यह एक सरल ध्यान पद्धति है, लेकिन बाद में वह उस ध्यान तक ले जाती है, जो जीवात्मा और परमात्मा का मिलन करने में सहायक होता है।

---

२. भगवद्गीता ७.३ ३. ध्यान, धर्म तथा साधना, (तृतीय संस्करण), पृ. ८६

भगवन्नाम और भगवच्चिन्तन में महान् शक्ति है। भगवन्नाम का जप करते समय तथा परमात्मा का ध्यान करते समय ऐसा अनुभव करना चाहिये कि भगवन्नाम तथा चिन्तन देह, मन, इन्द्रियों और अहंकार को पवित्र से पवित्रतर करते जा रहे हैं। तीव्रतापूर्वक ऐसा करने से श्वास-प्रश्वास सन्तुलित, प्राण समरस, मन शुद्ध और शान्त तथा अहंकार विराट्-केन्द्रित अथवा व्यापक हो जाता है। इसके फलस्वरूप क्रमशः आध्यात्मिक-विकास होता है। ध्यान सह भगवन्नाम का जप एक दिव्य संगीत पैदा करता है, जो आध्यात्मिक मार्गों को साफ करता है, प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करता है तथा उसे उज्जीवित उच्चतर केन्द्रों से प्रवाहित करता है।

कुण्डलिनी आरोहण का क्रम :

उच्च से उच्चतर आरोहण करते हुए चेतना ऊर्ध्वाधर तथा समस्तर, दोनों ही दिशाओं में प्रगति करती है। जीवात्मा और परमात्मा एक-दूसरे के निकट आते जाते हैं। उपनिषद् में इसी के प्रतीक के रूप में एक वृक्ष की ऊपरी तथा निचली शाखाओं पर रहने वाले, सुन्दर पंखों वाले दो पक्षियों का रूपक प्रस्तुत किया गया है।[४] नीचे वाला पक्षी ऊपर की ओर देखता है और अन्त में दोनों के एकत्व की अनुभूति करता है। योग की भाषा में नीचे वाला पक्षी मूलाधार में बैठा जीवात्मा है। ऊपर वाला पक्षी मस्तिष्क में स्थित सहस्रार पद्म में बैठा परमात्मा है। व्यष्टि चेतना या जीवात्मा की चेतना सुषुम्ना-रूपी आध्यात्मिक मार्ग से प्रवाहित होती हुई उच्चतम बिन्दु तक पहुँच कर परमात्मा के साथ अपना एकत्व अनुभव करती है। यह जीवात्मा का उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था और अनुभूति तक का आरोहण है। अधिकांश जीव इस अवस्था से पुनः दृश्य जगत् में लौट कर वापस नहीं आते। लेकिन जैसा श्रीरामकृष्ण कहते हैं, कुछ ऋषि उस आध्यात्मिक उच्चावस्था से स्वेच्छापूर्वक लोक कल्याण के लिए नीचे आते हैं।[५]

आईए, अब हम देखें कि प्रत्येक चक्र या केन्द्र से सम्बन्धित अनुभूति के विषय में, इस विषय के सबसे महान् आधुनिक प्रमाण-पुरुष श्रीरामकृष्ण का, अपनी ही अनुभूतियों के आधार पर, क्या कथन है :

बड़ी साधना करने के बाद कहीं कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है। नाड़ियाँ तीन हैं : इडा, पिंगला और सुषुम्ना। सुषुम्ना के भीतर छः पद्म हैं। सबसे नीचे वाले पद्म को मूलाधार कहते हैं। उससे ऊपर हैं स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इन्हें षट्चक्र कहते हैं।

कुण्डलिनी-शक्ति जब जागती है, तब वह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, इन सब पद्मों को क्रमशः पार करती हुई हृदय के अनाहत-पद्म में विश्राम करती है। जब लिंग, गुह्य और नाभि से मन हट जाता है, तब ज्योति के दर्शन होते हैं। साधक आश्चर्य चकित होकर ज्योति देखता

---

४. मुण्डकोपनिषद् ३.१.१-३; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.६-७ ५. श्रीरामकृष्णवचनामृत

है और कहता है, यह क्या, यह क्या?

छहों चक्रों का भेदन हो जाने पर कुण्डलिनी सहस्रार पद्म में पहुँच जाती है; तब समाधि होती है।

वेदों के मत से ये सब चक्र एक-एक भूमि हैं। इस तरह सात भूमियाँ हैं। हृदय चौथी भूमि है। हृदय वाले अनाहत पद्म के बारह दल हैं।

विशुद्ध-चक्र पाँचवी भूमि है। जब मन यहाँ आता है, तब केवल ईश्वरी-प्रसंग कहने और सुनने के लिए प्राण व्याकुल रहते हैं। इस चक्र का स्थान कण्ठ है। वह पद्म सोलह दलों का है। जिसका मन इस चक्र पर आया है, उसके सामने अगर विषय की बातें – कामिनी और कांचन की बातें होती हैं, तो उसे बड़ा कष्ट होता है। उस तरह की बातें सुनकर वह वहाँ से उठ जाता है।

इसके बाद छठी भूमि है आज्ञा चक्र, यह दो दलों का है। कुण्डलिनी जब यहाँ पहुँचती है, तब ईश्वरी-रूप के दर्शन होते हैं। परन्तु फिर भी कुछ ओट रह जाती है, जैसे लालटेन के भीतर की बत्ती – जान तो पड़ता है कि हम बत्ती पकड़ सकते हैं, परन्तु शीशे के भीतर है – एक पर्दा है, इसलिए छुई नहीं जाती।

इससे आगे चलकर सातवीं भूमि है – सहस्रार पद्म। कुण्डलिनी के वहाँ जाने पर समाधि होती है। सहस्रार में सच्चिदानन्द शिव है, वे शक्ति के साथ मिलित हो जाते हैं। शिव और शक्ति का मेल।

सहस्रार में मन के आने पर निर्बीज-समाधि होती है। तब बाह्य-ज्ञान कुछ भी नहीं रह जाता। मुख में दूध डालने से दूध गिर जाता है। इस अवस्था में रहने पर इक्कीस दिन में मृत्यु हो जाती है। काले पानी में जाने पर जहाज फिर नहीं लौटता।

ईश्वर कोटि और अवतारी पुरुष ही इस अवस्था से उतर सकते हैं। वे भक्ति और भक्त लेकर रहते है, इसीलिए उतर सकते हैं। ईश्वर उनके भीतर विद्या का मैं' – 'भक्त का मैं', केवल लोक शिक्षा के लिए रख देते हैं। उनकी अवस्था फिर ऐसी होती है कि छठी और सातवीं भूमि के भीतर ही वे चक्कर लगाया करते हैं।[६]

ये पूर्ण ज्ञानी महापुरुष एक ही आत्मा को सब में प्रकाशित देखते हैं और सभी लोगों के प्रति प्रेम और करुणा से पूर्ण होते हैं।

ये महापुरुष ही अतिचेतन का सन्देश हम तक पहुँचाते हैं। उनका सारा जीवन लोगों के आध्यात्मिक मार्गदर्शन में व्यतीत होता है। सभी बुराईयों और स्वार्थ से शून्य, परमात्मा में नित्य मग्न, ये महापुरुष ही जगत् के कल्याण के लिए आदर्श जीवन यापन करते हैं। वे मानव की आध्यात्मिक नियति के, मानवात्मा के दिव्यीकरण के साक्षी और प्रमाणस्वरूप होते हैं। हमें उन के पदचिन्हों का अनुसरण करना चाहिए।

□□□

---

६. श्रीरामकृष्णवचनामृत - २, (नवम संस्करण), पृ. २४३-२४५

आध्यात्मिक विकास का क्रम

(रेखाचित्र)

(Spiritual Unfoldment Chart)

मानवतारोपी

क ख

१

क ख

२

क ख
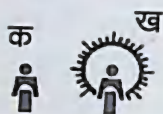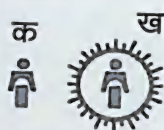
३

अमानवतारोपी
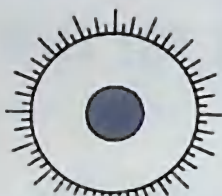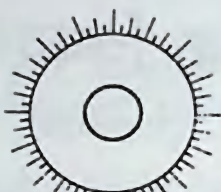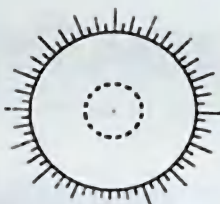
४ ५ ६
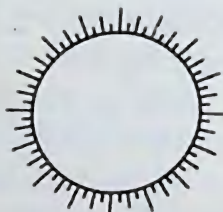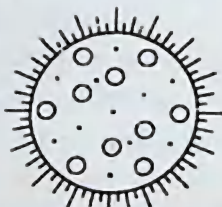
७ ८
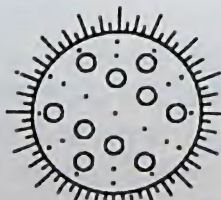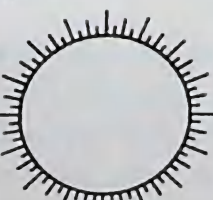
९ १० ११

(१) एक साधारण व्यक्ति 'क' एक दिव्य महापुरुष 'ख की और आकृष्ट होता है और उसकी आराधना करता है।

(२) 'क' 'ख' में अधिकाधिक दिव्यता का अनुभव करता है।

(३) 'क' यह अनुभव करता है कि 'ख' अनन्त परमात्मा का विशेष अभिव्यक्त रूप है, जबकि वह स्वयं परमात्मा का एक रूप है अवश्य, पर एक सामान्य रूप है।

(४) 'क' को यह अनुभव होता है कि वह आत्मा है, मानो शुद्धचैतन्य का एक ज्योतिर्मय बिन्दु है, और परमात्मा शुद्धचैतन्य के वृत्त के समान है। किन्तु बिन्दु वृत्त से अधिक सत्य प्रतीत होता है।

(५) 'क' को यह अनुभव होता है कि बिन्दु और वृत्त दोनों समान रूप से सत्य हैं।

(६) 'क' को वृत्त बिन्दु से अधिक सत्य प्रतीत होता है।

(७) बिन्दु-चेतना वृत्तरूपी अखण्डसत्ता में विलीन हो जाती है।

(८) वृत्त, जो चरम-सत्य या परमात्मा है, न्यूनाधिक दिव्यता वाले विभिन्न आत्माओं के रूप में अभिव्यक्त होते हुए दिखायी देता है।

(९) जो चरम सत्य या परमात्मा पहले विभिन्न आत्माओं के रूप में अभिव्यक्त होता है, वही मानवों के रूप में, तथा वस्तुतः सभी प्राणियों और वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त होता है। जिस दिव्य महापुरुष या ईश्वरावतार 'ख' की आराधना के साथ 'क' ने अपने आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ किया था, वह अब नये रूप में पुनः प्रकट होता है। ईश्वरावतार एवं महापुरुष अनेक हैं, परन्तु भक्त का विशेष सम्बन्ध स्वयं के इष्टदेवता से ही होता है।

(१०) एक ही परमात्मा विभिन्न आत्माओं के रूप में अभिव्यक्त होता है।

(११) एकमेवाद्वितीयम् – अखण्ड सत्ता।

पूर्ण ज्ञानी महापुरुष आध्यात्मिक चेतना की उपर्युक्त नवीं, दसवी और ग्यारहवीं में से किसी भी अवस्था में रह सकता है। आध्यात्मिक चेतना की और भी अनेक अवस्थाएँ है जिनमें वह अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकता है।

आध्यात्मिक अनुभूतियों का कोई अन्त नहीं है।

संपादकीय

[पूर्व पृष्ठों पर अंकित रेखाचित्र एवं उसके विवरण को स्वामी यतीश्वरानन्दजी ने स्वयं यूरोप में अपने प्रवास के प्रारंभिक काल में संभवत: १९३४ में, तैयार किया था। इनमें स्वामीजी ने किसी देवता की साधारण भक्ति से प्रारंभ कर चरम अद्वैतानुभूति तथा उसके बाद सर्वग्राही अखंड सत्य-दर्शन तक की जिन विभिन्न प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों को एक साधक अपनी आध्यात्मिक यात्रा की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त करता है, उनका रेखांकन किया है। समग्र प्रगति की प्रक्रिया की धारणा घंटे के आकार की एक वक्र रेखा या वक्राकृति के रूप में की जा सकती है। सर्वप्रथम चेतना के निम्न स्तरों से उच्चतर स्तरों पर आरोहण होता है और उसके बाद उच्चतम स्तर पर पहुँचने के बाद सत्य के व्यापकतर और भिन्न प्रकार के अनुभव के लिए निम्न स्तरों पर अवरोहण होता है। श्रीरामकृष्ण ने इस आरोहण या 'अनुलोम' और अवरोहण याने 'विलोम को क्रमश: ज्ञान और विज्ञान कहा है। वस्तुत: यह रेखाचित्र श्रीरामकृष्ण के दार्शनिक विचारों का ही रेखांकन है।

इस चार्ट की साईक्लोस्टाईल प्रतियों का वितरण स्वामी यतीश्वरानन्दजी ने भारत तथा विदेशों में अपने शिष्यों में किया था। लेकिन बहुत से लोगों ने व्यक्तिगत निर्देशन के बिना इसे समझने में कठिनाई का अनुभव किया है और इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए अनुरोध किया है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस चार्ट की संक्षिप्त व्याख्या तीन विभागों में दी जा रही है।]

आध्यात्मिक विकास की प्रारंभिक अवस्थाएँ :

वेदान्त के अनुसार आध्यात्मिक अनुभूति की प्राप्ति के दो मुख्य पथ हैं : ज्ञानमार्ग या विचार का पथ और भक्तिमार्ग। कर्म और योग जैसे अन्य मार्गों को सामान्यत: इन मुख्य मार्गों का सहायक माना जाता है। ज्ञान मार्ग में पुरुषार्थ पर बल दिया जाता है और उसका लक्ष्य अद्वैतानुभूति है। भक्तिमार्ग में भगवत् कृपा को महत्त्व दिया जाता है और उसका लक्ष्य साकार ईश्वर का साक्षात्कार है। परन्तु ये मार्ग पूर्णत: पृथक: नहीं हैं; वे एक दूसरे के समानान्तर ही नहीं हैं, बल्कि विभिन्न बिन्दुओं पर मिलते और एक दूसरे से टकराते भी हैं। विकसित अवस्थाओं में इन दोंनों का पृथक करना कठिन हो जाता है। दूसरे मार्ग को त्याग कर केवल एक ही मार्ग का अवलंबन करना कुछ कठिन ही नहीं बल्कि हानिकारक भी हो सकता है। अधिकांश साधकों के लिए इन दोनों, ज्ञान और भक्ति के, मार्गों का सम्मिलित रूप से पालन करना श्रेयस्कर है। सत्य तो यह है कि अधिकांश लोग यही करते हैं।

इस समन्वित पथ का अनुसरण करनेवाला साधक साधना का प्रारंभ एक दैवी व्यक्तित्व या विग्रह की उपासना से करता है। वह विष्णु, शिव, देवी, गणेश जैसे किसी देवता-विशेष के प्रति आकर्षण का अनुभव करता है। अथवा वह श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीगौरांग, श्रीरामकृष्ण तथा ईसामसीह के प्रति आकृष्ट हो सकता है। वह इनमें से किसी एक को इष्ट देवता के रूप

में ग्रहण करता है। अधिकांश क्षेत्रों में देवता-विशेष के प्रति आकर्षण स्वाभाविक रूप से होता है, और साधक स्वयं इस आकर्षण का कारण नहीं बता सकता। यह बाल्यकाल में पारिवारिक परंपराओं के प्रभाव के कारण हो सकता है। वैष्णव परिवारों में जन्मे बालक अपने बड़ों से नारायण या विष्णु की भक्ति और पूजा करना सीख जाते हैं। धीरे धीरे उनका सारा मन इस भाव से अतिरंजित हो जाता है, और बाद में वे विष्णु या उसके किसी अवतार के प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार भिन्न धार्मिक परम्पराओं वाले परिवारों में जन्मे बालक उन-उन परम्पराओं से सम्बन्धित देवताओं को प्रेम करना सीख जाते हैं।

सामान्य नियम तो यही है, लेकिन इसके अपवाद भी हैं। आधुनिक काल में श्रीरामकृष्ण भारत और विदेशों के लाखों लोगों की श्रद्धा और भक्ति के केन्द्र बन गये हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि व्यक्ति का किसी देवता-विशेष के प्रति आकर्षण उसके मानसिक गठन पर निर्भर करता है, और जो उसके संस्कारों के द्वारा निर्धारित किया जाता है। इसका बोध बहुत कम साधकों को होता है। साधक बस इतना ही साधारणतया समझता है कि वह किसी दिव्य महापुरुष की ओर तीव्र आकर्षण का अनुभव कर रहा है, और उसकी उपासना करने को बाध्य है। (चित्र १)

प्रारंभ में सामान्यतः उसे अपने इष्टदेवता के दैवी स्वरूप के विषय में स्पष्ट धारणा नहीं होती और वह नाना प्रकार के मानवी सद्‌गुणों को उनपर आरोपित किये बिना नहीं रह सकता। महान सूफी सन्त अबू अरबी ने कहा है कि अधिकांश लोग जिसे ईश्वर कहते हैं, वह व्यक्ति के अहंकार की प्रतिछाया है। इस उक्ति का गहरा अर्थ यह है कि सत्य की प्रत्येक व्यक्ति की धारणा अपनी धारणा के अनुरूप होती है। जैसे-जैसे व्यक्ति का विकास होता है, उसकी अपने बारे में धारणा बदलती जाती है और तदनुसार ईश्वर की उसकी धारणा बदलती जाती है। घृणा, लोभ और भय से पीड़ित व्यक्ति ईश्वर की एक ऐसे व्यक्ति के रूप में कल्पना करते हैं, जिसमें ये बातें कुछ मात्रा में हों। सैमाईट धर्मों के ईर्ष्यालू ईश्वर की धारणा को उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है। लेकिन हिन्दुओं की काली और दुर्गा की धारणा भिन्न प्रकार की है। यह सृष्टि-प्रक्रिया के यथार्थ बोध पर आधारित है। जो हो, इष्ट देवता की प्रारंभिक धारणा जो भी हो, आध्यात्मिक विकास के साथ वह धीरे-धीरे बदलती जाती है। चित्त शुद्ध होने पर साधक पाता है कि उसके आराध्य देव अनन्त प्रेम, असीम करुणा जैसे सद्‌गुणों और दैवी संपद् से संपन्न है। (चित्र २) अब उसकी उन दिव्य सद्गुणों का चिन्तन करने की अधिकाधिक इच्छा होती है, जिसके फलस्वरूप उसके अपने मन में सूक्ष्म परिवर्तन होने लगते हैं। अब उसका रूप-ध्यान, गुण-ध्यान के साथ होने लगता है। वह रूप ध्यान का त्याग भी कर सकता है।

इस अवस्था में साधक का सांसारिक सुखों के प्रति आकर्षण समाप्त होने लगता है। वह अपने इष्ट देवता और अपने आसपास के स्त्री-पुरुषों के बीच अन्तर देखकर भौचक्का रह जाता है। वह सामान्य लोगों की दुर्बलता और ससीमता को देख पाता है, और उनके प्रतिकरुणा का अनुभव करते हुए भी, परमात्मा के प्रति उसका प्रेम और आकर्षण पहले से कहीं अधिक बढ़ जाता है। वह अपने इष्ट देवता से और अधिक अनुरक्त हो जाता है, और

अपना समग्र मन, बुद्धि, इच्छा-शक्ति और भावनाएँ उनपर केन्द्रित कर देता है। वह तीव्र व्याकुलता के साथ उनका ध्यान और उनसे प्रार्थना करता है, और परमात्मा उसके लिए विचलित हुए बिना और अधिक समय तक नहीं रह सकता।

भगवत्-प्रतिक्रिया (या उत्तर) हृदय-चक्र को जाग्रति के रूप में होती है। ईश्वरीय ज्योति की एक किरण भक्त के हृदय को स्पर्श करती है और उसका हृदय-कमल मानो प्रस्फुटित हो उठता है। हृदय-चक्र का यह प्रस्फुटन सबसे पहली विश्वासप्रद और निश्यचात्मक आध्यात्मिक अनुभूति है और यह जीवात्मा की अनादि-निद्रा से जागरण को सूचित करती है। साधक अपने हृदय में अपने इष्ट देवता के जीवन्त और ज्योतिर्मय रूप के दर्शन करता है और पाता है उसकी आत्मा उस दिव्य ज्योति से ओतप्रोत है। तब वह अपने को परमात्मा के कुछ अंश का भागीदार जानने लगता है। इस अवस्था में साधक अपनी आत्मा का अविष्कार करता है। वह पाता है कि उसके इष्ट देवता और उसकी आत्मा में विद्यमान ज्योति परमात्म ज्योति के ही अंश हैं। प्रकाश या ज्योति का अर्थ स्थूल-भौतिक बाह्य प्रकाश नहीं है लेकिन उसका अर्थ है चैतन्य-ज्योति, जिसे ईसाई साधक 'अनिर्मित प्रकाश' कहते हैं। (चित्र ३)

अद्वैतानुभूति :

अगली अवस्था में साधक पाता है कि इष्ट-देवता का आकार-निराकार में विलीन हो गया है। यह ध्यान रहे कि यह मात्र कल्पना नहीं बल्कि एक उच्चतर वास्तविक अनुभूति है। अब अन्दर बाहर सर्वत्र ज्योति का एक विराट सागर रहता है। इस दिव्य-ज्योति में देहात्म बोध विलीन हो जाता है, केवल "अहं" बोध बच रहता है। साधक यह अनुभव करता है कि ईश्वर विशुद्ध चैतन्य के अक असीम सागर के समान है, और वह स्वयं उसका केन्द्र है। अब वृत्त और उसके केन्द्रबिन्दु की तरह परमात्मा और जीव बच रहते हैं। अहंकार रूपी बिन्दु तो केन्द्र है और परमात्मा की अनन्त ज्योति सर्वत्र व्याप्त है। लेकिन बिन्दु वृत्त से अधिक सत्य प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द की ईश्वर और मानव की परिभाषा स्मरणीय है। "मनुष्य एक असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, लेकिन जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है; और परमेश्वर एक ऐसा असीम वृत्त है, जिसकी परिघि कहीं भी नहीं है, किन्तु जिसका केन्द्र सर्वत्र है।"[७]

और आगे बढ़ने पर साधक पाता है कि उसकी सत्य की धारणा बदल रही है। उसकी आत्मा क्रमशः कम सत्य और परमात्मा अधिकाधिक सत्य प्रतीत होने लगता है। अहं-बोध धीरे धीरे कम होता जाता है। (चित्र ५) शीघ्र ही भगवद् ज्योति के प्रकाश में अहंकार म्लान और तुच्छ प्रतीत होने लगता है। परमात्मा ही एकमात्र सत्य प्रतीत होने लगते हैं (चित्र ६)। अन्त में प्रातःकालीन आलोक में जिस प्रकार तारा विलीन हो जाता है, उसी प्रकार अहं बोध भगवान् में पूरी तरह विलीन हो जाता है। एकमेवाद्वितीय, अनन्त अखण्ड चैतन्य ही बच

७. विवेकानन्द साहित्य -३ (१९९३) पृ. ११९

रहता है। यह अद्वैत की अवस्था है। (चित्र ७) अद्वैत-मत के अनुसार यह चरम आध्यात्मिक अनुभूति है। माण्डूक्यकारिका में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है :

घटादि के लीन होने पर जिस प्रकार घटाकाशादि महाकाश में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव इस आत्मा में विलीन हो जाते हैं।

वह सब प्रकार के वाग्व्यापार से रहित; सब प्रकार के चिन्तन (अन्तःकरण के व्यापार) से ऊपर, अत्यन्त शान्त, नित्य प्रकाश, समाधि-स्वरूप, अचल और निर्भय है।

(उस अवस्था में जो आनन्द अनुभव होता है, उसे ब्रह्मज्ञ लोग) स्वस्थ, शान्त, निर्वाणयुक्त, अकथनीय, निरतिशय सुखस्वरूप, अजन्मा, अजन्मा-ज्ञेय (ब्रह्म) से अभिन्न और सर्वज्ञ बतलाते हैं।[८]

स्वामी विवेकानन्द इस अनुभूति का वर्णन अपनी कविता "समाधि" में इस प्रकार करते हैं :

सूर्य भी नहीं है, ज्योति-सुन्दर शशांक नहीं,
छाया सा व्योम में यह विश्व नजर आता है।
मनो-आकाश अस्फुट, भासमान विश्व वहाँ
अहंकार-स्तोत्र ही में तिरता डूब जाता है।
धीरे धीरे छाया दल लय में समाया जब,
धारा निज अहंकार मन्दगति बहाता है।
बन्द वह धारा हुई, शून्य में मिला है शून्य,
"अवाङ्मनसगोचरम्" वह जाने जो ज्ञाता है।[९]

समन्वयात्मक अनुभूति-विज्ञान

क्या अद्वैतानुभूति उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति है? हिन्दू परम्परा के अनुसार वह उच्चतम अनुभूति है। इस विषय में स्वामी विवेकानन्द का कथन यह है :

संसार के सभी धर्म घोषित करते हैं कि हम सभी में एकता का कोई न कोई सूत्र है। अगर हम उस दैवी सत्ता से एक हो चुके, तो इस अर्थ में आगे और प्रगति नहीं हो सकती। ज्ञान का अर्थ है विविधता में इस एकता की उपलब्धि। मैं तुम लोगों के बीच स्त्री और पुरुष देखता हूँ – यह हुई विविधता यदि मैं तुम सब लोगों को एक ही वर्ग में रखकर मानव कहूँ, तो यह वैज्ञानिक ज्ञान कहा जायगा। दृष्टान्त के लिए रसायनशास्त्र को लो। सभी ज्ञात पदार्थों को रसायनशास्त्री उनके मौलिक तत्त्वों में विश्लेषित करना और यदि संभव हो तो उस एक तत्त्व को खोज लेना चाहते हैं, जिससे ये सब उद्भूत हुए हैं। ऐसा समय आ सकता है, जब वे इस एक तत्त्व को जान लेंगे। उसका पता चल जाने पर वे आगे नहीं जा सकेंगे, रसायनशास्त्र पूर्ण हो जायगा ठीक यही बात आध्यात्मिक विज्ञान के साथ भी है। यदि हम इस मौलिक एकता को

---

८. माण्डूक्यकारिका - ३.४,३७,४७

९. विवेकानन्द साहित्य - ९ (१९६३), पृ. ३२३

जान लेते हैं, तो और आगे प्रगति नहीं हो सकती।[१०]

तात्पर्य यह है कि अद्वैतानुभूति उच्चतम अवस्था है। लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वह अन्तिम अनुभूति है? क्या अद्वैतानुभूति से आध्यात्मिक चेतना के सभी आयाम समाप्त हो जाते हैं? श्रीरामकृष्ण के अनुसार सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति (आंशिक दर्शन या झलक मात्र नहीं) प्राप्त करने वाले अधिकांश लोगों के लिए वह चरम या अन्तिम अनुभूति है।[११] वे लौटकर इस जगत् में वापस नहीं आते। केवल विरले कुछ ऋषि लौट कर आते हैं। उनके लिए अद्वैतानुभूति, उच्चतम होते हुए भी अन्तिम नहीं होती। अनुभूतियों की ऊर्ध्वाधर सोपानपंक्ति में अद्वैत निश्चय ही उच्चतम है। लेकिन फिर भी अनुभूतियों के समतल स्तर पर सत्य के अन्य आयाम आविष्कृत हुए बिना पड़े रहते हैं। ईश्वरकोटि कहलाने वाले बिरले कुछ विशिष्ट अधिकारी सिद्ध पुरुष सत्य के समतल स्तर की अनुभूतियों का अन्वेषण करने की चुनौती स्वीकार करते हैं। चरम एकात्मक अनुभूति प्राप्त कर, जब ये ऋषि बाह्य जगत में पुन: लौटते हैं तब वे उसे नितान्त भिन्न दृष्टि से देखने लगते हैं। ऊपर उठते समय यह संसार और उसके विविध जीव धीरे-धीरे अपनी सत्ता खोते हुए अन्त में विलुप्त हो गये थे। लेकिन अवरोहण क्रम में ये ऋषि इन सभी को परमात्मा से परिव्याप्त देखते हैं। इस सारे दृष्य-जगत के आधार और उसकी पार्श्वभूमि के रूप में विद्यमान ब्रह्म का बोध नष्ट नहीं होता, वल्कि परमात्मा के अन्तर्यामित्व के बोध के द्वारा परिपुष्ट होता है। अद्वैत की पृष्ठभूमि में जगत् के इस रूपान्तरण को श्रीरामकृष्ण ने "विज्ञान" की नयी संज्ञा दी है।

विज्ञानी अर्थात् विज्ञान की अनुभूति करनेवाले के अनुभव का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण कहते हैं :

ज्ञानी 'नेति नेति', ब्रह्म यह नहीं, वह नहीं, अर्थात् कोई भी ससीम वस्तु नहीं, – यह विचार करके सब विषय-बुद्धि छोड़े, तब ब्रह्म को जान सकता है। जैसे कोई जीने की एक एक सीढ़ी पार करते हुए छत पर पहुँच सकता है। पर विज्ञानी – जिसने विशेष रूप से ईश्वर से मेल-मिलाप किया है – और भी कुछ दर्शन करता है। वह देखता है कि जिन चीजों से छत बनी है – उन ईंटों, चूने, सुर्खी से जीना भी बना है। नेति नेति करके जिस ब्रह्म वस्तु का ज्ञान होता है, वही जीव और जगत् होती है। विज्ञानी देखता है कि जो निर्गुण है, वही सगुण भी है।

छत पर बहुत देर तक लोग ठहर नहीं सकते। फिर उतर आते हैं। जिन्होंने समाधिस्थ होकर ब्रह्मदर्शन किया है वे भी नीचे उतरकर देखते हैं कि वही जीव-जगत् हुआ है। 'सा' रे, ग, म, प, घ, नि। 'नि' में – चरमभूमि में – बहुत देर तक रहा नहीं जाता। 'अहं' नहीं मिटता तब मनुष्य देखता है कि ब्रह्म ही 'मैं', जीव, जगत् सब हुआ है। इसी का नाम विज्ञान है।

विज्ञानी देखता है कि ब्रह्म अटल, निष्क्रीय, सुमेरूवत् है। यह संसार उसके सत्त्व, रज और तम – इन तीन गुणों से बना है, पर वह निर्लिप्त है।

विज्ञानी देखता है कि जो ब्रह्म है, वही भगवान् है – जो गुणातीत है, वही षडैश्वर्यपूर्ण

---

१०. विवेकानन्द साहित्य - ४ (१९६३), पृ. १९०-१९१ ११. देखिये, श्रीरामकृष्णवचनामृत

भगवान् है। ये जीव और जगत् मन और बुद्धि, भक्ति, वैराग्य और ज्ञान – सब उसके ऐश्वर्य हैं। [१३]

वे कौन सी अवस्थाएँ हैं जिनसे होकर समन्वयात्मक साक्षात्कारवाला विज्ञानी गुजरता है? अद्वैत के स्तर से चेतना के निम्न स्तर पर अवरोहण करने पर वह सर्वप्रथम देखता है कि ब्रह्म बहुत से जीवों के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। (चित्र ८) और नीचे, समग्र जगत् का रूप ग्रहण किया है। वह देखता है कि सभी प्राणी एक ब्रह्म की ही अभिव्यक्तियाँ हैं और मनुष्यों का एक दूसरे से अन्तर इस अभिव्यक्ति के स्वरूप और मात्रा के अन्तर के कारण है। इस अवस्था में ऋषि भगवदवतार के रहस्य को समझ पाता है। (चित्र ९)

आध्यात्मिक प्रगति की प्रारंभिक अवस्थाओं में साधक को ईश्वरीय रूपों के भी ऊपर जाना पड़ा था; तब उसने यह अनुभव किया था कि अवतार या देवता जैसे ईश्वरीय रूप निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। लेकिन अब विज्ञानी की परिपक्व अनुभूति के बाद वह ऋषि, दिव्य महापुरुष को एक नयी दृष्टि से देखता है। अब वह श्रीरामकृष्ण की इस उक्ति का अर्थ समझने लगता है : "निराकार भी सत्य है, साकार भी सत्य है।" ईश्वरावतारों के बारे में श्रीरामकृष्ण कहते हैं :"

उनके अनेक रूप, अनेक लीलाएँ हैं। ईश्वर-लीला, देव-लीला, नर-लीला, जगत्-लीला। वे मानव बनकर अवतार होकर युग-युग में आते हैं – प्रेम भक्ति सिखाने के लिए। देखो न चैतन्य देव को। अवतार द्वारा ही उनके प्रेम तथा भक्ति का आस्वादन किया जा सकता है। उनकी अनन्त लीलाएँ हैं – परन्तु मुझे आवश्यकता है प्रेम और भक्ति की। मुझे तो सिर्फ दूध चाहिये। गाय के स्तनों से दूध आता है। अवतार गाय के स्तन हैं। [१४]

दूसरे शब्दों में, भले ही पशु, पक्षी, वृक्ष, मनुष्य, देवी-देवता, अवतार, आदि सभी जीव स्वरूपतः ब्रह्म के साथ एक हैं, फिर भी मानव और साकार ईश्वर या दिव्य महापुरुष में एक मूलभूत अन्तर है। स्वामी विवेकानन्द ने 'तर्क और धर्म' नामक अपने व्याख्यान में इस बात को स्पष्ट किया है :

जब वेदान्त कहता है कि तुम और मैं ईश्वर हैं, तो उसका आशय सविशेष ईश्वर से नहीं होता। उदाहरणार्थ एक ही चिकनी मिट्टी से एक चुहिया और एक विशालकाय हाथी भी बनाये जाते हैं। क्या मिट्टी की चुटिया कभी मिट्टी का हाथी बन सकेगी? लेकिन दोनों को पानी में डुबाओ, दोनों मिट्टी मात्र हैं। मिट्टी के नाते दोनों एक हैं, किन्तु एक चुहिया और एक हाथी के नाते दोनों में शाश्वत भिन्नता है। अनन्त, निर्विशेष उदाहृत मिट्टी के समान है। [१५]

पूर्ण ज्ञानी, अर्थात् विज्ञानी उपर्युक्त वर्णित किसी भी उच्च स्तर पर रह सकता है। कभी वह अपनी अहं-चेतना के अनन्त में (जिसे श्रीरामकृष्ण नित्य कहते थे) पूरी तरह विलीन होने देता है, अथवा वह बाह्य जगत् के (लीला के) स्तर पर आकर इस रहस्यमय

---

१३. श्रीरामकृष्णवचनामृत - १ (१९६२), पृ. ६८-६९
१४. वही (१९९५), पृ. ३७९

जगत् के क्रियाकलाप का रस ले सकता है और प्रयत्नरत साधकों का मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है। जैसा श्रीरामकृष्ण ने कहा है :

लीला के सहारे नित्य में जाना होता है – जिस प्रकार सीढ़ी पकड़-पकड़ कर छतपर चढ़ना होता है। नित्यदर्शन के बाद नित्य से लीला में आकर रहना होता है, भक्ति-भक्त लेकर। यही मेरा परिपक्व मत है।''[१६]

नित्य और लीला के बीच अनेक आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं, जिनमें से किसी में भी एक पूर्ण विज्ञानी नाना प्रकार से अनुभूति के रस का आस्वादन करता हुआ अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकता है। (चित्र ९, १०, ११)

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि अद्वैतानुभूति के बाद की अवस्थाओं की मान्यता नयी नहीं है। विद्यारण्य मुनि के अनुसार पूर्ण ज्ञानोपलब्धि के लिए अद्वैतानुभूति के बाद वासनाक्षय और मनोनाश आवश्यक हैं।[१७] पतंजलि का भी यही मत है, जो उच्चतम आध्यात्मिक सिद्धावस्था में सप्त-भूमियों को स्वीकार करते हैं। इनमें से प्रथम चार 'कार्यविमुक्ति' की हैं और अन्तिम तीन चित्तविमुक्ति की हैं।[१८] विद्यारण्य ने ब्रह्मज्ञान की प्रगाढता के अनुसार चार प्रकार के ब्रह्मज्ञानी बताये हैं : ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठः।[१९]

श्रीरामकृष्ण के विज्ञानी के वर्णन और परंपरागत जीवन्मुक्त के वर्णन में अन्तर यह है कि श्रीरामकृष्ण के अनुसार विज्ञानी ईश्वरकोटि नामक लोकशिक्षा के लिए विशेष ईश्वरीय शक्ती सम्पन्न सिद्ध पुरुष होते हैं, जब कि जीवन्मुक्त एक सामान्य जीव है जो प्रारब्ध के कारण बाध्य होकर देह धारण करके रहता है। विज्ञानी और जीवन्मुक्त का यह अन्तर बौद्ध धर्म में वर्णित बोधिसत्त्व और अर्हत् के बीच अन्तर के समान है। बौद्ध धर्म में भी उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियों के अनेक स्तर माने गये हैं। अर्हत् एक ऐसा सिद्ध जीव है जिसने निर्वाण के द्वारा मुक्ति प्राप्त की है। बोधिसत्त्व ऐसा एक सिद्ध पुरुष है, जो निर्वाण प्राप्त करने में समर्थ होते हुए भी संतप्त मानवजाति की सेवा के लिए उससे मुहमोड लेता है। वह सभी की मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है।

इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जैसा स्वामी यतीश्वरानन्दजी ने कहा है, सचमुच देखा जाय तो आध्यात्मिक अनुभूतियों के प्रकार और विस्तार की कोई सीमा नहीं है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण ने कहा है, ''जब तक जीऊँ तब तक सीखूँ।''

□□□

---

१५. विवेकानन्द साहित्य -२ (१९७२), पृ. २८८

१६. श्रीरामकृष्णवचनामृत, (१९९५), पृ. ३७९

१७. विद्यारण्य मुनि कृत जीवन मुक्ति विवेक – प्रथम अध्याय

१८. पातंजल योगसूत्र २.२७ पर व्यास और सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की टीका देखिये

१९. जीवन्मुक्ति विवेक - अध्याय ४

अध्याय ३२

जीवन्मुक्ति की प्राप्ति

आध्यात्मिक मुक्ति का आदर्श :

एक आदमी एक पादरी के यहाँ गया। द्वार पर उसकी भेंट पादरी की छोटी कन्या से हुई। उसने कहा, "पिताजी घर पर नहीं हैं।" उसके बाद एक आत्मविश्वास भरी मुस्कुराहट के साथ उसने आगे कहा, "लेकिन यदि आप मुक्ति के बारे में कुछ पूछना चाहते हैं, तो मैं आपको सब कुछ बता सकती हूँ। मुक्ति की सारी योजना मुझे पता है।"

मुक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो बोलने से मिल सकती हो। वह, अधिकांश लोग जैसा सोचते हैं, उससे अधिक गहरी है। उसका सम्बन्ध आत्मा के वास्तविक स्वरूप तथा उसकी चरम नियति से है। प्रत्येक धर्म में मुक्ति की अपनी एक अवधारणा है, लेकिन वे सभी इस बात में एकमत हैं कि वह पूर्ण आनन्द की अवस्था है, जिसे जीव मृत्यु के बाद प्राप्त करता है।[१] प्रश्न यह है कि इस अवस्था की उपलब्धि कैसे की जाये? यहूदी धर्म के मतानुसार पूर्ण नैतिक जीवन यापन करने से उसकी प्राप्ति हो सकती है। इस में ईसाई धर्म एक शर्त का संयोग कर देता है : यदि व्यक्ति को ईसा मसीह के एकमात्र त्राणकर्ता होने में विश्वास हो तो। उसे विश्वास है कि अपनी मृत्यु द्वारा ईसा मसीह ने मानव जाति को आदि पाप के कलंक से मुक्त कर दिया है। इस्लाम धर्म इसे अस्वीकार करता है। उसके अनुसार परित्राण करने का अधिकार एकमात्र भगवान् को है और मुहम्मद को अन्तिम पैगम्बर स्वीकार करना उसके लिए बिल्कुल अनिवार्य है। हिन्दुधर्म परित्राण को मुक्ति अथवा मोक्ष कहता है। मुक्ति की खोज मानव जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

मुक्ति क्या है? हम चार प्रकार की मुक्ति की बात सुनते हैं : अभाव से मुक्ति, भय से मुक्ति, बोलने की स्वतन्त्रता और उपासना की स्वतन्त्रता। लेकिन कितनी ही आवश्यक होते हुए भी, ये सभी मुक्तियाँ आंशिक मुक्तियाँ हैं। इन सब का सम्बन्ध मानव के केवल सामाजिक जीवन से ही है। सभी आधुनिक प्रजातन्त्रों में नागरिकों को ये स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि इनसे आत्मा की मुक्ति मिले। मानवात्मा सहजात प्रवृत्तियों, भावनाओं

---

१. देखिए, स्वामी यतीश्वरानन्द रचित 'द एडवेन्चर्स इन रिलीजिअस लाइफ', में 'द टाइप ऑफ साल्वेशन वी वान्ट' – अध्याय ४, (श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९७६),

और आस्थाओं द्वारा आबद्ध है। समाज से सभी आवश्यक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होते हुए भी जब तक मानव यह अनुभव नहीं करता कि वह अन्दर से मुक्त है, तब तक उसे मुक्त पुरुष कैसे कहा जा सकता है? इससे अधिक कुछ और आवश्यक है। हम आत्मा हैं, यह आभास होने पर ही वास्तविक स्वतन्त्रता की लालसा हम में जाग्रत होती है। तभी वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होगा। हमारे अपने प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आध्यात्मिक जागरण का प्रथम लक्षण है। तब हम यह आविष्कार करते हैं कि हम न तो देह हैं और न मन, बल्कि चेतना के केन्द्र, आत्मा हैं।

उच्चतर आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य की यह धारणा क्यों पैदा होती है? आत्मा के परमात्मा के साथ सम्बन्ध की चेतना इसका कारण है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्दजी ने संकेत दिया है – प्रत्येक मानव में मुक्ति की लालसा विद्यमान है।[२] लेकिन सामान्य लोगों में यह लालसा भोग की स्वतन्त्रता अथवा राजनैतिक स्वातन्त्र्य जैसी सांसारिक दिशा ले लेती है। परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर सभी बन्धनों से आत्मा की मुक्ति वास्तविक स्वातन्त्र्य है। केवल कुछ बिरले लोगों में ही आत्मा की परमात्मा के प्रति तीव्र लालसा पैदा होती है।

अनादि अविद्या के कारण जीव, ईश्वर या ब्रह्म या अखण्ड चैतन्य से पृथक् बना रहता है। जीव भाव या परमात्मा से पृथकत्व का बोध सदा दुःख, बन्धन और ससीमता का कारण होता है। ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति के द्वारा जीवत्व से छुटकारा पाये बिना कोई भी मुक्त नहीं हो सकता। जीवत्व के कारण आसक्ति तथा विभिन्न प्रकार के तथाकथित मानवीय प्रेम और घृणा उत्पन्न होते हैं, जिनका परिणाम केवल दुःख एवं कष्ट ही होता है। जब तक जीव अपने वास्तविक नित्य-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक उसे जन्म और मृत्यु के चक्कर से गुजरना पड़ता है। हम मुक्ति और निर्भयता चाहते हैं। हम देह और मन की सीमाओं को तोड़कर मुक्त होना चाहते हैं। अपनी विभिन्न इच्छाओं, वासनाओं और पाशविक तृष्णाओं से आसक्त रहते तक हम यह कभी नहीं कर पाएंगे। देह और मन के साथ-स्वयं तथा दूसरों के देह और मन के साथ, – आसक्ति का त्याग किये बिना आत्म-साक्षात्कार प्राप्त नहीं किया जा सकता।

सच्ची मुक्ति :

यह आवश्यक है कि हमें मुक्ति की सही अवधारणा हो। क्या हम इन्द्रियों (के भोग) की स्वतन्त्रता चाहते हैं, उनकी खुली छूट चाहते हैं या इन्द्रियों से मुक्ति चाहते हैं? मुक्ति का यथार्थ अर्थ क्या है? क्या यह मन को भोगों के पीछे भागने देने, इन्द्रियों का गुलाम होने की स्वतन्त्रता है? क्या इस तरह अपनी कब्र स्वयं खोदना मुक्ति है? अथवा सभी इच्छाओं को नियन्त्रित करना, इच्छाओं के स्वामी बनना तथा इन्द्रियों एवं उनकी लालसाओं से मुक्त

---

२. विवेकानन्द साहित्य -२ (१९७२), पृ. २९५

होना स्वाधीनता है? इन्द्रियों की स्वतन्त्रता, अपनी निम्न वासनाओं की पूर्ति करने की स्वतन्त्रता के फलस्वरूप दु:ख होता है। वास्तविक मुक्ति सभी दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति है और यह आत्मा को वासनाओं एवं इन्द्रिय-विषयों से निवृत्त करने पर ही सम्भव है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

"वेदान्त के ईश्वर विषयक सभी विचारों के मूल में पूर्ण मुक्ति एवं स्वाधीनता से उत्पन्न परमानन्द तथा नित्य शान्ति रूप धर्म की उच्चतम धारणा विद्यमान है। सम्पूर्ण मुक्त-भाव से अवस्थान कुछ भी उसको बद्ध नहीं कर सकता; वहाँ प्रकृति नहीं है; किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं है; ऐसा कुछ भी नहीं है, जो उसमें किसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न कर सके। यह मुक्त भाव तुम्हारे भीतर है, मेरे भीतर है और यही एकमात्र यथार्थ स्वाधीनता है।"[३]

आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्ति का अर्थ एक ऐसी स्थिति से है, जिसमें बाधा या रुकावट के अभाव का बोध ही नहीं, बल्कि ऐसी उच्चतर चेतना का उदय भी है, जिसमें आत्मा अपने वास्तविक-स्वरूप, जगत् की चरम सत्ता-पूर्ण परमात्मा की अनुभूति करती है। संसार के सभी धर्मों में इस मुक्ति की, जिसे वे जीवन का चरम लक्ष्य समझते हैं, कुछ न कुछ अवधारणा है। हम जिस मुक्ति की चर्चा कर रहे हैं, उसको धार्मिक साहित्य में विभिन्न नाम दिये गये है। ईसाई धर्म में उसे साल्वेशन और रिडम्पशन (SALVATION AND REDEMPTION) अर्थात् त्राण और उद्धार कहा जाता है; बौद्ध धर्म, निर्वाण अथवा कामनाओं और स्वार्थपरक कर्म की निवृत्ति कहता है। हिन्दू धर्म जीव के समस्त दु:खों और बन्धनों से सम्पूर्ण और आत्यन्तिक निवृत्ति की बात करता है तथा मुक्ति, मोक्ष, अपवर्ग, नि:श्रेयस जैसे शब्दों का उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य का निर्देश करने के लिए प्रयोग करता है। सांख्य दर्शन में तापत्रय से जीव की मुक्ति को मुक्ति कहा गया है, पर वेदान्त कहता है कि उसका अर्थ परमानन्द की प्राप्ति भी है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, ये तीन तापत्रय कहलाते हैं। शारीरिक व्याधि, लोभ, वासना और त्रुटियों के द्वारा होने वाले कष्ट आध्यात्मिक ताप हैं। हिंस्र पशुओं, दुष्ट-जनों आदि प्राणियों के द्वारा उत्पन्न दु:ख आधिभौतिक ताप कहलाते हैं। शीत, ग्रीष्म, वायु, वृष्टि, भूकम्प जैसी दैवी शक्तियों, जिनपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है, के द्वारा होने वाले दु:ख आधिदैविक कहलाते हैं। संस्कृत शब्द 'दु:ख' का अर्थ सामान्य शारीरिक और मानसिक दु:ख से कुछ अधिक है। उसका अर्थ बन्धन या ससीमता भी है। वेदान्त के अनुसार जीव असीम पूर्ण चैतन्य और आनन्द-स्वरूप है। लेकिन अपनी व्यावहारिक अवस्था में वह देह, इन्द्रियों और मन के बन्धनों के कारण ससीम हो गया है। जीव को समस्त बन्धनों से मुक्त करना लक्ष्य है, जिसका अर्थ गुणों के अथवा विश्वजनीन शक्तियों के प्रभाव से मुक्त होना है।

---

३. विवेकानन्द साहित्य - २ पृ. २९६

और आस्थाओं द्वारा आबद्ध है। समाज से सभी आवश्यक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होते हुए भी जब तक मानव यह अनुभव नहीं करता कि वह अन्दर से मुक्त है, तब तक उसे मुक्त पुरुष कैसे कहा जा सकता है? इससे अधिक कुछ और आवश्यक है। हम आत्मा हैं, यह आभास होने पर ही वास्तविक स्वतन्त्रता की लालसा हम में जाग्रत होती है। तभी वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होगा। हमारे अपने प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आध्यात्मिक जागरण का प्रथम लक्षण है। तब हम यह आविष्कार करते हैं कि हम न तो देह हैं और न मन, बल्कि चेतना के केन्द्र, आत्मा हैं।

उच्चतर आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य की यह धारणा क्यों पैदा होती है? आत्मा के परमात्मा के साथ सम्बन्ध की चेतना इसका कारण है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्दजी ने संकेत दिया है – प्रत्येक मानव में मुक्ति की लालसा विद्यमान है।[२] लेकिन सामान्य लोगों में यह लालसा भोग की स्वतन्त्रता अथवा राजनैतिक स्वातन्त्र्य जैसी सांसारिक दिशा ले लेती है। परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर सभी बन्धनों से आत्मा की मुक्ति वास्तविक स्वातन्त्र्य है। केवल कुछ बिरले लोगों में ही आत्मा की परमात्मा के प्रति तीव्र लालसा पैदा होती है।

अनादि अविद्या के कारण जीव, ईश्वर या ब्रह्म या अखण्ड चैतन्य से पृथक् बना रहता है। जीव भाव या परमात्मा से पृथकत्व का बोध सदा दुःख, बन्धन और ससीमता का कारण होता है। ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति के द्वारा जीवत्व से छुटकारा पाये बिना कोई भी मुक्त नहीं हो सकता। जीवत्व के कारण आसक्ति तथा विभिन्न प्रकार के तथाकथित मानवीय प्रेम और घृणा उत्पन्न होते हैं, जिनका परिणाम केवल दुःख एवं कष्ट ही होता है। जब तक जीव अपने वास्तविक नित्य-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक उसे जन्म और मृत्यु के चक्कर से गुजरना पड़ता है। हम मुक्ति और निर्भयता चाहते हैं। हम देह और मन की सीमाओं को तोड़कर मुक्त होना चाहते हैं। अपनी विभिन्न इच्छाओं, वासनाओं और पाशविक तृष्णाओं से आसक्त रहते तक हम यह कभी नहीं कर पाएंगे। देह और मन के साथ-स्वयं तथा दूसरों के देह और मन के साथ, – आसक्ति का त्याग किये बिना आत्म-साक्षात्कार प्राप्त नहीं किया जा सकता।

सच्ची मुक्ति :

यह आवश्यक है कि हमें मुक्ति की सही अवधारणा हो। क्या हम इन्द्रियों (के भोग) की स्वतन्त्रता चाहते हैं, उनकी खुली छूट चाहते हैं या इन्द्रियों से मुक्ति चाहते हैं? मुक्ति का यथार्थ अर्थ क्या है? क्या यह मन को भोगों के पीछे भागने देने, इन्द्रियों का गुलाम होने की स्वतन्त्रता है? क्या इस तरह अपनी कब्र स्वयं खोदना मुक्ति है? अथवा सभी इच्छाओं को नियन्त्रित करना, इच्छाओं के स्वामी बनना तथा इन्द्रियों एवं उनकी लालसाओं से मुक्त

---

२. विवेकानन्द साहित्य -२ (१९७२), पृ. २९५

होना स्वाधीनता है? इन्द्रियों की स्वतन्त्रता, अपनी निम्न वासनाओं की पूर्ति करने की स्वतन्त्रता के फलस्वरूप दुःख होता है। वास्तविक मुक्ति सभी दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति है और यह आत्मा को वासनाओं एवं इन्द्रिय-विषयों से निवृत्त करने पर ही सम्भव है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

"वेदान्त के ईश्वर विषयक सभी विचारों के मूल में पूर्ण मुक्ति एवं स्वाधीनता से उत्पन्न परमानन्द तथा नित्य शान्ति रूप धर्म की उच्चतम धारणा विद्यमान है। सम्पूर्ण मुक्त-भाव से अवस्थान कुछ भी उसको बद्ध नहीं कर सकता; वहाँ प्रकृति नहीं है; किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं है; ऐसा कुछ भी नहीं है, जो उसमें किसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न कर सके। यह मुक्त भाव तुम्हारे भीतर है, मेरे भीतर है और यही एकमात्र यथार्थ स्वाधीनता है।"[३]

आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्ति का अर्थ एक ऐसी स्थिति से है, जिसमें बाधा या रुकावट के अभाव का बोध ही नहीं, बल्कि ऐसी उच्चतर चेतना का उदय भी है, जिसमें आत्मा अपने वास्तविक-स्वरूप, जगत् की चरम सत्ता-पूर्ण परमात्मा की अनुभूति करती है। संसार के सभी धर्मों में इस मुक्ति की, जिसे वे जीवन का चरम लक्ष्य समझते हैं, कुछ न कुछ अवधारणा है। हम जिस मुक्ति की चर्चा कर रहे हैं, उसको धार्मिक साहित्य में विभिन्न नाम दिये गये है। ईसाई धर्म में उसे साल्वेशन और रिडम्पशन (SALVATION AND REDEMPTION) अर्थात् त्राण और उद्धार कहा जाता है; बौद्ध धर्म, निर्वाण अथवा कामनाओं और स्वार्थपरक कर्म की निवृत्ति कहता है। हिन्दू धर्म जीव के समस्त दुःखों और बन्धनों से सम्पूर्ण और आत्यन्तिक निवृत्ति की बात करता है तथा मुक्ति, मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस जैसे शब्दों का उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य का निर्देश करने के लिए प्रयोग करता है। सांख्य दर्शन में तापत्रय से जीव की मुक्ति को मुक्ति कहा गया है, पर वेदान्त कहता है कि उसका अर्थ परमानन्द की प्राप्ति भी है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, ये तीन तापत्रय कहलाते हैं। शारीरिक व्याधि, लोभ, वासना और त्रुटियों के द्वारा होने वाले कष्ट आध्यात्मिक ताप हैं। हिंस्र पशुओं, दुष्ट-जनों आदि प्राणियों के द्वारा उत्पन्न दुःख आधिभौतिक ताप कहलाते हैं। शीत, ग्रीष्म, वायु, वृष्टि, भूकम्प जैसी दैवी शक्तियों, जिनपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है, के द्वारा होने वाले दुःख आधिदैविक कहलाते हैं। संस्कृत शब्द 'दुःख' का अर्थ सामान्य शारीरिक और मानसिक दुःख से कुछ अधिक है। उसका अर्थ बन्धन या ससीमता भी है। वेदान्त के अनुसार जीव असीम पूर्ण चैतन्य और आनन्द-स्वरूप है। लेकिन अपनी व्यावहारिक अवस्था में वह देह, इन्द्रियों और मन के बन्धनों के कारण ससीम हो गया है। जीव को समस्त बन्धनों से मुक्त करना लक्ष्य है, जिसका अर्थ गुणों के अथवा विश्वजनीन शक्तियों के प्रभाव से मुक्त होना है।

---

३. विवेकानन्द साहित्य - २ पृ. २९६

जब तक मानवात्मा बद्ध है, तब तक वह वास्तविक सुख प्राप्त नहीं कर सकती। सुख बाह्य पदार्थों में नहीं है। वह मानव की वास्तविक आत्मा का स्वरूप है। अविद्या आत्मा के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर देती है। अत: अविद्या ही सबसे बड़ा बन्धन है। अविद्या अहंकार को उत्पन्न करती है। अहंकार राग, द्वेष और भय को जन्म देता है। ये सब आत्मा के बन्धन हैं और उसको उसके स्वरूपगत अनन्त आनन्द का अनुभव नहीं करने देते। लेकिन मानव के विकास-क्रम में एक अवस्था ऐसी आती है, जब जीव अपनी अनादि निद्रा से जागकर अपने बन्धन के बारे में सचेत होता है। तब वह अपनी वास्तविक आत्मा का साक्षात्कार कर आत्यन्तिक मुक्ति की कामना करता है।

लेकिन हम में से अधिकांश इस सच्ची मुक्ति को आन्तरिकता से नहीं चाहते। हम अपने वर्तमान ससीम अस्तित्व व उसकी परिस्थितियों से सन्तुष्ट रहते हैं। कारखाने के एक युवा श्रमिक की एक कथा है। उसे सरकारी पागलखाने में भर्ती करना पड़ा था। कुछ सप्ताह बाद उसका एक साथी श्रमिक उसे मिलने आया और उससे पूछा :

"कहो, कैसे हो?"

"बहुत अच्छा हूँ।"

"जान कर प्रसन्नता हुई। अब तो तुम शीघ्र ही काम पर वापस आ जाओगे न।"

"तुम्हारा क्या मतलब? इस बड़े सुन्दर मकान और इस सुन्दर बगीचे को छोड़कर पुन: कारखाने में काम पर जाना, तुम क्या मुझे पागल समझते हो?"

बहुत से लोग आध्यात्मिक जीवन के बारे में ऐसा ही सोचते हैं। वे अपने क्षुद्र स्वार्थपर और अपवित्र जीवन से इतने सन्तुष्ट रहते हैं कि उच्चतम आध्यात्मिक मुक्ति के लिए प्रयत्न को वे निरा पागलपन समझते हैं।

गुणों का बन्धन :

हमारे भीतर और बाहर तीन विश्वजनीन शक्तियाँ काम कर रही हैं : अन्धकार, प्रमाद और मोह की जड़ात्मक शक्ति तमस्; काम लोभ और सांसारिक क्रियाशीलता की तनावात्मक और वासनायुक्त शक्ति रजस् और; प्रेम एवं ज्ञान की सुखप्रदायक, समतायुक्त शक्ति-सत्त्व। सत्त्व कल्याणकारक है क्यों कि वह मन को शुद्ध और तेजस्वी बनाता है। तमोगुण की अन्धकारमय प्रवृत्तियों से अभिभूत होने वाले विकास के क्रम में निम्नगति को प्राप्त करते हैं; रजोगुण द्वारा परिचालित होने वाले लोग निम्न अथवा ऊर्ध्वगामी हुए बिना सारे जीवन संघर्ष करते रहते हैं, जैसा अधिकांश लोगों में होता है। लेकिन सत्त्व की सन्तुलित समता में प्रतिष्ठित लोग उच्च से उच्चतर आरोहण करते हुए परमात्म-सत्ता का साक्षात्कार करते हैं।

लेकिन सत्त्व भी जीव को ज्ञान के विस्तार तथा सूक्ष्म सुख में आसक्त कर बन्धन में डालता है। पवित्रता, भक्ति, करुणा, संयमादि सात्त्विक समत्व के गुण सत्य का साक्षात्कार

करने में सहायक होते हैं, लेकिन सत्त्व स्वयं चरम सत्य नहीं है। आत्म-साक्षात्कार, अविद्या के समस्त बन्धनों से आत्मा की आत्यन्तिक मुक्ति, चरम लक्ष्य है। मात्र धर्माचरण और संयम उच्चतम आध्यात्मिक अर्थों में मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है।

श्रीरामकृष्ण एक धनी व्यक्ति की कहानी सुनाया करते थे, जिसे जंगल से गुजरते समय तीन डाकुओं ने पकड़कर लूट लिया। तब पहले डाकू ने अपने साथियों से कहा, ''इसे मार डालो''। दूसरे ने कहा, ''मारने से कोई फायदा नहीं है; इसे कस कर बाँध कर जंगल में पड़े रहने दो।'' वे लोग ऐसा करके चले गये। लेकिन तीसरा डाकू लौट कर आया और उसे बन्धन मुक्त करके जंगल से बाहर निकाल कर लाया। उसने उसे सलाह दी, 'उस रास्ते से जाओ, तुम शीघ्र घर पहुँच जाओगे।' धनवान व्यक्ति ने कृतज्ञ होकर कहा, ''लेकिन आप भी मेरे साथ चलिए, हमें आपका हमारे घर में आदर-सत्कार करने में प्रसन्नता होगी।'' किन्तु डाकू ने कहा, ''यह नहीं हो सकता। मैं डाकू हूँ और यदि मैं नगर में जाऊँगा, तो पुलिस मुझे पकड़ लेगी।''[४]

ठीक इसी तरह तमस् हमें नष्ट करता है, रजस् हमें सांसारिक बन्धनों में आबद्ध करता है और सत्त्व हम में मुक्ति की स्पृहा पैदा करता है। सत्त्व पवित्रता, करुणा आदि गुणों को जन्म देता है, जो परमात्मा की दिशा निर्देश करते हैं, लेकिन जीव को क्रमशः ऊपर उठना चाहिए। तीन गुणों की तुलना ब्रह्म रूपी छत तक जानेवाली सीढ़ियों से भी की जा सकती है। सत्त्व छत तक जाने वाली सीढ़ी का अन्तिम सोपान मात्र है। विशेष अन्तर्दृष्टि प्रदायक प्रज्ञाशक्ति की सहायता से गुणों का अतिक्रमण किए बिना ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक जीवन नैतिक जीवन से कुछ अधिक है। नैतिक आचरण निश्चित रूप से अपरिहार्य है, लेकिन आध्यात्मिक जागरण भी होना चाहिए। यह परमात्म-सत्ता के निरन्तर जप और ध्यान से होता है, जो अन्ततोगत्वा साधक को स्वयं तथा दूसरों में परमात्मा की सत्ता का साक्षात्कार करने में समर्थ करता है। हमें तंग करने वाली विश्वजनीन शक्तियों के जाल में फँसे रहने तक जीव आध्यात्मिक स्वाधीनता कभी प्राप्त नहीं कर सकता; लेकिन जब जीव अन्ततः गुणों का अतिक्रमण करता है, तब वह जन्म और मृत्यु से, दुःख और जरा से छुटकारा पाकर अमर हो जाता है।

हमारा मानव व्यक्तित्व वैचित्र्यपूर्ण एवं जटिल है। विश्वजनीन अविद्या या माया के उपादान त्रिगुणों के नाम से पुकारी जाने वाली विश्वजनीन शक्तियाँ; अहंकार, वासनाओं सहित मन तथा बाह्यजगत् और देह से आसक्ति के स्वभाव युक्त इन्द्रियों को पैदा करती है। यह जटिल प्रकृति हमारे वास्तविक-स्वरूप, उच्चतर आत्मा को आवृत कर देती है। हमें अपने बाहरी व्यक्तित्व के बन्धन से तथा हमारे वातावरण की सीमाओं से मुक्त होना सीख लेना चाहिये। निषेधात्मक भाषा में चरम मुक्ति का अर्थ समस्त अनर्थों की मूलकारण अविद्या से मुक्ति है।

---

४. श्रीरामकृष्ण वचनामृत ... भाग ... पृ. ...

सकारात्मक भाषा में उसका अर्थ ब्रह्म, ईश्वर, अल्लाह अथवा ताओ कहलाने वाले चरम सत्य का साक्षात्कार है। सिद्ध महापुरुष इसी वास्तविक मुक्ति को प्राप्त करते हैं। मोक्ष या मुक्ति उस ज्ञानालोक द्वारा प्राप्त होती है, जो नैतिक और आध्यात्मिक रूपान्तरण कर डालता है।

आध्यात्मिक मुक्ति का सोपान - नैतिक मुक्ति :

भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पद् या सद्गुणों युक्त तथा आसुरी सम्पद् या दुर्गुणों युक्त व्यक्तियों का वर्णन है। अभय, मन की शुद्धि, ज्ञान, संयम, दान, दम, यज्ञ, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, त्याग, शान्ति, सभी दु:खी प्राणियों के प्रति दया व कोमल भाव, विनय, धैर्य, आदि दैवी सम्पद हैं। आसुरी सम्पद का विस्तार से वर्णन किया गया है, लेकिन संक्षेप में वे अहंकार, दर्प, क्रूरता और अज्ञान हैं। इन दो प्रकार की सम्पदों का अन्तर त्रिगुणों के कारण है। जिनमें तमस् और रजस् का प्राधान्य रहता है, वे आसुरी सम्पद युक्त होते हैं। जिनमें सत्त्व का प्राधान्य रहता है, वे दैवी सम्पद युक्त होते हैं।

यदि हम अपने जीवन का अवलोकन करें, तो पाएंगे कि हम में दोनों प्रकार के गुण हैं। कभी हम देवता की तरह तो कभी असुर की तरह आचरण करते हैं। इस दोलायमान स्थिति का कारण सत्त्वगुण में प्रतिष्ठा की अक्षमता है। नैतिक-जीवन यापन करना अपने आप में पर्याप्त नहीं है। सामान्य लौकिक नैतिकता में रजोगुण का मिश्रण रहता है, जो मानव की आध्यात्मिक अनुभूति में बाधा उत्पन्न करता है। जब मन का रजोगुण दूर हो जाता है और सत्त्वगुण का बाहुल्य होता है, तब मन परमात्मा ज्योति को प्रतिबिम्बित करता है। लेकिन सबसे पहले तो तमोगुण को दूर करना होगा। विषय सुख से अत्यधिक लगाव, आलस्य और गर्व को त्यागना होगा। यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति में सच्ची आन्तरिक शक्ति हो। बहुत से लोग जिस शक्ति का बाह्य-प्रदर्शन करते हैं, वह प्राय: दुर्बलता को छिपाने के लिए होता है। एक सच्चे नैतिक व्यक्ति में महान् आन्तरिक शक्ति तथा स्फूर्ति होती है। वह तमोगुण पर विजय पाकर शान्त और प्रेमी स्वभाव का हो जाता है। लेकिन यदि यह अवस्था आध्यात्मिक अनुभूति न करावे, तो यह भी किसी काम की नहीं है। सामान्यत: वास्तविक नैतिकता मानव को अध्यात्म और मुक्ति की ओर ले जाती है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि दैवी-सम्पद् मोक्ष-प्रदायक है, जब कि आसुरी सम्पद् बन्धनकारक होती है।[५] मानव को एकमात्र आध्यात्मिक अनुभूति ही सम्पूर्ण मुक्ति प्रदान कर सकती है और नैतिकता उस दिशा में आवश्यक कदम है।

जिस मात्रा में हम एक शुभ-जीवन यापन करने में सफल होते हैं, उसी मात्रा में नैतिक स्वाधीनता प्राप्त होती है। लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति से ही पूर्ण तथा आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, जो सिद्ध पुरुष को अविद्या से मुक्त करती है। यही अविद्या सभी प्रकार

---

५. भगवद्गीता, १६.५

के बन्धन और दु:खों का मूल कारण है।

बुद्ध का कथन है, "निर्वाण-लाभ होने पर ज्ञानी पुरुष पवित्रता में प्रतिष्ठित और मुक्त हो जाता है।" जब ईसा मसीह ने यह कहा, "और तुम सत्य को जानोगे और सत्य तुम्हें मुक्त करेगा।"[६] तब वे ज्ञान द्वारा प्राप्त मुक्ति की बात कर रहे थे। चीन के ताओ मतवादियों की एक पुरातन कहावत इस प्रकार है : "सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा जगत् की माता बन गये। जब मानव अपनी माता को जानेगा, तब वह यह भी जानेगा कि वह उसका पुत्र है। जब वह अपने पुत्रत्व को पहचानेगा, तब वह अपनी माता के निकट रहेगा और अपने जीवन के अन्त तक, खतरों से मुक्त रहेगा।"

स्वर्गसुख-प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं है :

स्वर्ग तथा भोग के अन्य लोकों की मान्यता हिन्दू-धर्म में बहुत प्रारम्भ से विद्यमान है। लेकिन मीमांसक नामक दार्शनिकों के एक अल्प समुदाय को छोड़कर और किसी के द्वारा वह जीवन का चरम लक्ष्य, परम पुरुषार्थ नहीं माना गया है। मीमांसकों का विश्वास था कि याग और यज्ञ रूप क्रियाकाण्ड द्वारा स्वर्ग में प्रवेश किया जा सकता है। अत: उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड को बहुत अधिक महत्व दिया है। लेकिन उपनिषदों, भगवद्गीता, शंकराचार्य की रचनाओं, श्रीमद्भागवतम् तथा अन्य शास्त्रों में हम स्वर्ग-सुखों की स्पृहा की कटु निन्दा पाते हैं। वैष्णव आचार्यों ने भी शिक्षा दी है कि स्वर्ग साधक का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। उसके बदले सर्वव्यापी परमात्मा विष्णु का परमधाम (तद्विष्णोः परमं पदम्) साधक का लक्ष्य होना चाहिए।

मीमांसकों के मतानुसार जीव सत्य हैं और अनेक हैं तथा सुख भोग के लोक भी सत्य और अनेक हैं। मृत्यु के बाद जीव पृथिवी पर किये अपने कर्मों के अनुसार इन लोकों को जाते हैं। मीमांसक सर्वशक्तिमान् ईश्वर में विश्वास नहीं करते और उनका लक्ष्य मोक्ष नहीं, अपितु स्वर्ग है, जिसे वे कर्मकाण्ड परक यज्ञों द्वारा जीतने की आशा करते हैं। निश्चय ही वे उपनिषद्-प्रतिपादित उस अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म या आत्मा में विश्वास नहीं करते, जिसकी आन्तर और बाह्य समस्त वस्तुएँ प्रातिभासिक अभिव्यक्तियाँ हैं।

कर्मकाण्ड का मार्ग अनुसरण करने से व्यक्ति कुछ पुण्य अवश्य अर्जित करता है। व्यक्ति ऊर्ध्व लोकों में जा सकता है, लेकिन उसे पुन: नीचे पतित होना पड़ेगा क्यों कि वे लोक भी अनित्य हैं। अनन्त स्वर्ग या अनन्त नर्क कभी नहीं हो सकते। समग्र दृश्यमान जगत् काल द्वारा नियन्त्रित हो रहा है और काल में ही प्रकट और विलीन होता है।

"यज्ञकर्ता यहाँ नीचे यज्ञों द्वारा देवताओं की उपासना करके स्वर्ग में जाता है। स्वयं द्वारा अर्जित स्वर्ग-सुखों का वह एक देवता की तरह उपभोग करता है। ... अपने पुण्य-कर्मों के फल

---

६. बाइबिल, सन्त जॉन ८.३२

की समाप्ति तक वह स्वर्ग में सुख भोग करता है। उसके बाद पुण्य-क्षय होने पर काल के द्वारा प्रेरित हो, अपनी इच्छा के विरुद्ध वह नीचे गिर जाता है।"[७]

इहलोक तथा परलोक के सुखों का पीछा करने में अपनी शक्ति व्यर्थ नहीं गँवानी चाहिये। सच्चा वैराग्य वेदान्त के अधिकारी का एक अनिवार्य सद्गुण है। जब सभी सुखों के मूल भगवत्-साक्षात्कार के नित्यपरमानन्द की प्राप्ति की सम्भावना विद्यमान है, तो फिर स्वर्ग के अनित्य सुखों के पीछे क्यों जाते हो, जो इहलोक के सुखों से अधिक भिन्न नहीं हैं? विभिन्न प्रकार के सुख होते हैं। प्रश्न यह है कि तुम किसका चयन करते हो। इस विषय में व्यक्ति को बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित होना चाहिए। भोगासक्ति में सुख है और स्वर्गसुख भी है, लेकिन इन दोनों का अतिक्रमण करके आत्मा की मुक्ति का आनन्द प्राप्त करने में अधिक सुख है। सदा के लिए निर्णय कर लो कि तुम क्या चाहते हो। यदि तुम ईश्वर साक्षात्कार और आध्यात्मिक जीवन का चयन करो, तो तुम्हें इहलोक और परलोक की सभी इच्छाओं का त्याग करना चाहिये। तुम्हें इस दिव्य-त्याग के मार्ग की सभी कठिनाईयों और परीक्षाओं का सामना करने के लिए तैयार होना चाहिए।

इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति को समस्त कर्म त्याग देना चाहिये। कर्म में प्रेरित करने वाली भोगेच्छाओं का त्याग अधिक महत्त्वपूर्ण है। सभी कर्मों को कामना रहित होकर करना चाहिये। यही निष्काम कर्म है। इस तरह कर्म करने पर चित्त शुद्ध होगा और वह भगवान् का प्रकाश प्राप्त करने में सक्षम होगा। यदि तुम निष्काम कर्म न कर सको, तो कर्मफलों को परमात्मा को समर्पित कर दो। गीता में कहा गया है :

"जिससे सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिस से सब कुछ व्याप्त है, उसकी अपने स्वकर्मों से अर्चना करके मानव सिद्धि प्राप्त करते हैं।"[८]

अपने कर्मों से भगवान् की आराधना करो। यह आराधना के श्रेष्ठतम् उपायों में से एक है। क्रिया-अनुष्ठान भी यदि एकमात्र भगवत्-प्रीत्यर्थ किए जाएँ, तो उपयोगी होते हैं। बहुतों के लिए प्रारम्भिक अवस्था में वे आवश्यक हो सकते हैं। लेकिन उच्चतर प्रकार की उपासनाएँ भी हैं। साधक को इन उच्चतर प्रकार की उपासनाओं को अंगीकार कर परमात्मा के निकट से निकटतर पहुँचना चाहिए। यदि तुम उच्चतर प्रकार की उपासना कर सकते हो, तो निम्नतर से क्यों सन्तुष्ट रहते हो?

फिर भी, एक बात ध्यान रखने की है। मीमांसकों के सूक्ष्म स्वर्गीय सुख, इस लोक में सामान्य लोगों द्वारा भोगे जा रहे, स्थूल प्राकृत भोगों से निश्चित रूप से श्रेष्ठतर हैं। स्वर्ग सुख, भगवत्साक्षात्कार के सुख से निश्चय ही निम्नतर हैं तथा उसकी शास्त्रों में भले ही निन्दा की गई हो; लेकिन वह अनैतिकता तथा भ्रष्ट आचरण के कीचड़ में रेंगने से बहुत अच्छा है।

---

७. श्रीमद्भागवतम् ११.१०.२३,२६ तथा देखिए भगवद्गीता, ८.१६

८. भगवद्गीता १८.४६

मीमांसकों में धर्म का भाव प्रबल रहता है। वस्तुतः सभी हिन्दू दर्शन प्रणालियों की तुलना में उन्होंने ही नीतिशास्त्र की विशदतम व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार वैदिक विधि-निषेधों का पालन करना मानव का कर्तव्य है। मीमांसा-दर्शन के सबसे महान् प्रणेताओं में से एक ने कर्म के लिए कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और वैदिक आदेशों के पालन का उनका सिद्धान्त इमेन्युएल काण्ट के 'विवेक की आज्ञा' या 'सर्वोपरि कानून' के सिद्धान्त से अधिक भिन्न नहीं है। धर्म (सदाचरण) हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदायों में सदा एक नियन्त्रणकारक घटक रहा है। हिन्दू धर्म में ईश्वर के भय को इतना महत्त्व नहीं दिया गया है, जितना धर्म हानि के भय को दिया गया है। व्यक्ति धर्म के किसी भी नियम अथवा विधान का खण्डन करने में डरता है। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म के विधान का पालन करना चाहिए। धर्माचरण विहीन व्यक्ति के लिए हिन्दू धर्म में कोई स्थान नहीं है। आध्यात्मिक प्रगति सम्पन्न व्यक्ति धर्म के कुछ स्थूल रूपों का अतिक्रमण भले ही करें, पर कोई भी उसके मौलिक सिद्धान्तों का हनन नहीं करता।

चरम मुक्ति वेदान्त का लक्ष्य है :

वेदान्त का लक्ष्य मुक्ति की उस अवस्था को प्राप्त करना है, जो जन्म और मृत्यु से परे है तथा जिससे पतित होने की सम्भावना नहीं है। मुक्ति हमारे देह और मन से, दूसरे शब्दों में हमारे झूठे व्यक्तित्व से, स्वयं को पृथक् करने पर ही प्राप्त की जा सकती है। भौतिक पदार्थों से पूर्ण अनासक्ति, वास्तविक मुक्ति है। वास्तविक आत्मा के अतिरिक्त और किसी पर निर्भरता बन्धन और दुःख है। पूर्ण ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मा पर ही निर्भर रहता है, और किसी पर नहीं तथा आत्मानन्द का उपभोग करता है। वह आत्माराम – आत्मा में रमण करने वाला – कहलाता है। वह मन और इन्द्रियों के समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म भोगों का अतिक्रमण करता है। ज्ञानी व्यक्ति के लिए स्वर्ग-सुख भी दुःख ही है, क्योंकि वह इससे कहीं ऊँची स्वाधीनता और आनन्द की स्थिति का उपभोग कर चुका होता है। यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि स्वर्ग सुख पार्थिव-सुखों से श्रेष्ठतर हैं, फिर भी वे स्थायी नहीं होते और व्यक्ति को अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं बनाते। इसीलिए सभी गम्भीर स्वभाव साधकों को यह सलाह दी जाती है कि वे स्वर्ग की इच्छा को आध्यात्मिक प्रगति में बाधक समझें। क्रिया-अनुष्ठानों के मार्ग का अवलम्बन करने के बदले साधक को वैराग्य, ज्ञान और भक्ति का अधिकाधिक विकास करना चाहिए।

मृत्यु तुम्हें ताक रही है और तुम भोगों की सोच रहे हो? माया की ऐसी शक्ति है कि हम अपना अमूल्य समय नाना प्रकार की अर्थहीन बातों में व्यर्थ गँवाते जाते हैं और मुक्ति के चरम लक्ष्य को भूल कर नये बन्धनों में बँधते जाते हैं। मछुए के जाल और मछलियों की श्रीरामकृष्ण कथित लघुकथा का अर्थ स्पष्ट ही है। जाल से निकलने का रास्ता है, लेकिन बहुत कम मछलियाँ उसमें से बच निकल पाती हैं। शेष मछलियाँ गहरे कीचड़ में घुस कर

समझती रहती हैं कि वे सुरक्षित और बड़े आराम में हैं।[१] हमारा भी यही हाल है। मृत्यु के द्वारा पराभूत होने पर यह संसार, जिसे हम सुरक्षित स्थान समझते हैं, हमारी आँखों के सामने से गायब हो जाता है। मृत्यु से अनावश्यक रूप से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन हमें उसकी सत्यता को विस्मृत करने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए। यदि जीवन सत्य हैं, तो मृत्यु भी सत्य है।

हिन्दू धर्म में परित्राण का अर्थ है, जीव की समस्त दुःखों से मुक्ति। वह एक अविमिश्रित आनन्द की स्थिति है। पूर्ण मुक्ति और आनन्द की उस अवस्था में निवास करना अथवा उसकी प्राप्ति के लिए तीव्र प्रयास करना 'आध्यात्मिक-जीवन' के नाम से अभिहित होता है। यह केवल मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाली अवस्था नहीं है। उसकी उपलब्धि यहीं, उसी जगत् में हो सकती है। इस चिरस्थायी मुक्ति का लाभ करने वाला व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है।

चरम मुक्ति का उपाय - यथार्थ ज्ञान :

अगला प्रश्न है : इस सुखकारक, स्वर्गीय अवस्था की अभी यहीं प्राप्ति में मानव की बाधा क्या है? भारतीय दर्शन की सभी शाखाएँ इस बात से सहमत हैं कि अविद्या मानव के बन्धन का कारण है; अवश्य इस अविद्या के स्वरूप के विषय में विभिन्न मान्यताएँ हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक सर्वव्यापी मूल अविद्या है, जो माया कहलाती है तथा जो ब्रह्म या सत्य को उसी तरह आवृत कर देती है, जिस तरह सूर्य को बादल। यहीं नहीं यह माया अनन्त प्रकार के प्राणियों से युक्त इस विराट् जगत् को प्रक्षिप्त करती है। इसके कारण मानव यह नहीं जान पाता कि वह स्वरूपतः ब्रह्म है। अपने अस्तित्व के इस मूल तथ्य के प्रति अज्ञान के कारण ही ये समस्त दुःख, अशुभ तथा द्वैत और द्वन्द्व पैदा होते हैं। पुनः वेदान्त यह भी कहता है कि इस मूल अविद्या को ज्ञान के द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। इस सत्य ज्ञान की, सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ हमारे एकत्व के ज्ञान की, उपलब्धि ही वेदान्त में आध्यात्मिक जीवन कहलाती है। वेदान्त की द्वैत-प्रणालियों में भी जीव को परमात्मा के स्वरूप का ही माना गया है। द्वैतवादी वेदान्ती यह मानते हैं कि अपनी जीवत्व दशा में आत्मा का यथार्थ ज्ञान संकुचित अवस्था में रहता है। इसके फलस्वरूप उसके वास्तविक स्वरूप का तथा परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। साधना और भगवत्कृपा के द्वारा जीव विस्तार प्राप्त करता है। और अधिकाधिक ज्ञानार्जन करता है।

तात्पर्य यह है कि वेदान्त के सभी सम्प्रदाय यह मानते हैं कि यथार्थ ज्ञान आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। अद्वैत मत के अनुसार वह माया द्वारा आवृत रहता है और द्वैत मत के अनुसार वह संकुचित रहता है, बस, यही अन्तर है। इस वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति और

---

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत ...

अभिव्यक्ति के लिए किया गया प्रयास ही आध्यात्मिक जीवन है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने धर्म को, "मानव में पहले से विद्यमान देवत्व की अभिव्यक्ति" की संज्ञा दी हैं। अपने अनुपम शब्दों में वे धर्म का सार इस प्रकार बताते हैं :

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। अन्तः प्रकृति और बहिःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्म-भाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मत्व व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्यौरे मात्र हैं।[१०]

इस अव्यक्त ब्रह्मत्व या देवत्व को प्रकाशित करना मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

अतः यथार्थ ज्ञान अथवा प्रत्यक्षानुभूति हिन्दू-धर्म में आध्यात्मिक-जीवन का प्रमाण और मापदण्ड माना गया है। यह अपरोक्ष प्रज्ञाजन्य ज्ञान पुरुषार्थ अथवा भगवत्कृपा अथवा दोनों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा अपने वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार के बिना कोई भी पूर्ण मुक्ति और परमानन्द प्राप्त नहीं कर सकता, जो जीवन का लक्ष्य है। हिन्दू-धर्म की सभी साधन-पद्धतियाँ (जो योग कहलाती हैं) इस प्रत्यक्ष अनुभूति की प्राप्ति के लिए ही हैं।

कारागार का निर्माता - अहंकार :

यथार्थ ज्ञान हमारे मिथ्या व्यक्तित्व बोध को, उसके सभी झूठे सम्बन्धों के साथ ध्वंस कर देता है। वह हमारी चेतना के केन्द्र को देह और मन से हटा कर परमात्मा में, जड़ पदार्थ से हटाकर आत्मा में ला देता है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व देह, इन्द्रियों, मन और अहंकार का सम्मिश्रण है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ इस संघात को नष्ट करना, चेतना के केन्द्र को इस सम्मिश्रण से हटा कर आत्मा में लाना है, और कुछ नहीं। लेकिन यह ग्रन्थि सतत् साधना से ही टूट सकती है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। मिथ्या व्यक्तित्व के इस विघटन में कोई चमत्कार, कोई रहस्य नहीं है। बल्कि यह बात अत्यन्त स्पष्ट, निश्चित और सटीक है, जरा भी रहस्यमय नहीं। रहस्यमय बातों के पीछे कभी मत भागो। योग में कोई भी रहस्य, कोई भी गोपनीय बात कदापि नहीं है। वह अत्यन्त सरल है। हमने गलती से इस विचित्र समष्टि (देह-इन्द्रियादि) के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है। देह, इन्द्रियों, मन और अहंकार के इस समस्त सम्मिश्रण को नष्ट करके, हमारे वास्तविक स्वरूप की तरह सरल बनना ही आध्यात्मिक-जीवन है। हम न तो कुछ वस्तुओं की समष्टि हैं और न ही कोई पेचीदा वस्तु हैं, बल्कि स्वरूपतः अत्यन्त सरल हैं। लेकिन दीर्घ, निरन्तर साधना के बिना इसकी अनुभूति नहीं हो सकती।

---

१०. विवेकानन्द साहित्य - १ पृ. १७३

अविद्या इन सभी पदार्थों को एक साथ बाँधकर रख सकती है। अविद्या के नष्ट होने पर यह संहति कुछ समय तक बनी रहती है, उसके बाद समाप्त हो जाती है। नौका खेना बन्द कर देने पर भी पूर्व प्रदत्त गति नौका को कुछ दूर तक ले जाती है। कसौटी यह है कि क्या हमने देह, मन आदि के मिथ्या समूह के साथ अपना तादात्म्य त्यागा है? जब बुद्ध को चरम-ज्ञान प्राप्त हुआ, तो वे कह उठे :

रहा मैं, अनेक जन्म भवनों में
कर्मरत सदा तलाश में उसकी,
इन्द्रियों के दुःखदायी कारागारों में,
अन्तहीन संघर्ष दुःखदायी।
पर अब,
तुझे, जान गया हूँ,
डेरे के निर्माता, तुझे।
अब न बना पाएगा तू,
दुःखदायी ये दीवारें।।
धोखे की टट्टी, मिट्टी की काया यह,
तेरा घर टूट चुका है,
माया का खम्भा फट चुका है,
मैं सुरक्षित, मुक्ति की ओर बढ़ चुका हूँ।।[११]

सर्वप्रथम हमें खनिज को धूल, मिट्टी, बालू जैसी नाना अनावश्यक वस्तुओं से पृथक् करना होगा – फिर उसे अग्नि में डालना होगा। यह पहली सफाई है। उसके बाद समूची अशुद्धि को भस्म करना होगा, जिसके उपरान्त विशुद्ध सोना बच रहे। यह शुद्धिकरण है। इसी तरह आध्यात्मिक-जीवन में विवेक द्वारा हमें यह जानना चाहिए कि आत्मा, मन और देह से पृथक् है और उसके बाद साधना द्वारा उसे मन की अशुद्धियों से मुक्त करना चाहिए। जिस मात्रा में हम संयम, पूर्ण ब्रह्मचर्य एवं विवेक का अभ्यास करेंगे, उसी मात्रा में हम यथार्थ-ज्ञान अर्जन करेंगे। इसके बिना ज्ञान नहीं हो सकता। जितना ज्ञान होगा, उतने ही हम बन्धन और दुःख से मुक्त होंगे। और तब सत्य-परमात्मा परमानन्द और शान्ति से हमें पूर्ण करता हुआ प्रकाशित होगा।

हम सभी में सत्य और मिथ्या की एक ग्रन्थि है। यह है हमारा अहंकार। यथार्थ ज्ञान इस ग्रन्थि को जला डालता है और अहंकार अथवा मिथ्या आत्मा के नष्ट होने पर हम अपनी वास्तविक आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। तब हम यह अनुभव करते हैं कि स्वरूपतः हम एक अखण्ड, अक्षर, सर्वव्यापी परमात्मा के अंश हैं।

---

११. सर एडविन अर्नाल्ड कृत - द लाईट आफ एशिया, (लन्दन, केगन पॉल, ट्रेन्च, ट्रूबनर एण्ड को., १९४३), पृ. ११५

दीर्घ काल तक ज्ञान प्राप्ति का प्रयास किये बिना यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसीलिए महान् व्यवधान रहित निरन्तर साधना की आवश्यकता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने में मानव को लम्बा समय लगता है। केवल एक पूर्ण धैर्यवान व्यक्ति ही उसे प्राप्त कर सकता है।

मुक्त होकर दूसरों को मुक्त करो :

हम में केन्द्रापसारी और केन्द्राभिमुखी शक्तियाँ कार्यरत हैं। केन्द्राभिमुखी शक्ति की सहायता से हमें अन्दर प्रवेश करना चाहिए, अर्थात हमारी चेतना के वास्तविक-केन्द्र तक पहुँचना चाहिए। देह और मन की समस्त क्रियाएँ चेतना के एक केन्द्र-विशेष से सम्बन्धित रहती हैं। इसका हमें पता लगाना चाहिए। वही आत्मा और परमात्मा का मिलन-बिन्दु है। हमारी केन्द्राभिमुखी शक्ति को इस केन्द्र की प्राप्ति के लिए एकाग्र करना चाहिए।

केन्द्रापसारी शक्ति का उपयोग बन्धन से मुक्ति के लिए करना चाहिए। आत्मा स्वरूपत: नित्य मुक्त है। जब कभी आत्मा अपनी स्वरूपगत मुक्ति को प्रकट करने का प्रयास करती है, तभी वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती है। हम अपने देह और मन से ही बद्ध हैं। इन पर नियन्त्रण बनाए रखना सीखने पर हम मुक्त हो जाते हैं। आत्म-संयम का जीवन मुक्ति एवं बल का एक अद्भुत जीवन है। वास्तविक सुख इसी में है। अन्य सभी प्रकार के भोग नाना प्रकार के काँच के दाने हैं, जो बारम्बार टूटते हैं, लेकिन आत्म संयम का यह आनन्द नित्य और अपरिवर्तनशील है।

आध्यात्मिक-पथ का अनुसरण करके तथा चित्त और हृदय को शुद्ध करके, हम सभी को इसी जीवन में आत्म-साक्षात्कार और मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। किसी निम्नतर आदर्श पर रुकने के बदले वेदान्त आत्म-साक्षात्कार और मुक्ति का उच्चतम आदर्श अपने समक्ष बनाये रखने का हमें आव्हान करता है। यदि इसी जन्म में परमात्मा का साक्षात्कार करने में हम असफल रहें, तो उच्चतम ज्ञानालोक और मुक्ति की प्राप्ति तक जन्म-जन्मान्तर तक संघर्ष करते रहने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। तब अपनी क्षुद्र रीति से, हम भी दूसरों को ज्ञान के लिए सहायता कर सकेंगे।

हमारा लक्ष्य इसी जीवन में, जीवन रहते, मुक्त होना है। मृत्यु के पूर्व ही हमें मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। मानव-जन्म एक दुर्लभ सौभाग्य है। मानव ही मुक्ति और पूर्णता के लिए संघर्ष कर सकता है। वही तात्कालिक जीवन-निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं के परे एक उच्चतर लक्ष्य के बारे में सजग बना रह सकता है। अतएव इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने जीवन का पूरा सदुपयोग करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। सभी लोग उसकी प्राप्ति में अभी सफल भले ही न होवें, तो भी सभी को उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यदि पूर्ण मुक्ति नहीं, तो भी आंशिक मुक्ति अभी प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति एक निम्न प्रवृत्ति के चंगुल से मुक्ति प्राप्त करता है, तो वह उन लोगों से श्रेष्ठ है, जो सभी

प्रवृत्तियों के गुलाम हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : "साहसी बनो और सत्य के दर्शन करो, उस से तादात्म्य स्थापित करो, छायाभासों को शान्त होने दो।"[१२] बहुत से लोग मिथ्या प्रतीति के आधार पर जीवन का निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। वे एक काल्पनिक-जगत् में जीते हैं। वे सोचते हैं कि वे दूसरों से बहुत बुद्धिमान् और अच्छे हैं; वे कल्पना करते हैं कि उन्हें अद्भुत आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हो रही हैं। लेकिन एक समय आएगा, जब उनके जीवन में एक भीषण संकट अचानक उपस्थित होगा और तब उन्हें यह जान कर पश्चात्ताप होगा कि उन में उस संकट का सामना करने और उस से उबरने की मानसिक शक्ति नहीं है। और तब उनका जीवन ताश के मकान की तरह ढह जाएगा। केवल सत्य ही हमारी रक्षा कर सकता है। सत्य पर आधारित जीवन ही दीर्घ-स्थायी होता है। हमें यथार्थ जीवन से प्रारम्भ करना चाहिए। हमारे जीवन के सामान्य अनुभव, इन्द्रियों से प्राप्त अनुभव, – न कि झूठी आशाएँ, स्वप्न और कल्पनाएँ, – हमारे जीवन के आधार होने चाहिएँ, भले ही वे दु:ख और कष्ट ही क्यों न लाएँ। यह कल्पना करना ही पर्याप्त नहीं है कि तुम आध्यात्मिक-जीवन यापन कर रहे हो। तुम्हें जीवन के कटु सत्यों का सामना करके एक के बाद एक उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कृत्रिम जीवन नहीं अपितु यथार्थ जीवन यापन करने पर तथा साधन-पथ का मन लगाकर पालन करने पर तुम उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति की प्राप्ति के अधिकारी बनोगे। आध्यात्मिक-अनुभूति के अधिकारी होने पर वह अपने आप आती है। तुम आध्यात्मिक-अनुभूति के बारे में अभी जो अनुमान लगा रहे हो, वह वैसी नहीं, बल्कि एक विस्मय जनक यथार्थ अनुभूति होती है।

सामान्य लोग वातमापक-यन्त्र की तरह होते हैं। वे अपनी सहजात प्रवृत्तियों के वशीभूत होते हैं और उनकी दिशा सतत परिवर्तित होती रहती है। साधक उस तरह जीवन यापन नहीं कर सकता। उसे सहज-प्रवृत्यात्मक जीवन को त्यागना होगा। उसकी चरम लक्ष्य के अनुरूप गठित एक निश्चित्र जीवन-प्रणाली होनी चाहिए। उसे स्वयं को तब तक अनुशासित करना चाहिए, जब तक वह उसके लिए स्वाभाविक न हो जाए। तभी वह समस्त अनुशासनों से परे की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। अनुशासन से हमें आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होती हैं, जिनके फलस्वरूप हमें उच्चतर मुक्ति प्राप्त होती है।

वास्तविक मुक्ति सिर्फ हमारे लिए ही नहीं, अपितु दूसरों की सहायता के लिए भी आवश्यक है। जो स्वयं मुक्त है, वही दूसरों को मुक्त कर सकता है। तुम श्रीरामकृष्ण की भागवत् पण्डित की लघुकथा जानते हो, जिसने एक राजा के समक्ष भागवत् की व्याख्या करने का प्रयास किया था। प्रतिदिन की कथा के बाद जब पण्डित राजा से पूछता, "मैंने जो कहा, क्या उसे आपने समझा?" – तो राजा उत्तर देता, "पण्डितजी, पहले आप स्वयं

---

१२. विवेकानन्द साहित्य -१० (१९८५), पृ. १९१-१९२

समझें।" आखिरकार पण्डित जी को पता चला कि स्वयं बद्ध होने के कारण वह राजा को सांसारिक-बन्धनों से मुक्त नहीं कर सकता। इस ज्ञान के उदय होने पर वह संसार त्याग कर परिव्राजक संन्यासी बन गया। जाने के पूर्व उसने राजा के पास सन्देश भेजा, "हे राजन्, मैंने आखिरकार समझ लिया है।"[१३] यदि हम दूसरों को दुःख से मुक्त करना चाहते हैं, तो हमें भी स्वयं उस से मुक्त होना चाहिए। सांसारिक प्रलोभनों से अभिभूत होने वाला व्यक्ति अपने साथियों की सहायता नहीं कर सकता। अतः हमें दूसरों की सहायता करने के लिए स्वयं मुक्त होना चाहिए। जिस मात्रा में हम स्वयं मुक्त होंगे, उस मात्रा में ही हम दूसरों का मुक्ति के पथ पर मार्ग-प्रदर्शन कर सकते हैं।

अतः आध्यात्मिक मुक्ति का आदर्श कोई स्वार्थपर आदर्श नहीं हैं, जैसी कि बहुत-से पाश्चात्य आलोचकों की गलत धारणा है। भारत में सहस्त्रों मुक्त-पुरुषों ने युगों से लोगों के आध्यात्मिक-कल्याण के लिए कार्य किया है। यदि भारत आधुनिक काल में भी अध्यात्म का सबसे बड़ा आश्रय-स्थल बना हुआ है, तो यह उन असंख्य आत्मानुभूति सम्पन्न लोगों के प्रयास के कारण ही है। अध्यात्म-मुक्ति का लाभ प्राप्त कर वे दूसरों को उसकी प्राप्ति में सहायता करते हैं। हमें भी अपने साथियों सहित मुक्ति के लिए कठोर परिश्रम करना चाहिए। यही उच्चतम आदर्श है।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्।।

अर्थात् *"दुर्जन सज्जन होवे, सज्जन शान्ति प्राप्त करे; शान्त व्यक्ति मुक्त होवे और मुक्त दूसरों को विमुक्त करे।"*

१३. श्रीरामकृष्ण वचनामृत ... भाग ... पृ. ...

अध्याय ३३

जीवन्मुक्ति के लक्षण

जीवन्मुक्ति :

श्रीरामकृष्ण एक दिन अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्र, जो आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्व-विख्यात हुए, के साथ बात कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण ने कहा : "अच्छा वत्स, मान लो कि एक पात्र में रस भरा हो और तुम मधुमक्खी हो, तो बताओ, तुम रस कैसे पीओगे?" नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "मैं पात्र के किनारे पर बैठकर रस चूसूँगा। यदि मैं अधिक निकट जाऊँगा तो मैं रस में चिपक जाऊँगा।" इस पर श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा, "लेकिन बेटा, वह सामान्य रस नहीं है। वह भगवदानन्द का अमृत है। उसमें गिरने वाला डूबता नहीं, अमर हो जाता है।"[१] श्रीरामकृष्ण ने यह बात ब्रह्मानुभूति के सन्दर्भ में कही थी। उपनिषद् में कहा गया है, "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है।"[२]

आध्यात्मिक अनुभूतियों के विभिन्न-स्तर हैं। बहुत कम लोग उन से गुजरते हुए ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्ति के उच्चतम अनुभव तक पहुँचते हैं। हम में से बहुत से लोग भगवदानन्द का एक घूँट चखते हैं, लेकिन उसमें डुबकी लगाने से घबराते हैं। ब्रह्म के सागर में गहरी डुबकी लगाने का पुरस्कार सचमुच ऐसी 'शान्ति है, जो बुद्धि से परे है।" वह अनित्य क्षणस्थायी शान्ति के अवसर मात्र नहीं है, बल्कि नित्य आनन्द और गहरी चिरस्थायी शान्ति है।

एक वैदिक ऋषि ने नदी के किनारे खड़े होकर घोषणा की :

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।[३]

अर्थात् *"ओ अमृत के सभी पुत्रो, तथा दिव्यधामों में निवास करने वाले भी सुनो। मैंने अन्धकार से परे, उस महान् आदित्यवर्ण पुरुष को जान लिया है। उसे जानकर मानव मृत्यु का*

---

१. श्रीरामकृष्ण वचनामृत ...

२. स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। - मुण्डकोपनिषद् ३.२.९

३. श्वेताश्वतरोपनिषद् २.५ और ३.८

अतिक्रमण करता है। मुक्ति का और कोई मार्ग नहीं है।''

भारत के असंख्य सन्तों और ऋषियों ने सदियों से इसी सत्य की शिक्षा दी है। अच्छा, मुक्ति का क्या अर्थ है? हम में से प्रत्येक में जीवन की लालसा और मृत्यु का भयानक भय रहते हुए भी बहुत कम लोग अपनी वर्तमान दशा में अनन्त काल तक बने रहना चाहेंगे। अमरत्व का अर्थ केवल जीवन काल की वृद्धि ही नहीं है। इसका अर्थ सर्वप्रथम तो चेतना का परिवर्तन है। सामान्य मानव-चेतना विषयानुभूति तक ही सीमित है। वह उससे परे नहीं जाती। आध्यात्मिक अनुभूति होने पर सर्वप्रथम चेतना-बोध का परिवर्तन होता है। तब व्यक्ति को अनुभव होता है कि वह देह अथवा मन नहीं है, अपितु आत्मा है। इसके बाद चेतना का विस्तार होता है। तब हम यह अनुभव करते हैं कि हम सर्वव्यापी परमात्मा के अंश हैं। और आगे बढ़ने पर यह अनुभव होता है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है।

संसार के सभी धर्म उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं; भले ही धर्म-व्याख्याकारगण उसके महत्व को कम करने का प्रयत्न करते हों। ईसाई धर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीव और ईश्वर का पूर्ण मिलन – आध्यात्मिक मुक्ति की श्रेष्ठतम अवस्था मृत्यु के बाद ही सम्भव है। लगभग यही मत इस्लाम का भी है। इतना होते हुए भी इन धर्मों के कुछ महान् योगी सन्तों ने इसी जन्म में ईश्वर के साथ एकत्व की रहस्यात्मक अनुभूति को प्राप्त करने का, तथा परम शान्ति और धन्यता का आस्वादन करने का प्रयत्न किया है।

हिन्दू धर्म में अविद्या तथा उसके अहंकार, राग, द्वेष और दुःखादि परिणामों के चंगुल से इसी जन्म में पूर्ण मुक्ति को जीवन का लक्ष्य तथा उच्चतम आदर्श स्वीकार किया गया है। यह पूर्ण मुक्ति चेतना के रूपान्तरण तथा विस्तार और अन्त में ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति के द्वारा प्राप्त होती है। इस अवस्था की प्राप्ति मृत्यु के बाद नहीं बल्कि इसी संसार में जीवित रहते करनी चाहिए। इसकी प्राप्ति करने वाला व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है। शंकराचार्य अपने प्रसिद्ध-ग्रन्थ ''विवेकचूड़ामणि'' में उस सौभाग्यशाली व्यक्ति का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

जिस की प्रज्ञा स्थिर है, जिस का आनन्द निरवच्छिन्न है, जिसके लिए जगत् प्रपञ्च विस्मृत प्राय: हो गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। उसकी बुद्धि ब्रह्म में लीन रहती है, फिर भी वह जाग्रत रहता है: पर जो जाग्रतावस्था के अज्ञानादि धर्मों से विवर्जित है, पूर्ण बोधयुक्त होकर भी जो निर्वासना है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसकी संसार-कलना (दु:ख) समाप्त हो गयी है; देहधारी होकर भी जो कलारहित अर्थात् अनन्त है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। इस जगत् के गुण तथा दोषयुक्त और स्वभावत: विलक्षण विषयों में समदर्शिता अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शन जीवन्मुक्त का लक्षण है। इस देह के सज्जनों द्वारा सम्मानित होने पर अथवा दुष्टों द्वारा अपमानित होने पर जो समभाव से बना रहता है, वह जीवन्मुक्त है। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में जल डालती रहती हैं, लेकिन समुद्र में विक्रिया नहीं होती, उसी प्रकार दूसरे द्वारा प्रदत्त

विषयों से जिसके चित्त में कोई चाञ्चल्य नहीं होता, क्योंकि उसे सदा यह बोध बना रहता है कि एक सत् मात्र वस्तु ही सर्वत्र विद्यमान है; ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है।[४]

अध्यात्म प्रज्ञा में प्रतिष्ठित व्यक्ति मानव-जीवन के साथ अविभाज्य रूप से जुड़े हुए नैतिक द्वन्द्वों के परे चला जाता है। कठोर साधना द्वारा बुरी वासनाओं का त्याग हो जाने के फलस्वरूप उस में केवल शुभ वासनाएँ बची रहती हैं, जो ब्रह्मज्ञान के उदय के पूर्व उसमें विद्यमान थीं। अथवा शुभाशुभ के समस्त सांसारिक चिन्तन के प्रति उदासीन हो, वह अतिचेतनावस्था में विलीन रह सकता है। परमात्मा की इच्छा से इन में से कुछ सिद्ध-पुरुष करुणा विगलित हो मानव जाति के आचार्यों के रूप में संसार में लौट आते हैं।

ब्रह्म चिन्ता में सदैव अनुरक्त, वे निरिन्धन अग्नि के समान शान्त होते हैं। वे अहैतुक दयासिन्धु तथा प्रणत् सत्पुरुषों के बन्धु होते हैं। वे वसन्त ऋतु की तरह लोक कल्याण में निरत रहते हैं। स्वयं भयंकर संसार सागर से पार होकर, बिना किसी हेतु के दूसरों को भी पार करते हैं। दूसरों के दुःख निवारण के लिए प्रयत्न करना इन महात्माओं का स्वभाव होता है; जिस तरह चन्द्रमा सूर्य की तेज किरणों से तापित पृथिवी को स्वभावतः अपनी शीतल किरणों से तृप्त करता है।[५]

जीवन्मुक्त के लक्षण :

महान् चीनी सन्त कन्फ्यूशियस (या कुंग-फुत्सू) ने कहा है : "पन्द्रह वर्ष की उम्र में मेरा मन ज्ञानार्जन के लिए लालायित था, तीस की उम्र में मैंने स्थिरता प्राप्त की; चालीस की उम्र में मैं संशयरहित हुआ, पचास वर्ष की वय में मैं ईश्वरीय विधान को जानने लगा, साठ वर्ष की उम्र में मेरे कर्ण सत्य ग्रहण के आज्ञाकारी यन्त्र बने और सत्तर वर्ष की उम्र में मैं धर्मविरुद्ध आचरण के बिना अपनी इच्छानुसार आचरण कर सकता था।" इस कथन के द्वारा वे जीवन के लक्ष्य का, अर्थात् पूर्ण नैतिक मुक्ति की प्राप्ति का वर्णन कर रहे थे। एक मुक्त पुरुष न तो अशुभ प्रवृत्तियों द्वारा और न ही प्रचलित नैतिक विधान द्वारा आबद्ध होते हैं। पवित्रता उसका इस हद तक स्वभाव बन जाता है कि उसके लिए स्वयं को अनेकानेक आचार संहिताओं से नियोजित करने की आवश्यकता नहीं रहती। श्रीरामकृष्ण की भाषा में वह एक कुशल नर्तक के समान हो जाता है, जिसका पैर कभी बेताल नहीं पड़ता।[६]

जीवन्मुक्त का दूसरा लक्षण है – अहंकार शून्यता। अहंकार हृदय-ग्रन्थियों का निर्माण करता है, वह मानव मन को जटिल, हिसाबी और दुरूह बना देता है। हमारा दूसरों के प्रति दृष्टिकोण हमारे अहंकार की प्रकृति पर निर्भर करता है। उपनिषद् में कहा गया है कि उच्चतम अति चेतनावस्था की उपलब्धि होने पर हृदय की सारी ग्रन्थियाँ कट जाती हैं और हमारे सारे

४. विवेकचूड़ामणि, श्लोक क्र. ४२८, ४२९, ४३०, ४३३, ४४० तथा ४४१ का सारांश
५. विवेकचूड़ामणि ३३,३७-३८
६. श्रीरामकृष्णवचनामृत

संशय नष्ट हो जाते हैं।[७] समस्त नैतिक द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं तथा हम सर्वत्र ईश्वरीय समरसता का अनुभव करते हैं।

एक सिद्ध-पुरुष घृणारहित होता है। उसके लिए दूसरों से घृणा करना असम्भव होता है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है : "जब ज्ञानी समस्त प्राणियों को आत्मा में तथा समस्त प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता है, तब इस प्रत्यक्ष अनुभूति के फलस्वरूप वह किसी से घृणा नहीं करता।"[८] ब्रह्मज्ञानी दूसरों के प्रति प्रेम और करुणा से परिपूर्ण होता है। उसके पास दूसरों को देने के लिए आशीर्वाद के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। उसका प्रेम जाति, कुल अथवा सामाजिक-स्तर के द्वारा सीमित नहीं होता। वह सभी को भेदभावरहित हो प्रेम करता है। हम में से कुछ को श्रीरामकृष्ण के कुछ प्रख्यात शिष्यों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। केवल उनमें ही हमें दूसरों के प्रति विशुद्ध निःस्वार्थ प्रेम दिखाई दिया था। प्रातःकाल से देर रात तक वे हमारे कल्याण के विचारों में निमग्न रहते थे।

जीवन्मुक्त भयशून्य होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है :"अभयं वै ब्रह्म", अर्थात ब्रह्म अभय है।[९] एक बार याज्ञवल्क्य ऋषि विदेहराज जनक के पास गये। सम्राट की विनती पर ऋषि ने उन्हें सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का उपदेश दिया। शिष्य जनक स्वयं एक उत्तम अधिकारी थे, इसलिए वे सत्य को शीघ्र हृदयंगम कर सके। यह देख कर याज्ञवल्क्य ने उन्हें कहा : "हे जनक! तुमने अभय (की अवस्था) को प्राप्त किया है।"[१०]

जैसा स्वामी विवेकानन्द कहते हैं : अधिकांश लोग उस अपराधी की तरह जीते हैं, जिसका पीछा किया जा रहा हो। उनके हृदय उन्मुक्त नहीं होते। वे जीवन में इतनी जल्दबाजी में रहते हैं, मानो साक्षात् शैतान उनका पीछा कर रहा हो और वे जीवन के सौन्दर्य एवं माधुर्य का कुछ भी उपभोग नहीं कर पाते। वे शान्ति से बैठ नहीं पाते और न ही निर्भय होकर विचरण कर पाते हैं। श्रीरामकृष्ण वचनामृत में सूत बुनने वाली एक महिला की एक रोचक कहानी है। एक दिन उसकी एक सहेली उससे मिलने आई। जब वह उसके लिए जलपान तैयार करने के लिए कमरे से चली गई, तो उसकी सहेली ने रेशमी धागे का एक लच्छा अपनी बगल में छुपा लिया। बुनकर स्त्री जब लौट कर आई, तो उसने तत्काल जान लिया कि धागा चुराया गया है। तब उसने अपनी सहेली को कुछ समय तक एक साथ नाचने का सुझाव दिया। बुनकर स्त्री दोनों हाथ उठाकर नाचने लगी, लेकिन उसकी सहेली एक हाथ उठाकर ही नाचती रही और दूसरे हाथ को शरीर के साथ दबाए रखा।[११] एक मुक्त पुरुष के लिए छुपाने को कुछ नहीं होता और वह निर्भय होता है।

७. मुण्डकोपनिषद् २.२.८ तथा कठोपनिषद् २.३.१५ देखिए

८. ईशावास्योपनिषद् - ६ ९. बृहदारण्यक उपनिषद् - ४.४.२५ १०. वही ४.२.४

११. श्रीरामकृष्णवचनामृत

लोगों का जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में अनावश्यक रूप से सोचते रहने का, खतरे को बड़ा कर के देखने का, और सदा उत्तेजित बने रहने का स्वभाव होता है। इस प्रवृत्ति का सामञ्जस्यपूर्ण चिन्तन और भावनाओं द्वारा प्रतिकार करना चाहिए। भय के बदले हम में साहस होना चाहिए। अस्वास्थ्यकर असहायता के बोध के स्थान पर हमारे लिए स्वास्थ्यकर शरणागति के भाव की आवश्यकता है जो हमें परिस्थितियों के परिवर्तन के बावजूद शान्त रहने तथा अपने पथ पर अग्रसर होने में सहायक हो सके। मार्च १९४० में जब मैंने बर्जन (नार्वे) से अमेरिका के लिए समुद्र यात्रा प्रारम्भ की, तो प्रथम दिन जहाज पर सदा की भाँति नाच गान होता रहा। दूसरे दिन हमें बेतार के सन्देश से नार्वे पर जर्मनी के आक्रमण का तथा बर्जन जैसे बन्दरगाहों पर नाज़ी सेना के क़ब्जे का समाचार मिला। इस से जहाज पर उदासी छा गई और सारा गाना बजाना बन्द हो गया। जहाज के कर्मचारी तथा बहुत से यात्री भयभीत और आतंकित हो गए। नार्वे में अपने घरों को लौटने की कोई आशा नहीं रही और साथ ही जहाज पर टारपीडो या बम से आक्रमण की भी सम्भावना थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पाश्चात्य-देशों में मुझसे कई बार पूछा जाता था, स्वामीजी, "आप इतने शान्त कैसे बने रहते हैं? क्या आपको युध्द के कष्टों तथा क्रुरता का अनुभव नही होता?" मैं उत्तर देता था, "चूँकि मैं तुमसे अधिक अनुभव करता हूँ, इसलिए मैं शान्त रहता हूँ।" सत्य अथवा काल्पनिक कठिनाईयों का चिन्तन करते रहने से और उन्हें बड़ा बनाने से कोई लाभ नहीं। खतरे के समय हमें परमात्मा का चिन्तन और अधिक करना, शान्त बने रहना तथा यथासम्भव अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। इस विषय में हमें महापुरुषों के जीवन से सबक सीखना चाहिए। सुकरात की मृत्यु का विचार करो। उन पर ऐसे अपराधों का दोष मढ़ा गया, जो उन्होंने कभी नहीं किए थे और अनुचित तथा मूर्खतापूर्ण अभियोग के लिए उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया था। लेकिन फिर भी उन में न्यायाधीशों के प्रति कटुता पैदा नहीं हुई। प्लेटो ने 'एपोलोजी' नामक अपने प्रसिद्ध संवाद में सुकारत के मुकदमे का वर्णन किया है। अदम्य साहस और अविचलित सहृदयता के साथ सकुरात ने न्यायाधीशों से कहा :

एथेन्सवासियो, मुझे तुम्हारे प्रति अत्यधिक प्रेम है; लेकिन मैं तुम्हारे स्थान पर भगवान की आज्ञा का पालन करूँगा तथा जब तक मुझ में शक्ति और प्राण हैं, तब तक अपना कार्य तथा सिद्धान्तों का उपदेश कभी नहीं रोकूँगा एवं मुलाकात करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सदाचार के लिए प्रेरित करता रहूँगा।

सुकरात इन शब्दों को कहकर न्यायालय से चले गये, जो अब विख्यात हैं : "विदाई का समय आ गया है और हम अपनी-अपनी दिशा में जा रहे हैं। मैं मृत्यु की ओर, तुम जीवन की ओर; भगवान् ही जानता है, कौन सा श्रेयस्कर है।" मृत्यु की पूर्व सन्ध्या को सुकरात के कुछ मित्रों ने उन्हें कारागार से भाग निकलने का आग्रह किया। लेकिन उन्होंने मना कर दिया। निर्धारित समय आने पर वे सदा की तरह शान्त बने रहे। उन्होंने विष का प्याला शान्त

भाव से पी डाला; विष को क्रियाशील बनाने के लिए थोड़ा चले और शान्तिपूर्वक मरने के लिए लेट गये।

पूर्ण पवित्रता, निरहंकारिता, सभी के प्रति प्रेम और करुणा तथा निर्भयता – ये मुक्तात्मा के कुछ लक्षण हैं। इसके साथ ही वह अपने हृदय के अन्तस्थल से यह जानता है कि वह निर्लिप्त और आनन्दमय आत्मा है। ज्ञानालोक होने पर वह उसकी सत्यता को अन्तर्दृष्टि से जान जाता है। जिस प्रकार सूर्य को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार अतिचेतनावस्था का उदय होने पर उसे जानने के लिए किसी बाह्य उपाय की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञानी पुरुष परमानन्द लाभ करता है तथा अपनी आत्मा में कृतकृत्यता लाभ कर सदा उसी में लीन रहता है। अतएव वह आत्माराम – आत्मा में रमण करने वाला – कहलाता है। स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण के भस्मावशेष-युक्त ताम्रपात्र को, जिसकी बेलुर-मठ में पूजा होती है, "आत्माराम का कौटा" या "आत्माराम का पात्र" कहा करते थे।

जगदाचार्यों के दृष्टान्त :

महान् धार्मिक आन्दोलनों के प्रणेता, विश्व के महान् पैगम्बर, स्वयं उपर्युक्त पूर्ण आत्म-मुक्ति के दृष्टान्त-स्वरूप हैं। ईश्वर की विशेष अभिव्यक्तियों के रूप में लाखों अनुयायी उनकी पूजा करते हैं। इन महापुरुषों के जीवन की जो बात हमारे लिए सबसे मूल्यवान है, वह है, पीड़ित मानव-जाति के प्रति उनका महान् प्रेम और करुणा। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार, अन्य अनेकों ग्रन्थों के रचयिता, महान् अद्वैतवादी शंकराचार्य, जीवन मुक्ति के आदर्श के, जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थों में बारम्बार उल्लेख किया है, स्वयं एक मूर्त विग्रह थे। उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति लाभ करने के बाद, धर्म में प्राण सञ्चार करने तथा लोगों को परमानन्द के पथ का मार्ग प्रदर्शन करने हेतु, वे व्यावहारिक जगत् में लौट आये। बहुत से साधक उनके पास गये और कुछ उनके अन्तरंग शिष्य हो गये। उनकी सहायता से उन्होंने भारत के चार कोनों में चार मठों की स्थापना की तथा अपना सन्देश प्रचारित करते हुए सारे भारत का भ्रमण किया।

परन्तु इस सतत् कर्मशीलता के बीच वे अपनी माँ को नहीं भूले। उनका हृदय कोमल था। एक दिन जब उन्हें अपनी अन्तर्दृष्टि से माँ की मरणासन्नावस्था का पता चला, तो वे उन की मृत्यु शैया के निकट रहने के लिए शीघ्र स्वग्राम पहुँचे। उन्होंने अपनी माता को, उनके इष्ट देव, विष्णु के दर्शन करवाए। कट्टर वेदान्ती होते हुये भी उन में हिन्दू देवी-देवताओं के प्रति गहरा प्रेम और भक्ति थी, जिनकी स्तुति में उन्होंने कई स्तोत्रों की रचना की है। ज्ञानी पुरुष एकांगी और संकीर्ण-बुद्धि नहीं होते। उनका व्यापक दृष्टिकोण सभी को अंगीकार करता है।

श्रीकृष्ण को हिन्दू लोग अवतार-वरिष्ठ मानते हैं। बाल्यकाल से ही उनका असीम

प्रेम, जिसके वे विग्रह-स्वरूप थे, प्रकट होता था। बचपन में उन्होंने एक साधारण ग्वाल-बाल की तरह अपने साथियों के साथ खेलते हुये जीवन यापन किया था। वे वृन्दावन के गोप-गोपियों के परम प्रेमास्पद थे। वे उन्हें इतना प्रेम करते थे कि क्षणभर भी उन्हें भूल नहीं पाते थे। फिर भी कर्तव्य की पुकार पर उन्होंने उनका संग त्याग दिया। बड़े होने पर वे मथुरा गये, जहाँ उनका मामा क्रूर कंस राज्य करता था। कंस ने अपने पिता उग्रसेन को बन्दी बनाकर राज सिंहासन हथिया लिया था। कृष्ण ने द्वन्द्व-युद्ध में कंस को मारकर उग्रसेन को मुक्त किया और पुनः राजा बना दिया। इसके बाद कृष्ण अपने अनुयायियों सहित द्वारका चले गये तथा वहाँ एक नये राज्य की स्थापना की, लेकिन स्वयं राजा नहीं बने। उग्रसेन द्वारका के भी राजा बने रहे। कृष्ण नृप-निर्माता थे। जब कभी अधर्म का उत्थान होता था, तब वे हस्तक्षेप करते थे। उन्होंने पाण्डवों को उनका राज्य पाने में सहायता की। कुरुक्षेत्र के महान् युद्ध में उन्होंने युद्ध नहीं किया, बल्कि केवल अर्जुन के सारथी और मार्गदर्शक बने। उन्होंने सदा उस अनासक्त कर्म का आचरण किया, जिसका गीता में उन्होंने उपदेश दिया है। गृहस्थ का जीवन यापन करते हुए भी श्रीकृष्ण स्वयं मुक्त तथा संसार से निर्लिप्त थे। लेकिन उनमें वृन्दावन के निर्धनतम गोप-गोपियों से लेकर महलों में निवास करने वाले राजा-रानियों, सभी प्रकार के लोगों के प्रति अपार करुणा थी। वे आध्यात्मिक शक्ति और प्रेम के मूर्त विग्रह थे। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण मुक्त पुरुष के लक्षणों का अनेक स्थानों पर वर्णन करते हैं।[१२] और ये लक्षण उन में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुए हैं।

बुद्ध का जीवन मानव इतिहास के अन्धकारमय मार्गों को प्रकाशित कर रही महान् ज्योति है। जन्म से राजकुमार तथा जीवन के समस्त वैभवों से सम्पन्न होते हुए भी वे जीवन के दुःखों और लोगों के कष्टों से अत्यन्त व्यथित हुए। अपने ऐतिहासिक त्याग और वर्षों की कठोर साधना के अन्त में जब उन्हें चरम ज्ञान प्राप्त हुआ, तब उन्हें स्थायी शान्ति और कृतकृत्यता प्राप्त हुई। कुछ समय तक वे इस स्वर्गीय अनुभूति में लीन रहे, लेकिन त्रसित (संत्रस्त) मानव जाति के लिए गहरी करुणा के कारण वे उस उच्च धरातल से नीचे आये और लोगों के बीच कार्य किया।

बुद्ध ने कभी प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के बारे में कुछ नहीं कहा। उनके लिए सत्य ही भगवान् था, जिसे पवित्रता और मानसिक एकाग्रता द्वारा पाया जा सकता है। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा :

भिक्षुओ! मैं मानवीय और स्वर्गीय सभी बन्धनों से मुक्त हो गया हूँ। भिक्षुओ, तुम सब भी मानवीय और स्वर्गीय बन्धनों से मुक्त हो। भिक्षुओ, संसार के प्रति करुणावश बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय विचरण करो।[१३]

---

१२. भगवद्गीता के २, १२ तथा १४ वे अध्याय देखिए

१३. सम सेयिंग्स आफ बुद्ध; एफ. एल. वुडवर्ड, (लन्दन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३९) पृ. ३०

यीशु ख्रिष्ट गरीब बढ़ई और उसकी पत्नी के पुत्र के रूप में जन्मे थे। उनके बाल्यकाल के सम्बन्ध में हमें बहुत कम जानकारी है। तीस वर्ष की उम्र में उन्हें पेलेस्टाईन में लोगों को परित्राण के एक नये मार्ग का उपदेश देने की आन्तरिक प्रेरणा हुई। उन्होंने पूर्ण पवित्र जीवन तथा तीव्र भगवत्प्रेम की आवश्यकता पर बल दिया। लेकिन मानव मात्र के प्रति प्रेम, अपने पड़ोसी को अपनी ही तरह प्रेम करना, उनका विशेष सन्देश था। उन्होंने देह पर आधारित मांसल प्रेम का नहीं, बल्कि जीव के ईश्वर के साथ सम्बन्ध पर आधारित प्रेम का उपदेश दिया। उनका हृदय दरिद्रों और पीड़ितों के प्रति करुणा से परिपूर्ण था। उन्होंने लोगों को पुकारते हुए कहा : "तुम सभी, जो परिश्रम कर रहे हो तथा भाराक्रान्त हो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम प्रदान करूँगा।"[१४] वे सभी के प्रति समदृष्टिसम्पन्न तथा अपने परिवार के लोगों से अनासक्त एक सच्चे संन्यासी थे। एक दिन जब वे लोगों के बीच बैठे थे, किसी ने आकर समाचार दिया कि उनकी माता तथा भाई उन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। लेकिन यीशु ने भक्तों को दिखा कर कहा, "ये ही मेरे भाई तथा माता हैं।" इसके बाद उन्होंने एक अपूर्व बात कहीं : "जो कोई प्रभु की आज्ञा का पालन करता है, वही मेरा भाई, बहन और माता है।"[१५] यिशु के उपदेशों का मूल तत्त्व भगवत्साक्षात्कार अथवा स्वयं में विद्यमान् ईश्वर के साम्राज्य की प्राप्ति है। उनका यह उपदेश, "पवित्र हृदय धन्य हैं क्यों कि वे भगवान् का दर्शन करेगें"[१६] सांसारिकता तथा कामुकता में डूबे लोगों को वास्तविक धर्म का स्वरूप सतत् स्मरण कराता रहता है।

चैतन्य का जन्म पन्द्रहवी शताब्दी में बंगाल में हुआ था। यौवनावस्था में वे एक प्रतिभावान तार्किक और विद्वान थे। लेकिन भरे यौवन में उन के जीवन में एक परिवर्तन आया और भगवान् की तीव्र लालसा के कारण उन्होंने संसार का त्याग कर दिया। उनका शेष जीवन ईश्वरीय प्रेमोन्माद की अवस्था में व्यतीत हुआ। वे जाति और धर्म के भेदभाव से रहित सभी को भगवन्नाम का उपदेश देते हुए विचरण करते रहे। अपराधियों तक को उनका प्रेम प्राप्त हुआ और पापाचरण से उनका उद्धार हो गया।

श्रीरामकृष्ण (१८३६-१८८६) का जन्म बंगाल के एक सुदूर गाँव में एक निर्धन परिवार में हुआ था। बाल्यकाल से ही उन्हें भाव समाधियाँ हुआ करती थी। बाद में कलकत्ता स्थित दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में पुजारी बने। इसके साथ ही आध्यात्मिक-अनुभूति के क्षेत्र में गवेषणाओं और प्रयोगों का एक द्वादश-वर्ष-व्यापी अभूतपूर्व क्रम प्रारम्भ हुआ। तीव्र व्याकुलता के फलस्वरूप उन्हें जगदम्बा के काली रूप का दर्शन हुआ। उसके बाद उन्होंने हिन्दू धर्म के विभिन्न पन्थों का अनुसरण करते हुए ईश्वर साक्षात्कार का प्रयत्न किया। इन सभी मार्गों से उन्हें अत्यन्त कम समय में सफलता मिली और उन्होंने विभिन्न प्रकार से

---

१४. बाइबिल, सन्त मैथ्यूज, ११.२८ १५. बाईबिल, सन्त मार्क ३.३३-३५
१६. बाइबिल, सन्त मैथ्यूज, ५.८

ईश्वरीय आनन्द का उपभोग किया। अन्त में उन्होंने अद्वैत-वेदान्त की साधना की और ब्रह्म के साथ एकत्व की अनुभूति की। लेकिन वे इन सबसे भी सन्तुष्ट नहीं हुए और ईसाई धर्म और इस्लाम की साधना की। तथा सर्वप्रथम इन धर्मों के प्रणेताओं के दर्शन पाकर धन्य हुए। और अन्त में उसी निराकार ईश्वर का अनुभव किया, जो उन्होंने हिन्दू साधना पद्धतियों से प्राप्त किया था। इन प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धर्म एक लक्ष्य अर्थात् ईश्वर साक्षात्कार तक पहुँचाते हैं।

उनका अवशिष्ट सारा जीवन निरवच्छिन्न भगवद्-संसर्ग में बीता। उन्होंने सभी प्राणियों में परमात्मा के दर्शन किये। सांसारिक दोषों से सर्वथा विमुक्त, ज्ञान और त्याग के ज्वलन्त दृष्टान्त स्वरूप उन्होंने सभी को जाति, धर्म अथवा सामाजिक भेदभाव के बिना प्रेम करते हुए भगवान् की सन्तान की तरह जीवन यापन किया। रूढ़िवादी हिन्दू, युवा बुद्धिजीवी, ब्राह्म, ईसाई, मुसलमान – आदि अनेक प्रकार के लोग उनके पास आये और उनकी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा लाभान्वित हुए। उन्होंने कुछ संन्यासी शिष्यों को प्रशिक्षित किया, जिन्होंने उनके सन्देश का दूर-दूर तक प्रचार किया। श्रीरामकृष्ण ने प्रत्यक्ष ईश्वरानुभूति के आदर्श को पुनः प्रतिष्ठित किया तथा जीवन में नैतिक पवित्रता और धर्म-समन्वय की आवश्यकता पर बल दिया। अब उनका प्रभाव विश्व में सर्वत्र मानव की गतिविधियों के विभिन्न क्षेत्रों में अधिकाधिक विस्तार प्राप्त कर रहा है।

श्रीरामकृष्ण की पवित्र धर्मपत्नी श्रीसारदा देवी (१८५३-१९२०) को भी जगदाचार्यों में से एक मानना चाहिए। भारत के धार्मिक इतिहास में उनका व्यक्तित्व अपूर्व है। सीता और सावित्री का आदर्श सर्वविदित है। लेकिन उपनिषदों की मैत्रेयी और गार्गी जैसी ब्रह्मविदिनियों द्वारा प्रतिपादित आदर्श का और व्यापक प्रचार होना चाहिए। अपने प्रारम्भिक जीवन में सारदादेवी ने आदर्श कन्या, बहन, गृहिणी, साधिका और संन्यासिन का जीवन एक साथ यापन किया और प्रत्येक का उत्कृष्ट रूप प्रकट किया। श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में जीया गया उनका अभूर्तपूर्व जीवन इस औपनिषदिक आदर्श का प्रत्यक्ष व्यावहारिक निदर्शन था कि पति, पति के लिए नहीं बल्कि आत्मा के लिए प्रिय होता हैं; पत्नी, पत्नी के लिए नहीं बल्कि आत्मा के लिए प्रिय होती है। चरम ज्ञान प्राप्त करने के बाद वे जगदम्बा की शक्ति की मूर्त विग्रह-स्वरूप हो गई, जिसको उन्होंने अपने पास आने वाले सैकड़ों लोगों की माता तथा गुरु के रूप में अभिव्यक्त किया तथा जिन्हें उन्होंने उनकी आवश्यकतानुसार शान्ति, सान्त्वना, पवित्रता और आध्यात्मिक चेतना प्रदान की।

उनका प्रारम्भिक जीवन गृहकार्यों में, माता-पिता की सहायता करने में तथा भाई-बहनों की देखरेख करने में बीता। दक्षिणेश्वर में उन्होंने अपने देवतुल्य पति की एकनिष्ठ सेवा की तथा उनके युवा-शिष्यों की माता की भूमिका निभाई। श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद वे एक सामान्य ग्रामीण महिला की भाँति जीवन यापन करती रहीं तथा सभी सामाजिक स्तर के अपने असंख्य शिष्यों और भक्तों के कल्याण के लिए कार्य करती रहीं। उनके शिष्यों में

कुछ विपथगामी भी थे। कुछ तत्कालीन महान् आध्यात्मिक विभूतियों द्वारा वे समादृत हुई थीं तथा उन्होंने रामकृष्ण संघ और मिशन के विकास और पुष्टि में विशेष योगदान किया था। महान् स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं उनके बारे में कहा था : "माँ के जीवन का विलक्षण महत्त्व तुम लोग अभी नहीं समझ सके हो – तुम में से एक भी नहीं। किन्तु धीरे-धीरे तुम जानोगे। शक्ति के बिना संसार का उद्धार नहीं हो सकता। ... उस अनुपम शक्ति को भारत में पुनः जाग्रत करने के लिए माँ का जन्म हुआ है। और उन्हें केन्द्र बनाकर फिर से गार्गी और मैत्रेयी जैसी नारियों का जन्म संसार में होगा।"[१७] दैवी मातृत्व की इतनी महान् अभिव्यक्ति, जितनी माँ सारदा में थी, विश्व में इसके पहले कभी नहीं देखी गई। वे विश्व की नारियों के लिए महान् आदर्श हैं तथा हजारों दुःखी लोगों के लिए नित्य-करुणामयी, सदा-क्षमाकारिणी, परमस्नेहमयी माता हैं।

सन्तों के दृष्टान्त :

अब हम विश्व के महान् सन्तों का अवलोकन करें। विश्व के प्रत्येक धर्म ने अनेक सन्तों को पैदा किया है। धर्म-प्रणेता अवतारों से प्रेरणा पाकर इन सन्तों ने आध्यात्मिक-जीवन के सन्देश को सामान्य मानव के द्वार तक पहुँचने का प्रयत्न किया। इन सन्तों के सदियों के नीरव कार्य ने मानव जाति को पशुओं के स्तर तक अधोगामी हुए बिना अपनी संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ बनाया है। युद्धों और रक्तपातों, हत्याकाण्डों और ध्वंसों, कामुकता और लोभ के कुत्सित कार्यरूप इतिहास की मरुभूमि के मैदानों के बीच विश्व-धर्मों के महान् सन्त हरित मरूद्यान के समान हैं।

प्लोटिनस (२०४-२७० ई.) प्राचीनतम् पाश्चात्य सन्तों में से एक हैं। वे ईसाई नहीं थे, लेकिन उन्होंने नीओ-प्लाटिनिसम् नामक अपनी दर्शन-प्रणाली से ईसाई धर्म को अन्य किसी भी चिन्तक की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया है। सिकन्दरिया में जन्में युवा प्लोटिनस में जीवन के चरम सत्य को जानने की महान् इच्छा थी। अनेक दर्शन – प्रणालियों में भटकते हुए अन्त में वे एक महान् दार्शनिक ओमोनियस सेक्कस के शिष्य बने। वे भारत आकर हिन्दू दर्शन शास्त्र का अध्ययन करना चाहते थे, किन्तु असफल रहे। अपना प्रौढ़-जीवन उन्होंने रोम में अपने शिष्यों, जिनमें पोरफरी प्रमुख थे, के साथ बिताया। अपने गुरू की जीवनी में पोरफरी यह उल्लेख करते हैं कि प्लोटिनस के जीवन में चार बार उच्चतम अति-चेतनावस्था की प्राप्ति हुई थी। उनके एक उत्तराधिकारी प्रोक्लियस ने प्लोटिनस को इस प्रकार श्रद्धाञ्जलि प्रदान की है :

उनकी आत्मा ने, जिसे उन्होंने सदा पवित्र रखा था, परमात्म-सत्ता की ओर उड़ान भरी थी, उससे प्रार्थना की थी तथा उसकी पूजा की थी। उन्होंने सर्वदा स्वयं को मांस और रक्त पर

---

१७. विवेकानन्द साहित्य - २ (१९७२), पृ. ३६१

आश्रित पाशविक जीवन की तूफानी लहरों के ऊपर उठाने का प्रयत्न किया था। इसीलिए इस देव-मानव को, जिसका मन सदा परमात्मा तथा इन्द्रियातीत जगत् की ओर लगा रहता था, इन्द्रिय और मनातीत परमात्मा की अनेक बार साक्षात अनुभूति प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ था क्यों कि परमात्मा बुद्धि और अस्तित्व के भी ऊपर है।[१८]

इस एकात्मबोधक अनुभूति के बारे में प्लोटिनस ने स्वयं लिखा है : "और इसीलिए यह दिव्य-जीवन है, दिव्य और सुखी मानव का, सभी पार्थिव चिन्ताओं से मुक्ति का, मानवीय सुखों से रहित जीवन है, जिसमें अकेली आत्मा उस एक परमात्मा की ओर उड़ान भरती है।" मृत्यु के पूर्व उनके अन्तिम शब्द थे : "मैं अपने भीतर के देवता को सर्वरूप परमात्मा में पुनः स्थापित कर दूँगा।"

बुद्ध के महान् शिष्यों में से एक, उपगुप्त, एक महान् सन्त थे। अपनी यात्राओं के दौरान वे एक बदचलन सुन्दर युवती से मिले, जो उन्हें अपना प्रेमी बनाना चाहती थी। "भौतिक सुख अन्ततोगत्वा दुःखदायक होते हैं।" यह कहकर उपगुप्त आगे बढ़ गये। लेकिन जाते समय यह वादा कर गये कि उसे उन की आवश्यकता हुई, तो वे लौटकर उसके पास आएँगे। अनेक वर्ष बीत गये और वह महिला एक ऐसे रोग की शिकार हुई, जिसने उसके सौन्दर्य को नष्ट कर दिया और वह एक दुर्गन्ध-भरा मांस का लोथड़ा मात्र बच गई। उसने तीव्रतापूर्वक उपगुप्त का विचार किया और वे तत्काल उसके पास आये। "जब मेरी देह सुन्दर तथा रेशमी वस्त्रों और अलंकारों से सुशोभित थी, तब आपने मेरे पास आना अस्वीकार कर दिया था। लेकिन अब, जब कि मैं ऐसी घृणित हो गई हूँ, आप क्यों आये?" – महिला द्वारा यह पूछने पर उपगुप्त ने उत्तर दिया : "बहन, जिसके पास दृष्टि और बुद्धि है, उसके अनुसार तुमने कुछ भी नहीं गँवाया है। मेरा प्रेम उस प्रेम से गहरा है, जो व्यर्थ के बाह्य सौन्दर्य पर आधारित होता है।" महिला के नेत्रों में चमक आ गई और उसमें आशा का संचार हुआ। आखिरकार वह बुद्ध के मुक्ति के सन्देश को स्वीकार करने में समर्थ हुई तथा ज्ञानालोक और शान्ति की अधिकारी हुई।

ईसाई सन्त :

ईसाई धर्म ने अनेक योगी-साधकों को पैदा किया है। ईसा मसीह के शिष्यों के अलावा, जिनके बारे में हमें बहुत कम जानकारी है; सन्त पॉल सर्वप्रथम योगी-साधक थे। ऐसा कहा जाता है कि युवावस्था में वे ईसाई धर्म के कट्टर विरोधी थे। इसी समय दमिश्क जाते समय उन्हें एक अद्भुत आध्यात्मिक अनुभूति हुई। उन्होंने एक तेज प्रकाश देखा, जिसने उन्हें इतना अभिभूत कर दिया कि वे तीन दिन तक कुछ न देख सके। तथा उन्होंने यीशुख्रीस्ट की वाणी सुनाई दी। इसके फलस्वरूप वे ईसाई बन गये और अपना अवशिष्ट

१८. मिस्टिसिजम् इन रिलिजन' में डब्ल्यू. आर. इग्ने द्वारा उद्धृत (लन्दन, हचिन्सन यूनिवर्सिटी लायब्रेरी), पृ. १०६

जीवन मानव-प्रेम के सन्देश के प्रचार में व्यतीत किया। उनका समग्र जीवन उस परमात्मा में केन्द्रित था "जिसमें हम जीते हैं, आचरण करते हैं तथा जिसमें हमारी सत्ता प्रतिष्ठित है।"[१९] उन्होंने कहा है, "मैं जीता हूँ, फिर भी मैं नहीं, मुझमें ईसा जीते हैं।"[२०] उन्होंने दूर दूर तक भ्रमण किया और लोगों को पवित्रता और सेवा का भगवत् केन्द्रित जीवन-यापन करने में सहायता की।

असीसी के सन्त फ्रान्सिस (११८१-१२२६) ईसाई जगत के एक महानतम् सन्त थे, जो तेरहवीं शताब्दी में हुए थे। वे एक धनी व्यापारी के पुत्र थे तथा उन्होंने अपना यौवन अपने मित्रों के साथ आमोद-प्रमोद में बिताया था। लेकिन एक लम्बी बीमारी के बाद उनके जीवन में परिवर्तन आया। वे आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़े तथा उन्होंने संसार का त्याग कर दिया। एक दिन जब वे एक जीर्ण-शीर्ण गिरजे में प्रार्थना कर रहे थे, तो उन्हें एक दैवी वाणी सुनाई दी, जिसने उन्हें भगवान् के घर की मरम्मत करने का आदेश दिया। वे अकेले ही मकान बनाने का सामान आदि इकट्ठा करने लगे। उन्हें यह सारा सामान अपने सिर पर ढोना पड़ता था। वे अपनी देह को मजाक में 'गधा-भाई' कहा करते थे। संसार के प्रति पूर्ण निर्लिप्तता के कारण उन्हें महान् स्वाधीनता प्राप्त हुई थी और इसीलिए वे सदा बहुत आनन्द में रहते थे। इस आन्तरिक आध्यात्मिक आनन्द का संवरण न कर पाने के कारण वे नये-नये गाने बनाकर नृत्य-गान किया करते थे, जो बाद में प्रसिद्ध हुए।

अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण वे पक्षियों, पशुओं, पौधों, यहाँ तक कि जड़ पदार्थों के साथ भी आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हुए थे और उनको 'भाई सूर्य', 'बहन चन्द्रमा', 'भाई भेड़िया' आदि कहा करते थे। एक दिन उन्होंने एक लकड़हारे को एक पेड़ काटते देखा। फ्रान्सिस ने उसे कहा : "भाई। पूरा पेड़ मत काट डालना। उसे बढ़ने का अवसर देना।" और बदले में उसे अपने भिक्षान्न का कुछ अन्न दिया। वे लिखित-सामग्री का बहुत आदर करते थे और यदि उन्हें कोई लिखा हुआ पत्र रास्ते में दिखाई देता, तो वे उसे सावधानी से अलग रख देते थे, जिससे कोई उस पर पैर न रखे। जब किसी ने कहा कि जिस लिखित पत्र की उन्होंने रक्षा की है, वह किसी विधर्मी द्वारा लिखित हो सकता है, तो फ्रान्सिस ने उत्तर दिया, "सभी शब्द ईश्वर के मुख से आते है।"

उन्होंने पूर्ण दारिद्र्य का जीवन-यापन करने वाले संन्यासियों के एक महान् फ्रान्सिसवादी-संघ की स्थापना की। इन संन्यासियों से भारत के परिव्राजक संन्यासियों का स्मरण हो आता है। शारीरिक दृष्टि से आकर्षक न होते हुए भी (वे स्वयं को काली मुर्गी कहा करते थे) उन्होंने लोगों के हृदयों पर महान् प्रभाव का विस्तार किया और सैकड़ों लोग उनके अनुयायी बन गये। जीवन के अन्तिम दिनों में वे अन्धे और शैयाशायी हो गये थे। लेकिन उन्होंने अपने रोग को सदा की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। उन्हें मृत्यु का भय नहीं

---

१९. बाइबिल एक्टस, १७.२८ २०. बाइबिल, गालेरियन्स, २.२०

था। और उन्होंने उसका 'बहन-मृत्यु' कहकर स्वागत किया था। उनका जीवन पूरी तरह परमात्मा को समर्पित था और स्वयं को वे उसका एक क्षुद्र यन्त्र ही समझते थे। उनकी निम्नोक्त प्रसिद्धतम प्रार्थना उनके पूर्ण समर्पण को प्रदर्शित करती है :

प्रभु, मुझे आपकी शान्ति का यन्त्र बनाईये।
जहाँ घृणा हो वहाँ मैं प्रेम बोऊँ,
जहाँ हिंसा हो वहाँ मैं क्षमा बोऊँ;
जहाँ संशय हो वहाँ मैं विश्वास बोऊँ;
जहाँ उदासी हो वहाँ मैं आनन्द बोऊँ।
हे प्रभु, मुझे यह वर दो कि मैं

सान्त्वना चाहने के बदले सान्त्वना देना चाहूँ,
समझा जाने के बदले दूसरों को समझना चाहूँ,
प्रेम चाहने के बदले प्रेम देना चाहूँ,
क्योंकि देने में ही हम पाते हैं,
क्षमा करने में ही हमें क्षमा मिलती है;
(दूसरों के लिए) जीवन अर्पण करने में ही
हमें चिर-जीवन प्राप्त होता है।

सन्त टामस एक्विनस (१२२७-७४) एक अन्य महान् सन्त थे, जिनका केथोलिक ईसाई धर्म पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। उनका जन्म एक अभिजात कुलीन घराने में हुआ था। लेकिन अपने सम्बन्धियों से भिन्न, उन्हें पवित्रता और आध्यात्मिक जीवन से अत्यधिक प्रेम था। सत्रह वर्ष की उम्र में जब उन्होंने संन्यासी बनने का प्रयत्न किया, तो उनके क्रुद्ध भाइयों ने उन्हें एक एकाकी कमरे में कैद कर दिया और नाना प्रकार से उन्हें प्रलोभित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने सभी प्रलोभनों पर विजय ही नहीं पायी बल्कि अपना समय प्रार्थना और स्वाध्याय में व्यतीत किया। आखिरकार उन्हें मुक्ति मिली और वे डोमिनिकनों के सम्प्रदाय के सदस्य बने। वे शीघ्र ही अने समय के सबसे प्रमुख धर्मशास्त्री बने और उनकी पुस्तक "सम्माथियोलॉजिका" केथोलिक ईसाई धर्म शास्त्र की सर्वाधिक प्रामाणिक पुस्तक है। जब वे इस पुस्तक को पूर्ण करने ही वाले थे कि उन्हें एक अद्भुत आध्यात्मिक अनुभूति हुई और उन्होंने पुस्तक को आगे लिखने से इन्कार कर दिया। उन्होंने अपनी इस अत्युत्तम कृति को अधूरा ही छोड़ दिया। इसके बारे में पूछे जाने पर उन्होंने कहा, "मेरे सम्मुख ऐसे रहस्यों का उद्घाटन हुआ है कि मैंने जो कुछ अब तक लिखा है, वह सब अर्थहीन तिनके के समान प्रतीत होता है।"

तुम में से कुछ ने "प्रेक्टिस आफ द प्रेजेन्स आफ गॉड" नामक छोटी पुस्तिका पढ़ी होगी। उसमें ब्रदर लारेन्स (१६११-१६९१) के वार्तालापों तथा पत्रों का संकलन है। उनका जन्म एक गरीब घराने में हुआ था। अठारह वर्ष की उम्र में शीतकाल में एक वृक्ष को

पर्णविहीन होते देखकर उनके जीवन में परिवर्तन उपस्थित हुआ। वे जीवन के गहरे रहस्य और जीवन को नियन्त्रित करने वाली शक्ति के बारे में सोचने लगे, जो कुछ समय बाद वृक्ष में नये पुष्पों और पत्तों को पल्लवित करेगी। इस विचार ने उन्हें सांसारिक जीवन से मुक्त कर दिया और समस्त चेतना एवं जीवन के मूल, परमात्मा की खोज के लिए उन्हें प्रेरित किया। बड़े होने पर कुछ समय वे सेना में तथा एक सामन्त की सेवा में रहे और अन्त में पेरिस में एक कारमेलाइट मठ में रसोईये का काम किया। उस निम्न हैसियत में उन्होंने परमात्मा के भाव में विभोर हो तीस वर्षों तक कार्य किया। रसोईघर के सामान्य कर्मों के बीच भी भगवत् सान्निध्य के सतत् अभ्यास से उन्होंने उच्चस्तर की आध्यात्मिक उपलब्धि की। अपनी निम्न सामाजिक स्थिति के बावजूद वे अपनी पवित्रता, एवं धार्मिकता के लिए शीघ्र प्रसिद्ध हो गये तथा सम्मानित व्यक्ति एवं ईसाई धर्म समुदाय के उच्च पदाधिकारी भी उनसे सलाह लेने आते थे। अपनी मन:स्थिति के बारे में उन्होंने कहा है :

मेरे लिए कर्म और प्रार्थना के समय भिन्न नहीं हैं; और रसोईघर के शोरगुल के बीच, जब बहुत से लोग एक साथ विभिन्न वस्तुओं के लिए पुकार रहे हों, तब भी मैं परमात्मा का स्मरण उसी महान् शान्ति के साथ करता हूँ, जैसे मानो देवालय में प्रभु के सामने झुक कर प्रणाम् कर रहा हूँ।[२१]

सन्त इग्नेशियस लोयोला (१४९१-१५५६), अविला की सन्त तरेसा (१५१५-१५८२), सन्त जॉन आफ द क्रॉस (१५४२-१५९१) आदि अन्य महान् ईसाई सन्त हैं। इन सभी सन्तों की विशेषता यह है कि धर्म समुदाय और मठों की संकीर्ण दीवारों के भीतर रहते हुये भी, उसके साम्प्रदायिक विचारों से अपनी आत्मा को असंकुचित बनाये रखकर इन सभी ने आन्तरिक स्वाधीनता का आस्वादन किया था। रहस्यवादी साधकों के लिए, विशेषकर मध्ययुग में जीवन विरले ही कभी आसान हुआ करता था। उन्हें शैतान के यन्त्र कहला कर लाञ्छित होने का तथा जिन्दे जलाये जाने का खतरा सदा लगा रहता था। सन्त जॉन आफ क्रॉस को एक बार उनके कुछ संन्यासी साथियों ने एक संकरी काल कोठरी में आठ महीनों तक कैद रखा था। ऐसी परिस्थिति में भी कूड़ेकर्कट से घिरे हुए, वे निरन्तर भाव-समाधि में डूबे रहते थे। ''मानव भगवान् के लिए बना है और उसके लिए यह आदेश है कि वह सभी प्रकार की स्वार्थपरता और परमात्मा से भिन्नता का त्याग करे'', उनका यह कथन सभी ईसाई रहस्यवादी साधकों का सामान्य दृष्टिकोण है।

सूफी सन्त :

बस्ताम के सुल्तान इब्राहिम बिन अदहम के पास एक मुसलमान सन्त आये और कहा, ''मैं अजनबी हूँ और तुम्हारी सराय में ठहरना चाहता हूँ।'' सुल्तान ने प्रतिवाद करते हुये कहा कि उसके महल को सराय नहीं कहना चाहिये।

२१. ब्रदर लारेन्स, द प्रेक्टिस आफ द प्रेजेन्स आफ गॉड, (लन्दन, द एप्वर्थ प्रेस, १९५७), पृ. २३

"तुम्हारे पहले इसका मालिक कौन था?"

"मेरे पिता और उनके पहले उनके पिता और उनके पिता के पिता।"

"तो फिर तुम्हारे निवास स्थान को सराय के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है जहाँ लोग आगे जाने से पूर्व कुछ समय के लिए आराम करते हैं?"

सुल्तान सोच में पड़ गया। उसके बाद जब वह शिकार खेलने गया, तो जंगल के बीच उसे एक आवाज सुनाई दी, "जाग, मृत्यु द्वारा जगाने से पहले जाग।" सुल्तान ने अन्ततः संसार त्याग दिया और एक फकीर बन गया। उसने कठोर साधना की। उसने ईश्वरीय-चेतना की उपलब्धि की और उसका हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो गया। आध्यात्मिक अनुभूति ने उसे मुक्त किया।

मूलतः इस्लाम संन्यास विरोधी और रहस्यवाद विरोधी है। फिर भी मध्ययुग में उसने बहुत से महान् सन्तों को पैदा किया है। इनमें से अधिकांश अपरोक्षानुभूति-सम्पन्न थे। इस्लाम के ये अपरोक्षानुभूति-सम्पन्न सन्त, सूफी कहलाते हैं। इन प्राचीनतम सन्तों में बसरा-निवासिनी राबिया नामक एक महिला थी (७१७-८०१)। छोटी उम्र में ही वह अनाथ हो गयी थी। एक दुष्ट व्यक्ति ने उसका अपहरण कर उसे दासी के रूप में बेच दिया। उसका नया मालिक उतना ही दुष्ट था, लेकिन एक रात उसे गरीब बालिका के चारों ओर एक विचित्र ज्योति दिखाई दी और भयभीत हो उसने राबिया को मुक्त कर दिया। उन्होंने कुछ समय तक रेगिस्तान में एकान्तवास किया और उसके बाद बसरा (इराक में) एक वनवासी तापस का सा जीवन व्यतीत किया। आध्यात्मिक अनुभूतियों के फलस्वरूप उन्होंने द्वैतात्मक जगत् का अतिक्रमण किया। जब उनसे पूछा गया कि क्या वे शैतान से घृणा करती हैं, तो उन्होंने कहा, "खुदा के प्रति प्रेम के कारण मेरे हृदय में किसी को घृणा के लिए स्थान नहीं है।" उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रार्थना इस प्रकार है : "हे अल्लाह! यदि मैं तुम्हारी उपासना नर्क के भय से करूँ, तो मुझे नर्काग्नि में जलाओ; यदि स्वर्ग की इच्छा से करूँ, तो मुझे स्वर्ग से दूर रखो; लेकिन यदि मैं तुम्हारे लिए ही तुम्हारी पूजा करूँ, तो मुझे अपने चिरन्तन सौन्दर्य से वञ्चित न करो।"

मन्सूर अल-हल्लाज़ (८५८-९२२) जो केवल हल्लाज भी कहलाते हैं, सबसे महान् सूफ़ी रहस्यवादी सन्त थे। वे दक्षिण फारस में जन्मे थे। किशोरावस्था से ही उनकी प्रकृति रहस्यवादी थी और अनेक सूफ़ी सन्तों से उन्होंने मार्गदर्शन प्राप्त किया था। यौवन में वे बगदाद गये और उस काल के महान् आचार्य जुनैद का शिष्यत्व स्वीकार किया। मक्का में कुछ वर्ष एकान्त में व्यतीत करने के बाद हल्लाज़ समुद्र-मार्ग से भारत आये। उस समय भारत में मुस्लिम-राज्य नहीं था और हल्लाज़ (भारत आने वाले) सबसे प्रथम सूफियों में से एक थे, जिन्होंने भारत की यात्रा की थी और वहाँ उन्होंने हिन्दू साधकों के साथ लम्बे वार्तालाप किये होंगे। बगदाद लौटकर उन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनका सबसे प्रसिद्ध और मौलिक सिद्धान्त "अनलहक" – अर्थात् मैं ही सत्य हूँ, जो वेदान्त के

महावाक्य "अहं ब्रह्मास्मि" से काफी मिलता है – था। क्षुब्ध मुसलमान धर्मशास्त्रियों ने उन्हें कैद करवाया और लम्बे मुकदमे के बाद उन्हें यातना देने के उपरान्त बर्बरतापूर्वक मार डाला। लेकिन आत्मा की दिव्यता और परमात्मा के साथ उसके एकत्व की उपलब्धि की सम्भावना के उनके सिद्धान्त ने सदियों तक इस्लामी रहस्यवाद को प्रभावित किया।

जलालुद्दीन-रूमी (१२०७-१२७३) इस्लाम के एक अन्य महान् रहस्यवादी साधक और कवि थे। उनका जन्म पूर्वी फारस के बल्ख नामक नगर में हुआ था। जब वे बालक थे, तब सम्राट् के क्रुद्ध होने के कारण उनके पिता को परिवार सहित स्वग्राम छोड़कर जाना पड़ा। बहुत भटकने के बाद परिवार तुर्की के क्योनिया नगर में पुनर्स्थापित हुआ। जलाल ने अरबी विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी और एक महान् विद्वानं के रूप में प्रसिद्ध हुए। लेकिन एक परिव्राजक दरवेश के साथ उनकी भेंट से उनके जीवन में अचानक परिवर्तन आ गया। उसके बाद वे बहुत समय ध्यान में बिताने लगे। अपने प्रिय गुरू की स्मृति में उन्होंने मौलवी नामक एक नये धर्म संघ की स्थापना की, जिसके सदस्य भाव-समाधि के लिए एक प्रकार के घुमावदार-नृत्य का अभ्यास करते थे। उन्होंने 'मथ्नवी' सहित, जो सर्वकाल की महान्तम रहस्यवादी कविताओं में से एक मानी जाती है, अनेक पुस्तकें लिखीं।

जलालुद्दीन-रूमी भगवान् को एकमात्र सत्य और दृश्य-जगत् को उसकी छाया मानते थे। वे आत्मा के पूर्वजन्म में विश्वासी थे। उनकी मान्यता थी कि जीव अन्ततः परमात्मा के साथ मिलित होने से पूर्व धातुमय, वनस्पति, पशु, मानवीय, देवदूत के रूप में उत्तरोत्तर विकसित हो रहे शारीरिक-जन्मों की श्रृंखला से होकर गुजरता है। अपनी प्रियतमा का द्वार खटखटाने वाले व्यक्ति सम्बन्धी उनका दृष्टान्त प्रसिद्ध है। भीतर से आवाज आती है, "कौन है?" और जब प्रेमी उत्तर देता है कि मैं हूँ, तो दरवाजा नहीं खुलता। बाद में जब वह पुनः दरवाजा खटखटाता है और उसी प्रश्न के उत्तर में कहता है, "तुम ही हूँ", तब दरवाजा खुलता है। इस रूपक का अर्थ यह है कि जब तक अहं-बोध बना रहेगा, तब तक जीव और ईश्वर का पूर्ण-मिलन सम्भव नहीं है। अपने अनेक शिष्यों तथा रचनाओं के माध्यम से जलालुद्दीन रूमी ने सूफीधर्म के विकास को विशेष रूप से प्रभावित किया।

श्रीरामकृष्ण के शिष्य :

अब हम श्रीरामकृष्ण के कुछ महान् शिष्यों की चर्चा करेंगे जिनकी अपने आप में एक विशिष्ट श्रेणी है। हम में से जिन्हें उनके चरणों में बैठने का सौभाग्य हुआ था, उन्हें उनमें पुरातन आध्यात्मिकता और आधुनिक सामाजिक चेतना का, प्राच्य और पाश्चात्य श्रेष्ठतम् बातों का, तीव्र भगवत्प्रेम और मानव के प्रति प्रेम का अभूतपूर्व मिलन दिखायी दिया था। उनका मानव के प्रति प्रेम, उनके परमात्मा के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति था क्योंकि वे सभी स्त्री-पुरुषों में परमात्मा का दर्शन करते थे।

स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) श्रीरामकृष्ण के महानतम् शिष्य थे।

श्रीरामकृष्ण उन्हें नित्यसिद्ध की श्रेणी का कहा करते, जो जगत् कल्याण के लिए संसार में जन्म ग्रहण करते हैं। बाल्यकाल में ही उनमें असामान्य मेधा, साहस, और एकाग्रता की क्षमता जैसे भावी महानता के लक्षण दिखाई दिये थे। महाविद्यालयीन शिक्षा के प्रभाव से किशोरावस्था में वे कुछ समय के लिए नास्तिक बन गये थे। लेकिन अठारह वर्ष की उम्र में श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आने पर उनके जीवन में महान् परिवर्तन हुआ। श्रीरामकृष्ण के निदर्शन में उन्होंने तीव्र साधना की और तेईस वर्ष की उम्र में वे उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति-निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर धन्य हुए थे।

श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद तथा उनके आदेश से उन्होंने श्रीरामकृष्ण के युवा शिष्यों को संघबद्ध कर एक संन्यासी-संघ की रचना की तथा अमेरिका, इंग्लैण्ड सहित समस्त विश्व की समुद्र-यात्रा पर निकल पड़े। वे अपने वेदान्त के सन्देश के साथ अमेरिकन समाज पर एक बम की तरह फट पड़े। चार वर्ष तक प्रचार कार्य करने के बाद उनके स्वदेश लौटने पर उनका एक राष्ट्र योद्धा का सा स्वागत किया गया। उन्होंने कोलम्बो से काश्मीर तक अनेक स्थानों में भाषण देकर प्रसुप्त राष्ट्र को उसकी पुरातन धरोहर के गौरव तथा आधुनिक भारत के जन-साधारण की निर्धनता और पिछड़ेपन के प्रति प्रबुद्ध किया। उनका विशाल हृदय गरीबों और अज्ञानियों के कष्ट पर रूदन करता था। भारत में उन्होंने समाज-सेवा को बहुत अधिक महत्त्व दिया और इसी उद्देश्य के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। मानवता के प्रति असीम करुणा के फलस्वरूप वे कह उठे थे :

(मेरी अभिलाषा है कि) मैं बार-बार जन्म लूँ और हजारों दुःख भोगता रहूँ ताकि मैं उस एकमात्र सम्पूर्ण आत्माओं के समष्टिरूप ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है। सबसे बढ़कर सभी जातियों और वर्णों के पापी, तापी और दरिद्र रूपी ईश्वर ही मेरा विशेष उपास्य है। [२२]

जब महाविद्यालयों से निकलते ही, हम युवकों ने रामकृष्ण-संघ में योगदान किया, तब हम स्वामी विवेकानन्द के उत्साही प्रशंसक थे। परन्तु श्रीरामकृष्ण के उस समय जीवित कुछ अन्य महान् शिष्यों ने हमें कहा, "अभी तुम लोग स्वामी विवेकानन्द के महान् प्रशंसक हो। हाँ, यह तो अच्छा है। लेकिन स्वयं आध्यात्मिक-जीवन में प्रगति करने पर तुम उन्हें और अधिक समझ सकोगे तथा उनकी और अधिक प्रशंसा करोगे।" यह बात सत्य सिद्ध हुई। हमें शीघ्र ही यह समझ में आ गया कि स्वामी विवेकानन्द सर्व प्रथम एक अति महान् आध्यात्मिक विभूति थे और उनका मानव जाति के प्रति प्रेम एक उच्च कोटि का था : वह सभी स्त्री-पुरुषों के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध पर आधारित था। उन्होंने आत्मा को सभी प्राणियों में छुपा देखा और उनके लिए मानव की सेवा भगवान् की उपासना थी। यही उच्चतम कोटि की पूजा है। महान् स्वामीजी ने अपने जीवन के चालीस वर्ष पूरे नहीं किये।

---

२२. विवेकानन्द साहित्य -६ (१९८४), पृ. ३४४

उनका जीवन तथा सन्देश आज संसार के लाखों लोगों के जीवन को दिशा प्रदान कर रहा है।

श्रीरामकृष्ण के एक अन्य महान् शिष्य थे स्वामी ब्रह्मानन्द (१८६३-१९२२), जिन्हें श्रीरामकृष्ण अपना मानसपुत्र समझते थे। श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में छह वर्ष बिताने के बाद स्वामी ब्रह्मानन्द ने उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों में एक तापस के रूप में अनेक वर्षों तक कठोर तपस्या और तीव्र साधना की। स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें रामकृष्ण संघ और मिशन का प्रथम अध्यक्ष नियुक्त किया। स्वामी ब्रह्मानन्द में ज्ञान, भक्ति और कर्म का बहुत अच्छा समन्वय था। वे अधिकांश समय उच्च आध्यात्मिक-चेतना में डूबे रहते थे, लेकिन सामान्य धरातल पर उतरने पर वे अपने समस्त कार्य अत्यन्त निपुणता पूर्वक करते थे। उन्हें महान् सिद्धियाँ प्राप्त थीं तथा वे दूसरों के मानसिक क्रियाकलाप को जान सकते थे। वे आनन्द के महान् स्रोत थे। उनके सक्षम मार्गदर्शन में मिशन का काफी विस्तार हुआ और बहुत से शिक्षित युवा जिज्ञासुओं ने संघ में योगदान किया। वे जनसाधारण में बिरले ही कभी भाषण देते थे तथा दूसरों को औपचारिक आध्यात्मिक निर्देश देने में बहुत सावधानी बरतते थे। लेकिन वे आध्यात्मिक शक्ति के एक विशाल भण्डार थे, जिसका उपयोग उन्होंने अपने शिष्यों की आध्यात्मिक प्रगति तथा दूसरों के कल्याण के लिए किया। उनके संस्पर्श में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने को धन्य समझता था।

स्वामी प्रेमानन्द (१८६१-१९१८) एक अन्य महान् शिष्य थे, जिनके बारे में श्रीरामकृष्ण कहते थे कि उसकी हड्डियाँ तक पवित्र हैं। कलकत्ता के निकट बेलुर में मुख्य रामकृष्ण मठ की स्थापना होने पर वे उसके व्यवस्थापक बने। लेकिन वे एक सरल और तपोमय जीवन यापन करते थे। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व और मधुर स्वभाव से बड़ी संख्या में, युवक आकृष्ट हुए, जिनमें से अनेक ने आखिरकार संन्यास जीवन अंगीकार किया। उनके प्रेम के प्रभाव से कुछ ऐसे लोगों का जीवन भी परिवर्तित हो गया, जो विपथगामी हो गये थे। देहत्याग के कुछ समय पूर्व वे पूर्वी बंगाल (वर्तमान बंगला देश) की भाषण-यात्रा पर गये और अपने व्यक्तित्व की दिव्य पवित्रता और वाग्मिता से वहाँ एक हलचल मचा दी।

स्वामी सारदानन्द (१८६५-१९२७) श्रीरामकृष्ण के एक अन्य शिष्य थे, जिन्होंने बाद में रामकृष्ण मठ और मिशन के प्रथम महासचिव के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद उन्होंने कम उम्र में संसार त्याग कर वराहनगर के रामकृष्ण मठ में योगदान किया। स्वामी विवेकानन्द ने पहले उन्हें प्रचार कार्य हेतु अमेरिका भेजा, लेकिन शीघ्र ही उन्हें मिशन के संचालक की कठिन जिम्मेदारी वहन करने के लिए वापस बुला लिया। उन्होंने यह कार्य अपूर्व दक्षता के साथ सम्पन्न किया। श्रीरामकृष्ण की दिव्य सहधर्मिणी श्रीमाँ सारदा तथा उनके परिवार की देखरेख का उनका कार्य उतना ही महान् था। इन समस्त कर्तव्य कर्मों के बीच समय निकाल कर स्वामी सारदानन्द ने "श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग" नामक श्रीरामकृष्ण की बृहत् और चिरस्थायी बंगला जीवनी की

रचना की, जिसका हिन्दी अनुवाद इसी शीर्षक से उपलब्ध है। स्वामीजी की सबसे अद्भुत विशेषता उनका शान्त, मृदु, सहिष्णु स्वभाव तथा सभी के प्रति महान् प्रेम था। किसी संन्यासी या भक्त के रोगग्रस्त होने पर स्वामीजी अवश्य उसे देखने जाते तथा उसकी सेवा-सुश्रूषा में हाथ बँटाते थे। उन्होंने रामकृष्ण मिशन के सबसे कठिन और निर्णायक प्रारम्भिक वर्षों में सक्षम मार्गदर्शन किया।

स्वामी शिवानन्द, स्वामी तुरीयानन्द, स्वामी रामकृष्णानन्द, स्वामी अद्भुतानन्द आदि श्रीरामकृष्ण के अन्य सभी महान् शिष्य ब्रह्मज्ञ पुरुष थे, जिन्होंने अपना जीवन लोक कल्याण के लिए समर्पित किया था। परमात्मा के साथ सदैव तादात्म्य में रहते हुए इन महापुरुषों ने सबके कल्याण में नीरव तथा क्रियात्मक रूप में स्वयं को लगाया था। वे पवित्रता, करुणा और भक्ति के मूर्त-विग्रह थे तथा उनके सान्निध्य में लोगों को नैतिक और आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त होती थी। स्वयं सर्व-बन्धन-मुक्त, वे दूसरों की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने चिन्तन-जगत् को अपने पवित्र आध्यात्मिक-स्पन्दनों और प्रार्थनाओं से समृद्ध किया है। उनके आध्यात्मिक प्रवाह के संस्पर्श में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति चेतना के उच्चतर स्तर पर अवश्य उन्नीत होगा तथा पवित्र जीवन की प्रेरणा प्राप्त करेगा। मानव जाति का इस प्रकार उत्थान करने वालों को हमारे प्रणाम्।[२३]

□□□

---

२३. श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्यों के विस्तृत जीवन वृत्तान्त के लिए देखिये – स्वामी गम्भीरानन्दकृत श्रीरामकृष्णभक्तमालिका

अध्याय ३४

महाजनो येन गतः स पन्थाः

भारत और हिन्दू धर्म :

रेम्से मेक्डोनाल्ड नामक एक चिन्तनशील अंग्रेज सज्जन का एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है : भारत और हिन्दू धर्म संघटनात्मक दृष्टि से देह और आत्मा की तरह एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। भारत देह है और हिन्दू धर्म या जिसे सनातन धर्म कहना अधिक उपयुक्त होगा, आत्मा है। वर्षों के विदेशी आक्रमणों और देश के राजनैतिक विभाजन के बावजूद हिन्दू सांस्कृतिक एकता सदा विद्यमान रही है तथा देश के एक स्थान से दूसरे स्थान को तीर्थयात्रियों का आवागमन सदा होता रहा है। हिन्दू धार्मिक संस्कृति अनश्वर ही नहीं, बल्कि गतिशील भी है। उसके लम्बे ऐतिहासिक काल में उसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं। यहाँ भी देह-आत्मा का रूपक लागू होता है। आत्मा और ब्रह्म का सिद्धान्त, जीवन का लक्ष्य भगवत् साक्षात्कार; कर्म-सिद्धान्त; ब्रह्माण्ड के सृष्टि और लय का सिद्धान्त; इत्यादि हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त हिन्दू धर्म की आत्मा हैं और इन सिद्धान्तों का जीवन में अनुप्रयोग उसकी देह है। उसकी आत्मा अपरिवर्तित बनी रही, लेकिन बाहरी देह समय-समय पर परिवर्तित होती रही।

हिन्दू धर्म में प्रथम महान् परिवर्तन का सूत्रपात आचार्य शंकर ने किया था। उन्होंने अद्वैत-दर्शन को दृढ़-भित्ति पर प्रतिष्ठित किया। उनके बाद रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य हुये इन तीन महान् आचार्यों का जन्म दक्षिण भारत में तीन भिन्न स्थानों पर हुआ था। उन्होंने हिन्दू धर्म की तीन परम्पराओं अर्थात् अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत को पुनर्जीवित और पुनर्प्रतिष्ठित किया। उन्होंने हिन्दू धर्म के पुरातन सिद्धान्तों को सुसम्बद्ध रूप से पुनः प्रतिपादित किया और उन्हें एक दृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया। उन्होंने सारे भारत में भ्रमण किया और लोगों को, विशेष कर सर्वोच्च वर्ण के लोगों को, धार्मिक समुदायों में संघटित किया और उनके माध्यम से हिन्दू धर्म में नया प्राण-सञ्चार किया।

इन दर्शन प्रणालियों में प्रतिपादित विचारों की शक्ति जनसाधारण तक कैसे पहुँचती है? सन्तों के माध्यम से अनादि काल से भारत सैकड़ों सन्तों को पैदा करता आ रहा है और अभी भी कर रहा है, जो जाति-कुल-निर्विशेष लोगों के बीच विचरण करते रहते हैं। वे समाज के विभिन्न स्तरों से पैदा होते हैं। उनमें से अधिकांश गृहस्थ किन्तु सांसारिक

आसक्तियों से मुक्त थे। वे आचार्यों की तरह संस्कृत में नहीं अपितु स्थान-विशेष की लोकभाषा में बोलते तथा उपदेश देते थे। इनमें से कई सन्त महान् कवि थे, जिनके हृदय स्पर्शी भजन अभी तक भारत के सुदूर ग्रामों में गाये जाते हैं। उन्होंने भगवद्भक्ति की मुक्ति के मुख्य साधन के रूप में शिक्षा दी। इनमें से कुछ महान्तम सन्त महिलाएँ थी।

दक्षिण भारत के आल्वार सन्त :

बौद्ध काल के बाद उदित होने वाले सन्तों में आल्वार कहलाने वाले तमिल सन्तों का समुदाय एक आद्यतम सन्त-समुदाय था। वे सभी विष्णु-उपासक थे। इस देवता का उल्लेख वेदों में मिलता है। भागवत कहलाने वाले विष्णु-उपासकों का एक विशेष सम्प्रदाय ईसा पूर्व ५०० सन् में भी भारत के पश्चिमोत्तर भाग में विद्यमान था। वे कृष्ण की विष्णु के अवतार के रूप में उपासना करते थे। कुछ पुरातन हिन्दू राजा, विशेषकर गुप्त वंश के, इसी समुदाय के थे। दक्षिण भारत के पल्लव राजागण भी विष्णुउपासक थे। आल्वारों की जीवनियाँ पौराणिक उपाख्यानों से आच्छादित हैं और उनके जीवन काल का सही निर्धारण करना भी सम्भव नहीं है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार वे सातवीं और नवीं शताब्दी में पल्लवित हुए थे। उन सभी के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे सभी रहस्यवादी साधक थे तथा उन्होंने अपनी अनुभूतियों को कविताओं में लिपिबद्ध किया है।

कुल मिलाकर बारह आल्वार हुए हैं। प्रथम चार सम्भवत: समकालीन थे। पोईगई, भूटा और पे नामक प्रथम तीन आल्वारों के विषय में एक रोचक घटना है। एक दिन एक तूफान के बीच इन तीन परिव्राजक सन्तों ने एक छोटी सी झोंपड़ी में शरण ली, जिसमें उन तीनों को खड़े होने तक का स्थान नहीं था। शीघ्र ही उन्हें अपने बीच एक चौथे व्यक्ति की अवस्थिति का अनुभव होने लगा, लेकिन जो उन्हें दिखायी नहीं दे रहा था। वे जान गये कि वह और कोई नहीं, स्वयं भगवान् हैं और प्रत्येक भक्त अपने अनुभव का वर्णन करते हुए भजन गाने लगा। ऐसा कहा जाता है कि पोईगई आल्वार का अनुभव परज्ञान का था, भूटा आल्वार का पराभक्ति का तथा पे आल्वार का परमज्ञान का। जब भक्तगण मिलते हैं, तो वे केवल भगवान् की ही चर्चा करते हैं तथा उनका गुणगान करते हैं। लेकिन संसारी लोग मिलने पर सांसारिक बातों की ही चर्चा करते हैं और उनके बारे में लड़ते झगड़ते हैं।

हम आधुनिक लोग अपने कवित्व को खो रहे हैं। साथ ही हम उच्चतम भावनाओं को समझने की क्षमता को भी खो रहे हैं जो हमारे उन सन्तों और ऋषियों के हृदय को परिपूर्ण किये रहती थी तथा जो अपने दिव्य आनन्द और प्रेम को सभी में वितरित करने हेतु तत्पर रहते थे। उन भावनाओं के बिना मानव का मूल्य कुछ नहीं है। जब हृदय और मस्तिष्क खाली हों, तो हम में क्या बचेगा? हृदय को भगवत् प्रेम से और मस्तिष्क को ईश्वर-विषयक विचारों से परिपूर्ण करना चाहिये। और ये पुन: शुभ कर्मों के माध्यम से हमारे जीवन में अभिव्यक्त होने चाहिये। यह आध्यात्मिक जीवन की मुख्य बात है, जिसे कभी भी भूलना नहीं चाहिये।

आल्वार परमात्मा को परम प्रेमास्पद मानते थे। इसीलिए हम उनमें इतना आल्हादकारक प्रेम पाते हैं। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के ये सन्त भगवान् की आराधना विभिन्न भावों में करते थे। नम्मालवार जो सटकोप या शटारी भी कहलाते हैं, आल्वारों में सबसे महान् थे। वे अपेक्षाकृत निम्न वेल्लाला जाति के थे। उन्होंने चार काव्यों की रचना की है, जो सामान्यतः चार तामिल वेद कहलाते हैं तथा तिरूवाईमोली उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस स्तुति में वे परमात्मा का वर्णन सर्वव्यापी अध्यात्म-सत्ता के रूप में करते हैं, जो भक्तों के लिए अत्यन्त सुन्दर मानव रूप धारण करती है।

तिरूमंगई आल्वार एक और महान् सन्त कवि थे, जो जाति के चोर (कल्ला) थे तथा सन्त बनने के पूर्व कुछ वर्षों तक डाका डाला करते थे। एक दूसरे प्रसिद्ध सन्त तिरुप्पाण आल्वार थे, जिनका जन्म एक अछूत कहलाने वाली जाति में हुआ था। वे भगवान् विष्णु के गुणगान किया करते थे और उसके फलस्वरूप होने वाली भाव समाधि में बाह्य संज्ञा-शून्य हो जाया करते थे। एक दिन जब वे इसी अवस्था में कावेरी नदी के किनारे स्थित रंगनाथजी के प्रसिद्ध मन्दिर के सामने बैठे थे, तब मन्दिर का मुख्य पुजारी विग्रह के लिए पवित्र स्नान जल लेकर आया। उसे भय हुआ कि यह शूद्र व्यक्ति कहीं स्नान जल को अपवित्र न कर दे। अतः पुजारी ने तिरुप्पाण को हटने के लिए पुकारा। अन्त में उसने उनकी ओर पत्थर फेंका। पत्थर के आघात से पुनः चेतना प्राप्त होने पर तिरुप्पाण वहाँ से भाग खड़े हुए। परन्तु मन्दिर के भीतर जाने पर पुजारी ने गर्भगृह का द्वार बन्द पाया। एक दैव-वाणी ने पुजारी को उसके अनुचित कार्य करने लिए डाँटा और उसे घायल शूद्र भक्त को अपनी पीठ पर बिठाकर लाने का आदेश हुआ। पुजारी दौड़कर गया और भयभीत सन्त को जबरदस्ती उठाकर मन्दिर में लाया। कहा जाता है कि गर्भगृह के द्वार खुल गये और सन्त भगवान् के विग्रह में विलीन हो गये।

एक और महत्त्वपूर्ण आल्वार थे कुलशेखर। वे दक्षिण-केरल के राजा थे। भगवद्भक्ति से अभिभूत हो उन्होंने राज्य त्याग दिया और अवशिष्ट-जीवन भगवान् के ध्यान में श्रीरंगम् के रंगनाथजी के मन्दिर के प्रांगण में रहते हुए व्यतीत किया। उनकी दीनता इतनी अधिक थी कि वे मन्दिर की सीढ़ियों पर लेटे रहते थे, ताकि भक्तों की चरणरज उनके शरीर पर पड़ सके। उन्होंने तमिल और संस्कृत दोनों में भजनों की रचना की। एक तमिल स्तुति में वे कहते हैं :

मैं उन लोगों से सम्बन्ध नहीं रखता,
जो विशुद्ध शुभ के होते अशुभ चुनते हैं
मैं गोपालकृष्ण प्रभु के लिए पागल हूँ।

यह, भक्त की भगवान् से मिलने के लिए व्यग्र हृदय की पुकार है। 'मुकुन्दमाला' नामक संस्कृत-स्तोत्र में, जो भारत के सर्वाधिक लोकप्रिय भक्तिगीतों में से एक है, कुलशेखर शरणागति की चर्चा करते हुए कहते हैं :

नास्था धर्मे न वसुनिचयेनैव कामोपभोगे,
यद्यद्भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि,
त्वत्पादाम्भोरूह्युगगता निश्चला भक्तिरस्तु।।[१]

अर्थात्, *"हे भगवान्! मेरी धर्म में आस्था नहीं है और न ही धन अथवा कामोपभोग में रुचि है। जो होना हो, वह मेरे पूर्वकर्मानुसार होवे। लेकिन मेरी आन्तरिक प्रार्थना यह है कि इस जन्म तथा जन्म-जन्मान्तर में मेरी आपके चरण कमल में निश्चला भक्ति सदा बनी रहे।"*

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरित शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि।।[२]

अर्थात्, *"हे नरकान्तक, मेरा निवास पृथिवी में या स्वर्ग में अथवा नरक में ही क्यों न हो, मैं मृत्यु में भी आपके चरणों का चिन्तन करूँगा, जो शरदकालीन कमल से भी सुन्दर हैं।"*

सच्चा भक्त जन्म-मरण से मुक्ति की कामना नहीं करता। उसके लिए संसार-ज्वाला से मुक्ति प्रार्थनीय लक्ष्य नहीं होता। भगवान्, जो असंख्य रूपों में भी अभिव्यक्त हो रहा है, के प्रति प्रेम ही सबसे वाञ्छनीय लक्ष्य है। सभी महान् सन्तों की यही महानतम अभिलाषा रही है। सभी साधकों की हार्दिक अभिलाषा भी यही होनी चाहिये।

ब्राह्मण कुल में जन्में दो-तीन आल्वारों में पेरीयाल्वार या विष्णुचित्त सबसे प्रसिद्ध हैं। वे अपना समय भगवान् के लिए फूलों की माला गूँथने में बिताया करते थे। उनकी प्रसिद्ध कविता 'तिरुप्पल्लाण्डु' का दक्षिण भारत के कई महत्त्वपूर्ण वैष्णव मन्दिरों में प्रतिदिन गान होता है। प्रेम-भावावेश में रचित उस अपूर्व स्तुति में स्वयं के लिए आशीर्वाद की याचना करने के स्थान पर भक्त, भगवान् को सहस्रों वर्षों तक जीने का आशीर्वाद देता है।

उनकी कन्या आण्डाल (या गोदा) थी, जो भारत की महान्तम महिला सन्तों में से एक के रूप में पूज्य है। बाल्यकाल से ही उसकी श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति थी। एक दिन उसके पिता ने उसे भगवान के लिए बनायी गयी माला पहने पाया और इसके लिए उसे डाँटा। लेकिन एक दैवी वाणी ने उन्हें सूचित किया कि भगवान् उस (आण्डाल) के द्वारा पहनी हुई मालाएँ पसन्द करते हैं। वे स्वयं को भगवान् की वधू समझती थीं। परम्परागत मान्यता है कि स्थानीय विष्णु मन्दिर के पुजारी को भगवान का आदेश हुआ कि वह आण्डाल को पालकी में बिठाकर मन्दिर में लाये। दूसरे दिन वधूवेष में सुसज्जित पालकी में बैठकर बहुत से लोगों की बरात के साथ आन्दाल मन्दिर पहुँची। ज्यों ही वह गर्भमन्दिर में प्रविष्ट हुई, भगवान् ने उसका स्वागत किया और वह उनकी दिव्य देह में विलीन हो गयी। बाद में आण्डाल के जन्मस्थान श्रीविल्लिपुत्तूर में एक भव्य मन्दिर का निर्माण हुआ और आज तक उस घटना की याद में उस मन्दिर में उत्सव मनाया जाता है।

---

१. मुकुन्दमाला - ७ २. वही - ८

आण्डाल एक प्रतिभाशालिनी कवयित्री थीं। उनकी कविता तिरुप्पावई समग्र दक्षिण भारत में मार्गशीर्ष माह में गायी जाती है। इस कविता के एक छन्द में वे भगवान् का ध्यान और उनके गुणों के चिन्तन से समस्त अशुभ का नाश किस प्रकार होता है, इसका वर्णन करती हैं :

यों पवित्र होकर जब हम फूलों,
गीतों से पूजा
और हृदय में ध्यान करते
मथुरा के बालक मायन का,
पवित्र महान् यमुनाधिपति का।
ग्वाल-बाल के रूप में ज्योति पुञ्ज,
माता की गोद उज्ज्वल
करने वाले दामोदरन का।
नष्ट हो जाते पूर्व व भावी कुकर्म,
जैसे अग्नि से भस्म हो जाता कपास।
हे एलोरेम्बावाय!!

आण्डाल भारत में मधुरभाव की भक्ति के श्रेष्ठतम उदाहरणों में से एक हैं। भक्त स्वयं को वधू तथा प्रभु को पति मानते हैं। शुद्धिकृत आत्मा आत्माओं की आत्मा परमात्मा की नित्यसत्ता हेतु लालायित रहती है। आन्दाल ने अपने प्रियतम प्रभु का निरन्तर चिन्तन करने में अपनी कल्पना का भरपूर उपयोग किया। हमारी मानसिक शक्तियों का, जो सामान्यतः अनेक प्रकार की अपवित्र बातों की कल्पना में ही गँवाई जाती है, उदात्तीकरण किस प्रकार किया जाना चाहिये, आण्डाल की पद्धति उसका एक दृष्टान्त है। वे श्रीकृष्ण लीला का अत्यन्त मार्मिक वर्णन करती हैं :

एक माता के पुत्र के रूप में जन्मे,
एक ही रात में छुपा कर
दूसरी माता के द्वारा लालित-पालित,
कंस-हृदय में धधकती चिर अग्नि स्वरूप,
मल्ल, तुमने उसकी सभी योजनाओं को,
नष्ट कर दिया।
हम, लालायित हो तुम्हारे पास आये हैं।
और यदि तुम कृपा करो,
तो तुम्हारे हम गुणगान करें,
जो लक्ष्मी को अतिप्रिय हैं।
तुम्हारे ऐश्वर्य का भी,

जिससे हमारे दुःख दूर होंगे।
हे एलोरेम्बावाय!!

नाथमुनि नामक एक महान् वैष्णव सन्त ने आल्वारों की सभी उपलब्ध कविताओं और स्तुतियों को एक बृहत् और चिरस्थायी ग्रन्थ 'नालायिर-प्रबन्धम्' के रूप में संकलित किया। इस ग्रन्थ को दक्षिण भारत के श्रीवैष्णव अत्यन्त पवित्र मानते हैं तथा उसे 'अनुभव-वेदान्त' अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति का वेदान्त कहते हैं, जो सत्य भी है। नाथमुनि के उत्तराधिकारी यामुनाचार्य थे और उनके बाद रामानुजाचार्य हुए, जो दक्षिण भारत के भक्ति-आन्दोलन के पुनर्जागरण के सबसे प्रमुख व्यक्ति थे। उनका जन्म १०१७ ईस्वी में एक भक्तिमान् ब्राह्मण परिवार में हुआ था। रामानुज ने पहले यादवप्रकाश नामक एक अद्वैत वेदान्ती पण्डित से हिन्दू शास्त्रों का अध्ययन किया। लेकिन उनका भक्त-हृदय अद्वैत सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सका और उन्होंने अपने ही सिद्धान्तों का विकास किया जिसमें भक्ति और ज्ञान का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्यों की रचना की। विशिष्टाद्वैत नामक उनके दर्शन के अनुसार ईश्वर, जीव और जगत् मिलकर एक सत्ता का निर्माण करते हैं। ईश्वर सर्वव्यापी सर्वातीत परमात्मा है। जगत् उसमें से उत्पन्न होकर उसी में कालचक्र-क्रम से विलीन हो जाता है। सृष्टि-लय की यह कालचक्र-प्रक्रिया लाखों वर्षों की होती है। इसी तरह समस्त जीव भी ईश्वर पर पूर्ण रूपेण आश्रित होते हैं। आध्यात्मिक पथ में आत्मसाक्षात्कार पहले और ईश्वरसाक्षात्कार बाद में होता है, जो रामानुजाचार्य के अनुसार पूर्णतः भगवत्कृपा पर निर्भर करता है। इस प्रकार उन्होंने भक्ति को साधना के रूप में सर्वाधिक महत्त्व दिया।

वैष्णवों में भक्ति की प्रमुखता को पुनः प्रतिष्ठित करने के अतिरिक्त रामानुज ने अपने अनुयायियों के एक पृथक् संघ का निर्माण किया, संस्कृत और तमिल, दोनों के शास्त्रों के अध्ययन को प्रोत्साहित किया और धर्म का गैर ब्राह्मणों में भी प्रसार करने का प्रयत्न किया। एक शूद्र को गुरु के रूप में स्वीकार करने तथा पवित्र 'नारायण' मन्त्र का जन-साधारण के बड़े समुदाय को प्रदान करने में उनकी उदार बुद्धि का परिचय मिलता है। उनके गुरु गोष्ठिपूर्ण ने उन्हें यह निर्देश देने के बाद नारायण मन्त्र में दीक्षित किया था कि उसे किसी के सामने प्रकट न करें। गुरु के निर्देश का उल्लंघन करने पर नरक जाने का दण्ड भोगना पड़ेगा। लेकिन रामानुज ने मन्दिर के गोपुरम् पर चढ़कर वहाँ एकत्र बड़े जनसमुदाय के सामने उस मन्त्र को प्रकट कर दिया। अपने इस कृत्य के औचित्य के बारे में गुरु द्वारा पूछे जाने पर रामानुज ने कहा कि यदि उनके नर्क में जाने से इतने लोगों का उद्धार हो सकता है, तो वे अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के बदले यही करना श्रेयस्कर समझते हैं।

रामानुज ने अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिए भारत में दूर-दूर तक भ्रमण किया। भक्ति को दार्शनिक भित्ति पर प्रतिष्ठित करने वाले वे पहले महान् आचार्य थे। आल्वार सन्तों की रचनाओं को वेदान्त के अन्तर्गत लाकर यामुनाचार्य ने भक्ति के हित में महान् सेवा की थी

तथा विशिष्टाद्वैतवाद की नींव रखी थी। लेकिन उस विशाल दार्शनिक भवन के निर्माण का श्रेय रामानुज को जाता है जिसने तब से भारत के सभी हिन्दू भक्ति-आन्दोलनों और सम्प्रदायों को परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में प्रभावित किया है। उत्तर भारत के भक्ति – आन्दोलनों के मूल की खोज करने पर उन्हीं का प्रभाव पाया जाता है।

दक्षिण भारत के शैव सन्त (नायन्मार) :

एक मत के अनुसार उत्तर भारत से दक्षिण भारत में शिव-उपासना का समावेश तिरूमूलर नामक सन्त द्वारा किया गया था। यह सत्य हो या न हो, शिवोपासना सारे भारत में बहुत पुरानी है। दक्षिण भारत में शिवोपासना का सम्बन्ध नायन्मार कहलाने वाले तिरसठ सन्तों से है, जिनकी प्रतिमाएँ तमिलनाडु के सभी महत्वपूर्ण शिव-मन्दिरों में पायी जाती हैं। वैष्णव आल्वारों की तरह शैव सन्त भी सभी जातियों के थे। उनमें ब्राह्मण, राजा, कुम्हार, व्यापारी, किसान, शिकारी, गड़रिये और मछुए थे। उन सभी का काल निर्धारित करना बहुत कठिन है। इनमें से महान् आचार्य कहलाने वाले चार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सन्त सातवीं और नवीं शताब्दियों के बीच हुए हैं। वे थे अप्पर, ज्ञानसम्बन्धर, सुन्दरमूर्ति, और माणिक्क-वाचकर। प्रथम तीन सन्तों द्वारा रचित स्तुतियाँ सम्मिलित रूप से देवारम् कहलाती हैं तथा अन्तिम सन्त रचित स्तुतियाँ तिरुवाचकम् कहलाती हैं। इनका दक्षिण के सभी महत्वपूर्ण शैव-मन्दिरों में गान होता है। ये चार सन्त ईश्वर के प्रति चार विभिन्न भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अप्पर ने दासमार्ग का, ज्ञानसम्बन्धर ने सत्पुत्र-मार्ग का, सुन्दरमूर्ति ने सखा-मार्ग का तथा माणिक्कवाचकर ने सत्-मार्ग या ज्ञान-मार्ग का अनुसरण किया था।

इन महान् सन्तों की जीवनियाँ चमत्कारों से पूर्ण हैं। अप्पर का जन्म अपेक्षाकृत निम्न जाति वल्लाल में हुआ था। प्रारम्भ में उन्होंने जैनधर्म को अंगीकार किया था, किन्तु अपनी बड़ी बहन के प्रभाव से वे शैवधर्म में पुनः परिवर्तित हुए। उसके बाद उन्होंने अपना जीवन भगवान् शिव के गुणगान करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान भ्रमण करते तथा मन्दिर प्रांगण का घास-फूस उखाड़ने जैसे क्षुद्र कर्म करते हुए व्यतीत किया। उनकी कविताओं में एक उच्चकोटि के मन का परिचय मिलता है। एक कविता में वे कहते हैं :

काष्ठ में अग्नि के समान, दूध में मक्खन की तरह,
ज्योतिस्वरूप परमात्मा सब में छिपा है।
प्रेम की मथनी लगाओ और बुद्धि की डोर,
और मथो, प्रभु तुम्हें धन्य करेंगे दर्शन देकर।।

एक अन्य स्तुति में है :

वे हमारी माता, हमारे पिता, भाई और बहन हैं,
त्रिलोक के स्रष्टा, देवों के प्रिय धन,
यदि स्मरण करें हृदय में

पुष्प नगर में रहने वाले को, तो
वे अदृश्य रहकर सबकी सहायता करेंगे।

अप्पर शब्द का अर्थ है, पिता। ज्ञानसम्बन्धर नामक सन्त द्वारा इस शब्द द्वारा सम्बोधित होने के कारण उनका यह नाम हुआ। यह अपेक्षाकृत युवा सन्त सम्बन्धर, ब्राह्मण वंश के थे। ऐसा कहा जाता है कि जब सम्बन्धर एक बालक थे, तब देवी पार्वती ने स्वयं पृथिवी पर आकर एक माता की तरह उन्हें खिलाया-पिलाया था। उसके बाद वे एक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न बालक तथा महान् सन्त हो गये। उनकी मृत्यु (मात्र) सोलह वर्ष की उम्र में हुई।

तीसरे महान् सन्त सुन्दरमूर्ति थे, जिनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि विवाह के निर्दिष्ट समय भगवान् शिव ने एक वृद्ध के छद्मवेश में उपस्थित होकर उन्हें अपने चिर-दास के रूप में माँगा। तदनन्तर वे दक्षिण भारत में भगवान् शिव की स्तुति करते हुए भ्रमण करते रहे। कथित है कि उनका देहान्त भी युवावस्था में हुआ।

चौथे महान् सन्त थे माणिक्कवाचकर। वे भी ब्राह्मण थे और अपने यौवन में पाण्ड्या सम्राट के मुख्यमन्त्री बने थे। एक बार उन्हें घोड़े खरीदने का कार्य सौंपा गया। रास्ते में उन्हें शिवजी का गुरु के रूप में दर्शन हुआ तथा उनके आदेशानुसार उन्होंने घोड़ों की खरीद के धन को एक शिव-मन्दिर के निर्माण में व्यय किया। अपने मन्त्री पद के कर्तव्यों को भूलकर वे वहीं भगवान् की सेवा में लगे रहे। 'तिरूवाचकम्' नामक उनके स्तोत्रों की पुस्तक दक्षिण भारत में सबसे लोकप्रिय पुस्तकों में से एक है तथा एक उच्चकोटी की साहित्यिक कृति मानी जाती है। तमिल भाषा में एक कहावत है कि जिसका हृदय इन सन्त की स्तुतियाँ सुनकर द्रवित नहीं होता, उसे कोई भी द्रवित नहीं कर सकता। उन्होंने दृढ़ एकेश्वरवाद का, तथा भक्ति का, भगवत्प्राप्ति के उपाय के रूप में, उपदेश दिया। लेकिन उनका भगवत्प्रेम ज्ञान-विमिश्रित था। 'तिरुवाचकम्' में वे कहते हैं :

देशकालातीत, अनादि, अनन्त प्रभु
तुम असंख्य जगतों के स्रष्टा,
पाता, संहर्ता हो।
अनेक जन्मों से मुझे मार्ग दिखाकर
कृपापूर्वक शरणागति और सेवा करवाते हो।
सुगन्ध की तरह अदृश्य
तुम दूर, पर पास भी हो।
अगम्य, रहस्यमय, वाक्-मनातीत,
मधुर क्षीर की तरह,
आपका अमृततुल्य आनन्द
प्रिय भक्तों के हृदय को

पूर्ण करता,
संसार-बन्धन-नाशक-
महाप्रभु।

यह सम्पूर्ण महान् पुस्तक सृष्टि, ईश्वर के स्वरूप, जीव के ईश्वर सम्बन्धी अनुभवों के रहस्यों के प्रति गहरी अन्तर्दृष्टि से पूर्ण है। लेकिन इन सभी के साथ तीव्र भक्ति ओतप्रोत है। निम्नोक्त पंक्तियों जैसी पंक्तियाँ पुस्तक में सर्वत्र पायी जाती हैं :

शीघ्रता करो,
पुष्पमाल से बाँधो उनके चरण
और कभी न छोड़ो।
वे चकमा दें, तो भी न छोड़ो
अद्वितीय प्रभु ने आगमन की
घोषणा की,
मुझे अपना बनाया
एक ऋषि की तरह, और मुझे
दर्शन दिया।

तिरूवाचकम् ग्रन्थ में आत्मा जिन विभिन्न अवस्थाओं से गुजरती हुई परमात्मा से मिलती है, उनका भी वर्णन है। कहा जाता है कि उन महान् सन्त का देहान्त बत्तीस वर्ष की उम्र में हुआ।

शेष सन्तों में व्याध कण्णप्पर और अछूत नन्दनार सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। तीन महिला सन्त भी हुई हैं, जिनमें कारैक्काल अमैयार सबसे विलक्षण हैं। यौवन में वे अत्यन्त सुन्दर थीं और एक धनी व्यापारी के साथ उनका विवाह हुआ था। युवा पति को शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि वे अपूर्व पवित्रता और भक्तियुक्त एक सन्त हैं। वह उनके साथ सांसारिक जीवन व्यतीत नहीं करना चाहता था। अतः वह चुपके से उस स्थान से चला गया और एक अन्य स्त्री से विवाह कर सुदूर देश में बस गया। जब कारैक्काल अमैयार ने यह समाचार सुना तो वे उस से मिलने गयीं। लेकिन उनका पति और उसकी नयी पत्नी उनके चरणों में गिर पड़े और उनके परिवार वालों से कहा कि वे उसे देवता समझते हैं। जब सन्त को यह पता चला कि उनका वैवाहिक-जीवन अब समाप्त हो गया है, तो उन्होंने भगवान् शिव से अपने स्वर्गीय सौन्दर्य को वापस ले लेने की प्रार्थना की। वे तत्काल एक बदसूरत बुढ़िया में परिवर्तित हो गयीं। महिलाएँ इस त्याग की महानता को दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझ सकती हैं। उन्होंने अपना अवशिष्ट जीवन तिरूवालंगाडू नामक स्थान में सम्पूर्ण रूप से देहात्म-बोध रहित हो तथा भगवान् शिव के महान् विराट् नृत्य का नित्य दर्शन करते हुए व्यतीत किया। ऐसा कहा जाता है कि स्वयं भगवान ने उन्हें 'माता' कहकर सम्बोधित किया था। चरम लक्ष्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में अपनी एक कविता में वे कहती हैं :

हमने मृत्यु पर विजय तथा नर्क से छुटकारा पाया है। हमने शुभाशुभ कर्मों के बन्धनों का समूल उच्छेद कर दिया है। यह सब भगवान् के पवित्र चरण कमलों से संयुक्त होने के कारण हुआ है, जिन्होंने त्रिपुरासुर के किले को अपनी नेत्राग्नि से भस्म कर दिया था।

पुराणों में वर्णित तिरसठ सन्तों के अतिरिक्त ऐसे अन्य सन्त भी हैं, जो परवर्ती काल में हुए हैं। उनमें से एक पट्टीनट्टार थे, जो दसवीं शताब्दी से पूर्व हुए थे। वे एक व्यापारी थे तथा समुद्री मार्ग से बड़ा व्यापार किया करते थे। एक दिन उन्हें पता चला कि उनका मूल्यवान सामान से लदा, समुद्री तूफान में फँसा जहाज सुरक्षित बंदरगाह पर पहुँच गया है। आनन्द विभोर हो वे बन्दरगाह पर गए। उनकी अनुपस्थिति में एक परिव्राजक सन्त उनके घर भिक्षा के लिए आये। गृहिणी ने उन्हें पति के वापस लौटने तक रुकने और प्रतिक्षा करने को कहा, लेकिन वे रूके नहीं। इसके बदले वे एक छोटा बक्सा छोड़कर वहाँ से चले गये। पट्टिनट्टार के लौटने पर उनकी पत्नी ने वह बक्स उन्हें दिया। उसे खोलने पर उसमें केवल एक टूटी हुई छेदरहित सुई मिली। अचानक उनके मन में यह सत्य प्रकाशित हुआ कि मृत्यु के बाद एक छेदरहित सुई जैसी मूल्यहीन वस्तु भी उनके साथ नहीं जाएगी। उन्होंने तत्काल अपनी सम्पत्ति गरीबों को बाँट दी, संसार त्याग दिया और एक परिव्राजक संन्यासी का जीवन व्यतीत करने लगे। एक दूसरे व्यक्ति, जो पहले राजा थे, उनके साथ हो लिए और दोनों अनेक वर्षों तक भजन गाते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान घूमते रहे।

बालक स्वभाव प्राप्त होने के कारण वे ग्वाल-बालकों के साथ खेला करते थे। एक दिन छोकरों ने खेल-खेल में एक गड्ढा खोदा, उसमें इन्हें खड़ा कर दिया और खोदी हुई मिट्टी से उनकी ठुड्डी तक गड्ढा भर दिया। अचानक जोर की बारिश होने लगी और बच्चे वृद्ध को भूलकर वहाँ से भाग गये। ठंडी हवा और वर्षा में रातभर रहने से सन्त की मृत्यु हो गई। पट्टिनट्टार की कविताओं में विषयभोगों की अनित्यता, जीवन की क्षणभंगुरता तथा ईश्वराभिमुखी जीवन की आवश्यकता की बात पायी जाती है। उनकी नैतिक सूक्तियों का समग्र तमिलनाडु में मुहावरों के रूप में प्रयोग किया जाता है।

शैव-सन्तों की परम्परा वर्तमान काल तक अक्षुण्ण बनी हुई है। हमारे इस दरिद्र देश में, जो भौतिक दृष्टि से दरिद्र किन्तु आध्यात्मिक परम्पराओं में धनवान है, हमें यह सौभाग्य प्राप्त होता रहा है। अठारहवीं शताब्दी में तायूमानवर नामक महान्तम सन्तों में से एक तथा दक्षिण भारत के शैव सन्तों में निश्चित रूप से सर्वाधिक लोकप्रिय सन्त हो गये हैं। यौवन में वे एक राजा के महल में दीवान बने तथा तमिल और संस्कृत भक्ति और दर्शन विषयक साहित्य को भलीभाँति आयत्त कर लिया। उनकी भेंट एक मौनव्रतधारी सन्त से हुई और वे उसके प्रति बहुत आसक्त हो गये। ऐसा कहा जाता है कि विधवा रानी ने स्वयं को राज्य सहित उन्हें समर्पित किया, लेकिन उन्होंने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और महल त्याग दिया। उसके बाद दूसरे स्थान जाकर उन्होंने एक पवित्र कन्या से विवाह किया और एक सदाचारी जीवन व्यतीत किया। जब उनका एकमात्र पुत्र बड़ा हो गया, तो मौनी साधु ने अचानक पुनः

उपस्थित होकर उन्हें याद दिलाया कि संसार त्याग का समय हो गया है। तायूमानवर ने अपना अवशिष्ट जीवन उच्चतम दार्शनिक भावपूर्ण कविताओं को गाते हुए एक रमते-जोगी-गायक के रूप में व्यतीत किया। उनकी कविताओं में उन्होंने दक्षिण भारतीय शैव सन्तों के सिद्धान्त तथा वेदान्त का सामञ्जस्य बिठाने का प्रयत्न किया है।

तायूमानवर के अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति – ये तीन मूल तत्त्व हैं। जिस प्रकार सूर्य प्राणी जगत में प्राण-संचार करता है, उसी प्रकार ईश्वर समस्त जीवों और प्रकृति को धारण करता है तथा उनमें प्राण-संचार करता है। 'आनन्दक्कलिप्पु' अथवा 'आनन्दरमण' नामक उनकी एक रचना में वे उच्चतम अनुभूति का वर्णन करते हैं तथा यह बताते हैं कि किस प्रकार भक्ति और ज्ञान उच्चतम अनुभूति में एक हो जाते हैं। तायूमानवर एक महान् कवि तथा बड़े उच्चकोटि के रहस्यवादी सन्त थे।

तेरहवीं शताब्दी में मेकण्डार नामक एक ऋषि ने शैव सन्तों के उपदेशों को बारह सूत्रों में संग्रहित किया था। उनकी 'शिव-ज्ञान बोधम्' नामक इस रचना पर उनके शिष्य अरुल्नन्दी ने टीका की है। यह सिद्धान्त रामानुज के विशिष्टाद्वैत से कई बातों में मिलता-जुलता है।

हमने अब तक तमिलनाडु के महान् सन्तों के बारे में ही चर्चा की है। दक्षिण भारत के अन्य हिस्सों में भी कई सन्त हुए हैं। मैं केवल कर्नाटक के दो सन्तों का ही उल्लेख करूँगा। पहले सन्त पुरन्दर दास थे, जिन्हें सर्वत्र कर्नाटक संगीत अथवा दक्षिणभारतीय संगीत का प्रवर्तक माना जाता है। वे प्रारम्भ में एक धनवान व्यक्ति थे तथा अपनी कञ्जूसी के लिए कुख्यात थे। बाद में उन्होंने अपनी सम्पत्ति त्याग दी और महाराष्ट्र के पण्ढरपुर के प्रसिद्ध देव-विग्रह-विठ्ठल के दीन भक्त का जीवन यापन किया। उनके हजारों आनन्ददायी गीतों को दक्षिण भारत में सर्वत्र सुना जा सकता है।

दूसरे महान् सन्त बसवेश्वर थे। वे शिवजी के महान् भक्त तथा बारहवीं शताब्दी के महान् सुधारक थे। कहा जाता है कि वे जन्म से ब्राह्मण थे और एक राजा के मन्त्री बने थे। उनके वचन अर्थात् संक्षिप्त कविताओं में, भगवान् की दृष्टि में सभी मानवों की समानता, पवित्रता और शिव-भक्ति की आवश्यकता की बात पायी जाती है। उन्हें वीर-शैव-सिद्धान्त और सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है जो जातिवाद और सामाजिक अन्याय विरोधी एक आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ था। इस मत के अनुसार समग्र ब्रह्माण्ड शिवजी की क्रीड़ा है। इस सम्प्रदाय की एक महान् महिला सन्त अक्का महादेवी थीं। एक युवराज से विवाह होने पर भी उन्होंने संसार त्याग कर श्रीशैलम् नामक एक पर्वत-शिखर पर जंगल में अपना समय व्यतीत किया। उनकी कविताएँ कर्नाटक में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं तथा उनकी तीव्र शिव-भक्ति को प्रदर्शित करती हैं, जिन्हें वे चेन्ना मल्लिकार्जुन कहा करती थीं। आध्यात्मिक-जीवन में प्रगति करने पर उन्होंने सभी के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा का साक्षात्कार किया था। अपनी एक कविता में वे कहती हैं :

तुम ही समूचा जंगल हो,
वन के समस्त सुन्दर वृक्ष तुम हो,
वृक्षों में विचरण करने वाले पशु-पक्षी तुम हो।
हे चेन्ना मल्लिकार्जुन अपने सर्वव्यापी
रूप का मुझे दर्शन दो।

उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति के सम्बन्ध में वे कहती हैं :

मैं यह नहीं कहती कि वह लिंग है,
मैं यह नहीं कहती कि वह लिंगात्मकता है,
मैं यह नहीं कहती कि वह ऐक्य है,
मैं यह नहीं कहती कि वह तादात्म्य है,
मैं यह नहीं कहती कि वह हुआ है,
मैं यह नहीं कहती कि वह नहीं हुआ है,
मैं यह नहीं कहती कि वह तुम है,
मैं यह नहीं कहती कि वह मैं है,
लिंग में चेन्ना मल्लिकार्जुन के साथ एक होने पर
मैं कुछ भी नहीं कहती।[३]

महाराष्ट्र के सन्त :

महाराष्ट्र के सन्तों के दो समुदाय हैं : वारकरी या शान्त-भक्त जिनमें ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम जैसे महान सन्त हैं और धारकरी या वीरभक्त, जिसके अन्तर्गत समर्थ रामदास और उनके अनुयायी आते हैं। प्रथम समुदाय महाराष्ट्र में पण्ढरपुर के मुख्य-देवता विठ्ठल के सम्प्रदाय पर आधारित था। इनमें प्रथम और महान्तम सन्त ज्ञानेश्वर या ज्ञानदेव थे, जो तेरहवीं शताब्दी में हुए थे। वे तथा उनके भाई निवृत्तिनाथ की साधना नाथ-योगी-पद्धति के अनुसार हुई थी, लेकिन अपनी रचनाओं में ज्ञानेश्वर ने नाथ-परम्परा तथा वेदान्त का सम्मिश्रण किया और यह समन्वित दृष्टिकोण महाराष्ट्र में लोकप्रिय हुआ।

ज्ञानेश्वर विठ्ठलपन्त और रखमाबाई के द्वितीय पुत्र थे। उनके पिताने विवाह के बाद संसार त्याग कर उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के प्रणेता, महान् सन्त रामानन्द से संन्यास की याचना की थी। रामानन्द ने यह जाने बिना कि विठ्ठलपन्त विवाहित हैं, उन्हें संन्यास दीक्षा दे दी थी। लेकिन जब उन्हें सत्य पता चला, तो उन्होंने अपने शिष्य को घर लौटने तथा गृहस्थ-जीवन-यापन करने का आदेश दिया। विठ्ठलपन्त ने गुरु के आदेश को शिरोधार्य किया और उनके तीन पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ। लेकिन संन्यास-व्रत के खण्डन

---

३. वूईमेन सेण्ट्स आफ ईस्ट एण्ड वेस्ट, (रामकृष्ण वेदान्त सेण्टर, लन्दन, १९५५), पृ. ३९,४०

को स्थानीय ब्राह्मणों ने बहुत बड़ा पाप माना और परिवार को समाज से बहिष्कृत कर दिया। ऐसा कहा जाता है कि विठ्ठलपन्त और उनकी पत्नी ने निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई इन चार बच्चों को अनाथ छोड़कर आत्महत्या कर ली। लेकिन इन बालकों ने अपने पवित्र जीवन से ब्राह्मणों को इतना प्रभावित किया कि वे पुनः जाति में प्रविष्ट कर लिए गये।

कहा जाता है कि ज्येष्ठ भ्राता निवृत्तिनाथ को गहीनीनाथ (महायोगी गोरक्षनाथ के शिष्य) ने दीक्षा प्रदान की थी और उन्होंने ज्ञानदेव को दीक्षित किया। इस प्रकार इनके माध्यम से नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त महाराष्ट्र की साधना-पद्धति में प्रविष्ट हुए। भाई-बहन भगवान् का गुणगान करते हुए देश में सर्वत्र भ्रमण करते थे। ज्ञानदेव का बाईस वर्ष की कम उम्र में देहावसान हो गया। लेकिन उन्होंने तब तक विश्व की महान्तम रहस्यवादी धार्मिक पुस्तकों में से एक ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, तथा मराठी भाषा में बहुत से भजन, जो अभंग कहलाते हैं, की रचना कर डाली थी। ज्ञानेश्वरी गीता पर टीका मानी जाती है, परन्तु वस्तुतः उसमें उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक-अनुभूतियों का वर्णन है तथा उनके समान्वित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। उसमें ज्ञान, कर्म, भक्ति, और योग – इन चार महान् साधन-पथों का समन्वय है। ज्ञानदेव कट्टर अद्वैतवादी का दृष्टिकोण नहीं अपनाते हैं। उनके अनुसार ईश्वर सर्वान्तर्यामी भी है और सर्वातीत भी। वे सागर और लहरों का दृष्टान्त देते हैं। ईश्वर सागर हैं तथा जीव और जगत् लहरें एवं बुदबुदे हैं। उनकी सभी रचनाएँ ऐसी उपमाओं से पूर्ण हैं तथा उनमें कवित्व की सुन्दरता और अभिव्यक्ति का माधुर्य है। द्वैतातीत चरम सत्य के बारे में वे कहते हैं : "वह मानो उस सौन्दर्य के समान है, जिसने अभी रूप-परिग्रह नहीं किया है अथवा वह पुण्य-कर्म के अनुष्ठान के पूर्व उसकी पवित्रता के सदृश है। वह समस्त सामान्यताओं से परे है। उसके बारे में मौन ही सबसे मुखर है।" ज्ञानदेव की बहन मुक्ताबाई ने भी महान् आध्यात्मिक और कवित्वपूर्ण अभंगों की रचना की है।

उसी परम्परा के अन्य महान् सन्त नामदेव थे। वे ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। वस्तुतः उस समय विठ्ठल भगवान् के भक्त बहुत से महान् सन्त एक साथ महाराष्ट्र में थे। वे सभी एक आनन्दमय आध्यात्मिक संघ बनाकर प्रायः सड़कों पर गाते हुए जुलूस निकाला करते थे। नामदेव का जन्म दरजी के कुल में हुआ था। कहा जाता है कि यौवन के प्रारम्भ में वे डाकू बने थे और एकबार उन्होंने कुछ सैनिकों को मार डाला। बाद में जब उन्होंने उनमें से एक की शोकातुरा पत्नी और बच्चे को देखा, तो उनको बड़ा अनुताप हुआ और उनके जीवन में अचानक परिवर्तन हो गया। वे अधिकांश समय विठ्ठल के मन्दिर में भगवान् का गुणगान करते बिताया करते थे। लेकिन उनकी द्रुत आध्यात्मिक प्रगति ने उन्हें थोड़ा गर्वीला बना दिया था। तब एक दिन ज्ञानेश्वर अपने भाईयों और बहन मुक्ताबाई के साथ मन्दिर में आये। मुक्ताबाई ने नामदेव में अहंकार को पहचान लिया और ग़ोरा नामक कुम्हार सन्त से उपस्थित सन्तों की परीक्षा करने को कहा। गोरा ने एक लकड़ी से सभी स़न्तों के सिर को ठोक कर देखना प्रारम्भ किया। नामदेव के पास पहुँचने पर उन्होंने कहा कि एक मात्र वही 'बर्तन'

कच्चा है। इस प्रकार अपमानित होने पर नामदेव को विशोबा खेचर के पास जाने को कहा गया, जो स्वयं ज्ञानदेव के शिष्य थे। विशोबा के द्वारा दीक्षित होने के बाद उन्हें तीव्र आध्यात्मिक संघर्षों से गुजरना पड़ा। भगवत्साक्षात्कार न होने का उनका दुःख उनके अनेक अभंगों में अभिव्यक्त हुआ है। एक स्थान पर नामदेव कहते हैं : "जिस प्रकार भ्रमर पुष्प की सुगन्ध के लिए लालायित रहता है, जिस प्रकार मक्षिका मधु की ओर दौड़ती है, उसी तरह मेरा मन भगवान् में लगा रहता है।" एक अन्य अभंग में वे कहते हैं :

प्रभु, तुम नाथ हो, मैं अनाथ कहलाता,
तुम उद्धारकर्ता कहलाते; मैं पतित कहलाता।
यदि तुम मेरी आरति न सुनो,
तो क्या यह तुम्हारे लिए लज्जाजनक नहीं होगा।"

महाराष्ट्र के अन्य सन्तों की तरह नामदेव ने भगवन्नाम के जप को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। नामदेव कहते हैं, "भगवान् स्वयं छिपे रह सकते हैं, लेकिन वे अपना नाम नहीं छिपा सकते। यदि हम एक बार उनका नाम लें, तो वे हम से बच नहीं सकते।" उत्कट तीव्र भक्ति और भगवन्नाम के निरन्तर जप से नामदेव चरम आत्म-ज्ञान पाने में समर्थ हुए थे। इष्टदेव विट्ठल के प्रति चरम अनुराग होते हुए भी उन्होंने सभी प्राणियों में उनके विभु रूप का दर्शन किया। कहा जाता है कि एक दिन एक कुत्ता एक सूखी रोटी लेकर भागा। नामदेव घी का पात्र लेकर उसके पीछे चिल्लाते हुए भागे, "प्रभु, ठहरो, मुझे रोटी पर घी लगाने दो।"

नामदेव की जनाबाई नामक एक दासी थी। वह उनकी शिष्या थी और बड़ी भक्ति के साथ उनकी सेवा करती थी। वह भी असामान्य कवि थी तथा उसके सरल अभंग आज भी महाराष्ट्र में सर्वत्र लोकप्रिय हैं। जनाबाई प्रातः भोर में उठकर अपनी कुटिया में भगवान् के गुणगान करते हुए चक्की पीसती थी। एक दिन नामदेव की माँ ने उसे किसी से बातें करते सुना और झाँक कर भीतर देखा। उसने वहाँ एक दूसरी स्त्री को देखा। पूछने पर जनाबाई ने बताया कि वह विट्ठलाबाई अर्थात् विट्ठल प्रभु महिला के रूप में हैं। यदि भगवान् पुरुष का रूप धर सकता है, तो क्या वह स्त्री का रूप धारण नहीं कर सकता? अपने एक अभंग में जनाबाई अपने कर्मों को विश्वास के हत्थे वाली वैराग्य की चक्की में पीसने की बात कहती है। यह कैसी सुन्दर उपमा है। महाराष्ट्र के महिला सन्तों में मुक्ताबाई के बाद उनका ही स्थान है।

सोलहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में महान् सन्तों का एक और समुदाय पैदा हुआ था। इनमें एकनाथ सबसे प्रसिद्ध हैं। पैठण के एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में जन्में एकनाथ की बाल्यकाल से ही भगवान् के प्रति गहरी भक्ति थी। बारह वर्ष की उम्र में वे अपने प्रसिद्ध गुरु जनार्दनस्वामी से मिले और उन के द्वारा दीक्षित हुए। उन्होंने गुरु से शिक्षा प्राप्त की और उनकी सेवा की। वय प्राप्त होने पर उन्होंने एक धार्मिक कन्या से विवाह किया और एक

आदर्श गृहस्थ का जीवन बिताया। उनके सांसारिक कर्तव्य उनकी भक्ति में कभी बाधक नहीं बने। वे अपना समय ध्यान, स्वाध्याय, अध्यापन, भजन-गान तथा आर्त एवं साधुओं की सेवा में व्यतीत करते थे। उनसे सम्बन्धित अनेक कथाएँ उनके धैर्य और अहिंसा की भावना को प्रकट करती हैं। एक बार नदी से स्नान करके निकलते समय एक मुसलमान ने उनके ऊपर थूँक दिया। एकनाथ ने शान्तिपूर्वक पुनः स्नान किया। मुसलमान ने पुनः उनपर थूँका और एकनाथ ने क्रुद्ध हुए बिना या एक भी शब्द कहे बिना लौटकर पुनः स्नान किया। थूँकना और स्नान करना एक सौ आठ बार हुआ। तब अनुतप्त दुष्ट व्यक्ति ने उनके चरणों में गिरकर क्षमा याचना की।

एकनाथ ने सर्वप्रथम ज्ञानेश्वरी का विश्वस्त-संस्करण प्रकाशित किया। उनकी स्वयं की रचनाओं में श्रीमद्भागवतम् के ग्यारहवें अध्याय की टीका तथा 'रुक्मिणी-स्वयंवर' नामक एक दीर्घ काव्य प्रसिद्ध है। लेकिन उनकी जनसाधारण में लोकप्रियता मुख्यतः उनके अभंगों के कारण है, जिनमें नैतिक मूल्य तथा उनका तीव्र भगवत्प्रेम अभिव्यक्त हुए हैं। "हमें संसार में यात्रियों की तरह रहना चाहिए, जो सायंकाल विश्राम के लिए आते हैं और प्रातःकाल चल देते हैं। बच्चे खेल खेल में घर बनाते हैं और पुनः तोड़ देते हैं, उसी प्रकार हमें इस जीवन के प्रति व्यवहार करना चाहिए।" साधना के सम्बन्ध में वे कहते हैं : "भक्ति मूल है, वैराग्य पुष्प है और ज्ञान फल है।" कुछ अन्य अभंगों में वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की चर्चा करते हैं, जो उच्चतम कोटि की थीं। वे एक स्थान पर कहते हैं : "ज्ञानोदय होने पर मैंने समग्र जगत् को ज्योति से परिव्याप्त देखा।" अपने एक सर्वाधिक लोकप्रिय भजन में वे कहते हैं कि अन्दर-बाहर, निद्रा और जागरण में, जिस ओर भी उन्होंने देखा, उन्हें केवल राम ही दिखे।" अन्य अभंगों में उनकी भगवान् के साथ एकत्व की उपलब्धि का वर्णन है। एकनाथ ने वेदान्त के उदात्त उपदेशों को महाराष्ट्र के जनसाधारण में लोकप्रिय बनाया।

सत्रहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में तुकाराम नामक एक और महान् सन्त उदित हुए, जो महाराष्ट्रीय सन्तों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। उनका जीवन 'हरि-कथा' कहलाने वाले संगीतमय आयोजनों का प्रिय विषय है। इसका कारण सम्भवतः उनकी झगड़ालू पत्नी द्वारा उपस्थित किये गये अप्रिय पारिवारिक दृश्य हैं, जो एक धार्मिक गृहस्थ के जीवन को नाटकीय दृश्यों के रूप में प्रस्तुत करने का पर्याप्त अवसर प्रदान करते हैं। उनका जन्म सन् १६०८ ईसवी में पूना से अठारह मील दूर देहू नामक ग्राम में एक धार्मिक किसान परिवार में हुआ था। जब तुकाराम यौवन में थे, तब उस क्षेत्र में एक भयानक अकाल पड़ा और तुकाराम की भूमि, मवेशी, दो पत्नियों में से एक पत्नी और एक पुत्र की क्षति हो गयी। जीवित पत्नी एक झगड़ालू स्त्री थी और उसने उन्हें निरन्तर तंग करके उनके जीवन को दुःखमय बना दिया। इन सभी अप्रिय अनुभवों से उनका मन भगवान् की ओर मुड़ गया। वे ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ की रचनाएँ पढ़ने लगे तथा अपने अवकाश का समय एकान्त में भगवच्चिन्तन में बिताने लगे। उन्हें स्वप्न में 'बाबाजी' नामक एक सन्त ने

मन्त्रदीक्षा प्रदान की, जिन्हें वे अपने एक अभंग में संसार सागर को पार करने की 'पाण्डुरंग की नौका' कहते हैं।

निर्जन में कुछ काल साधना करने के बाद तुकाराम एक कवि और प्रचारक के रूप में पुनः प्रकट हुए। इसके फलस्वरूप स्थानीय ब्राह्मण उनके प्रति ईर्ष्यालु हो गये और अनेक प्रकार से उन्हें कष्ट देने लगे। लेकिन उनके तीव्र भगवत्प्रेम तथा निर्दोष जीवन के फलस्वरूप वे उनके मित्र बन गये। उनके अभंगों में चरम तत्वज्ञान के लिए उनके महान् आन्तरिक संघर्ष का परिचय प्राप्त होता है। वे उनकी भगवत्प्राप्ति की तीव्र लालसा को प्रकट करते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि एक निष्ठावान् मुमुक्षु साधक का जीवन सदा दुःख और असन्तोष के भाव से प्रारम्भ होता है, जो उसे भगवान् की ओर प्रेरित करता है। कुछ महीनों अथवा वर्षों की साधना के बाद भगवान उसे अपने सान्निध्य का अनुभव तथा कुछ आनन्द प्रद्रान करते हैं और उसके बाद अदृश्य हो जाते हैं। जीव का ईश्वर से यह वियोग अत्यन्त पीड़ादायक होता है – जो पीड़ा सांसारिक नहीं बल्कि एक उच्चतर प्रकार की पीड़ा होती है। ईसाई साधक इसे "आत्मा की अन्धकार रात्रि" (DARK NIGHT OF THE SOUL) कहते हैं। हिन्दू साधक इसे 'विरह' कहते हैं। मानो साधक की आत्मा को एक मेघ ने आवृत कर लिया है और उस पर अनेक सूक्ष्म प्रलोभनों का आक्रमण होता है। तुकाराम इस स्थिति का वर्णन अपने एक अभंग में इस प्रकार करते हैं :

असहाय, मैं धर्म कैसे जानूँ,
परमेश्वर, तुमने अपने को छुपा रखा है।
मैं बार बार पुकारता, आपके द्वार पर
पर कोई सुनता नहीं,
मानो घर में कोई नहीं।

वे भगवान् के निकट भिखारी की तरह भीख माँगने जाते हैं – भगवत्प्रेम की भीख।

तुम्हारे द्वार खड़ा मैं भिखारी,
हे प्रभु, अपने हाथों मुझे प्रेम प्रदान करो।
मुझे बार-बार निराश न करो,
तुका अनर्जितकार, बिना खरीदे माँगता है।

ईश्वर-विरह की तीव्र वेदना निम्न विख्यात अभंग में मार्मिक रूप से अभिव्यक्त हुई है :

किनारे पड़ी मछली की तरह,
जो जल के लिए छटपटाती।
अथवा आतुर नयनों से मनुष्य
छुपे धन के लिए व्याकुल होता।
उसी तरह मेरा हृदय व्याकुल हो
तुम्हें पुनः पाने के लिए पुकारता।

प्रभु, खोये शिशु की वेदना
अपनी माता को देखने की, तुम जानते हो।
आपके चरणों में जगत् का
रहस्य प्रकट है होता।
यह विचार मुझे जलाता है
कि मुझे क्यों भुला दिया गया है।
प्रभु, तुका कहता है कि
तुम मेरी असहाय अवस्था जानते हो,
मुझ पर कृपा करो।

तुकाराम चीनी चखना चाहते थे, चीनी बनना नहीं चाहते थे। वे भगवत्-संस्पर्श का आनन्द उपभोग करना चाहते थे, परमात्मा के साथ एक होना नहीं चाहते थे। अत: वे कहते हैं कि "अद्वैत मुझे नहीं भाता।" आन्तरिक पवित्रता की उपलब्धि तथा पूर्ण शरणागति के फलस्वरूप तुकाराम को भगवद्दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तथा अपने प्रभु के आनन्दमय सान्निध्य का अनुभव हुआ था। भगवान् पाण्डुरंग ने अवश्य उन्हें दर्शन दिये होंगें। क्यों कि वे कहते हैं कि "देखो, तुका कहता है, मेरे नेत्र उन्हें देख रहे हैं, वे विचारों में डूबे खड़े हैं।" उन्होंने भगवान् की अवस्थिती का अपने भीतर निरन्तर अनुभव किया, जैसा कि वे निम्न अभंग में कहते हैं :

मैंने अपने लिए एकमात्र पाण्डुरंग को
ही चुना है, और किसी को नहीं।
वे सोते, जागते, मेरे विचारों में,
मेरे हृदय में विराजते हैं।

उन्होंने अनुभव किया कि भगवान् उन्हें निरन्तर सर्वत्र परिचालित कर रहे हैं, क्योंकि उनकी इच्छा भवदिच्छा में विलीन हो गयी थी :

मेरा हाथ पकड़कर मुझे ले जाते,
मेरे सुहृद, तुम, सर्वत्र,
चलते में मैं तुम्हारा सहारा लेता,
मेरा भार, वहन करते तुम।
अत: आनन्दमय बालक की तरह
प्रभु, तुम्हारे प्रिय संसार में खेलता,
और सर्वत्र तुका, तुम्हारा
आनन्द प्रचारित करता।

अब वे प्रत्यक्ष अनुभूति से उत्पन्न विश्वास के साथ कहते हैं :

भगवान् हमारे अपने हैं,
वे आत्माओं की आत्मा हैं।
भगवान् निस्संदेह हैं
अन्दर-बाहर सर्वत्र हैं।
भगवान् करुणामय हैं,
सभी इच्छाएँ पूर्ण करेंगे।
भगवान् भक्तों की रक्षा करते हैं
दुःख और मृत्यु दूर करते हैं।
तुका कहे, प्रभु दयामय हैं,
वे योगक्षेम वहन करते हैं।

एक अन्य अभंग में तुकाराम भगवान् के निराकार स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसे भक्ति द्वारा ही जाना जा सकता है :

तुम्हारा स्वरूप वाणी और मन के परे है,
अतः मैंने प्रेम को मापदण्ड बनाया है,
जिसकी शिक्षा मैं चाहता हूँ।
अतः प्रेम के मापदण्ड से मैं अनन्त को नापूँगा,
प्रभु को पाने के लिए और कोई उपाय उपयुक्त नहीं है।

भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम द्वारा तुकाराम ने मन और इन्द्रियों के बन्धन से मुक्ति पायी। अतः वे विजय-नाद करते हुए कहते हैं :

हम प्रेम के नगाड़े बजाते हैं,
जिसके नाद से पाप काँपता है।
तुका कहे, हम विजय घोष करते हैं।

वास्तविक विजय वासनाओं पर, अपने आप पर, विजय है। उपनिषद् में इसे स्वराट् याने आत्मराज्य कहा गया है, जो आत्मानुभूति से प्राप्त वास्तविक स्वातन्त्र्य है। यह एक विचित्र सत्य है, एक विरोधाभास है कि स्वयं को खोने से, अपनी निम्न आत्मा या अहंकार के नाश से, हम वास्तविक मुक्ति प्राप्त करते हैं। अहंकार को त्यागकर हम परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। अतः तुकाराम कहते हैं :

मेरा 'स्व' अहंकार अब मर गया है,
और उसके स्थान पर 'तुम' विराजित हो।
तुका कहे, अब 'मैं' और 'मेरा' नहीं है।

एक अन्य सुन्दर अभंग में वे कहते हैं :

मेरे नेत्रों के सामने मेरा मृत 'स्व' पड़ा है,
आहा! कैसे आनन्द की बात है।

आनन्द संसार को पूर्ण किये है,
सर्वात्मा विद्यमान है।

स्वार्थपर बन्धन खुल गये हैं,
मैं अब उन्मुक्त हूँ,
जन्म-मृत्यु का क्रम बन्द हुआ,
क्षुद्र अहंकार नष्ट हुआ।

नारायण की कृपा से यह अवस्था
मुझे मिली, विश्वास से मैं यहाँ टिका।
तुका कहे, मेरा कार्य समाप्त हुआ,
अब इस सन्देश का प्रचार करूँ।

हमें आध्यात्मिक जीवन जीना सीखना चाहिये। हमें हृदय के अंतस्थल से यह समझ लेना चाहिये कि शरणागति परमात्मा के प्रति स्वयं का पूर्ण समर्पण, सभी साधनाओं में महान्तम साधना है। हमें महाराष्ट्र के सन्तों से इस आत्म समर्पण और शरणागति का रहस्य सीखना चाहिये। वस्तुतः सभी सन्तों का यही सन्देश है।

उत्तर भारत के सन्त :

भारत पर मुसलमानों के राजनैतिक आधिपत्य की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप तेरहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात करने वाले रामानन्द प्रथम महान् सन्त थे। उनका जन्म इलाहाबाद में हुआ था, लेकिन उनके पूर्वज दक्षिण भारत से आये थे। वे एक विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न बालक थे तथा कम उम्र में ही शास्त्रों में पारंगत हो गये थे। वे श्री वैष्णव सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए और उस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध नेता राघवानन्द के शिष्य हो गये। वे एक तीर्थ यात्रा पर निकले और सारे दक्षिण भारत का भ्रमण किया। लौटने पर राघवानन्द के अनुयायी साधुओं ने उन्हें पुनः अपने संघ में सम्मिलित करने से मना कर दिया क्योंकि उन्होंने सोचा कि यात्रा के दौरान संघ के कठोर, विशेषकर आहार सम्बन्धी नियमों का उन्होंने पालन नहीं किया होगा। इससे रामानन्द को कठोर आघात लगा। वे अब स्वतन्त्र रहने लगे और जाति आदि नियमों के बारे में अधिक उदार हो गये। वस्तुतः "जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।" – उनकी प्रसिद्ध उक्ति मानी जाती है।

रामानन्द बनारस में गंगा के किनारे एक कुटिया में रहते हुए कठोर तपस्या और ध्यान किया करते थे। वे दिन में चार बार कुटिया से बाहर आकर शंख बजाया करते थे। इस्लाम के वर्चस्व की चुनौती का सामना कर रही उत्तर भारतीय हिन्दू धार्मिक संस्कृति के लिए रामानन्द का आव्हान नयी आशा का सन्देश लेकर आया। दूर दूर से उनके पास शिष्य आने लगे। उनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों थे और उन्हीं में कबीर, रविदास और धन्ना जैसे महान्

सन्त एवं अनेक महिलाएँ थीं। रामानन्द ने 'राम' को परमात्मा के रूप में जाना और समग्र मानव जाति को एक परिवार समझा। उन्होंने जाति और धर्म के विभेदों को अस्वीकार किया तथा भारत में परवर्ती सदियों में हिन्दू और इस्लाम-संस्कृति के अपूर्व सम्मिश्रण का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने बहुत प्रचार कार्य किया, लेकिन उनकी कुछ ही कविताएँ अथवा साहित्य उपलब्ध है। सिखों के ग्रन्थ साहब में उनकी केवल एक कविता लिपिबद्ध है, जो उनके दृष्टिकोण की उदारता प्रदर्शित करती है।

मैं कहाँ जाऊँ? संगीत और उत्सव मेरे घर में ही हैं, मेरा हृदय चलना नहीं चाहता, मेरे मन ने अपने पंख समेट लिए हैं, और वह शान्त है। एक दिन मेरा हृदय लबालब भरा था और मैं चन्दन एवं अन्य सुगन्धित द्रव्यों को लेकर ब्रह्म की उपासना करना चाहता था। लेकिन गुरु ने यह प्रकट किया कि ब्रह्म मेरे हृदय में ही है। मैं जहाँ जाता हूँ, वहाँ जल और पत्थर (की पूजा होते) देखता हूँ। लेकिन तुम्हीं ने, प्रभु, उन सभी को अपनी सत्ता से पूर्ण कर रखा है। लोग व्यर्थ ही तुम्हें वेदों में खोजते हैं। यदि तुम यहाँ न मिलो, तब हमें तुम्हें वहाँ खोजना चाहिये। मेरे सद्‌गुरु, आपने मेरी समस्त असफलताओं और भ्रमों का अन्त कर दिया है। आप धन्य हैं। रामानन्द अपने स्वामी ब्रह्म में लीन हो गया है। गुरु का शब्द कर्म के करोड़ों बन्धनों को नष्ट कर देता है।[४]

डा. ग्रीर्सन के अनुसार रामानन्द का जन्म सन् १२९९ में तथा देहावसान सन् १४१० मे हुआ था। इस गणना के अनुसार उनकी उम्र १११ वर्ष होती है। रामानन्द उत्तरभारत के हिन्दू धार्मिक नवजागरण के सूत्रकार थे, लेकिन सहज भक्ति और सामाजिक साम्य का उनका सन्देश उत्तर भारत में मुख्यत: कबीर के भजनों के माध्यम से ही प्रसारित हुआ। कबीर के जन्म के सन् के बारे में मतभेद है। किन्तु पन्द्रहवीं सदी में जब हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे की धार्मिक आस्थाओं और आचारों के साथ तालमेल बिठाने का प्रयत्न कर रहे थे, तब उनका काफी अधिक प्रभाव पड़ा। वे बनारसवासी बुनकर मुसलमान माता-पिता के सच्चे या दत्तक पुत्र थे। ये गरीब जुलाहे पहले हिन्दू थे तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उन्हें सामाजिक दृष्टि से निम्न स्तर का समझते थे। स्वभावत: वे धार्मिक परम्पराओं और आचारों के बोझ से मुक्त थे। कबीर इस रूढ़िमुक्त समाज में बड़े हुए, जिसने उनकी सभी कविताओं को प्रभावित किया। उन्हें दर्शनशास्त्र में नियमित अध्ययन अथवा प्रशिक्षण प्राप्त नहीं हुआ था। वे विवाहित थे तथा उनके एक पुत्र और एक कन्या थी। कहा जाता है कि तुकाराम की ही तरह उनका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था। वे बुनाई का काम करते थे और तुरी या सूत्रयन्त्र चलाते हुए कविताओं की रचना किया करते थे।

बहुत समय तक उनके कोई गुरु नहीं थे। उन्होंने रामानन्द के बारे में सुना था, लेकिन

---

४. कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, खण्ड -४ , (१९६९ रामकृष्ण मिशन इन्स्टिट्युट ऑफ कल्चर, कलकत्ता) पृ. ३७९ पर उद्धृत

उन्हें भय था कि वे महान् सन्त उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे। अतएव उन्होंने एक युक्ति खोज निकाली। वे जानते थे कि रामानन्द प्रतिदिन बहुत भोर में गंगा-स्नान के लिए जाते हैं। एक दिन वे जाकर गंगा के घाट की एक सीढ़ी पर लेट गये। जब सन्त रामानन्द आये, तो वे अंधकार में कबीर को नहीं देख सके और उनका पैर उनके शरीर को छू गया। रामानन्द अचम्भित हो, घबराकर 'राम-राम' कह उठे। तत्काल कबीर उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर बोले, "गुरुदेव, आपने मुझे मन्त्र प्रदान किया है और एक गरीब मुसलमान जुलाहा होते हुए भी मुझे अपना शिष्य बना लिया है।" कबीर की भक्ति और विनम्रता का रामानन्द के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने उनको अपना शिष्य बनाया तथा आध्यात्मिक-जीवन के रहस्य उनके प्रति उद्घाटित किये।

इसके बाद कबीर ने एक भगवद्भावोन्मत्त जीवन व्यतीत किया। जीवन के सामान्य कर्तव्यादि उनके निरन्तर भगवान् के गुणगान तथा ईश्वर-स्मरण में बाधा नहीं बने। उन्हें भगवान् के दर्शनों के लिए प्रतीक्षा की वेदना सहनी पड़ी, जिसका सभी महान् साधकों को अनुभव होता है, लेकिन अन्त में उन्हें पूर्ण ज्ञानालोक प्राप्त हुआ। उनके बहुत से अनुयायियों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। उनका रूढ़ियुक्त रहन-सहन, सभी को समभाव से भगवान् के बारे में उपदेश देना तथा पुरोहितों और मुल्लाओं के धर्म के ऊपरी दिखावों की आलोचना से रूढ़िवादी मुसलमान और हिन्दू दोनों ही क्रुद्ध हो गये। उन्हें उत्पीड़ित किया गया और अन्त में बनारस से निष्कासित कर दिया गया। ऐसा कहा जाता है कि उनका अवशिष्ट जीवन अपने अनुयायियों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को भ्रमण करते हुए बीता। वे लम्बी उम्र तक जीवित रहे। ऐसा कहा जाता है कि उनकी मृत्यु के बाद उनके हिन्दू और मुसलमान अनुयायी उनकी देह की अन्त्येष्टि की पद्धति के बारे में झगड़ने लगे। लेकिन जब उन्होंने मृत देह पर से आवरण हटाया, तो उसके नीचे केवल पुष्पों का ढेर ही पाया।

कबीर के भजनों में एक प्रबल नैतिक पुट है। वे जीवन की सरलता, शारीरिक श्रम और मानव की समता को महत्त्व देते हैं और धार्मिक कट्टरता की खुले शब्दों में निन्दा करते हैं। अपने गुरु रामानन्द की तरह उन्होंने भी भगवन्नाम के जप को बहुत महत्त्व दिया, जिसे वे भगवान् से अभिन्न मानते थे। उनके लिए भगवान् सर्वव्यापी परमात्मा था, जो सभी प्राणियों के भीतर है तथा सभी रूपों से परे भी है। साथ ही, भगवान् जीव का चिरन्तन प्रियतम भी है, जो उनके प्रति विशुद्ध प्रेम के द्वारा ही जाना जा सकता है। उनके लिए क्रिया-अनुष्ठान और दर्शन-शास्त्र का कोई मूल्य नहीं था। उनके लिए राम और रहीम का एक ही अर्थ – परमात्मा, था। उन्होंने मन्दिरों में मूर्तियों की अन्ध-उपासना तथा मस्जिदों की खोखली भक्ति की निन्दा की। प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय की गहराई में भगवान् को खोजना चाहिये। अपनी एक कविता में वे कहते हैं :

यदि अल्लाह केवल मस्जिद में ही रहता है, तो
बाकी सारा देश किसका है?

हिन्दू कहते हैं कि भगवान् मूर्ति में हैं,
मुझे दोनों में सत्य नहीं दिखता।
हे भगवान्, तुम अल्लाह हो या राम, मैं तुम्हारे नाम
से ही जीता हूँ, मुझ पर कृपा करो।
हरि दक्षिण में है, अल्लाह पश्चिम में।
हृदय में खोजो, तो हृदय के अन्तस्तल
में उनको विराजित पाओगे।

कबीर ने भगवान् के निरन्तर स्मरण को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। निम्न भजन में हम उनकी साधना तथा अनुभूति की झलक पाते हैं :

साधो सहज समाधि भली।
गुरुप्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली॥१॥
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा॥२॥
कहों सो नाम, सुनौं सो सुमिरन, खावौं-पिवौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥३॥
आँख न मूदौं, कान न रूधौं, तनिक कष्ट न धारौं।
खुले नैन पहिचानों हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥४॥
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कब हूँ न छूटै, ऐसी तारी लागी॥५॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख सुख से कोई परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥६॥

कबीर के भजन जन-साधारण में फैल गये और वास्तविक आध्यात्मिक जीवन के मर्म को समझने में उनके सहायक हुए। उनका स्वयं का ईश्वर प्रेम में विभोर सहज जीवन हजारों लोगों के लिए आदर्श बन गया। उनमें हिन्दू और मुसलमानों को मिलन का एक सामान्य केन्द्र मिला। उनकी कविताओं ने समग्र उत्तर भारत में लोगों के सामाजिक दृष्टिकोण तथा धार्मिक-आस्थाओं पर गहरा प्रभाव विस्तार किया। उस प्रभाव का विस्तार और गहराई दक्षिण भारत में जाने पर ही समझ में आती हैं, जहाँ हमें भिन्न प्रकार की संस्कृति एवं सामाजिक दृष्टिकोण दिखाई देते हैं।

रामानन्द के एक अन्य महान् शिष्य और कबीर के समकालीन, लेकिन उनसे उम्र में बड़े, बनारस के मोची सन्त रविदास (या रैदास) थे। कबीर ही की तरह उन्होंने भी गृहस्थ जीवन यापन किया और अपनी जीविका मेहनत पूर्वक, मोची का काम – जो हिन्दू समाज में नीचतम पेशा समझा जाता है – करते हुये कमाई। कबीर के विपरीत उनका पारिवारिक जीवन शान्तिपूर्ण और सुखद था और उनकी कविताओं में हमें कोई कटु आलोचना देखने

में नहीं आती। उनके भजन एक अत्यन्त सुसंस्कृत मन को प्रकट करते हैं, जो निरन्तर भगवत्प्रेम में निमग्न था। दीन-हीन मोची होते हुए भी उनकी साधुता की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी और उनके बहुत से अनुयायी हो गये। उनका जीवन और उपदेश उत्तर भारत में लाखों लोगों के लिए, विशेषकर तथाकथित निम्न जाति के लोगों तथा गरीबों के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। उनके अनुयायियों का उत्तर भारत में 'रै-दासी' नामक एक पृथक् वैष्णव सम्प्रदाय है और इस सम्प्रदाय के सदस्यों की संख्या रामानन्दी और कबीरपन्थियों के बाद सबसे बड़ी है।

इसी प्रकार की धार्मिक मनोवृत्ति और विचारधारा वाले उत्तर भारत के अन्य महान् सन्त सिख धर्म के संस्थापक नानक थे। उनका जन्म पंजाब के लाहौर नगर के निकट एक ग्राम में एक खत्री परिवार में हुआ था। उनके पिता एक किसान तथा गाँव के खजाञ्ची थे। बाल्यावस्था में उन्हें पाठशाला भेजा गया, जहाँ उन्होंने हिन्दी, प्रादेशिक भाषा तथा फारसी का अच्छा ज्ञान हासिल कर लिया। बाल्यकाल से ही उनमें गहरी धार्मिक अभिरूचि थी तथा वे ध्यान किया करते थे। उनकी इस संसार से विरक्ति के भाव को देख कर उनके पिता ने उन्हें खेती के काम की देखरेख में तथा थोड़ा बहुत व्यापार में भी लगाया। लेकिन नानक का समग्र मन-प्राण आध्यात्मिक विषयों में लगा हुआ था और पिता की निषेधाज्ञाओं के बावजूद वे अधिकाधिक समय ध्यान-धारणा में लगाने लगे।

बड़े होने पर उनका विवाह हुआ और उनके दो सन्तानें हुईं। लेकिन वे सांसारिक बातों में अधिक ध्यान नहीं देते थे तथा अधिकांश समय जंगलों में अथवा एकान्त में व्यतीत किया करते थे। उनके रिश्तेदारों ने उस जिले के मुसलमान प्रशासक के नीचे उन्हें नौकरी दिलवा दी। यहीं उनके अभिन्न सेवक व साथी मरदाना की उनसे भेंट हुई। कुछ अन्य लोगों के साथ ये दोनों अपने अवकाश का समय भजन में बिताया करते थे। आखिरकार नानक ने संसार त्याग दिया, अपनी सम्पत्ति गरीबों में बाँट दी और मरदाना के साथ उत्तर भारत में एकान्त स्थानों में ध्यान करते तथा सन्तों का सान्निध्य लाभ करते परिभ्रमण करने लगे। यह सम्भव है कि उनपर कबीर की कविताओं का तथा दक्षिण भारत के धार्मिक नवजागरण का गहरा प्रभाव पड़ा हो। ऐसा कहा जाता है कि नानक मक्का भी आये थे तथा अरब राष्ट्रों के मुसलमान धर्माचार्यों से भी उनके वार्तालाप हुए थे। बारह वर्षों की लम्बी अनुपस्थिति के बाद वे पंजाब लौट आये। इसी समय महान् मुगल विजेता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया। ऐसी मान्यता है कि नानक ने सम्राट को काफी प्रभावित किया, जिससे वे कैदियों के प्रति दया का व्यवहार करें।

जीवन के अन्तिम दिनों में नानक ने तपस्वियों का लिबास त्याग दिया और परिवार के साथ रहने लगे। उनकी धार्मिक-ख्याति चारों ओर फैल गयी और लोग उनके दर्शनों के लिए तथा उनके सामूहिक भजनों में सम्मिलित होने के लिए बड़ी संख्या में आने लगे। उनके द्वारा लायी जाने वाली भेंटें गरीबों की सेवा में व्यय की जाती थीं। कबीर की तरह नानक ने

एक निराकार लेकिन सगुण ईश्वर (में विश्वास) का उपदेश दिया, जिसे वे हरि कहते थे। उनकी ही तरह वे चित्तशुद्धि को शास्त्र-ज्ञान से अधिक महत्त्व देते थे। दोनों ने जातिभेद की निन्दा की तथा लोगों को सहज जीवन व्यतीत करने कि लिए प्रोत्साहित किया। नानक ने भगवन्नाम के जप को बहुत महत्त्व दिया। वृद्धावस्था में उन्होंने जपजी नामक एक बृहत् काव्य की रचना की, जिसकी आवृत्ति प्रत्येक धार्मिक सिख प्रतिदिन प्रातःकाल करता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं।

सर्वव्यापी, स्रष्टा, घृणा-भय-रहित, जन्ममृत्युरहित, स्वयम्भू ईश्वर का सत् नाम ओम् है। भगवान् सत् हैं, उनका नाम भी सत् है। प्रेमपूर्ण हृदय से जप करने से, जो भी व्यक्ति उनसे जो कुछ चाहेगा, वह उसे प्राप्त होगा। उसके बदले हम क्या दें कि हम उनके सामने जा सकें? अपने ओठों से क्या बोले? जिसे सुनकर वे हम से और प्रेम करें? नानक कहे, वे उन्हीं की दैवी कृपा से जाने जाते हैं; जो दूसरे उपाय का दावा करते हैं, वे मूर्ख, बकवासी और झूठे हैं।"

नानक का एक और सुन्दर भजन है, जो स्वामी विवेकानन्द अपने गुरु श्रीरामकृष्ण को सुनाया करते थे। कहानी इस प्रकार है कि जब नानक पुरी स्थित जगन्नाथजी के मन्दिर में आरती देखने के लिए जाना चाहते थे, तो पुजारियों ने अनुमति नहीं दी। अतएव उन्होंने मन्दिर के बाहर बैठकर निम्नोक्त भजन गाया :

गगन में थालु रविचन्दु दीपक बने,
तारिका मण्डल जनक मोती।
धुपु मलयानलो पवणु चँवरो करे,
सगल बनराइ फूलन्त जोती।।
कैसी आरती होइ भवखण्डना तेरी आरती,
अनहता सबद बाजन्त भेरी।।
सहस तव नैन नन नैन हहि तोहि कउ,
सहस मूरति नना एक तो ही।।
सहस पद विमल नन एक पद गंध बिनु,
सहस तव गंध इव चलत मोही।
सभ महि जोति ज्योति है सोई,
तिसदे चानणि सभ महि चनणु होई।।
गुरु साखी जोति परगटु होई,
जो तिसु भावे सु आरती होई।
हरिचरण मकरन्द लोभित मनो,
अन दिनों मोहिं आही पिआसा।।
कृपाजल देहि 'नानक' सारिंग कउ,
होइ जाते तेरे नाउ वासा।।

नानक का जीवनयापन व देहावसान एक महान् हिन्दू सन्त की तरह हुआ। लेकिन उनकी मृत्यु के तत्काल बाद उनके अनुयायी सिख गुरुओं के नेतृत्व में हिन्दू धर्म से पृथक हो गये और 'सिख-धर्म' नामक एक नये धर्म की सृष्टि की। पंजाब और भारत के सीमावर्ती राज्यों में नानक का जीवन्त प्रभाव आज तक बना हुआ है।

अब हम सोलहवीं शताब्दी के महान् सन्त तुलसीदास की चर्चा करेगें, जिनकी रचना 'रामचरितमानस' समस्त उत्तर तथा मध्य भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली पुस्तक है। देश के इन भागों में शायद ही ऐसा कोई घर होगा, जहाँ इस महान् पुस्तक की प्रति न हो। पिछले तीन सौ वर्षों में इस पुस्तक ने भारत के लाखों-करोड़ों लोगों के आध्यात्मिक और नैतिक-जीवन को दिशा प्रदान की है। गाँव के पण्डितों अथवा परिव्राजक साधुओं द्वारा किये जा रहे 'रामचरित-मानस' के पाठ और व्याख्या को मन लगाकर सुनते हुए लोगों के झुण्डों का दृश्य सारे उत्तर भारत में अत्यन्त सामान्य है।

तुलसीदास का जन्म सन् १५३२ ईस्वी में उत्तर प्रदेश के किसी अज्ञात ग्राम में हुआ था। कहा जाता है कि जन्म लेते ही बालक के मुख से 'राम' का उच्चारण हुआ। इसे एक अशुभ लक्षण समझकर मूर्ख माता-पिता ने बालक को त्याग दिया। नरहरदास नामक सन्त ने स्वयं भगवान् के आदेश से उन्हें उठा लिया। बाद में तुलसीदास ने अपने गुरु तथा पालन करने वाले पिता को अपने हृदय से श्रद्धांजलि प्रदान की।

बन्दउँ गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकर।।

अर्थात् मैं उन गुरु महाराज के चरण कमल की वन्दना करता हूँ, जो कृपा के समुद्र और नर रूप में श्रीहरि ही हैं। और जिनके वचन महामोह रूपी घने अन्धकार के नाश के लिए सूर्य किरणों के समूह हैं। (रामचरित मानस, बालकाण्ड सोरठा सं. ५) उन्होंने शेष-सनातन नामक एक अन्य साधु से पन्द्रह वर्ष तक वेद और वेदान्त की शिक्षा प्राप्त की।

तुलसीदास ने रत्नावली से विवाह किया और उनके एक पुत्र हुआ। वे अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त थे। एक दिन घर लौटने पर उन्हें पता चला कि वह मैके चली गयी है। उसके लिए आतुर हो वे बिना बुलाये ससुराल पहुँच गये। जब वहाँ वे अपनी पत्नी से मिले तो वह उनकी इस अस्वाभाविक आसक्ति के लिए नाराज हुई और बोली : "हाड़-माँस से निर्मित मेरी इस देह के प्रति तुम्हारा बहुत अधिक प्रेम हैं। यदि इसका आधा प्रेम भी तुम 'राम' के प्रति करते; तो सांसारिक कठिनाईयों से तुम्हें छुटकारा मिल जाता और तुम मुक्त हो जाते।" इन तीखे किन्तु विवेकपूर्ण शब्दों से तुलसीदास को नया आलोक प्राप्त हुआ। उन्हें संसार तथा सांसारिक सम्बन्धों की अनित्यता का तथा राम रूप से अभिव्यक्त परमात्मा की सत्यता का भान हो आया। परिणाम स्वरूप उन्होंने संसार त्याग दिया और रामेश्वर, द्वारका, पुरी और बद्रिकाश्रम – इन चार धामों की यात्रा समाप्त कर वाराणसी में रहने लगे। उन्होंने और भी कुछ छोटी-मोटी यात्राएँ कीं, लेकिन अन्त में वे सदा वाराणसी में ही लौट

आते थे। अब वाराणसी में उनका समग्र मन-प्राण राम के प्रति आकृष्ट हुआ और वे उनके दर्शनों के लिए व्यग्र हो उठे। ऐसा कहा जाता है कि परम रामभक्त हनुमान की कृपा से उन्हें अपने हृदयनाथ प्रियतम (राम) के अनेक बार दर्शन हुए। एक बार भगवान् घोड़े पर सवार युवराज के रूप में तुलसीदास के समक्ष आये थे। कहा जाता है कि इस दर्शन से तुलसीदास की बाह्य-चेतना पूरी तरह से जाती रही और वे तीन दिन तक भावसमाधि में डूबे रहे। एक बार उन्होंने सरयू के किनारे मित्रों के साथ खेलते हुए युवराज के मोहक रूप को देखा था।

वृन्दावन में, यह जानकर कि तुलसीदास रामभक्त हैं, एक कट्टर कृष्णभक्त ने उन्हें कहा : "श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं, राम तो केवल अंशावतार हैं।" यह सुनकर तुलसीदास ने अपनी अप्रतिम भाषा में कह; "मेरा हृदय तो दशरथ के पुत्र के प्रति ही प्रेमपूर्ण था और मैं उनके अपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध था। अब जब आपने उनके दैवी-स्वरूप के बारे में बता दिया है, तो मेरा प्रेम (उनके प्रति) बीस-गुना अधिक हो गया है।"

भगवान् ने तुलसीदास को रामभक्ति के प्रचार का यन्त्र बनाया। समय आने पर उन्हें यह अनुभूति हुई कि दशरथ के पुत्र के रूप में जन्म लेने वाले (राम) परमात्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है। उनकी भगवद्-अनुभूतियों ने उन्हें लोगों के प्रति प्रेम और सहानुभूति से पूर्ण कर दिया और वे दूसरों में स्वयं उपलब्ध धन्यता और आनन्द का, वितरण करने के लिए लालायित हो उठे। इसका प्रमाण हम उनके जीवन की कुछ घटनाओं में, लेकिन विशेषकर अमर रामचरितमानस सहित उनकी रचनाओं में पाते हैं। उनकी दूसरी सबसे महान् कृति 'विनय-पत्रिका' की रचना, जिन परिस्थितियों में हुई, वही उनके भगवत्प्रेम से उमड़ते हृदय की द्योतक है।

एक बार एक हत्यारा वाराणसी आया और चिल्लाया, "राम की भक्ति के नाम पर मुझ हत्यारे को भिक्षा दान दो।" अपने प्रिय राम का नाम सुनकर तुलसीदास ने उस व्यक्ति को अपने घर बुलाया और प्रसाद देकर उसे पवित्र घोषित कर दिया। वहाँ के रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने उनसे पूछा कि हत्यारे के पापों का प्रक्षालन किस प्रकार हुआ है? तुलसीदास ने कहा, "अपने ही शास्त्रों में पढ़िये और भगवन्नाम की महिमा का पता लगाईए।" इससे ब्राह्मण-गण सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने और अधिक प्रमाण चाहा। उन सभी ने यह निश्चय किया कि विश्वनाथ मन्दिर का पवित्र साँड़ यदि हत्यारे के हाथ से खावे, तो वे तुलसीदास की बात मान लेंगे। उस व्यक्ति को विश्वनाथ मन्दिर ले जाया गया और साँड़ा ने उसके हाथ से खाया भी। तुलसीदास ने यह सिद्ध कर दिया कि आन्तरिक अनुशोचना या पश्चात्ताप को भगवान् स्वीकार करते हैं। लेकिन एक नयी समस्या पैदा हो गयी। पाप का प्रतीक कलि, तुलसीदास को खा जाने की धमकी देने लगा। तुलसीदास ने हनुमानजी से प्रार्थना की, जिन्होंने स्वप्न में दर्शन देकर उन्हें इन पापों से छुटकारा पाने के लिए श्रीराम के सामने आवेदन करने की सलाह दी। इस तरह विनय पत्रिका की रचना हुई।

अपने पूर्वगामी रामानन्द के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए तुलसीदास ने भी अपनी

रचनाएँ जनसाधारण के कल्याण के लिए हिन्दी में लिखी। इस पर संस्कृत विद्वानों ने उनकी आलोचना की। एक दिन संस्कृत ज्ञानाभिमानी एक पण्डित उनके पास आया और उनसे कहा : "महाशय, आप संस्कृत के विद्वान हैं, फिर भी यह महाकाव्य आप प्राकृत-भाषा में क्यों लिख रहे हैं?" तुलसीदास ने उत्तर दिया, "लोकभाषा का मेरा उपयोग अशुद्ध हो सकता है, लेकिन वह तुम्हारे संस्कृत-पण्डितों के 'नायिका-वर्णनों' से श्रेष्ठतर है।" पण्डित ने उनके कथन का स्पष्टीकरण चाहा। तुलसीदास ने कहा, "यदि तुम्हें रत्नजटित विषपात्र और मिट्टी का बना अमृत-कलश प्राप्त हो, तुम किसे स्वीकार करोगे?"

अपनी प्रसिद्ध रामचरितमानस की प्रस्तावना में तुलसीदास हिन्दी भाषा के चयन का समर्थन करते हुए कहते हैं :

भाग छोट अभिलाष बड़ करऊँ एक बिस्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास।।
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।।
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागि हि फीकी।
हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की।।

अर्थात् "मुझे एक विश्वास है कि इसे सुनकर सज्जन सभी सुख पायेंगे और दुष्ट हँसी उड़ायेंगे।। ... प्रथम तो यह भाषा की रचना है, दूसरे मेरी बुद्धि भोली है; इससे यह हँसने योग्य ही है, हँसने में उन्हें कोई दोष नहीं। जिन्हें न तो प्रभु के चरणों में प्रेम है और न अच्छी समझ ही है, उनको यह कथा सुनने में फीकी लगेगी। जिनकी श्री हरि हर के चरणों में प्रीति है और जिनकी बुद्धि कुतर्क करने वाली नहीं है, उन्हें श्रीरघुनाथजी की यह कथा मीठी लगेगी।।"

एक बार कुछ चोर तुलसीदास के घर में घुस आये। उन्होंने एक साँवले युवक को हाथ में धनुष-बाण लेकर पहरा देते देखा। वे जिस ओर भी जाते, पहरेदार उनकी ओर मुड़ जाता और उन्हें दण्ड देने की धमकी देता। वे भयभीत हो गये। चोरों को और भी कुछ दिखा या अनुभव हुआ होगा। दिन होने पर वे तुलसीदास के पास आये और पूछा, "महाशय, आपका यह साँवले रंग का युवक कौन है?" यह सुनकर तुलसीदास अभिभूत हो गये। वे समझ गये कि स्वयं भगवान् ने पहरेदार का रूप धारण किया था। उन्होंने अपना सर्वस्व उन चोरों को दे दिया। अब, भगवान् राम का दर्शन पाकर तथा तुलसीदास के चमत्कारिक स्पर्श से स्वयं चोर भी आध्यात्मिक भावापन्न हो गये। उन्होंने सन्त से मन्त्रदीक्षा प्राप्त की और भगवान् में मन लगाकर पवित्र जीवन यापन करने लगे।

एक बार तुलसीदास ने एक घर में शरण ली। वे जब अपना भोजन पकाने लगे, तो गृहिणी ने कुछ मसाले देने चाहे। इसके उत्तर में तुलसीदास ने कहा कि वे उनके झोले में हैं। तब उसने और कुछ निवेदन किया और उन्होंने पुनः कहा कि वह भी उनके पास है, तो महिला ने कहा, "बाबाजी, तुम्हारे झोले में इतनी सारी चीजें हैं, केवल अपनी धर्मपत्नी के

लिए कोई स्थान नहीं है।" वह महिला कौन थी? यह उनकी वही पत्नी थी, जिसके शब्दोंने उनके जीवन को परिवर्तित कर दिया था। उसने उन्हें पहचान् लिया, लेकिन सन्त ने उसे नहीं पहचाना और उसे एक अजनबी ही समझा।

अन्य बहुत-सी घटनाएँ यह बताती हैं कि भगवत्-साक्षात्कार उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य था तथा वे चाहते थे कि दूसरे भी अपने समग्र देह, मन और प्राण से उसके लिए प्रयत्न करें।

कहा जाता है, कि बादशाह जहांगीर* तुलसीदास का प्रशंसक था। एक दिन उसने सन्त को बहुत-सा धन देने की इच्छा व्यक्त की। तुलसीदास ने उत्तर दिया, "भगवान् की भक्ति करने वाले को कभी धन-सञ्चय नहीं करना चाहिये। धन का चिन्तन और उसके साथ जुड़ी चिन्ताएँ मन को कलुषित कर देती हैं और मन भगवान् के चिन्तन के योग्य नहीं रहता।"

एक अन्य अवसर पर जहांगीर ने कहा, "स्वामीजी, हमारा मन्त्री बीरबल बहुत बुद्धिमान् है।" तुलसीदास ने कहा, "हाँ, यह हो सकता है। लेकिन यदि इस बहुमूल्य किन्तु अनित्य देह को पाकर भी वह भगवत्साक्षात्कार के लिए प्रयत्न नहीं करता, तो उससे बड़ा मूर्ख और कोई नहीं है। प्रत्युत्तर में सफल होना, जैसा कि वह है, बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। भगवत्साक्षात्कार में ही बुद्धिमानी निहित है।"

महाराजा मानसिंह, उनके भाई और अन्य राजागण तुलसीदास के पास जाया करते थे तथा उनका बहुत सम्मान करते थे। एक बार एक व्यक्ति ने सन्त से पूछा, क्या कारण है कि आजकल इतने बड़े-बड़े लोग उनके दर्शनों के लिए आते हैं, जब कि पहले कोई नहीं आता था। तुलसीदास ने उत्तर दिया, "एक समय था, जब भिक्षा में मुझे एक कानी कौड़ी भी नहीं मिलती थी। तब कोई भी मुझे नहीं चाहता था। लेकिन गरीबनवाज़ राम ने मुझे बहुमूल्य बना दिया है। पहले मैं द्वार-द्वार भिक्षा माँगता था। अब राजा-महाराजा मेरा चरण-वन्दन करते हैं। पहले मैं बिना राम था, अब राम मेरे सहाय हैं।"

विनय-पत्रिका में तुलसीदास माया की निद्रा से स्वयं के जागरण की चर्चा करते हैं और आध्यात्मिक जीवन यापन का अपना निश्चय व्यक्त करते हैं :

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
रामकृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरिन डसैहौं।।१।।
पायेउँ नाम चारू चिन्तामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं।।२।।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं।।३।।

---

* मूल अंग्रेजी में जहांगीर का उल्लेख है, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से उसके स्थान पर अकबर होना अधिक उपयुक्त है।

अर्थात्, "अब तक तो (यह आयु व्यर्थ ही) नष्ट हो गई, परन्तु अब इसे नष्ट नहीं होने दूँगा। श्रीराम की कृपा से संसार (माया) रूपी रात्रि बीत गयी है, अब जागने पर फिर (माया का) बिछौना नहीं बिछाऊँगा।।१।। मुझे रामनाम रूपी सुन्दर चिन्तामणि मिल गयी है। उसे अपने हृदय रूपी हाथ से कभी नहीं गिरने दूँगा। श्रीरघुनाथजी का जो पवित्र श्याम सुन्दर रूप है उसे कसौटी बनाकर अपने चित्तरूपी सोने को कसूँगा।।२।। जब तक मैं इन्द्रियों के वश में था, तब तक उन्होंने मेरी बड़ी हँसी उड़ायी, परन्तु अब स्वतन्त्र होने पर यानी मन इन्द्रियों को जीत लेने पर उनसे अपनी और हँसी नहीं कराऊँगा। अब तो अपने मन रूपी भ्रमर को प्रण करके श्रीरामजी के चरणकमलों में लगा दूँगा।।" (विनय पत्रिका - १०५)

एक अन्य अपूर्व प्रार्थना में वे भगवान् के नाम में अपना महान् विश्वास व्यक्त करते हैं :

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो।।१।।
करम उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो।
मोहि तो 'सावन के अन्धहि' ज्यों सूझत रंग हरो।।२।।
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो।।३।।
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय बाप दो आखर हौं सिसु-अरनि अरो।।५।।
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो।।६।।

अर्थात्, "जिसे दूसरे का भरोसा हो, सो करे। मेरे लिए तो इस कलियुग में एक रामनाम ही कल्पवृक्ष है, जिसमें कल्याणरूपी फल फला है।।१।। यद्यपि कर्म, उपासना और ज्ञान ये वैदिक सिद्धान्त सभी प्रकार से सच हैं, किन्तु मुझे तो, सावन के अन्धे की भाँति, जहाँ देखता हूँ, वहाँ हरा-ही-हरा दीखता है (एक राम नाम ही सूझ रहा है)।।२।। मैं कुत्ते की तरह (अनेक जूठी) पत्तलों को चाटता फिरा, पर कभी मेरा पेट नहीं भरा। आज मैं नामस्मरण करने से अमृत रस परोसा हुआ देखता हूँ।।३।। जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है, (इसी सिद्धान्त के अनुसार) मेरे तो माँ-बाप ये दो अक्षर – 'र' और 'म' – हैं। मैं तो इन्हीं के आगे बालहठ से अड़ रहा हूँ, मचल रहा हूँ।।५।। यदि मैं कुछ भी छिपाकर कहता होऊँ तो भगवान् शिवजी साक्षी हैं, मेरी जीभ जलकर या गलकर गिर जाये। यही समझ में आया कि अपना कल्याण एक राम-नाम से ही हो सकता है।।६।।" (विनय पत्रिका-२२६)

तुलसीदास निम्नोक्त प्रार्थना करते हुए विशुद्ध भक्ति को अभिव्यक्त करते हैं :

और मोहि को है, काहि काहिहौं?
रंक-राज ज्यों मन को मनोरथ, केहि सुनाइ सुख लहिहौं॥१॥
जम-जातना, जोनि-संकट सब सहे दुसह अरू सहि हौं।
मोको अगम, सुगम तुमको प्रभु, तउ फल चारि न चहि हौं॥२॥
खेलिबे को खग-मृग, तरु-कंकर है रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सचु, या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥३॥
इतनी जिय लालसा दास के, कहत पानही गहिहौं।
दीजे बचन कि हृदय आनिये 'तुलसी को पन निर्बहिहौं'॥४॥

अर्थात् हे नाथ! मेरा दूसरा कौन है, मैं और किससे कहूँगा? मेरे मन की कामना रंक से राजा होने जैसी है। वह मनोरथ किसे सुनाकर सुख प्राप्त करूँ?॥१॥ यम-यातना एवं अनेक योनियों में दारुण दुःख सहे हैं और सहूँगा। हे प्रभो। मुझे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की भी लालसा नहीं है – यद्यपि मेरे लिए ये दुर्लभ हैं, पर तुम चाहो तो इन्हें सहज में ही दे सकते हो॥२॥ हे रामजी! मैं तो तुम्हारे हाथ के खिलौने के रूप में पक्षी, पशु, वृक्ष और कंकर-पत्थर होकर ही रहना चाहता हूँ। इस नाते से मुझे (घोर) नरक में भी सुख है और इसके बिना मैं मोक्ष पाकर भी दुःख से जलता रहूँगा॥३॥ इस दास के मन में बस एक यही कामना है कि यह सदा तुम्हारी जूती पकड़े रहे। या तो मुझे वचन दे दो (कि हम तेरी यह कामना पूरी कर देंगे) अथवा इस बात को मन में निश्चय कर लो कि हम तुलसी का यह प्रण निबाह देंगे॥४॥ (विनय पत्रिका - २३१)

अब हम तुलसीदास की प्रसिद्ध कृति 'रामचरितमानस' पर आते हैं। यह वाल्मिकि की महान् कृति रामायण पर आधारित होते हुए भी, उसका अनुवाद मात्र नहीं है। यह अध्यात्म-रामायण से अधिक मिलता-जुलता है जो एक भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है। रामचरित-मानस में शिव स्वयं अपनी अर्धांगिनी पार्वती से रामकथा कहते हैं। मानस-सरोवर शिवजी के वास स्थान कैलाश के निकट एक महान् सरोवर है। रामचरित – राम की कथा – शिवजी के मन में कल्पित एक सरोवर के समान है। यह सरोवर उस समय तक शिवजी के मन में छुपा रहा, जब तक पार्वती ने राम के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न पूछकर उसे मानव कल्याण के लिए प्रवाहित नहीं किया। लेखक तुलसीदास ने रामायण में रामकथा के अतिरिक्त उपनिषदों, गीता, भागवत् तथा अन्य शास्त्रों से महत्वपूर्ण अंशों का अनुवाद सन्निविष्ट किया है। इस तरह उन्होंने संस्कृत भाषा में आवृत महान् सत्यों को हिन्दी-भाषी जन साधारण एवं उच्च वर्ग, दोनों प्रकार के लोगों के लिए – सुलभ बनाया। वाल्मीकि के अवतार समझे जाने वाले तुलसीदास शुद्ध भक्ति और मानवीय भावों की अभिव्यक्ति में वाल्मीकि से आगे निकल गये हैं।

रामचरितमानस का प्रारम्भ शिव-पार्वती-संवाद से होता है। पार्वती पूछती हैं :

"हे प्रभो! सत्य को जानने वाले सन्तजनों का कथन है कि राम अजन्मा ब्रह्म हैं; क्या

ये वही राम हैं, जो अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र हैं या वे अजन्मा, निर्गुण, अलख अन्य कोई हैं? यदि वे (राम) राजपुत्र हैं, तो वे ब्रह्म कैसे हो सकते हैं?''

(प्रभु जे मुनि परमारथवादी, कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी। ...
राम सो अवध-नृपति सुत होई। की अज अगुन अलख गति कोई।।
जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि ...।।) - रामचरितमानस बालकाण्ड

शिवजी उत्तर में कहते हैं :

''हे पार्वती! निर्गुण और सगुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं है ... वह जो निर्गुण, निराकार और अलख है, वही भक्तों के प्रेम वश साकार रूप धारण करते हैं।''

(सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा, गावहि मुनि पुरान बुध वेदा। ...
अगुन अरूप अलख अज जोई भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।)

- रामचरितमानस बालकाण्ड

तुलसीदास के अनुसार वह परमात्मा जो राम रूप धारण करते हैं, सर्वत्र अभिव्यक्त हैं। बालकाण्ड में वे कहते हैं :

''जगत के समस्त जड़ चेतन को राम से परिपूर्ण जानकर, राममय जानकर, मैं सभी के चरण कमलों में हाथ जोड़कर प्रणाम् करता हूँ।''

(जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बन्दऊँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि।।)

तुलसीदास घोषणा करते हैं :

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी।।
सो माया बस भयऊ गोसाईं। बंध्यो कीर मरकट की नाईं।।
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी।।
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

अर्थात्, 'जीव ईश्वर का अंश है और अविनाशी है। वह स्वभाव से ही चेतन, पवित्र और आनन्दमय है। वही माया के वशीभूत होकर तोते और बन्दर के समान बँध गया है। अभिमानी जीव माया के वशीभूत है और त्रिगुणमयी (गुणों की खान) माया परमात्मा के आधीन है।''

जीव को किस पथ का अनुसरण करना चाहिये? एक सच्चे भक्त के समान तुलसीदास भक्ति को प्राथमिकता देते हैं :

''ज्ञान का पन्थ कृपाण की धार के समान तीक्ष्ण है, जिस पर चलने वाला जरा-सी चूक से पथच्युत हो जाता है। ... किन्तु जन्म-मरण रूपी चक्र (संसृति) के मूल कारण अविद्या (प्रमाद) का नाश भक्तिद्वारा बिना विशेष प्रयास के सहज ही हो जाता है।''

(ज्ञान पन्थ कृपाण कै धारा। परत खगेस होहि नहि बारा।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा।।)

तुलसीदास के अनुसार भगवन्नाम का जप सबसे प्रमुख साधना है। "भगवान् का 'राम' नाम इस कलियुग में भक्तों के सभी मनोरथ पूर्ण करता है। वह महान् पाप को नष्ट करता है और विष को भी अमृत बना देता है।"

वे कहते है : "मैं राम नाम को प्रणाम् करता हूँ, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव के सदृश है, वेदों की आत्मा तथा अतुलनीय है।"

भक्तिमार्ग की अन्तिम सीढ़ी है – परमात्मा के प्रति जीव का आत्मसमर्पण। हम सामान्य जन अपने अहंकार को अपने जीवन का, अपने चिन्तन और क्रियाओं का केन्द्र बनाते हैं। इससे भिन्न, भक्त, भगवान् को केन्द्र बनाता है। वह स्वयं को देह, मन और आत्मा सहित परमात्मा को समर्पित करता है। अहंकार के नष्ट होने पर परमात्मा स्वयं को प्रकट करते हैं और भक्त को उनके साथ उस के चिर सम्बन्ध का अनुभव प्रदान करते हैं। भक्त के रूप में वह भगवान् का दीन सेवक है। जीव के रूप में वह परमात्मा का नित्य अंश है। ठीक यही तुलसीदास के साथ हुआ। उन्होंने यह अनुभव किया कि जो दशरथ का बेटा है वही समस्त प्राणियों की आत्मा भी है।

रामानन्द, कबीर या नानक जैसे अन्य महान् धार्मिक नेताओं की तरह तुलसीदास ने किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की।

श्रीराम के व्यक्तित्व को चरम आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना, हिन्दुओं में नया विश्वास और आशा का संचार करना और बारम्बार के मुगल आक्रमण से दुर्बल हुए तथा असंख्य जातियों में बँटे देश में भावनात्मक एकता और संहति स्थापित करना, तुलसीदास की महान्तम उपलब्धियाँ थीं।

उत्तर भारत में मध्ययुग में दो भक्ति धाराएँ प्रवाहित हुई थीं। एक राम की उपासना और दूसरी कृष्ण की उपासना पर आधारित थी। अब तक हमने जिन सन्तों का विवेचन किया है, वे सब राम-उपासक थे। श्रीकृष्ण की उपासना से सम्बन्धित आन्दोलन निम्बार्क नामक वैष्णव आचार्य के द्वारा तेरहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। लेकिन वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१) के आविर्भाव पर ही वह पन्द्रहवीं सदी में बलवान् और प्रभावशाली बना। बल्लभ ने कृष्ण को परमेश्वर बताया। उनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाता है क्यों कि उसमें जीव और परमात्मा को स्वरूपत: एक और अभिन्न माना गया है। दोनों ही शुद्ध, चित् और सत् स्वरूप हैं। दोनों में अन्तर यह है कि जीव में आनन्द अंश आवृत रहता है जबकि परमात्मा में वह पूर्ण रूप से अभिव्यक्त रहता है। वल्लभ का कृष्ण-केन्द्रित धर्म उनके देहावसान के बाद बड़ी शीघ्रता से भारत के पश्चिमी प्रदेशों में समाज के सभी स्तरों में, विशेषकर व्यापारी और कृषकों में फैल गया। आजकल वह गुजरात और राजस्थान का प्रमुख धर्म है।

जिन दो महान सन्तों ने कृष्ण-भक्ति पर आधारित सम्प्रदायों को लोकप्रिय बनाया तथा जो तुलसीदास के लगभग समकालीन थे, वे हैं सूरदास (१४७९-१५८४) और मीराबाई (१५४७-१६१४)। इन दोनों में सूरदास को वल्लभाचार्य का शिष्य माना जाता है। वे

जन्मान्ध थे तथा उनके सम्बन्धी उनके साथ बुरा व्यवहार करते थे। वे एक कुटिया में अकेले रहने लगे तथा अपनी नैसर्गिक अन्तर्प्रज्ञा की शक्ति से लोगों के भविष्य की पूर्वघोषणा करके अपनी आजीविका कमाने लगे। उन्होंने किसी तरह संस्कृत भी सीख ली। बाद में वे मथुरा के निकट श्रीकृष्ण की लीलाभूमि व्रज चले गये और अपना अवशिष्ट जीवन वहीं बिताया। वे महान् त्यागी पुरुष थे तथा उनका सारा समय श्रीकृष्ण की पूजा तथा उनका गुणगान करने में बीतता था। उनके लगभग आठ हजार हृदय-स्पर्शी भजनों का संकलन 'सूर-सागर' के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें उनके हृदय की भगवान् के लिए पिपासा, उनके आन्तरिक संघर्ष तथा उनकी अन्तरंग आध्यात्मिक अनुभूतियों का वर्णन है। ये सुन्दर आनन्ददायक भजन उत्तर भारत में सर्वत्र गाये जाते हैं तथा कृष्ण उपासकों के लिए प्रेरणा के चिरन्तन स्रोत हैं।

दूसरी सन्त मीराबाई हैं, जो भारत की महिला सन्तों में सबसे अधिक विख्यात है तथा विश्व के श्रेष्ठतम रहस्यवादी सन्तसाधकों में उनकी गणना की जा सकती है। अनादिकाल से भारत में नारियों का स्वाभाविक स्थान घर के संरक्षण और एकान्त में ही रहा है। भारत की अधिकांश नारियों का आदर्श पौराणिक नारी चरित्र सीता, सावित्री रही हैं, जो आत्म त्याग, धैर्य, पति के प्रति एकनिष्ठ भक्ति जैसे सद्गुणों की प्रतिमूर्तियाँ थी। पतिव्रता का यह आदर्श माता के आदर्श के साथ मिलकर और अधिक उदात्त हो गया है। जैसा कि भगिनी निवेदिता ने कहा है कि माता के रूप में "भारतीय नारी अपने पति की रमणी और रानी ही नहीं अपितु अपनी सन्तानों की उपास्य देवी भी रही है।" लेकिन इन सामान्य नारियों के जीवन से नितान्त भिन्न ऐसी कुछ अभूतपूर्व चरित्र वाली महिलाएँ भी हुई हैं, जिन्होंने पारिवारिक जीवन के कर्तव्यों का बोझा उठाये बिना अपने आप को एकमात्र साधना और भगवद्भक्ति में नियोजित किया। इनमें से कुछ अपने आध्यात्मिक-संघर्ष और अनुभूति-विषयक अद्भुत स्तुतियों और भजनों को भावी-पीढ़ियों के लिए सम्पद् स्वरूप छोड़ गई हैं।

हम आण्डाल, अक्का महादेवी आदि कुछ महिला सन्तों की जीवनियों का विवेचन पहले ही कर चुके हैं। इन सभी भक्तों में हम एक महत्त्वपूर्ण सामान्य बात यह पाते हैं कि वे जीव को चिरन्तन वधु और परमात्मा को चिरन्तन वर या स्वामी समझती थीं। लेकिन हमें यह सदा याद रखना चाहिये कि इस सम्बन्ध का देह से कुछ भी लेना देना नहीं है। अक्का महादेवी और मीरा की जीवनियों में बहुत-सी समानताएँ हैं। लेकिन यदि अक्का एक बहती हुई धारा की तरह थीं, तो मीरा एक उफनती नदी के समान थीं। इन महान् नारी सन्तों की जीवनियों से हमें यह महान् शिक्षा मिलती है कि वे सभी पूर्ण त्याग और भगवत-साक्षात्कार में नारियों के अधिकार और क्षमता को प्रदर्शित करती हैं।

अधिकांश सन्तों की तरह मीरा के विषय में भी बहुत-सी किंवदन्तियाँ इकट्ठी हो गई हैं। लेकिन यह निश्चित है कि वे राठौर-वंश की एक राजपूत राज-कन्या थीं। बाल्यकाल से ही वे श्रीकृष्ण के गिरधर गोपाल रूप के प्रति अत्यधिक आसक्त थीं। बड़ी होने पर उनका विवाह राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से हुआ। लेकिन विवाह के कुछ समय बाद उनके

पति का तथा उसके कुछ काल उपरान्त उनके श्वसुर का देहान्त हो गया। उनके एक देवर राणा बने। लौकिक पति के देहान्त होने पर उन्होंने 'सती' होने से इन्कार कर दिया क्योंकि वे अपने आध्यात्मिक-पति श्रीकृष्ण के साथ ब्याही थीं। युवती राजकन्या अपना समय अपने निजी मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीकृष्ण के विग्रह के सम्मुख प्रार्थना करते, गीत गाते और नृत्य करते बिताया करती थी। इससे भक्त और साधु लोग आकृष्ट हो आते थे और मीरा उनके संग में सुखी थी। यह शाही घराने के लिए निन्दा की बात थी। और राणा ने मीरा को समझाने और उत्पीड़ित करने के अनेक उपाय किये, ताकि वह अपना आध्यात्मिक 'पागलपन' त्याग दे।

अन्त में कष्ट सहने में असमर्थ हो, मीरा ने चित्तौड़ त्याग दिया और वह अपने पिता के घर चली गयीं। वहाँ से वें तीर्थ-भ्रमण को निकलीं। वृन्दावन, मथुरा आदि अनेक स्थानों की यात्रा करने तथा अनेक प्रसिद्ध सन्तों का सत्संग करने के बाद अन्त में वे द्वारका में रहने लगीं। ऐसा कहा जाता है कि अन्त में मीरा द्वारका के रणछोड़जी के मन्दिर में श्रीकृष्ण के विग्रह में विलीन हो गयीं।

भगवान् ने मीरा को भक्ति के सन्देश के प्रसार के लिए यन्त्र बनाया था। उन्होंने जिस भक्ति का उपदेश दिया, वह उच्चतम-कोटि की थी। उसका अर्थ था – अतिमानवी त्याग, भगवान् के लिए अगाध प्रेम, और उनके प्रति पूर्ण समर्पण। वे यह महान् धरोहर अपने पीछे छोड़ गयी हैं। केवल बिरले ही कुछ लोग उनका अनुकरण कर सकते हैं। अपनी साधना के सम्बन्ध में वे कहती है, "आँखों के जल से सींच-सींच कर प्रेम-बेल को बड़ा किया है, उस पर जब पुष्प लगेगा, तो प्रभु भ्रमर बनकर आएगें।" मीरा कहती हैं, "मैंने नाम जप और शास्त्रों के सार को पकड़े रहकर महान् रहस्य का पता लगाया है। मैं अपने गिरधर के पास आँसुओं और प्रार्थना के द्वारा पहुँची हूँ।" उनका समग्र जीवन भगवान् रूपी सागर की ओर दौड़ रही बाढ़ से उफनती प्रेम की नदी के समान था।

पूर्ण आत्म-समर्पण में आध्यात्मिक-जीवन की चरम निष्पत्ति होती है। और इसकी साधना वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन में महान् प्रगति की हो। तो फिर प्रारम्भिक साधकों के लिए मीरा का क्या सन्देश है? उन्होंने अपनी कुछ कविताओं में बहुत-से उपयोगी सुझाव दिये हैं। इनमें से, "साधन करना चाही रे मनवा भजन करना चाही" से प्रारम्भ होने वाला भजन सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यही, भगवान् को प्रेम करना तथा उन्हीं के लिए जीना, आध्यात्मिक जीवन की सार बात है। बाह्य वस्तुएँ और क्रिया-अनुष्ठान गौण हैं। ताने के लहजे में महान् कवि-सन्त पूछती हैं :

जो नित-न्हायाँ हरि पा जाई
तो जल-जीवाँ री बात काईं?
फलमूल खाई हरि पा जाई
चामड़-बानर री गत काईं?
तुलसी (बिरवा) पूज्याँ हरि मिले यदि

तो (म्हूँ) तुलसी-बन पूजूँ माई।
पाथर पूज्याँ हरि पा जाई
तो डूँगर ने पूजूँ जाई।
जो दूध पियाँ हरि मिले कदै
तो गो-बाछाँ री बात काईं?

तब फिर हरि कैसे प्राप्त हों? मीरा कहती हैं : "बिना प्रेम नहीं मिलें नन्दलाल।" हमें सदा इस महान् सन्त के इस सन्देश को याद रखना चाहिये। हमें साधना करनी होगी, हमें ईश्वर-गुणगान करना होगा; यह सब तीव्र प्रेम और भक्ति के साथ करना होगा।

पूर्वोल्लिखित सन्तों के अतिरिक्त भी उत्तर भारत में मध्ययुग में बहुत-से सन्त हुए हैं। इनमें से कुछ मुसलमान थे, जो सूफी कहलाते थे। भारतीय सूफियों में सिन्ध के शाह लतीफ, दारा शिकोह (बादशाह शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र) और दिल्ली के यारी साहब प्रसिद्ध हैं। उन दिनों बहुत से हिन्दू, मुसलमानों को अपना गुरु बनाते थे तथा बहुत से मुसलमान सन्तों के हिन्दू गुरु हुआ करते थे। इस प्रकार सूफी धर्म और हिन्दू योगपद्धति के सम्मिश्रण से उत्तर भारत में अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय पैदा हुए, जो जातिप्रथा और मूर्तिपूजा की निन्दा करते थे तथा शास्त्राध्ययन के बदले चित्तशुद्धि और साधना को अधिक महत्त्व देते थे। वे सभी भगवत्प्रेम और गुरु के प्रति श्रद्धा को अनिवार्य मानते थे।

बंगाल के सन्त :

बंगाल के सबसे महान्, मध्यकालीन सन्त श्रीचैतन्य थे (१४८५-१५३३), जिन्हें उनके अनुयायी राधा-कृष्ण का अवतार मानते हैं। उनके जीवन का संक्षिप्त विवरण ३१ वें अध्याय में पहले ही दिया जा चुका है। जाति के विषय में उनके उदार दृष्टिकोण तथा सामूहिक कीर्तन ने उनके नाम से जुड़े हुए इस आन्दोलन को साधारण जन-समाज में अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया था। चैतन्य ने अपने जीवन के अन्तिम अठारह वर्ष बंगाल से बाहर, पुरी में व्यतीत किये थे, फिर भी उनके अनुयायी और विश्वस्त सहयोगी नित्यानन्द और अद्वैत गोस्वामी उनका कार्य बंगाल में अत्यन्त उत्साह के साथ करते रहे। चैतन्य ने रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी नामक दो महान संस्कृत के पण्डितों को भी प्रभावित किया और अपने मत का बना लिया। ये दो भाई अपने भानजे जीव गोस्वामी के साथ वृन्दावन में वास करने लगे तथा संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना करके चैतन्य के भक्ति-सिद्धान्त को एक दार्शनिक-भित्ति प्रदान की। इन सन्तों और उनके शिष्यों के प्रयास के फलस्वरूप वृन्दावन बंगाल के वैष्णव धर्म का मुख्य केन्द्र बन गया।

उत्तर भारत में आध्यात्मिक जीवन के विकास का अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि बंगाल एक दृष्टि से अनोखा है। और वह अनोखापन है – वहाँ पर विद्यमान शक्तिपूजा। बंगाल समग्र भारत के साथ सम्पर्क में भले ही रहा हो, लेकिन केवल इस भाग में ही शक्ति-

पूजा धार्मिक जीवन का मुख्य अंग बनी थी। यह अवश्य सत्य है कि जगदम्बा की पूजा का प्रचलन भारत में सर्वत्र है तथा उसका इतिहास अतिपुरातन है, लेकिन केवल कुछ ही स्थानों में उसकी जड़ें गहरी हुईं तथा उसने लोगों के आध्यात्मिक जीवन को प्रभावित किया। ये स्थान थे – सुदूर उत्तर में काश्मीर, सुदूर दक्षिण में केरल, सुदूर पूर्व में बंगाल और आसाम। शक्ति उपासना के मुख्य शास्त्र तन्त्र कहलाते हैं। प्रमुख तन्त्रों के कुछ लेखक तथा उनके व्याख्याकार बंगाल के थे और इन विद्वानों तथा शास्त्रों में पारंगत व्यक्तियों के प्रयासों से तान्त्रिक-साधना नामक एक विशेष प्रकार की साधना-पद्धति बंगाल में प्रचलित हुई। इसी बीच अनेक सन्तों का जन्म हुआ, जिन्होंने दुर्गा तथा काली की उपासना को लोकप्रिय ही नहीं बनाया, बल्कि उसे एक उच्चतर आध्यात्मिक दिशा प्रदान की। इन सन्तों में से अठारहवीं शताब्दी में हुए कमलाकान्त और रामप्रसाद महान्‌तम दो सन्त थे, जिनकी कविताएँ श्रीरामकृष्ण को महान् प्रेरणा प्रदान करती थीं। रामप्रसाद का जन्म सन् १७२३ में कलकत्ता से लगभग तीस मील उत्तर में गंगा के किनारे एक गाँव में हुआ था। वे जाति से वैद्य थे तथा उनके पिता एक प्रमुख चिकित्सक थे। पाठशाला में उन्होंने संस्कृत, फारसी और हिन्दी में दक्षता प्राप्त की। बाईस वर्ष की उम्र में उनका विवाह हुआ और उनकी चार सन्तानें थीं। कहा जाता है कि उनकी दीक्षा आगमवागीश नामक महान् तन्त्रसिद्ध गुरु से हुई और वे अपना समय ध्यान में व्यतीत करने लगे। लेकिन उनके पिता की मृत्यु पर परिवार के भरण-पोषण का भार उन पर आ पड़ा। अत: वे कलकत्ता जाकर दुर्गाचरण मित्र नामक एक धनी व्यक्ति के लेखा-जोखा-लिपिक (ACCOUNTANT) हो गये। लेकिन रामप्रसाद का मन जगदम्बा के विचारों में इतना मग्न रहता था कि वे हिसाब-किताब नहीं रख पाते थे। उनके मन में ज्यों-ज्यों जगदम्बा की कविताएँ उठती जातीं, त्यों-त्यों वे उन्हें बही खातों के पन्नों पर लिखते जाते। अन्त में बात मालिक के कानों तक पहुँची, जिसने बही-खातों की जाँच की। लेकिन क्रुद्ध होने के बदले वे उन कविताओं को पढ़कर अभिभूत हो गये। उसने गलती करने वाले हिसाब-किताब-लेखक को कहा कि उसे परिवार के भरण-पोषण के लिए तीस रुपये माहवारी मिलेगी और वह घर जाकर निश्चिन्ततापूर्वक अपनी साधना कर सकता है।

रामप्रसाद अपने गाँव लौट गये और माँ काली की उपासना और उनके गहरे ध्यान में निमग्न हो गये। साधना करते समय भजन अनायास ही उनके भीतर से उठते थे, जिनसे हमें उस समय उन्हें जिन महान् आध्यात्मिक संघर्षों से गुजरना पड़ा था, उसका पता चलता है। उन्हें जगदम्बा के अद्भुत दर्शन हुए और बाद के जीवन में वे उच्च-आध्यात्मिक भावावस्था में डूबे रहते थे। उनकी मृत्यु सन् १८०३ में दीपावली के दूसरे दिन हुई। जब परम्परा के अनुसार काली की प्रतिमा का जल में विसर्जन किया ही जाने वाला था, तब रामप्रसाद ने नदी के जल में प्रवेश किया और अपनी प्यारी जगदम्बा का गुणगान करते हुए शरीर त्याग दिया।

रामप्रसाद के भजनों का गान बंगाली भाषी जगत् में सर्वत्र किया जाता है। उनकी सरलता और तीव्र आध्यात्मिक भाव के कारण वे पिछले दो सौ वर्षों में अत्यन्त लोकप्रिय

हो गये हैं। उनके स्वयं के आध्यात्मिक संघर्षों तथा व्यक्तिगत आन्तरिक अनुभूतियों को लिपिबद्ध करने के फलस्वरूप ये कविताएँ साधकों के लिए अत्यन्त प्रेरणास्पद हैं।

भारत के प्रत्येक प्रदेश ने महान् आध्यात्मिकता सम्पन्न सन्तों को जन्म दिया है। अपने जीवन, उपदेशों तथा भजनों के द्वारा तथा प्रायः अपने संघबद्ध अनुयायियों के माध्यम से इन महान् सन्तों ने हिन्दूधर्म को परिवर्तनशील काल के साथ सामञ्जस्य बिठाने में समर्थ धर्म बनाया है। जब कभी और जहाँ भी राष्ट्र को नास्तिकता अथवा विदेशी आक्रमण की चुनौती का सामना करना पड़ा है, तभी सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने हिन्दू जाति की आध्यात्मिक शक्तियों को नयी दिशा प्रदान की है। इस प्रकार हिन्दू आध्यात्मिकता विभिन्न पन्थों, सम्प्रदायों, साधनाओं और आचार-पद्धतियों में विभक्त होती हुई भी एक गतिशील प्रभावशाली शक्ति बनी रही है। और इन सभी विभेदों के नीचे भारतीय-संस्कृति का मौलिक एकत्व सदा बना रहा है जिसकी मूल बातें ये हैं : दुःख और अज्ञान से मुक्ति पाने के लिए मानव की खोज या लालसा (मुमुक्षा), त्याग का भाव तथा सहिष्णुता। हिन्दू धर्म का मूल सिद्धान्त यह है कि दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति ईश्वर की अपरोक्षानुभूति के द्वारा ही सम्भव है; ईश्वर को विभिन्न मार्गों से पाया जा सकता है; ईश्वर की असंख्य प्रकार से अनुभूतियाँ हो सकती हैं और इसकी उपलब्धि जीवन का लक्ष्य है। अन्य धर्मों के सन्तों की जीवनियों का अवलोकन करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। वस्तुतः सभी धर्मों के सन्त एक ही श्रेणी, एक ही जाति के अन्तर्गत आते है। भिन्न भाषाएँ बोलते हुए भी वे एक ही सत्य कहते हैं। सारी समस्याएँ तब खड़ी होती हैं, जब हम आध्यात्मिक-अनुभूतियों को व्यक्त करने की उनकी भाषा नहीं समझ पाते। आध्यात्मिक-अनुभूतियों के इन प्रतीकों को समझ पाने पर हम पाएँगे कि सभी महान् सन्त उसी एक परमात्मा की बात करते हैं, जो सभी आत्माओं की आत्मा तथा समस्त आनन्द और ज्ञान का स्रोत है। हमें काल के धूलिपथ पर छोड़े गये इन महापुरुषों के चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाहिये तथा परम आनन्द, ज्ञान और मुक्ति लाभ करना चाहिये।

चतुर्थ भाग

अध्यात्म के बिखरे मोती

अध्याय ३५

अध्यात्म के बिखरे मोती

इस प्रतिभासिक जगत् में अशेषत: श्रेष्ठ संस्था जैसा कोई चीज नहीं है, क्योंकि आदर्श व्यक्ति नहीं हैं। हमें वस्तुओं को उनकी वास्तविकता में स्वीकार करना चाहिए। सर्वत्र अच्छी और बुरी दोनों ही बातें पायी जाती हैं, और हमें उस संस्था को चुनना चाहिए, जिसमें बुराई की अपेक्षा अच्छाई अधिक हो, और जो हमारे सुधार में भी सहायक हो।

अपनी सहायता स्वयं करना सबसे अच्छा है, लेकिन इसे अहं-केन्द्रित नहीं होना चाहिये। स्वामी ब्रह्मानन्द जी हमसे कहा करते थे, ''मन ही तुम्हारा गुरु है।'' इसका अर्थ यह है, कि वह इतना पवित्र हो कि अपने अन्तर्यामी परम-गुरु के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके। यही मेरा सर्वश्रेष्ठ-निर्देश है। यह सोचकर कि तुम किसी काम के लायक नहीं हो, अपने को दुर्बल मत करो। किसी बाह्य-सहायता पर अत्यधिक निर्भर होने के बदले अन्तर्यामी गुरु से ज्ञानालोक और मार्गदर्शन के लिए आन्तरिक प्रार्थना करो।

दूसरों की सुखी देखकर सुख अनुभव करना सीखो। हम सभी में कमजोरियाँ और विशेषतायें हैं। दोनों को एकसाथ रखकर देखने पर तुम पाओगे कि अच्छाईयाँ बुराईयों से अधिक हैं, लेकिन उन बुराईयों को क्रमश: दूर करना है।

जब दुर्बलताओं का अवलोकन करने से तुम्हें निराशा हो, तो पीछे मुड़कर देखो कि पिछले कुछ वर्षों में तुममें कितना महान् परिवर्तन हुआ है। इससे तुम में आशा का संचार होगा, और पुन:-पुन: प्रयास के लिए तुम्हें प्रोत्साहन मिलेगा। यह जानकर कि तुम्हारे पीछे दैवी-शक्ति विद्यमान है, आन्तरिक प्रयास और प्रार्थना द्वारा इससे शक्ति प्राप्त करना सीखो। मुझे विश्वास है कि कालान्तर में तुम्हारा इतना आध्यात्मिक-रूपांतरण हो जायेगा, जितनी तुम अभी कल्पना नहीं कर सकते।

हमारा आदर्श इतना महान् है कि जितना ही हम उसकी ओर बढ़ते हैं, उतना ही हमें ज्ञात होता है, कि अभी और बहुत कुछ प्राप्त करना है। यह बुहत अच्छा है, क्योंकि इससे हम आगे बढ़ते रहते हैं, और यह हमें ध्यान और प्रार्थना बनाये रखकर, दिव्य-आनन्द का कुछ आस्वादन करने में समर्थ बनाता है।

★ ★ ★

हमें सत्य की ओर अग्रसर होना चाहिए। उसकी ओर जाने के बहुत से मार्ग हैं। जीव, विकास के एक क्रम-विशेष का अनुसरण करता है, और उसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, लेकिन मूल परिणाम प्रगति ही होना चाहिए। हमारी प्रगति सुव्यवस्थित होनी चाहिए। हमारे विचार सुव्यवस्थित और स्पष्ट होना चाहिए। वे प्रारम्भ में अपरिपक्व भले ही हों, लेकिन उन्हें अस्पष्ट और अनिश्चित नहीं होना चाहिए। हमारी प्रगति के साथ ही साथ परमात्मा की हमारी धारणा भी अधिकाधिक विकसित होनी चाहिए।

अपनी वास्तविक स्थिति को जानना पहला कदम है। ईश्वर-आत्मा और जगत् के साथ अपने सम्बन्ध का पता लगाओ। प्रारम्भ में हम जहाँ हैं, वहीं खड़े रहकर हमें जीवन के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। हमारे विकास के साथ कर्तव्य की हमारी धारणा का भी विकास होता है, लेकिन पवित्रता और भगवद्भक्ति मुख्य हैं। हमारी अपने विषय में, हम क्या हैं, इस की स्पष्टतर धारणा अवश्य होनी चाहिये, और उसके बाद अपने में कैसे परिवर्तन लाया जाय, यह सोचना चाहिए। परिवर्तन बिरले ही एक समान होते हैं। हम में उतार चढ़ाव होते हैं, लेकिन हमें प्रगति करते रहना चाहिए। श्रेष्ठतर बनते जाना चाहिये। यदि हम अधोगामी होवे, तो हमें पुन: ऊपर उठना चाहिए। हमारे नाना मनोभाव हो सकते हैं। लेकिन हमारा एक मुख्य मनोभाव होना चाहिए – शान्त, आध्यात्मिक मनोभाव। यदि हम क्रोधित भी हों, तो कम से कम पूरे मन से तो क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। मन के एक अंश को तो कम से कम नियन्त्रण में रखो। अप्रभावित रहना सीखो। अपने मन का सन्तुलन बनाये रखो। क्या सच्चा-धर्म इसकी उपलब्धि करा सकता है?

प्रत्येक व्यक्ति में किसी उच्चतर-वस्तु के लिए छटपटाहट है – आत्म-पिपासा। 'आत्म-पिपासा' का तथ्य गहराई में विद्यमान है। कुछ समय के लिए हम उसे भले ही भूल जायें, पर आत्मा की यह चाह पुन: उभर आती है।

★ ★ ★

स्वयं के प्रति तीन दृष्टिकोण सम्भव हैं : (१) मैं देह हूँ (२) मैं मन हूँ (३) मैं आत्मा हूँ – मेरे सभी विचारों का साक्षी। 'मैं हूँ' यह पहला तथ्य आत्मचेतना का है। पता लगाओ, कि तुम्हारे लिए इसका क्या अर्थ है।

मन, आत्मा का – हमारी वास्तविक आत्मा का यन्त्र है। मैं देखता हूँ, लेकिन ठीक तरीके से कैसे देखना, यह जानना आवश्यक है। हम प्राय: गलत तरीके से, मानो रंगीन चश्मों से देखते हैं। सुप्त संस्कार मन को अतिरञ्जित कर देते हैं। मन को कम रञ्जित होने दो। वस्तुयें जैसी हैं, उन्हें वैसा ही देखने का प्रयत्न करो।

★ ★ ★

भगवान् के साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? अभी हम उस ईश्वर के विषय में विचार कर

रहे हैं, जो हमारे भीतर विद्यमान है। वह हमें जोड़नेवाला सूत्र है। हम प्रायः यह भूल जाते हैं, और अत्यधिक स्वाभिमानी हो जाते हैं। हम मानो सागर के बुदबुदों के समान हैं, जिन्होंने सामान्य सत्ता को विस्मृत कर दिया है। ईश्वर और हमारे बीच का सूत्र खोज निकालना व्यावहारिक धर्म है।

अथवा स्वयं की एक वृत्त पर बिन्दु के रूप में कल्पना करो। ऐसा कोई बिन्दु नहीं है, जहाँ वृत्त न हो। हम एक दूसरे से सीधे नहीं बल्कि इस वृत्त के माध्यम से जुड़े हुये हैं। तात्पर्य यह है, कि सबके प्रति समदृष्टि होना चाहिये। व्यक्तिगत जीवन को आध्यात्मिक-जीवन में रूपान्तरित करो। लेकिन यह कार्य स्वयं से प्रारम्भ करो। सर्वप्रथम अन्तर्यामी परमात्मा के साथ एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करो। भगवान् के साथ सम्बन्ध मानवीय सम्बन्धों की तरह परिवर्तित नहीं होता। मृत्यु विनाश नहीं है। यह केवल स्थान परिवर्तन है। आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो कभी परिवर्तित नहीं होती।

शुभ और अशुभ दोनों हैं, और कभी हम उस वास्तविक सत्ता की झलक पा जाते हैं, जो न तो शुभ है और न अशुभ। जो आध्यात्मिक जीवन में सहायक हो, वह शुभ है, जो हानिकारक हो, वह अशुभ है। हम में शुभ और अशुभ दोनों ही तत्त्व हैं। अशुभ को दूर करो, शुभ को ग्रहण करो। और उसके बाद शुभ और अशुभ के परे चले जाओ। हम कम से कम इस आदर्श के निकट जा सकते हैं, और पूर्णता की दिशा में प्रयास कर सकते हैं।

आसक्त मत होओ। विचलित मत होओ। दृश्य जगत् के पीछे अवस्थित सत्ता को देखने का प्रयत्न करो। हमें दयालु होना चाहिये, लेकिन अन्ध नहीं। अनन्त सहानुभूति सम्पन्न होओ। दुःख और कष्ट एक प्रकार की शिक्षा हैं, उन्हें सहन करो। दुःख के माध्यम से भी परमात्मा की ओर मुड़ो। सत्य की पिपासा भी हमें परमात्मा की ओर ले जाती है।

हमें अपने आप के साथ तादात्म्य में रहना चाहिये। यदि हम सन्तुलित न हों, तो हम दूसरों को चोट पहुँचायेगें। शरीर और मन में समरसता लाओ। अपनी भावनाओं का उदात्तीकरण आवश्यक है. यदि उनका दमन किया जाता है, तो वे बार-बार बाहर निकल पड़ती हैं। दमन या निरोध पर्याप्त नहीं है।

मित्रों के स्पन्दन कुछ हद तक एक समान होते हैं। क्रुद्ध व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति रखो। उच्चतर स्तर से सहानुभूति रखो। ऐसे अवसर आते हैं, जबं हमें दूसरों के साथ असहमत होना अथवा दूसरों को डाँटना पड़े, लेकिन ऐसा हमें कुछ आत्म-नियन्त्रण बनाये रखकर करना चाहिये। ऐसा करने पर यह झगड़े अथवा गलतफहमी को जन्म नहीं देगा। यदि हम में आन्तरिक सामञ्जस्य हो, तो हम दूसरों में समरसता का संचार करेंगे। यदि हम चञ्चल होगे, तो हमारे लिए आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की समस्याएँ पैदा होंगी।

सर्वप्रथम हमारी स्वयं के सम्बन्ध में एक आध्यात्मिक-धारणा होनी अवश्य चाहिए, तभी हम अपने और परमात्मा के बीच तथा दूसरों के साथ समुचित सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

★ ★ ★

सर्वप्रथम हमारी एक दृढ़ बौद्धिक-मान्यता होनी चाहिये। उसके बाद उस मान्यता को कसौटी पर कसना चाहिये। हमारे विचारों और कार्यों में हमारी आस्था की परीक्षा होती है। हमें उसके अनुरूप जीवन यापन करना चाहिये। धर्म के विषय में बातें बहुत होती हैं। बातें जितनी कम हों, उतना अच्छा है। हमें कर्म करना चाहिये। हमें आदर्श के अनुरूप जीवन-यापन करना चाहिये। केवल कुछ व्यक्ति ही वास्तविक धार्मिक जीवन जी सकते हैं। सिद्धान्त (की बातें) बहुत अधिक हैं। आचरण आवश्यक है।

सत्य एक है, लेकिन उसको पाने के मार्ग अनेक हैं। निम्नतर सत्यों से उच्चतर सत्यों को जाया जाता है। हमें सत्य की झलकें प्राप्त करनी चाहिए। इसके लिए हमें कुछ कदम उठाने पड़ते हैं। आदर्शों को आत्मसात् करना तथा उन्हें जीवन में उतारना चाहिए। आदर्श को नीचा मत करो, वहाँ तक स्वयं उठो। हमें क्रमश: एक-एक कदम उस ओर बढ़ना चाहिये। श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनो, विचारों और धारणाओं को स्पष्ट से स्पष्टतर बनाओ। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ो और वहाँ से कारण तक जाओ।

★ ★ ★

परमात्मा का अपने भीतर साक्षात्कार करना पहला कदम है। उसके बाद हम उसका दूसरों में भी अनुभव करते हैं। तब तक एक नया दृष्टिकोण, एक नयी सहानुभूती उत्पन्न होती है। अपनी मानसिक क्षमताओं के प्रशिक्षण से इच्छाशक्ति सबल होती है। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति को समन्वित करना चाहिए। प्रार्थना, ध्यान, कर्तव्य पालन और संयम द्वारा उनके परे जाना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन के लिए बहुत शक्ति की आवश्यकता है।

मनुष्य कई प्रकार के होते हैं, लेकिन सभी का लक्ष्य एक है : आत्मा के परमात्मा के साथ सम्बन्ध को जानना और अन्तत: उनके एक्य की अनुभूति करना।

नि:स्वार्थ कर्म परमात्मा की प्राप्ति हेतु एक सीढ़ी है। यदि श्रद्धा भी हो, तो यह आसान हो जाता है। उदात्त भावनाओं का आध्यात्मिक जीवन में बहुत मूल्य है। वे हमें परमात्मा के निकट ले जाती हैं। कुछ लोगों में भक्ति का आधिक्य होता है। लेकिन भावना के साथ विवेक और समुचित क्रिया भी होनी चाहिए। विभिन्न मानसिक क्षमताओं को समन्वित करो। इन क्षमताओं के ऊपर उठकर सत्य को जानो। परमात्मा हमें प्रेरित करें और हमारा मार्गदर्शन करें।

जीवन्मुक्ति, मृत्यु से पूर्व मुक्त होना, हमारा लक्ष्य है। हमें इस जीवन में ही भरपूर प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि मानव-जन्म दुर्लभ है। मृत्यु से पूर्व भगवद्-साक्षात्कार की उच्चाकांक्षा रखो। लक्ष्य की दिशा में संघर्ष करते हुए बढ़ते चलो। जब तक हमें अपने अहंकार का बोध है, तब तक जिम्मेदारी हमारी है। हमें प्रयास करके पूर्णता के निकट पहुँचना चाहिये।

★ ★ ★

सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्रज्ञा कहलाता है। यह क्षमता शुद्ध बुद्धि और हृदय के माध्यम से प्रकट होती है। भक्ति को बुद्धि द्वारा सदा नियन्त्रित होना चाहिए, भावनाओं को विचार द्वारा दिशा प्रदान करनी चाहिए। भावनाओं और बुद्धि दोनों में तालमेल होना चाहिए, और हमें कभी भी अपने को अपनी भावनाओं अथवा कोरे बुद्धिवाद द्वारा बहने नहीं देना चाहिए।

इस उच्चतर क्षमता – प्रज्ञा से हमें प्रत्यक्ष अनुभव, सत्य की प्रत्यक्षानुभूति होती है। लेकिन पहले प्रज्ञा की क्षमता का विकास करना चाहिये। यह क्षमता हम में पहले से ही विद्यमान है, लेकिन वह मन की मलिनता के कारण आवृत है। सत्य का साक्षात्कार करने के लिए चित्त को शुद्ध करो। हम सत्य की झलकें तो कम से कम पा ही सकते हैं। अस्पष्ट प्रज्ञा को निश्चित और स्पष्ट प्रज्ञा में विकसित करना चाहिये। प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। हमें सदा अपनी आध्यात्मिक विरासत को याद रखना चाहिये।

★ ★ ★

कभी अपने को भावनाओं के वेग में प्रवाहित न होने दो। यह बहुत खतरनाक है! सुस्पष्ट और निश्चित चिन्तन आवश्यक है। अपने मनोभावों को नियन्त्रित करो। प्रारम्भ में बाहर से अच्छे संवेदनों को ग्रहण करना आवश्यक हो सकता है, लेकिन अपने भीतर से उदात्त प्रेरणाओं को पाना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्तःस्थ ज्योति को देखने की तीव्र अभिलाषा रखो। वह तुम्हारे भीतर है। तुम्हें ही उस अन्तःस्थ ज्योति को अभिव्यक्त करना है।

हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन में सन्तुलन होना चाहिये। प्रत्येक कर्म को सेवा और पूजा मानना चाहिए। चिन्तन के दो प्रवाह होते हैं : एक चेतन और दूसरा अवचेतन। कर्म करते समय चेतन प्रवाह को कर्म की ओर तथा अवचेतन को भगवान की ओर प्रवाहित करो। जब तुम खाली रहो, तब दोनों को भगवान् की ओर मोड़ दो।

★ ★ ★

हमारे देह-मन की शक्ति को नियन्त्रित और सञ्चित करना चाहिये। अभी शक्ति का अपव्यय हो रहा है। शक्ति को व्यर्थ बरबाद न करो। शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाया जा सकता है।

नये मार्गों को खोला जा सकता है, जिनसे शक्ति के प्रवाह में वृद्धि हो सके। अनुपयोगी कर्म, व्यर्थ बातचीत, गप्पें और निरर्थक चिन्तन, झाड़-झंखाड़ के समान हैं। उन्हें उखाड़ फेंको। तब उपयोगी कार्य के लिए समय मिलेगा।

साधना के समय कोई शारीरिक चञ्चलता, कोई भी मानसिक बेचैनी नहीं होनी चाहिए। अभ्यास द्वारा ध्यान गहरा होता है। ध्यान द्वारा शक्ति के मार्ग बाधारहित हो जाते हैं।

हमें ईश्वरीय शक्ति के संस्पर्श में आना चाहिए। हमारा प्रस्तुत कार्य इस शक्ति के प्रवाह के श्रेष्ठतर और अल्प बाधावाले मार्ग बनाना है, जिनसे हम अधिक ईश्वरीय शक्ति पा सकें। एक निम्न मानसिक शक्ति होती है और एक दूसरी उच्च मानसिक ऊर्जा अथवा आध्यात्मिक शक्ति होती है। हमारा सामान्य चिन्तन निम्न मानसिक शक्ति द्वारा होता है। अभ्यास के अभाव में हमारी उच्चतर क्षमतायें दुर्बल हो गयी हैं। अतः हम आध्यात्मिक शक्ति ग्रहण नहीं कर पाते।

★ ★ ★

प्रातःकाल पूजा, ध्यान और साधना का सर्वश्रेष्ठ समय है। मन को निषेध-विधि द्वारा नियन्त्रित मत करो। उसे सकारात्मक रूप में, शुभ विचारों द्वारा संयत करो। सदा एक केन्द्रीय विचार का होना आवश्यक है।

निकटतम लक्ष्य क्या है? सत्य के संस्पर्श में आना। जिसे हम सत्य कहते या मानते हैं, वह हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अपनी ओर खींचता है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है, कि सत्य के संबन्ध में हमारी धारणा स्पष्ट हो। लक्ष्य और पथ सत्य होने चाहिएं। हमारी कल्पनायें भी सत्य विषयक होनी चाहिए।

अवचेतन-चिन्तन को नियंत्रित और कम करो। हमें चिन्तन के नियम जानना चाहिए और सचेतन चिन्तन तथा क्रियायें करनी चाहिये।

विचार आवश्यक है। उसकी सहायता से हमें उस सत्य तक पहुँचना चाहिये, जो उससे परे है।

ध्यान अभ्यास से सधता है। ध्यान के बाद उसके मनोभाव को कुछ मात्रा में बनाये रखना चाहिये। हृदय के देवालय में एक नन्हा सा प्रदीप सर्वदा प्रज्वलित रखना चाहिये।

★ ★ ★

सर्वप्रथम बुद्ध, ईसा आदि में परमात्मा को देखो। उसके बाद उन्हें सन्तों में जानो। जो पवित्र नहीं हैं, उनमें विद्यमान परमात्मा को भी प्रणाम करो, लेकिन दूर से। हम बहुत दुर्बल हैं, और उनसे मिलने-जुलने से हम पर बुरा असर पड़ सकता है। अतः हमें सावधान रहना चाहिये। हमें अनुपात की समझ होनी चाहिये।

सदा समुचित सावधानी बरतो, जिससे तुम अशुभ से प्रभावित न होओ। हमें कुछ समय के लिए उनसे दूर रहना पड़ सकता है। क्या यह दुर्बलता है? अशुभतर ग्रन्थियों से बचने के लिए हमें कुछ ग्रन्थियों का निर्माण करना पड़ता है।

मन एक वायुदाब-मापक यन्त्र (बैरोमीटर) के समान है। यदि तुम्हें लगे, कि तुम नीचे की ओर खींचे जा रहे हो, तो सतर्क हो जाओ। हमें जीवन में बहुधा समझौते करने पड़ते हैं, लेकिन इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। यदि हमारा स्वयं पर पूर्ण नियन्त्रण हो, तो हम

मनोग्रन्थियों से बच सकते हैं। हमें उच्चतर बुराई पर विजय पाने के लिए निम्नतर बुराई का पूरा उपयोग करना चाहिये। प्रत्येक स्थिति का वस्तुस्थिति के अनुरूप मूल्यांकन करना चाहिए।

साधना मानसिक स्केटिंग (बर्फ पर फिसलने का खेल) के समान है। अहंकारी गिर जाते हैं। यह न सोचो, कि तुम बहुत महान् हो अथवा बहुत सुरक्षित हो।

बाह्य-व्यवहार में अपनी आन्तरिक सजगता बनाये रखो। लोगों से मिलने-जुलने का एक तरीका होता है : अपवित्र और दुष्ट प्रकृति के लोगों से सम्पर्क होने पर सदा ढाल की तरह आन्तरिक अवरोध खड़ा करो।

परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करो, और परमात्मा के माध्यम से सभी से सम्बन्ध स्थापित करो। बिन्दु वृत्त के साथ एकत्व स्थापित करे और उसके बाद ही वृत्त के दूसरे बिन्दुओं से ऐसा करे। परमात्मा सभी प्राणियों में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार वृत्त प्रत्येक बिन्दु पर विद्यमान है। पूर्ण के माध्यम से सभी अंशों से सम्पर्क करो।

★ ★ ★

अधिकांश लोग परमात्मा के प्रति अपने कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं। अधिकांश लोग अच्छे उपयोगी पौधों के बदले घासपात उगाते हैं। यदि हम आध्यात्मिक होना चाहते हैं, तो हमें अपने रहन सहन को पूरी तरह बदलना होगा। पवित्र और उदात्त विचारों को आश्रय दो और सदा परमात्मा के संस्पर्श में बने रहने का प्रयत्न करो।

हमें अपने आध्यात्मिक मनोभाव को अपने लिए स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। मन का कम से कम एक भाग सदा उस उच्चतर भाव में बना रहना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति का एक केन्द्रिय विचार होना चाहिये। यह परमात्मा के साथ तुम्हारे सम्बन्ध का अथवा जीव की ईश्वर के प्रति चाह का अथवा तुम साक्षी आत्मा हो, इस तरह का हो सकता है। अथवा सर्वदा किसी भगवन्नाम का जप करो। शब्द तदनुरूप भगवच्चिन्तन को जगाता है।

★ ★ ★

हमें अपने परमात्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। इसके लिए आत्म-निरीक्षण आवश्यक है। साधना से अन्तर्दृष्टि का विकास होता है। हमें अपनी चेतना के केन्द्र का पता लगाना चाहिये। चेतना का प्रत्येक उच्चतर केन्द्र (चक्र) हमें परमात्मा के एक-एक रूप के संस्पर्श में लाता है, और यह अन्ततोगत्वा जीवात्मा और परमात्मा के मिलन में पर्यवसित हो जाता है। ईश्वरसाक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति परमात्मा का श्रेष्ठतर अभिव्यक्त रूप है।

धर्म का व्यावहारिक पक्ष हमारी रुचि का मुख्य विषय होना चाहिये। केवल सैद्धान्तिक होने तथा मनुष्य की आध्यात्मिक समस्याओं को न सुलझा पाने पर धर्म प्राणहीन हो जाता है। धर्म को हमें अध्यात्म-विज्ञान की, आध्यात्मिक जगत् के नियमों की शिक्षा देनी चाहिये।

सूक्ष्म ब्रह्माण्ड का स्वरूप जान लो, तब तुम बृहत् ब्रह्माण्ड के स्वरूप को भी जान सकोगे। हम अपने अन्दर ही परमात्मा की उपलब्धि करते हैं।

अनेक में एक का पता लगाना, बुदबुदों में सागर को पहचानना मुख्य बात है। बुदबुदे को अपने बुदबुदे-स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। तभी उसे फोड़ा जा सकता है, और सागर में विलीन किया जा सकता है।

कुछ बुदबुदे सीधे सागर के साथ एकत्व प्राप्त करना चाहते हैं, और पर्वत-सम लहरों की भी परवाह नहीं करते। इसीतरह कुछ जीव सीधे अनन्त में विलीन होना चाहते हैं और बुद्ध तथा ईसा जैसे महान् आचार्यों की भी उपासना नहीं करते। लेकिन अधिकांश लोगों को निर्गुण निराकार परमात्मा तक पहुँचने के लिए इन असाधारण महापुरुषों की आवश्यकता होती है।

★ ★ ★

साधना आरम्भ करने से पूर्व निम्न बातें आवश्यक हैं : संयत जीवन, आहार, व्यायाम, प्राणायाम (सन्तुलित श्वास-प्रश्वास)। जहाँ तक आहार का प्रश्न है, वही खाओ, जो तुम पचा सको। प्रत्येक साधक को यह पता लगा लेना चाहिये, कि उसके लिए क्या अच्छा है। व्यायाम आवश्यक है। अपने पेट और मस्तिष्क का खयाल रखो। शारीरिक और मानसिक अनुशासन आवश्यक है। साधना के सोपानों का यन्त्रवत् नहीं, बल्कि सचेतन, सोच समझकर अभ्यास करो। सही मनोभाव का निर्माण करो। श्वास-प्रश्वास पर ध्यान दो। यह अपने आप में एक छोटा-मोटा ध्यान ही है। श्वास-प्रश्वास को नियन्त्रित करने पर मन अपने आप भटकाव से लौट आयेगा।

★ ★ ★

हमारी चेतना का एक निश्चित केन्द्र होना चाहिये। यह महत्त्वपूर्ण है। प्राच्य प्रतीकों को प्रायः पाश्चात्यवासी नहीं समझ पाते। चेतना के सात केन्द्र (चक्र) होते हैं। भूख लगने पर पेट का, भावुक होने पर हृदय का भान होता है। सदा बुद्धि के केन्द्र (चक्र) भ्रूमध्य तक उठने का प्रयत्न करो और हृदय के नीचे न जाओ। भावुक व्यक्तियों को सिर, तथा अतिविचारशील व्यक्तियों के लिए हृदय, को चेतना का केन्द्र बनाना बेहतर है। इन चक्रों (केन्द्रों) को भौतिक दृष्टि से कम, और मानसिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक समझना चाहिए।

स्नायविक केन्द्रों (चक्रों) सहित सुषुम्ना की एक सीढ़ी की तरह कल्पना करो। चिन्तन के विभिन्न-स्तर, विभिन्न मञ्जिलें हैं। स्नायु-प्रवाह ऊपर और नीचे की ओर प्रवाहित होता है। पहले अपनी चेतना के केन्द्र, को निश्चित कर लो। वहाँ अनन्त आकाश का अनुभव करो, तुम्हारी व्यक्तिगत चेतना (का बिन्दु) जिसका केन्द्र है। कभी-कभी निम्न खिंचाव के कारण तुम नीचे के केन्द्रों में चले जाते हो। उसे रोकने की पद्धति सीख लो। नियन्त्रण-बिन्दु हमारे

भीतर है, गुरुत्व-केन्द्र हमारे भीतर है।

परमात्मा की प्रकाश के रूप में कल्पना करो लेकिन भौतिक प्रकाश के रूप में नहीं। चेतना के केन्द्र को ज्योतिर्मय सोचो। प्रतीकों की सहायता ली जा सकती है। कुछ कल्पना की भी गुंजाइश है। प्रतीक हमें उच्चतर और परमात्मा के निकट-तर ले जाते हैं। अपनी चेतना के केन्द्र में, बैठे हुए देवता के ज्योतिर्मय रूप की कल्पना करो। अथवा कल्पना करो की तुम एक पक्षी हो और परमात्मा-रूपी आकाश में उड़ रहे हो। इससे व्यापकता का अनुभव होता है। अथवा सागर और बुदबुदों, तथा उनके एकत्व की कल्पना करो। बुदबुदे को सागर के साथ अपनी एकता का अनुभव करना है। बुदबुदे को फोड़ा जा सकता है, तब वह सागर के साथ एक हो जाता है।

किसी पवित्र मन्त्र का जप तथा उसके अर्थ का चिन्तन सर्वाधिक प्रभावशाली साधनाओं में से एक है। यह ध्यान में विकसित होता है, जिसका अर्थ है, एक ही प्रकार के वृत्ति प्रवाह को बिना व्यवधान के बनाये रखना। यह परमात्मा में विलय तथा अन्ततोगत्वा ज्ञानालोक और जीवात्मा एवं परमात्मा के वास्तविक एकत्व में पर्यवसित हो जाता है।

साधक को शरीर और मन की समरसता और संतुलन के लिए प्रयास करना चाहिए। विभिन्न नियम विभिन्न व्यक्तियों के लिए अनुकूल होते हैं। लेकिन सभी को देह और मन के बीच तारतम्य के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

★ ★ ★

परमात्मा के साथ एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। उन्हें पिता, स्वामी, माता, पुत्र अथवा प्रियतम समझा जा सकता है और आत्मा की आत्मा भी। हमारी वास्तविक आत्मा देह-मन से पृथक् चैतन्य सत्ता है। हमें सदा चैतन्य का चिन्तन करना चाहिये।

ध्यान के पूर्व स्वयं को परमात्मा के अंश अथवा भगवान् की सन्तान के रूप में सोचने का प्रयत्न करो। कहो, "मैं एक चैतन्य सत्ता हूँ।" अपनी इच्छा का भगवदिच्छा के साथ तादात्म्य स्थापित करो। हम अपने वास्तविक दिव्य स्वरूप में सभी लिंग-भेद से परे हैं। हमारे कोई पार्थिव सम्बन्ध नहीं हैं, जो सदा देह से सम्बन्धित रहते हैं। हम भगवान् के रूप हैं। भगवान् एक वृत्त हैं और हम मानो बिन्दु हैं।

हमारा भगवत्प्रेम नकारात्मक नहीं, बल्कि सकारात्मक और सृजनात्मक होना चाहिए। हमें परमात्मा की पूजा और सेवा सिर्फ ईश्वरीय रूपों में ही नहीं बल्कि उनके उन सभी रूपों में करनी चाहिए, जिनके माध्यम से वे अभिव्यक्त होते हैं।

जब हम अपने को प्रभु की सन्तान समझते हैं, तब प्रारम्भ में यह कल्पना-मात्र होता है, लेकिन बाद में यह अनुभूति के रूप में सत्य हो जाता है। हम पूर्ण के अंश हैं, यह विचार साधक जीवन के प्रारम्भ में केवल कल्पना रहता है। इसे साधना और अनुभूति द्वारा यथार्थ करना चाहिए।

हमें आध्यात्मिक जीवन का समन्वित रूप ग्रहण करना चाहिए। आध्यात्मिक उपलब्धि के विभिन्न मार्ग हैं। ध्यान एक है, प्रार्थना दूसरा है, निःस्वार्थ सेवा भी मार्ग है। इसी तरह सृष्टिकर्ता ईश्वर, ईश्वर का एक रूप है। पालन और संहारकर्ता दूसरे रूप हैं।

कुछ लोगों में जन्म से ही अद्वैत के प्रति स्वाभाविक झुकाव रहता है। वे बुदबुदे बने रहना नहीं चाहते, पर सागर के साथ एक हो जाना चाहते हैं। यदि साधक इनमें से किसी भी रूप के प्रति निष्ठापूर्वक अग्रसर हो तो वह, भगवान् की कृपा से परमात्मा के सभी रूपों तक पहुँच जायेगा। परमात्मा का हमसे सीधा सम्पर्क होना चाहिए। अपरोक्ष ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से श्रेष्ठ है।

★ ★ ★

भगवत्कृपा हमारे प्रयास के रूप में अभिव्यक्त होती है। पुरुषार्थ के द्वारा हम भगवान् तक पहुँचते हैं। उन्हें प्राप्त करने पर चरम-ज्ञान और पराशान्ति प्राप्त होती है। परमात्मा कहते हैं, "मेरे पास आओ, मैं तुम्हें ज्ञान और आनन्द प्रदान करूँगा।" हमें प्रभु की पुकार के अनुरूप कार्य करना चाहिए।

दो प्रकार के भक्त होते हैं :

(१) बन्दर के बच्चे जैसे (२) बिल्ली के बच्चे जैसे। प्रथम प्रकार के बच्चे माँ जगदम्बा से चिपके रहते हैं, दूसरे प्रकार के सब कुछ माँ जगदम्बा पर छोड़ देते हैं। जगदम्बा भक्त के लिए जो कुछ आवश्यक है, करती हैं। कुछ पुरुषार्थ पर बहुत बल देते हैं, दूसरे शरणागति पर। और कुछ लोग ऐसे हैं, जो भगवान के सामने घुटने नहीं टेकना चाहते। वे सभी सीमाओं से ऊपर ऊठकर परमात्मा के साथ एक होना चाहते हैं।

भक्त सोचता है : "मैं तेरा हूँ।" ज्ञानी सोचता है : "मैं ही तू हूँ।" दोनों में भगवान् के लिए तीव्र व्याकुलता है। अनन्त की तीव्र पिपासा है। दोनों की तुलना करो। पहला भक्त कहता है, "नाहं, तूहूँ – मैं कुछ नहीं हूँ, तू ही सब कुछ है।" ज्ञानी कहता है, "सोऽहं – मैं तुझ से भिन्न नहीं हूँ।" वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को नकारता है और स्वयं को परमात्मा से अभिन्न सोचता है। उसमें अहंकार विलुप्त हो जाता है। निम्न धरातल पर ये दोनों एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, जब कि उच्च धरातल पर अन्तर बहुत कम होता है।

हमें यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिए, और बाकी काम प्रभु करेगें। हमें अपनी गलतियों से भी लाभ उठाना चाहिए। धन्य हैं त्रुटियाँ, यदि वे हमें समझदार बनायें। ईमानदारी का पुरस्कार मिलेगा। भगवान् हमारी ईमानदारी देखते हैं।

★ ★ ★

आध्यात्मिक विषयों में भी माँग और पूर्ति का सार्वलौकिक नियम लागू होता है। परमात्मा हमारे प्रयोजन की पूर्ति करते हैं, हम जो चाहते हैं, वह नहीं। हम भगवान् की

परवाह न भी करें, तो भी वह हमें नहीं छोड़ते। वह हमारे सामने अभिव्यक्त होने के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। यह भगवत्कृपा है।

ईमानदार बनो और अपने पुरुषार्थ का फल प्रभु पर छोड़ दो। हमारा आन्तरिक प्रयास उसके परिणाम से अधिक महत्वपूर्ण है। यदि किसी उन्नत-क्षण में हम परमात्मा के संस्पर्श में आ जायें, तो सबकुछ मिल जाये। हमें ध्यान, नैतिक आचरण, नि:स्वार्थ सेवा इत्यादि की सहायता से भगवत्साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सदा सत्शास्त्रों का अध्ययन करो। स्वाध्याय को दैनन्दिन साधना का अंग समझना चाहिए, जो उसके बिना पूर्ण नहीं होती। जीवन के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। उनसे जी न चुराओ। वे भी हमारी साधना का अंग हैं, वे एक प्रकार की साधनायें हैं। सभी प्रकार के कर्मों को सेवा के रूप में करना चाहिए। तब कर्म पूजा बन जाता है। कहो : "यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्" – मैं जो कुछ करता हूँ, प्रभु, वह तुम्हारी ही आराधना है।

★ ★ ★

साधना के लिए समय देने का, तथा व्यर्थ बातचीत, व्यर्थ चिंतन और मानसिक चांचल्य के लिए कम समय देने का प्रयत्न करो, तब तुम अधिक तीव्रता के साथ बेहतर ध्यान कर सकोगे। तुम अपने कर्म भी अधिक सन्तुलित तरीके से करोगे।

कुछ लोग कर्म में बहुत अधिक डूबे रहते हैं। कुछ लोग केवल साधना करते रहते हैं, पर असफल होते हैं। कर्म और उपासना साथ-साथ होने चाहिए। कर्तव्य से जी न चुराओ। आन्तरिक और बाह्य जीवन संतुलित होने चाहिए। कर्म को उपासना में रूपान्तरित करो। समस्त कर्म परमात्मा को समर्पित करो।

जीवन को व्यवस्थित करना आवश्यक है। सदा याद रखो : हम आध्यात्मिक प्राणी हैं, शरीर में निवास कर रही आध्यात्मिक ईकाईयाँ हैं। मुख्य भाव यह है : देह एक यन्त्र, एक मन्दिर, एक देवालय है; हमें देह का सुचारु उपयोग करना चाहिए। इसे परमात्मा का निवास समझना चाहिए। नैतिक विकास के दो मार्ग हैं :

(१) नैतिक आचरण करना

(२) दृष्टिकोण का परिवर्तन करना और तब नियम पालन करना आसान हो जाता है। अपने कर्तव्यों को बेहतर दृष्टिकोण से करो।

हम कुछ समय के लिए संसार से दूर जा सकते हैं, भले ही यह कुछ स्वार्थपर हो। और उसके बाद वापस लौटकर हम दूसरों के साथ उच्चतर मनोभाव से व्यवहार करेंगे। कुछ देने के लिए, दूसरों की सेवा करने के लिए, कुछ संचय आवश्यक है।

★ ★ ★

शास्त्र के अंशों का मननपूर्वक अध्ययन प्रतिदिन निश्चित समय पर करना आवश्यक

है। यह अन्य साधनाओं जितना ही महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह साधना निश्चित समय पर अवश्य की जानी जाहिये, और उसे कभी भी टालना नहीं चाहिए। उससे हमारी इच्छाशक्ति का भी विकास होता है। इन सभी बातों का उद्देश्य हमारी समस्त मानसिक प्रक्रियाओं पर सचेतन नियन्त्रण स्थापित करना है।

सजग जीवन एक रोचक जीवन होता है। हम में से अधिकांश लोग आधे जाग्रत और आधे कल्पना-जगत् में रहते हैं। अचेतन मानसिक क्रियाओं को सुस्पष्ट एवं निश्चित चिन्तन का रूप लेना चाहिये। तभी जीवन जीने लायक होता है। अपने देहात्म-बोध को कम करो।

मन को तरोताजा रखो, एक युवक का सा मन रखो। पुनः बालक बन जाओ। पुनर्जीवित होओ। मानसिक ताजगी अत्यावश्यक है। इसका प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करो। परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करो। जीवनदायक जल प्रवाहित हो रहा है। द्वार खोल दो। खिड़कियाँ खोल दो। दूषित-वायु निकल जाने दो। सदा भीतर ताजगी बनाये रखो।

★ ★ ★

वेदान्त सभी जीवों की प्रछन्न-दिव्यता में विश्वास रखता है। वह मानवों के स्तर-निर्धारण में विश्वास नहीं करता। प्रत्येक जीव को अपनी अंतर्निहित दिव्यता को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अपने भावों को बनाये रखो और दूसरे धर्मों के विचारों को आत्मसात् करने का प्रयत्न करो। हम हिन्दू हृदय-परिवर्तन और चित्तशुद्धि में विश्वास रखते हैं, लेकिन भगवान् से एकत्व स्थापित किये बिना हम संतुष्ट नहीं होते। तुम चाहो तो इसे हमारा धर्ममत कह सकते हो। हमारा धर्ममत परमात्मा का धर्ममत है।

जीव और परमात्मा का सम्बन्ध वास्तविक धर्म है। आध्यात्मिक जीवन में धर्म और दार्शनिक-सिद्धान्त दोनों आवश्यक हैं; धर्म, सिद्धान्त-परिकल्पना का आध्यात्मीकरण करता है, और दार्शनिक सिद्धान्त धार्मिक-दृष्टिकोण को उदार बनाता है। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों साथ-साथ होने चाहिएं। वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें धर्म और दर्शन, विश्वास और विचार, दृष्टिकोण और मनोभावों की तीव्रता और उदारता का समन्वय करना चाहिये। हमें सागर की तरह गहरा तथा आकाश की तरह व्यापक होना चाहिये। नैतिक आदर्शों का कड़ाई से पालन, कर्तव्यों का बारीकी से पालन और लगनपूर्वक आध्यात्मिक साधना, अन्तर्यामी परमेश्वर के साक्षात्कार के उपाय हैं। अपने धर्ममत अपने पास रखो। दूसरों को उन्हें स्वीकार करने के लिए न कहो। अपने धर्ममत से ऊपर उठो। परमात्मा न तो हिन्दू है, न ईसाई और न ही बौद्ध।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं : अपने को जानो, तो तुम भगवान् को जान जाओगे। सभी एक ही जल को जीवन-जल को, (स्रोत से) खींच रहे हैं। परमात्मा सर्वत्र हैं, उन्हें सर्वत्र खोजो भगवान् नाना रूपों में दिखायी देते हैं। वे ही यह सब हैं और इसे अधिक भी अन्त में वे अपना

वास्तविक स्वरूप प्रकट करते हैं। भगवान् के किसी भी रूप को स्वीकार कर लो। किसी भी रूप का अनुसरण करो, लेकिन याद रखो कि प्रत्येक दैवी रूप एक विशेष बिन्दु है। हमें विशेष बिन्दु से ऊपर उठकर वृत्त को, सर्वव्यापी अनन्त परमात्मा को प्राप्त करना है। आध्यात्मिक विकास का एक नियम है। उसका पालन करो।

★ ★ ★

ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न उपाय हैं। (किसी एक) पथ का अनुसरण करो, और उसके बाद उस धर्ममत का अतिक्रमण कर परमात्मा के मत को ग्रहण करो। हमारे जीवन का विस्तार होना चाहिये। सब की सेवा करो। स्वकेन्द्रित मत बनो। हृदय का विस्तार – यही आत्मा के विकास की कसौटी है, मापदण्ड है। दूसरों के प्रति हमारा दृष्टिकोण दया का नहीं, सहायता का नहीं, बल्कि पूजा का होना चाहिये। तुम्हारे द्वारा दूसरों की सहायता को परमात्मा की सेवा समझना चाहिये। मानव में भगवान् की, सभी में परमात्मा की सेवा करो।

हमारा आदर्श, दूसरों में परमात्मा की सेवा करने के लिए, पहले स्वयं दिव्य बनना, होना चाहिये। हमें यह सचेतन रूप से तथा व्यवस्थित रूप से करना चाहिये। कर्म का रहस्य जानने पर वह आराधना बन जाता है। 'उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति तक मत रुको।' हम जितनी प्रगति करते हैं, उतना ही आनन्द, शान्ति और धन्यता प्राप्त करते हैं।

अपनी वास्तविक आत्मा का अनुसंधान करते हुए हम परमात्मा तक पहुँच जाते हैं। तब अहंकार परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाता है। अहंकार के आध्यात्मीकरण से हम मुक्त हो जाते हैं। स्वामित्व के भाव के बदले हमें न्यासी का मनोभाव रखना चाहिये। परमात्मा के साथ प्रत्येक सम्बन्ध शक्ति प्रदान करता है। जब हम लोगों से सीधा से संपर्क स्थापित करना चाहते हैं, तब समस्या होती है। सभी लोगों और वस्तुओं को परमात्मा में तथा परमात्मा के माध्यम से देखो। अथवा यह सोचने का प्रयत्न करो कि हम सभी प्रभु के दास, प्रभु की सन्तानें हैं।

★ ★ ★

दूसरों से व्यवहार करते समय आवश्यक अनुपात बनाये रखना कठिन होता है। दृढ़ रहो, जिससे दूसरे तुम्हारा नाजायज फायदा न उठा सकें। चिड़चिड़े, तुनकमिजाज, अतिसंवेदनशील और अधीर मत होओ। प्रत्येक साधक को सही दृष्टिकोण अपनाना सीख लेना चाहिये। परिस्थितियों को यथासम्भव शान्ति से स्वीकार करो। वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न करो। अमन-चैन के लिए मेल-मिलाप बनाये रखो और याद रखो कि हमें मानवों के साथ व्यवहार करना है। हम प्रायः दूसरों को कोंचते हैं। कुछ लोग शुभ, शीतल, शान्तिदायक स्पन्दन और अन्य लोग अशुभ विचार और स्पन्दन प्रसारित करते हैं।

अपने तथा भगवान् के प्रति ईमानदार रहो, तब दूसरों के प्रति ईमानदार होना आसान

हो जायेगा। परमात्मा को एकमात्र सत्य जानो और अन्य सभी को उनके अस्तित्व के लिए उनपर (परमात्मा पर) आश्रित समझना सीखो।

प्रत्येक परिस्थिति में, तुम्हारा जो करणीय है, करो, लेकिन वातसूचक (जो वायु के अनुरूप अपनी दिशा बदलता रहता है) की तरह मत होओ। अपने मनोभावों और दृष्टिकोणों को निरन्तर बदलो मत। स्वयं को अस्थिर मत होने दो। तुम्हारा जीवन तुम्हारे आदर्शों द्वारा नियोजित होना चाहिये। कभी-कभी हम दूसरों पर बहुत अधिक आश्रित हो जाते हैं, दूसरों के अत्यधिक मुखापेक्षी हो जाते हैं। लेकिन मानव-आश्रय बहुत क्षणभंगुर आश्रय है। कुछ लोगों का गुरुत्व-केन्द्र भीतर होने के बदले बाहर होता है। तुम्हारा गुरुत्व-केन्द्र भीतर होना चाहिये। उच्चतर-आत्मा तुम्हारे व्यक्तित्व का केन्द्र होना चाहिये। लेकिन इसमें एक भय है – हम स्वकेन्द्रित, अहंकेन्द्रित हो जाते हैं। अत: हमें सोचना चाहिये कि आत्मा परमात्मा का अंश है, और हमारे भीतर का केन्द्र एक व्यापक आकाश का केन्द्र है। परमात्मा के सम्पर्क का बिन्दु हमारे भीतर है। अपनी चेतना के केन्द्र को पकड़े रहो, लेकिन उसके चारों ओर व्याप्त अनन्त चैतन्य को न भूलो। कुछ लोग पहले अहं-केन्द्रित होते हैं, किन्तु बाद में परमात्मा-केन्द्रित हो जाते हैं। साधना के प्रारम्भ में कुछ साधक कुछ समय के लिए स्व-केन्द्रित हो जाते हैं। तब इसका निराकरण करने के लिए उन्हें कुछ नि:स्वार्थ कर्म करने पड़ते हैं। सुचारु रूप से किये गये ध्यान व जप भी अपने शुद्र अहं से ऊपर उठने में सहायक होकर हमें अहं-केन्द्रित और स्वार्थी होने से बचायेंगे। हमें दूसरों के सहारे बढ़ने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिये।

★ ★ ★

विषाद और अंधकार से होते हुए भी हम प्रकाश तक पहुँचते हैं। ज्यों-ज्यों हम प्रगति करेंगे, त्यों-त्यों अन्धकार कम होता जायेगा। और अन्त में हम प्रकाश तक पहुँच जायेगें। महान् सन्तों और योगियों को भी अन्धकार और विषाद के काल का अनुभव करना पड़ा था। ऐसे समय उच्चतर आध्यात्मिक चिन्तन ही हमारा सम्बल होना चाहिये।

हम दूसरों को देखते हैं, स्वयं को नहीं देखते। यही हमारी समस्या है। वेदान्त कहता है कि हम अपने विचारों के साक्षी हैं। इस साक्षीभाव को अधिकाधिक दृढ़ और विकसित करना चाहिये। हमें अपना विश्लेषण इस तरह करना चाहिये, मानो हम कोई दूसरे व्यक्ति हों। बहुधा साक्षी सोया रहता है। उसे जाग्रत करो। जब कोई बुरा विचार मन में उठे, तो उसे पहचानो। सामान्यत: विचार हमारे अन्तरतम प्रदेश से उठते हैं, लेकिन वे किसी बाह्य संवेदन से भी आ सकते हैं। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा रहा आहार पवित्र होना चाहिये। अत: सदा चौकन्ने रहो।

★ ★ ★

हमें किसी भी क्षण अपनी प्रिय मान्यताओं को त्यागने के लिए पूरी तरह तैयार रहना चाहिये, यदि हम उन्हें असत्य पायें। यदि हम बढ़ना चाहते हैं, तो हमें अपने सम्पूर्ण दृष्टिकोण को बदलना होगा। मृत्यु से पूर्व हमें कुछ न कुछ ठोस आध्यात्मिक उपलब्धि हो जानी चाहिये।

आध्यात्मिक मुक्ति की महंगी कीमत चुकाने के लिए कौन तैयार है? हम उपाय, आध्यात्मिक पद्धति जानते हैं, महापुरुष भी हमें सहायता करने के लिए तत्पर हैं, लेकिन हम इतने विकृत स्वभाव हैं कि प्रयास को टालते जाते हैं, और स्वयं सत्य के साक्षात्कार की चिन्ता किये बिना, कुछ अच्छे विचारों से बौद्धिक आनन्द लेते रहते हैं। हम मोह तथा लोभ तथा आत्मतुष्टि के अपने क्षुद्र, घृणास्पद, दयनीय स्वप्न देखते रहते हैं, तथा तब तक उनसे चिपके रहते हैं, जब तक वे हमारी पकड़ से छीन नहीं लिए जाते।

वर्षों बाद हम अपने से पूछते हैं : "मैंने क्या पाया? इस जीवन में से मैंने क्या पाया?" हम सभी को ऐसा जीवन-यापन करना चाहिये कि हमें आध्यात्मिक-जीवन में कुछ ठोस उपलब्धि हो। हमें अन्तस्थ ज्योति की कम से कम कुछ झलक तो प्राप्त होनी चाहिये। निष्ठापूर्वक, विधिवत्-साधना करनेवाला, पवित्र जीवन-यापन करनेवाला तथा भगवान् से आन्तरिक-प्रार्थना करनेवाला कोई भी व्यक्ति निराश नहीं होगा। जीवन एक प्रशिक्षण स्थल है और हमें प्राप्त अल्प-काल का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिये।

★ ★ ★

सांसारिक तथा अपनी व्यक्तिगत आसक्तियों से चिपके लोग ही मृत्यु से डरते हैं। आध्यात्मिक-मनोवृत्तिवालों के लिए कुछ भी खोने लायक नहीं है। उनके लिए मृत्यु का अर्थ स्थूल धरातल से सूक्ष्म धरातल पर जाना है। देह ही मृत्यु को प्राप्त होती है, आत्मा कभी नहीं मरती। यदि इस जीवन संग्राम में हम असफल भी होवें, तो भी नये-नये जन्मों के माध्यम से हम परिवर्धित उत्साह के साथ प्रयत्न करेगें। क्रमशः एक स्तर से दूसरे स्तर पर अग्रसर होते हुए हम जीवन के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करेगें।

हमारे देह, मन और यह सारा जीवन किस पर निर्भर है? चैतन्य पर। किसी पुरुष, स्त्री अथवा बालक के रूप पर नहीं। आत्मा के शरीर त्यागते ही शरीर प्राणहीन हो जाता है। उसका सारा आकर्षण गायब हो जाता है। कोई भी एक मृत देह के प्रति आकर्षित नहीं होता, भले ही वह कभी कितनी ही सुन्दर क्यों न रही हो। पुरुष रूप या स्त्री रूप में चैतन्य ही हमें आकृष्ट करता है, जिसे हम गलती से देह-विशेष के साथ संयुक्त कर देते हैं। यदि तुम जीवन से इतना प्रेम करते हो, तो उसकी खोज क्यों नहीं करते, जिसपर वह आश्रित है? हमें चैतन्य आत्मा को और अधिक प्रेम करना चाहिये, क्योंकि उसकी सत्ता के कारण ही देह और मन जीवित हैं। लेकिन लोगों को अपनी गलती पहचानने में और सत्य को जानने में अनेकों वर्ष ही नहीं, अनेक जीवन लग जाते हैं।

★ ★ ★

हमारे आसपास के लोगों के प्रभाव से अपनी सुरक्षा के लिए हम अपने चारों ओर एक सुदृढ़ चिन्तन की दीवार, एक गोलिका-अभेद्य आवरण बना सकते हैं। यदि हमारा आन्तरिक जीवन पवित्र और सुदृढ़ हो तो चिन्तन की दीवार भी सुदृढ़ होगी। लेकिन इसका अर्थ दूसरों से घृणा और समाज के साथ तारतम्य का अभाव नहीं है। अनुपात का भाव तथा तारतम्य आध्यात्मिक जीवन में बहुत आवश्यक हैं। तुम जहाँ कहीं भी होओ गलतफहमी या मतभेद पैदा किये बिना अच्छा तारतम्य स्थापित करो। अपने चारों ओर एक अच्छे वातावरण का निर्माण करो, जिसका अनुभव सभी करें। भक्त का सब कुछ गरिमा और श्रीयुक्त होना चाहिये।

वातावरण से अपने को अलग रखो। अपने चारों ओर मेड़ (घेरा) लगाये बिना तुम बढ़ नहीं सकते। विनाशकारी तूफान और झंझावात सदा ही बने रहते हैं, और बकरियाँ भी आकर आध्यात्मिकता के कोमल पौधे को खा डालतीं हैं।

प्रारम्भ में अत्यधिक सतर्कता से तुम्हारा जीवन शीशे के आवरण में सुरक्षित जीवन-सा दिखायी दे सकता है। तुम्हें यह पसन्द न भी आये, क्योंकि तुम अपनी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को नहीं समझते हो। लेकिन शीशे की आलमारी के भीतर का सा यह जीवन उन सभी के लिए आवश्यक है, जो आध्यात्मिक जीवन में सचमुच प्रगति करना चाहते हैं। अन्ततः यह केवल एक अस्थायी व्यवस्था है।

★ ★ ★

आध्यात्मिक जीवन में बहुत सी अवस्थाएँ और असंख्य प्रकार के अनुभव होते हैं। यह साहस और वीरता तथा सौन्दर्य का सच्चा जीवन है, और इन बातों को चाहनेवाले व्यक्ति को पीछे मुड़े बिना, जीवन अथवा मृत्यु की परवाह किये बिना, इसका अनुसरण करना चाहिये। यदि तुम विचलित हुये बिना इस पथ का विवेकपूर्वक अनुसरण भर करो, तो तुम बहुत शान्ति और आनन्द को प्राप्त करोगे।

"लेकिन परमात्मा ने हमें ये सारी इच्छायें दी हैं!" हाँ यह सत्य है। लेकिन उन्होंने हमें आत्म-विजय की इच्छा भी प्रदान की है। हम में रेत और चीनी मिल गयी है।

शिकायतें क्यों करते हो? हम जाकर वर्जित वृक्ष का फल खाते हैं और बाल्यकाल में पल्लवित होना प्रारम्भ कर रही प्रज्ञा की क्षमता को नष्ट कर देते हैं। इसीलिए हम अपनी इस वर्तमान अज्ञान की अवस्था में हैं। हमारे वातावरण का उतना दोष नहीं है। "ओह संसार कितना बुरा है! लोग कितने खराब हैं! अमुक कैसा अपराधी है!" – जबतक हम स्वयं अपना रहन सहन परिवर्तित नहीं करते तबतक संसार की बुराईयों के बारे में इस तरह की शिकायतें करना मूढ़ता है। यह सत्य है कि संसार बुरा है, लेकिन तुम उसके बारे में क्या कर सकते हो? इसके बदले अपने जीवन का रुपांतरण करो, और संसार के लिए वरदान-स्वरूप बनो।

एक बात निश्चित है, घृणा और द्वेष का अपने हृदय में पोषण करनेवाला कोई भी

व्यक्ति परमात्म-ज्योति का दर्शन नहीं कर सकता।

★ ★ ★

हमारे कर्मों का परिणाम होना है, और इसका अर्थ है दुःख और कष्ट। लेकिन एक सच्चा साधक अपने कष्टों से प्रसन्न ही होता है क्यों कि इस तरह उसके उतने अशुभ कर्मों का क्षय होता है।

सभी परिस्थितियों में प्रभु की सच्ची सन्तान बने रहना सीखो और उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हें स्वयं में तथा परमात्मा में अडिग विश्वास प्रदान करें। प्रभु को अपना सर्वस्व बनाओ। तब और किसी बात का महत्त्व नहीं रह जाता। तब तुम जहाँ कही भी रहो, सुरक्षित रहोगे। पवित्र रहो और भगवान् की एकनिष्ठ भक्ति करो।

श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की महानता यह है कि वे परमात्मा को प्राप्त करने का क्रमिक उपाय बताते हैं। उन्होंने हमें विभिन्न साधनाओं की विधि बताई है। लेकिन कौन उनका अनुसरण करना चाहता है? उनके निर्देशानुसार कौन जीना और आचरण करना चाहता है? कौन अपनी निरर्थक रुचियों और अरुचियों को, दूसरों के प्रति व्यक्तिगत आसक्तियों को त्यागना चाहता है? कितने लोग जप, ध्यान, और अपनी साधना को दिन-प्रतिदिन उत्साह-पूर्वक, तीव्रता के साथ निरन्तर करते हैं? अधिकांश लोग कुछ करना नहीं चाहते, लेकिन आकर शिकायत करते हैं; "ओह! प्रयत्न के बावजूद मैंने कुछ भी प्राप्त नहीं किया।"

हमें काम में लग जाना चाहिये। हमें अपने इस (देह) यन्त्र के अत्यन्त दुर्बल और अक्षम होने के पूर्व ही यथासाध्य प्रयत्न कर लेना चाहिये। सत्य की आन्तरिक स्पृहा रखनेवाले तथा उसके आदेशों का एकनिष्ठ पालन करनेवाले सभी लोगों की, अनन्त आनन्द प्रतीक्षा कर रहा है।

★ ★ ★

हमारी सभी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के पीछे एक सूक्ष्म शक्ति विद्यमान है। यह शक्ति सूक्ष्म शरीर में प्रवाहित हो रही है। सूक्ष्म शरीर के पीछे कारण-शरीर है जो आनन्दमय कोष भी कहलाता है। चित्त के शुद्ध होने पर तुम अपने भीतर कार्यरत सूक्ष्म शक्तियों को जान सकोगे। पाश्चात्य मनोविज्ञ मन के स्थूल रूप तथा उसकी भौतिक अभिव्यक्तियों को ही देखते हैं। उन्हें मन में विद्यमान और उसके माध्यम से कार्य कर रही सूक्ष्म शक्तियों की कोई जानकारी नहीं है। मैं सभी पाँच कोषों को स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकता हूँ।

साधना के दौरान मानो एक नया आध्यात्मिक शरीर, आध्यात्मिक दर्शन के एक नये यन्त्र का निर्माण होता है और उसके माध्यम से चरम सत्य के साथ सम्पर्क स्थापित होता है। आध्यात्मिक अनुभूति के अनुकूल नवीन मन, एक नवीन देह का पहले विकास होना चाहिये और यही साधना का अर्थ और उद्देश्य है।

इसके लिए श्रेष्ठतम शारीरिक और मानसिक पवित्रता आवश्यक है। शुद्ध मन सगुण ईश्वर तथा परमात्मा के नाना रूपों के साक्षात्कार का माध्यम बन जाता है। लेकिन निर्गुण अनन्त परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए पवित्र मन और देह का भी अतिक्रमण करना पड़ता है।

★ ★ ★

हमारी वास्तविक आत्मा ने मानो बहुत से वस्त्र धारण किये हैं। लेकिन हमारी समस्या यह है कि हम अपने को वस्त्र समझने लगे हैं।

ध्यान के लिए बैठने पर इन सभी वस्त्रों से अपने को पृथक् करने का प्रयत्न करो। अपनी चेतना के केन्द्र को व्याप्त कर रहे, अपने सभी उच्च और निम्न केन्द्रों को, समग्र ब्रह्माण्ड को, व्याप्त करनेवाली अनन्त परमात्म-ज्योति का चिन्तन करो। उस अनन्त-ज्योति में अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को विलीन कर दो। इस तरह देह विस्मृत हो जाती है, केवल ज्योति की चिंगारी की तरह तुम बचते हो। अन्त में इस चिंगारी को भी अनन्त-ज्योति में विलीन कर दो। यदि तुम इस भाव में बने रह सको, तो यह सच्चा वेदान्तानुसारी ध्यान होगा।

प्रकाश का अर्थ भौतिक प्रकाश से नहीं लेना चाहिये। लेकिन तुम्हारे मन में प्रकाश की धारणा होनी चाहिये। अन्यथा तुम्हारा मन पूरी तरह शून्य हो जायेगा, जो प्रारम्भिक साधक के लिए बहुत खतरनाक है।

इस ध्यान को दृढ़ करने के लिए अब तीव्रता के साथ जप करो। जैसे कि, एक ज्योतिर्मय देह, एक दिव्य चिंगारी को अनन्त ज्योति से उत्पन्न करो और उसे पुनः उस ज्योति में विलीन कर दो। यदि चाहो तो तुम ऐसी भी कल्पना कर सकते हो कि तुम्हारे इष्ट देवता प्रकाश के अनन्त सागर से उत्पन्न हो रहे हैं और पुनः इसी में लीन हो रहे हैं। इसे अपने दैनन्दिन ध्यान का प्रमुख अंग बना लो। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद तुम पाओगे कि इसमें केवल दो मिनट लगते हैं, अधिक नहीं।

प्रतिदिन जप (का अभ्यास) करने के पूर्व मन को इस प्रक्रिया से गुजरने दो। यदि कोई विचार या रूप मन में उठे तो उसे अनन्त ज्योति में विलीन कर दो। अपने मन में उठ रहे सभी शुभाशुभ विचारों और रूपों से कहो : "सागर में विलीन हो शान्त हो जाओ। अथवा मेरे साथ ध्यान करो, लेकिन मुझे और अधिक तंग न करो।" कभी कभी हम अपने विचारों में लोगों से झगड़ा करते हैं। उनसे कहो, "विलीन हो जाओ!" अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करो।

★ ★ ★

मानव व्यक्तित्व इतनी ग्रन्थियों से पूर्ण है, और हम एक ही स्थान पर बार-बार घूमते

हुए, बिना प्रगति किये बहुत-सा समय बर्बाद करते हैं। एक घूर्णिवात (भँवर) बार-बार घूमकर एक दिन में जितनी शक्ति व्यय करता है, उतनी शक्ति में वह पृथ्वी की परिक्रमा कर सकता है। इसी तरह, सचेत हुए बिना, मुक्त हुए बिना जो शक्ति हम एक ही स्थान पर बार-बार घूमने में व्यर्थ गँवाते हैं, वही हमारी आध्यात्मिक प्रगति में हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है।

परमात्मा का आध्यात्मिक प्रवाह वेगवान है, लेकिन जब तक घूर्णिवात (भँवर) हैं, तब तक वह कुछ नहीं कर सकता। नदी का निरीक्षण करने पर तुम यह देख सकते हो। वहाँ प्रवाह और भँवर दोनों दिखेगें, लेकिन प्रवाह कितना ही प्रबल क्यों न हो, पानी की सतह के नीचे की बाधाओं से उत्पन्न भँवर को नष्ट नहीं कर पाता। हमारी ग्रन्थियाँ बाधाओं के समान हैं, जो भँवर पैदा करती हैं, और हमारी सारी शक्ति को नष्ट कर देती हैं।

हमारी ग्रन्थियाँ – मनोग्रन्थियाँ हमारे द्वारा देखी और अनुभव की जा रही सभी वस्तुओं को अतिरञ्जित कर देती हैं। हमारे भीतर की ग्रन्थियों के अनुरूप ही सभी बातों का मूल्यांकन होता है। हम जितने अधिक संसारी बनेंगे याने अपनी इच्छाओं और वासनाओं को जितना अधिक सन्तुष्ट करेगें, उतना ही ग्रन्थियों का निर्माण होगा और पहले से विद्यमान ग्रन्थियाँ दृढ़ से दृढ़तर होंगी।

किसी एक दिशा में चिन्तन करते रहने के कारण हमारी कुछ मानसिक और शारीरीक आदतें बन गयी हैं. इस प्रकार हुई हानि को सुधारना होगा। यह कैसे करें? विचारों के अत्यन्त-तीव्र विपरीत प्रवाहों को पैदा करके। ऐसा करने पर हमारी प्रतिक्रियाएँ क्रमशः बदल जायेंगी और हमारा सारा जीवन रूपान्तरित हो जायेगा।

★ ★ ★

पूर्ण एकाग्रता के साथ, पूर्ण सजगतापूर्वक और निष्ठापूर्वक, मन्त्र का एक (बार किया गया) उच्चारण, अनमने मन से किये गये उसके सैकड़ों जपों के बराबर है। यह सम्भव है कि हजारों जप में से केवल एक ही ठीक से किया गया हो। इसीलिए भगवन्नाम का इतनी बार जप करने को कहा जाता है।

लोग चाय-काफी के द्वारा अपने स्नायुओं को उत्तेजित करने का प्रयत्न करते हैं। एक विश्वसनीय स्व-आरम्भक सदा श्रेयस्कर है। अधिकांश लोग परिचालित होना चाहते हैं। वे बिगड़ी हुई मोटरकार जैसे हो गये हैं।

हममें से अधिकांश लोगों को अपने चैतन्य-स्वरूप का कोई भान नहीं होता। हमारी तथाकथित चेतना अधिकांशतः अस्पष्ट, बिखरी हुई, अचेतन सी है। हमारी सारी चेतना इन्द्रियों के माध्यम से बाहर विखर रही है। इस बिखराव को बन्द करो। उसके बाद उसे एक बिन्दु पर केन्द्रित करो। उस बिन्दु से वृत्त तक पहुँचो।

चैतन्य लक्ष्य है। वह अपने आप में गन्तव्य है। हमारी चेतना का वर्तमान दायरा बहुत

कम है, उसमें गहराई नहीं है, वह कागज के एक पन्ने की तरह है। हमें अपनी चेतना को अधिक व्यापक करना चाहिये। सर्वप्रथम हमें सही मायनों में सचेतन होना चाहिये। तभी अतिचेतन-अवस्था की बात की जा सकती है। उच्चतर चेतना को हमारे दैनन्दिन जीवन के स्तर पर व्यक्त होना चाहिये। हमें उसके कुछ न कुछ अंश को सर्वदा बनाये रखने में समर्थ होना चाहिये। हमें चेतना के एक स्तर-विशेष को बनाये रखना चाहिये, जिसके नीचे मन को पतित नहीं होने देना चाहिये।

प्रज्ज्वलित किये जाने पर कुण्डलिनी की ज्वाला हमारे पूर्व-संस्कारों सहित हमारे पुराने अपवित्र व्यक्तित्व को भस्म कर सकती है। उस अग्नि में पाप जल जाते हैं। उसके बाद मानो एक नये ज्योतिर्मय व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्राणायाम के सुचारु अभ्यास से कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत की जा सकती है। लेकिन प्रारम्भिक साधक के लिए यह बहुत खतरनाक है। महान् पवित्रता, विशेषकर पूर्ण ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित हुए बिना कुण्डलिनी-जागरण का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अन्यथा जाग्रत हुई 'अग्नि' समस्या पैदा कर देगी।

देह में काम के स्नायविक केन्द्र को नियन्त्रित करनेवाले मस्तिष्क के केन्द्र को निरन्तर उत्तेजित करनेवाला कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन यापन करने की बात कभी सोच भी नहीं सकता, जो उसके लिए एक दिखावा और वास्तविक आध्यात्मिक जीवन की नकल मात्र हो जाता है। आधुनिक जीवन में सिनेमा, साहित्य, नृत्य, मनोरञ्जन, वार्तालाप, औषधियाँ, नशीले पदार्थों आदि के द्वारा प्रायः कामवासना को उत्तेजित करने का प्रयत्न किया जाता है। जब तक व्यक्ति इन सभी में छुपे खतरे को नहीं पहचानता, तब तक वह सच्चा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता और न ही अपने को ईसा मसीह, बुद्ध अथवा रामकृष्ण का अनुयायी कहला सकता है।

आध्यात्मिक-पथ में भौतिक की अपेक्षा मानसिक समस्याएँ अधिक होती हैं। अर्थ-भावना अथवा तत्प्रतिपादित इष्ट के चिन्तन सहित किया गया भगवन्नाम का जप धीरे-धीरे बाधाओं को दूर करके मन को अन्तर्मुखी और ध्यान-योग्य बनाता है।

★ ★ ★

परमात्म-जगत् में शिशुओं के सदृश हम कुछ मात्रा में मूर्तिपूजक हैं। हम किसी दैवी-रूप की उपासना किये बिना नहीं रह सकते। जब तक हम रूपों को सत्य समझते हैं, तब तक हमें इस अवस्था से गुजरना ही पड़ेगा। लेकिन हमें इससे ऊपर उठना चाहिये। जब हमारी आकृति हमें सत्य लगती हैं, तो दिव्य आकृतियाँ भी हमारे लिए सत्य होती हैं, लेकिन हमें दोनों से ऊपर उठकर सभी आकृतियों के पीछे विद्यमान परमात्मा को देखना चाहिये। समस्त लहरों और बुदबुदों के पीछे के सागर को, अनेक में एक को, देखने का प्रयत्न करना चाहिये। आध्यात्मिक-जीवन के प्रारम्भ में हम दिव्य-रूपों का ध्यान भले ही करें, लेकिन हमें व्यक्तित्व के पीछे विद्यमान निराकार सत्ता तक पहुँचना चाहिये।

★ ★ ★

शुभ और अशुभ दोनों ही हमारे लिए समान रूप से सत्य हैं। हमें शुभ का आचरण करना चाहिये और अशुभ से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करते समय हमें शुभ और अशुभ के बदले परमात्मा का चिन्तन अधिक करना चाहिये, जो इन आपेक्षिक शुभाशुभ से परे है। एक बादल की कल्पना करो, जो एक स्थान पर घना और दूसरे स्थान पर हल्का हो। घना बादल प्रकाश को ढक लेता है, जब कि दूसरे (हल्के) भाग से प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। सूर्य, अन्धकार और प्रतिबिम्बित प्रकाश दोनों से परे है। इसी प्रकार परमात्मा पापी और पुण्यात्मा दोनों में है, और उनसे परे भी है। पापी में परमात्म ज्योति आवृत है। पुण्यात्मा में वह अभिव्यक्त हो रही है। सूर्यपराङ्मुखी बादल की दिशा से प्रकाश दिखायी अथवा न भी दिखायी पड़ सकता है। सूर्य की ओर से केवल प्रकाश ही प्रकाश है। वह अन्धकार और प्रतिबिम्बित प्रकाश दोनों के परे है।

सच्चा भक्त सभी वस्तुओं में भगवदिच्छा का दर्शन करता है। श्रीरामकृष्ण की बीमारी के समय जब शिष्यों ने उनसे नीरोग होने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने का आग्रह किया, तो उन्होंने कहा, "मैं बीमारी से अच्छा होने के लिए प्रार्थना कैसे कर सकता हूँ? मेरी इच्छा भगवदिच्छा में विलीन हो गयी है और मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं है।" उन्होंने दर्शन किया कि वे सभी के मुँह से खा रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि उनका शरीर दूसरों के पापों के कारण कष्ट भोग रहा है। दूसरों के लिए कष्ट भोगना, प्रायश्चित्त करने का भाव ईसामसीह में था और श्रीरामकृष्ण में भी।

★ ★ ★

ध्यान में बैठने पर हमें केवल अन्धकार दिखायी देता है। भीतर एक बाधा है। हमारा मन विद्रोह करता है, और तत्काल बहक जाता है। हम कुछ प्रकाश चाहते हैं, लेकिन केवल अन्धकार दिखायी देता है। यह प्रारम्भ में होता है। अपनी साधना को नियमित रूप से निरन्तर करते रहने पर अधिकाधिक प्रकाश (का अनुभव होगा) काफी मानसिक कवायद (अभ्यास) की आवश्यकता है, लेकिन निम्न-स्तर पर यह संघर्ष केवल कुछ काल के लिए करना पड़ता है। जब सभी ओर अन्धकार हो, तब अपने अभ्यास को महान् नियमितता और लगन के साथ करना पड़ता है, उसके बाद सूर्य प्रकट होता है। अन्धकारमय काल में साधना को अत्यधिक महत्त्व देना आवश्यक है। अपने ध्यान, जप, प्रार्थना आदि करते रहो, भले ही वे थोड़े यन्त्रवत् ही क्यों न हो जायें। सामान्यत: कठिनाईयों के समय लोग अपनी साधना छोड़ देते हैं। उन्हें इसके बिल्कुल विपरीत करना चाहिये।

हम व्यर्थ की क्रियाशीलता और आलस्य, इन दो के द्वारा परिचालित होते रहते हैं। दोनों समान रूप से बुरे हैं, और हमारी प्रगति को अवरुद्ध करते हैं। हम बहुत कम अवसरों पर शान्त अथवा सन्तुलित रहते हैं। हम प्राय: या तो निद्रित अथवा लक्ष्यहीन रहते हैं; या

फिर अत्यधिक क्रियाशीलता हमारी चञ्चलता को और बढ़ा देती है। सत्त्व, आन्तरिक समरसता लाने का प्रयत्न करो। तब तुम्हें उच्च मन:स्थिति प्राप्त होगी। कभी-कभी हम पाते हैं कि हम बिना प्रयत्न के ही सन्तुलित, समरस, शान्त हैं – और सभी बातें हमारे समक्ष अत्यन्त स्पष्ट हो जाती हैं। लेकिन एक क्षण बाद हमारा सारा मनोभाव बदल जाता है। इस उच्चतर मनोभाव को स्थायी बनाना है। हमें इच्छाशक्ति की सहायता से, सचेतन रूप से, चेतना के उच्च-केन्द्र पर उठकर उच्च मनोभाव बनाने में समर्थ होना चाहिये। यदि हम उसे पा भी जायें, तो उसे बनाये रखना हम अभी नहीं जानते। वह आता और चला जाता है, पर हम उसे नियन्त्रित नहीं कर सकते। यह स्थिति परिवर्तित होना चाहिये। हमें आध्यात्मिक-भाव को किसी भी समय विकसित करना आना चाहियें।

★ ★ ★

कर्मफलों में आसक्त मत होओ। गीता में कहा गया है : 'तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, उसके फलों का नहीं।' नियमित रूप से निरन्तर विधिवत् साधना और स्वाध्याय करते रहने पर अन्त में फल अपने आप प्राप्त हो जाता है। लेकिन साधना को कभी छोड़ना नहीं चाहिये, क्योंकि एक दृढ़ आदत बनाना उद्देश्य है, और अधिकांश लोगों के लिए साधना में व्यवधान होने पर पुन: उसे (साधना और स्वाध्याय) प्रारम्भ करना अत्यन्त कठिन होता है। इन्हें अव्यवस्थित और छिछले ढंग से कभी नहीं करना चाहिये।

आत्मसमर्पण आध्यात्मिक जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। लेकिन वास्तविक आत्मसमर्पण क्या इतना आसान है? हमें अपनी क्षुद्र सत्ता, क्षुद्र अहं से ऊपर उठने तथा परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

आध्यात्मिक जीवन में भी सार्वभौमिक गतिविधियाँ होती हैं। हमारी इच्छा से भी महान् एक इच्छा है जो आध्यात्मिक मनोवृत्ति वाले लोगों को एक दूसरे के निकट ले आती है। आध्यात्मिक जगत में भी माँग और पूर्ति का नियम लागू होता है। मार्ग में सदा उतार-चढ़ाव आते हैं। चिन्तन के विभिन्न उच्च और निम्न स्तर होते हैं। भगवत्कृपा हमें उच्च आध्यात्मिक प्रवाह से संयुक्त करती है। उस प्रवाह में स्वयं को फेंक दो, तब तुम प्रगति करोगे। प्रयत्न करो, और तुम आश्चर्यजनक प्रगति करोगे। यदि मैं प्रवाह में स्वयं को प्रवाहित होने दूँ, तो अच्छा ही है, लेकिन साथ ही यदि मैं थोड़ा तैरूँ भी, तो मैं और तेजी से आगे बढ़ूँगा।

प्रात:काल का समय अपने लिए अलग रखो। साधना दक्षता की वृद्धि करती है और कर्म में भी सहायक होती है। इच्छाशक्ति की सहायता से आन्तरिक सन्तुलन बनाये रखो। एकाग्रता से कार्यक्षमता बढ़ती है।

यदि हम दूसरों की सेवा करना चाहते हैं, तो हमें स्वयं प्रशिक्षण लेना चाहिए। दूसरों के देवत्व को जागृत करने से पूर्व हमें स्वयं दिव्यता को अभिव्यक्त करना चाहिए। जिस मात्रा में हम स्वयं की सहायता करते हैं, उतनी ही मात्रा में हम दूसरों की सहायता कर सकते हैं।

क्या तुम तैर सकते हो? यदि तुम दूसरों को डूबने से बचाना चाहते हो, तो तुम्हें स्वयं तैरना आना चाहिए। अन्यथा दूसरों के साथ तुम भी डूब जाओगे। अवश्य, तैरना जमीन पर नहीं सीखा जा सकता।

★ ★ ★

सभी मानवों में आध्यात्मिक-शक्ति प्रसुप्त रूप में विद्यमान है। मानव जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि केवल मानव के लिए ही एक पूर्ण सजग, सचेतन, स्व-नियन्त्रित जीवन यापन करना सम्भव है। मानव में सहजात प्रवृत्तियाँ और बुद्धि दोनों ही हैं। सामान्यत: पशुओं में सहजात प्रवृत्ति बहुत असंदिग्ध रहती है, लेकिन यह बात मानव बुद्धि के विषय में सत्य नहीं है। पशु कैसा अद्भुत नियन्त्रित जीवन व्यतीत करते हैं। मानव और पशु एक ही अद्वितीय, अखण्ड सत्ता की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

हमारी आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रसुप्त पड़ी हुई हैं। उन्हें अभिव्यक्त करना है, आत्मा के विकास के लिए उनका उपयोग करना है, जिससे सत्य का साक्षात्कार हो सके।

आन्तरिक संदेश को ग्रहण करने का प्रयत्न करो। अन्तस्थ परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करो। तब तुम दूसरों के साथ समरस हो सकोगे। पहले आन्तरिक समरसता आती है। उसके बाद बाह्य समरसता आती है। पहले भीतरी विसंगति होती है, उसके बाद बाह्य विसंगति होती है। इस आन्तरिक समरसता को सचेतन रूप से प्राप्त करना बेहतर है। इस तरह हम एक स्थायी मनोभाव को प्राप्त करते हैं और शोचनीय वातमापक की तरह अस्थिर नहीं रहते।

हमें वैसी शक्ति ही प्राप्त करनी चाहिए, जो हमें अधिक आत्म-निरीक्षक बनाये। हमें दूसरों का चेहरा अपने चेहरे से अधिक अच्छी तरह दिखायी देता है। उपनिषद में कहा गया है; "मानव इस तरह निर्मित हुआ है, कि उसकी इन्द्रियाँ बाहर की ओर देखती हैं।" हमारे मन को अन्तर्मुखी होना चाहिए। अपने लक्ष्य को न भूलो। कुछ लोग यौगिक सिद्धियाँ उपलब्ध करते हैं या उनका विकास करते हैं। लेकिन वे दूसरों के कार्यों में दखल देते हैं और अपनी ओर ध्यान नहीं देते। थियोसोफी और एन्थ्रोपोसोफी (स्वभाव-विज्ञान) में बहिर्मुखी प्रवृत्ति बहुत अधिक है। अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करना नहीं बल्कि स्वयं को, अन्तरस्थ परमात्मा को, सर्वव्यापी परमात्मा को जानना, वास्तविक आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। बहुत से लोग सिद्धियों का दुरूपयोग करते हैं। हमारी शक्ति सीमित है और उसके अपव्यय के बहुत से रास्ते हैं। हमें अन्तर्यामी परमात्मा की ओर शक्ति की दिशा मोड़ देनी चाहिए।

★ ★ ★

चरम लक्ष्य से दृष्टि हटाये बिना, प्रारम्भ में एक कामचलाऊ आदर्श स्थिर कर लो। नियमित स्वाध्याय, स्पष्ट-चिन्तन, जीवन की समस्याओं पर गहराई से मनन, सेवा, ध्यान

और साधना उच्चतम आदर्श की प्राप्ति में सहायक होते हैं।

आध्यात्मिक जीवन एक प्रवाह के सदृश है। यह प्रवाह बनाये रखना चाहिए। इसे रुकने नहीं देना चाहिए। जिस क्षण हम उसके प्रवाह को अवरुद्ध होने देते हैं, उसी क्षण हमारा आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। साधक के लिए यह अवरोध – शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक अवरोध – अत्यन्त खरतनाक है। किसी भी कीमत पर उसे दूर करो।

ध्यान क्यों आवश्यक है? आत्मा को आहार प्रदान करने के लिए; तथा हमारे सीमित जीवन, हमारी सीमित चेतना, हमें चारों ओर से घेरे हुए अज्ञान और अंधकार से छुटकारा पाने के लिए ध्यान आवश्यक है। और वस्तुत: यह ससीमता ही हमारे समस्त दु:खों का कारण है।

सामान्यत: हमारा जीवन अहंकेन्द्रित होता है। और इस स्वार्थपर जीवन के दौरान जीव एक दिन सभी बातों से ऊब जाता है, यहाँ तक कि अपने आप से भी ऊब जाता है। नाम और रूप की सभी सीमाओं तथा हमारी क्षुद्र आसक्तियों से परे विराट जीवन के लिए एक नयी स्पृहा का, शान्ति और आनन्द की स्पृहा का, उदय होता है। तभी हमारे आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ होता है। तभी हम में एक वास्तविक धर्मभाव का उदय होता है।

★ ★ ★

हम 'ध्यान' शब्द का उपयोग औपचारिक ढंग से करते हैं। क्योंकि वर्तमान में किया जा रहा हमारा ध्यान, ध्यान है ही नहीं। हम केवल एकाग्रता का प्रयत्न करते हैं। हम सभी में एकाग्रता की क्षमता है, लेकिन हम संसार की क्षुद्र वस्तुओं पर मन को एकाग्र करते हैं। हमें उच्चतर और व्यापकतर वस्तुओं पर इसका उपयोग क्यों नहीं करना चाहिए? हमें इसका उपयोग अपनी मुक्ति के लिए क्यों नहीं करना चाहिए?

प्रारम्भ में हम केवल थोड़े समय के लिए ही ध्यान कर पाते हैं। भावनाओं, वासनाओं और इच्छा को पहले उदात्त किये बिना केवल चित्त को एकाग्र मत करो। कोरी एकाग्रता बहुत खतरनाक होती है। कुछ लोगों के लिए प्रारम्भ में यह सब अत्यधिक श्रमसाध्य होता है। तुम अपने मन को जप अथवा ध्यान अथवा विचार अथवा इन सभी के द्वारा एकसाथ अनुशासित कर सकते हो। ये सारे उपाय समान रूप से प्रभावशाली हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुम किसी एक का अभ्यास करो। यदि आन्तरिक स्पृहा हो, तो हमें पूरा संघर्ष भी करना चाहिए। अन्यथा आत्मा को सन्तोष नहीं होता। अनिच्छा होते हुए भी हमें एक नियमित दैनन्दिन कार्यक्रम का पालन करना चाहिए।

★ ★ ★

हमारा मन तरोताजा, तेजस्वी और प्राणवन्त होना चाहिए। मुख्य बात है, मानसिक सजगता होना। आन्तरिक ताज़गी बहुत आवश्यक है। आत्मा न वृद्ध है, न युवा। यदि हम

आत्मा से शक्ति प्राप्त करना जान जायें, तो देह भी प्राणवन्त हो उठेगी।

गहरे ध्यान के बाद शक्ति का तीव्र संचार होता है, और कुछ लोग उसे सही दिशा देना नहीं जानते। हमें उसे उच्चतर दिशा प्रदान करनी चाहिए। तब हमारा मन शान्त एवं चाञ्चल्यरहित हो जाता है। कभी हमारे मन में प्रश्न उठते हैं। उच्चतर मनःस्थिति में हम स्वयं इन प्रश्नों के उत्तर पा सकते हैं। हमारा मन विराट मन का एक अंश है। जब तक हम में यह विचार न रहे, चाहे स्मृति के रूप में क्यों न हो, तब तक हम इस बात को समझ नहीं सकते। उस विशाल विचार, स्मृति राशि का सेवा के लिए उपयोग करना चाहिए. उदाहरण के लिए, तुम्हें एक लेख लिखना है, तो तत्काल सचेतन प्रयत्न के द्वारा विचार के स्तर पर उठो, और तुम देखोगे, कि विचार प्रवाहित हो रहे हैं। उसके बाद प्रश्न यह रह जाता है, कि किन्हें लेना है और किन्हें त्यागना।

किसी समय मस्तिष्क जड़ रहता है। ऐसे समय में सही मनोभाव निर्माण कर, विचार के स्तर के साथ तादात्म्य स्थापित करना तुम्हें आना चाहिए। हमारा क्षुद्र मन बृहत्तर मन का एक अंश है। आध्यात्मिक जीवन की शारीरिक और मानसिक शर्तें हैं। अतः शारीरिक अनुशासन, स्नायु-प्रवाहों का और उसके बाद चिन्तन प्रवाह का नियन्त्रण, आवश्यक है। कभी-कभी हम अपनी सामान्य सम्भावनाओं के भी ऊपर उठ सकते हैं। कई बार शारीरिक असमर्थताओं, सीमाओं के ऊपर उठना सम्भव होता है।

★ ★ ★

समस्या यह है किं हमारा मन बहुत बहिर्मुखी है। हम बहुत स्वार्थी, बहुत आत्म-केन्द्रित हैं। अतः हमें दूसरों की कुछ शारीरिक और मानसिक सेवा करनी चाहिए। हमें किसी न किसी रूप में दूसरों के लिए कुछ त्याग करना चाहिए। एक माता के त्याग को देखो। किसी न किसी रूप में दूसरों के लिए कुछ त्याग किये बिना किसी को भी आत्म-केन्द्रित जीवन यापन नहीं करने देना चाहिए। जीवन एक बलिदान है और उसकी पूर्णता त्याग में ही है। नितान्त आत्म-केन्द्रित लोगों के लिए आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है।

★ ★ ★

हमें कल्पना के मिथ्या स्वर्ग में नहीं जीना चाहिए। वस्तुओं को उनके यथार्थ गुण-दोष के अनुरूप स्वीकार करना हमारा आदर्श होना चाहिए और हमें प्रिय असत्य के बदले अप्रिय सत्य.को अधिक महत्त्व देने का प्रयत्न करना चाहिए। हम सत्य के प्रति अपनी आँखों को सदा के लिए मूँदे नहीं रख सकते। आगे या पीछे, किसी न किसी दिन हमारे भ्रम का नाश अवश्य होगा। यदि ऐसी बात है, तो सत्य का सामना करने के लिए अभी ही क्यों न तत्पर रहें। अपनी अत्यधिक स्वार्थपरता, प्रिय से अत्यधिक लगाव, समस्त क्षुद्र आसक्तियों और उद्वेगों के फलस्वरूप हम सारी बुराईयों और कुरूपताओं को एक बढ़िया ऊपरी पुताई से ढक देते हैं, और फिर सोचते हैं, कि सब कुछ बहुत सुन्दर है। विषय भोग युक्त जीवन के प्रति

आसक्ति के कारण हम अन्धकार को प्रकाश, अज्ञान को ज्ञान समझने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण हम असत्य को सत्य और अनित्य को नित्य समझते हैं। हम मृत्यु में जीवन को, दुःख में सुख को, जड़ में चेतन को तथा ससीम में असीम को पाना चाहते हैं। हम पिपासा निवारण के लिए मरीचिका के पीछे दौड़ते हैं। हम प्रकाश और अग्नि के लिए कच्छ प्रकाश की ओर धावित होते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि हमें निराशा हाथ लगती है।

हमारा जगत् द्वन्द्वात्मक है, जहाँ शुभ और अशुभ, स्वास्थ्य और रोग, प्रकाश और अंधकार, सुख और दुःख, शीत और उष्ण, जीवन और मृत्यु, सभी, चेतना के पहलुओं के रूप में विद्यमान हैं। ये द्वन्द्व हमें समान रूप से प्रभावित करते हैं। केवल यह सोचने से कि मुझे रोग नहीं है, मैं स्वस्थ नहीं हो जाता; यह सोचने से कि अन्धकार नहीं है, मुझे प्रकाश प्राप्त नहीं होता; यह सोचने से कि मृत्यु नहीं है, मैं मृत्यु से बच नहीं सकता; यह सोचने से कि बुराई नहीं है, वह गायब नहीं हो जाती।

अपने को स्वस्थ समझने से एक रोगी व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो जाता। साँवला व्यक्ति यह सोचने से, कि वह गोरा है, गोरा नहीं हो जाता। कुरूप व्यक्ति स्वयं को सुन्दर समझे तो वह सुन्दर नहीं बन सकता। एक दुःखी व्यक्ति स्वयं को सुखी माने तो उसका भाग्य बदल नहीं सकता। एक गरीब व्यक्ति अपने को धनी कल्पना करे तो उसकी अवस्था सुधरती नहीं।

हम जो नहीं हैं, स्वयं को वह मानना आत्म-प्रवञ्चना है। ऐसी आत्म-प्रवञ्चना कुछ समय के लिए सुखप्रद भले ही लगे, पर अन्ततोगत्वा वह हमें अवर्णनीय दुःख प्रदान करती है। द्वन्द्व अलग नहीं किये जा सकते। प्रकाश और अन्धकार, सुख और दुःख शीत और उष्ण, स्वास्थ्य और रोग – ये सदा साथ-साथ रहते हैं।

जब तक हमें प्रकाश का बोध है, तब तक अन्धकार का बोध भी रहेगा; और यह सुख और दुःख, सुन्दरता और कुरूपता, ऐश्वर्य और निर्धनता, जीवन और मृत्यु तथा अन्य सभी द्वंद्वों के विषय में सत्य है – और ये द्वन्द्व हमें विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। हम यह चाहते हैं, कि इनमें से किसी से भी प्रभावित न हों।

इन द्वन्द्वों में से एक की सहायता से हमें दोनों से ऊपर उठना चाहिए। हमें दोनों से अप्रभावित रहना चाहिए। चेतना के उच्चस्तर पर, परमात्मा के स्तर पर आरोहण कर हम द्वन्द्वों से अप्रभावित रह सकते हैं। तब हम न तो जीवन से चिपकते हैं, और न ही मृत्यु से भयभीत होते हैं।

ध्यान रखने की बात यह है : जब तक हम द्वन्द्व के एक पक्ष को स्वीकार करेगें, तब तक हमें दूसरे को भी स्वीकार करना होगा। दुःख को स्वीकार किये बिना हम सुख को स्वीकार नहीं कर सकते। मृत्यु को स्वीकार किये बिना हम जीवन को स्वीकार नहीं कर सकते। रोग को भी स्वीकार किये बिना हम स्वास्थ्य को स्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन हम सभी का अतिक्रमण कर उस स्तर पर पहुँच सकते हैं, जहाँ ये दोनों नहीं हैं। यही आध्यात्मिक जीवन का मुख्य उद्देश्य है, और इसके अनुभूति के बिना हमें लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

साधक के वेष में सुखान्वेषी मत बनो।

★ ★ ★

किसी समय साधना के दौरान हम अस्थिरता का अनुभव करते हैं, तब हमें परमात्मा तक उन्नीत होकर स्वयं को सन्तुलित करने का प्रयत्न करना चाहिए। बुदबुदों के रूप में हमारे लिए सागर, (भगवान्), जिससे हम उत्पन्न हुए हैं, के साथ निरन्तर सामञ्जस्य बनाये रखना आवश्यक होता है।

हमारे जीवन का उद्देश्य उसे प्राप्त करना है, जो परिवर्तित नहीं होता। इन सभी परिवर्तनों के बीच हमें एक स्थिर आन्तरिक जीवन व्यतीत करना चाहिए। बुदबुदे को सागर के साथ अपना सम्पर्क खोज निकालना चाहिए। यह अनेकता में एकता की, अचेतन में वास्तविक चेतना की, जड़ में चैतन्य की, खोज है। हमें अपने भीतर और बाहर सन्तुलन खोजना चाहिए। सिर चकराने पर सारा संसार घूमता दिखायी देता है। यदि मेरे भीतर शान्ति हो, तो बाहर अशान्ति होते हुये भी मेरी शान्ति प्रभावित नहीं होती और मैं बाहर कुछ शान्ति स्थापित करने में समर्थ भी हो सकता हूँ। इसका अर्थ यह नहीं, कि हम आत्म-केन्द्रित हो जायें. "यदि कोई कष्ट पाता है, तो मुझे उससे क्या?" – ऐसा न सोचो। हमें सदा सहानुभूति प्रदर्शित करना चाहिए, कुछ सेवा करनी चाहिए। हम सदा अपनी सीमित क्षमताओं से भी, अपने अल्प प्रयासों से भी कुछ कर सकते हैं, दूसरों के कल्याण के लिए कुछ योगदान कर सकते हैं। लेकिन हमें अपना आन्तरिक सन्तुलन नहीं खोना चाहिए।

हमारे आन्तरिक और बाह्य-जीवन में उच्चतर स्तर पर आध्यात्मिक सामञ्जस्य होना चाहिए। हमें सगुण ईश्वर और निर्गुण अनन्त परमात्मा के बीच की कड़ी खोजने का प्रयत्न करना चाहिए और उसे अपने भीतर ही पाने का प्रयास करना चाहिए।

हमारी समस्या यह है कि हम कर्म करना नहीं जानते। सही मनोभाव से किया गया सही कार्य हमारा शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास करता है। भक्त भगवान् के यन्त्र के रूप में भगवान् के लिए कर्म करता है। कर्म को कभी भी अपने आप में लक्ष्य नहीं बनने देना चाहिए। भगवद् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही कर्म करना चाहिए। यही भगवान् की सच्ची उपासना है। परमात्मा के साथ तादात्म्य बनाये रखने से हम एक नया घटक जोड़ देते हैं, जो हमारे कर्म को आध्यात्मिक साधना में परिणत कर देता है तथा जिससे हमें आन्तरिक स्वातन्त्र्य तथा (अपने आप पर) प्रभुत्व प्राप्त होता है। तब ईश्वरीय शक्ति हमें संबल और सहायता प्रदान करती है। तब हम जीवन की कठिनाईयों का साहस-पूर्वक सामना करने तथा उनपर विजय प्राप्त करने में समर्थ होतें हैं।

★ ★ ★

जाग्रत अवस्था में सदैव पवित्र चिन्तन करने पर कुछ समय बाद वे स्वप्न में भी आने

लगते हैं। जाग्रतावस्था को नियन्त्रित करो। स्वप्नों की अधिक चिन्ता न करो। आत्मा की तेजस्विता को उच्चस्तर पर अभिव्यक्त करो। भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पित होने पर हम भगवान् की शक्ति के अधीन हो जाते हैं। तब ईश्वरीय-शक्ति हमारी रक्षा और मार्गदर्शन करती है।

सुषुप्ति में हम व्यापक चेतना, विराट आत्मा के संस्पर्श में आते हैं। हमारी आत्मा तब विराट – व्यापक विश्व-जनीन शक्तियों के सम्पर्क में आती है, जिससे हम में ताज़गी आती है। आन्तरिक जड़ता समाप्त होती है। हममें ऊर्जा प्रवाहित होती है, और हम शरीर एवं मन से तरोताजा अनुभव करते हैं। जब तक यह सम्पर्क बना रहता है, तब तक आयु का कोई महत्त्व नहीं रहता। लेकिन हमें अपनी सत्ता की अन्तिम गहराई तक पहुँचने में समर्थ होना चाहिए।

★ ★ ★

आत्म-निरीक्षण के लिए – हमारे पास अच्छाईयाँ और बुराईयाँ क्या हैं – यह देखने के लिए, बीच-बीच में कर्म से निवृत्त होना आवश्यक है। आत्म-निरीक्षण आध्यात्मिक जीवन में महत्-भूमिका निभाता है। अभ्यास के द्वारा यह स्वाभाविक हो जाता है, और कर्म के साथ चलता रहता है। यदि हम अपने मन को जीवन की छोटी-छोटी बातों के साथ इधर-उधर बहने दें, तो हमारे आध्यात्मिक कार्य की क्षति होगी। तब हमारे ध्यान में एकाग्रता नहीं आ पायेगी। श्रीरामकृष्ण कहते थे : "जो नमक का हिसाब ठीक से रख सकता है, वह मिश्री का भी हिसाब रख सकता है।" अपने कर्तव्यों को अव्यवस्थित ढंग से न करो। अच्छा ध्यान करने में समर्थ होने पर हम कर्म भी अच्छी तरह से कर सकेंगे। कर्म और ध्यान परस्पर सम्बन्धित हैं। जीवन के सभी कार्य पूरा मन लगाकर करो। हमारे लिए कोई भी कार्य न तो बहुत ऊँचा है और न ही बहुत नीचा। किसी अच्छे उद्देश्य से निष्ठापूर्वक कर्म करने पर हम अपने को उन्नत महसूस करते हैं, हमें महान् शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। कभी-कभी आध्यात्मिक जीवन में हम ध्यान की अपेक्षा सेवा से अधिक प्रगति करते हैं। यदि हम कर्म में ढीले-ढीले होगें, तो ध्यान में भी ढीले-ढीले हो जायेंगे।

★ ★ ★

प्रात:काल ध्यान करो। संध्या को प्रार्थना करो। सोते समय प्रार्थना का मनोभाव रखो। स्वच्छ मन से ध्यान करो। छह घण्टों की नींद पर्याप्त है। प्रतिदिन कम से कम दो घण्टे स्वाध्याय करो। अपने गुरु के निर्देशों का मन लगाकर पालन करो।

दु:ख और कष्ट देखने पर सक्रिय सेवा करने के बदले हम उनके बारे में सोचते रह जाते हैं। ऐसे समय हम में आत्म-नियन्त्रण अधिक होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहते थे : "हमारे पास रोने के लिए समय नहीं है।" हमें कुछ करना चाहिए। यही सच्ची

वीरता है।

कठिनाईयों के बारे में सोचते मत बैठे रहो। इससे बात और बिगड़ती है। कठिनाई पर सन्तुलित रहकर शान्ति से विजय पाने का प्रयत्न करो। अपनी चञ्चलता को दूर करो। यथासम्भव उसे नियन्त्रित करो। व्याधि, मानसिक चाञ्चल्य, जड़ता, बाधायें हैं। इन अवस्थाओं में रहने पर भी हमें अपनी साधना बन्द नहीं करनी चाहिए।

संसार से अधिक भगवान् से जुड़े रहो, तुम्हें बल मिलेगा। यह सर्वाधिक व्यावहारिक उपाय है। हमें सन्तुलन, आन्तरिक समरसता चाहिए। हमें अपने तथा संसार के प्रति दृष्टिकोण बदलना चाहिए। सही दृष्टिकोण रखो तथा मृत्यु और दु:खों के ऊपर उठो। हम आशा रखते हैं, कि कुछ दिनों बाद सूर्य पुन: चमकेगा। यह झूठी आशा हमारी दुर्बलता के बदले प्राप्त छूट है। जीवन के कष्ट वस्तुत: हमारे सहायक होते हैं। पराजय को विजय में परिणत करने का प्रयत्न करो। संसार से चिपके रहने से हम उससे ऊपर नहीं उठ सकते। एक भक्त में शूरवीर का सा उत्साह होना चाहिए। बल के साथ सहानुभूति और दया होना चाहिए। कठोरता और निष्ठुरता सदा दुर्बलता के लक्षण होते हैं। सच्चे बलवान व्यक्ति दयालु और सहानुभूतिपूर्ण होते हैं। भगवान् पर भरोसा रखो। उनके साथ तादात्म्य बनाये रखो और साथ ही जीवन की यथार्थता का सामना करो। अप्रभावित रहना सीखो।

निराशा जीवन के प्रति गलत दृष्टिकोण के कारण होती है। हमें सतत संघर्षों का सामना करने, उनके माध्यम से प्रगति करने और अन्त में उनसे ऊपर उठने के लिए कृतनिश्चय होना चाहिए। इस तरह हमारी और अधिक प्रगति होती है। प्रथमत: हमारा एक सही मानसिक दृष्टिकोण, बौद्धिक दृष्टिभंगी होना चाहिए, और बाद में उसे व्यावहारिक रूप देना, हमारी समग्र सत्ता का एक अंग बनाना चाहिए। समस्याओं के ऊपर उठो। समस्याएँ शुभ हैं, यदि हम उनके कारण भगवान का स्मरण करें। कठिनाईयों का सामना करो और उनके ऊपर उठो।

मान लो, तुम किसी विचार से छुटकारा नहीं पा रहे हो। (ऐसे में) केवल उसका विपरीत उच्चतर भाव या विचार उठाओ। उस विचार का तीव्रता से चिन्तन करो। उच्च विचार द्वारा निम्न विचार को बाहर निकाल दो। यह उदात्तीकरण का सही तरीका है।

सत्य प्राय: आघातों के रूप में उपस्थित होता है। आघात के बाद ज्ञानालोक होता है, और हम भगवान् से जुड़ जाते हैं। अशुभ कभी-कभी छद्मवेष में वरदान होता है। भगवत्प्रेम हमें अनासक्त बनाता है। वह हमें निष्क्रिय नहीं बनाता। भगवान् का भक्त गुलाम की तरह नहीं, बल्कि स्वामी की तरह कर्म करता है।

असफलता के बाद तुम प्राय: हताश हो जाते हो। सफलता अथवा असफलता के बदले परमात्मा पर अधिक निर्भर रहना सीखो। भले ही हम किसी कार्य में सफल न हों, पर यदि हमने अपना पूरा प्रयत्न किया है, तो हमने आत्मा को विकास की दिशा में आगे बढ़ाया है, हम परमात्मा के अधिक निकट पहुँचे हैं। यह आध्यात्मिक स्तर पर सफलता है और इससे

भौतिक असफलताओं की आवश्यकता से अधिक भरपाई हो जाती है। लेकिन प्रारम्भ में दृढ़ संकल्प और धैर्य प्राय: आवश्यक होते हैं।

जीवनदायी अक्षय स्रोत निरन्तर प्रवाहित हो रहा है। हमें उसके साथ संयुक्त होना चाहिए। जब कभी साधक रुकावट, जड़ता और एकरूपता का अनुभव करे, तब उसे अपनी क्षुद्र आत्मा को भूलकर परम-आत्मा के साथ सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तुम बहुत उदास होओ, तो रोओ मत। परमात्मा के लिए व्याकुल होओ। ऐसा दिव्य असन्तोष हमें परमात्मा के निकट ले जाता है।

★ ★ ★

जब मैं यूरोप में विशाल चर्च और गिरजे देखता हूँ, तो अपने से प्रश्न करता हूँ : इस देश की आध्यात्मिकता को क्या हुआ? यूरोप किसी समय संन्यासियों और संन्यासिनियों से पूर्ण था। उसने महान् धार्मिक आन्दोलनों, संन्यासी संघो, महान् संतों को जन्म दिया था। युगों से सचित आध्यात्मिकता का क्या हुआ? वह सारी ईंट और रंग में बदल दी गयी है। विज्ञान और तकनीकी, कला और राजनीति की आश्चर्यजनक उपलब्धियों ने यूरोप के आध्यात्मिक-भण्डार का बुरी तरह अपव्यय किया है। पिछली दो या तीन शताब्दियों से आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा की गयी है। सांसारिक जीवन, भौतिक सुख लोगों का मुख्य उद्देश्य बन गया है। आध्यात्मिकता के मूल भंडार में और कुछ जोड़ा नहीं गया है। इसके फलस्वरूप यूरोप का समग्र आध्यात्मिक वातावरण नष्ट हो गया है। आध्यात्मिक शक्ति के स्थान पर अन्य शक्तियाँ उठ खड़ी हुई हैं। वर्तमान ध्वंस (द्वितीय विश्व महायुद्ध) इसका एक परिणाम है।

आध्यात्मिकता की उपेक्षा करने पर भारत की भी यही गति हो सकती है। पूर्ण नैतिक जीवन और तीव्र आध्यात्मिक-साधना के द्वारा राष्ट्र के महान् आध्यात्मिक भण्डार की निरन्तर क्षतिपूर्ति करते रहना चाहिए। असंख्य ऋषियों, सन्तों और महात्माओं की धरोहर को बिखरकर नष्ट नहीं होने देना चाहिए। प्रत्येक मानव को इस सार्वजनीन आध्यात्मिक परिवेश में अपना योगदान करना चाहिए। सभी विचारवान भारतीयों का यह कर्तव्य हैं।

रामकृष्ण मठ,
(प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग,
धन्तोली, नागपुर ४४० ०

Dhyan Aur
Adhyatmik Jivan : Rs. 8

स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज (१८८९-१९६६) रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ संन्यासी तथा महाउपाध्यक्ष थे। वे रामकृष्ण-विवेकानन्द-वेदान्त भावधारा के प्रचारक के रूप में प्रसिद्ध थे। इस कार्य के लिए उन्होंने विदेशो में करीब सत्रह साल बिताएँ। तथा मुम्बई, मद्रास (चेन्नई) और बंगलोर के अध्यक्ष के रूप में भी उन्होंने कार्य किया है। उनका पूर्वाश्रम का नाम था सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य। महाराजजी की दीक्षा भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग पार्षद श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज से हुई थी। स्वामीजी का पाश्चात्य एवं भारतीय, दोनों ही दर्शनों का गहन अध्ययन था। वे एक प्रभावशाली वक्ता एवं कुशल लेखक भी थे। उनकी कुछ पुस्तकें, जैसे 'Adventures in Religious Life', 'Universal Prayers' आदि काफी प्रसिद्ध हैं। उनके आकर्षक और प्रभावशाली व्यक्तित्व, उनकी परदु:खकातरता, उदार विचार, मधुर व्यवहार और आध्यात्मिक उपलब्धियों के कारण बड़ी संख्या में लोग उनके प्रशंसक और भक्त बन गये थे।